Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

239

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRAMRSH G.K.V.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या ...2.31 आगत संख्या ...54703

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

04703



परामर्श

(हिन्दी)

वैद्य धर्मदत्त
स्मृति संग्रह

वर्ष २ अंक ३

जून १९८१

संपादक

बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

D 239

* पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
* नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ¤ रमाकान्त सिनारी ¤ विजय भारद्वाज ¤ शारदा जैन रमाकान्त त्रिपाठी ¤ संगमलाल पांडे ¤ आर्. बालसुब्रमणियन् अशोक रा. केळकर * के. जे. शहा * नारायणशास्त्री द्रविड * के. सच्चिदानन्द मूर्ति * जी. सी. नायक * ग. ना. जोशी * मोहनलाल मेहता * जे० फाईस * सुमन गुप्ता * रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे * चन्द्रकान्त बांदिबडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

* राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद

काश्मीर शैव दर्शन[1] में शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है तथा सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य नहीं है। शिव पर सृष्टि करने के लिए न तो बाह्य बाध्यता आरोपित की जा सकती है और न आन्तरिक बाध्यता ही शिव में हो सकती है। आन्तरिक बाध्यता इसलिए नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है[2] जिसकी पूर्ति के लिए वह सृष्टि करे। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि शिव अपने आनन्द के लिए सृष्टि करता है जो शिव का स्पन्द है। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाह्य बाध्यता भी नहीं हो सकती क्योंकि शिव का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है जो शिव को सृष्टि करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करे। इस प्रकार बाह्य अथवा आन्तरिक बाध्यता के नितान्त अभाव होने से यही कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।

सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है

किन्तु काश्मीर शैवशास्त्र में ऐसे कथन मिलते हैं जिनके कारण स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों के कारण सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मान लिया जाता है जिससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिए आवश्यक है।[3] सृष्टि करने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है बल्कि अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो तटस्थ लक्षण है। शिव सृष्टि स्वेच्छा से करता है तथा इसे न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने के कुछ आधार हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पंचकृत्यकारी[4] कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है तथा पंचकृत्यों की व्याख्या में यह कहा गया है कि पंचकृत्य शिव द्वारा स्वभावतः होते हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है जो सदैव पंचकृत्य करता रहता है। इस कथन से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है[५] तथा इसके होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसका संपादित होना आवश्यक है (क्योंकि यह कहा ही गया है कि वह सदैव पंचकृत्य करता रहता है)।

किन्तु पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पञ्चकृत्य स्वरूप में ही अनुस्यूत हैं वरन् यह है कि पञ्चकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता; ये कृत्य शिव द्वारा अनायास (effortlessly) संपादित होते हैं। पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पञ्चकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द है जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहम्विमर्शात्मक क्रिया का अनुस्यूत होना मानते हैं जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पञ्चकृत्य अहम् विमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम्विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

पञ्चकृत्यों को स्वभाव इसलिए भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जा सकता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप लक्षण नहीं है किन्तु खेलना किसी उद्देश्य से नहीं है इसलिए स्वभाव कहा जाता है; वैसे ही शिव की सृष्टि शिव का स्वभाव है। अद्वैत-वेदान्त में जहाँ स्पष्ट रूप से सृष्टि को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा गया है, वहाँ भी गौड़पादाचार्य ने उपर्युक्त अर्थ में ही भगवान का स्वभाव कहा है।[६]

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने का आधार एक यह भी है कि सृष्टि को शक्तिरूप अथवा शक्ति का विकास[७] माना जाता है तथा शक्ति शिव रूप ही है अथवा शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता।[८] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूप लक्षण मान लेना स्वाभाविक[९] है किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों का सृष्टि को शक्ति का विकास मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शक्ति के दो स्तर करते हैं। वे चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति को शिव की स्वरूप शक्ति मानते हैं किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को शिव की स्वरूप शक्ति नहीं मानते। इन शक्तियों को केवल शिव की शक्ति कहा गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान, क्रिया के उन्मेष और निमेष से है न कि चित् और आनन्द से। चित् और आनन्द अहम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अहम्मिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य नहीं है। यह शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार सृष्टि को शक्ति का विकास मानने का तात्पर्य यही है कि सृष्टि शिव की इच्छाशक्ति का विकास है जो क्रमशः ज्ञान और क्रियाशक्तियों के रूप में विकसित होकर प्रकाशित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का जो स्वभाव कहा गया है और जिसके आधार पर सृष्टि को शिव का स्वभाव मान लेना स्वाभाविक है उसका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है या शिव के लिए सृष्टि करना आवश्यक है अथवा वह नित्य सृष्टि करते रहने के लिए बाध्य है। सृष्टि को शिव का स्वाभाविक कार्य कहने का अर्थ इतना ही है कि सृष्टि करने के लिए शिव में कोई कारण अथवा उद्देश्य (Motive) नहीं है, वरन् उसका स्वतन्त्र स्पन्द है। यदि शिव नित्य सृष्टि-लीला करता भी हो तब भी यह आवश्यक नहीं कि सृष्टि को शिव की आवश्यक प्रक्रिया (necessary process) माना जाए। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिव सृष्टि को हमेशा करता रहता है या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य है या नहीं अथवा दूसरे शब्दों में, सृष्टि-क्रिया भी चिदानन्द की ही भाँति शिव का स्वरूप ही है या नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र के समग्र सिद्धान्त को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि शिव सृष्टि-विषयक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र है, सृष्टि करने के लिए वह बाध्य नहीं है और न सृष्टि-प्रक्रिया उसी प्रकार स्वरूप में है जिस प्रकार चिदानन्द है।

सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार

काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के भेद का विवेचन नहीं किया है, इसी कारण सृष्टि-प्रक्रिया के विषय में भिन्न व्याख्याएँ (Interpretation)संभव हैं। यहाँ जो यह पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप लक्षण नहीं है वरन् स्वातन्त्र्य है, इसे मानने के लिए काश्मीर शैव शास्त्र में कुछ ठोस आधार हैं, जो निम्नलिखित हैं।

शिव को काश्मीर शैव शास्त्र में स्पष्ट रूप से बार-बार अनुत्तर कहा गया है।[१०] यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाए तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जाएगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से शिव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है तो इसका मूल्य जागतिक पदार्थों से अधिक नहीं होगा। किंतु शिव को विश्वोत्तीर्ण मानना आवश्यक है तथा आगमों एवं काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है अतः सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही माना जाना चाहिए। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई भी उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र[११] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को बार-बार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है[१२]। साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी भङ्ग नहीं होता।[१३] किन्तु यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाए तो काश्मीर शैव शास्त्र के इन कथनों का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। अतः यही मान्य होना चाहिए कि सृष्टि-प्रलय शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है और स्वातन्त्र्य में यह अर्थ निहित है कि शिव-सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि करना न करना पूरी तरह से शिव की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर है। किन्तु यदि सृष्टि-कार्य को शिव का स्वरूप लक्षण माना जाए तो सृष्टि-विषयक स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा।

शक्ति का स्तर भेद भी सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार है। चित्आनन्द को स्वरूप शक्ति कहा गया है किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वरूप शक्ति नहीं कहा गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को केवल शक्ति कहा गया है। सृष्टि को इच्छा-शक्ति का ही विकास कहा गया है न कि चित् या आनन्द-शक्ति का।

इसका भी यही अर्थ हुआ कि चिदानन्द शिव के नित्य स्वरूप में है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया उसकी स्वातन्त्र्य-क्रिया है। चिदानन्द के स्तर पर जो शक्ति या क्रिया होती है वह केवल अहंविमर्श रूप (Self-Consciousness, 'I am') है, यह उसका स्वरूप लक्षण होने से शिव में नित्य ही रहेगा; दूसरे शब्दों में शिव सृष्टि करे अथवा न करे अहंविमर्श उसमें नित्य रहेगा। अहंविमर्श स्वरूपवाली क्रिया या शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है, यही क्रिया शिव की नित्य क्रिया है जिससे शिव के विरहित होने का कोई प्रश्न नहीं होता किन्तु इच्छा, ज्ञान, क्रिया-वाली शक्ति का स्वरूप अहंमिदम्विमर्श (I am this) रूप है जो तभी होता है जबकि शिव सृष्टि करता है। इसीका प्रतीक शिव का नटराज रूप है। शिव जब सृष्टि-प्रक्रिया से रहित होकर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है (जिसका प्रतीक शाम्भवी मुद्रा है) तो उस समय अहंमिदम्विमर्श नहीं रहता, वरन् केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंविमर्श रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि शक्ति अथवा विमर्श के दो स्तर मानना परमावश्यक है। शक्ति के इस स्तर-भेद को न मानने से भ्रान्ति (Confusion) हो सकती है।

स्वातन्त्र्य के भेद

सामान्यतया स्वातन्त्र्य के दो भेद किये जाते हैं। एक सत्तास्वातन्त्र्य (Freedom-from) तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to)। काश्मीर शैव दर्शन में शिव में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य का होना माना गया है। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में केवल सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom from) मानता है; क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) नहीं मानता। यह सम्भवतः इसलिए नहीं माना गया है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य Freedom-to) दोनों ही माना गया है क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom–to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है बल्कि क्रिया से है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से विरोध हो सकता है, जैसा कि सम्भवतः अद्वैत-वेदान्त मानता है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में क्रिया स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ कर्म-स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है अतः इसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है। यदि शिव में सृष्टयादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के सन्दर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र ही होगी।

स्पन्द-सिद्धान्त

काश्मीर शैव-दर्शन में शिव का यह क्रिया-स्वातन्त्र्य काश्मीर शैव शास्त्र का स्पन्द-सिद्धान्त[१४] है। सामान्यतः समस्त मानवीय क्रियाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वह जो ऐच्छिक (Voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता है। दूसरा वह है जिसमें कर्ता को प्रयास नहीं करना पड़ता वरन् अपने आप होता है। इसमें कर्ता को आयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे स्वसन् क्रिया या सहज क्रिया (Reflex action) आदि। दूसरे, वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते वरन् उसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है जैसे आनन्द में उपस्थित क्रिया। काश्मीर शैव दर्शन में इसी को शिव का क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) कहा गया है जिसका पारिभाषिक नाम स्पन्द (Spontaneity or spontaneous activity) है।

इस स्पन्द की तीन-चार विशेषताएँ हैं जो शिव के क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करते हैं। स्पन्द में इच्छाशक्ति (will) को आयास (effort) नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे, उसमें कर्ता को बाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसीलिए स्पन्द को स्वातंत्र्य कहा जाता है। तीसरे, कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक-क्रिया जैसी अज्ञात नहीं रहती। चौथे, स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (Overflowing or emanation) है।

स्पन्द को आनन्द का सहज उच्छलन माना जाता है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[१५] यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है क्योंकि शिव का स्वरूप ही आनन्द है तथा आनन्द का सहज उच्छलन ही सृष्टि है। किन्तु सृष्टि शिव के स्वरूप में नहीं है क्योंकि आनन्द के इस उच्छलन में शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। सृष्टि को आनन्द का सहज उच्छलन कहने का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिए ही सृष्टि करता है; उसमें शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। आनन्द का यह उच्छलन शिव के स्वरूपानन्द से ही होता है किन्तु उसमें शिव का स्वातन्त्र्य है।

शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है।[१६] काश्मीर शैव-शास्त्र के इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है।[१७] किन्तु शिव में सृष्टि का नित्य होना (पूर्व-स्थिति) नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिति में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अतः शिव की इच्छा के ही सृष्टि-रूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है; यह शिवेच्छा से ही निर्मित है।

शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से अनुस्यूत नहीं है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है।[१८] इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि शिव में जो सृष्टि-विषयक इच्छा है, वह यद्यपि अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होनेवाले ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) जैसा प्रतीत होती है किन्तु यह अंग्रेजीवाला ऐच्छिक कर्म नहीं है क्योंकि शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता, वरन् इच्छा स्वाभाविक रूप से अनायास शिव में उत्थित होती है। अतः यह शिव की स्पन्दात्मक इच्छा या संकल्प (Spontaneous willing) है न कि ऐच्छिक कर्म (voluntary action) है। स्पन्दात्मक इच्छा (Sportaneous willing) कहने में विरोधाभास (paradox) दीख सकता है किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शिव में सृष्टि की इच्छा उठती है इसलिए इसे इच्छा या संकल्प नाम दिया जाता है। किन्तु चूंकि यह संकल्प स्वाभाविक रूप से अनायास उठता है, इसलिए इसको स्पन्द कहा जाता है। तार्किक दृष्टि से ऐसा मानना संगत है कि मन में संकल्प अपने आप स्पन्द रूप में उठता है। अतः "स्पन्दात्मक संकल्प" (Sportaneous willing) कहने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि को शिव का स्वभाव कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दृष्टि से तो सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप भी कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह स्वरूप में ही तो हो रहा है, स्वरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। हाँ, स्वरूप-शक्ति और शक्ति का स्तर-भेद करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब हम इस प्रश्न को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य (necessary action) है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य नहीं है और इस अर्थ में सृष्टि उसका स्वरूप नहीं है।

— कैलाशपति मिश्र

शोध छात्र, दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. काश्मीर शैव दर्शन से हमारा तात्पर्य "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" से है।

२. स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो। शि. दृ. वृ. पृ. ६

३. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्॥ क्षेमराज (पराप्रा.)

४. एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टिसंहारान्विधत्ते युगपद् विभुः॥

— बोधपंचदशिका, श्लोक ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनायैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टि संहारादिना प्रपंचयति ।
– ई. प्र. वि. भा. प्र. १९५

६. देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।
– माण्डूक्य कारिका १–९

७. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
– तंत्रालोक भा. ३, आ.५–४०

८. तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एवं तथा तथा । शि. दृ. आ. ४–५

९. यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपार्थतत्वं बहिःकर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते । – महेश्वरानन्द, महार्थमंजरी

१०. न सन्न चासत्सन्न च तन्नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तमम् । – तन्त्रालोक, २–२८

११. ई. प्र. वि. भा. १०, पृ. १४

१२. तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् । – तन्त्रालोक, १–१३६

१३. नहि तस्य स्वतंत्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना । – तंत्रालोक, २–४७

१४. श्री भगवतः स्वातन्त्र्य शक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधा त्वथानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता । – स्पन्द निर्णय, पृ. ९

१५. स्फारयस्याखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशतिरूपमामृशन यत्स्वयंनिज-रसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् । – शिवस्तो. १३–१५

१६. यदेतदाभासनं यासाविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवतोनिर्मातृत्वम् ।
– भास्करी, भा. २, ४, श्लोक १

१७. परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्मूतं निर्मातव्यमभेद कल्पे नास्ते । – ई. प्र. वि. भा. २, पृ. १८१

१८. स्पन्द निर्णय, पृ. ३ ।

• • •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्श

मननात्मक स्वतःस्फूर्ति द्वारा मुक्ति*

04703

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (१८७५–१९४९) द्वारा साँख्य-दर्शन पर प्रस्तुत विचारों को संक्षेप में व्यक्त करना है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने "इण्डियन इन्स्टीटचूट ऑफ फिलासफी, अमलनेर" में सन १९३७ में सांख्य-दर्शन पर ९ भाषण दिए थे। ये भाषण "स्टडीज इन सांख्य" के नाम से 'स्टडीज इन फिलासफी' जिल्द संख्या में संकलित हैं। इन भाषणों के विषय हैं :–

श्री धर्मदत्त वैद्य संग्रह

१. दुःख अमङ्गल (ईविल) के रूप में,
२. मनन आध्यात्मिक प्रकार्य के रूप में,
३. आत्मा का शरीर : (दी बॉडी ऑफ दी सेल्फ)
४. कारणात्मक एवं अकारणात्मक अभिव्यक्ति
५. काल, दिक् एवं कार्य-कारण भाव
६. वस्तुगत तत्त्व
७. आत्मा या पुरुष
८. प्रकृति
९. गुणों से सम्बन्ध।

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के ये भाषण सांख्य-दर्शन का एक मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। भट्टाचार्य ने अपने इस प्रस्तुतीकरण में ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' तथा विज्ञान भिक्षु के 'प्रवचन-भाष्य' के साथ 'सांख्य-सूत्रों' का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र के तथा अन्य भाष्यकारों के ग्रन्थों, विशेषकर युक्तिदीपिका का सन्दर्भ ग्रन्थों के रूप में उपयोग किया है। लेकिन उन्होंने सभी महत्वपूर्ण एवं विवादास्पद बिन्दुओं की सजीव एवं मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

भट्टाचार्य इस मत के माननेवाले हैं कि सांख्य-दर्शन का बहुत-सा साहित्य अप्राप्य है। अतः प्राचीन काल से लेकर आज तक के टीकाकारों के बीच की कड़ियों या परम्परा में निरन्तरता दिखाई नहीं देती। सांख्य-दर्शन एक विशाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिकल्पनात्मक (स्पेक्यूलेटिव) तत्वमीमांसीय तन्त्र हैं। अतः इस विषय पर कोई भी अध्ययन अस्पष्टता दोष से मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर सांख्य-दर्शन को एक सुव्यवस्थित एवं नवीन तन्त्र के रूप में प्रस्तुत करने की इच्छा एवं आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि सांख्य-दर्शन का बहुत-सा साहित्य काव्यात्मक एवं रहस्यात्मकता से पूर्ण है तथा टीकाकार काव्यात्मकता एवं रहस्यात्मकता से छुटकारा दिलाने में कोई सहायता नहीं करते। यह बात सही है कि सभी प्राचीन भारतीय दार्शनिक तंत्रों की रचनात्मक व्याख्या करने की आवश्यकता है। यहाँ रचनात्मक व्याख्या से तात्पर्य यही हो सकता है कि वर्तमान पदावलि में उन विचारों को प्रस्तुत किया जाए। दूसरे शब्दों में, किसी प्राचीन तन्त्र को समसामयिक समस्याओं के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न किया जाए एवं प्रचलित पदावलि में प्रस्तुत किया जाए। भट्टाचार्य ने सांख्य-दर्शन की बीच की खोई हुई कड़ियों को अपनी कल्पना द्वारा जोड़ने का प्रयत्न किया है तथा उसे समसामयिक सन्दर्भ में रखने का प्रयास किया है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वयं यह बात स्वीकार करते हैं कि यह कार्य जोखिम का है लेकिन ऐसा भी है कि जिसे किये बिना सांख्य-दर्शन को समझा भी नहीं जा सकता। फलतः सांख्य-दर्शन की इस प्रकार की व्याख्या अपेक्षित भी है। सांख्य-दर्शन, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, "एक निर्भीक एवं रचनात्मक दर्शन है" तथा "यह न तो धार्मिक अनुभव का स्पष्ट निरूपण है जैसा कि वेदान्त प्रमुख रूप से है और न ही यह न्याय के समान विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक है। यह परिकल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि पर आधारित है तथा विश्लेषणकर्ता के सम्मुख प्रत्येक स्तर पर कल्पनात्मक आत्म-निरीक्षणात्मक प्रयास की माँग प्रस्तुत करता है।"[२]

सांख्य-दर्शन के बारे में आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के रचनात्मक विचारों को प्रस्तुत करने से पूर्व हम सर्वप्रथम सांख्य-दर्शन के कुछ केन्द्रीय प्रत्ययों का संक्षिप्त परिचय देंगे। इसके उपरान्त भट्टाचार्य द्वारा बताई गई उस पद्धति को प्रस्तुत करेंगे जिसे वे सांख्य-दर्शन को समझने के लिए अनिवार्य मानते हैं।

सांख्य-दर्शन के प्रमुख स्रोत हैं– कपिलकृत "सांख्य-प्रवचन सूत्र" तथा ईश्वरकृष्ण कृत 'सांख्य-कारिका'। सांख्य दर्शन के विद्वानों को सन्देह है कि 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' कपिल की रचना है या नहीं। इस बारे में प्रो. चन्द्रधर शर्मा[3] का मानना है कि कपिल, गौतम बुद्ध के पहले हुए तथा उनका ईश्वरवादी 'सांख्य-सूत्र' बहुत पहले ही लुप्त हो गया था। उनका मत है कि ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका, जो कि उपनिषदों की परम्परा से हटकर नास्तिकवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, सांख्य तन्त्र का प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है। इन रचनाओं के अतिरिक्त गौड़पाद का 'सांख्यकारिका भाष्य' वाचस्पति मिश्र की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तत्वकौमुदी' तथा विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' सांख्य दर्शन के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' ईश्वरवादी दृष्टिकोण की ओर उन्मुख हैं। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने इनमें किसी भी ग्रन्थ को एकमात्र आधार नहीं माना है बल्कि उन्होंने इस दर्शन की केन्द्रीय समस्याओं की सभी स्रोतों से व्याख्या करने का प्रयास किया है।

कपिल अपने सूत्र का प्रारम्भ दुःख (पेन) की समस्या से करते हैं। तीनों प्रकारों के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए उसे जानना मनुष्य का चरम लक्ष्य (पुरुषार्थ) है[४] तथा इस पुरुषार्थ का क्या अर्थ है, इसके वर्णन से सूत्र का समाप्ति होती है। दुःख के बारे में आप कोई भी दृष्टिकोण लें। प्रकृति एवं पुरुष के बीच भेद न करना बन्धन का कारण है तथा इस बन्धन को नष्ट करना कठिन है। पुरुष तथा प्रकृति के बीच पूर्ण एवं स्पष्ट भेद करना ही पुरुषार्थ है।[५]

सांख्य दर्शन में, निम्न प्रमुख बिन्दुओं में निहित तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है–

१. पुरुष एवं प्रकृति (आदि शाश्वत तत्व),

२. अविभेदीकरण का कारण,

३. अ-विभेदीकरण के परिणाम,

४. इसके परिणाम अर्थात अविभेद द्वारा उत्पन्न बन्धन को नष्ट करने के साधन।

५. पूर्ण ज्ञान का स्वरूप जो (प्रकृति एवं पुरुष) विभेदीकरण (अर्थात् पुरुषार्थ) हैं।

प्रकृति– दो शाश्वत तत्वों में से एक हैं। इसकी सत्ता एवं स्वरूप के बारे में इससे उत्पन्न विकृतियों (इवोल्युट्स) द्वारा माना जाता है। यह प्रधान अव्यक्त, अनुमेय, जड़, एवं शक्ति है। प्रकृति के स्वरूप एवं इसकी सत्ता के बारे में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य-कारिका' की नवीं एवं पन्द्रहवीं कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं।[६]

सांख्य-दर्शन 'सत्कार्यवाद' में विश्वास करता है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में सांख्य का मत है कि सभी भौतिक कार्य (वस्तुएँ) प्रकृति के परिणाम (मॉडीफिकेश) हैं[७]। अपने इस मत की पुष्टि में सांख्य-दर्शन ने कई युक्तियाँ दी हैं (देखिए कारिका ९)। 'सांख्य-कारिका' की नवीं कारिका में जो युक्तियाँ दी गई हैं ईनके अनुसार परिणाम या उत्पाद वस्तुएँ अव्यक्त के, जिसे प्रधान एवं प्रकृति कहा गया है, मात्र व्यक्त रूप हैं।

पुरुष, प्रकृति के तीन गुणों– सत्व, रजस् एवं तमस्–की साम्यावस्था में हलचल करता है जिससे प्रकृति में विकास या परिणाम होता है। यह हलचल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनन (रिफ्लैक्शन) या सान्निध्य के कारण होती है। सांख्य-दर्शन में पुरुष की सत्ता के लिए भी बहुत-सी युक्तियाँ दी गई हैं।[८] पुरुष सभी प्रकार के परिणामों (विकारों) से मुक्त एवं शुद्ध हैं।

पुरुष विशुद्ध एवं स्वतन्त्र चेतना है। यह दिक्, काल, गुण (मेरिट) अवगुण, बन्धन एवं मोक्ष से परे है लेकिन अज्ञान के कारण पुरुष स्वयं को बुद्धि से जो स्वयं में उसका ही मनन है, अहं-बोध (आई-कान्शयसनैस) से तादात्म्य करता है। बन्धन, आत्म एवं अनात्म में भेद न करने के कारण होता है। क्योंकि बन्धन अज्ञान के कारण होता है अतः मोक्ष ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में, अज्ञान केवल ज्ञान के द्वारा ही दूर हो सकता है।[९] यही नहीं, प्रकृति की मुक्ति के लिए कार्य करता है।[१०] विकास के सभी अंग (चरण) पुरुष के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं।[११] पुरुषार्थ-- जो मनुष्य का चरम लक्ष्य है-- मोक्ष दिलानेवाले ज्ञान की प्राप्ति है।

१. मनन का स्वरूप

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने सांख्य-दर्शन के प्रमुख (उपरोक्त) तत्वमीमांसीय प्रत्ययों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके द्वारा प्रत्येक प्रत्यय पर दिए गए नवीन विचारों को प्रस्तुत करना इस लेख में सम्भव नहीं है। यहाँ हम केवल एक ही बिन्दु-- सांख्य-दर्शन में मनन का स्वरूप-- पर उनके विचारों को प्रस्तुत करेंगे। इस बिन्दु पर उन्होंने अपनी 'स्टडीज इन सांख्य' में बहुत बल दिया है।

प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था मात्र पुरुष के सान्निध्य से भङ्ग हो जाती है। सान्निध्य की कभी-कभी मनन के रूप में व्याख्या की जाती।[१२] कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य इसे मुक्त करनेवाली प्रक्रिया के रूप में (इज ए फ्रीइंग प्रोसेस) वर्णित करते हैं। मनन स्वयं को शरीर से स्वतन्त्र करता है अथवा स्वयं आत्मा के सूक्ष्म शरीर के रूप में यह (मनस) स्वयं को मुक्त करता है (१४३/१७)[१३] अतः कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार सांख्य का पुरुषार्थ मनन द्वारा प्राप्त किया जाता है।

मनन द्वारा पुरुषार्थ प्राप्त करने की प्रक्रिया को हम, जैसा कि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य मानते हैं, दुख की समस्या से प्रारम्भ करते हैं। कपिल (कारिका १·१) के अनुसार जगत् तीन प्रकार के दुःखों-- आध्यात्मिक (मानसिक एवं शारीरिक दुःख), अधिभौतिक (प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न दुःख) तथा अधिदैविक (अति भौतिक कारणों से उत्पन्न दुःख) से युक्त है। मनुष्य का लक्ष्य इन दुःखों एवं पीड़ाओं से छुटकारा प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना है।

दुःख से मुक्त होने की कामना (विश) दुःख की अनुभूति पर मनन करने की कामना दुःख का निर्माण करती है। जिसे दूर करने की कामना नहीं की जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दुःख अनुभव नहीं किया जाता। अतः कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, "दुःख पर मनन इस अर्थ में बुराई (ईविल) है, दुख की सम्भावना है (१ : १३५-२)। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य दो प्रकार के दुखों में भेद करते हैं- (अ) वह जो मनन द्वारा व्यक्त होता है तथा द्वितीय (ब) क्योंकि यह मनन ही है जो दुःख की भावना को उत्पन्न करता हे (लाता है) जो स्वयं में दूसरा दुख या बुराई (ईविल) है। दुःख के इन दो भावों के अनुरूप वे दो प्रकार की कामनाओं में भेद करते हैं-(अ) दुःख से मुक्त होने की कामना, (ब)- दुःख की सम्भावना से मुक्त होने की इच्छा। प्रथम प्रकार की कामना को वे पार्थिव या लोकपरक (सैक्यूलर) कामना कहते हैं और द्वितीय प्रकार की कामना को वे आध्यात्मिक कामना से अभिहित करते हैं।

भट्टाचार्य के अनुसार "कामना करने का अर्थ है यह सोचना कि जिसकी कामना की जाती है उसे प्राप्त किया जाता है"। दूसरे शब्दों में, मनन यह स्पष्ट करता है कि परम स्वतन्त्रता एवं दुःख की सम्भावना से स्वतन्त्रता अर्थात् मनन को प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक कामना की दृष्टि से यह स्वतन्त्रता एक परम तथ्य नहीं है क्योंकि यह मनन ही है जो इसे निर्मित करता है। लेकिन सांख्य के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार दुःख ही सत् है। फिर भी सांख्य इसके भ्रमात्मक पहलू को स्वीकार करने की त्रुटि नहीं करता। दुःख की अनुभूति में निहित भ्रम बौद्धिक है। "दुःख पर मनन" में यह निहित है कि मैं दुःख से मुक्त हो सकता हूँ तथा आश्चर्य भी करता हूँ कि मैं अब तक इससे प्रभावित हूँ। कोई व्यक्ति दुःख से प्रभावित होने को अस्वीकार कर सकता है। खैर, दुःख का भाव आत्मा (सेलफ) का है तथा यह आत्मा का विरोधी भी है क्योंकि आत्मा दुख के भाव का विरोध करता है। इस सन्दर्भ में कोई व्यक्ति कह सकता है कि आत्मा स्वयं का विरोध करता है तथा इस प्रकार वह स्वयं के लिए विषय तथा अनात्मा (नॉट-सेलफ) है। दुख के भाव का यह विषयकरण बौद्धिक भ्रम है (१ : १३८-८)

इस प्रकार भट्टाचार्य के अनुसार अनुभूत दुख (फैल्ट पेन) एक ओर मानसिक तथ्य है ओर आत्मा का भ्रमात्मक लगाव (१ : १३९-१०)। अतः वास्तविक दुख से मुक्ति स्वयं मनस का रागात्मक (अफैक्टिव) अनुभव है तथा दुख की सम्भावना से मुक्ति इसकी परम स्वतन्त्रता है। प्रथम स्वतन्त्रता पूर्णता के लिए द्वितीय स्वतन्त्रता की माँग करती है और सतत इसके साथ है।

जिस बिन्दु पर भट्टाचार्य बल देना चाहते हैं वह है मनन द्वारा आन्तरीकरण प्रक्रिया की निरन्तरता। भट्टाचार्य यह बताते हैं कि सांख्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साथ पार्थिव या लोकपरक (सैक्यूलर) स्वतन्त्रता की निरन्तरता को स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्र प्रक्रिया के रूप में अहंगत (ईगोइस्टिक) कामना या अहंकार नहीं है। यह केवल मनस को आत्मा से विभेदित करती है।

भट्टाचार्य आध्यात्मिक प्रक्रिया का मनन से तादात्म्य करते हैं। उसके अनुसार मनन से अथवा दुख की सामान्य सम्भावना से आत्मा को स्वतन्त्र करने की आध्यात्मिक प्रक्रिया मनन ही है और कुछ नहीं। तथा पहले से ही अहंकार या अहम्गत मनोवृत्ति, जो संकल्प को प्रतिबन्धित करती है, से ऊपर है। लेकिन इसी सन्दर्भ में भट्टाचार्य का कहना है कि मनन या ज्ञान स्वतन्त्रता के लिए पूर्ण साधन नहीं है। यह केवल उसका मात्र प्रारम्भ है।

२. सांख्य दर्शन में मनन का स्थान

मनुष्य का स्वरूप देहयुक्त है अतः दुख ही एक ऐसी चीज़ है जिसे मननात्मक कामना में सर्वप्रथम जाना जाता है। इसीलिए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कहते हैं कि मनन दुख के भाव पर मनन के रूप में प्रारम्भ होता है। उनका मानना है कि मनन प्राथमिक रूप से दुःख पर मनन है। लेकिन यह सभी स्तरों पर स्वतन्त्रता दिलानेवाली प्रक्रिया है (१ : १४३-१६)। सांख्य दर्शन में मनन स्वयं से ज्ञातृत्व प्रक्रिया की दशा में, एक अनुभव है।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पुरुष एवं प्रकृति के बीच बताये गये भेद के आधार पर भी मनन के प्रत्यय का विश्लेषण करते हैं।

पुरुष के ज्ञान में मनन की भूमिका

सांख्य में पुरुष की विवेचना "विशुद्ध चेतना" के रूप में की गई है। कुछ विद्वानों का[१४] मत है कि पुरुष के इस प्रकार के प्रत्यय को स्वीकार करते हुए सांख्य पुरुषबहुत्व (या आत्मबहुत्व) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन भट्टाचार्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न ही नहीं करते कि सांख्य को सामान्य परम पुरुष (यूनीवर्सल एब्सोल्यूट पुरुष) के प्रत्यय को तार्किक-रूप से अन्त में स्वीकार करना चाहिए। लेकिन वे यह मानते हैं कि "मुक्त आत्म के रूप में अथवा इसके स्वतन्त्र वास्तविक स्वरूप में, आत्म अन्तर्वस्तु रहित चेतना के रूप में विचार किया जाता है। आत्म विशुद्ध चेतना है। वह न तो शरीरयुक्त चेतना है और न ही किसी विषयक के रूपवाले अन्तर्वस्तु की चेतना है (१ : १९२-११६-१७) वास्तव में देखा जाए तो मनस् के विभिन्न परिष्कार आत्म के अंश नहीं हैं बल्कि विषय हैं जिनके बारे में विषयी को चेतना होती है। अतः सभी विषयों से पृथक् चेतना ही आत्म का अनिवार्य स्वरूप है।

भट्टाचार्य के अनुसार 'आत्म, मनन में तत्काल जाना जाता है, वास्तव में उसका अनुमान नहीं किया जाता' (१ : १९२-११६-१७)। इस सन्दर्भ में मनन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ है विवेक का आवसानिक (टरमीनल) मनन। विवेक के इस आवसानिक मनन के लिए स्वतन्त्र या मुक्तात्मा अनिवार्यतः अन्तर्वस्तु रहित ज्ञान के रूम में प्रकट है। लेकिन ज्ञाता के रूप में आत्म का अनुमान किया जाता है (देखिये कारिका–१९)। इसका अनुमान प्रमुख रूप से शरीर के एकत्व (यूनिटी) की व्याख्या के रूप में किया जाता है।

मुक्तात्मा को लेकर दो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं : १. यह क्यों कहा जाता जाता है कि मुक्तात्मा का अनुमान नहीं किया जा सकता, तथा २. क्या विशेष आत्माएँ मुक्ति के उपरान्त बनी रहती हैं ?

प्रथम प्रश्न के उत्तर में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य यह कहेंगे कि अपने को मुक्त करने की प्रक्रिया या मनन की अन्तिम अवस्था में महत् या बुद्धि का जिसमें पुरुष के बारे में मनन देहयुक्त अहं (या अहंकार) हो जाता है, प्रकृति में लय हो जाता है और आत्मा की मुक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। जब अन्तिम तत्व (महत् या बुद्धि) का लय हो जाता है तब विषय-चेतना नहीं रहती है। जहाँ चेतना का विशिष्टीकरण नहीं होता वहाँ अनुमान सम्भव नहीं है। मुक्त आत्मा को अन्तर्वस्तु रहित विशुद्ध चेतना के रूप में समझा जाता है। अब यह साक्षिन् नहीं है क्योंकि अब इसकी चेतना के लिए कोई विषय नहीं होता।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा : क्योंकि मुक्त आत्मा स्वयं चेतना है, इसकी स्वयं की चेतना इसकी मननात्मक चेतना है। इस मननात्मक चेतना की सत्ता केवल बुद्धि में ही व्यक्त होती है। स्वयं में यह अचेतन तथा अव्यक्त है। दूसरे शब्दों में, यह चेतन रूप में वैयक्तिक नहीं हो सकती तथा जब बुद्धि का लय हो जाता है तब इसे अपनी स्वयं की सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। तब यह वैयक्तिक है या नहीं, ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता। अतः इस अर्थ में कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य भी अन्य वेदान्तियों के समान, यह विश्वास करते हैं कि "वेदान्त एवं सांख्य के बीच इस बिन्दु को लेकर जो मतभेद है वह समाप्त हो जाता है। (१ : १९७–१२६)

सांख्य के इस मत को कि प्रकृति का कोई भी तत्व (बुद्धि भी नहीं) उस वैयक्तिकता को जानने में सहायता नहीं कर सकता है, भ्रमात्मक है, यह कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का मत अद्वैत वेदान्त का है। अद्वैत वेदान्त वैयक्तिकता को युक्ति के आधार पर अस्वीकार करने की कोशिश नहीं करता। इसके लिए (वैयक्तिक आत्म की अस्वीकृति के लिए) वह आध्यात्मिक भाव या शास्त्र के आत्मतत्व को स्वीकार करता है। (१९८–१२७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत: हम देखते हैं कि आत्म के बारे में अद्वैत के निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए, सांख्य के मनन को आध्यात्मिक सहजबोध में परिवर्तित करना होगा।

प्रकृति के ज्ञान में मनन की भूमिका

हम ऊपर देख चुके हैं कि पुरुष का सीधा सम्बन्ध एकमात्र बुद्धि से होता है। बुद्धि का विवेक या मनन ही इसे पुरुष से विभेदित करता है। इस विभेदीकरण प्रक्रिया में बुद्धि का लय हो जाता है तथा इसके पुरुष के साथ अव्यक्त भेद स्पष्ट होते हैं। तत्वों के अव्यक्त भेद के क्षेत्र में मनन का कोई स्थान नहीं है। (१ : १९८–१२७)।

मनन की तत्वों की ओर उर्ध्वगामी गति का स्थान प्रकृति के विकास में ही है। साख्य ने प्रकृति को, एस. के. मिश्र[१५] के अनुसार, यथार्थवादी अर्थ में ही समझा। प्रकृति के वस्तुगत तत्वों की व्याख्या करते समय भट्टाचार्य ने भी सांख्य के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को बनाये रखा। यही कारण है कि ज्ञातृत्व-प्रक्रिया को उन्होंने एक यथार्थवादी की गम्भीरता के समान ही लिया। भट्टाचार्य ने मनन एवं ज्ञातृत्व प्रक्रिया (नोइंग प्रोसेस) के स्तरों का निम्न प्रकारेण वर्णन किया है—

"सभी ज्ञान मननात्मक है अर्थात इसमें आत्म से विभेदीकरण निहित है। हम बाह्य विषय को भौतिक शरीर से (सदेह) संयुक्त के रूप में आत्म से विभेदीकरण करने से प्रारम्भ करते हैं। इसके उपरान्त भौतिक शरीर (देह) को आत्म से जो भौतिक देह से संयुक्त है अलग करते हैं। इस प्रकार भौतिक शरीर (देह) को मुझे (मी) के रूप में न जानकर अवैयक्तिक ब्रह्माण्डीय (कॉसमिक) भूत के रूप में जानते हैं। इसके उपरान्त हम उत्तरोत्तर रूप से मानसिक शरीर को संकल्प के रूप में आत्म से अलग करते हैं, इस प्रकार एक ओर ब्रह्माण्डीय तन्मात्रा का प्रत्यय प्राप्त हैं तो दूसरी ओर ब्रह्माण्डीय इन्द्रिय का; और तब ज्ञातृत्व आत्म के रूप का तथा उससे ब्रह्माण्डीय तत्व अहंकार का तथा अन्त में ब्रह्माण्डीय तत्व के रूप में बुद्धि से युक्त विशुद्ध आत्म का विचार आता है। यह द्वितीय मनन अथवा विभेदीकरण क्रमशः उत्तरोत्तर रूप (प्रोग्रैसिव) में होता है लेकिन मानसिक शरीर तब तक रहता है जब तक बुद्धि स्वयं विषय के रूप में जानी जाती है। अपने विशुद्ध भावों में विशुद्ध आत्म से अलग के रूप में बुद्धि का ज्ञान विवेक है जो मनन का लक्ष्य तथा सभी मनन में भौतिक है। वह मनन जो मानसिक शरीर को एक विषय बनाता है विभिन्न स्तरों में एकाकी प्रक्रिया है। शरीर अपना आत्म आकार का त्याग तब तक नहीं करता जब तक विशुद्ध बुद्धि इसे नहीं छोड़ती। (१ : १९१, ९२–११४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection; Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म एवं प्रकृति के तत्वों को उत्तरोत्तर विभेदीकरण तथा उपनिषदीय तत्वमीमांसा के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टि में आत्मा की विशुद्ध चेतना के बारे में विकासात्मक परिभाषा के बीच समानता देखी जा सकती है। लेकिन इनमें महत्व-पूर्ण अन्तर भी है। प्रथम सांख्य में यह मनन द्वारा स्वतन्त्रता (मुक्ति) प्रक्रिया है जबकि द्वितीय में मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं द्वारा आन्तरीकरण प्रक्रिया है। अन्तर कुछ भी हो लक्ष्य (मननात्मक प्रक्रिया द्वारा निष्कर्ष पर पहुँचना) समान ही है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने कहा था कि, "दर्शन मननात्मक चेतना से प्रारम्भ होता है।" (२ : १२५–१)

मनन पर मनन

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, दर्शन मनन से प्रारम्भ होता है। यह मनन में ही विकसित होता है तथा मनन में ही इसकी परिसमाप्ति होती है। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि हम भट्टाचार्य के मनन के प्रत्यय को कुछ स्पष्ट करने का प्रयत्न करें।

१. भट्टाचार्य का एक मत यह है कि मनन दुख पर मनन के रूप में प्रारम्भ होता है। (१ : १४३–१६)

२. "मनन सभी स्तरों पर मुक्ति दिलानेवाली प्रक्रिया है तथा ज्ञातृत्व प्रकार्य है।" (१ : १४३–१७)

३. "सांख्य दर्शन के लिए मनन स्वाभाविक एवं आध्यात्मिक दोनों ही है।" (१ : १४४–१९) सांख्य दर्शन में दुख से मुक्ति पाने की स्वाभाविक ईहा (सचेत इच्छा) को भट्टाचार्य चेतन कामना एवं प्राकृतिक मनन के रूप में व्याख्यायित करते हैं। आध्यात्मिक मनन से उनका तात्पर्य मनस की आत्म-अनुकूलन प्रक्रिया की अवसायी या अन्तिम अवस्था है (१।१४५–२०) : विभिन्न तत्वों में प्रकृति की अभिव्यक्ति निम्नगामी गति है जो पुरुष के मनन द्वारा होती है। इसे आत्म की भोग की ओर प्रगामी गति के रूप में समझा जाता है तथा प्राकृतिक जीवन कहा जाता है। आध्यात्मिक मनन मुक्ति दिलानेवाली प्रक्रिया है, प्राकृतिक जीवन से छुटकारा दिलाता है तथा ऊर्ध्वगामी गति का परिचायक है (१ १४४–१८)। मुक्ति की ओर मनन की प्रतिगामी गति तथा (आत्मा की) भोग की प्रगामी गति को लेकर दो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं–

(अ) क्या आध्यात्मिक गति तथा प्राकृतिक जीवन एक ही क्रम में है ?

(ब) क्या यह जीवन से उत्पन्न होती है अथवा जीवन में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है ?

परा. २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन समस्याओं का भट्टाचार्य यह कहकर समाधान प्रस्तुत करते हैं कि वेदान्त के अनुसार मुक्ति की ओर मननात्मक प्रक्रिया आश्चर्यजनक (स्वतः प्रवृत्ति) रूप से होती है और प्राकृतिक जीवन का अङ्ग नहीं है जबकि सांख्य दर्शन के अनुसार यह जीवन से उत्पन्न होती है तथा उससे अबाधित है (१ : १४६–२३)। जीवन से, जो कि स्व-उत्पन्न है, भिन्न मनन का कम-से-कम प्रारम्भ तो है।

४. यह हमारे अनेक अनुभवों में से एक अनुभव है। "यह न केवल असंयमी प्रयास है लेकिन अनुभव के लिए नवीन नहीं है।" जिसने मनन प्रारम्भ कर दिया है तथा यह समझ लिया कि मनन स्वाभाविक है, उसके लिए सांख्य का केवल इतना निर्देश है (यदि उसे निर्देश कहा जा सके तो) कि यदि संकल्प है तो स्वयं उसे अवांछनीय दुख के रूप में मानकर उसे विषय रूप में नहीं देखना चाहिए और अधिक व्यक्त आध्यात्मिक दृष्टि के सन्दर्भ में, निर्देश यह है कि प्रकृति अथवा जीवन के प्रति वितृष्णा-भाव अथवा सन्यास-भाव से बचना चाहिए। मनन पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है, न ही उसके होने से उससे चमत्कृत होने की जरूरत है। यह मानना चाहिए कि वह स्वभाववत् है तथा वह स्वयं अपने को चरितार्थ कर लेगा। जिसमें मनन नहीं है उसे मनन के लिए उकसाना निरर्थक है। परन्तु जिसमें वह आविर्भूत हुआ है, परन्तु अपने पूर्ण परिमाण में नहीं, वह उसको और अधिक गहन करने में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है कि वह उसे स्वतः अपनी पूर्णता प्राप्त करके दे तथा उसे गलत दिशा देने से बचे अथवा उस पर जोर डालकर उसे लुप्त न होने दे। मनन के अन्तर्विषय पर ध्यान लगाने का संकल्प तो किया जा सकता है परन्तु ऐसा ध्यान स्वयं मनन को गहराई नहीं देता। यद्यपि मनन अपनी स्वतःस्फूर्त (स्पॉन्टेनियस) गहराई से अपनी अन्तर्वस्तु को स्वयं स्थिर करता है अथवा उसका उद्घाटन करता है (१ : १४६–४७–२४)। अतः सांख्य में मनन की स्वाभाविक आत्मोन्मुखता की अवधारणा है। मनन की आध्यात्मिक प्रक्रिया प्रारम्भ से ही अहंकार से ऊपर है। यह आध्यात्मिक मुक्ति-प्रक्रिया के रूप में तत्वमीमांसीय ज्ञान या साधन है। उदाहरण के रूप में इन्द्रिय से मुक्त करना आत्म को (जिससे शरीर प्रगामीरूप से विलग है के रूप में) जानना है। आत्म उससे जो भी शरीर के रूप में स्थित है विलग है। अतः मनन में दो बातें निहित हैं–

१. शरीर से आत्म को मुक्त करना, तथा

२. तत्वमीमांसीय सत्ताओं को जानना

मनन की दो प्रक्रियाएँ– नाम्नः– मुक्त करना तथा ज्ञान, धर्म एवं दर्शन, एक दूसरे की साधन नहीं हैं। प्रत्येक स्वयं से एक दूसरे में प्रवेश करती हैं। मनन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बारे में निष्कर्ष रूप से भट्टाचार्य कहते हैं कि सांख्य दर्शन में विषय को आत्म से पूर्णरूपेण पृथक् रूप में जानने के अतिरिक्त मुक्त करना प्रक्रिया नहीं है तथा आत्मा से केवल शरीर ही भ्रमवश सम्मिलित किया जाता है। (१ : १४७–४८–२६)

अद्वैत दर्शन पर इस दृष्टिकोण को लागू करना इतना स्पष्ट है कि इस पर और अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

मनन में अनुमान, आस्था एवं योग

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का मत यह है कि अनुमान, आस्था एवं योग जिनके द्वारा तत्वों को जाना जाता है, सभी अनुभवातीत मनन या स्वाभाविक आध्यात्मिक प्रक्रिया में निहित हैं। अनुभवातीत मनन, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, सांख्य तत्वमीमांसा का साधन है (१ : १४९–२९)। इस प्रक्रिया में यह आस्था निहित है कि इस (प्रक्रिया) का प्रातिभज्ञान की ओर निर्बाध मार्ग है। जिस चीज का प्रातिभज्ञान किया जाता है वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रदत्त है अथवा आन्तरिक प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित है। जिस प्रातिभज्ञान की यहाँ बात की जा रही है वह तत्वमीमांसीय सत्ताओं के बारे में प्रतिपत्तिमूलक निश्चय है तथा इसे लौकिक प्रमाणों (ज्ञान के साधनों) द्वारा नहीं समझा या सिद्ध किया जा सकता। भट्टाचार्य इस प्रकार के विश्वास को शास्त्र में आस्था कहते हैं। (१ : १४९–२९)

श्रुति में विश्वास

शास्त्रों में आस्था का स्वरूप क्या है? क्या इसे प्रागानुभाविक रूप से स्वीकार किया जाता है? भट्टाचार्य की दृष्टि में द्वितीय प्रश्न का उत्तर होगा– 'नहीं'। मननात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न आस्था को विचार के समक्ष विचार से स्वतन्त्र एक प्रस्तुति के रूप में समझा जाना चाहिए। इस प्रकार की प्रस्तुति की सम्भावना में विश्वास श्रुति में विश्वास है। किसी अन्तर्वस्तु में सत् के रूप में यह मननात्मक विश्वास तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा अज्ञेय वास्तव में एक ऐसी चीज है जो अभिव्यक्त होता है "क्योंकि जो इन्द्रियों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं है वह अनभिव्यक्त है।" (१ : १५०–४०)

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि भट्टाचार्य के अनुसार मनन दर्शन के लिए सब कुछ है (बी ऑल एन्ड ऑल) प्रातिभज्ञान प्रतिपत्तिमूलक निश्चय है अथवा तत्वमीमांसीय सत्ताओं में आस्था है तथा इस प्रकार की आस्था विचार के लिए कुछ अन्तर्वस्तु की प्रस्तुति है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा इसे नहीं जाना जा सकता। यह शास्त्र में अथवा श्रुति में आस्था है।

दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

– के. एल. शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

* कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने एक लेख "दी कन्सैप्ट ऑफ दी एब्सोल्यूट एण्ड इट्स् आॅलटरनेटिव फॉर्मस्" में चेतना के तीन स्वरूप प्रकारों- ज्ञान प्रक्रिया (नोइंग), भाव तथा संकल्प के माध्यम से तीन वैकल्पिक पर, क्रमशः सत्य, मूल्य एवं स्वतन्त्रता को मनन द्वारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है, पर चर्चा की है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-प्रक्रिया द्वारा जो 'परम' है, प्राप्त होता है यह सत्य है, भाव का परम 'मूल्य' है तथा संकल्प का 'परम' स्वतन्त्रता है। परम को प्राप्त करने की प्रक्रिया में 'मनन' (रिफ्लैक्शन) की महत्वपूर्ण भूमिका है। मनन के कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य स्तर स्वीकार करते हैं। 'स्टडीज इन सांख्य' नामक लेख का मुख्य उद्देश्य 'ज्ञान प्रक्रिया द्वारा मुक्ति' को बतलाया है। 'स्टडीज इन योग फिलासफी' में उन्होंने संकल्प द्वारा मुक्ति (या स्वतन्त्रता) को दर्शाया है। अपने एक अन्य लेख 'दी कान्सैप्ट ऑफ रस' में उन्होंने भाव द्वारा स्वतन्त्रता पर चर्चा की है। कृ. च. भट्टाचार्य के ये लेख उनकी पुस्तक **स्टडीज इन फिलासफी** जिल्द – २ में संकलित है। मेरे इस लेख का उद्देश्य कृ. च. भट्टाचार्य द्वारा 'स्टडीज इन सांख्य' लेख में वर्णित 'स्वतन्त्रता या मुक्ति को मनन प्रक्रिया द्वारा किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है' कि व्याख्या प्रस्तुत करना है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है सांख्य-दर्शन को समझने के लिए कृ. च. भट्टाचार्य ने जो पद्धति दी है उस पर समकालीन भारतीय दार्शनिकों का ध्यान नहीं गया है।

१. भट्टाचार्य कृष्णचन्द्र : स्टड़ीज इन फिलासफी जि. १, (सम्पादक गोपीनाथ भट्टाचार्य), प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता (९५६) पृ. १२५–२२४

२. वही, प्राक्कथन।

३. शर्मा, चन्द्रधर– ए क्रिटीकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी (राइटर एण्ड कम्पनी, लन्दन १९६०) पृ. १५०

४. कपिल : दी सांख्य फिलोसफी ऑफ कपिल (अनुवादक : जगमोहन लाल, ऑरफियस पब्लिशिंग हाउस, एडिनबरो, १९२१, पृ. १)

५. वही, पृ. २५६

६. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वस्य सम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ ९॥

७. भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारण कार्य विभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥ ५॥

८. सन्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषो ऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. धर्मेण गमनमूर्ध्वंगमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

१०. औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

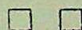
११. स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकांवृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एवं हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३ ॥

१२. कारिका, २०

१३. उपरोक्त संकेतों का अर्थ है प्रथम जिल्द संख्या, पुनः पृष्ठ संख्या तथा फिर पैराग्राफ संख्या । अतः इससे तात्पर्य है जिल्द सं. १, पृष्ठ संख्या १४३ के १७ वें पैराग्राफ को देखें । आगे भी इसी प्रकार के संकेतों का प्रयोग किया गया है ।

१४. सी. डी. शर्मा, वही, पृ. स. १६८ तथा व्ही. वी. श्रीखण्डे : रीसैन्ट इण्डियन फिलौसफी (सं.– कालीदास भट्टाचार्य) पृ. सं. २८५–८६

१५. रीसेण्ट इण्डियन फिलौसफी (सं. कालीदास भट्टाचार्य) पृष्ठ १३६



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू परम्परा में कर्म की अवधारणा

I

भारतीय मूल की दार्शनिक एवम् धार्मिक परम्पराओं में कर्म सम्बन्धी अवधारणा अपना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि कुछ अन्य तथ्यों के साथ कर्म की अवधारणा की उपस्थिति ही हिन्दू, बौद्ध, जैन तथा सिख जैसे भारतीय मूल के धर्मों को पाश्चात्य मूल के धर्मों की तुलना में एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। यों तो अपने साररूप में यह अवधारणा उपर्युक्त सभी परम्पराओं में प्रायः एक ही रूप में क्रियाशील मानी जाती है, तथापि इनके विशिष्ट सन्दर्भों में इसकी कुछ विशेषताएँ और भिन्नताएँ भी हैं। इसलिए इसके समस्त पहलुओं के पूर्ण विवेचन के लिए हमें उपर्युक्त परम्पराओं में से प्रत्येक के अलग-अलग सन्दर्भ में जाना होगा। परन्तु यहाँ हम अपना सम्बन्ध सिर्फ हिन्दू धर्म एवम् दर्शन में व्याप्त इस अवधारणा के स्वरूप एवम् इसके कुछ विशिष्ट पहलुओं के विश्लेषण से ही रखेंगे, अन्य परम्पराओं में निहित इसके स्वरूप आदि से नहीं।

'कर्म' शब्द का साधारण अर्थ तो है क्रिया या कार्य, परन्तु हिन्दू आदि परम्पराओं में जिस सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त की चर्चा की जाती है उस सन्दर्भ में इस शब्द के साथ अपने साधारण अर्थ के अलावा कई अन्य महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित पहलू सम्मिलित हो जाते हैं और कर्म की अवधारणा एक जटिल नैतिक अवधारणा का रूप ले लेती है। मूल रूप में यह अवधारणा इस अर्थ का प्रतीक है कि मनुष्य के द्वारा किया गया कोई भी कार्य बिना अपने अनुरूप फल उत्पन्न किये समाप्त नहीं होता (कृतप्रणाशः) और उसका कर्ता किसी भी प्रकार उसके फल से बच नहीं सकता। फिर यह बात भी इसके अंतर्गत निहित है कि अपने द्वारा नहीं किये गये कर्मों के लिए (अर्थात् दूसरों के द्वारा किये गये कर्मों के लिए) किसी भी स्थिति में कोई भागीदार नहीं होता (अकृताभ्यागमः)।[1] जो जैसा करेगा उसके अनुरूप फल भोगना ही पड़ेगा, उससे वह किसी भी प्रकार बच नहीं सकता। फिर इसका विलोम भी उतना ही सत्य है, अर्थात् यह भी उतना ही सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जो जो कुछ भी फल भोग रहा है वह उसके अपने ही मूल कर्मों का परिणाम है, उसके लिए अन्य किसी व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। एक और महत्वपूर्ण बात जो कर्म की अवधारणा के साथ सम्बद्ध है वह यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी कर्म का फल किसी को तुरन्त मिल जाय। कर्मों से मानो एक प्रकार की अमिट शक्ती निकलती है जिसका विनाश नहीं होता। कर्मों की समाप्ति के बाद भी यह शक्ति किसी-न-किसी प्रकार फलों की सम्भावना के साथ बनी रहती है और समय पाकर भविष्य में फल पैदा करती है जिसका भागी कर्म करनेवाले को बनना ही पड़ता है। यह भविष्य वर्तमान जीवन में ही किसी समय आ सकता है या इसके परे किसी भावी जीवन में भी। इस प्रकार यहीं पर कर्म की अवधारणा के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा आवश्यक रूप से चली आती है। दोनों ही अवधारणाएँ हिन्दू परम्परा में (बौद्ध, जैन आदि में भी) सापेक्ष अवधारणाएँ हैं– एक के बिना दूसरे का सम्पूर्ण अर्थ व्यक्त नहीं होता। यदि कोई अपने कर्मों के फल इस जीवन में प्राप्त नहीं कर पाता तो उनके लिए उसे फिर से जन्म लेकर एक नवीन जीवन में प्रवेश करना पड़ता है। बल्कि यह पुनर्जन्म भी अपने द्वारा किये गये मूल कर्मों के अनुरूप ही होता है। हिन्दू परम्परा में चौरासी लाख योनियों की कल्पना है और ऐसी मान्यता है कि अपने विगत कर्मों के अनुरूप ही किसी को इन योनियों में से किसी एक में जन्म लेना पड़ता है। पुराणों में इस तथ्य की विशद चर्चा है कि किस प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को किस प्रकार की योनि में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार आज अपने वर्तमान जीवन में जो कोई जो कुछ भी हैं वह अपने विगत जीवन के कर्मों के फलस्वरूप तथा वर्तमान जीवन के उसके जो कर्म हैं वे उसके भावी जीवन की आधारशिला तैयार कर रहे हैं। सामान्य तौर पर ये सारी बातें कर्म की हिन्दू अवधारणा के साथ सम्बद्ध हैं।

II

कर्म की उपर्युक्त अवधारणा भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक परम्परा में प्राचीनतम काल से चली आ रही है। इस अवधारणा की नींव सचमुच वेदों में ही है और पीछे चलकर उपनिषदों में तथा अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में यह अवधारणा स्पष्टतर एवं प्रखरतर होती चली गई है। वेदों में उपस्थित ऋत तथा इष्टापूर्त की दो अवधारणाओं में इस अवधारणा की जड़ संयुक्त रूप में निहित मालूम पड़ती है। यों तो ऋत की अवधारणा एक बहुत ही समृद्ध अवधारणा है तथा इसके अन्दर कई तत्व सम्मिलित हैं, तथापि अपने एक महत्वपूर्ण पहलू में यह विश्व में व्याप्त एक सामान्य व्यवस्था, खासकर नैतिक व्यवस्था, का प्रतीक है जिसके अनुसार प्रत्येक कर्म अपने अनुरूप उचित फल पैदा करता ही है और कर्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनेवाले को उस फल का भागी होना ही पड़ता है। इष्टापूर्त की अवधारणा के साथ मृत्योपरान्त जीवन तथा उस जीवन में अपने मूल कर्मों के फलों की प्राप्ति की अवधारणा निहित है। वेदों में तो यह अवधारणा इस तथ्य के प्रतीक के रूप में उपस्थित होती है कि जो कोई इस जीवन में देवताओं को बलि तथा पुरोहितों को दान आदि देता है उसे इन कर्मों के फलस्वरूप मृत्योपरान्त स्वर्ग तथा पितरों के साहचर्य की प्राप्ति होती है। परन्तु पीछे चलकर यही अवधारणा थोड़ी विस्तृत हो जाती है जिसमें सिर्फ बलि आदि से सम्बन्धित कर्मों के स्थान पर किसी भी प्रकार के कर्म चले आते हैं तथा स्वर्गादि के जीवन का स्थान पुनर्जन्म ले लेता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म की अवधारणा के साथ जो एक मूल धारणा यह सम्बद्ध है कि किसी के द्वारा किये गये कर्म किसी बैंक में जमा उस धनराशि के समान है जिसे बाद में भुनाया जा सकता है, वह धारणा इष्टापूर्त की अवधारणा में भी निहित है और वहीं से यह कर्म की अमधारणा में प्रवेश करती है। इस प्रकार स्पष्टतः कर्म की अवधारणा के विकास में ऋत तथा इष्टापूर्त दोनों ही अवधारणाओं का योगदान है और ये दोनों अवधारणाएँ वेदों में मौजूद हैं।

ऋत तथा इष्टापूर्त की वैदिक अवधारणाओं में निहित कर्म की यह अवधारणा बाद के हिन्दू धर्म-ग्रन्थों तथा दार्शनिक परम्पराओं में और भी अधिक स्पष्ट सामने आती है तथा एक अर्थ में समस्त हिन्दू आस्था की रीढ़ सिद्ध होती है। उपनिषदों में, रामायण तथा महाभारत जैसे धर्म-ग्रन्थों में तथा अन्य पुराणों में एवं न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों में यह अवधारणा बहुत ही स्पष्ट एवं प्रमुख भूमिका अदा करती है। न्याय का 'अदृश्य' एवं मीमांसा का 'अपूर्व' इसी के प्रतिरूप हैं तथा अन्य हिन्दू दार्शनिक परम्पराओं में भी यह किसी-न-किसी रूप में मौजूद है ही। अतः हमें कुछ गहराई में जाकर देखना चाहिए कि कहाँ तक और किस अर्थ में यह अवधारणा हिन्दू धार्मिक एवं वैचारिक परम्परा को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती है तथा कहाँ तक हिन्दू परम्परा के अन्य पहलुओं के साथ इसकी संगति है। इतना ही नहीं, हमने कहा है कि हिन्दू परम्परा में यह अवधारणा मूलतः एक नैतिक अवधारणा के रूप में आती है। तो हमें यह भी देखना चाहिए कि कहाँ तक यह अवधारणा एक कठोर एवं निष्पक्ष नैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में अपनी स्थिति को सदैव एक संगत स्तर पर निभा पाती है तथा कहाँ तक एक सार्थक एवं वास्तविक नैतिकता को प्रश्रय दे पाती है।

किस योनि में जन्म लेना पड़ता है, इस रूप में नहीं कि भूत के किन विशिष्ट कर्मों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन की ठीक-ठीक किन स्थितियों से होता है। परन्तु इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

III

एक अर्थ में हिन्दू परम्परा में कर्म की अवधारणा की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू वैचारिक पद्धति प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक रही है। कर्म की हिन्दू अवधारणा के निर्माण एवं विकास के पीछे जो दो प्रमुख आस्थाएँ निहित मालूम पड़ती हैं वे ये है कि विश्व में किसी भी शक्ति का विनाश नहीं होता तथा प्रत्येक घटना के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। ये दोनों आस्थाएँ वस्तुतः दो प्रमुख आधुनिक वैज्ञानिक नियमों– शक्ति की अनश्वरता का नियम तथा कारण-कार्य नियम के परिचायक हैं। कह सकते हैं कि कर्म की अवधारणा इन दोनों ही वैज्ञानिक आस्थाओं का सम्मिलित नैतिक प्रतिरूप है। कोई भी कार्य बिना फल उत्पन्न किये नहीं रह सकता, इस मान्यता के पीछे शक्ति की अनश्वरता के नियम का हाथ है। जैसे विश्व में किसी भी शक्ति का विनाश नहीं होता, सिर्फ उसका रूप परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों से उत्पन्न शक्ति का भी विनाश नहीं होता, फलों के रूप में सिर्फ उसका परिवर्तन हो जाता है। कर्मों से उत्पन्न शक्ति अनश्वर है, किसी भी स्थिति में बिना फल उत्पन्न किये उसका विनाश नहीं हो सकता। कोई भी– यहाँ तक कि ईश्वर भी– कर्मो को फल उत्पन्न किये बिना समाप्त नहीं कर सकता। फिर यह मान्यता कि अपने वर्तमान जीवन में जो जो कुछ भी है वह अपने पूर्व जन्म के अपने ही कर्मो के फलस्वरूप, कारण-कार्य नियम के नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में कारगर होने का उदाहरण है। कोई कार्य अकारण नहीं होता। अतः वर्तमान जीवन में जिसकी जो स्थिति है वह भी अकारण नहीं है, उसके पीछे ठोस कारण है। और वह कारण है व्यक्ति द्वारा अपने पूर्व जन्म में किये गये अपने ही कर्म। इस प्रकार कर्म की अवधारणा में इस प्रश्न का एक तार्किक उत्तर निहित है कि, क्यों मनुष्य-मनुष्य में जन्म से ही शारीरिक, आर्थिक आदि अनेकों दृष्टियों से काफी भेद है। प्रत्येक की स्थिति उसके अपने ही पूर्व कर्मों का परिणाम है। किसी का भी किसी खास स्थिति में जन्म पाना आकस्मिक नहीं है, उसके पीछे ठोस कारण है।

IV

परन्तु इस वैज्ञानिक पक्ष के बावजूद कर्म की हिन्दू अवधारणा के साथ तार्किक एवं नैतिक दोनों ही प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दू परम्परा में ही मौजूद कुछ अन्य तत्वों के साथ इस अवधारणा में निहित तत्वों का मेल नहीं है। एक तरफ तो कर्म की अवधारणा के साथ ये दो बातें बिलकुल निरपवाद रूप में सम्बद्ध मालूम पड़ती हैं कि अपने कर्मों के फल से कोई किसी प्रकार बच नहीं सकता तथा दूसरे के कर्मो का किसी भी स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई भागीदार नहीं हो सकता, परन्तु दूसरी ओर कई हिन्दू धर्मग्रन्थों में अनेकों ऐसे अवतरण मिलते हैं जो उपरोक्त बातों का स्पष्ट विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए 'भगवद्गीता' में भगवद्कृपा के द्वारा अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्म-फलों से छुटकारा पाने की बात कही जाती है। वहाँ बतलाया जाता है कि जो कोई अपने सभी प्रकार के कर्मों को भक्तिपूर्वक ईश्वर पर अर्पित कर देता है वह अच्छे-बुरे सारे कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाता है।[२] उसी प्रकार धर्मशास्त्रों में कई स्थानों पर यह विचार व्यक्त किया गया है कि अपने कर्मों को दूसरे पर हस्तान्तरित कर खुद उनके परिणामों से बचा जा सकता है।[३, ४] फिर हिन्दू जीवन-पद्धति में यह आम धारणा मालूम पड़ती है (जिसका आधार शायद वेदों में ही है) कि दान, तप, बलिदान आदि जैसे कर्मों के द्वारा मनुष्य अपने पाप कर्मों के दुष्परिणामों से छुटकारा पा सकता है। यदि ये बातें सत्य हैं तो फिर यह कठोर नियम कहाँ रह जाता है कि अपने कर्म-फल से कोई किसी प्रकार बच नहीं सकता ? फिर धर्मशास्त्रों में ही यह बात भी कही गई है कि किसी के कर्म के परिणामों में भागीदार उसके सगे-सम्बन्धी या परिवार के अन्य सदस्य भी हो सकते हैं।[५] परन्तु यदि ऐसी बात है तो फिर यह कठोर धारणा कहाँ कायम रह पाती है कि दूसरे के द्वारा किये गये कर्मों के लिए कोई किसी भी स्थिति में भागीदार हो ही नहीं सकता ? उपरोक्त सारी बातें स्पष्टतः कर्म की अवधारणा में निहित मूल भावना के विरुद्ध जाती हैं।

फिर विश्लेषण के आधार पर यह देखा जा सकता है कि कर्म की अवधारणा सिर्फ कुछ बाह्य विरोधों से ही ग्रस्त नहीं है बल्कि इसके अन्दर कुछ ऐसे तत्व मौजूद हैं जो इसे एक प्रकार के अन्तर्विरोध का भी शिकार बना देते हैं। साधारणतः इस अवधारणा को एक नैतिक अवधारणा के रूप में लिया जाता है, परन्तु कुछेक दृष्टियों से इसके अन्तर्गत ही अनैतिकता के भाव निहित हैं। हमने देखा है कि इस अवधारणा के साथ यह तथ्य सम्बद्ध है कि अपने वर्तमान जीवन के दुष्कर्म का परिणाम मनुष्य को अपने भावी जीवन में भुगतना पड़ता है। परन्तु यहाँ एक बहुत ही महत्वपूर्ण नैतिक प्रश्न इस रूप में उपस्थित होता है कि किसी को भी उसके उन कर्मों के लिए दण्डित करना कहाँ तक न्यायोचित है जिनके अपने द्वारा कभी किये जाने की उसे चेतना भी नहीं है। यदि व्यक्ति को इस बात की निश्चित चेतना होती कि अपने किन कर्मों के परिणामस्वरूप वह कौन-सा फल भोग रहा है तो अपने को सचमुच दण्ड का अधिकारी समझकर वह किसी प्रकार एक आन्तरिक सन्तोष का अनुभव करता तथा आगे के लिए अपने अन्दर सुधार लाने का भी प्रयास करता। कोई भी व्यक्ति किसी कर्म के लिए दण्ड का अधिकारी तभी हो सकता है जब वह सचमुच वही व्यक्ति हो जिसने दण्ड से सम्बन्धित कर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया था और उसे वही व्यक्ति तभी कहा जा सकता है जब उसके भूत तथा वर्तमान जीवन की चेतना आदि में एक तारतम्य हो, एक क्रमबद्ध लगाव हो। परन्तु इस सम्बन्ध में उसे बिलकुल अन्धकार में रखकर दण्डित करना एक उचित न्याय-व्यवस्था का परिचायक नहीं है; बल्कि एक अदृश्य मनमाने शासन-चक्र का परिचायक है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्ति को अपने विगत जीवन के कर्मों की स्पष्ट व्यक्तिगत चेतना नहीं होती, फिर भी शास्त्रों के आधार पर इस बात का तो ज्ञान उसे होना ही चाहिए कि अपने किन विगत कर्मों के परिणाम-स्वरूप वह क्या फल भोग रहा है तथा अपने किन वर्तमान कर्मों के चलते भविष्य में उसकी क्या गति होगी। परन्तु यह तर्क बहुत उपयुक्त नहीं है, चूँकि सबसे पहली बात तो यह है कि शास्त्रों में कर्मों तथा उनसे उत्पन्न फलों का इतना विशद विवरण नहीं है कि उनसे प्रत्येक सम्भव कर्म तथा उससे सम्बद्ध फल का एक निश्चित ज्ञान हो जाए। फिर दूसरी बात यह है कि शास्त्रों में वर्णित कर्मों तथा उनसे सम्बद्ध फलों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ता, ताकि एक निश्चित कर्म से एक निश्चित फल की उत्पत्ति विवेकपूर्ण, विश्वासप्रद तथा तर्क-सङ्गत प्रतीत हो। ऐसा लगता है कि बिलकुल एक मनमाने ढङ्ग से कुछ कर्मों को कुछ फलों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, जिन्हें शास्त्रों के प्रति निष्ठा के आधार पर परस्पर सम्बद्ध मान लिया जा सकता है, परन्तु वैसा मानने के पीछे कोई अनुभवजन्य या तर्कसंगत आधार मालूम नहीं पड़ता। कर्म की अवधारणा के अन्तर्गत वैज्ञानिक कारण-कार्य नियम का पुट विद्यमान माना जाता है, परन्तु हम देख सकते हैं कि जिन घटनाओं या तथ्यों के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध होता है उनमें एक प्रकार का अनिवार्य, आन्तरिक सम्बन्ध पाया जाता है। परन्तु कर्मों एवं उनसे सम्बद्ध माने जानेवाले फलों के बीच ऐसे किसी सम्बन्ध का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है। तीसरी बात यह है कि शास्त्रों में कार्य-फल सम्बन्धों की अधिकांश चर्चा इस रूप में है कि किस प्रकार के कर्म के परिणाम-स्वरूप किसी को किस योनि में जन्म लेना पड़ता है, इस रूप में नहीं कि भूत के किन विशिष्ट कर्मों का सम्बन्ध वर्तमान जीवन की ठीक-ठीक किन स्थितियों से होता है। परन्तु इस रूप में ये चर्चाएँ एक कठोर कारण-कार्य व्यवस्था के रूप में प्रत्येक कार्य और उसके सुनिश्चित फल की व्याख्या करने में असमर्थ रह जाती हैं। फलतः नैतिक मार्गदर्शन की कोई निश्चित दिशा इनसे स्पष्ट नहीं होती। फिर चौथी बात यह है कि शास्त्रों के इन विवरणों से मनुष्येतर जीवों की स्थिति में कभी किसी सुधार की तो सम्भावना ही नहीं मालूम पड़ती, चूँकि उन्हें तो शास्त्रों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। उनकी स्थिति में सुधार की आशा तभी की जा सकती थी, जब जीवों को अपने विगत कर्मों तथा उनके परिणामों की साक्षात चेतना होती। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव में ऐसा लगता है कि मनुष्येतर जीव कभी किसी विकसित योनि में पुनर्जन्म के भागी हो ही नहीं सकते।

एक बात और है और वह यह कि, शास्त्रों में अच्छे या बुरे कर्मों के रूप में जिन कर्मों की चर्चा है उनमें से अनेकों ऐसे हैं जिनका वास्तविक नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं मालूम पड़ता और यह समझ में नहीं आता कि एक नैतिक दृष्टि से उनके करने या न करने के साथ किसी अच्छे या बुरे परिणाम का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? उदाहरण के लिए, काले दाँतवाले व्यक्ति के साथ रहने, तीर-धनुष बनानेवाले का साथ करने, बड़े भाई के समक्ष शादी करने, आदि जैसे कार्यों को भी बुरा माना गया है, जिनके बुरे परिणाम निश्चित हैं।[६] इस प्रकार कर्म की अवधारणा के अन्तर्गत कुछ नैतिक कर्म ही सम्मिलित नहीं हैं, बल्कि अनेकों ऐसे कर्म भी सम्मिलित हैं जिनके सम्बन्ध में साधारणतः यह नहीं सोचा जा सकता कि उनका भी सम्बन्ध कुछ अच्छे या बुरे परिणामों के साथ हो सकता है। तो इस स्थिति में कैसे हिन्दू परम्परा में विद्यमान कर्म की अवधारणा को एक निश्चित नैतिक अवधारणा के रूप रूप में लिया जा सकता है जो नैतिक मामलों में हमारा मार्गदर्शन करती हो ? इसके अन्तर्गत तो इतने विविध प्रकार के कर्म सम्मिलित हैं कि एक नैतिक मार्गदर्शक के रूप में इसका सारा मूल्य ही समाप्त हो जाता है। इस ज्ञान के बावजूद भी अच्छे कर्मों के अच्छे तथा बुरे कर्मों के बुरे फल प्राप्त होते हैं, किसी भी व्यक्ति के लिए अपने सामान्य ज्ञान के द्वारा यह समझ पाना सम्भव नहीं है कि उसका कौन विशिष्ट कर्म अच्छे कर्म की श्रेणी में आयेगा और कौन बुरे कर्म की श्रेणी में। सिर्फ शास्त्रों के ज्ञानवाले ही ऐसा बतला सकते हैं। और फिर शास्त्रों के आधार पर यह ज्ञान पा लेने के बाद भी एक विवेकशील तथा तर्कप्रिय व्यक्ति के लिए बहुत स्थितियों में यह समझ पाना कठिन है कि क्यों किसी विशिष्ट कर्म को अच्छे कर्म की श्रेणी में और किसी दूसरे को बुरे कर्म की श्रेणी में रखा गया है। इन कर्मों के साथ जो फल सम्बद्ध बतलाये गये हैं उनके सम्बन्ध में भी ऐसे व्यक्ति को उसी प्रकार की कठिनाई हो सकती है। तो इस प्रकार कर्म की अवधारणा में निहित तत्वों से कोई व्यवस्थित नैतिक दिशानिर्देश मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता।

फिर कर्म की अवधारणा एक दूसरे रूप में भी नैतिकता का धरोहर न होकर उसका विरोधी सिद्ध होती है। इस अवधारणा के अन्तर्गत निहित तत्वों के अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि कष्ट पाता है तो वह नैतिकता के इस कठोर नियम के अन्तर्गत कि, जो जैसा करता है वह वैसा ही फल भोगता है। अब यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति कोई दया, प्रेम आदि का भाव प्रगट कर उसके कष्ट निवारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि का प्रयास करे तो कहा जा सकता है कि या तो उसके ऐसा करने का कोई अर्थ नहीं है, चूँकि किसी को अपने दुष्कर्म के फल से कोई नहीं (खुद ईश्वर भी नहीं) बचा सकता या ऐसा कर वह व्यक्ति विश्व में व्याप्त अटूट नैतिक व्यवस्था की स्वतन्त्र क्रियाशीलता में बाधा उत्पन्न कर रहा है और इस प्रकार एक अनैतिक कर्म कर रहा है। इस दृष्टि से कर्म की अवधारणा प्रेम, दया, करुणा आदि जैसे आवश्यक नैतिक गुणों को प्रश्रय देने में सिर्फ असमर्थ नहीं रह जाती बल्कि इनके प्रति विरोध उपस्थित करती है।

कर्म की अवधारणा को हिन्दू परम्परा में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रतीक माना जाता है, चूँकि ऐसा समझा जाता है कि इसके अन्दर यह मूल भाव निहित है कि व्यक्ति अपने भविष्य का नियामक खुद है, वह जैसा करता है उसी के अनुरूप भविष्य की प्राप्ति उसे होती है। परन्तु विश्लेषण करने पर यह धारणा भी भ्रामक सिद्ध होती है। कर्म की अवधारणा के साथ पुनर्जन्म या सन्सार की अवधारणा अनिवार्य रूप से आबद्ध है, परन्तु यदि हम यह पूछें कि सन्सार का प्रादुर्भाव ही क्यों हुआ, सबसे प्रारम्भ में कौन से कर्म किसी व्यक्ति के संसार में आने के कारण हुए, तो इस सम्बन्ध में शायद हिन्दू उत्तर यह होगा कि संसार अनादि है। परन्तु हम यहाँ यह देखें कि ऐसा कहने का अर्थ क्या है और यह कथन किन अन्य बातों को आपादित करता है। ऐसा कहने का शायद यह अर्थ है कि संसार अनन्तकाल से ऐसे ही चला आ रहा है, किसी निश्चित बिन्दु पर कभी इसका प्रारम्भ नहीं हुआ। परन्तु इसका तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि विभिन्न व्यक्तिगत सत्ताएँ अनन्तकाल से शतरंज की मुहरों की तरह विश्व-पटल पर फेंक दी गई हैं और वे कर्मों की शक्ति के कारण एक के बाद एक जीवन प्राप्त कर इसके चक्के में पीसी चली जा रही हैं। और इस प्रकार किसी के भी वर्तमान जीवन तथा सुख-दुख का मूल कारण बिलकुल रहस्यपूर्ण है। व्यक्ति मौलिक रूप से एक अन्धकारमयी एवं रहस्यमयी नियति के बन्धन में बन्धा हुआ है जिसमें स्वनिर्धारण या आत्म-स्वातन्त्र्य के लिए कहीं कोई स्थान नहीं मालूम पड़ता।

यही नहीं, यदि किसी व्यक्ति की स्थिति को उसके जीवन-मरण-पुनर्जीवन के लगातार क्रम में कहीं बीच से भी उठाकर देखा जाए तो कर्म की अवधारणा के आलोक में उसके लिए वास्तविक अर्थ में इच्छास्वातन्त्र्य या स्वनिर्धारण का कहीं कोई प्रश्न ही नहीं है। व्यक्ति अपनी चेतना, इच्छा, भावना अर्थ के साथ वर्तमान में जिस किसी भी स्थिति में है वह अपने भूत कर्मों के ही परिणाम-स्वरूप और इसलिए वह जो कुछ भी करेगा उसके मूल निर्धारक उसके भूत कर्म ही होंगे। उसकी वर्तमान वासनाएँ, इच्छाएँ आदि सचमुच उसके भूत कर्मों से उत्पन्न संस्कारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के परिणाम हैं। इसलिए व्यक्ति स्वतन्त्र कभी नहीं है, किसी-न-किसी रूप में वह अपने द्वारा किये गए भूत कर्मों का ही गुलाम बना रहता है। 'महाभारत' इसी सत्य को प्रश्रय देता है जब वह कहता है कि मनुष्य सिर्फ इसी अर्थ में स्वतन्त्र है कि उसके वर्तमान कार्य उसके विगत कार्यों के द्वारा निर्धारित होते हैं। जिस प्रकार सोने या चांदी के तरल रूप में डाल दिये जाने पर उजला पीतल इन द्रव्यों के रंग को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अपने विगत कर्मों पर पूर्णतः निर्भर रहनेवाला प्रत्येक जीवधारी भूतकाल के अपने कर्मों से ही अपना वर्तमान रंग ग्रहण करता है।[७] उसी प्रकार शंकर ने भी अपने 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' में बतलाया है कि व्यक्ति का प्रत्येक वर्तमान कार्य उसके विगत कार्यों के द्वारा निर्धारित है। उनके अनुसार यद्यपि जीव स्वयं कार्य करता है, तथापि उससे ऐसा कराता है ईश्वर, और ईश्वर ऐसा कराने में सदैव व्यक्ति के विगत कार्यों का ध्यान रखता है।[८] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कर्म की अवधारणा के आलोक में व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता कभी नहीं है।

इतना ही नहीं, हमारे वास्तविक अनुभव तथा आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के सिद्धान्त आदि भी कर्म की अवधारणा में निहित तत्वों का विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए कर्म की अवधारणा के साथ यह बात सम्बद्ध है कि किसी भी व्यक्ति में जो शारीरिक दोष आदि मौजूद हैं वे उसके भूत जीवन के गलत कर्मों के परिणाम हैं। परन्तु आधुनिक चिकित्साशास्त्र बतलाता है कि बहुत सारे रोग वंशानुगत होते हैं और इसलिए व्यक्ति उन्हें अपने कर्मों के चलते नहीं बल्कि अपने माँ-बाप के चलते ग्रहण करता है। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि अपने पूर्वजों के दुष्कर्म का परिणाम व्यक्ति को भुगतना पड़ता है, तो यह कर्म की अवधारणा में एक आत्म-विरोध पैदा करता है और यदि यह कहा जाए कि आकस्मिक रूप से ऐसा होता है तो फिर यह दावा समाप्त हो जाता है कि कर्म की अवधारणा नैतिकता के क्षेत्र में कारण-कार्य सिद्धान्त का प्रतीक है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यद्यपि कर्म की अवधारणा हिन्दू परम्परा में अपना एक बहुत ही विशिष्ट स्थान रखती है तथा इसने हिन्दू जीवन के वैचारिक तथा-व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को काफी प्रभावित भी किया है, तथापि समीक्षात्मक विश्लेषण करने पर यह तार्किक अथवा नैतिक किसी दृष्टिकोण से खरी नहीं उतरती। यह बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के विरोधों से ग्रसित है— बाह्य विरोध से इस अर्थ में कि, हिन्दू परम्परा के कई अन्य तत्वों के साथ इसका मेल नहीं है तथा आन्तरिक विरोध से इस अर्थ में कि, एक नैतिक अवधारणा के रूप में इसमें कुछ अन्तर्विरोध निहित हैं। फिर एक कठोर नैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में मान्यता रखते हुए भी वास्तविक नैतिकता को प्रश्रय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने में यह कई अर्थों में असमर्थ है। इसके अन्दर निहित तत्व नैतिकता को प्रश्रय देने के लिए न तो अनिवार्य हैं और न पर्याप्त– अनिवार्य इसलिए नहीं चूंकि, जैसा हमने देखा है, इसके अन्दर निहित कठोर नैतिक व्यवस्था कुछ अर्थों में नैतिकता के लिए सहायक सिद्ध न होकर बाधक सिद्ध होती है, और पर्याप्त इसलिए नहीं चूंकि सिर्फ सामान्य तौर पर ऐसा कह देने से कि जो जैसा करता है वैसा फल पाता है तब तक वास्तविक नैतिकता को बल नहीं मिल सकता जब तक व्यक्ति को अपने वर्तमान जीवन में इस बात की निश्चित चेतना नहीं हो कि अपने किन विशिष्ट भूत कर्मों के फलस्वरूप वह क्या फल भोग रहा है।

दर्शनशास्त्र विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर

केदारनाथ तिवारी

टिप्पणियाँ

१. देखिए महाभारत, वनपर्व, २१३; २२–२३।

२. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
– भगवद्गीता, अ. ९, श्लो. २६–२८।

३–४, प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥
– मनुस्मृति, अ, ६, श्लो. ६९।
अन्नादे भ्रूणहामार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम्॥
– मनुस्मृति, अ. ८ श्लोक ३१८।

५. भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च॥"
– मनुस्मृति, अ. ५, श्लोक १६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ ”
— मनुस्मृति, अ. ६, श्लोक २८ ।

६. इस सम्बन्ध में देखिए, मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक १५०–१६६ ।

७. महाभारत, शान्तिपर्व, २७६ : ११

८. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, II. ३·४२

(“ The Lord indeed causes to the soul to act, but the soul acts itself. Moreover, the Lord causing it to act now has regard to its former efforts, and the caused acts in a former existence having regard to efforts previous to that existence, a regressus, against which considring the eternity of the samsara, no objection can be raised. ”

— ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) के थिबू (Thibaut) द्वारा किए गये अंग्रेजी रूपान्तर से ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्त्र के दर्शन में 'चेतना'

अस्तित्ववाद के प्रसंग में ज्याँ-पाल सार्त्र का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है विशेष रूप में इस दृष्टि से कि इन्होंने मानव-जीवन की गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन कर, न केवल दर्शन बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी, उनके महत्व पर प्रकाश डाला है। सार्त्र का विश्वास है कि संसार की सारी स्थितियाँ और घटनाएँ व्यक्ति के जीवन से भिन्न नहीं, वरन् उनसे मानवीय अस्तित्व की सारी चीज़ें नियन्त्रित होती हैं। इस कारण इस विषयगत संसार का मानवीय अस्तित्व से बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। हेगल आदि बौद्धिक चिन्तकों ने जीवन की इन आकस्मिक स्थितियों को निरर्थक समझ उनकी उपेक्षा की थी, क्योंकि वे सारे तत्व जो अस्तित्व के निर्माण में आवश्यक है, उन्होंने उन्हें निर्मूल (de trop) और अनावश्यक समझा। किन्तु सार्त्र की राय में उन स्थितियों की अवज्ञा कर संसार को किसी बौद्धिक सूत्र में आबद्ध मानना अपनी आँखों पर पर्दा डालना है। अतः संसार का वास्तविक ज्ञान तभी संभव है जब चेतना और विषयगत संसार इन दोनों का संयोग होता है, क्योंकि मानवी अस्ति के दोनों पक्ष, अर्थात् पोर-सोइ (pour soi) तथा एन-सोइ (en-soi), जो 'अपने लिए अस्ति' तथा 'अपने-आप में अस्ति' के प्रमाण हैं, एक ही सत्ता के भिन्न प्रकार हैं। यहाँ इस लेख में हम सार्त्र के अनुसार, 'अपने लिए अस्ति' अर्थात् मानवीय सत्ता के चेतन तत्व की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

यह निर्विवाद है कि मानवीय सत्ता की अभिव्यक्ति उसकी चेतना से ही होती है। संसार की अन्य वस्तुएँ जो निर्जीव हैं, संसार की स्थितियों से उनका कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं है। अतः व्यक्ति के अस्तित्व का प्रमाण उसकी चेतना है। सार्त्र के अनुसार, मानवीय अस्तित्व में व्याप्त यह चेतना स्वभावतः स्वच्छन्द है और विषय-शून्य होने पर भी जीवन की प्रत्येक अवस्था में यह अपने अस्तित्व को स्वयं प्रमाणित करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वच्छन्दता सम्प्रत्यय

चेतना के स्वच्छन्द स्वरूप की व्याख्या सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'दि साइकोलाजी ऑफ इमैजिनेशन'[१] में की है। 'कल्पना' में किसी विषय की प्रतिभा अवस्तुता या शून्यता के रूप में मानस-पटल पर होती है। 'कल्पन' में किसी वस्तु की अनुपस्थिति रहती है, जबकि प्रत्यक्ष में उसका हमें साक्षात् अनुभव होता है। इस प्रकार सार्त्र के अनुसार 'कल्पना' शून्यता का प्रमाण है, क्योंकि किसी कल्पना के प्रसंग में सभी विषय केवल शून्यता या अवस्तुता के रूप में ही होते हैं। अतः कोई भी कल्पना या प्रतिमा कितनी भी सजीव, सबल और आकर्षक क्यों न हो, वह किसी विषय की अभिव्यक्ति शून्यता में ही करती है।[२]

'कल्पना' की शून्यता जैसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए यह सोचने को हम विवश हो जाते हैं कि चेतना कैसे किसी ऐसे विषय को उपस्थित कर पाती है, जो सत्तावान वस्तुओं की तुलना में शून्य है। इस सम्बन्ध में सार्त्र का मत है कि किसी कल्पित विषय या प्रतिमा को चेतना संसार की वस्तुओं से पृथक् रखकर ही उस पर विचार करती है। अर्थात् संसार की स्थितियों से अपने को स्वतन्त्र रखने की क्षमता के कारण ही चेतना किसी कल्पित विषय या प्रतिमा को व्यक्त कर सकती है। अतः चेतना किसी कल्पना या प्रतिभा के वस्तुशून्य स्वरूप को अपनी असीम स्वच्छन्दता के कारण ही निरूपित कर पाती है। यह स्वच्छन्दता चेतना की बाह्य विशेषता नहीं, बल्कि उसके वास्तविक स्वरूप का परिचायक है।

अतः सार्त्र की राय में चेतना स्वभावतः पूर्णतया स्वच्छन्द है जिसके फलस्वरूप किसी मनोव्यथा (anguish) या संतापजनक परिस्थिति में भी व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र रख सकता है। यह ठीक है कि संसार की स्थितियों से वह दूर नहीं, किन्तु उनका प्रभाव चेतना पर बहुत काल तक नहीं रहता। 'लसलसे और चिकने ढलान की तरह विशेषता न केवल वस्तुओं की है, वरन् मनुष्य की प्रकृति की भी। संसार की घटनाएँ कुछ क्षण के लिए मानों व्यक्ति में चिपक जाती हैं और पुनः कुछ समय उपरान्त वे न जाने कितनी दूर हो जाती है।[३] व्यक्ति के अस्तित्व की भी यही विशेषतः है जो उसकी चेतना के विलक्षण स्वरूप से स्पष्ट होती है। अतः सार्त्र ने मानवीय अस्तित्व को एक ऐसे ही चिकने ढलान के रूप में माना है जिस पर किसी विषय का प्रभाव अधिक काल तक टिकना सम्भव नहीं और उससे उसका शीघ्र मुक्त हो जाना स्वाभाविक है।

चेतना की इस स्वाभाविक स्वच्छन्दता पर यदि ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि सार्त्र ने यहाँ उसी पद्धति का अनुसरण किया है जिसे विश्व की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या में डेकार्ट ने की थी। अर्थात् संसार की सत्ता पर डेकार्ट ने शंका व्यक्त की और इस दृष्टि से समस्त वस्तुजगत् को उन्होंने स्वप्नवत् माना। अतः शंका करने या संसार की सत्तावान् वस्तुओं में अविश्वास करने की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने को विषयगत संसार से स्वतन्त्र रखता है। चिन्तन-प्रक्रिया की यह विशेषता उसकी स्वाभाविक स्वच्छन्दता का ही प्रमाण है, क्योंकि वस्तुजगत् की साक्षात् सत्ता को निर्मूल या भ्रमवत् मानना संसार में शून्यता का प्रसारण है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि चेतना की तह में व्याप्त शून्यता उसकी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से भिन्न नहीं, बल्कि दोनों एक ही अर्थ के सूचक हैं। अतः सार्त्र का विश्वास है कि शून्यता किसी प्रकार अस्ति से ही विकसित हुई है, इसलिए अस्ति के परिप्रेक्ष्य में ही (on the surface of being) शून्यता कोई महत्व रखती है। इस दृष्टि से चेतना की स्वच्छन्दता में ही निहित मानवी अस्ति की शून्यता भी होती है, जो व्यक्ति को संसार की स्थितियों से पृथक् रखती है।

चेतना और अहम्

यदि चेतना स्वयं स्वच्छन्द और अस्तित्ववान् है तो व्यक्ति के अहम् (ego), अर्थात् उसके 'मैं' के साथ चेतना का क्या सम्बन्ध है? क्या व्यक्ति की चेतना उसकी स्वयं प्रेरणा या 'मैं' के द्वारा संचालित नहीं होती? सार्त्र ने अपनी संक्षिप्त पुस्तक 'दि ट्रांसेन्डेन्स आफ दि ईगो'[६] में चेतना तथा अहम् के अन्तर्गत सम्बन्ध पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि चेतना एक विशुद्ध, निर्विघ्न और स्वतन्त्र सत्ता है जो व्यक्ति के अहम् के द्वारा संचालित नहीं होती। अतः सार्त्र की राय में चेतना अहम् से भी परे है। इस दृष्टि से मानव-चेतना आत्मा का कोई वास्तविक स्वरूप नहीं, वरन् उसका एक आकस्मिक गुण है जो अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है।

हसरेल ने चेतना को कभी स्वतन्त्र नहीं माना और इसे निरन्तर अहम् के साथ ही रखा है। इस दृष्टि से हसरेल के अनुसार चेतना स्वभावतः वैयक्तिक है, क्योंकि चेतना की क्रियाओं को अहम् ही नियन्त्रित रखता है।

किन्तु सार्त्र ने चेतना की स्वाधीनता को निर्विघ्न बनाए रखने के उद्देश्य से उसे व्यक्ति के अहम् से भी पृथक् माना है। उनके अनुसार अहम् हमारी अभिज्ञता का विषय है जिसे किसी चिन्तन-प्रक्रिया के परिवेश में हम जानते हैं, जैसे जब कोई यह कहता है कि 'मैं अमुक विषय से अवगत हूँ'; अन्यथा अहम् से मानव-चेतना का कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहता। चेतना की स्वाभाविक सम्बद्धता पर, जो अहम् से परे है, विचार करते हुए सार्त्र यह कहते हैं कि चेतना स्वयं असीम स्वच्छन्दता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा स्वतन्त्रता से परिपूर्ण है और इसका आधार एकमात्र उसकी शून्यता है; अर्थात् चेतना का निर्माण शून्य से हुआ है और इस दृष्टि से, सार्त्र के अनुसार, चेतना की सारी क्रियाएँ किसी 'मैं' के द्वारा संचालित नहीं होतीं। अतः 'हमारे सचेतना जीवन का प्रतिक्षण किसी अन-अस्तित्व की संरचना है, न कि स्वयं व्यक्ति की।[५] नित्से ने भी यही कहा था कि यह हमारा भ्रम है कि हमारी प्रवृत्तियाँ किसी 'मैं' के द्वारा संचालित होती है। किन्तु नित्से ने इतना अवश्य माना था कि संविद की क्रियाएँ व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियों (instincts) के द्वारा गुप्त रूप से संचालित होती हैं। सार्त्र इस सहज प्रवृत्ति से भी भिन्न, किर्केगार्ड के विचारों के अनुकूल, यह मानते हैं कि चेतना के प्रसंग में किसी प्रकार निश्चयात्मकता या पूर्वनिर्धारण की बात नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर चेतना को स्वच्छन्द और निर्विघ्न नहीं कहा जा सकता।[६]

अतः सार्त्र की राय में चेतना की अन्तर-वस्तु कुछ भी नहीं। उसका अनुभवातीत स्थल शून्य है, क्योंकि संसार के सभी विषय, या तो वे भौतिक, मनोभौतिक या मनोवैज्ञानिक हों, चेतना से पृथक् होते हैं। अर्थात् जब व्यक्ति का अहम् ही चेतना से परे है तो अन्य के विषय में कोई प्रश्न ही व्यर्थ है।[७] अतः सार्त्र के अनुसार यह संविद तत्व न केवल पूर्णतया स्वाधीन हैं, बल्कि वह शून्य भी है, क्योंकि संसार की सारी स्थितियाँ एक अर्थ में चेतना की परिधि से परे हैं, जिसके कारण चेतना विषय-विहीन केवल शून्यता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

शून्यता सम्प्रत्यय

सार्त्र की सत्ता मीमांसा में शून्यता सम्प्रत्यय का एक विशेष महत्व है जो एक दृष्टि से सत्तावान् है, किन्तु दूसरी दृष्टि से शून्यता के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं। सार्त्र का विश्वास है कि हमारे जीवन की सारी क्रियाएँ मानवी अस्ति में व्याप्त इसी शून्यता को व्यक्त करती हैं, क्योंकि मनुष्य की चेतना जब किसी विषय को प्रकाशित करती है या इस– विषयगत संसार से अपना सम्पर्क जोड़ती है तो उसका एकमात्र अभिप्राय उस सत्ता को प्राप्त करना होता है जो वह नहीं है। अतः यद्यपि शून्यता एक दृष्टि से अस्तित्व का बहिष्कार है, तथापि दूसरी दृष्टि से वही मानवीय अस्ति की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन भी है। इस अर्थ में शून्यता मानवीय अस्ति के साथ ही रहती है।[८] चेतना मूलतः एक संज्ञानात्मक तत्व है जो ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से, सार्त्र के अनुसार, वह वस्तुजगत् से पृथक् भी नहीं रह सकती।

चेतना के सम्बन्ध में इस शून्यता सम्प्रत्यय की सम्पुष्टि सार्त्र ने कई युक्तियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा की है। उदाहरणार्थ, किसी निर्णय की क्रिया में भावात्मकता के अतिरिक्त निषेधात्मक तत्व भी अन्तर्निहित रहता है, अन्यथा 'अमुक वस्तु ऐसी है' कहने का कोई तात्पर्य नहीं हो सकता। उस वस्तु को वैसी होने की सम्भावना नहीं भी हो सकती, इसलिए उस भावात्मक निर्णय का कोई महत्व है। अतः सार्त्र का विश्वास है कि निषेध के अभाव में किसी प्रश्न का या किसी विषय पर चिन्तन करने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से निषेधात्मकता भावात्मक निर्णय के साथ ही सम्बन्ध रहकर सभी प्रकार के विचारों में एक विशेष लोकोत्तर इकाई प्रदान करती है।[९]

यहाँ सार्त्र के विचारों का समर्थन विट्गेन्स्टाइन के लेखों द्वारा भी होता है जब वे किसी भावात्मक परिवेश में ही निषेध को अन्तर्निहित पाते हैं।[१०] अतः सार्त्र यह मानते हैं कि निषेध के अभाव में किसी प्रश्न का या किसी विषय पर चिन्तन करने का कोई तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि किसी शून्यता से उद्विग्न होकर ही चेतना अपने से परे जाना चाहती है।

हैडेगर के विचारों के अनुकूल सार्त्र भी यह स्वीकार करते हैं कि चेतना मानवीय अस्तित्व में व्याप्त एक प्रक्षेपी या योजनात्मक (Projective) तत्व है, जो संसार में शून्य बनकर आती है और भविष्य के लिए किसी कार्य-विधि की पूर्व कल्पनाएँ करती है। अतः व्यक्ति के जीवन में कुछ भी पूर्व निश्चित नहीं मानी जा सकती। सभी विषय उसकी इच्छा स्वातन्त्र्य पर आश्रित हैं। चेतना के समक्ष संसार की सारी चीज़ें उससे पृथक् शून्यता और अन-अस्तित्व के रूप में हैं। शून्यता न तो अस्तित्व के पहले और न बाद में होती है, वह तो निरन्तर मानवी अस्ति के साथ ही है और इस कारण वह कभी भी हमसे पृथक् नहीं। सार्त्र की राय में शून्यता अस्तित्व के हृदय में ही एक कीड़े की तरह कुण्डली मारे रहती है, जिसके कारण व्यक्ति अन्यान्य वस्तुओं का तिरस्कार कर किसी इच्छित वस्तु का चुनाव करता है। इस निषेध के स्वरूप का निरूपण करने के सन्दर्भ में सार्त्र एक दृष्टान्त देते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार वैज्ञानिकों के अनुसार सारे संसार की सृष्टि अणु-तत्वों के संगठन से हुई है, और यदि उनमें एक भी अणु का विघटत होता है तो सारे विश्व में कोलाहल मच जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार मानवी चेतना एक छोटा-सा अणु-तुल्य निषेध है जो उथल-पुथल के द्वारा सारे संसार की सृष्टि से लिए पर्याप्त होता है।[११]

अतः मानवी-अस्ति संसार के साथ बराबर विद्यमान रहती है, क्योंकि संसार से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है। हैडेगर की तरह सार्त्र भी यह मानते हैं कि मानवीय चेतना और वस्तु-जगत् एक-दूसरे से विलग नहीं रह सकते।[१२] यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकमात्र कारण है कि सत्तामीमांसीय प्रत्यात्मक सिद्धान्त और वस्तुवादी विचार एक दूसरे के प्रतिकूल रहने के फलस्वरूप संसार की समुचित व्याख्या करने में असफल रहे हैं। अतः सार्त्र का विश्वास है कि संसार का वास्तविक ज्ञान तभी सम्भव है, जब चेतना और वस्तु-जगत् इन दोनों का संयोग होता है, क्योंकि ये दोनों एक ही अस्ति के भिन्न प्रकार हैं। चेतना के लिए संसार इसलिए भी अनिवार्य है कि पृथक् रहकर वह केवल शून्य रहना नहीं चाहती। सार्त्र कहते हैं कि जैसे कोई रंग-बिना आकार का या ध्वनि बिना आघात की नहीं हो सकती, उसी प्रकार मानवीय अस्ति संसार से पृथक्, अमूर्त रूप में नहीं रह सकती।[१३]

निष्कर्ष

सार्त्र के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व संसार की स्थितियों से न बिल्कुल पृथक् है और न निरन्तर साथ होता है। वह संसार के विषयों के साथ कुछ क्षण के लिए होता है और पुनः उनसे वह पृथक् हो जाता है। इस दृष्टि से मानवी अस्ति अपने लिए केवल शून्यता के रूप में है, क्योंकि उसकी अन्तर-वस्तु कुछ भी नहीं। अहम् के साथ तादात्म्य होने पर वह अपने को क्रियाशील, आलसी या मन्द आदि विभिन्न मानसिक स्थितियों के रूप में व्यक्त करती है। अहम् तो संसार की अन्य वस्तुओं की तरह चेतना से इतर अपने में अस्ति के रूप में है, जो अपने से परे नहीं जा सकता।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस शून्यता के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व संसार में निर्मूल है, बल्कि संसार की सारी स्थितियों और घटनाओं का प्रभाव उसके दैनिक जीवन पर पड़ता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि संसार के अन्तर्गत किसी ने उसे परित्याग कर दिया है और वह निराधार है। अतः व्यक्ति को अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह उसके अपने सद्विचारों और तद्अनुरूप कर्मों का ही फल है।[१४] इस दृष्टि से सार्त्र यह कहते हैं कि मनुष्य के अस्तित्व की संरचना उसकी अन्तःप्रेरणा से ही आरम्भ होती है, न कि वस्तु-जगत् से; क्योंकि जो भी वस्तुगत ज्ञान है वह जीवन की वास्तविकता से सदा दूर होता है।[१५] इस अर्थ में मानवीय अस्ति के विकास में यद्यपि सार्त्र को किर्केगार्ड की तरह ईश्वर जैसी किसी अपर सत्ता की आवश्यकता नहीं होती, तथापि किर्केगार्ड के समान वे भी यह विश्वास करते हैं कि सत् आत्मगत है और संसार की सृष्टि का आधार मानवीय चेतना है।

दर्शन विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया (बिहार)

— ब्रजकिशोर प्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

1. Sartre, Jean-Paul, The Psychology of Imagination, New York, The Phil. Library, Inc, 1948. (This reference to be cited hereafter as PI.)
2. 'Alive, appealing and strong as an image is, it presents its object as not-being.' PI, p. 18.
3. " Sliminess is a characteristic not only of things, but also of human beings... of our thoughts, even in so far as they stickily hold to the past." Passmore, J; A Hundred Years of Philosophy; Penguin Books Ltd; London, 1968, pp. 493–94.
4. Sartre, Jean-Paul, The Transeendence of the Ego, trans. William & Kirkpatrick, New york, Noonday Press, 1937 (Hereafter to be cited as TE)
5. 'Each instant of our conscious life reveals to us as a creation ex-nihilo this tireless creation of which we are not the creators.' TE. pp. 98–99.
6. 'Transcendental consciousness is an impersonal spontaneity.' TE, p. 98
7. 'Since all physical, psycho-physical, and psychic objects, all truths, all values are outside it, since my me has itself ceased to be any part of it... TE. p. 93.
8. 'Negation is a refusal of existence. By means of it a being (or a way of being) is posited, then thrown back to nothingness .. that nothingness haunts beings.' Sartre, Being and Nothingness, Trans. Hazel E. Barnes, Paper Back, Mathuen & com. & H. (Hereafter to be cited as BN)
9. 'Nothingness... would derive its origin from negative judgements, it would be a concept establishing the transcendental unity of all these judgements.' BN, p. 6.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. 'The totality of existing states of affairs also determines which states of affairs do not exist.' & 'The positive proposition necessarily presupposes the existence of the negative proporition. Tractatus, 2.05 & 5.5151 (3).
11. 'The For–itself is like a tiny nihilation which has its origin at the heart of being, and this nihilation is sufficient to cause a total upheaval to happen to the In-itself' BN, pp. 617–18.
12. "The concrete is man within the world in that specific union of man with the world which Heidegger, for example, calls being-in-the-world."– BN., p. 3.
13 'The For-itself without the In-itself is a kind of abstraction; it could not exist any more than a colour could exist without form or a sound without pitch' BN. p. 621.
14. 'Man is not other than a series of undertakings, that he is the sum, the organisation, the set of relations that constitute these undertakings.'
J. Sartre, Existentialism and Humanism, Trans. Maggret, Philip; Methuen, London, 1963, p. 42.
15. "The reality of every one's existence proceeds thus from the 'inwardness' of man, not from anythiug that the mind can codify, for objectified knowledge is always at one or more removes from the truth." Ibid. p. 6.

० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमितिकरण की समस्या

अनुमिति-करण की समस्या भली प्रकार समझने के लिए अनुमान की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करनी आवश्यक है। महर्षि पाणिनि के अनुसार अनुमान शब्द दो प्रकार से निष्पन्न किया जा सकता है– १) "अनुमितिः अनुमानम्" तथा २) अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्। प्रथम में "अनु" पूर्वक "मा" धातु में "ल्युट्" प्रत्यय भाव अर्थ में किया गया है जबकि दूसरे में करण अर्थ में। प्रथम, भाव अर्थ में अनुमित्यात्मक ज्ञान का परिचायक है और द्वितीय, करण अर्थ में अनुमिति ज्ञान के साधन का द्योतक है।[1] इन व्याकरण सम्मत भावार्थक और करणार्थक व्युत्पत्तियों को न्यायशास्त्र में प्रयुक्त करने का श्रेय न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को है। उन्होंने प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति, आदि पदों की सरल एवम् सारगर्भित परिभाषाएँ दी हैं। उपलब्धि को ज्ञान तथा उसके साधन को प्रमाण बतलाते हुए उन्होंने करणार्थक प्रमाण व्युत्पत्ति– "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्" का स्पष्ट उल्लेख किया है जिसे वे प्रमाण सामान्य के साथ ही प्रमाण विशेष–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द पर भी लागू करते हैं। करणार्थक व्युत्पत्ति के साथ भावार्थक व्युत्पत्ति–"प्रमितिः प्रमाणम्" का स्पष्ट उल्लेख उनके भाष्य में उपलब्ध नहीं होता।[2] इस न्यूनता की पूर्ति उद्योतकर के "न्यायवार्तिक" में की गई है जहाँ उन्होंने दोनों की व्याख्या भी की है।[3] बाद में तो प्रायः सभी दार्शनिकों ने इनको अपना लिया है।

अनुमिति और अनुमान की भाँति "करण" लक्षण भी "पाणिनि-सूत्र" में प्रथमतः मिलता है। उन्होंने करण लक्षण "साधकतमं करणम्"[४] सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है। अर्थात कार्य की सिद्धि के लिए जो सर्वाधिक रूप से साधक हो, उसे करण कहते हैं। आशय यह कि जो जिस कार्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक हो, अतिशय रूप से सहायक हो तथा सर्वोत्कृष्ट कारण हो वह उस कार्य का करण कहा जाता है। एक कार्य के अनेक कारण होते हैं। इनमें से कुछ साधारण कारण तथा कुछ असाधारण कारण होते हैं। साधारण कारण कार्यमात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् समस्य कार्यों के लिए आवश्यक माने जाते हैं। इनकी संख्या नौ है।[५] इनके अतिरिक्त जितने भी विशेष कारण होते हैं वे असाधारण कारण कहलाते हैं। असाधारण कारणों में भी जो अतिशय-युक्त यानी प्रकृष्ट होता है वह करण कहलाता है और कारणता का सम्पादन करनेवाला अतिशय-प्रकर्ष है व्यापार। इसीलिए करण का लक्षण "व्यपारवद् असाधारणं कारणं करणम्" अर्थात् जो व्यापार द्वारा जिस कार्य का असाधारण कारण होता है वह उस कार्य का करण कहलाता है। आशय यह कि जिसके व्यापार और क्रिया के फल की निष्पत्ति के बीच कोई व्यवधान न हो वही करण है। प्रमिति और प्रमाण की भाँति करण, व्यापार और फल की चर्चा भी "न्यायभाष्य" में प्रथमतः उपलब्ध होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या करते हुए उन्होंने इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रमाण (अर्थात् करण) कहा है। "वृत्ति" पद के दो अर्थ-सन्निकर्ष और ज्ञान प्रदर्शित करते हुए उन्होंने उसकी व्यापार के रूप में चर्चा की है और पदार्थ ज्ञान तथा हान-उपादान-उपेक्षा ज्ञान को फल के रूप में। इस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को यदि करण माना जाए तो पदार्थज्ञान व्यापार और हान-उपादान-उपेक्षा ज्ञान फल होंगे तथा इन्द्रिय को यदि करण माना जाए तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार और पदार्थज्ञान प्रमिति रूप फल होगा। अतः न्यायशास्त्र में उक्त करण लक्षण के प्रथम पुरस्कर्ता भी वे ही प्रतीत होते हैं। उदयनाचार्य ने भी अपनी "किरणावली" में लोकव्यवहार की दृष्टि से इस लक्षण को मान्य किया है किन्तु "न्यायकुसमाञ्जलि" में शिव को प्रमाण रूप में सिद्ध करते हुए दूसरा ही लक्षण प्रतिपादित किया है--

"फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" अर्थात् जो फल प्राप्ति के मध्य को अवान्तर व्यवधान न हो उसे करण कहते हैं।[६] जैसे अनुमिति स्थल में लिंग-परामर्श को यदि करण माना जाए तो उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में अनुमिति हो जाती है। इस लक्षण को व्यापारविहीन इसलिए माना जाता है कि लिंगपरामर्श और फल अनुमिति के बीच किसी अवान्तर व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती।

"अनुमिति करणं अनुमानम्" यह अनुमान सामान्य लक्षण उपलब्ध होते हुए भी अनुमान के विशेष लक्षणों में काफी मतभेद पाए जाते हैं। इस मतवैभिन्यता के मूल में भी संभवतः करण की उक्त व्यापारसहित तथा व्यापाररहित परिभाषाएँ ही निहित जान पड़ती हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में विभिन्न अनुमान-लक्षणों का अवलोकन करने पर करणविषयक मतभेदों का वर्गीकरण चार वर्गों में किया जा सकता है--

१. हेतु, हेतुदर्शन तथा हेतुविषयक ज्ञान,
२. ज्ञात, ज्ञायमान या परामृश्यमाणहेतु,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. व्याप्तिज्ञान या व्याप्यतावच्छेदप्रकारक ज्ञान,

४. लिंगपरामर्श या व्याप्यताप्रकारक ज्ञान

उक्त करणविषयक समस्याओं को समझने के लिए उनमें प्रयुक्त होनेवाले कुछ परिभाषिक शब्दों को जान लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम निम्न अनुमान का प्रयोग करेंगे।

प्रतिज्ञा– गुब्बारे में हवा भरी हुई है.

हेतु– फूला हुआ होने से,

अन्वय उदाहरण– "जो-जो फूला हुआ रहता है उस-उसमें हवा भरी रहती है" जैसे सायकल की दूकान पर फूला हुआ टचूब

व्यतिरेक उदाहरण– "जिस-जिसमें हवा नहीं भरी हो वह-वह फूला हुआ भी नहीं रहता" जैसे, फूटा हुआ टचूब,

उपनय– यह भी फूला हुआ है,

निगमन– अतः गुब्बारा भी फूला हुआ है।

इस अनुमान स्थल में "गुब्बारा" पक्ष या अधिकरण, "फूला हुआ होना" हेतु, साधन, या लिंग, "हवा भरी हुई होना" साध्य या लिंगी, कहलाता है। साध्य और साधन का नियत साहचर्य सम्बन्ध व्याप्ति तथा पक्ष में हेतु की अनिवार्य उपस्थिति को पक्षधर्मता सम्बन्ध कहते हैं। अनुमान घटित व्याप्ति हेतु में ही बहती है। इसीलिए हेतु को व्याप्ति का आश्रय कहा जाता है। साध्य के बराबर या न्यून देश-काल में रहने के कारण हेतु को व्याप्य और साधन के बराबर या उससे अधिक देश-काल में रहने के कारण साध्य व्यापक कहलाता है।

व्याप्य मात्र में रहनेवाला अवच्छेदक धर्म व्याप्यता का अवच्छेदक कहलाता है। जैसे, "फूला हुआ होना" हेतु में "फूला होनापन" अवच्छेदक धर्म है; यह धर्म जिस ज्ञान में प्रकार रूप से भासित होता है उसे व्याप्ततावच्छेदकप्रकारक ज्ञान कहेंगे। व्याप्ति को ही व्याप्यता कहा जाता है। और यह जिस ज्ञान में (व्याप्ति) विशेषण के रूप में प्रतीत हो उसे व्याप्यताप्रकारक ज्ञान कहा जायेगा। प्रकृत स्थल में हम धूम से वह्नि के अनुमान को वर्ण्य विषय की सरलता हेतु प्रयुक्त करेंगे।

लिंग परामर्श में हेतु का तीन बार अवलोकन होता है–

१. वह्नि व्याप्यो धूमः

२. धूमवान् पर्वतः

३. वह्निव्याप्त धुमवान् पर्वतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसोईघर में धूम और अग्नि को नियत रूप से साथ-साथ देखने पर हेतु धूम का प्रथम ज्ञान होता कि अग्नि के साथ नियत रहने से "धूम अग्नि का व्याप्त है।" हेतु का दूसरा ज्ञान तब होता है जब हम उसे पर्वत पर देखते हैं – "पर्वत धूमवाला है" तथा दूसरे ज्ञान से पहले गृहीत हुए धूम का ज्ञान व्याप्ति का स्मरण होकर तृतीय हेतु ज्ञान "वह्नि की व्याप्ति से युक्त धूमवाला पर्वत है" होता है।

प्रथम वर्ग को उपस्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि कुछ प्राचीन न्याय शास्त्रियों ने लिंग से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को लैंगिक कहा है। अतः इनके मत में लिंग ही साधकतम करण माना गया है। वैशेषिक सूत्र में कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी लिंगों से होने वाले ज्ञान को लैंगिक कहा गया है। इसी प्रकार "अनुयोगद्वारसूत्र" में भी पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भेद-प्रभेदों में अनेक हेतुओं के द्वारा अनुमान किए गए हैं। मीमांसक शबर स्वामी, सांख्याचार्य माठर तथा गौड़पाद, बौद्ध नागार्जुन तथा असंग का अनुमान-भेदों का विवेचन भी लिंग को अनुमितिकरण सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु ये मत उचित नहीं जान पड़ते क्योंकि मात्र लिंग को ही यदि अनुमितिकरण मान लिया जाये तो सुप्त, मूर्छित अथवा अन्ध पुरुष आदि जिन्होंने लिंग धूम को देखा तक नहीं है उनको भी लिंगी अग्नि का ज्ञान होना चाहिए किन्तु होता नहीं है। इसी प्रकार भ्रमस्थल में भी धूलिपटल में धूम का भ्रम होने से "पर्वत वह्निमान है" ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहाँ पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति होती है अतः केवल लिंग को अनुमितिकरण नहीं माना जा सकता। इस आक्षेप से वचने के लिए यदि यह कहा जाये कि लिंगदर्शन या लिंगज्ञान विषयक ज्ञान को अनुमितिकरण माना जा सकता है। क्योंकि अनुमाता व्यक्ति केवल लिंग से नहीं वरन् लिंग ज्ञान से अनुमिति करता है। किन्तु यह ज्ञान भी यदि मात्र लिंग विषयक हो तो उस से भी अनुमिति कदापि नहीं होगी। क्योंकि जिस व्यक्ति को यह ज्ञान न हो कि जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहता है तो वह पर्वत पर धूम को देखकर भी "पर्वत अग्नि युक्त है धूमयुक्त होने से" इत्याकारक अनुमिति नहीं कर सकेगा। जिसने धूम और अग्नि के व्याप्ति सम्बन्ध को रसोईघर आदि गृहीत नहीं किया है अथवा उक्त सम्बन्ध ग्रहण करने के पश्चात् भी जिसे "पर्वत पर धूम है" इत्याकारक धूम का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो तो उसे केवल लिंग ज्ञान से "पर्वत अग्नि-युक्त है" यह अनुमिति नहीं हो सकती।

लिंग अथवा लिंग से साध्य की अनुमिति निष्पन्न न होने के कारण दार्शनिकों ने द्वितीय वर्ग का आश्रयण किया है। साध्य के साथ जिस हेतु की व्याप्ति निश्चित हो चुकी है उसे ज्ञात या ज्ञायमान लिंग कहते हैं। इसी प्रकार जो साधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी परामर्श का विषय बन चुका है उसे परामृश्यमाप लिंग कहते हैं। 'न्याय-भाष्य' की तृतीय 'न्यायसूत्र' (१।१।३) की व्याख्या में जो अनुमान लक्षण दिया गया है उसमें ज्ञात लिंग का निवेश हुआ है।[10] उदयन इसे परामृश्यमाप लिंग के रूप में व्यक्त करते हैं। बौद्धों के द्वारा त्रैरूप्य हेतु द्वारा तथा जैनों के साध्या-बिनाभूत लिंग के द्वारा जो अनुमान किए गए हैं उनमें भी ज्ञात लिंग को अनुमिति करण माना गया है।[11] अनुमान मात्र के लिए लिंग का सिद्ध अर्थात् ज्ञात अवस्था में रहना आवश्यक है क्योंकि अज्ञात साधन केवल अपनी योग्यता अथवा स्वरूप से साध्य का ज्ञान कराने की क्षमता नहीं रखता। कहा भी गया है "स्वयं असिद्धः कथं परान् साधयति"। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय अपनी योग्यता से, अज्ञात रह कर भी, रूप ज्ञान करवाती है उस प्रकार साधन अज्ञात रह कर साध्य ज्ञान नहीं करवा सकती। अतः प्रथम वर्ग के आरोपों को इस वर्ग पर नहीं लागू किया जा सकता क्योंकि इन्होंने केवल लिंग अथवा लिंगज्ञान को अनुमिति करण नहीं माना है प्रत्युत ज्ञात लिंग को। इस प्रकार साध्य की व्याप्ति से प्रमित होकर जब कोई लिंग अनुमिति करण बनता है तो असत् लिङ्ग स्वरूप भ्रमस्थल में होने वाले लिङ्गाभास युक्त विशेषण से युक्त नहीं होता। इस मत का खण्डन करते हुए गंगेश के समर्थन में विश्वनाथ ने कहा कि अतीत और अनागत लिङ्ग से जो यथार्थ अनु-मिति होती हैं वे यहाँ सम्पन्न नहीं होने पायेंगी क्योंकि उनके कारणीभूत लिङ्ग अव्यवहित पूर्वगामी कारण नहीं है। जैसे "यह पाकशाला वह्निवाजी होगी, भावी धूम होने से" तथा 'यह पाकशाला वह्निवाली थी, अतीत धूम होने से' यहाँ पर अनागत धूम अथवा अतीत धूम द्वारा अनुमिति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अनु-मितिकरण अनागत धूमात्मक लिङ्ग अथवा विशिष्ट अतीत धूमात्मक लिङ्ग उन-उन कालों में विद्यमान नहीं है, जिससे उन्हें ज्ञात या ज्ञायमान कहा जा सके। अतः ये मत भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ते।[12]

इस न्यूनता का परिहार करने लिए ही संभवतः मीमांसकों ने तथा वेदान्त-परिभाषाकार ने व्याप्ति ज्ञान को करण माना है। व्यापार के प्रसंग में दोनों में मत वैभिन्य है। प्रथम जहाँ व्याप्तिस्मरण को व्यापार कहते हैं वहीं द्वितीय व्याप्ति संस्कार को।[13] इस मत को मान लेने पर उक्त अतीत अनागत विषयक अनु-मितियाँ सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। इन का कथन है कि लिङ्ग परामर्श की अपेक्षा व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक रूप से व्याप्ति ज्ञान को मानने में लाघव भी है और इसे मान लेने पर व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की विशिष्ट प्रतीति मानना भी आवश्यक नहीं हैं। क्योंकि लिङ्गपरामर्श रूप विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान को स्वीकार करने पर गौरव दोष होता है। ऐसा मानने पर प्रथम क्षण में धूम-दर्शन, द्वितीय क्षण में व्याप्ति स्मरण, तृतीय क्षण में लिङ्गपरामर्श और चतुर्थक्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनुमिति होती है। जबकि मीमांसक मत में प्रथम क्षण में 'धूमवान् पर्वतः' यह ज्ञान, द्वितीय क्षण में वह्निव्याप्यो धूमः इत्याकारक व्याप्तिस्मरण होकर तीसरे क्षण में अनुमिति हो जाती है। अतः मीमांसामत में एक ज्ञान और एक क्षण कालकृत लाघव है। फिर व्याप्यतावच्छेदक प्रकारक करण मान लेने पर "पर्वत धूमवान् है" इस पक्षधर्मतामूलक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तथा 'वह्निव्याप्यो धूमः' इस व्याप्ति स्मरणात्मक ज्ञान में धूमत्व व्याप्यतावच्छेदक धर्म के रूप में दोनों में प्रकार रूप से रहता है अतः दोनों को संयुक्त करने की आवश्यकता नहीं है।[१४] इस मत का खण्डन करते हुए गंगेश ने कहा है कि व्याप्ति को चरम कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि फलोत्पत्ति रूप अनुमिति का वह अव्यवहित कारण नहीं है।[१५]

चतुर्थ वर्ग में नैयायिकों ने लिङ्गपरामर्श को अनुमिति करण कहा है। न्यायभाष्यकार की अनुमान सूत्र (१।१।५) की व्याख्या में दी गई अनुमान परिभाषा से विदित होता है कि यहाँ उन्हें प्रमित लिङ्ग की अपेक्षा लिङ्ग परामर्श ही अनुमिति करण के रूप से अभीष्ट है। भाष्य की व्याख्या करते हुए उद्योतकर ने लिङ्गी-लिङ्गी सम्बन्ध दर्शन अर्थात् व्याप्तिज्ञान और लिङ्गपरामर्श को अनुमिति के करण के रूप में प्रथमतः उपस्थापित किया है किन्तु "आनन्तर्य प्रतिपत्ति" को सकल अनुमानों की आवश्यक शर्त बतलाते हुए उन्होंने लिङ्ग परामर्श को अधिक युक्तिसंगत माना है क्योंकि प्रथम विकल्प व्याप्तिज्ञान के अव्यावहित उत्तरक्षण में अनुमिति नहीं होती।[१६] वाचस्पति मिश्र ने भी लिङ्गपरामर्श को ही अनुमितिकरण माना है। आचार्य गंगेश ने भी लिङ्गपरामर्श को ही अनुमिति साधक अनुमान कहा है, परामर्श मात्र को नहीं। यदि परामर्शमात्र को करण माना जाए तो "द्रव्य व्याप्यमन् पर्वतः" इस ज्ञान से भी "पर्वतो वह्निमान्" यह अनुमिति हो सकती है क्योंकि यह ज्ञान भी परामर्शरूप ही है। किन्तु इस से उक्त अनुमिति कदापि नहीं हो सकती। व्यापारवद् आसाधारणं कारणं करणम्" को करण मानने वाले लिङ्ग परामर्श में भी व्यापार की कल्पना कर कहते हैं कि लिङ्गपरामर्श करण और उसका संस्कार व्यापार माना जा सकता है। किन्तु गंगेश इसे मान्य नहीं करते क्योंकि वे लिङ्गपरामर्श को चरम कारण मानते हैं और संस्कार की उत्पत्ति उसके उपरान्त होती है। अतः संस्कार के उत्पत्ति काल में अनुमिति हो जाएगी तब संस्कार को व्यापार कैसे माना जा सकता है। इसलिए लिङ्गपरामर्श ही करण हो सकता है।[१७] मीमांसकों के उक्त आक्षेपों का निराकरण करते हुए नैयायिक लोग कहते हैं कि जिस पुरुष को व्याप्यतावच्छेदक (धूमत्व) का ज्ञान नहीं हुआ है उसे "वह्निव्याप्यवान् पर्वतः" इस ज्ञान से अनुमिति होती है। आशय यह कि वह्नि का व्याप्य धूम या आलोक अथवा इंधन पर्वत में अवश्य है, यह विशेष रूप से ज्ञान न होने पर भी उसे सामान्यतः पर्वत में वह्नि के व्याप्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय है। यह यियम है कि जिस आत्मा में जिस धर्म वाली व्याप्यवत्ता का निश्चय हुआ करता है, उस निश्चय से उसके उत्तर क्षण में उसी आत्मा में, उस धर्मवाली व्यापकता का भी निश्चय हो जाता है। जैसे "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः' यह पर्वत धार्मिक व्याप्यवत्ता का निश्चय समवाय सम्बन्ध से जिस आत्मा में जिस काल में, उत्पन्न होता है, उसी आत्मा में व्याप्यवत्ता निश्चय द्वारा " पर्वतो वह्निमान् " इत्याकारक पर्वतधार्मिक अनुमितिरूप व्यापकवत्ता निश्चय को भी उत्पन्न कर देगा। मीमांसा मत मान्य करने पर ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त ज्ञान उनके मतानुसार व्याप्यतावच्छेदक प्रचारक ज्ञान नहीं है। क्योंकि "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इस ज्ञान में व्याप्यतावच्छेदक धर्म "धूमत्व" प्रकारक नहीं है। यदि यह कहा जाये कि यह ज्ञान व्याप्यतावच्छेदक प्रचारक ज्ञान न होने के कारण अनुमिति का उत्पादन करने में असमर्थ है तो उचित नहीं क्योंकि इस ज्ञान से होनेवाली अनुमिति प्रायः सभी को मान्य है। दूसरे, यदि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को ही अनुमिति में कारण माना जाए तो केवल " धूमवान् पर्वतः " इस ज्ञान से भी अनुमिति होनी चाहिए क्योंकि यह ज्ञान भी धूमांश में व्याप्यतावच्छेदक धर्म 'धूमत्व" प्रकारक भी है और धूम पर्वत में रहने वाला धर्म होने के कारण पक्ष का धर्म भी। किन्तु केवल पक्षधर्मता ज्ञान से अनुमिति कहीं भी नहीं होती। फिर व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की अपेक्षा व्याप्यताप्रकारक अर्थात् व्याप्ति प्रकारक पक्षधर्मताज्ञान को करण स्वीकार कर लेने पर न्याय लक्षण में अवच्छेदक का निवेश न होने से लाघव है। यदि इस दोष का परिहार करते हुए मीमांसक यह कहें कि सहकारी कारणभूत उपर ज्ञान से विशिष्ट जो व्याप्यता-वच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान है वही अनुमिति के प्रति कारण है तो यह भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि जिस स्थल में रमेश को "वह्निव्याप्यो धूमः" यह स्मरणात्मक व्याप्ति ज्ञान हुआ और उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में महेश को " धूमवान् पर्वतः " यह व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान हुआ तो वहाँ भी अनुमिति होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं। अतः उनके द्वारा उठाई गई सभी आपत्तियाँ निरस्त हो जाती हैं।[१८]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति-ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनों ही अपरिहार्य हैं। इसीलिए अनुमिति के कारण के रूप में दोनों का सन्निवेश होना आवश्यक जान पड़ता है। लिङ्ग या लिङ्गज्ञान, ज्ञात या ज्ञानमान तथा परामृश्यमाण लिङ्ग को करण माननेवालों ने पक्षधर्मता पर अधिक बल दिया है जबकि व्याप्तिज्ञान के माननेवालों ने व्याप्ति पर। किन्तु दोनों मत एकांगी जान पड़ते हैं। इसी प्रकार व्याप्यतावच्छेदक प्रकार के ज्ञान के अन्तर्गत विशकलित खण्ड ज्ञान " धूम अग्नि का व्याप्य है " और " पर्वत धूम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्त है " से सर्वत्र अनुमिति नहीं हो सकती। इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए सम्भवतः नैयायिकों ने विशिष्ट ज्ञान रूप लिङ्गपरामर्श की मान्यता को स्वीकार किया है। व्याप्ति को हेतु का विशेषण बना देने पर उक्त दोनों विशकलित ज्ञान (व्याप्ति और पक्षधर्मता) पक्ष में समाविष्ट हो जाते हैं। लिङ्गपरामर्श न तो केवल व्याप्तिज्ञान है और न ही मात्र पक्षधर्मता ज्ञान किन्तु व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान है।

स्वार्थानुमान में अनुमान प्रक्रिया मानसिक रहती है। अतः उसमें व्याप्ति और पक्षधर्मता के प्रतिपादक (वाक्यों) के द्वारा सरलता से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उसमें दोनों को सन्निविष्ट करनेवाले किसी तीसरे वाक्य की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु परार्थानुमान में यह बात नहीं होती। इसमें हम अपने द्वारा ज्ञात तथ्यों को, दूसरों को, शब्दों के माध्यम से समझाना चाहते हैं। अतः सुगमता से समझने के लिए दोनों ज्ञानों को समष्टिमूलक एक ही वाक्य में प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है। फिर भी यह न ही कहा जा सकता कि लिङ्गपरामर्श सभी अनुमानों के लिए आवश्यक है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह अनुमिति के लिए कहीं भी अपेक्षित नहीं रहता। इससे अनुमान सन्देहरहित, सुदृढ़ और विश्वसनीय बन जाता है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

– व्रजनारायण शर्मा

टिप्पणियाँ

१. ल्युट् च। करणाधिकरणयोश्च। पाणिनि सूत्र ३।३।११५, ११७

२. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति......प्रमीयतेनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाण शब्दः तद्विशेषसमाख्यया अपि तथैव व्याख्यानम्। न्याय भाष्य पृ. २४

३. सर्वं च प्रमाणं स्वविषयं प्रति भावसाधनम्, प्रमितिः प्रमाणमिति। विषयान्तर प्रति करण साधनम्, प्रमीयतेनेनेति प्रमाणम्। न्याय वार्तिक पृ १८४

४. साधकतमं करणम्। पाणिनि सूत्र १।४।४२

५. साधारणकारणत्वं कार्यत्वावच्छिन्न कार्यतानिरूपित कारणताशालित्वम्। साधारण कारण ९ प्रकार के हैं :–१. ईश्वर, २. ईश्वरीय ज्ञान, ३. ईश्वरीय इच्छा, ४. ईश्वरीय प्रयत्न, ५. अदृष्ट, ६. कार्य-प्रागभाव, ७. दिक्, ८. काल, एवं प्रतिबन्धक-अभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असाधारण कारणत्वं कार्यत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्यतानिरूपित कारणताशालित्वम् । – न्यायबोधिनी पृ २५

६. न्याय भाष्य पृ. २३, २६

७ किरणावली पृ. ४७५; न्याय कुसुमाञ्जलि ४।५–६

८. देखिए "भारतीय दर्शन में अनुमान", अध्याय ४

९. न्यायदीपिका पृ. ६७; शिखामणि तथा मणिप्रभा पृ. १६४–६५

१०. मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् । न्या. भाष्य, पृ. २४

११. देखिए, भारतीय दर्शन में अनुमान, अध्याय ४ ।

१२. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १२८४, पृ. २४, पृ. १३०१–२, सिद्धान्तमुक्तावली २, पृ. ३–४ ।

१३. वेदान्त परिभाषा पृ. १६४–६५ ।

१४. कारिकावली का ६६ पर मुक्तावली तथा विलासिनी टीका ।

१५. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १३१२–१३ ।

१६. लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृति सम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षर्थोनुमीयते । न्या. भाष्य पृ. ३२।

१७. न्यायवार्तिक पृ. २९३ ।

१८. तत्त्वचिन्तामणि पृ. १३१२–१३ ।

१९. सिद्धान्त मुक्तावली २, पृ. ९–११, विलासिनी टीका पृ. ९–१३; तत्त्वचिन्तामणि पृ. १२१६–१७ ।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मण्डन मिश्र की प्रत्यक्ष-मीमांसा

अधुनातन दार्शनिक परिवेश में प्रत्यक्ष–सिद्धान्तों की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विविधताओं के इस युग में बारह सौ वर्ष पूर्व के चिन्तन को जब सामने लाया जाता है तब भारतीय विद्यार्थी की नव्य चेतना पुरातनपन्थी आरोप के भय से सिहर उठती है। इस सिहरन का सांस्कृतिक कारण न होकर प्रभावों द्वारा आरोपित कारण है कि हमारे मन में अभिनव चिन्तन से इतनी परिव्याप्ति कर ली है जिससे मुक्त होकर हम पूर्वजों द्वारा निक्षिप्त निगूढ़ सम्पदा से पराङ्गमुख रहने में ही सुरक्षित अनुभव करते हैं। परन्तु अधुनातन विचारधारा का प्रत्यग्र स्वरूप जब इतिहास के पन्नों में से सर्चलाईट फेंकने लगता है तब विभाजक रेखाएँ टूट जाती हैं और हम प्राचीनता तथा नवीनता का अपृथग्भाव देखने को विवश हो जाते हैं। यही विवशता मण्डन मिश्र की प्रत्यक्ष-मीमांसा को पुरस्कृत करने की प्रेरणा है।

मण्डन मिश्र दर्शन के क्षेत्र में परिचित व्यक्ति है पर उसका कृती व्यक्तित्व कुमारिल और प्रभाकर के समान आधुनिक विद्यार्थी को चमत्कृत नहीं करता। फिर भी मण्डन मिश्र का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं रहा है। मीमांसा-दर्शन को अद्वैतवादी मोड़ देनेवाले इस महामहिम मनीषी ने अद्वैतवेदान्त की अध्यात्ममूलक प्रत्यक्ष धारणा को उपेक्षित कर जिस अभेदख्याति की स्थापना की है वह भारतीय दर्शन के इतिहास में अपूर्व है। गेस्टॉल्ट-मनोविज्ञान और क्षेत्रगति-मनोविज्ञान की धाराएँ आज सुपरिचित हैं जो प्रत्यक्ष की अभेदपरक व्याख्या करती हैं। संक्षेप में उनका अभिमत यह है कि भागों की अपेक्षा समुदाय अधिक होता है और प्रत्यक्ष में पहले वही उतरता है। निश्चय ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी पहल करनेवाला अंशी पदार्थ होता है, अंशों के विभाग बाद में प्रत्यक्षगम्य होते हैं। यह स्थापना शुद्ध मनोवैज्ञानिक है। परन्तु जब हम अद्वैत-दर्शन की आधारशिला पर इसी के समकक्ष तथा अधिक प्रौढ़ प्रत्यक्ष–मीमांसा पर दृष्टिपात करते हैं तब आश्चर्यचकित होना पड़ता है। मण्डन की स्थापना है कि अभेद ही वस्तु है, भेद परिकल्पना मात्र है–"अभेद ही सत्य, अखण्ड तथा अनन्त है। अविद्या के कारण उस अभेद का

परामर्श (हिन्दी), वर्ष २, अङ्क ३, जून, १९८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप निर्णय नहीं हो पाता। जिस प्रकार तरङ्गों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा तरङ्ग भेद से भिन्न दिखाई पड़ता है और भ्रमवश प्रतिबिम्बों की विविधता को यथार्थ मान लिया जाता है, उसी प्रकार अभेद में भेद की कल्पना की जाती है, जबकि सभी भेदों का उपादान अभेद है।"[1]

अद्वैत-वेदान्त में भेद को अनिर्वचनीय माना जाता है किन्तु मण्डन भेद को अनिर्वचनीय न मानते हुए भेद-प्रतीति को अनिर्वचनीय बताते हैं–"विकल्प-बुद्धि अनिर्वचनीय है जिसका कारण अनादि विकल्प-वासना है। मनुष्य का मन विकल्प-वासनाओं से इस प्रकार ग्रस्त हो जाता है कि वस्तुओं में पारस्परिक भेद का व्यवहार कर चलता है, जबकि वस्तुतः भेद कुछ होता ही नहीं कि उसे तत्त्व या या अतत्त्व के रूप में विचारणीय ठहराया जा सके।"[2] यहाँ अभिप्राय यह है कि जो दर्शन एक ही मूल उपादान कारण से विविधता का आविर्भाव स्वीकार करता है उसे प्रत्यक्ष में उस एकत्व की परिव्याप्ति स्थापित करनी चाहिए। यदि भेद सत्य रूप से प्रतिष्ठित हो जाए और प्रत्यक्ष में उसी का साम्राज्य प्रमाणित हो तो पारमार्थिक अद्वैत का कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं रह जाता। तत्त्व की अभेद-प्रख्या प्रत्यक्ष में अवतीर्ण होकर ही अपने को प्रमाणित करती है। इस तथ्य पर आशङ्का उठाकर मण्डन मिश्र ने कहा है कि "प्रत्यक्ष में अभेद की प्रख्या होती है। अतः जहाँ प्रख्याभेद दिखाई देता है वहाँ वस्तुभेद की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि एक ही आधार में अनेक की प्रतीति तर्क की दृष्टि से पराभूत हो जाती है।"[3] तात्पर्य यह कि पट की एकत्व बुद्धि में तन्तुओं की अनेकत्व बुद्धि बनती है, अतः अवयवी की समग्रता अवयवों के पार्थक्य को आत्मसात् कर लेती है। फलतः अभेद से बाहर भेद की कल्पना असम्भव रहती है। गेस्टाल्टमनोविदों का अतिप्रिय दृष्टान्त है कि तारकखचित रजनी का प्रत्यक्ष "गेस्टाल्टिक" किंवा अपृथग्भूत होता है। उसी में विविध नक्षत्र और उनकी रश्मियां बाद में विविक्त की जाती हैं। ऐसा ही मण्डन मिश्र का सिद्धान्त है।

मण्डन मिश्र का प्रत्यक्ष–सिद्धान्त समझने के लिए अद्वैत-वेदान्त से पृथक् उनके अभिमत को हृदयङ्गम करना अपेक्षित है।

(क) अद्वैतसम्मत अनिर्वचनीयतावाद में प्रत्यक्ष विषय-भेदों को सदसद्वि-लक्षण बताया जाता है। इसके विपरीत मण्डन मिश्र भेद को तत्त्वरूप या अतत्त्व-रूप से अनिर्वचनीय बताते हैं। स्पष्ट है कि उनके अनुसार अभेद-सत्ता पर प्रतिष्ठित भेद सत् तो है परन्तु अभेदात्मक तत्त्व में स्वरूप ग्रहण करने से उसे अतत्त्व नहीं कह सकते क्योंकि कारण की सत्ता से वह सत्तावान् है। साथ ही उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभेद से बाहर भेद की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

(ख) अद्वैत-वेदान्त में अनिर्वचनीय अविद्या को भावरूप या वस्तुरूप माना जाता है। परन्तु मण्डन मिश्र भेद को पूर्णतः अवस्तु घोषित करते हैं। फलतः कार्यभूत भेदों के प्रत्यक्ष मण्डन के अनुसार अवस्तु हैं। अभेदरूप वस्तु में प्रतिफलित होने के कारण उन्हें तत्त्व या अतत्त्व से अवाच्य माना गया है।

(ग) अद्वैत-वेदान्त भेदावस्था को विचारणीय ठहराकर उसे अनिर्वचनीय घोषित करता है। परन्तु मण्डन मिश्र उसे अवस्तु मानते हुए विचारार्थ उपेक्षणीय ठहराते हैं। तदनुसार भेद-प्रत्यक्ष पर विचार करना ही अविद्या का प्रसार है।

(घ) भेदों की अयथार्थता को मण्डन मिश्र ने प्रतिबिम्बवाद के साथ जोड़ा है। कार्यगत सभी भेद उनके अनुसार कारण के प्रतिबिम्ब हैं।

(ङ) मण्डन मिश्र ने प्रतिभास के समान ही व्यवहार को अवस्तुरूप विकल्प मात्र माना है। भेद का केवल वाचारम्भण (छान्दोग्य ६।१।४) होता है। तात्पर्य यह कि विकल्प या भेद शब्दों की उपाधि में आकार लेते हैं, परमार्थतः वे वस्तु-शून्य ही होते हैं।[४] उनका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षगोचर अभेद भेदसहिष्णु नहीं है, प्रत्युत सभी भेदों को अपने में समाहित रखता है, जिस प्रकार अग्नि के प्रकाशन, पाचन, दहन आदि विविध कार्य उसमें कोई भेद नहीं लाते। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रत्यक्ष सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. जाति, आकृति, गुण, क्रिया और द्रव्य को विचारकों ने पृथक् तत्त्व मानकर उनमें सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार धर्मों को सत्य मानते हुए धर्मी को उनसे निर्मित बताया जाता है कि उक्त घटक अलग-अलग भासित होते हैं और तदनन्तर समवेतरूप से सविकल्प-प्रत्यक्ष में उतरते हैं। इसके विपरीत मण्डन मिश्र की स्थापना है कि अखण्ड समवाय में ही भेदों की कल्पना होती है जिन से व्यवहार चलता है। निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष अभिन्न समवाय का होता है। सविकल्पक में भेदों की कल्पना होती है।

(२) प्रत्यक्ष का मूल विषय समवेत स्वरूप होता है। अतः अभेद को लेकर ही अर्थ-क्रियाकारिता चलती है। उक्त जात्यादि के एकीभूत घट को ही जलाधार के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

३. अन्य दर्शनों में भेद को समूह का घटक माना जाता है। इसके विपरीत मण्डन मिश्र के अनुसार अभेद में भेदों की कल्पना होती है क्योंकि तात्त्विक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकत्व को बिना माने हुए प्रत्यक्ष से भेद की व्याख्या नहीं हो सकती। भेद पाँच प्रकार से देखा जाता है और सर्वत्र उसका अवस्तुत्व प्रमाणित होता है –

(क) वस्तुरूप विधि :

भेद को विधिरूप से वस्तु का स्वरूप मानने पर व्यावृत्ति की अपेक्षा होती है। अतद्व्यावृत्ति अथवा अपोह के बिना भेद प्रमाणित नहीं होता। अतः व्यावृत्ति रहित स्वरूप में भेद का कोई स्थान नहीं बन पाता।[६]

(ख) व्यवच्छेद :

व्यवच्छेद अथवा व्यावृत्ति अन्यवस्तु सापेक्ष है। वस्तु का अभेदस्वरूप प्रत्यक्ष होने के अनन्तर व्यवच्छेदरूप निषेध की कल्पना होती है। विधिरूप अभिन्न वस्तु का प्रत्यक्ष हुए बिना तत्सदृश अन्य वस्तु का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। अतः व्यवच्छेद वस्तु भी अभिन्न रूप से ही प्रत्यक्ष-विधि में आकर व्यवच्छेदभागी बनता है जिससे अन्योन्याभाव की व्यवस्था होती है कि घट पट से भिन्न है। यहाँ घट और पट दोनों पहले एकीभूत रूप में प्रत्यक्षगोचर होकर ही अन्योन्याभाव के प्रतियोगी हो पाते हैं।[७]

(ग) यौगपद्य :

वस्तु का प्रत्यक्ष और अन्यवस्तु-व्यवच्छेद साथ-साथ नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्यक्ष का कार्य व्यवच्छेदमात्र न होकर विधिरूप से वस्तुस्वरूप का निर्धारण है। अभेदरूप वस्तु के निश्चित हो जाने पर ही व्यवच्छेद का अवसर आता है।[८]

(घ) व्यवच्छेदपूर्वक विधि :

कुछ विचारक यह मानते हैं कि पहले व्यवच्छेद हो चुकता है, तदनन्तर वस्तुस्वरूप का निर्धारण होता है। तदनुसार व्यावृत्तिपूर्वक प्रत्यक्ष का विधान मान्य बनता है। इसकी आलोचना करते हुए मण्डन मिश्र ने स्थापित किया है कि किसी प्रनाणित विषय में ही अन्य प्रमाणित वस्तु का निषेध होता है। प्रमाणित भूतल में प्रमाणित घट का अथवा गो-पदार्थ से अश्व-पदार्थ का व्यवच्छेद किया जाता है। प्रतिषेध विषय और प्रतिषेध्य पदार्थ के प्रमाणसिद्ध हुए बिना निषेध भी किसका किससें किया जाएगा ?[९]

(ङ) विधिपूर्वक व्यवच्छेद :

यदि माना जाए कि एक ही ज्ञानव्यापार में विधि और व्यवच्छेद का क्रम रहता है, तो असंगत है। वैषयिक ज्ञान के क्षणिक होने से एक क्षण में एक ज्ञान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार वस्तुस्वरूप का विधान और अन्य वस्तु से उसकी व्यावृत्ति का क्रम नहीं ले सकता। दूसरे क्षण के ज्ञान से भी व्यवच्छेद तभी घटित हो सकता है जब व्यवच्छेद पदार्थ प्रमाणित हो और प्रमाणित पदार्थ तथा निषेध्य पदार्थ दोनों अपने-अपने स्वरूप में अभिन्न रहते हों।[१०]

सारांश यह कि एक का विधान अन्य का व्यवच्छेद नहीं है। गो-ज्ञान से अश्व-व्यावृत्ति नहीं होती। यहां तक कि शुक्ति में रजतज्ञान के अनन्तर जब शुक्ति-ज्ञान होता है तब पूर्व ज्ञान का निषेध नहीं होता क्योंकि विधिरूप ज्ञान जब हो चुकता है तब उसका बाध क्या होगा? उत्तर काल में होने वाला ज्ञान बाधक नहीं हो सकता क्योंकि बाध्यज्ञान उसका सामना करने के लिए बुद्धि के क्षेत्र में उपस्थित ही नहीं होता।[११] यह मानते ही कि ज्ञान से अन्य का व्यवच्छेद होता है, ज्ञान का विधिस्वरूप ही नहीं बन पाता। एक विषय की विधि को अन्य का निषेध मान लेनें पर समूहालम्बन ज्ञान में भेद की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ एक ही ज्ञान में अनेक रंगों का संसर्ग होता है। यदि भेद-प्रत्यय को सत्य मान लिया जाए तो नील, पीतादि में से किसी एक का ही प्रत्यक्ष हो रह जाएगा जिससे चित्र की समग्रता समाप्त हो जाएगी। यह चित्र का अभिन्न प्रत्यय (गेस्टाल्ट) इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रत्यक्ष सदैव एकात्मक होता है। चित्र में भेद कर कल्पना तभी बनती है जब सभी रेखाओं और रंगों का पहले एकीभूत ज्ञान हो और तब उनके पार्थक्य की कल्पना की जाए। पार्थक्य या भेद को ही प्रत्यक्ष का सार मान लेने पर किसी एक रेखा या रंग का अन्य रेखा अथवा रंग से भेदमात्र का बोध होगा जिसमें सभी रेखाओं और रंगों का पृथक्-पृथक् विवेचन भी असम्भव होगा। तात्पर्य यह कि अन्य से व्यावृत्ति एक का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत समुदित अभेद का प्रत्यक्ष होने के अनन्तर ही चित्र में सभी भेद कल्पित होते हैं।[१२]

कुछ विचारक व्यावृत्ति का समर्थन करते हुए भेद-पक्ष की ओर से तर्क देते हैं कि व्यावृत्ति वस्तु का स्वरूप है। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि व्यावृत्त पदार्थ यदि व्यावृत्ति से ही बनता तो उसे निषेधरूप कहना चाहिए। ऐसा अभावात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष का प्रमेय नहीं हो सकता। फलतः वस्तुरूप से प्रमेय यदि भेदात्मक है तो उसकी भावात्मक सत्ता नहीं हो सकती और यदि यह कहा जाए कि व्यावृत्ति के बिना किसी वस्तु का स्वरूप ही स्थिर नहीं होता, इस अवस्था में भिन्नता की व्याख्या भी नहीं हो सकती क्योंकि भेद उन्हीं वस्तुओं का होता है जो पहले से स्वरूपसिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-स्वरूप से प्रमाणित वस्तुओं में भेद के विकल्पात्मक प्रतिबिम्ब उभरते हैं, भेद वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता।[१३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि एक वस्तु का स्वरूपनिर्धारण दूसरी वस्तु की सापेक्षता से होता है। मण्डन मिश्र का कहना है कि अपेक्षा पुरुष धर्म है, वस्तुधर्म नही। हमारी अपेक्षा के बिना भी वस्तु का स्वरूप यथावत् रहता है।[१४] तात्पर्य यह है कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषतन्त्र नहीं। स्वरूपस्थित वस्तु का उसके यथार्थ स्वरूप में ही ज्ञान होता है। पुरुष की अपेक्षा उसमें परिवर्तन नहीं ला सकती। ज्ञान का आकार वस्तु से निर्मित होता है, पुरुष से नहीं। कहा जाए कि अर्थक्रिया अथवा समर्थप्रवृत्तिजनकता के आधार पर जो वस्तुरूप निश्चित होता है उसमें सापेक्षता रहती है। सापेक्षता से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्धारण होता है। अतः वस्तुस्वरूप में अपेक्षाजनित भेद निरन्तर अनुस्यूत रहता है। भेदवादी को उत्तर देते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि अर्थक्रिया से जनित भेद पुरुष की विकल्पबुद्धि का फल है और वह अवश्य ही पुरुषतन्त्र है। परन्तु वस्तुस्वरूप में इससे भेद नहीं आता। अर्थक्रिया का भेद वस्तुस्वरूप की यथार्थता को नहीं बदल सकता। अग्नि जलाता भी है, पकाता भी है। यह क्रियाकृत भेद अग्नि का स्वरूपभेद नहीं है, प्रत्युत पुरुष की विकल्पबुद्धि का परिणाम है।[१२]

मण्डन मिश्र अद्वैतवादी विचारक हैं। शङ्कराचार्य के समान ही वे भेद को मायाजनित स्वीकार करते हैं। परन्तु व्यवहार में अभेद की सर्वत्र व्याप्ति स्वीकार करने में वे विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके विचारों का रहस्य यह है कि मायाजनित भेद को ही प्रत्यक्ष का विषय मान लिया जाए तो यह माया को मूलकारण स्वीकार करना हुआ। यदि मूल कारण अद्वैत ब्रह्म है तो कार्य-जगत् में उसका प्रकाश व्याप्त रहना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष का विषय जो वस्तुस्वरूप बनता है वह अपनी अखण्डता में ही प्रमेय है। मोटे तौर पर तीन प्रतिपक्ष मण्डन मिश्र सामने रखे हैं – संसर्गवाद, अनेकान्तवाद और अत्यन्तभेदवाद। इन तीनों की समीक्षा करके उन्होंने स्वाभिमत अभेदवाद की स्थापना की है।

(क) संसर्गवाद

न्याय और वैशेषिक में समवाय सम्बन्ध से संघटित अवयव अवयवी के आरम्भक माने जाते हैं। यहाँ भेदपूर्वक अभेद स्थापित किया जाता है। अवयवों की भिन्नता और अवयवी की एकता दोनों को अयुतसिद्ध रूप में यथार्थ स्वीकार किया जाता है। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि समवाय सम्बन्ध से यदि भेदों का अन्तर्धान हो सकता है ओर विविधता एकता में परिणत हो सकती है तो यह क्यों नहीं मान लिया जाता कि एकत्व ही यथार्थ है और नानात्व उसका प्रतिभास।[१६] नैयायिक यह कह सकता है कि समवाय सम्बन्ध में वह शक्ति है कि भेदों को अभेद में बदल लेती है। परन्तु यह तर्क प्रतिकूल दिशा में मोड़ा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है। संसर्ग भेद में अभेद न दिखाकर अभेद भेद का प्रकाशन करता है। न्यायवैशेषिक के सात रूपों में चित्ररूप अन्यतम है, उसे इस दर्शन में एक माना जाता है (वैशेषिक सूत्र ४–१–७६)। परन्तु चित्रवरण में रूपगत विविधता भी प्रत्यक्ष होती है। इसकी व्याख्या अभेद में भेद मानकर ही की जा सकती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के प्रमेय में यथार्थबुद्धि अभेद की होती है और उसीमें विकल्पबुद्धि के प्रतिभास उदय लेते हैं।[१७]

व्यवहार में ज्यों ही यह स्वीकार किया गया कि सम्बन्ध से भेद में अभेद स्थापित होता है त्यों ही सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान कल्पनामात्र होकर रह जाएगा, क्योंकि प्रत्यक्ष में आनेवाली अखण्डता को अयथार्थ मान लेने पर प्रमेय का स्वरूप ही नहीं बनेगा कि प्रमा हो सके। उस दशा में समूचे ज्ञान पर से विश्वास उठ जाएगा।[१८]

(ख) अनेकान्तवाद

जैन-दर्शन के अनुसार द्रव्य में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय की निरन्तरता रहती है। उदाहरणार्थ, द्रव्यरूप से सुवर्ण ध्रुव है जबकि कुण्डलादि पर्यायरूप से उत्पाद और विनाश का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसकी आलोचना करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि ध्रुवता के अभेद को लेकर ही पर्यायरूप भेदों की व्याख्या की जा सकती है। भेदों की नित्यता मान लेने पर ध्रौव्य की व्याख्या असम्भव होगी। अभेद को विना माने हुए यदि तीनों का समवाय माना जाए तो हर्ष, शोक और तटस्थता की व्याख्या न हो सकेगी। उदाहरणार्थ विनाश से शोक, अपूर्व उत्पत्ति से प्रीति और ध्रुवता से मध्यस्थता हो सकती हैं। परन्तु तीनों को एकत्र मान लेने पर तीनों की व्याख्या नहीं हो पाती।[१९]

उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय की एकान्तता मान लेने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति की व्यवस्था नहीं बन पाती। इसके अतिरिक्त भेद और अभेद का अनेकान्त स्वीकार करने पर वस्तु की स्वरूपगत व्याख्या असम्भव है। कारण कि अनेकान्त में अभेदकल्पना भेदसापेक्ष और भेदकल्पना अभेदसापेक्ष होगी। अज्ञात भेद अभेद का उपादान नहीं हो सकता और असिद्ध अभेद में भेदों की कल्पना असम्भव है।[२०] ऐसी स्थिति में अनेकान्तवादी को भी अभेदरूप ध्रौव्य की सत्यता एकान्त रूप से मान्य करनी चाहिए।

(ग) अत्यन्तभेदवाद

बौद्ध-दर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही यथार्थ मानते हुए अतद्व्यावृत्त स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् मानता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष में उभरनेवाला अभेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवृत्तिसत् या सामान्य-लक्षण होने के साथ-साथ मिथ्या है। संक्षेप में इसका खण्डन करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि अतद्व्यावृत्त स्वलक्षण पदार्थों में आत्यन्तिक अन्योन्याभाव न होकर औपाधिक है क्योंकि प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय में भासित होनेवाले पदार्थ स्वरूपतः भिन्न नहीं हो सकते। तदनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी अभेद का ही होता है। भेद की कल्पना बुद्धिविकल्प विशिष्ट सविकल्पक में ही हो सकती है। जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कोई विकल्प नहीं होता उसमें भेदों की प्रमेयता असङ्गत है।[२१]

ऐसे अवसरों पर गेस्टाल्ट-मनोविद् सटीक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि रस, गन्ध, रूप आदि से संचलित खीर खाते समय भोक्ता को प्रथमतः गुणों का अलग-अलग ग्रहण नहीं होता। यही गेस्टाल्टिक अभेद है। भिन्न-भिन्न गुणों का ग्रहण बाद में कल्पित किया जाता है। यद्यपि मनोविज्ञान की यह व्यवस्था अद्वैत ब्रह्म को उपादान मानकर प्रतिष्ठित नहीं हुई है तथापि इससे व्यवहार की वैसी ही व्याख्या मिल जाती है जैसी कि मण्डन मिश्र को अभिप्रेत है। भारतीय काव्यशास्त्र में रसनिष्पत्ति की व्याख्या करते हुए पानक रस का दृष्टान्त दिया जाता है। किसी उत्तम पेय में मधुर और तिक्त आदि अनेक रस मिश्रित होते हैं। आस्वाद-कर्ता को जब भेद-प्रत्यय नहीं होता तभी रसनिष्पत्ति होती है। भेदों का विश्लेषण बाद में ही किया जाता है। बाहरी उदाहरणों से मण्डन मिश्र के आशय का स्पष्टीकरण होता है कि वे निर्विकल्प-क्षण में भेदों का पार्थक्य मान्य नहीं करते।

(घ) अभेदवाद की स्थापना

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बौद्धों के समान ही न्याय-वैशेषिक में भी व्याख्या पाता है। तदनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष वैशिष्ट्यावगाही होता है जबकि निर्विकल्पक वैशिष्ट्यानवगाही। कुमारिल, रामानुज, वल्लभाचार्य आदि विचारक निर्विकल्पक को भी वैशिष्ट्यावगाही मानते हैं। व्याकरण दर्शन में तो निर्विकल्पक भी नाम-रूपात्मक होता है; केवल रूपात्मक नहीं। कुमारिल की एक स्थापना यह है कि यद्यपि निर्विकल्पक में अभेद रहता है फिर भी उसमें सूक्ष्म रूप से अचेतन भेद अनुस्यूत होता है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल आदि भेद को यथार्थ मानकर उस पर प्रतिष्ठित अभेद की व्यवस्था देते हैं। इस पर मण्डन मिश्र का कहना है कि निर्विकल्पक ज्ञान से भेदरहित वस्तुमात्र का आलोचन और अचेतनरूप भेद की अनुस्यूति का प्रकाश मानना न केवल वदतोव्याघात है, अतिसाहस भी है।[२२]

निर्विकल्पक में होनेवाला अभेद-बोध ही परमार्थ है। सविकल्पक में अभेदांश यथार्थ। जिस प्रकार मुख एक होता है परन्तु वही जल, तैल और दर्पण आदि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबिम्बित होकर भेद ग्रहण करता है, उन भेदों से मुख का मूल अभेद न तिरोहित होता है, न प्रभावित। उसी प्रकार व्यावहारिक सविकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होनेवाली विविधताएँ निर्विकल्पक अभेद पर प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में भेद को अभेद का अधिष्ठान मानना असङ्गत है क्योंकि भेद की विकल्प से परे कोई सत्ता नहीं होती।[२३]

प्रत्यक्ष में आनेवाला विकल्पजनित भेद अभेद से अनुस्यूत रहता है। भेद का प्रत्यक्ष अभेदरूप अधिष्ठान के बिना व्यवहार में नहीं आता। विकल्पबुद्धि से जनित होने के कारण सभी भेद मिथ्या हैं। एक ही चन्द्रमा अनेक तरङ्गों में प्रतिबिम्बित होकर विविधता लेता है, परन्तु तरङ्गों के कम्पन में भी वह निष्कम्प रहता है।[२४] इस विषय में ब्रह्मसूत्र कहता कहता है–

आभास एव च ॥ (२।३।५०)

अर्थात् जीवजगत् ब्रह्म का आभास है। इस सूत्र की व्याख्या से पूर्व शङ्कराचार्य ने अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के आधार पर अद्वैत की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि घटादि की गति से आकाशादि की गति भाषित होती है, फिर भी आकाश एक तथा निश्चल रहता है। जल से भरा हुआ पात्र कम्पन लेता है तो सूर्य का प्रतिबिम्ब काँपता दिखाई देता है, फिर भी सूर्य निष्कम्प है। इसी प्रकार अविद्याकल्पित सभी द्वैत विविध गतियाँ लेते हैं फिर भी अद्वैत तत्त्व निर्विकार रहता है।[२५]

दर्शन विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर
(म. प्र.) ४७० ००३

– आद्यादत्त अवस्थी

टिप्पणियाँ

१. अभेदो वा परमार्थः। तस्यानविच्छिन्नस्यानन्तस्य तथा निश्चेतुमशक्तेः, अनादित्वाच्चाविद्यायाः, तदुपादानास्तद्विषया भेदपरिकल्पनाः। दृष्टा हि तरङ्गभेदादभिन्ने चन्द्रमसि भेदकल्पना। –ब्रह्मसिद्धि २।१२

२. तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयानादिविकल्पवासनोपादानविकल्प परिदर्शितशरीरोयमस्माद् भिन्नोयमनयोर्भेद इति व्यवहारं प्रवर्तयति। न भेदो नाम किञ्चिद् वस्तु यस्य तत्त्वमन्यत्वं वा किञ्चिद् विचार्येत। वही २।५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. तथा च नैकात्म्येन प्रख्या युज्यते । अस्ति चेयम् । अतस्तया विरुद्धः प्रख्याभेदो न वस्तुभेद-व्यवस्थायै प्रभवति । स्वयं च व्याहतत्वादेकाधिकरणत्वेनोपपत्तेः । —वही, २।१३

४. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । —योगसूत्र, १।१

५. एकस्यैवेष महिमा भेदसम्पादनासहः ।
वह्नेरिव यदा भावभेदस्तदा मुधा ।। —ब्रह्मसिद्धि २।८–९

६. वही, २।१

७. लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते ;
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ।। —वही, २।२

८. वही ।

९. न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम् । यतः सिद्धे विषये सिद्धरूपमेव निषिध्यते-नेदमिह, नायमयमिति सिद्धे भूतले सिद्धो घटः, गवि वाश्वः न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना प्रतिषेधोपकल्पते । —वही

१०. क्रमः संगच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः ।
न सन्निहितजं तच्च तदन्यानशि जायते ।। —वही २।३

११. विधानमेव नैकस्य व्यवच्छेदोन्यगोचरः ।
मा स्म भूदविशेषेण मा न भूदेकधीजुषाम् ।। —वही, २।४

१२. तस्मान्नैकविधिरन्यव्यवच्छेदः । अपि च एकनियमादन्य-व्यवच्छेदे चित्रादिषु नीलादीनामेकदर्शनभाजां भेदो न सिध्येत्, एकज्ञानसंसर्गादेकत्र ज्ञानस्यानियमात् । वही

१३. न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः ।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते ।।—वही, २।५

१४. पौरुषेयीमपेक्षा च न हि वस्त्वनुवर्तते ।। —वही, २।६

१५. अर्थक्रियाकृते रूपभेदो न लभ्यते ।
दाहपाकविभागेन कृशानुर्न हि भेदवान् ।। —वही, २।७–८

१५. भेदान्तर्धानसामर्थ्यं तस्य भेदेपि चेन्मतम् ।
हन्तैकस्यैव तत् किं न यदेवमवभासते ।। वही, २।१३–१४

१८. दृष्टः संसर्गधर्मोयं यद्येकमापि वै तथा ।
नानावभासते चित्रं रूपमेकं तथा मतिः ।। वही, २।१४–१५

१८. व्यवहारे परोपाधौ सर्वा धीर्व्यावहारिकी ।
अयथार्था यदा भावभेद-कल्पस्तदा मुधा ।। —वही, २।१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९. उत्पादस्थितिभङ्गानामेकत्र समवायतः ।
प्रीति-मध्यस्थता-शोकाः स्युर्न स्युरिति दुर्घटम् ॥ – वही, २।२४

२०. आपेक्षिकत्वाद् भेदो हि भेदग्रहपुरस्सरः ।
नैकज्ञानं समीक्ष्यैकं न भेदं तत्त्वहानतः ॥ – वही, २।२६

२१. अन्योन्याभावरूपत्वं सर्वेषां न प्रकल्पते ।
तत्रोपाधौ प्रतीयन्तां तथा भिन्ना न रूपतः ॥ – वही, २।२९

२२. आलोच्यते वस्तुमात्रं ज्ञानेनापातजन्मना ।
अचेत्यमानो भेदोपि चकास्तीत्यतिसाहसम् ॥ – वही, २।२७

२३. दर्पणादौ मुखस्येव भेदोऽभेदावलम्बनः ।
भेदावलम्बनोऽभेदो न तथा तदभावनः ॥ – वही, २।३०

२४. प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा मतः ।
भेदो यथातरङ्गाणा भेदाद्भेदः कलावतः ॥ – वही, २।३१

२५. यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते । — ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २।३।४६

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-भाषा की अनेकार्थता

काव्य-समीक्षण के क्षेत्र में काव्यार्थ एवं काव्य-भाषा का स्थान सदैव ही महत्वपूर्ण रहा है। विभिन्न काव्य-चिंतकों ने समय-समय पर इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'अनेकार्थता' अथवा 'अस्पष्टता' इस विचार-शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। अनेकार्थता, सन्दिग्धता अथवा अस्पष्टता के महत्व को पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य चिन्तकों ने मान्यता प्रदान की है। पाश्चात्य समीक्षा में इस अवधारणा का प्रारम्भ एजरा पाउण्ड, टी. एस. इलिएट प्रभृति चिन्तकों से माना जा सकता है। इन समीक्षकों ने इस मान्यता को स्थापित किया कि अन्य विधाओं की भाँति काव्य में भी विश्लेषण सम्भव है। केम्ब्रिज स्कूल के नाम से प्रसिद्ध, आइ. ए. रिचर्ड्स्, एफ. आर. लीविस एवं विलियम् एम्पसन जैसे समीक्षकों ने विश्लेषण के ओजारों को तेज धार दी। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में एक नए काव्य-शास्त्र का अभ्युदय हुआ जिसमें तत्कालीन समीक्षकों ने काव्य-भाषा की 'अनेकार्थता, व्यंग्यधर्मिता, प्रतीकात्मकता, वक्रोक्ति' आदि में अधिक रुचि ली। इसी क्रम में विलियम् एम्पसन ने अनेकार्थता की अवधारणा को विशेष-रूप से परिभाषित एवं प्रतिष्ठित किया।

पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास में 'अनेकार्थता' की अवधारणा नितांत नवीन हो सकती है किन्तु भारतीय काव्य चिन्तन परम्परा में काव्यार्थ की समस्या को ऋग्वेद काल से ही विभिन्न कोणों से विवेचित किया गया है। इस क्षेत्र में आनन्दवर्धन, कुन्तक प्रभृति काव्य चिन्तकों ने जो विचार लगभग दो सहस्त्र वर्ष पूर्व प्रतिपादित किए थे उनकी प्रतिछाया पाश्चात्य समीक्षा में विगत लगभग ६०--७० वर्षो में परिलक्षित हुई। इस अवधि में अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में जिन विद्वानों ने महत्वपूर्ण कार्य किया उनमें रिचर्ड्स्, बट्रण्ड रसेल, एम्पसन एवं टिलियार्ड के नाम प्रमुख हैं। प्रस्तुत निबन्ध में आय. ए. रिचर्ड्स् तथा एम्पसन के विचारों पर ही विशेष विचार करते हुए भारतीय काव्य शास्त्र में प्रतिपादित अर्थ-सम्बन्धी अवधारणाओं के साथ तुलनात्मक विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

सी. के. आग्डेन के सहयोग से लिखित "द मीनिंग ऑफ मीनिंग"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९२३) में रिचर्डस् ने भाषा के संवेगात्मक (इमोटिव) एवं सन्दर्भात्मक (रिफरेन्शल) प्रयोगों की अवधारणा को प्रतिपादित किया जिसकी विस्तृत व्याख्या "द प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (१९२४) में दी गई है। रिचर्डस् के अनुसार भाषा के संवेगात्मक प्रयोग का उद्देश्य संवेगों को उद्दीप्त करना अथवा दृष्टिकोण को प्रभावित करना होता है जब कि सन्दर्भात्मक प्रयोग का उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टि से किसी कथन अथवा तथ्य की सत्यता अथवा असत्यता को अभिव्यक्त करना है। रिचर्डस् के अनुसार काव्य संश्लिष्ट उक्तियों (सूडो स्टेटमेन्ट) से युक्त और सत्यासत्य की सीमा से मुक्त होता है और द्विविधात्मक विषयवस्तु की अभिव्यक्ति संश्लिष्ट भाषा में ही सम्भव है। इस प्रकार रिचर्डस् के अनुसार काव्य का लक्ष्य है, अनुभूति को समुचित मनोदृष्टि से आवृत्त करना। इसलिए प्रत्यक्ष सन्दर्भ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। भाषा के दो पृथक् प्रयोगों को स्पष्ट करने के लिए रिचर्डस् ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है–

"यदि हम कहें कि इफेल टावर की ऊँचाई ९०० फीट है तो हम एक तथ्य को शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं और इस उक्ति की सत्यता अथवा असत्यता को सिद्धान्ततः सिद्ध किया जा सकता है किन्तु जब हम कहते हैं कि 'काव्य एक आत्मा है' अथवा 'मनुष्य एक कीट' है तो हम सत्यासत्य की सीमा के परे जाकर शब्दों का प्रयोग, सम्भवतः एक निश्चित दृष्टि को जगाने के लिए कर रहे है।"

संवेगात्मक बनाम सन्दर्भात्मक प्रयोगों का वर्गीकरण भाषा के गद्य एवम् पद्य के मान्य वर्गीकरण से भी साम्य रखता है। सन्दर्भात्मक भाषा काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है और भाषा का संवेगात्मक प्रयोग ही काव्य का श्रेष्ठतम रूप है। रिचर्डस् के अनुसार संवेग और मनोभाव संवेगात्मक प्रयोग के प्रमुख घटक हैं। संवेगात्मक भाषा और वैज्ञानिक भाषा में तात्विक अन्तर यह यह होता है कि संवेगात्मक अभिव्यक्ति तथ्यात्मक वास्तविकता से परे मनोभावों को उद्दीप्त करती है और भाषा का सामर्थ्य उद्दीपन की मात्रा से निर्णीत होती है।

एम्पसन रिचर्डस् का शिष्य था। उसने भाषा की अनेकार्थता की अवधारणा को विस्तार देते हुए संश्लिष्ट अभिव्यक्तियों को काव्य के प्राण के रूप में स्वीकार किया। 'अनेकार्थता' (एम्बियुटी) पहले स्पष्टता के अभाव को सूचित करता था किन्तु रिचर्डस्, एम्पसन एवम् उनके अन्य समर्थकों ने इसे समस्त 'अर्थ वैविध्य के मूल स्रोत' के रूप में स्वीकार किया। अर्थ-विज्ञान (सेमैण्टिक) की दृष्टि से अनेकार्थता के विश्लेषण की तीन सम्भाव्य दिशाएं है। प्रथमतः अर्थ की प्रसङ्गानुकूलता, उपयुक्तता आदि के निश्चित करने का प्रयत्न। दूसरी दिशा में बाह्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अज्ञात कारणों से उत्पन्न अर्थ–वैविध्य पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रत्येक भाषा में ऐसे असंख्य शब्द होते हैं जो कालक्रम के प्रभाव से परिवर्तित अर्थ का बोध कराते हैं और स्वभावतः सन्दिग्ध अथवा अस्पष्ट हो जाते हैं। तीसरी स्थिति में शब्द-समूह की सम्पूर्ण संरचना को अधिक महत्व दिया जाता है– उदाहरण के लिए 'वृद्ध पुरुष व स्त्रियाँ' के दो अर्थ हो सकते हैं। 'अस्पष्टता' उस स्थिति में भी उत्पन्न हो सकती है जब एक शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं। 'उसे कुर्सी दी गई' जैसे वाक्य में संरचना के कारण नहीं बल्कि शब्द की प्रकृति (कुर्सी = पद या आसन) से अस्पष्टता उत्पन्न हुई है।

शब्द की संवेदनशीलता ही अस्पष्टता को अस्तित्व प्रदान करती है। ग्लीसन के अनुसार 'अस्पष्टता भाषा की एक विशिष्टता है।' सामान्य प्रयोग में प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता है कि अर्थ का क्षेत्र विस्तार शब्दों की तुलना में अधिक होता है। लेखक अथवा वक्ता, शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अभिप्राय से करता है जिसकी जानकारी के अभाव में विचार–सम्प्रेषण कठिन हो जाता है और कठिनाई भाषागत अनेकार्थता अथवा अस्पष्टता के कारण होती है। इस प्रकार का बाहुल्य शैली अथवा शब्द-चयन (डिक्सन) की विशेषता न होकर भाषा का स्वाभाविक गुण है। प्रसङ्गानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने से कोई शब्द अनेकार्थी अथवा अस्पष्ट नहीं होता बलिक उस स्थिति में होता है जब वह एक ही प्रयोग में अनेक अर्थों का आभास दे। उदाहरणार्थ 'चित्र' शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा– चित्रकार द्वारा बनाया हुआ चित्र, दीवार पर लगा चित्र, फोटो, चलचित्र आदि, परन्तु प्रसङ्गानुसार स्पष्ट अर्थ प्राप्त होने से उसे अस्पष्टता की कोटि में नहीं रखा जा सकता जबकि 'विद्या जैसा कोई नेत्र नहीं है" जैसी उक्ति में नेत्र का अर्थ बाह्य नेत्र से सर्वथा भिन्न है।

काव्यात्मक अस्पष्टता का संबंध कवि की शैलीगत एवं भाषागत क्षमता से है। कवि शब्दों की आत्मा तक पहुँचकर, 'अस्पष्टता' के माध्यम से अपनी भाषा को अधिक प्रभावशाली बनाता है। वह पारंपरिक प्रतीकों को नया अर्थ देता है अथवा सर्वथा नवीन प्रतीकों एवं बिम्बों का अन्वेषण करता है। एम्पसन ने अपनी कृति "सेवेन टाइप ऑफ एम्बियुटी" में नवीन प्रतीकों एवम् बिम्बों के उपयोग की विस्तृत व्याख्या की है।

पाश्चात्य काव्य–समीक्षण में पहले 'अस्पष्टता' को 'जटिलता' के अर्थ में ग्रहण किया जाता था और काव्य का दोष माना जाता था। प्रारम्भिक काल में विचार और अभिव्यक्ति की सहजता एवम् स्पष्टता का अधिक मूल्य था। अरस्तू ने अपने काव्य शास्त्र (पोयटिक्स) में स्पष्टता को भाषा का गुण माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रेटॉरिक' में उसने निर्देश किया है कि अस्पष्ट भाषा अथवा विचारहीन वाग्जाल से सदैव बचना चाहिए। उसका मत है कि शब्दों का स्पष्ट एवम् सार्थक होना अनिवार्य है। एक अन्य समीक्षक क्विण्टिलियन के अनुसार 'अस्पष्टता' से बचना आवश्यक है। 'अस्पष्टता' न केवल अर्थ को जटिल और अनिश्चित करती है अपितु शाब्दिक दोषों से भी युक्त होती है। इसलिए सादगी और यथार्थता नितान्त आवश्यक है।

सिसरो ने भी स्पष्टता, खुलेपन एवम् लयतालबद्धता को भाषा का आवश्यक गुण माना है। प्राचीन काव्य चिन्तकों में मात्र डिमिट्रियस ही ऐसा समीक्षक है जो अनेकार्थी अभिव्यक्ति का समर्थन करता है। किन्तु वह ऐसी अनेकार्थता की प्रशंसा करता है जो किसी वक्रोक्ति को तीक्ष्णता प्रदान करती है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने 'अस्पष्टता' को पहले कभी भी एक विशिष्ट गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया। मिल्टन ने काव्य को सरल, कमनीय, सहज, संवेदनशील, उद्दीपक एवम् आवेगपूर्ण बताया। जबकि रोमेण्टिक पुनर्जागरण के युग में वर्ड्सवर्थ ने जब सामान्य की भाषा (रस्टिक लैंग्वेज) को काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना। परन्तु वर्तमान युग में अस्पष्टता के महत्त्व को प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं। आइ. ए. रिचर्डस् का स्पष्ट मत है कि "जहाँ प्राचीन काव्य शास्त्र अस्पष्टता को भाषा का दोष मानता था वहाँ आधुनिक काव्य शास्त्र में उसे भाषा की शक्ति के अपरिहार्य परिणाम, तथा हमारी अत्यधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों– विशेषतः काव्य एवं धर्म के क्षेत्र में से अधिकांश के लिए अनिवार्य साधन के रूप में देखा जाता है। हर्बर्ट रीड ने गूढ़ता में सार्थक मूल्य की चर्चा करते हुए ऐसे पाठकों की आलोचना की है जो काव्य को लौह शलाका की भाँति सीधा और सपाट होने की अपेक्षा करते हैं। एफ्. एल्. लूकास, बेथेल, प्रभृत समीक्षकों ने भी 'अस्पष्टता' को समर्थन प्रदान किया है।

उपर्युक्त विवरण के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समीक्षक काव्य में अर्थ के स्थान को शताब्दियों पूर्व प्रचलित रूप में ग्रहण नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि ऐतिहासिक सन्दर्भ एवम् कवि के वैयक्तिक जीवन की विशेषताओं को सन्दर्भित करना अनावश्यक माना जाता है। पाठात्मक समीक्षा (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) की प्रचलित प्रक्रिया में कविता को एक पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है। ए. ई. हाउसमन का इस सम्बन्ध में स्पष्ट अभिमत है कि "पाठात्मक समीक्षा विज्ञान और कला दोनों है।" "यह (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) भूल या दोष (एरर) के अन्वेषण का विज्ञान और उसे दूर करने की कला है। पाठात्मक समीक्षा का मूलाधार भाषा की अपनी सीमाएँ होती हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः काव्यात्मक अर्थ के सम्बन्ध कोई भी मत आत्यन्तिक नहीं हो सकता। यही तथ्य एम्पसन की 'अस्पष्टता' सम्बन्धी अवधारणा का केन्द्र विद्ध है।

भाषा काव्य का माध्यम होने के साथ ही काव्य में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अर्थ-विज्ञान, भाषा, विचार और व्यवहार के अन्र्तसम्बन्ध का अध्ययन करता है, इस प्रकार भाषा की प्रकृति में ही 'अस्पष्टता' अन्तर्निहित है किन्तु 'अस्पष्टता' का मूल्य भाषा की श्री वृद्धि करने में है उसकी विकृति में नहीं। 'अस्पष्टता' की इसी अवधारणा को विलियम् एम्पसन ने अपनी पुस्तक 'सेवेन टाइप ऑफ एम्बियुटी' में विस्तार से विवेचित किया है और उसके विविध रूपों को स्पष्ट किया है।

भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है काव्यात्मक 'अस्पष्टता' पर काव्य-समीक्षण के प्रारम्भिक काल से चिन्तन होता रहा है। ध्वनि तथा 'रस' की भारतीय अवधारणाएँ अनेकार्थता एवम् संगुफित भाषा पर आधारित हैं और एम्पसन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा से बहुत साम्य रखती हैं। ध्वनिकार आनन्द वर्धन और एम्पसन इस बात पर सहमत हैं कि काव्य के शब्द अनेकार्थी होते हैं और अनावश्यक शब्द-जाल काव्य के लिए त्याज्य हैं। 'ध्वनि' का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका तात्पर्य उस सांकेतित अर्थ (सजेस्टेड मीनिन्ग) से है जो अभिधार्थ (फर्स्ट मीनिन्ग) के पश्चात् पाठक के मस्तिष्क में उदित होता है। 'ध्वनि' और 'अस्पष्टता' दोनों में ही पाठक से अर्थों के अर्न्तहित को समझकर, अर्थ के उस अन्तिम तल तक पहुँचने की अपेक्षा की जाती है जो काव्य-रस का स्रोत है। एक ही सांकेतित शब्द का अर्थ पाठक के मनोभाव, रुचि, स्वभाव व्यवसाय तथा विगत अनुभूतियों के अनुसार परिवर्तनीय होता है। उदाहरणार्थ "सूर्यास्त हो गया है" जैसे सामान्य वाक्य से विभिन्न पाठकों में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती है। प्रेमी, श्रमिक, गृहस्थ व्यवसायी, सेनानायक, वियोगिनी आदि के मन में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ स्वभावतः उत्पन्न होगी।

उक्त प्रकार की उक्तियों को ही एम्पसन अस्पष्ट या अनेकार्थी कहता है। एम्पसन की समीक्षाविधि वस्तुतः भारतीय ध्वनिवादियों से अधिक भिन्न नहीं है। ध्वनि किस प्रकार प्रकट अर्थ से भिन्न अर्थ देती है इसे आनन्द वर्धन कृत 'धन्यालोक' से एक अन्य दृष्टान्त लेकर स्पष्ट किया जा सकता है। एक वणिक् एक आखेटक से हस्तिदन्त व व्याघ्रचर्म की माँग करता है तो उसे उत्तर मिलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। "हे वणिक्, जब तक मोहक बदन तथा घुंघराले केशोंवाली मेरी पुत्रवधू घर में विद्यमान है, हम हस्तिदन्त व व्याघ्रचर्म कहाँ से पा सकते हैं।" उ कथन से आभास मिलता है कि सुन्दरी की केशराशि में बद्ध उसका पुत्र या आखेत पर जाता ही नहीं, या वन में निरर्थक भटककर रिक्तहस्त लौट आता है अभिधार्थं या प्रकट अर्थ सर्वथा स्पष्ट है पर उक्ति में रस तो ध्वन्यार्थ से आता है।

आनंदवर्धन तथा उससे सहमत समीक्षकों के मतानुसार यह ध्वन्यार्थ काव्य की आत्मा है, अलंकार आदि तो मात्र आभूषण हैं जो, आनंदवर्धन के शब्दों में, उतनें महत्वपूर्ण नहीं हो सकते जितनी कि ध्वनी होती है। एंप की अवधारणा में कविता में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका काव्य प्रसंग (कन्टेक्स की होती है। वह लिखता है। "किसी शब्द को चीख कर या गुर्रा कर पढ़ा सकता है, अतः यदि आपके समक्ष कागज़ पर लिखा मात्र एक शब्द है तो जानने के लिए कि उसे किस प्रकार पढ़ना है, आपको न केवल उस शब्द का अ बल्कि उसके प्रसंग के विषय में भी जानना होता है।" प्रसंग स्पष्टतः "आ व्यंजना" के क्षेत्र में आता है जहाँ वक्ता ओर श्रोता दोनों के मनोभावों पर अ ध्यान देना होता है। "यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति यस्तेषार्थः" कोई उ चूंकि अनेक शाब्दिक इकाइयों का समन्वय होती है अतः उसका अर्थ अनेक त पर निर्भर होता है जिनमें मुख्य है वक्ता व श्रोता की मनोवृत्ति और मनो जिनका निर्धारण उनकी विगत अनुभूतियों से होता है जो काव्य-पठन के समय स्मृति में आ जाती है। एंपसन के मतानुसार, जब भी कोई पाठक 'प्रक सामान्य सी पंक्ति पर विक्षुब्ध हो जाता है तो इसका कारण अधिकांशतः उस विगत अनुभूतियाँ . ही होती हैं'। काव्य के प्रभाव में 'विगत अनुभूतियाँ' भूमिका को स्वीकार कर एंपसन संस्कृत समीक्षण के 'व्यंजना-व्यापार' से पर्या साम्य प्रकट करता है।

'अस्पष्टता' में अर्थ की प्राप्ति सांकेतिकता, प्रसंग तथा अप्रस्तुत निर्देशों सहायता से होती है। ध्वनिवादियों की शब्दावली में 'व्यंग्यार्थ' भी कल्पना श के प्रयोग से प्राप्त होता है जबकि वाच्यार्थ या 'अभिधेयार्थ' का तात्पर्य शाब्दि अर्थ से है। एंपसन के अनुसार 'अस्पष्ट' काव्य में कल्पना की उड़ान के वि विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध होता है। 'अस्पष्टता' में अर्थ शब्दों या अभिव्यक्तियों आवृत्त होते हैं। ध्वनिवादी विचारकों के मत से भी अर्थ शब्दों या उक्तियों अंतर्निहित होते हैं। मम्मट का यह कथन उचित ही है कि व्यंग्यार्थ किसी सु रमणी के उरोजों की भाँति है जिसका पूर्ण आकर्षण आवरण में ही होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु अस्पष्टता या 'व्यंग्य की भी अपनी सीमा होती है जिसका अतिक्रमण होने पर काव्य समृद्धि से उसका योगदान ऋणात्मक हो जाता है। इस स्थिती को ध्वनिवादियों की ही भाँति एंपसन भी काव्य-दोष मानता है।

एंपसन अर्थ में सूक्ष्म सौन्दर्य छवियों को पर्याप्त महत्व देता है 'प्रतीयमान अर्थ' का प्रयोग आनंदवर्धन ने भी लगभग उसी अर्थ में किया है। दोनों ही ने सीधे सपाट अर्थ के स्थान पर निगूढ़ अर्थ को श्रेयस्कर माना है। एंपसन साफ सपाट कथन को काव्य सौन्दर्य का अंग नहीं मानता। आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को 'चित्र-काव्य' कहकर उसकी निन्दा करता है। मम्मट इसे 'अधम काव्य' कहता है। ध्वनिवादी न होनेपर भी भामह ऐसे काव्य को 'वैदर्भ-काव्य' की संज्ञा देता है। 'अस्पष्टता' और 'ध्वनि' दोनों ही अवधारणाओं के अनुमार शब्द एक नया अर्थ प्रक्षेपित करता है जो प्रकट अर्थ से अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस आवृत्त अर्थ को ग्रहण करने के लिए पाठक में भी एक विशेष अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन तथा एंपसन दोनों ही कुशल पाठकों की प्रतिभा को ही काव्य-पठन योग्य मानते हैं। एंपसन के गंभीर विश्लेषक तथा आनन्दवर्धन के 'सहृदय' पाठक में पर्याप्त साम्य है। ऐसा पाठक 'काव्य पठन में' भावयित्री प्रतिभा का उपयोग करता है।

इन समानताओं के बावजूद एंपसन तथा ध्वनिवादियों की अवधारणाओं में किञ्चित मतभेद है। संस्कृत समीक्षण की 'व्यंजना' तथा एंपसन की अस्पष्टता में एक अन्तर यह है कि व्यंजना जहाँ ध्वनि को काव्य की आतमा मानती है वहाँ अस्पष्ता काव्य का एक विशिष्ट लक्षण मात्र है तथा उसके अभाव में भी काव्य का अस्तित्व संभव है।

एंपसन की दृष्टि में अस्पष्टता के कारण निसृत सभी अर्थ में समान रूप से आनन्ददायक हो सकते हैं और उनमें से किसी एक का अन्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होना आवश्यक नहीं है। वह यह स्थापित करने का प्रयत्न करता है कि अस्पष्टता काव्य को इस दृष्टि से समृद्ध करती है कि यह विभिन्न अर्थों के अन्तर्घात के लिए भूमि तैयार करती है। वह आपात या प्रकट अर्थ के कोई असम्मान भी प्रकट नहीं करता जो सरलतम होती है ओर मस्तिष्क में तत्काल उभरती है। आपात अर्थ उसके विचार से वह आधार है जिस पर अन्य गूढ अर्थों की बृहत्तर संरचना होती है। आनन्दवर्धन का मत अधिक स्पष्ट है 'जिस प्रकार प्रकाश का इच्छुक व्यक्ति तैल इत्यादि की सहायता से दीपक की लौ बनाए रखने का यत्न करता है उसी प्रकार ध्वनि को ग्रहण करने का इच्छुक व्यक्ति अभिधेयार्थ से चिपटा रहता है जो इसका (ध्वनि का) मूल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ कुछ विशिष्ट दृष्टान्तों के माध्यम से 'ध्वनि की पृष्ठभूमि में एंपसन की अस्पष्टता की अवधारणा का निरीक्षण उपयोगी हो सकता है। 'ध्वनि' की तीन प्रजातियाँ है। वस्तु-ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस-ध्वनि। इनमें से अलंकार ध्वनि तथा एंपसन की तीसरी प्रकार की अस्पष्टता की कार्यविधि एक सी प्रतीत होती है जहाँ दो असमृद्ध अर्थ एक साथ प्रस्तुत होते हैं। संस्कृत में इसे निदर्शना अलंकार कहते हैं, यह तार्किक रूप से असम्बद्ध दो वस्तुओं में समता का आभास देता है। संस्कृत शब्दावली में कहा जाय तो वह अन्य अर्थों की अपेक्षा रस-ध्वनि को प्राथमिकता देता है। यह रस-ध्वनि अर्थ का संवेगात्मक एहसास ही है जो काव्य को चरम बिन्दु तक पहुँचाती है। इस स्थिति में अर्थ और शब्द एक दुसरे से विश्रृंखलित हो जाते हैं। आपात अर्थ सर्वथा लुप्त हो जाता है तथा संवेगात्मक अर्थ शब्द के समस्त अर्थों की सीमा से परे निकल जाता है। एंपसन के अनुसार 'अस्पष्टः कल्पित शक्तियाँ' कविता की सम्पूर्णता को संरक्षित करती है और उन शक्तियों को 'अस्पष्टता' के रूप में विवेचित नहीं किया जा सकता। एंपसन इन्हें 'अस्पष्टता की यन्त्र-क्रिया' (मेकेनाइजेशन ऑफ एम्बिग्विटी) कहता है जो उसके अनुसार काव्य का 'मूल' है। आनन्दवर्धन की शब्दावली में इन शक्तियों को सामूहिक रूप से व्यंजना-शक्ति कहा जा सकता है।

एम्पसन ने अपनी कृति में बार-बार शब्द और अर्थ के 'सहभाव' पर जोर दिया है जो संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलतत्व है "सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्धे"- (महाभाष्य) या 'अर्थम् वाचपुष्पफलमाह वासक' (निरुक्त १-२०)। जब हम किसी शब्द की ध्वनि सुनते हैं तो दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, प्रथमतः किसी वस्तु का ठोस बिम्ब बनता है और तब क्रोध, प्रेम, स्नेह, घृणा आदि जैसे किसी अमूर्त भाव की अस्पष्ट, धूमिल-सी प्रतिछाया उभरती है। हर स्थिति में बोध रूप' में पदार्थ का होना अनिवार्य है। बोध (काग्नीशन) की प्रक्रिया में हम सामान्य (जाति) से विशेष (व्यक्ति) की ओर चलते हैं। जिसके विभिन्न सोपान हैं- नाम, रूप, शब्द अर्थ और आख्याता। एम्पसन शब्द को 'भाषा का एक सदस्य' मानता है। और उसकी 'अस्पष्टताएँ' वस्तुतः अर्थ तथा ध्वन्यात्मक बोध के विभिन्न सम्बन्धों से उत्पन्न भाषिक श्रेष्ठता के ही रूप हैं।

एम्पसन की 'अस्पष्टता' की अवधारणा सामान्य रूपरेखा व्यंजना से घनिष्ठ साम्य प्रकट करती है, पर कहीं-कहीं कुछ स्थितियां व्यंजना के क्षेत्र से परे प्रभाकर प्रभृति मीमांसकों के क्षेत्र में पहुँच जाती है। उदाहरण के लिए, उसकी छठी प्रकार की अस्पष्टता जिसके अनुसार 'कोई कथन... कुछ प्रकट नहीं करता अतः पाठक को अपनी ओर से उसके अर्थों का आविष्कार करना पड़ता है जो परस्पर न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सम्भावना रखते हैं। भारतीय मीमांसक की भाषा में इसे 'प्रलाप' कहा जाएगा जिसमें स्पष्ट एवम् पूर्ण अर्थाभाव होता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का अर्थहीन वक्तव्य 'प्रलाप' का स्पष्ट उदाहरण है जो वियोग के भाव का आभास देता है। परन्तु प्रलाप व एम्पसन की छठी 'अस्पष्टता' में एक स्पष्ट अन्तर है– 'प्रलाप' की पृष्ठभूमि में कोई-न-कोई भाव रहता है जबकि एम्पसन की छठी 'अस्पष्टता' (अप्रासङ्गिक) में भाव के लिए स्थान नहीं है। वहाँ भाव का स्थान तार्किकता ले लेती है और अप्रासंगिक को तर्क के माध्यम से सार्थक बनाया जाता है। एम्पसन के अनुसार तर्क के माध्यम से वैकल्पिक अर्थ निसृत होने के कारण ही काव्य, काव्य होता है। शब्द और अर्थ के 'संगठन' से ही वैकल्पिक अर्थ उत्पन्न होते हैं। शब्द और अर्थ का त्रिआयामी सम्बन्ध-शब्द का शब्द से, शब्द का अर्थ से तथा अर्थ का अर्थ से–अस्पष्टता का एकमात्र कारण है और इस अस्पष्टता के कारण ही काव्य हमें जितनी सूचना या जितना बोध देता है, उससे अधिक का आभास और संकेत देता है।

एम्पसन ने यद्यपि सात ही प्रकार की 'अस्पष्टता' का उल्लेख किया है, पर उसके अन्य अनेक रूप भी हो सकते हैं। ध्वन्यार्थ में भी वही स्थिति है। आनन्दवर्धन स्पष्टतः स्वीकार करते है कि काव्य में पूर्ण अर्थ जैसा कुछ भी नहीं होता जिसके परे अर्थ की गति न हो। ध्वनि तथा अस्पष्टता, दोनों के सम्बन्ध में अंशतः हम कह सकते हैं कि वे काव्य के ही नहीं सामान्य वार्तालाप की भाषा के भी आभूषण हैं, और साफ सपाट कथन के स्थान पर कभी-कभी अस्पष्ट कथन अधिक सराहा जाता है।

संस्कृत समीक्षण के आचार्यों का एक अन्य वर्ग 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा तथा काव्य-सौन्दर्य का एकमात्र स्रोत मानता है। एम्पसन की 'अस्पष्टता' की अवधारणा कुछ दृष्टियों से कुन्तक तथा उनके अनुयायी समीक्षकों द्वारा विवेचित वक्रोक्ति की अवधारणा से भी पर्याप्त साम्य प्रकट करती प्रतीत होती है। 'वक्रोक्ति जीवित' में कुन्तक वक्रोक्ति को अभिव्यक्ति की विचित्रता (भङ्गी-भणिती' या 'भणिती वैचित्र्य') के रूप में परिभाषित करता है। एम्पसन की अस्पष्टता भी एक शैलीगत विशिष्टता है। वक्रोक्ति को पूर्व प्रतिष्ठित प्रयोगों से हटकर किया गया पयोग माना गया है। इसका 'अस्पष्टता' से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखता क्योंकि 'अस्पष्टता' अर्थों के अन्तर्धान द्वारा काव्य को समृद्ध करती है।

परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कुन्तक और एम्पसन एक ही धरातल पर प्रतीत होते हैं। जब वे कवि-कल्पना के महत्व की चर्चा करते हैं तब एम्पसन शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सूक्ष्म अर्थ-भेद से उत्पन्न काव्यात्मक अस्पष्टता का श्रेय कवि की कल्पना की उर्वरता को देता है जिसे कुन्तक 'वक्र-कवि-व्यापार' कहता है। काव्यात्मक कल्पना में कुन्तक की आस्था उसके द्वारा की गई काव्य-मार्गों की विवेचना में अभिव्यक्त होती है जिनका अनुसरण करने का परामर्श वह कवियों को देता है। दोनों में एक अन्य समानता काव्य भाषा की सरसता को लेकर है। जिस सीधी सपाट भाषा को एम्पसन 'पत्रकारों जैसी नीरस' (जरनलिस्ट फ्लैटनेस) कहकर निन्दा करता हैं कुन्तक भी उसे 'शुष्क-तर्क-वाक्य' कहता है। कुन्तक विचित्रता से युक्त अभिव्यक्ति को महत्व देता है जिसमें विदग्धता होती है। कुन्तक की विचित्रता तथा एम्पसन की अस्पष्टता काव्य-भाषा के एक जैसे कार्य को इंगित करती प्रतीत होती है। हम कह सकते हैं कि दोनों ही समीक्षक श्रेष्ठ काव्य द्वारा प्रदत्त अर्थ की समृद्धि में रुचि रखते हैं, ऐसी समृद्धि जो हमें सम्भ्रमित नहीं करती, बल्कि वास्तविक काव्यानन्द का आस्वादन कराती है।

काव्य के गुण-दोष के विषय में एम्पसन और कुन्तक, दोनों ही सजग है। एम्पसन ऐसी अस्पष्टता को काव्य-दोष मानता है जो विचार प्रवाह को अवरुद्ध करती हैं, अभिव्यक्ति को अनावश्यक रूप से बोझिल बनाती है और पाठक को निरर्थ सम्भ्रम में डाल देती है। कुन्तक काव्य में 'लावण्य' का पक्षधर है– जिससे उसका तात्पर्य काव्य के विभिन्न अङ्गों के समन्वय से है। वह काव्य के निर्बन्ध, उन्मुक्त प्रवाह का समर्थक हैं और आरोपित सज्जा को दोष मानता है। अक्षरों को अनावश्यक रूप से बार-बार दुहराने (जैसा कि अनुप्रास में होता है) के विरुद्ध भी वह कवियों को सचेत करता है। दोनों ही समीक्षक काव्य में अन्तःरस या तरलत्व को श्लाघनीय मानते हैं। काव्य में 'मानव अनुभूति' तथा व्यापक शान्ति (ब्राड काम) पर एम्पसन के जोर देने से कुन्तक की 'रसवदलकांर' (किसी वर्णन में संवेगात्मक आभासिकता) की अवधारणा से स्पष्ट हो जाता है।

एम्पसन तथा कुन्तक की अवधारणाओं में कतिपय अन्य साम्यविन्दु भी हैं। एम्पसन के लिए अस्पष्टता काव्य का एक गुणधर्म है जो कुन्तक भी 'शब्द' तथा 'अर्थ' के सम्बन्ध में 'वक्रता' को उतना ही महत्व देते है। एम्पसन ने 'अस्पष्टता' को सात प्रकारों में बाँटा है तो कुन्तक की 'वक्रता' के भी छः भेद हैं। दोनों की ही दृष्टि में उनका वर्गीकरण व्यावहारिक है जिन्हें कवि कल्पना की उड़ान व गति अधिक विस्तार दे सकती है। कुन्तक काव्य का 'शब्द तथा अर्थ की नव्यता' या "कौतुक से विभूषित" होना श्रेयस्कर समझते हैं। और यह 'नव्यता' (नावेल्टी) 'अस्पष्टता' की ही भाँति काव्य को विविध आयाम प्रदान करती है। जिस कवि की रचनार्शालता को एम्पसन 'अस्पष्टता' से युक्त काव्य कहता है वह कुन्तक की शब्दावली में 'विचित्र मार्ग' का अनुसरण करता है। ऐसे कवि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

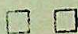
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक अर्थ सम्भावनाओं की चर्चा करते हुए एम्पसन स्पष्ट करता है कि रचना प्रक्रिया में कवि के मानसिक द्वन्द्व के कारण ही काव्य में 'अस्पष्टता' आ जाती है।

इस संक्षिप्त निवन्ध की सीमा विशेष विस्तार में जाने की अनुमति नहीं देती, अन्यथा, यदि एम्पसन की 'अस्पष्टता' तथा कुन्तक की 'वक्रता' के भेदों की तुलना वृहद् स्तर पर की जाए तो पर्याप्त रोचक साम्यबिन्दु परिलक्षित हो सकते हैं। अर्थ के आवृत रहने की धारणा पर दोनों में ही समान निष्ठा के दर्शन होते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में, कुन्तक के पश्चात किसी भी शास्त्रकार ने काव्यार्थ की गूढ़ताओं का इतना सूक्ष्म व सतर्क विवेचन नहीं किया है। 'अस्पष्टता' या 'अनेकार्थता' की स्थापना में उसी प्रकार एम्पसन का योगदान भी अप्रतिम ही कहा जाएगा।

—रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (३)

मू. एतेन समर्थव्यवहारगोचरत्वं हेतुरिति निरस्तम् । तादृग्व्यवहारगोचरस्यापि बीजस्याङ्कुरकरणदर्शनात् । "नासौ मुख्यस्तत्रव्यवहारः, तस्य जनननिमित्तकत्वात्, अन्यथात्वनियमप्रसङ्गादिति चेत्"। न, कीदृशं पुनर्जननं मुख्यसमर्थव्यवहारेनिमित्तम् । न तावदक्षेपकरणनिमित्तं, तस्यासिद्धेः । नियमस्य च सहकारादिसाकल्य सत्येव कारणं करणमेवेत्येवस्वभावत्वेनाप्युपपत्तेः, ततश्च जनननिमित्त एवायं व्यवहारो न च व्याप्तिसिद्धिरिति ।

खत्ती में रखे हुए (तत्काल) अनुत्पादक बीज के असामर्थ्य को सिद्ध करने के लिए अब तक जो तर्क दिए गए उनकी अनुपयुक्तता को जान कर बौद्ध अब एक नये तर्क को, असामर्थ्य-साधन के लिए, प्रस्तुत कर रहे हैं। वह तर्क यह है कि, खत्ती में पड़ा बीज यदि अंकुरोत्पादन-समर्थ कहा जाने योग्य हो तो वह अंकुर उत्पन्न करेगा ही। किन्तु वह अंकुर पैदा नहीं करता। अतः वह उत्पादनसमर्थ कहा जाने लायक नहीं है? इस (प्रसंग विपर्ययात्मक) तर्क से खत्ती में पड़े बीज की उत्पादन-समर्थता सिद्ध होती है। इस पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि समर्थ कही जानेवाली वस्तु अपना कार्य तत्काल सम्पन्न करती है ऐसा दृग्गोचर नहीं होता। खत्ती में पड़े बीज को भी लोग अंकुरोत्पादन-समर्थ कहते ही हैं; किन्तु उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। अतः 'समर्थ' व्यवहार के मुख्य तथा गौण ऐसे दो प्रकार मानना आवश्यक है। इनमें मुख्य व्यवहार उत्पादकता पर ही आधारित होगा। बौद्ध कहते हैं कि मुख्य सामर्थ्य विषयक व्यवहार पर से ही बीज को अंकुरकारक वस्तु से भी अंकुर की उत्पत्ति सम्भव है ऐसा मानना पड़ेगा। इसपर नैयायिक प्रतिप्रश्न करते हैं कि किस प्रकार की उत्पादकता पर उत्पादन-सामर्थ्य सम्बन्धी व्यवहार निर्भर माना जाय? यदि 'तत्काल उत्पादकता पर' तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि ऐसी बात मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु 'समर्थव्यवहार विषयक वस्तु अपना कार्य सम्पन्न करती ही है' यह जो नियम है उसका समर्थन एवं स्पष्टीकरण इस तरह किया जा सकता है कि 'समर्थव्यवहार विषयक वस्तु सहकारियों से सहकृत होने पर ही अपना कार्य करती है, या करती ही है'। खत्ती में पड़ा बीज भी समर्थ कहा जाने योग्य है और वह जल, आतप,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पवन, आदि से सहकृत होने पर अंकुरोत्पादन करेगा ही। इस प्रकार सामर्थ्य-व्यवहार उत्पादन मात्र पर ही निर्भर मानना उपयुक्त होगा। तब तत्काल कारित्व तथा समर्थव्यवहार विषयत्व के बीच व्याप्य-व्यापक भाव नहीं माना जा सकता। समर्थ कही जाने वाली वस्तु विशेष स्थिति में ही अपना कार्य कर सकती है, अन्यथा नहीं।

मू. "स्यादेतत्, एतावतापि भावस्य कः स्वभावः समर्थितो भवति, नहि क्षेपाक्षेपाभ्यामन्यः प्रकारोऽस्तीति चेत्"। न, दूषणाभिधानसमये निश्चयाभावेनैव संदिग्धासिद्धिनिर्वाहे कथारूपपर्यवसानात्। उत्तरपक्षावसरे तु सोऽपि न दुर्वचः।

पुनः अन्य प्रकार से बौद्ध अनुत्पादक बीज को असमर्थ सिद्ध करने के हेतु प्रतिवाद कर रहे हैं। वे पूछते हैं कि अब तक के विवाद पर से वस्तुमात्र के स्वभाव के सम्बन्ध में क्या निष्कर्ष प्राप्त हुआ? तत्काल या विलंब से कार्योत्पादन ये दो ही विकल्प वस्तुस्वभाव के सम्बन्ध में सम्भव हैं। यदि विलम्बकारित्व वस्तुस्वभाव माना जाय तो सहकारियों के उपस्थित होने पर भी कारण कार्योत्पादन नहीं करेगा। अतः 'तत्काल कार्योत्पादन' को ही कारणवस्तु का स्वभाव मानना होगा। इस तर्क पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि वाद-विवाद के सन्दर्भ में वादी के मत विरुद्ध मत असिद्ध होने पर भी उसकी सम्भावना के आधार पर भी उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसा करने से 'सन्दिग्धासिद्धि' यह दोष तो वादी के मत में उत्पन्न होगा ही और इतने से भी प्रतिवादी का उद्देश पूर्ण हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि स्वपक्षस्थापनार्थ तर्क प्रस्तुत करना भी प्रतिवादी (नैयायिकों) का कर्तव्य माना जाय तो वह अनायास पूर्ण किया जा सकता है (जैसा कि अग्रिम परिच्छेद में विशद किया जा रहा है)।

मू. तथा हि करणं प्रत्यविलम्ब इति कोऽर्थः? किमुत्पत्तेरनन्तरमेव करणं, सहकारिसमवधानान्तरमेव वा? विलम्ब इत्यपि कोऽर्थः? किं यावन्न सहकारिसमवधानं तावदकरणं, सर्वथैवाकरणमिति वा? तत्र प्रथमचतुर्थयोः प्रमाणाभावादनिश्चयेऽपि द्वितीयतृतीययोः प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बीजजातीयस्य हि सहकारिसमवधानानन्तरमेव करणं करणमेवेति प्रत्यक्षसिद्धमेवेति, तथा सहकारिसमवधानरहितस्याकरणमित्यपि,

नैयायिक स्वपक्षस्थापनार्थ प्रश्न करते हैं कि 'कार्य अविलम्ब से उत्पन्न करना' (यह वस्तु का स्वभाव है) इस कथन का क्या अर्थ है? 'स्वयं उत्पन्न होते ही अपना कार्य उत्पन्न करना' या 'उत्पत्ति के अनन्तर सहकारियों के एकत्रित होने पर ही अपना कार्य उत्पन्न करना' इन दोनों में से 'अविलम्ब' का कौनसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ ग्राह्य है ? 'विलम्ब' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'जब-तक सहकारि इकठ्ठा न हो तब तक कार्य उत्पन्न न कर सकना' या 'किसी भी परिस्थिति में कार्य उत्पन्न न कर सकना' इन दोनों में से कोई एक अर्थ 'विलम्ब' शब्द का लेना होगा। उक्त चार अर्थविकल्पों में पहला और चौथा ('उत्पन्न होते ही कार्य करना' और बिलकुल कार्य न करना') निराधार हैं; उनके सम्बन्ध में निश्चित स्वीकृति नहीं दी जा सकती। किन्तु दूसरे और तीसरे विकल्प के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार ही उपलब्ध है। कोई भी बीज सहकारियों से सहकृत होने पर ही कार्य सम्पन्न करता है और निश्चय से करता है यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। सहकारियों के न होने पर बीज कार्योत्पत्ति नहीं करता यह बात भी प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है।

मू. अत्र च भवानपि न विप्रतिपद्यत एव, प्रमाणसिद्धत्वात्, विपर्यये बाधकाच्च। तथा हि यदि सहकारिविरहेऽकुर्वाणस्तत्समवधानेऽपि न कुर्यात् तज्जातीयमकरणमेव स्यात्, समवधानासमवधानयोरुभयोरप्यकरणात्। एवं तत्समवधानविरहेऽपि यदि कुर्यात् सहकारिणो न कारणं स्युस्तानन्तरेणापि करणात्। तथा चानन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकवतामप्यकारणत्वे कार्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गः, तथा च कादाचित्कत्व-विहतिरिति।

नैयायिक कहते हैं कि उक्त तथ्य के सम्बन्ध में बौद्धों के मन में भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। क्योंकि वह प्रत्यक्षसिद्ध ही है और इस तथ्य की अस्वीकृति के विरुद्ध बाधक तर्क भी उपस्थित किए जा सकते हैं। उदाहरणतः सहकारियों की अनुपस्थिति पर कार्य उत्पन्न न करनेवाली वस्तु सहकारी उपस्थित होते हुए भी यदि (अपना) कार्य नहीं करती तो वह और उस जाति की सभी वस्तुएँ (अपना) कार्य सम्पन्न ही नहीं कर सकतीं। (क्योंकि हर परिस्थिति में ये वस्तुएँ अपना कार्य नहीं कर पाती।) इसी प्रकार सहकारियों के अनुपस्थिति होते हुए भी कोई वस्तु अपना कार्य करे तो वह तथाकथित 'सहकारि' सहकारी ही नहीं है ऐसा समझना होगा। यदि ऐसी वस्तुओं को भी सहकारी न माना जाय, जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति पर कार्य की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति घटित होती देखी गई हो, तो कार्योत्पत्ति को यादृच्छिक या अकारण मानना पड़ेगा। उस हालत में कोई कार्य भी विशेष परिस्थिति में ही घटित होता है अन्यथा नहीं यह (कार्यकारणभावाधारित) नियम भंग हो जाएगा।

मू. एवं च द्वितीयपक्षविवक्षायामक्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वभावः। तृतीय-पक्षविवक्षायान्तु क्षेपकारित्वमेव भावस्य स्वरूपमिति नोभयप्रकारनिवृत्तिरिति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त स्पष्टीकरण के बाद मूल प्रश्न शेष ही रह जाता है कि वस्तुमात्र का स्वभाव विलम्बकारिता है या अविलम्बकारिता। इसपर नैयायिकों का उत्तर यह है कि उक्त चार विकल्पों में से दूसरा विकल्प ('सहकारियों के संकलित होते ही कार्य उत्पन्न कर सकना वस्तुस्वभाव है' यह) स्वीकार किया जाय तो अविलम्बकारिता ही वस्तुस्वभाव मानना होगा। यदि तीसरा विकल्प ('सहकारी संकलित न होने पर कार्य न कर सकना वस्तुस्वभाव है' यह) स्वीकार कर लिया जाय तो विलम्बकारिता को ही वस्तुस्वभाव समझना होगा। उक्त अविलम्बकारिता और विलम्बकारिता दोनों ही वस्तुमात्र में विद्यमान् होने से वस्तुस्वभाव के रूप में स्वीकार्य हो सकते हैं।

मू. "तथापि किमसमर्थस्यैव सहकारिविरहः स्वरूपलाभानन्तरं कर्तुरेव वा सहकारिसमवधानमन्यथा वेति किं नियामकं इति चेत्"। इदमुच्यते—कुशूलस्थबीजस्याङ्कुरानुकूलः शिलाशकलाद्विशेषः कश्चिदस्ति न वा? न चेन्नियमेनैकत्र प्रवृत्तिः अन्यस्मान्निवृत्तिश्च तदर्थिनो न स्यात्। "परम्परयाऽङ्कुरप्रसवमर्थबीजक्षणजननादस्येवेति चेत्"। कदा पुनः परम्परयापि तथाभूतं करिष्यतीति। "तत्र सन्देह इति चेत्" स पुनः किमाकारः? किं सहकारिषु समवहितेष्वेपि करिष्यति न वेति, उतासमवहितेष्वपि तेषु करिष्यति न वेति, अथ यदा सहकारिसमवधानं तदैव करिष्यत्येव परं कदा तेषां समवधानमिति सन्देहः।

अब वस्तुओं के दो प्रकार के स्वभाव (ऊपर बताए गए ढंग से) मानकर भी क्षणिकत्व ही सिद्ध होता है यह दिखाने के लिए बौद्धों की ओर से एक नया तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है। वह यह है कि वस्तु की विलम्बकारिता सहकारियों के संकलित न होने कारण ही यदि है तो क्या यह नहीं माना जा सकता कि असमर्थ वस्तु ही सहकारियों से सहकृत नहीं होती, और जो वस्तु समर्थ या तत्काल कार्योत्पादनक्षम है उसके साथ सहकारि अनिवार्यतः जुड़ जाते हैं? (यहाँ 'समर्थ' का अर्थ 'कुर्वद्रूपत्व' या 'तत्कालकारित्वरूप धर्मयुक्त वस्तु' ऐसा लेना चाहिए।) इस सम्बन्ध में अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय किस आधार पर किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ही नैयायिक अपनी भूमिका के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से यह पूछते हैं कि खत्ती में पड़े बीज और एक पत्थर का टुकड़ा इनमें अंकुरोत्पादन के सम्बन्ध में कोई भेद है या नहीं? यदि दोनों ही एक समान अंकुरोनुत्पादक हों तो अंकुर की अपेक्षा करनेवाला व्यक्ति नियमतः बीज की प्राप्त्यर्थ प्रयत्नशील तथा पत्थर के प्रति उपेक्षावान् नहीं होगा। आप कह सकते हैं कि खत्ती में रखा बीज अकारि होने पर भी परम्परया अंकुरोत्पादक बीज की कारणता से युक्त है जिससे पत्थर की उपेक्षा कर उसीका परिग्रह किया जाता है। किन्तु इसपर प्रश्न उठेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यदि कोई बीज उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाय तो उससे अंकुरोत्पादक बीज की परम्परया भी उत्पत्ति की सम्भावना कैसे होगी ? किन्तु ऐसे बीज का भी अंकुर के लिए कोई संग्रह करे तो आश्चर्य नहीं; अतः यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि किस परिस्थिति में कोई बीज अंकुरोत्पादक बीज का कारण (क्षणिक बीजसन्तति के एक घटक के रूप में) होगा । यदि आप कहें कि यह बात सन्दिग्ध है तो पूछ सकते हैं कि बीज की पारम्परिक कारणता के सम्बन्ध में जो सन्देह है उसका क्या स्वरूप है ? इस सम्बन्ध में सम्भाव्य तीन प्रकार के सन्देह हैं: एक यह है कि सहकारियों के सन्निहित होने पर भी बीज अंकुरोत्पादन करेगा या नहीं ? दूसरा सन्देह यह होगा कि सहकारी सन्निहित न होने पर भी बीज से अंकुरोत्पत्ति होगी या नहीं ? तीसरे सन्देह का स्वरूप यह होगा कि सहकारी सन्निहित होने पर ही अंकुरोत्पत्ति होती (अवश्य) है किन्तु सहकारियों का सन्निधान तत्काल होगा या अन्य किसी समय घटित होगा ?

मू. न तावत्पूर्वः, सामान्यतः कारणत्वानवधारणे तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा कारणत्वानवधारणात् । नापि द्वितीयः, सहकारिणां तत्त्वावधारणे तस्यानवकाशात्, अवकाशे वा तेषां तत्वानवधारणात् । तृतीये तु सर्व एव तत्सन्तानान्तःपातिनो बीजक्षणाः समानशीलाः प्राप्नुवन्ति, यत्र तत्र सहकारिसमवधाने सति करणनियमात्, सर्वत्र च सहकारिसमवधानसम्भवात् ।

उक्त तीन में से पहले सन्देह के लिए अवसर नहीं है । बीज रूप से सभी बीजों की अंकुरकारणता ज्ञात हो जाने पर सहकारिसहकृत होते हुए भी बीज अंकुरोत्पादन करेगा या नहीं ऐसा संशय कोई नहीं कर सकता । दूसरे प्रकार के संशय के लिए भी कोई अवसर नहीं है । सहकारी कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित होते हैं यह बात ज्ञात हो जाने पर उसके बिना कार्य होगा या नहीं ऐसा सन्देह करने की गुंजाइश हो ही नहीं सकती । यदि कोई ऐसा सन्देह उठाता है तो उसे सहकारियों का स्वरूप ही अज्ञात है ऐसा मानना होगा । तीसरा सन्देह भी उत्पन्न नहीं हो सकता । क्षणिक बीजपरम्परा के अन्तर्गत सभी बीज एक समान ही होने के कारण उनमें से कोई भी अंकुरोत्पादन कर सकता है और उसके साथ सहकारियों का सन्निधान भी हो सकता है । अतः बीज रूप से ही (तत्कालकारिरूप से नहीं) बीज अंकुरोत्पादक सिद्ध होता है ।

मू. "समर्थ एव क्षणे क्षित्यादिसमवधानमिति चेत्" तात्किमसमर्थे सहकारिसमवधानमेव नास्ति, समवधाने सत्यपि वा तस्मान्न कार्यजन्म ? नाद्यः, शिलाशकलादावपि क्षितिसलिलतेजः पवनयोगदर्शनात् । द्वितीयः, शिलाशकला दिव कदाचित्सहकारिसाकल्यवतोऽपि बीजादङ्कुरानुत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीजपरम्परा के घटक सभी बीज एक जैसे ही अंकुरोत्पादक हैं इस बात का प्रतिवाद करते हुए बौद्ध कहते हैं अंकुरोत्पादक बीजव्यक्ति (जो क्षणिक है) के साथ ही सहकारी सन्निहित होते हैं, अन्य बीजव्यक्तियों के साथ नहीं। इस कथन का मतलब यह होगा कि या तो असमर्थ बीज के साथ सहकारियों का सन्निधान ही नहीं होता या सन्निधान होने पर भी ऐसे बीज से अंकुर पैदा नहीं होता। इनमें से पहला विकल्प इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि पत्थर जैसे असमर्थ पदार्थों के साथ भी अंकुरकारण मट्टी, पानी, वायु आदि का सहयोग घटित होता दिखाई देता है। दूसरा विकल्प भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि सहकारिओं के उपस्थित होने पर भी कार्य न हो पाता तो ऐसा भी सम्भव है कि सब सहकारियों से सहकृत (समर्थ) बीज भी अंकुरोत्पादन न कर पाये।

मू. "एवमपि स्यात्को दोष इति चेत्"। न तावदिदमुपलब्धम्। "आशङ्क्यत इति चेत्"। न, तत्समवधाने सत्यपि अकरणवत् तद्विरहेऽपि करणप्याशङ्क्येत। "आशङ्क्यतामिति चेत्"। तर्हि बीजविरहेप्याशङ्क्येत, तथा च सति साध्वी प्रत्यक्षानुपलम्भपरिशुद्धिः।

उक्त बात सम्भव क्यों न मानी जाय? सहकारियुक्त बीज के भी अनुत्पादक होने में क्या आपत्ति है? उत्तर है कि ऐसा होते कभी देखा नहीं गया है। फिर इस बात को संशयास्पद मानने में क्या हर्ज है? तब उत्तर यह होगा कि सहकारियों के होते बीज अपना कार्य यदि न करे तो उनके न होते भी वह कार्य कर सकता है। इस बात को भी संशयास्पद मान लें तो एक कदम आगे बढ़ कर यह भी संशयास्पद या सम्भाव्य माना जा सकता है कि बीज न होने पर भी अंकुर उत्पन्न हो। इन सम्भावभावनाओं के चलते अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य का कार्य-कारणभाव निश्चय के लिए कैसा प्रयोग किया जा सकेगा? (कारण की उपस्थिति में भी कभी कभी कार्य न हो और उसकी अनुपस्थिति में भी कार्य कदाचित् घटित हो तो अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य का कार्य-कारणभाव निर्धारणार्थ कोई उपयोग ही नहीं हो सकता।)

मू. "स्यादेतत्, न बीजादीनां परस्परसमवधानवतामेव कार्मकरणमङ्गीकृत्याशङ्क्यते येन समवधानानियमात्सर्वेषामेव तज्जातीयानामेकरसतानिश्चयः स्यात्. नापि यत्र तत्र समर्थोत्पत्तिमङ्गीकृत्य, येन विकलेभ्योऽपि कदाचित्कार्यजन्मसम्भावनायां प्रत्यक्षानुपलम्भविरोधः स्यात्,

पिछले परिच्छेदों में जिन सन्देहों की बात उठाई गई थी उनकी असम्भावना की स्वीकृति देते हुए एक अन्य सन्देह की सम्भाव्यता का अग्रिम परिच्छेद में निर्देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा रहा है। बौद्ध नैयायिकों के इस प्रतिवाद को स्वीकार कर लेते हैं कि बीज सन्तति के अन्तर्गत सभी बीज एक जैसे होने के कारण उनमें से कोई भी सहकारि सहकृत हो तो वह अंकुरोत्पादक होगा ही। किन्तु किसके साथ सहकारी संनिहित होंगे यह बात संशयास्पद है ऐसा जो विकल्प पहले उद्भावित किया गया था वह विचारार्ह नहीं है। बौद्ध यह भी मान लेते हैं कि सहकारियों की अनुपस्थिति में भी बीज को अंकुरोत्पादक मान लें तो सहकारिविरहित बीज भी अंकुरोत्पाद समर्थ मानना होगा यह सम्भावना स्वीकार कर ली जाए तो कारण-कार्य का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध खण्डित हो जाएगा।

मू. किं नाम, बीजादिषु समहितेष्ववान्तरजातिविशेषमाश्रित्यापि कार्यजन्म सम्भाव्यत इति "। न, दृष्टसमवधानमात्रेणैवोपपत्तौ तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्, कल्पना गौरवप्रसङ्गप्रतिहतत्वात्, अतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गात् विकल्पानुपपत्तेः, विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्चेति,

बीज सन्तानान्तर्गत कोई भी अंकुरोत्पादक बीज जिस परिस्थिति में अंकुर जनक है उस परिस्थिति के सम्बन्ध में सम्भाव्य जो सन्देह है उसका स्वरूप इस प्रकार है : बीज और उसके सहकारी संकलित हो जाने पर अंकुरोत्पत्ति जो घटित होती है उसका नियामक बीज सामान्यगत बीजत्व ही है या (उत्पादक बीजगत) 'कुर्वद्रूपत्व' (तत्काल कार्यकारित्व) ? नैयायिक इस पर कहते हैं कि सहकारि-सहित बीजगत बीजत्व को ही (जो प्रत्यक्षसिद्ध बीजवृत्ति धर्म है) बीजकारणता का नियामक मानना, एक कल्पित 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे धर्म को ऐसा नियामक मानने की अपेक्षा से, कहीं अधिक युक्तिसंगत है। प्रत्यक्षसिद्ध धर्म के स्थान में एक अप्रत्यक्ष धर्म की सत्ता को स्वीकार करना गौरवदोष का भी एक नमूना होता है। ऐसे धर्म की कल्पना के आधार पर इन्द्रियादिकों की प्रत्यक्षकारणता को भी अस्वीकृत कर दिया जा सकता है। 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे कारणविशेष से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानकर भी काम चलाया जा सकता है। (इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्यक्ष इन्द्रियों के बिना ही घटित होगा। किन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्ष के पूर्व उपस्थित होते हुए भी उससे सहकृत और प्रत्यक्ष के अव्यवहित-पूर्व विद्यमान प्रकाश को ही प्रत्यक्ष का कारण मान लें तो कोई कठिनाई नहीं होगी।) इसी प्रकार 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' ('शालि' धान को कहते हैं) जैसी अन्य जाति से सहचरित है या नहीं इस बात को लेकर (इसका आगे स्पष्टीकरण प्रस्तुत है) विवाद भी उत्पन्न हो सकता है। अन्तिम प्रतिवाद उक्त सन्देह के सम्बन्ध में यह है कि यदि बीजरूप से बीज कोई कार्य सम्पन्न न करे तो उसका अस्तित्व ही स्वीकारार्ह नहीं होगा। बौद्ध मत में अर्थक्रियाकारि को ही सत् माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीजत्व बीजगत किसी भी कारणता का नियामक न हो तो 'बीज' बीज ही नहीं रहेगा।

मू. तथा हि उत्पत्तेरारभ्य मुद्गरप्रहारपर्यन्तं घटस्तावज्जात्यन्तराक्रान्त एवानुभूयमानः क्रमवत्सहकारिवैचित्र्यात्कार्यकोटीः सरूपा विरूपाः करोति, तत्रैताव-तैव सर्वस्मिन्समञ्जसे अनुपलभ्यमानजातिकोटिकल्पना केन प्रमाणेन, केन वोपयोगेन, येन कल्पनागौरवप्रसङ्गदोषो न स्यात्। 'यो यदर्थं कल्प्यते तस्यान्यथा-सिद्धिरेव तस्याभाव' इति भवानेव आह इति।

पिछले परिच्छेद में संक्षेप में उद्भाषित दोषों का ('कुर्वद्रूपत्व' धर्म कल्पना के सम्बन्ध में) ग्रन्थकार अब स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है : उत्पत्ति के क्षण से लेकर लाठि आदि के आघात से टूट जाने तक मट्टी का बना घट घटत्व से अन्य किसी भी 'कुर्वद्रूपत्व' जैसी जाति से आक्रान्त हुए बिना ही भिन्न-भिन्न और क्रमिक सहकारियों के सन्निधान से विभिन्न कार्य सम्पन्न करता हुआ दृगोचर होता है। इन कार्यों की उत्पत्ति का सहकारिभेद के द्वारा ही स्पष्टीकरण यदि सम्भव हो तो अप्रत्यक्ष और विभिन्न 'कुर्वद्रूपत्व' जैसी जातियों की घट में (वृत्तिता की) कल्पना क्यों की जाए? ऐसा करने में क्या कल्पना-गौरव नहीं होता? बौद्धों ने ही तो एक अन्य प्रसंग में कहा है कि जिस प्रयोजन से किसी बात की कल्पना की जाती है वह प्रयोजन यदि अन्य प्रकार से सिद्ध हो जाए तो वह बात मानना आवश्यक नहीं है।

मू. दृष्टं च जातिभेदं तिरस्कृत्य स्वभावभेदकल्पनयैव कार्योत्पत्तौ सहकारिणोऽपि दृष्टत्वात्कथञ्चित्स्वीक्रियन्ते, अतीन्द्रियादिकल्पना तु विलीयेत मानाभावात्। विकल्पानुपपत्तेश्च।

बीजादि कारणों में प्रत्यक्षदृष्ट बीजत्वादि जो धर्म हैं उन्हें छोड़कर 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे अन्य काल्पनिक धर्मों के द्वारा इन कारणों की कारणता का निर्धारण किया जाए तो प्रत्यक्ष ज्ञानार्थ अतीन्द्रिय इन्द्रियों की कारणता का भी परित्याग कर देना पड़ेगा। इस ज्ञान के सहकारि कारणों में से किसी एक को 'कुर्वद्रूपत्व' या तत्कालकारित्व स्वरूप से प्रत्यक्ष का कारण मान लेने से भी काम चल सकता है। अन्य कार्यों की उत्पत्ति के प्रसंग में सहकारियों की उपस्थिति दृगोचर होती रहने के कारण उनकी कारणता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे कल्पित धर्म के सम्बन्ध में जो भी विकल्प सम्भाव्य हैं वे युक्तिसंगत नहीं हैं। यह बात अग्रिम परिच्छेद के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगी।

मू. स खलु जातिविशेषः शालित्वसंग्राहको वा स्यात्, तत्प्रतिक्षेपको वा? आद्ये कुशूलस्थस्यापि शालेः कथं न तद्रूपवत्त्वम्। द्वितीये त्वभिमतस्यापि शालेः कथं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्रूपवत्त्वम् । एवं शालित्वमपि तस्य सङ्ग्राहकं प्रतिक्षेपकं वा ? आद्येऽशालेरतत्त्वप्रसङ्गः, द्वितीये तु शालेरेवातत्त्वप्रसङ्गः ।

उपर्युक्त 'कुर्वद्रूपत्व' विषयक विकल्पों का अब स्पष्टीकरण किया जा रहा है। नैयायिक प्रश्न करते हैं कि यह 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' (धान का स्वभाव) व्यापक है या उससे असहचरित ? यदि व्यापक है तो खत्ती में पड़ा धान भी 'कुर्वद्रूप' या अंकुरकारी मानना होगा। इसके विपरीत यदि 'कुर्वद्रूपत्व' 'शालित्व' से असहचरित या उसका अपवारक हो तो सहकारियुक्त शालि भी कैसे 'कुर्वद्रूप' माना जा सकेगा ? इसी प्रकार, शालित्व भी 'कुर्वद्रूपत्व' का व्यापक या संग्राहक समझा जाए या उसका अपवारक ? इनमें से पहला विकल्प सही हो तो शालिभिन्न पदार्थ 'कुर्वद्रूप' नहीं होंगे। दूसरा विकल्प सही मानें तो स्वयं शालि ही कुर्वद्रूप नहीं हो पाएगा। यह चर्चा 'कुर्वद्रूपत्व' जैसा कोई धर्म या स्वभाव विचारार्ह नहीं है यह सिद्ध करने के लिए की जा रही है।

मू. "न च नोभयमपीति वाच्यम्" विरोधाविरोधयोः प्रकारान्तराभावात् । "व्यक्तिभेदेन सङ्ग्रहप्रतिक्षेपावपि न विरुद्धाविति चेत्" विलीनमिदानीं तदतज्जातीयताविरोधेन, परिदृश्यमानकतिपयव्यक्तिप्रतिक्षेपेऽपि मिथः क्वचित् तुरगविहगयोरपि सम्भेदसम्भवात् ।

उक्त आपत्ति पर बौद्ध प्रतिवाद करते हैं कि 'कुर्वद्रूपत्व' का शालित्व के साथ न विरोध है न व्याप्यव्यापकभाव ही। किन्तु यह कथन सही नहीं। दो धर्मों के बीच विरोध या अविरोध ऐसे दो प्रकार के सम्बन्धों में से कोई एक ही सम्बन्ध सम्भव है। कहा जा सकता है कि एक ही धर्म में भिन्न-भिन्न आधारों के सम्बन्ध से शालित्व जैसे धर्म का संग्राहकत्व तथा प्रतिक्षेपकत्व दोनों ही बातें हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, खेत में पड़े शालि में शालित्व तथा कुर्वद्रूपत्व का साहचर्य है किन्तु खत्ती में रखे शालि में इस प्रकार शालित्व होने पर भी कुर्वद्रूपत्व नहीं है। तथापि व्यक्तिभेद से परस्परविरोधी धर्मों का सामंजस्य सम्भव मान लिया जाए तो भिन्न-भिन्न जातियाँ और उनके भिन्न-भिन्न आधारों की अवधारणा छोड़ देनी पड़ेगी। तथा इसीलिए पक्षित्व, अश्वत्व जैसी जातियों के भी किन्हीं अज्ञात प्राणियों में सहचरित होने की भी सम्भावना स्वीकार की जा सकती है।

मू. यश्च यस्य जातिविशेषः सचेत्तं व्यभिचरेत् व्यभिचरेदपि शिंशपा पादपमविशेषात् तथा च गतं स्वभावहेतुना । "विपर्यये बाधकं विशेष इति चेत्" न, तस्येहापि सत्त्वात्, तदभावे स्वभावत्वानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा किं बाधकानुसरणव्यसनेनेति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछली बात ही अधिक स्पष्टता से इस परिच्छेद में प्रस्तुत की जा रही है। यदि किसी उपजाति की कोई उपजाति (जैसे 'कुर्वद्रूपत्व' शालित्व की उपजाति है) उस जाति से असहचरित भी रह सकती हो तो वृक्षत्व की उपजाति जो शिंशपात्व है वह ('शीसम' वृक्ष का स्वभाव) जो वृक्ष नहीं उसमें भी रहने लगेगी। इस प्रकार वस्तुस्वभाव भी बदलने लगें तो अनुमान के लिए स्वभावहेतु का प्रयोग अनुपयुक्त हो जाएगा। इस पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि शिंशपात्व वृक्षत्व से असहचरित रहे तो शिंशपा शिंशपा ही नहीं रह जाएगा। इस प्रकार के विपक्षबाधक तर्क से ही शिंशपा का वृक्षस्वभावत्व सिद्ध है। किन्तु इसी प्रकार 'कुर्वद्रूप' की भी शालिस्वभावता सिद्ध की जा सकती है। ऐसा सिद्ध करने के लिए तर्क यह है कि यदि कुर्वद्रूपत्व शालित्व सहचरित न हो तो शालि कुर्वद्रूप होगा ही नहीं। और यदि शालित्व व्यभिचारी होने पर भी शालि कुर्वद्रूप हो सकता हो तो किसी भी अनुमान के लिए विपक्षबाधक तर्क प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

मू.– विशेषस्य विशेषं प्रति प्रयोजकत्वाच्च। तथा हि कार्यगतमंकुरत्वं प्रति बीजत्वस्याप्रयोजकत्वेऽबीजादपि तदुत्पत्तिप्रसंगः। "बीजस्य विशेषः कथमबीजे भविष्यतीति चेत्" तर्हि शालेर्विशेषः कथमशालौ स्यादित्यशालेरंकुरानुत्पत्तिप्रसंगः। "अशालिवदबीजेऽप्यसौ भवतु विशेषः, तथापि बीजत्वैकार्थसमवेत एवासौ अंकुरं प्रति प्रयोजक इति चेत्"। न, शालित्वव्यभिचारे शालित्वैकार्थसमवायवद्बीजत्व-व्यभिचारे बीजत्वैकार्थसमवायेनापि नियन्तुमशक्यत्वात् अविशेषात्।

एक पिछले परिच्छेद में जिन चार आपत्तियों का निर्देश किया गया था उनमें से अन्तिम आपत्ति का इस परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा रहा है। बीजत्व को बीज का धर्म इसलिए माना जाता है कि बीज बीजरूप से अंकुरजनक है। यदि अंकुर की उत्पत्ति के लिए बीज की आवश्यकता न हो तो बीज भिन्न वस्तुओं से भी अंकुर की उत्पत्ति होने लगेगी। 'बीज का विशेष स्वभाव बीजान्य पदार्थ में कैसे रह सकता है?' ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उससे यह प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि शालि का विशेष स्वभाव भी शालिभिन्न पदार्थ में कहाँ रहता है? शालिभिन्न पदार्थों से अंकुरोत्पत्ति तो क्यों नहीं होती? वादी पुनः प्रश्न करता है कि अंकुर-कुर्वद्रूपत्व शालिभिन्न तथा बीजभिन्न पदार्थों में उपस्थित होने से शालित्व तथा बीजत्व व्यभिचारी (अर्थात् कहीं-कहीं इन धर्मों से असहकृत) भले ही हो किन्तु बीजत्व-सहकृत होकर ही वह अंकुरोत्पादकता का नियामक है ऐसा क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि शालित्व से व्यभिचरित होने के कारण बीजत्व भी अंकुरोत्पादकता का नियामक नहीं हो सकता। (बीजत्व सहकृत अंकुरो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्पादकता में बीजत्व यदि विशेषण हो तो वह अंकुरोत्पादप्रयोजक ही होगा। किन्तु यदि उसे उपलक्षण मानें तो वह अंकुरोत्पादकता का नियमन नहीं कर सकता। शालित्व को जो बात लागू होती है वही बीजत्व को भी लागू होगी।)

मू. तस्माद्यो यथाभूतो यथाभूतमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति तस्य तथाभूतस्यैव तथाभूते सामर्थ्यम्, तद्विशेषास्तु कार्यविशेषं प्रयोजयन्ति शाल्यादिवदिति युक्तमुत्पश्यामः।

उपसंहार के रूप में नैयायिक कहते हैं कि उक्त तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तु जिस रूप से किसी अन्य वस्तु के साथ अन्वय-व्यतिरेक (कार्यकारण भाव के आधारभूत) संबंध से संबद्ध होती है वह वस्तु उस अन्य वस्तु का कारण होती है। इसी प्रकार इस कारण के अवान्तर उदाहरण कार्य के अवान्तर उदाहरणों के साथ भी कार्यकारणभावापन्न होते हैं। जैसे शालि कारण का एक उदाहरण है; अतः वह अपने कार्यविशेष का जनक कहलाएगा।

मू. "कस्य पुनः प्रमाणस्यायं व्यापारकलाप इति चेत्" तदुत्पत्तिनिश्चयहेतोः प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकस्येति ब्रूमः। अथ न्यायेन विना न ते परितोषः, शृणु तमपि। तदा यदंकुरं यत्प्रयोजकं न तद्बीजजातीयं यथा शिलाशकलम्, अंकुरं प्रत्यप्रयोजकं च कुशूलनिहितं बीजमभ्युपेतं परैरिति व्यापकानुपलब्धिः प्रसंगहेतुः स्यादिति।

बीजगत बीजत्व ही अंकुरोत्पादकता नियामक है कुर्वद्रूपत्व नहीं यह बात किस प्रमाण से सिद्ध होती है यह प्रश्न यदि उक्त निष्कर्ष के सम्बन्ध में कोई पूछे तो उसका उत्तर यह है कि कार्य-कारणभाव (कार्य और कारण के बीच) जिस अन्वय-व्यतिरेक साहचर्य के द्वारा जाना जाता है उसी से उक्त बात भी सिद्ध हो सकती है। फिर भी, बौद्धसम्मत प्रसंग और विपर्यय तर्क के द्वारा ही इस बात की पुष्टि अपेक्षित हो तो ऐसे तर्क काफी सरलता से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। जैसे, 'जो अकुरोत्पत्ति के लिए अप्रयोजक है वह बीज जाति का पदार्थ नहीं हुआ करता। पत्थर के टुकड़े न बीज जाति के पदार्थ हैं और न अंकुरजनक ही। इसी प्रकार खत्ती में रखा बीज भी बौद्धों ने अंकुर के लिए अप्रयोजक माना है; अतः उसे बीज जाति का पदार्थ मानना भी उचित नहीं होगा।' उक्त प्रसंगानुमान में बीजत्व व्याप्य है और अंकुरप्रयोजकत्व व्यापक। खत्ती में रखे बीज में व्यापक अंकुरप्रयोजकत्व उपस्थित न होने से व्याप्य बीजत्व का भी अभाव उसमें होने की आपत्ति नैयायिक बौद्धमत के सम्बन्ध में उपस्थित कर रहे हैं।

मू. "विपर्यये किं बाधकमिति चेत्" अंकुरस्य जातिप्रतिनियमाकस्मिकप्रसंग इत्युक्तम्। "बीजत्वं तस्य प्रत्यक्षसिद्धमशक्यापह्नवमिति चेत्"। अस्तु तर्हि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपर्ययः—यद्बीजं तदंकुरं प्रति प्रयोजकं, यथान्त्यसामग्रीमध्यमध्यासीनं बीजम्, बीजं चेदं विवादास्पदमिति स्वभावहेतुः।

अंकुरप्रयोजक या अंकुर को (तत्काल) उत्पन्न न करनेवाली वस्तु भी बीज-जातीय क्यों न मानी जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में (या अंकुरप्रयोजकत्व बीजत्व व्यापक सम्भवतः न हो इस तर्क का) बाधक तर्क नैयायिक यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। वह इस प्रकार है :— यदि सभी बीज अंकुरप्रयोजक न हों तो बीजान्य वस्तु से भी अंकुर उत्पन्न होना चाहिए। इस पर कोई प्रतिवाद कर सकता है कि अंकुरोत्पादक वस्तु का बीज होना एक प्रत्यक्षसिद्ध बात है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रतिवादी के समाधान के लिए केवल तर्क का प्रयोग न कर, बीजमात्र को अंकुरप्रयोजक सिद्ध करने के लिए नैयायिक (बौद्धसम्मत) स्वभावानुमान प्रस्तुत करते हैं। अनुमान इस प्रकार है :— बीजमात्र ही अंकुरप्रयोजक है, जैसे सहकारि सामग्र्यान्तर्गत बीज; अतः खत्ती में पड़ा (विवादास्पद) बीज भी अंकुरप्रयोजक होना चाहिए।

मू. अंकुरस्य हि जाति प्रतिनियमो न तावन्निर्निमित्तः, सार्वत्रिकत्वप्रसंगात्। नाप्यन्यनिमित्तः तथाभूतस्यतस्याभावात्।

उपर्युक्त बात को ही विशद कर इस परिच्छेद में बतलाया जा रहा है। अंकुर बीज से ही उत्पन्न होता है, अन्य वस्तु से नहीं यह बात सकारण न होती तो कोई भी वस्तु अंकुर हो जाती। बीज से अन्य अंकुर का प्रयोजक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

मू. सेयं निमित्तवत्ता विपक्षान्निवर्तमाना स्वव्याप्यमादाय बीजप्रयोजकतायामेव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः।

पिछली बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि अंकुर की सकारणकता अंकुरेतर पदार्थ में अनुपस्थित होने के कारण उस धर्म के आधार पर अंकुर की बीज-कार्यता (जो सकारणकता का व्याप्य धर्म है) की सिद्धि की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि अंकुर सकारणक है और बीजान्यकारणक नहीं है ये दो बातें सिद्ध हो जाने पर अंकुर बीजकरण ही है। यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। और इस पर से यह व्याप्ति भी प्रस्थापित हो जाती है कि जो भी बीजजातीय वस्तु या बीज है वह अंकुरप्रयोजक है ही।

मू. अथवा कृतमङ्कुरग्रहेण, बीजस्वभावत्वं क्वचित्कार्ये प्रयोजकं न वा? न चेत् न तत्स्वभावं बीजम्, तेन रूपेण क्वचिदप्यनुपयोगात्। एवञ्च प्रत्यक्षसिद्धं बीजस्वभावत्वं नास्ति, सर्वप्रमाणागोचरो विशेषोऽस्तीति विशुद्धा बुद्धि। क्वचिदप्युपयोगे त्वेकस्य तेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपेण सर्वेषामविशेषः ताद्रूप्यात्, तथा च कथं किञ्चिदेव बीज स्वकार्यं कुर्यान्नापराणि। न च वस्तुमात्रं तत्कार्यम्, अबीजात्तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नापि बीजमात्रम्, अंकुरकारिणोऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाप्यङ्कुराद्यन्यतममात्रम्, प्रागपि तदुत्पत्तिप्रसंगात्।

अंकुर के लिए बीजरूप से बीज ही कारण है यह सिद्ध न कर भी दूसरे तरीके से यही बात सिद्ध की जा सकती है (ऐसा अब नैयायिक प्रतिवादी कह रहे हैं)। जैसे यह पूछ सकते हैं कि बीजस्वभावयुक्त बीज किसी कार्य के लिए प्रयोजक है या नहीं ? यदि नहीं तो बीज बीजस्वभाववाला ही नहीं होगा क्योंकि इस स्वभाव का किसी कार्य के उत्पादन में कोई उपयोग नहीं है। यदि इसपर यह प्रत्युत्तर दिया जाय कि बीजस्वभाव (या बीजत्व) के स्थान पर 'कुर्वद्रूपत्व' ही अंकुरप्रयोजक है (अतः वही वास्तविक बीज-स्वभाव मानना उपयुक्त है) तो आश्चर्य ही प्रकट करना होगा। सर्वप्रमाणासिद्ध 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे काल्पनिक धर्म को प्रत्यक्षसिद्ध बीजत्व के स्थान पर बीज का स्वभाव समझना एक विस्मयजनक ही बात है। बीजत्वरूप बीजस्वभाव का किसी-न-किसी कार्य में उपयोग हो सकता है ऐसा सोच कर यदि बीजत्व को बीजस्वभाव मान लें तो बीजत्व उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों प्रकार के बीजों में विद्यमान होने से सभी बीजों को कार्योत्पाद उपयोगी मानना होगा और तब उत्पादक, अनुत्पादक यह फर्क नहीं रह जायगा। बीज का कार्य कोई भी (अंकुरेतर) वस्तु भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि बीज न होने पर ये अन्य कार्य उत्पन्न ही नहीं होंगे। यदि कहें कि बीजत्वयुक्त बीज अन्य बीज (बीजसन्तान घटक) को ही उत्पन्न करता है तो अंकुरोत्पादक जो बीज-व्यक्ति है वह भी बीजत्व से युक्त होने से अन्य बीज को ही क्यों उत्पन्न नहीं करता ? यदि ऐसा हो तो कोई भी बीज केवल बीजसन्तती का ही उत्पादक होगा, अंकुर का नहीं। इसपर भी यह विकल्प सम्भव है कि बीजत्व कभी बीज की, कभी अंकुर की तो कभी बीजानुभव की उत्पत्ति का प्रयोजक होता है अतः बीज से कभी-कभी अंकुर उत्पन्न हो तो आश्चर्य नहीं। इस में आपत्ति यह है कि यदि बीज के ही ये तीनों कार्य हों तो सहकारि विरहित बीज से भी अंकुर उत्पन्न होना आवश्यक हो जाएगा। बीज से बीज (क्षणिक बीज परम्पराघटक बीज-व्यक्ति) उत्पन्न होने के लिए जैसे सहकारि-सन्निधान की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही उससे अंकुर उत्पन्न होने के लिए भी सहकारि-सन्निधान की जरूरत नहीं होगी। अतः (बीज के बदले) बीज से अंकुर भी पैदा होना आवश्यक हो जाएगा।

(क्रमशः)

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
नागपूर विश्वविद्यालय

—नारायणशास्त्री द्रविड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रियाएँ

लोक से हट कर चलने वालों को लोक मे चिपट कर चलने वालों की भों-भों, चिल्लाहट सुननी ही पड़ती है—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। मेरे निबन्ध को देखने से स्पष्ट है कि उसमें 'दर्शन' शब्द के मुख्य तथा गौण अर्थ देने का सन्दर्भ प्रमुख है। श्री. चन्द्रशेखर शुल्क ने भी श्री. सुधाकर दीक्षित की प्रतिक्रिया को विफल कह कर मुझे कुछ अतिरिक्त कहने का अवकाश ही नहीं रखा है। रही उनकी स्वमत की प्रतिक्रिया, सो उसके सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि मैं ही नहीं, वे भी लोकव्यवहार को शक्तिग्राहक-शिरोमणि मानते हैं—अतः उसके साक्ष्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदान्त केसरी— 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिपम्'—के लोकानुभव का ही साक्ष्य देकर आत्मसत्ता की अमोघ स्थापना करता है। यह लोकानुभव भी है, स्वानुभव भी है। यह सही है कि हर समय लोकप्रचलित अर्थ और शास्त्ररूढ अर्थ एक नहीं हो सकते, पर उनमें सर्वथा विरोध या भेद ही होता है यह भी आवश्यक नहीं। मैं जानना चाहता हूँ कि शास्त्रकारों की इस मान्यता के पीछे कौनसा तर्क है कि 'अनुभव' का प्रयोग परोक्ष तथा अपरोक्ष इन उभयविध ज्ञानों के लिए होना चाहिए—सिवा इसके कि वे ऐसा मानते आए हैं? और मानना भी निराधार होता है या साधार? भाषा के घटक शब्द लोकव्यवहार की मान्यता के मुखापेक्षी होते हैं, व्यक्ति उसे नहीं गढ़ सकता। लोकानुभव समर्थित स्वानुभव ही भाषा के क्षेत्र में प्रमाण है। भाषा व्यवहार से ही मिलती है, दिव्य लोक से उतर कर नहीं आती। दिव्यलोक की बात भी करें तो योगज पर प्रत्यक्षानुभव ही सही अनुभव है, शेष ऊपर प्रत्यक्षानुभव विकल्पात्मक है। प्रमाणान्तरों की सीमा का निर्धारण भी प्रत्यक्षानुभव ही करता है। भारतीय धारा में प्रत्यक्ष अनुभव का ही सर्वाधिक महत्व है—प्रमाणान्तर के बोध से नहीं, केवल प्रत्यक्षानुभव पर ही ऋषि ऋषि कहे जाते हैं। फलतः कोई भी मान्यता अपनी दृढ भूमि प्रत्यक्षानुभव (प्रमाण) को ही बनाती है और अनुभव प्रत्यक्ष के लिए जितना वजनदार है उतना अन्य के लिए नहीं। तार्किक लोग शास्त्र की वत्सतरी सामने न लाएँ—तर्क से बात करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द में शक्ति प्रयोग से ही आती है और प्रयोग न होने से जाती भी है। 'हन्' धातु का 'गमन' में बोधसामर्थ्य शास्त्रसिद्ध होने पर भी व्यवहार के अभाव में मर गया है। अनुभव शब्द 'टि' 'घु' की तरह केवल शास्त्रसिद्ध और गढ़ा हुआ नहीं है–वह व्यवहार और शास्त्र उभय-सम्मत प्रयोग है। मैं और पहले का अभी प्रमाणाभाव में तो नहीं कह सकता परन्तु श्री हर्ष तक तो यह निश्चित है कि अनुभव शब्द प्रत्यक्ष के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

—राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठीजी के निबन्ध पर काफी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त हुईं। जिन महानुभावों नें इस चर्चा में अपना योगदान दिया उनके हम ऋणी हैं। इस विषय की चर्चा विनम्रता के साथ पत्रिका के अग्रिम अंक से समाप्त कर दी जा रही है।

-कार्यकारी सम्पादक

○ ○

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षा

भाटिया, ओमप्रकाश 'अराज' (डॉ.); सत्यजः एक विचारकाव्य; एकता प्रकाशन; बी २– बी–३४, जनकपुरी, नई दिल्ली; पृ. ६४ डिमाई; सजिल्द; मूल्य १० रुपये

'सत्यज' डॉ. ओमप्रकाश भाटिया के द्वारा रचित एक विचार-काव्य है, जो अपने लघु कलेवर में एक सम्पूर्ण शाश्वत सत्य की खोज और उसकी स्थापना करता है। 'सत्यमेव जयते' का मूल-मन्त्र तो भारत का राष्ट्र-मन्त्र है। उसकी खोज और पुनर्स्थापना यहाँ के कवि को सहज ही प्रेरणा दे तो आश्चर्य क्या है? सत्य और उससे जन्म लेनेवाला उत्साह यदा-कदा राजस-तामस प्रवृत्तियों के बीच तिरोहित होता रहता है, किन्तु उसका अस्तित्व लुप्त नहीं होता, सत्य का सत्त्व अपराजेय है, स्थायी और शाश्वत है। इस देश के कवियों-रचनाकारों ने बार-बार उसकी पहचान कराने का प्रयत्न किया है। डॉ. भाटिया ने उसी पहचान को एक बार फिर उजागर करने का यत्न किया है। चूँकि यह प्रकाशन किसी-न-किसी परिस्थिति का सन्दर्भ खोजता है, मात्र अमूर्त भावनाओं के आधार पर उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, अतएव स्वाभाविक ही था कि इस काव्य में भी समकालीन परिस्थितियाँ रूपायित हों। रचनाकार ने बड़ी कुशलता से आपात्कालीन स्थितियों की भूमि पर अपने प्रतीकों को स्थापित किया है; परिणामतः अपने समकालिक सन्दर्भों से जुड़ते हुए भी वह सांकेतिकता के सहारे काव्य को तात्त्विक चिन्तन की ऊँचाई प्रदान कर सका है। अपनी इसी स्थिति के कारण न यह काव्य विवरणों में फँसता है, न त्वरित प्रतिक्रिया के रूप में आक्रोशी उदग्र मुद्रा अपनाता है और न ही भावुक भाव-प्रकाशन की विधियों का आश्रय लेता है। भाटिया चूँकि लिपि-विज्ञान के शोधकर्ता ही नहीं हैं, और उनकी यह रचना साहित्य की अन्यान्य विधाओं में रचित उनकी रचनाओं और काव्य-ग्रन्थों में पहली ही नहीं है, और वे हिन्दी के साथ ही पंजाबी में भी रचना के अभ्यस्त हैं, अतएव सामयिक परिवेश को ग्रहण करके भी उससे ऊपर उठकर तटस्थभाव से रचनाकर्म को निबाह ले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना, उनके लिए कठिन नहीं रहा है। उन्होंने कलात्मक रीति से जैसे इस काव्य में उठाये गये प्रश्न या इसकी चिन्तन-भूमिका को सनातन और शाश्वत प्रश्न और शाश्वत सत्य का रूप दिया है, वैसे ही इसके रूपविधान को भी इस वैचित्र्य के साथ प्रस्तुत किया है कि उसे गीत, अगीत, पद्य, अपद्य, मुक्तक या खण्डकाव्य, सब कुछ कहा भी जा सकता है और फिर भी इनमें से किसी एक नाम से ही उसकी पृथक् पहचान नहीं कराई जा सकती।

डॉ. भाटिया ने इस काव्य को कथा-काव्य का रूप नहीं दिया है, फिर भी इसमें एक अन्तर्निहित घटना-प्रसंग है जो इसे नितान्त अलग-अलग बटे १५ शीर्षकों की पृथकता के बीच भी एकसूत्रता प्रदान करता है और कथा-संकेत देता है। वह कथा-संकेत काव्य के मध्यभाग में प्राप्त होता है। उसके दोनों ओर सत्य के (अथवा सत्यज उत्साह के) अस्तित्व, उदय और विलय तथा शाश्वतता का वर्णन है। कहा जा सकता है कि उक्त-संकेत ही इसका केन्द्रीय भाग (प्रेरक तत्व) है, शेष उसे ही प्रतीक-पूर्णता तक पहुँचाने के लिए उपाय-साधन मात्र है। प्रतीक-धर्मिता को उभारने के लिए ही कवि महाभारत की अथवा उपनिषद् कथाओं का सहारा लेता है। 'उत्थान' से लेकर 'साक्षात्कार' तक की कथा उस राजा की कथा है जो सूर्य के समान तेजस्वी, प्रतापी और दूसरों को प्रकाश देनेवाला होना चाहिए था, किन्तु वही 'सूरज हो अन्ध अब / वंश भूल बैठा है।' 'धरती से दूर / बहुत ऊँचे पर / ऊ . ऊ . प र / आकाश में / स्वर्णिम सिंहासन पर / कृत्रिम व्यक्तित्व ओढ़ / सूरज आसीन है।' परिणामतः प्रशंसकों की भीड़, झूठी शान, बढ़ती लालसा, अवरोधहीन प्रचण्ड तेज (ताप) के कारण 'उसके दरबार में / बुद्धि नतमस्तक है / मौन है विवेक-मुख।' और 'सत्य हुआ / स्वर्णप्रासाद-मंजूषा में / रक्षित ज्यों कोष।' जैसे एक बार फिर इन्द्र का साम्राज्य स्थापित हो गया हो। परिणाम, आदर की अस्वीकृति, अशान्ति, क्रान्ति, पतन और तब आत्म-साक्षात्कार। सत्य तो राजा में प्रतिष्ठित रहता है, राजा ही उस सत्य का प्रतिनिधि है। प्रजा उसीका स्वागत करती है, जो सत्य को बनाये रखे, उसकी रक्षा कर सके। सत्य की इस कथा के माध्यम से डॉ. भाटिया ने शासक और प्रजातन्त्र के आपसी सम्बन्ध और प्रजा-शक्ति को भी रेखांकित कर दिया है। और इस सब की अभिव्यक्ति हुई है सहज, बोधगम्य भाषा में; यद्यपि कि उसमें काव्य-भाषा का कौशल विद्यमान है।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
— आनन्दप्रकाश दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१५. **डॉ. पी. आर्. भट**
मानव्य विद्या तथा सामाजिक शास्त्र विभाग
भारतीय तकनीकी संस्थान
बंबई–४०००७६

१६. **कु. मंगला चिचोरे**
१३४७, सदाशिव पेठ
पुणे–४११०३०

१७. **इन्दिरा प्रसाद**
द्वारा, श्री. **शम्भु शर्मा**, ॲडवोकेट
कदम कुआँ
पटना–३

साभार अभिस्वीकृति

१. वर्मा, दयानन्द : **जिन्दाबाद, मुर्दाबाद**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१ पृष्ठ ११६
२. नईन : **पथराई आँखें**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८०, पृष्ठ १११+२
३. सुबोधकुमार : **भगवान बाहुबली**; जैन तीर्थक्षेत्र कमिटी, राजगीर, १९८० पृष्ठ १९
४. मित्र विमल : **मिथुन लग्न**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृष्ठ १४८
५. श्रीवास्तव, प्रेमेन्द्र : **लोक से हटकर**; भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, १९८० पृष्ठ १४८
६. बक्षी रमेश : **शवासन**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८०, पृष्ठ ११२
७. गोस्वामी शरणकुमार : **सेतु**; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृष्ठ ११५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुणे विश्वविद्यालय
दर्शन विभाग

प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर–भारत जिला जलगाँव, (महाराष्ट्रराज्य)

भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर, अमलनेर प्रतिष्ठान की ओर से प्रकाशित एवम् फिलहाल उपलब्ध पुस्तकों की सूची

		किमत रु. पैसे
संस्कृत		
१. सिद्धान्त तत्त्वबिंदु	श्री. मधुसूदन सरस्वती	१०–००
२. अद्वैत तत्त्व प्रबोधिनी, प्रथम भाग	साधु शांतिनाथ	३–००
हिन्दी		
१. गीता परिशीलन	पं. रामावतार विद्याभास्कर	५-००
२. नारद भक्तिसूत्र	,,	४–००
३. तत्त्वज्ञान विषयक व्याख्यान (५१)	श्री. प्रताप सेठजी	४–००
४. तात्त्विक टिप्पणियाँ	,,	४–००
५. तत्वज्ञान विषयक लेख और व्याख्यान (१०१)	,,	४–००
मराठी		
१. नीतिशास्त्र विचार	वि. स. गोगटे	५–००
२. नैष्कर्म्यसिद्धि (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री सूरेश्वराचार्य (साधे)	८–००
	अनु. म. म. पं. श्रीधरशास्त्री पाठक (छापडी)	१०–००
३. सिद्धान्त तत्वबिंदू (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री मधुसूदन सरस्वती (साधे)	३–००
	अनु. म. म. पं. श्रीधरशास्त्री पाठक (छापडी)	४–००
४. जीवन्मुक्ति विवेक (मूळ संस्कृत व मराठी अनुवाद)	ले. श्री विद्यारण्य स्वामी	५–००
	अनु. म. म. पं. श्रीधरस्वामी पाठक	
५. अनंताशी साधर्म्य	श्री नरहर बाळकृष्ण जोशी	५–००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. हस्तामलक (ओवीबद्ध)	श्री एकनाथ महाराज (साधे)	३–००
	(छापडी)	४–५०
७. तत्वज्ञानावरील व्याख्याने (५१)	श्रीमंत प्रताप सेठजी	४–००
८. खाजगी टिपण वही भाग १ व २	,,	प्रत्येक भागास २ रुपये
९. ,,	,,	
१०. स–तत्वविचार श्री मलकानी यांचे Study of Reality चा मराठी अनु. दि. सा. नाईक		५–००
११. जगनमिथ्या की पुरुषो–तमरूप, भगवत्‌गीतेची गुरुकिल्ली	श्री प्रताप सेठजी	१–००
१२. तत्वज्ञान मंदिर त्रैमासिक जुने अंक		प्रत्येक अंकास ३ रुपये
१३. मानव धर्म सार	डॉ. भगवानदास	७–००

अंग्रेजी

		Price Rs. Ps.
1. Metaphysics of Advaita Vedanta	G. R. Malkani	25–00
2. K. C. Bhattacharya Memorial Volume Philosophical Essays	Distinguished writers	20–00
3. The subject as Freedom	K. C. Bhattacharya	10–00
4 Sri Pratapseth Diamond Jubilee Volume Part III, Philosophical Essays	Different writers	3–00
5. A Life Sketch of the Founder of the Indian Institute of philosophy and A Brief Account of the Advaitic system of Thought	G. R. Malkani	3–00
6. A study of Reality	G. R. Malkani	5–00
7. Reality and Value	,,	4–00
8. Metaphysics of Energy	,,	3–00
9. Problem of Nothing	,,	2–00
10. The problem of one and the man	,,	1–00

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. Reason and Its Limitations	,,	1–00
2. Sin and Bondage	,,	1–00
13. Sadhana	Sadhu Santinatha	5–00
14. A critical Examination of the non-Dualistic Philosophy (Vedanta)	,,	5–00
15. Sri Ramgita	M. W. Burway	7–00

Note : These Books being Rare Publications of the former famous "Indian Institute of Philosophy" Are sent only by V. P. P. without any Cash-Discount.

ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथ अब प्रायः अप्राप्य हैं। उनका मूल्य भी आज की पुस्तकों के मूल्य की तुलना में बहुत ही नगण्य है। अतः ग्राहकों को कीमत पर कमिशन नहीं दिया जा सकेगा। ग्रन्थ खरीदनेवाले लोगों से प्रार्थना है कि वे **निदेशक, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र**, अमलनेर–४२५४०१, ज़िला–जलगाँव (महाराष्ट्र राज्य) के साथ सम्पर्क करें। ग्रन्थ अग्रिम मूल्य भुगतान पर या व्ही. पी. से ही भेजे जाएँगे। पोस्टेज का खर्च ग्राहकों को देना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



...से प्राप्त संख्या ......53......
... दिनांक ....
19 SEP 1981

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष २ अंक ४
सितम्बर १९८१

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान के
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रि
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व ' तत्त्वज्ञान–मंदिर ' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ⌑ रमाकान्त सिनारी ⌑ विजय भारद्वाज ⌑ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ⌑ संगमलाल पांडे ⌑ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ❋ के. जे.शहा ❋ नारायणशास्त्री द्रविड ❋ के. सच्चिदा
मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फा
❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्याल
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११०
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भी
कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

❋ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया
सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शैवमत और सूफी मत : (कार्यरत केन्द्रीय संवेदना)

सूफीमत का विवेचन करते हुए कतिपय विवेचकों की दृष्टि शांकर अद्वैत वेदान्त की ओर आती है और कुछ की नव प्लोटानिक मत की और। कभी कभी विशिष्टाद्वैत जैसे वेदान्त की अन्य शाखाओं की ओर भी विद्वानों का संकेत मिलता है। कविराज पं. गोपीनाथ जी ने इसीलिए कहा है कि सूफीमत का सादृश्य कश्मीरी प्रत्यभिज्ञामत त्रिपुरा सिद्धान्त तथा गौड़ीय वैष्णव मत से अधिक दिखाई पड़ता है जिसकी ओर अभी किसी का ध्यान नहीं गया है–जाना चाहिए। वैसे अद्वैत वेदान्त (शंकर सम्मत) के संदर्भ में जिन विवेचकों ने देखा भी है–उन्हें कभी–कभी अड़चन भी महसूस हुई है। रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि इस दर्शन का आद्योपान्त व्यवस्थित निर्वाह जायसी के लिए दुष्कर तया जटिल था। पं. चन्द्रवली जी की भी धारणा है कि सूफी मत अविकल वैसा ही सब कुछ नहीं कहता–जैसा शांकर वेदान्त प्रतिपादित करता है, फिर भी अनेक मुसलिम मनीषियों ने भी अद्वैतवेदान्त के संदर्भ में इसे रखकर देता है। अस्तु।

सूफी मत 'इस्लाम' का रहस्यवादी पक्ष है, जिसका मूल स्वर 'अनहलक' का है–जीवात्मा से परमात्मा के भेद के निषेध या एकीकरण का है। इस्लाम के आचार-प्रधान धार्मिक रूप से इसका बहिरंगतः संवाद न होने से कभी तो इसे बाह्य प्रभाव के रूप में आकलित किया गया और कभी कुरान को आधार बनाकर तदनुरूप व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। ? ये व्याख्यान पैगम्बर मुहम्मद के शतकों बाद आरंभ हुए। इन तमाम बातों को दृष्टिगत कर संप्रति यह परीक्षणीय है कि सूफीमत और शैवमत किन किन बिंदुओं पर मिलते से लगते हैं। दोनों की विचार सारणियों को देखने से तीन ऐसे क्षेत्र बनते हैं–जिनको केन्द्र में रखकर यह संकलित पक्ष निरूपित हो सकता है। ये क्षेत्र हैं–(१) परमसत्ता (२) उसका विश्वात्मक अवतरण (३) तथा पुनः परमसत्ता से एक हो जाना।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष २, अङ्क ४, सितंबर, १९८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) परमसत्ता:-

कुरान में 'परमसत्ता' के सन्दर्भ में एक शब्द आता है 'तौहीद' इसकी अनेकविध व्याख्याएँ की गई हैं। 'कुरान' की व्यंजना और सूफी रहस्यदर्शियों के रहस्यमय उद्गारों के साक्ष्य पर कभी तो इसे 'एकेश्वरवाद' परक बताया गया है और कभी अद्वैतवाद परक। सूफियों में तौहीद का अर्थ या आशय यह है कि खुदा के सिवा कोई और वस्तु संसार में है ही नहीं या यह कि जो वस्तु विद्यमान है वही खुदा है। वह 'हस्तिए मुतलक' है, अद्वैत है, एक है, उससे भिन्न कुछ नहीं। कविराज जी का विचार है कि सूफियों में परमसत्ता के स्वरूप के विषय में तीन सिद्धान्तों का परिचय मिलता है : (क) एकमत मानता है कि वह चिन्मयी इच्छा शक्तिस्वरूप है, जगत् उसी का परिच्छिन्न विकास है। ये लोग परमसत्ता के साक्षात्कार में कर्म को महत्व देते हैं और कर्म से उनका आशय उसके संसर्ग की तीव्र आकाङ्क्षा है। (ख) दूसरा मत यह है कि परतत्व विज्ञान या ज्योतिःस्वरूप है। यद्यपि वह अभिन्न और एक है तथापि उसमें वैचित्र्य-संपादक भेदप्रतिनिधिभाव की सत्ता है। इशराकी मतानुसार मूल ज्योति चिन्मय है अन्य सभी देवता उसी की रश्मियाँ हैं। तन्त्रवाद के अनुसार इन रश्मियों को ही मातृका, वर्ण, कला तथा शक्ति आदि नामों से जाना जाता है। इन्हीं का बहिर्विकास सृष्टि तथा अंतःसंकोच प्रलय है। (ग) तीसरा मत यह है कि वह तत्त्व एक और नित्यसौंदर्यस्वरूप है। मीर सय्यदशरीफ ने स्वीकार किया है कि सूफियों में इस आशय का एक हदीस प्रचलित है। वह है-कुन्तो कुनजन् भरवफीमन् फाहववतो अन ओरिफौ फरबलकतुलखल्क '- अर्थात् मैं एक धिसा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें' वास्तव में चिरसुंदर का स्वभाव यह है कि वह अपने भान में विभोर होकर विश्वदर्पण में अपने स्वरूप को निरन्तर देखता रहता है- अतः इस दृष्टि से जगत् प्रतिबिम्ब मात्र है, परिणाम नहीं। अर्थात् सौंदर्य का आत्मप्रकाश ही सृष्टि का कारण है। सूफी लोग नररूप में इसी की पराकाष्ठा देखते हैं। मजाजी इश्क का सोपान ऐसी सुन्दर नर मूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा ही है। मूर्ति किशोरा- वस्था की हो तो रसस्फूर्ति में वह अधिक सहायक होती है। इन तीन मतों में से अन्तिममत भारत वर्ष में भी खूब प्रचलित रहा है-यद्यपि अद्वैत की गन्ध तीनों में समान रूप से व्याप्त है।

केवल 'अद्वैत' कह देने से कोई बात साफ नहीं होती। भारतवर्ष में 'अद्वैत' के कई रूप प्रचलित हैं-शून्याद्वैत, विज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत, शाकाद्वैत, ईश्वराद्वयवाद तथा शंकर सम्मत शून्यब्रह्मवाद। प्रथम दो बौद्ध, तृतीय वैयाकरण, चतुर्थ शाक्त, पंचम कश्मीरी शैव तथा अन्तिम शांकर अद्वैत है। यहाँ चूंकि विकल्प दो ही का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है–शांकर अद्वैत तथा शिवाद्वैत–अतः इनका अन्तर स्पष्ट कर लिया जाय ताकि यह निरूपित किया जा सके कि सूफीमत का साम्य किस प्रकार के अद्वैत से है ? शांकर अद्वैत निर्विशेष स्वातंत्र्यशक्ति शून्य है–वह केवल बोधमय है, सजातीय विजातीय स्वगतरूप समस्त भेद से रहित है। शैवमत में अद्वैत का अर्थ है–एक में दो की समरस स्थिति। दो हैं-स्वातंत्र्य और बोध, विमर्श और प्रकाश, शक्ति और शक्तिमान। शंकर 'भेद' को अद्वैततत्त्व से भिन्न स्वभाव का मानते हैं–अतः अनादि–सिद्ध अज्ञान या अनिर्वचनीया माया का परिणाम मानकर ज्ञान निवर्त्य सिद्ध करते हैं। शैव 'भेद' को स्वरूप का प्रसार मानते हैं–अतः उसे ज्ञान निवर्त्य मानकर अद्वैत सिद्ध करने की अनिवार्यता अपेक्षित नहीं होती। शैवों के यहां कर्तृत्व स्वाभाविक है शंकर के यहाँ औपाधिक। शैवों का अद्वय निग्रह अनुग्रह की लीला का रसिक है, शंकर का ब्रह्म उदासीन है। शिवाद्वय में सृष्टि की इच्छा (स्वातन्त्र्यात्मा चिन्मयी) है, शंकर का ब्रह्म निरीह है। शिवाद्वय लीलार्थ स्वरूप विस्मृति करना है और विस्मारक अज्ञात मेघ की भी सूर्य की भाँति स्वयं सृष्टि कर लेना है। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां ही मेघ बनकर सूर्य को ढंक लेती है उसी प्रकार स्वातन्त्र्य-शक्ति से उद्भावित आणव अज्ञात स्वरूप को ढंक कर आलस्य विश्व का बहिःप्रसार करता है। प्रलय में समस्त विश्व शक्तिरूप से परमसत्ता में अवस्थित रहता है। शंकर मत में भेद स्वरूप से भिन्न है, शिवाद्वय में भेद स्वरूप का ही रूपान्तरण है। आगम मानता है कि चिरसुन्दर स्वातन्त्रेयरूपा चिन्मयी आत्मशक्ति के दर्पण मैं अपने को देखता है और बीजात्मन् स्वातन्त्रस्थ विश्व का अवभासन करता है। इस प्रकार शांकर अद्वैत तथा शिवाद्वय मैं पर्याप्त अन्तर है। इस आलोक में सूफियों का साम्य शांकर अद्वैत से नहीं, शिवाद्वय से है

शिवाद्वयवादियों की तरह सूफियों की परमसत्ता भी आत्मावलोकन के लिए सृष्टि करती है। परमसत्ता और विश्वनर सत्ता में समुद्र और तरंग की तरह रूपान्तरण का भेद है, तात्त्विक नहीं। इतना ही नहीं तरंग और समुद्र के बीच हवा का समावेश भी संभावित कर धागा और ग्रन्थि का दूसरा दृष्टान्त लेते हैं। एक के रूप में समझते जानेवाले तत्त्व को सूफियों ने 'जात' कहा है। इस 'जात का परिचय उसकी 'सिफत' में है। 'सिफत' जात की वह शक्ति है जिससे वह 'सृष्टि' की रचना करता है। सृष्टि की अनन्तरूपवाली समस्त सामग्री है–सिफत, जिसके द्वारा हम 'जात' की शक्तिमत्ता का परिचय प्राप्त करते हैं। इतना होते हुए भी सिफत जात से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफत' ही जात नहीं है। वह अनेकरूपों की संभावना होकर भी एक है। जात और सिफत का सन्बन्ध सूर्य और उसकी प्रभा की भाँति पुरुष और उसकी सुगंध की भाँति है। शांकर अद्वैत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मायाशक्ति है, पर वह परमसत्ता की निजा शक्ति नहीं है–इसीलिए वह भिन्न है जबकि सूफियों की 'सिफत' 'जात' से भिन्न नहीं है। "रहा आयु महं आयु समाना" की व्याख्या शांकर मत से संभव नहीं है। अथवा "विरिछ एक लागी हुई दारा। एकहिं ते नाना परकारा ॥"

शांकरवेदान्त के अनुसार इन पंक्तियों की व्याख्या अभिन्न निमित्तोपादानवाद के द्वारा खींचतान कर की जा सकती है, परन्तु आगमिक आलोक में बड़ी सहज। आचार्य शुक्ल स्वयम् इनकी व्याख्या विशिष्टाद्वैत परक कर गये हैं–शांकर अद्वैत के अनुरूप योजना संभव न हुई। संभव है उनका परिचय शैवमत से न रहा हो। संभव है विछि शब्द का प्रयोग देखकर उन्हें–'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' की याद आ गई हो। अन्यथा परमसत्ता आगमानुसार सिसृक्षा होते ही द्विदल हो जाती है। और तदनन्तर विस्तार आरंभ हो जाता है। शुक्लजी के शब्दों में–इसी प्रकार आगे चलकर इन्होंने

रहा जो एक जल गुपुत समुन्दा।
अरसा सहस्र अपारह बुन्दा ॥

चित्तत्त्व के समुद्र से असंख्य प्रकार के शरीरों के भीतर जीवविन्दुओं की वर्षा कराई है, वह शुद्ध वेदान्त के अपरिच्छिन्न चित्त के अनुकूल नहीं है–विशिष्टाद्वैती भावना से ही मेल खाती है। और भी देखें–

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु से कहा
सबै जगत् दरपन के लेखा। आपुहिं देखन आपुहि देखा।
आपुहिं बन और आपु परवेरू। आपुहिं सौजा आपु अहेरू।
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहिं भवर बास रस भूलै
आपुहि घर घर महं मुउचा है। आपुहिं दरपन रूप सरा है
दरपन बालक हाथ, मुख देखे, दूसर गनै
तस मा दुइ एक साथ, मुहम्मद एकै जानिए ॥

इन पंक्तियों में शिवाद्वैतवाद का प्रतिबिम्बवाद इतना सटीक उतरा है कि जिसकी व्याख्या अन्यथा की ही नहीं जा सकती। नट नानन्दनाथ चिद्वल्ली या काम-कला की टीका में ठीक महीवान कहते हैं–"जैसे एक सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर उस प्रतिबिम्ब को 'मैं' समझता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'में पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णाहंता है। इसी प्रकार परमशिव के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाङ्ग से पराशक्ति द्वारा स्वान्तःस्थ प्रपंच निर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। गौड़ीय मतानुसार चैतन्य चरितामृत में भी कहा गया है–

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
अलिंगिते मने उठे काम;

यही पूर्णाहंता का चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। चिर-सुन्दर में अपने को देखने की प्रबल इच्छा है। उक्त पंक्तियों की व्याख्या में शुक्ल जी कहते हैं–'आपुहिं आपु जो देखे चहा' का मतलब यह है कि अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार जब देखना चाहा। शांकर मत में सोपाधिक ब्रह्म ईशण करता है आगम में स्वयं निरूपहित परमसत्ता ही आत्मशक्ति से लीला का विस्तार चाहती है। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है, वही दर्शन भी है उससे पृथक् कुछ नहीं।

निष्कर्ष यह कि आगम-सम्मत चिच्छक्तिवाद को केन्द्र में रखकर ही सूफियों और विशेषकर जायसी की इन पंक्तियों की संगत व्याख्या की जा सकती है, शांकर मायावाद के आलोक में नहीं। 'जात' और 'सिफत' शक्ति और शक्तिमान ही है–जिनका अद्वय सूफियों को अभीष्ट है। शैवमत सम्मत यही है।

(ख) परमसत्ता का सृष्टि के रूप में अवतरण (तौहिद का तनज्जुल)

परमसत्ता की अभिव्यक्ति और सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सूफियों में तनज्जुल (अवतरण) का सिद्धान्त प्रचलित है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वरूप के सम्बन्ध में 'वहदतुलबुजूद' तथा 'वहदतुशशुहूद'। इस सिद्धान्त के द्वारा परमसत्ता की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है, जात (सत्ता) सिफत (गुण) रब (स्रष्टा) और अब्द (सृष्टि) का सम्बन्ध स्पष्ट करता है। इस सन्दर्भ में अवतरण की तीन अवस्थाओं और पांच स्थितियों का संकेत मिलता है। तीन अवस्थाए हैं–अलजा, वहदत तथा वाहिदियत। अहंदियत की अवस्था अनभिव्यक्त अवस्था है। अलंजान नामक अवस्था के भी आभ्यन्तर और बाह्य दो पक्ष हैं–अलअमा और अहदियत। अलअमा तो घनांधकार ही है और अहदियत अनाभिव्यक्त 'वहदत' नाम की अवस्था के भी दो पक्ष हैं–हूवीय्यत तथा अनीय्यत। वहदत की अवस्था आत्मबोध की अवस्था है–इसके प्रथम स्तर पर 'एक' (तत्त्व) का ही बोध होता है और दूसरे स्तर पर एक में ही अनेक संभावना के रूप में ज्ञात होता है। तृतीय अवस्था में परमसत्ता अपने को जगत्-प्रपंच रूप में व्यक्त करता है। यहाँ सत्ता जीवन में, प्रकाश अहम् में, तथा शक्ति इच्छा में परिणत हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. रामपूजन तिवारी ने तीन अवस्था के साथ पांच स्थितियों का भी सक्रम परिणमन स्पष्ट किया है । तनज्जुल में सत्ता की ये पांच स्थितियाँ हैं–विश्व प्रपंच की पांच अवस्थाओं से परे एक अवस्था है–आतममेना सूत अर्थात् विश्वातीतदशा। पांच स्थितियाँ और जगत् इस प्रकार है–

स्थिति १ हजरते अमा घनान्धकार = जगत् १ आलमे अमाने सावित (अपरिर्वातत जगत्)

२ गैबे मुजाफ (सापेक्ष अदृश्य = २ आलमे जवरुत ' ज्ञानविज्ञान और आत्माओं का जगत्)

३ आलमे मिसाल (सदृश दशा = आलमे मलकूत–देवलोक, मध्यवर्ती

४ आलमेशहादत (दृश्यमान = आलसे मुल्क–भौतिक जगत्)

५ आलमे इन्सान (मानवजगत्) वह समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर छिपाए हुए है । इसमें ' आलम मिसाल ' अभिव्यक्ति की वह स्थिति है जहाँ चिर-सुन्दर अपने सौंदर्य को देखने में विभोर रहता है– यह जाग्रदवस्था, फिर भी अनभिव्यक्त ।

सूफियों की परमसत्ता ही अपने को विश्वात्मक रूप में व्यक्त करती है–शांकरमत में मायोपहित ईश्वर में ही हरकतें सम्भव है–निरूपहित परमसत्ता सर्वथा उदासीन और निर्लिप्त है–सूफियों की परमसत्ता ही अपने से भीतरस्थित विश्वात्मक संभावनाओं को व्यक्त करती है । शांकर ईश्वर सृज्यमान प्राणिवैचित्र्य संपादक कर्म कलाप की अपेक्षा करके सृ्टि करता है । सूफियों की परमसत्ता अन्यनिरपेक्ष सब कुछ सम्पन्न करती है : आगम सम्मत परमसत्ता भी

निरुपादान संभारमिमत्ता वेदतन्वते ॥
जगच्चित्रं नमः तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

आगम भी मानता है कि अभिव्यक्ति की स्वामान्यतः तीन भूमियां हैं–अभेद भूमि ' भेदाभेद भूमि ' और ' भेद भूमि ' । प्रथम दो को शुद्ध जगत कहा गया है–कारण वहाँ एक तो अनात्म आत्मा में ही अनभिव्यक्त और एक रस रहता है या भेदाभेद की भूमि पर व्यक्त भी होता है तो आत्मा में अनात्मा । परमसत्ता में सिसृक्षा होते ही द्विदल भाव उच्छ्वसित हो उठता है–शिव और शक्ति आणवमल के बाद अर्थात् बोध में स्वातन्त्र्य का और स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव होते ही आणव अज्ञान द्वारा आत्मविस्मृति हो जाती है। मायीयमल के सक्रिय होते ही तृतीय अवस्था भेद की अवस्था आ जाती है जो अशुद्ध कही जाती है–इसमें अनात्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आत्मभाव का उदय होता है–विकृत अहंकार आ जाता है। तीन अवस्था और दो अध्यायों के बाद वर्ण, पदमंत्र, तथा कला, तत्त्व एवम् भुवन का बड़ा विस्तार है। सूफियों में भी ऐसा विस्तार और वैविध्य मिलता है।

यह तो रहा अभिव्यक्ति पक्ष। सृष्टि प्रक्रिया में प्रतिबिम्बवाद का भी एक पक्ष है। ऊपर कहा गया है कि सृष्टि के मूल में आनन्दोच्छ्वासित, सौन्दर्यमुग्ध परमसत्ता की आत्मप्रकाशनेच्छा ही है। छिपा हुआ वह खजाना अपने को प्रकट करना चाहता है, पर प्रकाश का प्रकाश बिना अंधकार के किस प्रकार सम्भव है–फ़लत: उस परमसत्ता ने अपने स्वातन्त्र्य पल से एक विराट अभाव या महाशून्य का आविर्भाव किया। इस अभावरूप दर्पण में भावमय का प्रतिबिम्ब पड़ा। वही अभाव प्रतिबिम्बित भाव ही विश्व है। इसीलिए संसार उभयात्मक और परिवर्तनशील है–इसमें भाव और अभाव दोनों का स्वभाव परिलक्षित होता है। मनुष्य इस प्रतिबिम्बात्मक विश्व की आँख है। परमात्मा अपने प्रतिबिम्ब में प्रकट होता है, पर अंशत: फलत: उसने अपना सही और पूर्ण प्रतिबिम्बरूप मानव को प्रकट किया, उसमें उसका पूर्ण प्रकाश हुआ। जिसको धरती और अन्तरिक्ष धारण नहीं कर सका, उसे मनुष्य के हृदय ने धारण किया। इस प्रतिबिम्बात्मक प्रक्रिया में सूर्य की जगह परमसत्ता, जल की जगह महाशून्य असत्ता, सत्ता का नकारात्मक रूप और प्रतिबिम्ब की जगह विश्व और मानव। 'कामकला विलास' और उसकी टीकाओं में इसी तरह की प्रतिबिम्वात्मक सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्राप्त होता है।

श्री चन्द्रवली पाण्डे ने ठीक कहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया में जो स्थान शंकर की माया को है, वही भक्तों के यहाँ 'शक्ति' को और सूफियों के यहाँ नूर को। कहा जाता है कि सिसृक्षा होने पर नूरे मुहम्मद की सृष्टि हुई। इस ज्योति पर वह मुग्ध हो गया। जायसी ने कहा है–

कीन्हैसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हैसि तेहि पिरीतकविलासू।

उसीके लिए सृष्टि की। मतलब यह कि सृष्टिक्रम के अनेकरूप मिलते हैं और विश्व विवरण का विस्तार भी। आगमसम्मत अवस्थाओं में सादृश्य स्पष्ट है।

मूसा के खुदा को सृष्टि बनाने में छः दिन लगे थे, पर अल्लाह ने सिर्फ 'कुन' कहकर एक क्षण में सारी सृष्टि खड़ी कर दी। सृष्टि का यह संकेत भारतीय आगमिक चिन्तन की शब्दसृष्टि से मेल खाता है। कहा गया है–वागेव सर्व भूतानि– शब्द से ही सृष्टि हुई। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी का सारा प्रपंच इसमें समाहित हो जाता है।

इस प्रकार तनज्जुल अर्थात अवतरण में तीन समानताएँ लक्षित की गईं–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) सुन्दर की आत्माभिव्यक्ति की इच्छा और अभाव में प्रतिबिम्ब होना।

(२) परसत्ता कई स्तरों को पार करती हुई पृथिवीतत्त्व तक परि होती है।

(३) शब्द से सृष्टि का क्रम।

(ग) परावर्तन या अवरोहण की प्रक्रिया:—

सृष्टिप्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मनुष्य भी विश्व का अंश है अतः उसमें भी भाव और अभाव दोनों का एक साथ समावेश है। अभावांश को दूर कर पूर्ण भावस्वरूप भगवत्स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही मनुष्य-जीव का उद्देश्य है। इस अभावांश को दूर करने के लिए 'अहं' भाव को दूर करना होगा। यह अहम् ही सब अनर्थों का मूल है। सूफी लोग कहते हैं कि जब एकमा वही सत्य है तब अभिमान किस बात का ?

खा खेलार जस है दुह करा। अहै रूप आदम अवतारा

क्रीड़ा की इच्छा होते ही वह द्विकल हो उठता है वही तो आदम का रूप है

हां हां कहत सबै मति खोई। जों तू, नाहि आहि सब कोई।

इस विकृत अहन्ता का शमन 'प्रेम' से ही संभव है। एक बार भाव-प्रेम उदित हो जाने पर सारा अभिमान गल जाता है– सारे अभाव मिट जाते चित्त चिद्विश्रान्त हो जाता है–अनलहक की स्थिति आ जाती है– सभी समाप्त हो जाते हैं–शक्ति और शक्तिमान एक हो जाते हैं (नसफ़ी 'मकसदी अकला' देखिए) जायसी ने इस दशा का संकेत देते हुए कहा–

सोहं सोहं वसि जो करई। सो बूझे जो धीरज धरई

मनुष्य पूर्ण का अंश है, आनंद की गोद में बैठा है, मिथ्या-विरह की चिन्ता मर रहा है।

सृष्टि क्रम में एक अनेक हुआ था। प्रत्यावर्तन में पुनः अनेक एक हो जा है। सूफ़ी सोचते हैं कि सृष्टि के विभिन्न पदार्थ भगवान् के एक या अनेक गु व्यक्त करते हैं, परन्तु मनुष्य उसके समस्त गुणों को व्यक्त करता है। एक प्रक से वह मानवरूप में क्षुद्र जगत् (आलमेशुदा) कहलाता है जो बाह्य समस्त वृह जगत् (आलमेकव्र) को धारण किए हुए है। परमात्मा के सभी गुण मनुष्य हृदय में प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिए मनुष्य के हृदय को जानने से परमात्मा जाना जा सकता है। इब्दुल अरबी ने इंसानल कामिल (पूर्णमानव) का सिद्धा प्रतिपादित किया है। मनुष्य का चरमोत्कर्ष पूर्णमानव है। परमात्मा तथा मनु के बीच की यह कड़ी है। परमात्मा उसी के द्वारा अपने आपको जानता है। पू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव साधना के द्वारा सूफी मार्ग की सभी मंजिलों को पार करता है–एकता की अनुभूति करता है।

कुरान में लिखा है 'भा खल् कत्तल इन्स व जिन्न इल्लाले आवहूत'– मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओं को सिवा इबादत के लिए। मतलब यह कि सृष्टि में ही साधना या उपासना का मर्म छिपा है। यह साधना दो प्रकार की है– सामान्य और विशिष्ट। पहला उसके लिए है जो संसार में जीवन व्यतीत करते हुए परमात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं–दूसरे वे हैं जो केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही संतोष करते हैं। पहले वर्ग के लोग 'विधि' 'निषेध' का निर्वाह करते हैं, दूसरे वर्ग के लोग जिक्र में ही रति मानते हैं। वह जिक्र दो प्रकार का है, एक वह जिसके उसके नाम और गुण से साधक का जीवन ओतप्रोत हो जाय और दूसरा वह ज़ो चिन्तन मनन परक है। पहले की इति अजपाजाप में है। एतदर्थ मुरीद को मुरशिद या पीर की शरण लेनी पड़ती है। पारमेश्वर अनुग्रह और गुरुदीक्षा ही नहीं, साधक को और से उपाय भी करना पड़ता है। इस क्रम में महत्वपूर्ण प्रक्रिया है तबज्जह (ध्यान) की। मुर्शिद मुरीद को सामने बिठाकर शक्ति संचार करता है (२) चिश्तियावंशवाले जिक्रजेहर की गोपनीय पद्धति का उल्लेख करते हैं। इसे तहज़्जुद के बाद ही व्यक्त किया जाता है (३) जिक्रे पासे अनाफास=श्वास प्रश्वास में जय करना (४) हब्जेदम विशेष कर चिश्ती और कादरी में प्रचलित है हठयोग प्राणायाम, (५ शगले नसीर=आसन मारकर नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करना (६) शगले महमूदा=त्रिकूटी पर सुरत को जमाना (७) सुलतानुल अजकार= साँस रोककर यथाशक्ति कुंभक पर जप (८) शगले सौते सरमदी–ईश्वर के नाम पर ध्यान रखकर आध्यात्मिक नाद सुनना (९) मुरातवा इस्मेजात–ईश्वर के नाम पर चित्त सकेन्द्रण। इससे चांचल्य नष्ट होता है। वास्तव में जितनी सांसें उतनी साधनाएँ हैं। 'विज्ञानभैरव' नामक तन्त्रग्रन्थ में इन सबका विस्तार मिलता है।

साधकों में कुछ तो विधि-निषेध में आस्था रखते हैं, पर कुछ प्रेम में इतने मग्न होते हैं कि इसकी परवा ही नहीं करते। साधना के क्षेत्र में सूफी मधुकरी वृत्ति रखते हैं–फलतःवाद के तसव्वुफ पर निर्भ्रान्त रूप में भारतीय साधना का प्रभाव माना जाता है। भारतीय योगसाधना का इन पर पर्याप्त प्रभाव है। नक्शबन्दी संप्रदाय के शेख अहमद ने एक सिद्धान्त का प्रचलन किया है जिसे 'लतायफीसित्ता' कहा जाता है–जो कुण्डलिनी–चक्रों जैसा है। इन्होंने शरीर में छह स्थानों का जिक्र किया है–जो एक दूसरे को घेरे हुए हैं।

(१) नफ्त (नाभि के नीचे (२) कल्ब–छाती के वाम भाग में (३) रूह-छाती के दक्षिण भाग में (४) सिरे–कल्व और रूहके बीच (५) खफी-ललाट में (६) अरफा-मस्तिष्क में स्थित है। इनके क्रम में कहीं कहीं व्यतिक्रम भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके रंग और देवता की कल्पना की गई है। साधक जैसे जैसे ऊपर चढ़ता जाता है–भिन्न भिन्न रंगों को देखता है। आखिरी मंजिल वह है जब संपूर्ण भाग से वर्णहीनता आ जाती है–यही फना की दशा है इसे 'आलेमे हैरत' कहा जाता है। परमात्मा से जिक्र और मुरादा से ये लतीफे जाग्रत हो सकते हैं; अंततः परमज्योति के दर्शन होते है। जायसी ने हठयोग की पर्याप्त चर्चा की है। उनका कहना है–

नवो खण्ड नव पौरी, ओ तहं वज़्र कैवार।
चारि बसेरे सो चक्रे, सतु, सौं उनरे पार।
'अखरावट' में भी कहा है–वांक चढ़ाव, सात खण्ड ऊंचा।
चारि बसेरे जाइ पहूँचा।

'अखरावट' में सातखण्डों का जो उल्लेख हुआ है वह हठयोगियों से कुछ भिन्न है। पाण्डेजी चारबसेरे का अर्थ शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत करते हैं। शरीअत में रोजा, नमाज, जकात और हज का समान स्थान है। रोजा और नमाज सोम और सलग्न है। तौहीद साध्य है–जाइ समाइ जोति भहं जोती'। सभी साधनाएं इसी के लिए होती हैं। सच्ची साधना इसी के लिए होती है–पीरी मुरीदी वहीं से शुरू होती है। सभी एक मत से तरीकत के कायल है, जिसमें जिक्र, फिक्र और समा का समावेश है--जायसी कहते हैं—

जेइ पावा गुरुमीठ सो सुख नारंग मठ चूलै।
सुख अनन्द मा ठीठ, मुहमद साथी पौढ़ जैहि (अखरावट)

प्रौढ़ निर्देशन में वाक चढ़ाव सरल हो जाता है। रास्ते में शैतान अवश्य मिलता है–जब तक हकीकत न मिल जाय, तब तक निर्देशक का साथ नहीं छोड़ता है। एक के बात मारिफत की स्थिति आने तक अनुष्ठान की धारा चलनी चाहिए। मारिफ की प्राप्ति से शैतान की दाल नहीं गलती। इस स्थिति में आ जाने पर उसे यह बोध हो जाता है कि उसका साध्य तो उसी में था बल्कि वह खुद ही वह था। अब वह अनलहक की स्थिति में होगा सच्चा तौहीद का आनन्द लेगा। पर इसके बाद भी लोकाचार नहीं छोड़ेगा।

"परमट लोक चार कडुवाता। गुपुत प्रेम मन जासो राता"

संतुलित साधक यही कहता है। इस्लाम का भक्त न होकर जो केवल प्रेम का दीवाना है-वह लोकाचार की परखा नहीं करता। मुल्ला और काजी उसे जिन्दीक कहते हैं।

इस प्रकार साधन पक्ष से भी देखने पर शैवों की भांति एक तो पारमेश्वर शक्तिपात, गुरुदीक्षा तथा उपाय का संकेत है, दूसरे आरम्भ में चर्चित तीन मतों से अनमाय, शांभव, शाक्त तथा आणव उपायों का उल्लेख है, तीसरे चक्र और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुण्डलिनी का भी संकेत है, चौथे जिक्र के भेदों में अनाहत श्रवण की बात है, पांचवे पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद की झलक है, छे अंतर्मार्ग की प्रमुखता है। आध्यात्मिक चढ़ाव की विभिन्न मंजिलें हैं—सातवा साम्य साधना के क्षेत्र में ऐसे ही अनेक विध साम्य मिलते हैं।

इस प्रकार यहाँ 'तौहीद' से तनन्ज्जुल 'कर 'तौहीद' तक ही पहुँचना है और तीनों बिन्दुओं पर अनेक समानताएँ मिलती हैं।

जहाँ तक शैवों से मिलती जुलती इस सूफीधारा की कार्यरत केन्द्रीय भावना का सम्बन्ध है रागतत्व है वह। जायसी का जहां तक सम्बन्ध है वे एक संतुलित सर्जक हैं। वे उन लोगों में हैं जो लोकाचार की उपेक्षा नहीं, अपेक्षा से चलते हैं। रागतत्व को व्यक्ति से विश्व और विश्व से विश्वातीत तक प्रसृत करते हैं। इस निष्कामकर्म तथा राग साधना से, जो जिक्र और मुखवत से सम्पन्न होती है—नफ़रत ध्वस्त हो जाता है और सत्तावस्थ-कल्प के माध्यम से तौहीद की अनुभूति में साधक डूब जाता है। मानवजीवन में संतुलन और व्यवस्था बनाए रखने का यही मार्ग है। इस धारा का केन्द्रीय संवेदन यही है।

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

—राममूर्ति त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य और जगत्

'मनुष्य और जगत्' पद में योजक प्रत्यय मुख्य रूप से भेद-सम्बन्ध का वाचक है। परन्तु यह भेद विपरीतता या विरोध-रूप नहीं है। तब यह कैसा भेद-सम्बन्ध है, यह हम देखेंगे, पर अभी यहाँ देखने लायक बात यह है कि इनमें भेद-सम्बन्ध है : मनुष्य जगत् नहीं है, उसका अंश भी नहीं है; किन्तु इनमें विरोध नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वैसे तो मनुष्य जगत् में ही है, जैसे पेड़-पौधे हैं और पशु हैं, बल्कि जैसे नदियां-पहाड़ भी हैं। अब ये जगत् में उसके अंश के रूप में हैं, इनके वाचक शब्दों के साथ और 'जगत्' शब्द के साथ योजक प्रत्यय नहीं लगाया जा सकता। तब, यदि मनुष्य जगत् में है पर पशुओं-पौधों की तरह नहीं है, तो फिर इनमें क्या भेद है? कुछ दार्शनिकों ने तो मनुष्य में और जगत् में विरोध-सम्बन्ध भी देखा है— सार्त्र के मनुष्य का स्वरूप जगत् के निषेध पर प्रतिष्ठित है, शाङ्कर और बौद्ध दर्शन में हालांकि मनुष्य जगत् के निषेध पर प्रतिष्ठित नहीं है किन्तु इनके अनुसार भी इनमें एक प्रकार का विरोध तो है ही। उनमें क्रमशः युष्मद् को और प्रतीत्यसमुत्पाद को, जो जगत् के पर्याय प्रत्यय ही हैं, दुःख और अविद्या के रूप में ही देखा गया है। इस तरह यह मानकर तो नहीं चला जा सकता कि मनुष्य और जगत् में सम्बन्ध विरोध का नहीं है; केवल इतना ही स्पष्ट है कि इनमें अभेद या अङ्ग-अङ्गी भाव सम्बन्ध नहीं है, कम-से-कम यदि इस पद में 'और' शब्द का प्रयोग उचित माना जाय तो। पर यह भी पहले से ही क्यों मान लिया जाय कि यह प्रयोग उचित ही है, सम्भव है यह प्रयोग अनुचित ही हो और मनुष्य और जगत् में वास्तव में अभेद-सम्बन्ध ही हो। कुछ दार्शनिकों ने इनमें अभेद-सम्बन्ध भी माना है। परन्तु यह बहुत ही मजेदार बात है कि इनमें ज्यादातर दार्शनिकों ने जगत् को मनुष्य के अन्तर्गत माना है, और कुछ थोड़े से ही दार्शनिकों ने मनुष्य को जगत् का अङ्ग माना है। उदाहरण के लिए विज्ञानवादियों और शून्यवादियों और जर्मन प्रत्ययवादियों ने जगत् को मनुष्य के अन्तर्गत ही माना है। एक तरह से तो सार्त्र ने भी जगत् को मनुष्य का प्रोजेक्ट ही माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसके निषेध की अभिव्यक्ति । उसके अनुसार दूसरी सत्ता– बींग इन इट्सैल्फ– जगत् नहीं है, वह केवल जड़ तत्त्व है, अपने-आप में पूरा और स्थिर । सार्त्र जगत् को उस चेतना का प्रोजेक्ट कहता है जो इस "इन-इट्सैल्फ" के सामने निषेध के रूप में खड़ी होती है । यहाँ मैं ऊर्णनाभ की या जादूगर की भारतीय कल्पना का उल्लेख इसलिए नहीं कर रही हूँ क्योंकि इनमें ऊर्णनाभ या जादूगर मनुष्य नहीं होकर परमात्म-चैतन्य है, मानव-चैतन्य नहीं । पर तब कहा जा सकता है कि शाङ्कर का अस्मत् और नागार्जुन का शून्य, या वसुबन्धु का बुद्ध भी, मानव-चैतन्य नहीं है, वह परम चैतन्य ही है, इसलिए इनमें जगत् और मनुष्य में विरोध सम्बन्ध भी नहीं है । वास्तव में शङ्कर का 'अस्मत्' तो मानव-चैतन्य ही है, परमात्म-चैतन्य नहीं, शून्य और बुद्ध अवश्य मानव-चैतन्य नहीं हैं । बौद्धों में वह स्थान, अर्थात मनुष्य का स्थान, संस्कार-प्रवाहमूलक चेतना का है, यद्यपि सार्त्र के प्रोजेक्ट में और शङ्कर के युष्मत् तथा बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद में बहुत फरक है । परन्तु ये तीनों इस बात में समान हैं कि इनके लिए जगत् चेतना का जगद्भाव है, अर्थात् चेतना के जगद्भाव के बिना जगत् का और कोई अस्तित्व नहीं है । यहाँ दिङ्नाग और कांट की याद भी की जा सकती है, जिनके अनुसार जगत् मनुष्य की चेतना में निहित विषयों के आकारों या विकल्पों की ही बाहरी विद्यमानता है । यों बाहर-भीतर शब्द भी वास्तविकता को नहीं बताते, क्योंकि उनके अनुसार बाहर-भीतर देश में होता है और देश स्वयं एक आकार है ।

पर जगत् को इस तरह जगद्भाव कहने में क्या साफ ऐसा नहीं लगता जैसे अनुभव के विरुद्ध जाया जा रहा है ? हम अपने को किसी स्थान पर स्थित अनुभव करते हैं और उस स्थान से इधर-उधर कुछ चीज़ों को चारों तरफ फैले देखते हैं, और इन चीज़ों के और अपने बीच, तथा अपने ओर इन चीज़ों के आगे दूर तक, एक फैलाव, एक विस्तार, देखते हैं । इसी तरह, जिन चीज़ों को हम देखते हैं उनके बारे में सहज रूप से ही यह भी मानते हैं कि ये हमारे देखने से पहले से ही यहाँ या दूसरी जगह थीं और आगे भी बहुत देर तक रहेंगी । सन्देहवादी दार्शनिक की जेब से यदि पैसे गायब हो जाएँ तो वह यह कभी मानने को तैयार नहीं होगा कि, द्रव्य की सत्ता नहीं होने से, पैसों की कोई स्थायिता हो नहीं सकती और इस तरह इसका कोई सवाल ही नहीं है कि किसीने उसके पैसे चुरा लिये । इस तरह जगत् की सत्यता सहज-सिद्ध है, दर्शन इसको झुठलाता है तो वह अपनी अविश्वस-नीयता ही प्रकट करता है, जगत् को उसके निषेध से कोई फरक नहीं पड़ता । आखिर ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या कहनेवाले वेदान्ती किसीसे कम खाना नहीं खाते, और यदि वे खाना नहीं खाएँ तो जगत् अपने नियमों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं करता कि वेदान्ती बिना खाये ही मोटा होता चला जाए । तब, जगत् चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जगद्भाव है, निरपेक्ष सत् नहीं, इसका क्या अर्थ हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम भौतिक विज्ञान से सहायता लेने का प्रयत्न करें, क्योंकि वह जगत् के सम्बन्ध में प्रामाणिक सत्य बताने का दावा करता है। किन्तु वह हमें क्या बताता है ? एक जर्मन दार्शनिक लिओनार्द नेल्सन विज्ञान द्वारा जगत् के ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहता है, "प्रकृति का वैज्ञानिक ज्ञान ऐन्द्रिय अनुभव से आरम्भ होता है– अर्थात इन्द्रियों के सम्मुख प्रस्तुत विषयों को देखने से। किन्तु वह केवल विभिन्न तथ्यों की सूची बनाने से सन्तुष्ट नहीं रहता। यह तथ्यों और घटनाओं के बीच गहरे सम्बन्धों को खोजने का प्रयत्न करता है, क्योंकि हमारे ज्ञान की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार में जो प्रयत्न रहता है, वह है विविधता में एकता का सूत्र खोज निकालना। .. यह (एकतासूत्र) हमें केवल नियमों (लॉज) में उपलब्ध होता है जो कि व्यष्टिमूलक तथ्यों को एक अनिवार्य सम्बन्ध में बांधता है।"[१] इसका क्या अर्थ है ? क्या व्यष्टि-तथ्यों के समान अनिवार्य सम्बन्ध भी जगत् में हैं ? इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है ? "यह पुस्तक उस पुस्तक के दायें है" में पुस्तकों के होने की बात की गई है और इनमें सम्बन्ध की बात कही गई है। किन्तु इस सम्बन्ध का पुस्तकों के समान अस्तित्व प्रायः कोई नहीं मानता।[२] इसीसे वैज्ञानिक जिन सम्बन्धों की खोज करता है उनको इस तरह के सम्बन्धों से अलग करने के लिए नेल्सन ने "अनिवार्य" और "गम्भीर" कहा है। किन्तु तब क्या वस्तुएँ और सम्बन्ध दोनों जगत् में हैं ? वास्तव में नियमों की प्रत्येक खोज विशेष या व्यष्टि को नियमों के एक उदाहरण के रूप में देखती है। परिणामतः नेल्सन आगे कहता है कि "प्रकृति (जगत्) में वस्तुओं का अस्तित्व वहाँ तक ही है ज़हाँ तक कि वे सार्वभौम और अनिवार्य नियमों से निर्धारित होती हैं।"[३] किन्तु तब क्या यह माना जाय कि सार्वभौम नियम वस्तु-सत् हैं या कि यह माना जाय कि विज्ञान वस्तु-सत् का ज्ञान नहीं देता ? बहुत कम लोग हैं जो यह मानते हैं कि सत्ता वस्तुओं की नहीं बल्कि नियमों की है। नेल्सन ऐसा माननेवालों में नहीं हैं, वे कांट के अनुसार कहते हैं कि "जो वस्तुएँ हमारे जानने के ढङ्ग से अलग अस्तित्ववान् हैं उन्हें हम "स्वलक्षण वस्तुएँ" कहते हैं। इसलिए स्वलक्षण वस्तु कभी वैज्ञानिक ज्ञान की विषय नहीं हो सकती।"[४]

हमारे यहाँ बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं, बहुत कुछ शङ्कर भी ऐसा ही मानते हैं। जो भी हो, कम-से-कम वैज्ञानिकों की साधारण रूप से मान्यता यह है कि विशिष्ट वस्तुओं का ही अस्तित्व है जो ऐन्द्रिक अनुभव में अपने को प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से प्रकट करती हैं, किन्तु विज्ञान के लिए इस रूप में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है, विज्ञान ऐसी एक व्यवस्था खोजना चाहता है जो इन अनुभवों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कोई सूत्र दे सके। स्वयं इस सूत्र का कोई अस्तित्व नहीं है, ये हमारी विकल्प-बुद्धि के आरोप हैं। इसीसे नेलसन वैज्ञानिक ज्ञान के विषयों को 'वस्तु' के बजाय 'वस्तु का प्रत्यय' (आइडियाज़ आफ थिंग्ज़ इन देम सेल्वज़) कहता है। नेल्सन के मत का उल्लेख हमने प्रमाण के रूप में नहीं बल्कि एक प्रतिनिधि मत के रूप में किया है। यह कान्टीय मत है। अनुभववादी मत इससे कोई मौलिक रूप से अलग नहीं है, क्योंकि इनका प्रमाणीकरण का सिद्धान्त वस्तु-प्रत्यय को पूर्वकल्पित करता ही है। अवश्य ये लोग कांट की तरह कांश्यसनेस की कैटेगरीज को नहीं मानते और विज्ञान के नियमों को हाइपोथिसिस मानते हैं, पर हापोथिसिस में एक प्रकारता, एक फोर्म तो रहता ही है, जिससे ही सत्यापन का रूप और क्षेत्र निर्धारित होता है। इस फोर्म के कारण ही अनुभववादियों के सामने यह कठिनाई आई कि "यह पुस्तक है" जैसे सीधे-सादे कथनों का भी पूरा सत्यापन कभी नहीं हो सकता। तब सुलझाव निकाला गया कि असत्यापन पूरा हो सकता है, इसलिए विज्ञान सत्यापन के क्रम से नहीं, असत्यापन की व्यावृत्ति के क्रम से अग्रसर होता है।[५] अब, एक प्रत्यक्ष सो प्रत्यक्षों को वैसे असत्यापित करेगा जब तक विषय प्रत्यक्षों का जमघट होने के बजाय विषय का आकार नहीं हो? विज्ञान के नियमों को हाइपोथिसिस ही चाहे मान लें, तो भी हापोथिसिस को तो अनुभव अपने आप से नहीं देता, अनुभव को हम किसी आकार में देखते हैं तब हाइपोथिसिस बनती है। इसलिए चाहें कांट, सांख्य और दिङ्नाग की तरह प्रतिविषयता (इन्द्रिय सन्निकर्ष) को अध्यवसाय में स्थापित करें, चाहें नैयायिकों की तरह जाति-व्यक्ति को संयुक्त करें, और चाहे अनुभववादियों की तरह, बुद्धि के रचना-धर्म को सिर्फ हाइपोथिसिस का दर्जा दें, जगत् को शुद्ध तत् के रूप में प्राप्त करने की असम्भवता स्पष्ट है।

पर जगत् से हमारे सम्बन्ध को एक दूसरे स्तर पर देखें। हमारे साधारण अनुभव में मोटे तौर पर पांच तरह की वस्तुएँ हैं-एक मिट्टी पानी आदि, दूसरी पशु-पक्षी और पेड़पौधे, तीसरी मनुष्य, चौथी, घट, पट आदि और पांचवीं संस्कृति और उसके अवयव-भाषा, परम्परा, और समाज आदि। इनमें पहली (मिट्टी आदि) अपने-आपसे हैं और सामान्य हैं, दूसरी (पशु-पौधे आदि) भी अपने-आपसे हैं पर विशेष हैं। तीसरी (मनुष्य) भी अपने आपसे हैं और विशेष हैं किन्तु विषय नहीं होकर विषयी हैं, (घट आदि) चौथी और पांचवी (भाषा आदि) अपने आपसे ही नहीं हैं, वे चेतनामूलक हैं। किन्तु पांचवी अपने-आपसे नहीं होने पर भी व्यक्ति के लिए तो अपने आपसे ही हैं—भाषा मेरे बोलने से नहीं बनती बल्कि भाषा होती है तो मैं बोलती हूँ, इसी तरह परिवार—संस्था को मैं नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाती बल्कि, मैं परिवार में उत्पन्न होती हूँ आदि । शायद हमारे जगत् का अधिकांश भाग तीसरे, चौथे और पांचवें प्रकार की वस्तुएँ घेरे हुए हैं । अब रही पहले और दूसरे प्रकार की वस्तुओं की बात । इनमें पहली को हमने सामान्य कहा, वह इस कारण कि मिट्टी का कोई भी एक पिण्ड दूसरे पिण्ड के समान होता है, जल का कोई भी एक कण दूसरे के समान होता है । एक लौटा पानी और आधा लौटा पानी में केवल मात्रा-भेद होता है । अवश्य मिट्टी और पानी भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु ये एक तो भौतिकता में सामान्य हैं, और दूसरे, अगर इन्हें भिन्न भी मान लें तो भी आपसी भेद इन्हें एक दूसरे से तो विशेष बनाता है पर कोई अन्तर्गत विशेषता नहीं देता जो कि अस्तित्व की केवल ऐसी परिधि से ही आती है जो किसी भीतरी रचना-धर्म से निर्धारित होती है । उदाहरण के लिए चींटी ओर हाथी के शरीर आकार और परिधि से परिभाषित होते हैं जो एक आन्तर रचना-धर्म से निर्धारित होते हैं । एक शरीर अपने-आप में पूरा और स्वायत्त होता है, अवश्य इसमें भी एक सामान्य होता है, इसे हम रचना-धर्म का रूप कह सकते हैं, कुछ हद तक अरस्तू के फोर्म जैसा कुछ, पर यह सामान्य ही ऐसा होता है जो विशेषों में ही रूप लेता है । सब चींटियों के शरीर एक ही सामान्य रूप को प्रकट करते हैं, किन्तु यह सामान्य रूप ही विशेषात्मक होता है । यह हम घट और गृह में प्रत्यक्ष देख सकते हैं । घट घट-रूप की अभिव्यक्ति होता है, घट-रूप सामान्य प्रत्यय है, पर यह सामान्य प्रत्यय ही ऐसा है जो एक देह की परिधि अपने स्वभाव ही से धारण करता है और इस तरह मिट्टी में से उठकर बाकी मिट्टी से और सारे संसार से अलग हो जाता है । घट और चींटी में यही अन्तर है कि घट-प्रत्यय को हम पहले बुद्धि में ही साक्षात् करते हैं और तब उसका देश-काल में आविर्भाव होता है, जबकि चींटी के प्रत्यय या रचना-धर्म का साक्षात् हम चींटी के देह के माध्यम से ही करते हैं ।

जो भी हो, यहाँ मुख्य बात यह है कि घट और चींटी जगत् में उसी तरह नहीं हैं जैसे मिट्टी और आकाश और जल हैं । इनके लिए हम यह भी कह सकते हैं कि ये आधे उसके धरातल के नीचे होते हैं । और दूसरे मनुष्य, जो कि हमारे जगत् के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं, उनकी गति और भी न्यारी है, क्योंकि वे विषय-जगत् में इतने मात्र के लिए ही होते हैं कि हम जगत् के परे स्थित उनके विषयी रूप का ग्रहण कर सकें । आधुनिक मनोविज्ञान ने व्यवहारवाद आदि सिद्धान्तों के रूप में बड़ी भारी कोशिश की कि मनुष्य को भी पूरी तरह इसी लोक में उतार सकें, पर वह सिद्धान्त अनुभव से इतना दूर है कि ज़्यादातर खींचातानी ही लगता है । दूसरे, वह सिद्ध क्या करता है ? वह सिद्ध यह करता है कि हम अपने को तो विषयी रूप में अनुभव करते हैं किन्तु दूसरों को विषय के रूप में ही अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं और इस विषय से अनुमान करते हैं कि जिस तरह शरीर के होते हुए भी हम उसके पीछे विषयी हैं उसी तरह इन शरीरों के पीछे भी विषयी होगा। भाव यह कि हम मानते तो दूसरे मनुष्यों के भी विषयी ही हैं, पर वैसा अनुमान से करते हैं, प्रत्यक्ष से नहीं।

मैं यहाँ किसी विवाद में पड़े बिना इतना कहना चाहूँगी कि जिस व्यवहार को वे विषय रूप में प्रत्यक्ष और विषयों के अनुमान के लिए लक्षणरूप मानते हैं मैं उस व्यवहार को भी विषयी-व्यवहार ही मानती हूँ। मुस्कान या भौंहें चढ़ाना प्याले में चाय हिलने या बिजली चमकने से एकदम अलग तरह की घटनाएँ हैं, बाहर से देखनेवाले के लिए भी।

पर सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और कांट तो उस विषयी ही को जगत्-परक मानते हैं जिसे हम अपने स्वयं में अनुभव करते हैं, तब दूसरे मनुष्यों की तो बात ही क्या है, जिनके कि व्यवहार को ही हम देखते हैं; वह चाहे कितना भी भौतिक वस्तुओं के व्यवहार से अलग तरह का क्यों नहीं हो! इन दार्शनिकों की बात समझने की कोशिश करने से पहले हमें पीछे कही बात का निचोड़ देखना चाहिए। वह निचोड़ यह है कि जब हम पैदा होते हैं, या सो कर उठते हैं, तब उसके साथ ही एक स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें हम अपने को एक विस्तार के बीच पाते हैं, जो विस्तार एक ओर हमारे पर केन्द्रित होता है और दूसरी ओर हमारे से आरम्भ करके क्षितिज तक और उसके भी आगे फैल जाता है। काल का विस्तार भी इसी तरह हमारे वर्तमान के केन्द्र पर संकुचित और इस केन्द्र से विस्तारित होता है। ये दोनों विस्तार जगत् हैं, इनका केन्द्र मैं हूँ, किन्तु इस केन्द्र के रूप में जगत् नहीं हूँ। पर तब भी मैं जगत् से बाहर भी नहीं हूँ, क्योंकि आखिर यह केन्द्र इस विस्तार के अन्तर्गत ही है—अर्थात् मेरे अपने अनुभव में भी। जैसे, मैं उस पुस्तक को उठाने के लिए आगे बढ़ती हूँ तब एक स्थान को छोड़कर दूसरे पर पहूँचती हूँ और इस स्थान-परिवर्तन में उसी तरह का सम्बन्ध-परिवर्तन होता है जैसा पुस्तक को उठाने पर उसके और मेज़ के बीच होता है। पर तब भी बहुत अन्तर है, क्योंकि अकेला यही कोई ऐसा है जिस पर सम्पूर्ण विस्तार केन्द्रित होता है और जिससे बाहर की तरफ फैलता है। इसे दूसरे शब्दों में कहें, इनमें यह केन्द्र अस्मत् है, विस्तार–जगत् सब युष्मत् है। हमने पीछे जो देखा उसमें यह भी पाया कि युष्मत् में युष्मत्त्व का मात्र भेद है, या इसे यों कह सकते हैं कि युष्मत् में एक प्रकार-भेद है जिनमें से एक त्वं है दूसरा इदं। और इनमें त्वं जबकि अस्मत्त्व के निकटतम या युष्मत्व में न्यूनतम है, इदं युष्मत्त्व की पराकाष्ठा है, पर पराकाष्ठा ही, पूर्णता नहीं। और यदि युष्मत् में युष्मत्त्व का मात्रा-भेद है तो अस्मत् में भी अस्मत्त्व का मात्रा-भेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है, किन्तु सांख्य आदि इसी मात्रा-भेद की ओर सन्केत कर इसे युष्मत् में ही रखते हैं, क्योंकि वे अस्मत्त्व में कोई मात्रा-भेद स्वीकार नहीं करते। युष्मत्त्व में मात्रा-भेद स्वीकार करते हैं, ऐसा कहना कठिन है, कम से कम ऐसा कहीं वे स्पष्टतः नहीं कहते, किन्तु सांख्य और वेदान्त में बुद्धि को पुरुष या चैतन्य के निकटतम कहने में यह मात्रा-क्रम स्वीकृत कहा जा सकता है। किन्तु तब भी यह मात्रा-भेद है तो युष्मत्त्व में ही, और इस तरह जो अस्मत्परक मात्रा-भेद दिखायी पड़ता है उससे यह स्पष्ट है कि वह युष्मत् ही है। पर ऐसा कहने का क्या औचित्य है ? यह बहुत कठिन प्रश्न है जिसके समाधान की यहाँ हम कोशिश नहीं कर सकते, केवल इसकी एक रूपरेखा दे सकते हैं।

जैसाकि हम जानते हैं, कांट प्रकृति या जगत् को कारणता से और आत्मा को स्वातन्त्र्य से परिभाषित करता है। कांट के अनुसार जगत् में मनुष्य कारणता के ही अधीन है और इस तरह जगत् के ही अन्तर्गत है। इसका क्या अर्थ है, इसे ज्ञान के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में आसानी से देखा जा सकता है। पहले सिद्धान्त के अनुसार, काट ने जो दार्शनिक सिद्धान्त दिये उस देश और काल में वह वही दे सकता था। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार कांट का रीज़न के बारे में और कठोर तथा पवित्रतावादी नैतिकता के बारे में जो आग्रह था उसके व्यावहारिक समानान्तर उसकी कठोर पंक्चुअलिटी (समय सारणी के अनुसार कार्य करना) और विवाह नहीं करने में देखे जा सकते हैं, और ये चारों बातों के कारण उसके बचपन के मनोवैज्ञानिक परिवेश में देखे जा सकते हैं। एरिक्स ने महात्मा गांधी के हरिजनोद्धार, सत्याग्रह, शौच खुद साफ करना आदि सब कार्यों की इस तरह की मनोवैज्ञानिक व्याख्या दी है। अभी महात्मा बुद्ध पुराने ज़माने के होने के कारण इनके चंगुल से बच गए, अगर हमारे ज़माने में हुए होते तो उन्हें भी पता चल जाता कि वे किस प्रतीत्यसमुत्पाद से बने थे। पर इस उपहास की बात को छोड़ते हुए, इन दोनों सिद्धान्तों में बहुत अधिक सच्चाई है। हम विचारते हुए अपनी भाषा और प्राप्त साहित्य का उपयोग करते ही हैं। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सवाल है, मनुष्य की विकृतियों का स्रोत तो स्वतन्त्रता तर्कतः भी नहीं हो सकती, और यह देखना मुश्किल नहीं है कि हमारे ज्यादातर कार्य विकृतिमूलक होते हैं। उदाहरण के लिए बर्नार्ड शा के लिए कहा जाता है कि लिखने और बोलने में उसकी तेजस्विता का मूल पहली बार व्याख्यान देने के लिए खड़ा होने पर उसके कांप जाने और व्याख्यान नहीं दे पाने में था। यहाँ हमारा यह अर्थ नहीं है कि बर्नार्ड शा की तेजस्विता विकृति थी, पर यह असाधारणता तो थी ही। विकृतियाँ तो तर्कतः स्वतन्त्रतामूलक नहीं हो सकतीं, और इसी तर्क से यह भी कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति में विशेष प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विकृतियां नहीं होना उस तरह की विकृति पैदा करनेवाले कारणों के अभाव का सूचक है। उदाहरण के लिए, अक्सर कहा जाता है कि संजय गांधी जैसा था वैसा इसलिए था, क्योंकि वह, और बातों के अतिरिक्त, इन्दिरा गांधी का पुत्र था, और जवारलाल नेहरू वैसे इसलिए नहीं थे, और जैसे थे वैसे इसलिए थे, क्योंकि वे, और बातों के अतिरिक्त, मोतीलाल नेहरू के पुत्र थे।

इन सिद्धान्तों और इनके समर्थक उदाहरणों का उल्लेख मैंने इसलिए नहीं किया कि मैं इनको पूरी तरह सत्य मानती हूँ, और न इसलिए ही किया कि कांट इन्हें सत्य मानता था, इनका उल्लेख कांट के इस सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया कि 'मनुष्य की जागतिक सत्ता कारणात्मक है,' और उस सत्ता के सन्दर्भ में कांट भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार करता है और मैं भी उसका समर्थन कर रही हूँ। बहुत कुछ यही आशय सांख्य का है जो गीता के निम्न श्लोक से देखा जा सकता है-श्लोक की दूसरी पंक्ति है-

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

अर्थात् सब कर्म प्राकृतिक है और वह हमारे नियन्त्रण के बाहर अपने-आपसे होता रहता है। इसमें केवल दैहिक कर्म ही नहीं है बल्कि मानसिक और बौद्धिक कर्म भी सम्मिलित है। पर ये चारों दर्शन-सम्प्रदाय मनुष्य को स्वरूपतः प्राकृतिक नहीं मानते, या कहें, केवल प्राकृतिक नहीं मानते, वे उसे स्वरूपतः अप्राकृतिक, या कहें दो स्तरों के अस्तित्ववाला मानते हैं। इस दूसरे स्तर के अस्तित्व को पुरुष, बुद्ध, शून्य या ट्रांसेन्डेन्ट सेल्फ का नाम दिया गया है। पर यदि मनुष्य स्वरूप से बुद्ध या असक्त पुरुष है तब वह प्रकृति में बन्धता क्यों है ?

इस प्रश्न का उत्तर अगर इस प्रश्न के अनुसार ही दिया जाय तब सिर्फ गलत उत्तर ही दिया जा सकता है, क्योंकि 'क्यों' का अर्थ है कि इसके पीछे कोई प्रयोजन होगा और वह किसी समय पैदा हुआ होगा। पर यह कैटेगरी मिस्टेक तो है ही, वैसे भी अनुभव से इसका मेल नहीं बैठता। इसीसे शंकर अध्यास को नैसर्गिक कहते हैं, अर्थात् मनुष्य का आरम्भ ही अध्यास में होता है, आदि में वही है, आदि में असक्त पुरुष नहीं है। इसे इस तरह देखें-हम मन-बुद्धि के धरातल पर किसी अतिक्रामी सत् का साक्षात्कार नहीं करते, उसके साथ तो हम पैदा ही होते हैं, पर इन धरातलों से ऊपर उठने की सामर्थ्य रखते हैं। मान लें कि मैं जो कार्य करती हूँ वह इस कारण वैसे करती हूँ क्योंकि मैं खास परिस्थितियों में पैदा हुई हूँ। पर मैं तो वैसा अपने को स्वतन्त्र मानकर ही करती हूँ। पर रीफ्लैक्शन (मनन) से मैं देख भी सकती हूँ कि यह कार्य-व्यवहार मैंने संस्कारवश किया है और तब भविष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं उससे मुक्त हो सकती हूँ। नहीं हो सकूँ तो कहना होगा कि जबकि विचार के स्तर पर मैं स्वतन्त्र हो गई, संकल्प के स्तर पर वह नहीं हो पायी। रीफ्लैक्शन (मनन) की सब क्रियाएँ, और इसी तरह नैतिक विवेक की सब क्रियाएँ, मनुष्य की जागतिकता के धरातल से ऊपर उठने की सामर्थ्य दिखाती हैं और यदि यह सामर्थ्य उसमें है, यदि वह जगत् से परे अपने को देखता है और उसे ही अपना स्वरूप समझता है, तब उस स्तर की सत्ता अपने आपसे सिद्ध है। कोई कहे कि यह कैसे सिद्ध है, तो उसे उत्तर है कि मेरी जागतिकता कैसे सिद्ध है? मेरी यह जागतिकता इसी बात से तो सिद्ध है न कि मेरा मन और बुद्धि जगत् के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं? अब, मनन और विवेक में इनके अनुसार व्यवहार नहीं करती हूँ, यह स्पष्ट है। अगर विवेक को संस्कारमूलक दिखाने की कोशिश की भी जा सके तो भी मनन के लिए यह कोशिश नहीं की जा सकती, क्योंकि मनन है ही विषय से विषय-ग्रहण के स्रोत की तरफ लौटना। इसको भी कारण-शृंखला में खोजने की कोशिश ऐसी ही होगी जैसी पृथ्वी को बैल के सींग पर खड़ा करने की–कि नहीं तो पृथ्वी अपनी जगह खड़ी ही कैसे है? अब अगर मनुष्य इन दो स्तरों पर है तो ये दो स्तर उसके दो भाव-जगत्-भाव और अजगत् भाव–या बुद्धभाव, शून्य भाव, आनन्द भाव आदि–ही कहे जायेंगे। वह जिस भाव में होता है उसी तरह के लोकों की सृष्टि होती है। आप कहेंगे, घट और पट की उत्पत्ति मेरे भाव से नहीं होती है। इसका उत्तर है कि इनकी तो उत्पत्ति स्पष्टतः चैतन्य के भाव से ही होती है, आप यह कह सकते हैं कि मिट्टी की उत्पत्ति चैतन्य के भाव से नहीं होती है। मैं यहाँ इस बारे में कोई मत स्थापित नहीं करना चाहती कि पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आदि वास्तव हैं या चैतन्य के भाव मात्र हैं, इसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। बल्कि सहज रूप में तो जगत् अपनी वस्तुता से चेतना को अभिभूत करता है, वह बाह्यार्थ के रूप में ही उसे प्रस्तुत होता है। पर तब साथ ही यह भी सही है कि मानवचैतन्य जब चाहे, जैसे चाहे, उसका ग्रहण या उपेक्षा कर सकता है। उदाहरण के लिए मिट्टी को वह अधिकांश में से उपादान के रूप में ही ग्रहण करता है। पर यह उसके लिए अनेकों में से केवल एक अर्थ है जो अपनी स्वीकृति के लिए उसके सामने पल्ला पसारता है। इस तरह जगत् केवल चैतन्य का जगद्-भाव है। पर इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है। असल में तो यह भाव पशु में मनुष्य से कहीं दृढ़तर होता है, पर मनुष्य में यह भाव या तो न्यूनता को प्राप्त होता है या वृद्धि को। ऐसे मनुष्य भी मिलेंगे जिनमें जगद्भाव पशु से प्रबलतर होता है, दूसरे ऐसे भी जिनमें यह पूर्णतः तिरस्कृत रहता है। पर यह न्यूनता और अधिकता दोनों मनुष्य की इस योग्यता के कारण होती हैं कि मनुष्य की चेतना जगत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्पर्क में सीधे नहीं आती, वह जगत् को एक सम्भावना के रूप में ग्रहण करती है और तब उस सम्भावना की वृद्धि या ह्रास कर सकती।

डी–५९, बापूनगर,
जयपुर–३०२००४.

–भगवती राव

टिप्पणियाँ

१. नेलसन, लियोनार्ड– सोक्रेटिक मैथड एण्ड क्रिटिकल फिलासफी, पृ. ४६, (जर्मन से अनुवाद), डॉवर पेपर बैक, १९६५।

२. ऐसा ब्रैड्ले मानता है, क्योंकि वह सम्बन्धों को वस्तुगत मानता है। किन्तु ऐसा माननेवाले दार्शनिकों की संख्या नगण्य है।

३. नेलसन, लियोनार्ड– वही, पृ. सं. ५२।

४. वहीं।

५. कार्ल पॉपर ने यह मत सर्वप्रथम प्रतिपादित किया, द्रष्टव्य उसकी पुस्तक लाजिक ऑफ साइंटिफिक डिस्कवरी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितप्रज्ञता एवं आत्मनिष्ठता : गीता एवं कीर्केगार्ड

(एक तुलनात्मक पर्यालोचन)

भारतीय दर्शन ने विश्व के दर्शन-प्रकारों को न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य ही प्रभावित किया है। दूसरी ओर, उसने अपने को अप्रभावित भी नहीं रखा है। भारतीय दर्शन की यह सम्वेदनशीलता एवं महनीयता ही है। प्राचीन काल में अपनी संस्कृति व दर्शन के कारण ही भारत "जगद्गुरू" था। यहाँ सुदूरदेश-देशान्तरों के दर्शन व ज्ञान-प्रेमी लोग आ-आकर शिक्षा ग्रहण करते थे[1]। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य अधिकांश विद्वान इस कथन से सहमत हैं कि भारत के मनीषी-विद्वान, सन्त एवं धार्मिक-दार्शनिक अपनी समन्वयवादिनी विराट् प्रतिभा से जगत को आलोकित करते जा रहे हैं। काउन्ट जोन्स जेनी का मत इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि भारत-वर्ष केवल हिंदुओं का ही घर नहीं, वरन् वह संसार की सभ्यता और संस्कृति का आदि भण्डार है। साम्प्रदायिकता एवं देश-काल की मान्यताओं के आदर के ही साथ लोकसंग्रह एवं विश्व-हित का सर्वाधिक प्रयास यहाँ मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता इसी आशय का एक धार्मिक-दार्शनिक प्रयास ही है। श्रीमद्भगवद्-गीता उस त्रिपथगा के समान है जो ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की धारा-त्रय में प्रवाहित है। गीता-दर्शन व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ बनाना चाहता है। स्थितप्रज्ञता में ही लौकिक तथा पारलौकिक हित निहित हैं। स्थितप्रज्ञता एक गुण-विशेष है, जो अर्जनीय है। मानव-अस्तित्व की सार्थकता स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति में ही है।

विश्व-दर्शन के दूसरे क्षितिज पर नवोदित पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन में स्थितप्रज्ञता से मिलता-जुलता शब्द "आत्मनिष्ठता" (सब्जेक्टिविटी) है। अस्तित्ववाद के जनक श्री सोरेन कीर्कगार्ड (Soren kierkegaard) द्वारा प्रतिपादित "आत्मनिष्ठता" की अवधारणा और गीता की "स्थितप्रज्ञता" की अवधारणा-दोनों का तुलनात्मक पर्यालोचन ही इस शोध-पत्र का उद्देश्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञता की अवधारणा

गीता व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ बनाना चाहती है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वयक है। वह एकांगिता का वरण नहीं अपितु सर्वांगिता का चयन करता है। वह संतुलित चित्तवाला योगी होता है। निरपेक्ष ज्ञान, भक्ति एवं कर्म गीता को मान्य नहीं है। गीता की मान्यता के अनुसार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में ही ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वित रूप मिलता है। अर्जुन के यह पूछने पर कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है? किस प्रकार बैठता और चलता है?[2] योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा:—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थिप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

गीता २:५५.

"हे अर्जुन! जब व्यक्ति मनोगत समस्त कामनाओं का सम्यक् परित्याग कर देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब उस काल-प्रवाह में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।"

गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञता एक दशा-विशेष है, जिसमें समाधिस्थ व्यक्ति रहता है। इस दशा में मनोगत राग-द्वेषादि भाव प्रलुप्त हो जाते हैं। आत्मा आत्मा से संतुष्ट रहता है। यह दशा आत्मिक है, न कि शारीरिक। शारीरिक स्तर पर कामनाओं का परित्याग मृग-मरीचिका-वत् है। जब व्यक्ति अपने आत्म-तत्त्व की ओर अभिमुख होता है और बाहरी इन्द्रियार्थों से इन्द्रियों को मोड़ लेता है उसी प्रकार जैसे कछुआ[3] अपने अंगो को समेट लेता है, तब स्थितप्रज्ञता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्थितप्रज्ञ वह व्यक्ति है जो आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि-द्वन्द्वातीत, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित तथा शुद्धान्तः करणवान् है। वह समदर्शी एवं सर्वभूत-हित-रत है। गीता में ऐसे योगी की बुद्धि को व्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि कहा गया है। स्थितप्रज्ञ सामान्य मानव नहीं, वह महा-मानव है। दुःखों की प्राप्ति होने पर उसके मन में उद्वेग नहीं होता और न ही सुखों की प्राप्ति से सुखस्पृहा होती है। उस महामानव कर्मयोगी की बुद्धि स्थिर होती है। उसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो चुके होते हैं।[४] स्थितप्रज्ञ महामानव विषय-निवृत्ति के ही साथ आसक्तिरहित स्थिति को प्राप्त होता है। स्थितप्रज्ञ की इन्द्रियाँ उसके वशीभूत होती हैं। इन्द्रियों के वशीभूत होने पर ही बुद्धि स्थिर हो सकती है। ऐसा संभव नहीं है कि इन्द्रियार्थ के प्रति आसक्ति भी रहे और बुद्धि भी स्थिर रहे। यहाँ अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीकगार्ड का आइदर-आर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञता ही मानवता का सच्चा अ दर्श है। स्थितप्रज्ञता के स्तर पर पूर्वाग्रह, हठ, दुराशा एवं आसक्ति का सर्वथा अभाव होगा। फिर तो पारस्परिक कलह, तनाव एवं युद्ध का कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होगा। स्थितप्रज्ञ आत्मस्थ होता है। उसे अन्तःकरण की प्रसन्नता मिल जाती है।[५] और, तब वह निःशेष हो जाता है। उसकी किसी विषय में कामना नहीं रहती। वह कामजित होता है। वह इन्द्रियों का सम्यक् निग्रह कर चुका होता है।[६] ऐसा स्थितप्रज्ञ योगी सांसारिक सुख-प्राप्तिरूपी दिन में सोता है और परमसत् की प्राप्ति-रूपी रात्रि में, जब सभी प्राणी सोते हैं, वह जागता रहता है।[७]

स्थितप्रज्ञता ममता-रहित, अहंकार-रहित तथा स्पृहा-रहित स्थिति है। यह शान्ति-लाभ है। जो काम-परित्यागी है और आसक्ति-हीन है, वही शान्ति-लाभ का अधिकारी भी है।[८] यह स्थिति ब्रह्म-प्राप्त पुरुष की स्थिति है।[९] जो आत्मस्थ है वही ब्रह्म-प्राप्त है। यह अनुभूति का स्तर है। वस्तुनिष्ठ या वैषयिक तर्कणा (आबजेक्टिव रीजनिंग) से इसका ज्ञान सम्भव नहीं है। जो तर्कवादी हैं वे प्रदर्शनात्मक स्तर पर मात्र दिखावे के लिए इन्द्रिय-निग्रह करते हैं, किंतु उन्हें "मिथ्याचारी" संज्ञा से अभिहित किया गया है।[१०]

अस्तित्ववादी दार्शनिक श्री सोरेन कीर्कगार्ड ने प्रदर्शन-पसन्द तर्कणावादी लोगों को 'आत्म-हन्ता' ऐसा कहा है। ये आत्म-हन्ता लोग अपने को धार्मिक कहलवाने के लिए धार्मिकता का ढ़ोंग रचते हैं। हीगलीय दर्शन का अध्येता मेजिस्टर एडलर जब पादरी (प्रीस्ट) बना और अपने बौद्धिक पुजारीपन का जादू सब के ऊपर चलाने लगा तो कीर्कगार्ड ने उसे "ताश खेलने वाला पुरोहित" (ए कार्ड प्लेइंग प्रीस्ट) कहकर सम्मानित किया।

"......एक व्यक्ति पुरोहित नियुक्त किया गया है, मनुष्यों को पकड़ने और फंसाने के लिए, जैसे मछली पकड़ी जाती है, जैसे शिकार से पशु को फंसा लिया जाता है, वैसे ही इस व्यक्ति का कार्य मनुष्यों का शिकार है......।[११]

गीता की स्पष्ट मान्यता है कि जो मन से इन्द्रियों को वश में करता है, जो अनासक्त है और समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।[१२] स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी होता है। वह आचरण में ज्ञान को उतारता है। उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य होता है। वह कर्म करने में ही अपना अधिकार समझता है। फल-प्राप्ति की चिन्ता से वह सर्वथा मुक्त रहता है। वह मुक्तसङ्ग योगीपरमसत् भगवान श्रीकृष्ण प्रति पूर्ण समर्पित होता है। भगवान को स्थितप्रज्ञ योगी ही प्रिय है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति जल से कमल के पत्ते की भांति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल-लिप्त नहीं होता।[13] स्थितप्रज्ञ भक्त "अन्तःसुखः, अन्तरारामः तथा अन्तर्ज्योतिः" होता है।[14] उसकी वृत्तियाँ मानापमान में तथा शीतोष्ण-सुखदुःखादि में भलीभांति शान्त होती हैं।[15] वह ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा होता है। उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सन्मान सुवर्ण समान होते हैं।[16] वह अर्थात् भगवत्प्राप्त होता है। भगवत्प्राप्त व्यक्ति "समभाव" वाला हो जाता है। वह आत्मा को संपूर्ण भूतों में स्थित और संपूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।[17]

स्थितप्रज्ञता का यह महान आदर्श विश्वबन्धुत्व का मूल आदर्श है। इसे पा लेने पर कौन किससे घृणा करेगा? स्थितप्रज्ञ जो आत्मस्थ है, वह "सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा" है। वह किसी से घृणा नहीं करता है–" न विजुगुप्सते"। वह अपने चित्त को दूसरी ओर नहीं जाने देता है अर्थात् सांसारिक भोगों से अपने को पृथक् कर लेता है। निरन्तर परमेश्वर के ध्यान का अभ्यासी होकर परम प्रकाशरूप दिव्य परमसत् को पा जाता है।[18]

सोरेन कीर्कगार्ड के लिए यह स्थिति अस्तित्व की गहराई में आसीन परमेश्वर के सान्निध्य की है। कीर्कगार्ड परमेश्वर को अस्तित्वगत मानता है। परमेश्वर आत्मनिष्ठ है। वह अस्तित्व के भीतर स्वयं-प्रकाश स्वरूप है। जिसे अस्तित्व-बोध हो चुका है, निश्चय ही वह परमेश्वरीय शक्ति से मण्डित आत्मनिष्ठ व्यक्ति है। अस्तित्व से परे कहां कौन परमेश्वर है? परमात्मा की प्राप्ति के लिए अस्तित्व को छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं।[20] अस्तित्व-गत-परमेश्वर की अनुभूति समाधि से ही संभव है, श्रद्धा और विश्वास इसके लिए आवश्यक हैं। तर्क इस कार्य में अनुपयोगी है।

स्थितप्रज्ञ के अन्तःकरण में अद्भुत कान्ति और ओज रहता है। परमात्मा जो अस्तित्वगत है अज्ञान-जनित अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूपी दीपक के द्वारा नष्ट कर देता है।[21] गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त का लक्षण बतलाया है। मेरे विचार से स्थितप्रज्ञ योगी में इन लक्षणों का होना अत्यावश्यक है। इनमें से एक भी लक्षण का अभाव स्थितप्रज्ञता के मार्ग में बाधक बन सकता है। भगवान् को वही भक्त प्रिय होगा जिसमें सभी प्राणियों के लिए अद्वेष-भाव हो। जो मैत्र-करुण, निर्मल, निरहंकार, समदुःखीसुखी और क्षमावान् हो, जो निरन्तर सन्तुष्ट, यतात्मा तथा दृढनिश्चयी हो, जिसने मन और बुद्धि को प्रभुसमर्पित कर दिया हो, जो न तो किसी के उद्वेग का कारण हो और न ही उद्वेगवाला हो, जो हर्ष, अमर्ष, भय इत्यादि से रहित हो, जो अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन, गतव्यथ, सर्वारम्भ–परित्यागी हो, जो न हर्षित हो और न द्वेष करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, जो शोक नहीं करता हो, जो शत्रु-मित्र, मानापमान, शीतोष्ण सुख इत्यादि में समभाववाला तथा आसक्ति रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझता हो, मनन-शील, सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर गति हो ....वही भगवान श्रीकृष्ण जी को प्रिय है।[२२]

गीता में स्थितप्रज्ञता की अवधारणा को स्पष्ट करने के बाद निबन्ध की दृष्टि से यह आवश्यक है कि अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठता की अवधारणा को स्पष्ट किया जाय।

सोरेन कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित 'आत्मनिष्ठता' की अवधारणा।

कूपन हेगन (डेनमार्क) के एक महान् अस्तित्ववादी दार्शनिक श्री सोरेन कीर्कगार्ड ने अपने दर्शन में आत्मनिष्ठ चिन्तन पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने आत्मनिष्ठता पर गम्भीर दृष्टि से विचार किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठ व्यक्ति और गीतोक्त स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी में अत्यधिक साम्य देखने को मिलता है। कीर्कगार्ड के विचार से मानव-अस्तित्व को समझने में वस्तुनिष्ठ चिन्तन नितान्त असमर्थ है। आत्मनिष्ठ चिन्तन में ही अस्तित्व की असन्दिग्ध अनुभूति है। आत्मनिष्ठ चिन्तक अपने अस्तित्व के प्रति उपेक्षा-भाव नहीं रखता है। वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक चिन्तक बाह्यघटना–जाल में अपने को पूर्णतः तटस्थ या उदासीन रखता है। वह मात्र द्रष्टा होता है। कीर्कगार्ड मानव-अस्तित्व के लिए इसे अनिष्टकर बतलाता है। उसने हीगलीय दर्शन में मानव अस्तित्व को पूर्णतः उपेक्षित देखा था। इसीलिए उसके विरोध में उसने एक दार्शनिक क्रान्ति खड़ी कर दी थी। कीर्कगार्ड आत्म-पाती चिन्तन पर जोर देता है। आत्मपाती या आत्मनिष्ठ चिन्तन आत्मसत्तात्मक चिन्तन है। यह आत्मबोध है। कीर्कगार्ड महान दार्शनिक सुकरात के दर्शन-मंत्र 'अपने को जानो' का हार्दिक सम्मान करता है। 'अपने-को-जानना' ही अस्तित्व को जानना है। उसका दृढ विश्वास है कि मानव-अस्तित्व की सार्थकता आत्मनिष्ठा में ही है। मानव-अस्तित्व के लिए आत्मनिष्ठता ही श्रेयस्कर है। कीर्कगार्ड का कहना है कि जो अपने को जानने में असमर्थ है, वह आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। आत्मनिष्ठ व्यक्ति आभ्यन्तराभिमुख व्यक्ति है। कीर्कगार्ड का लक्ष्य आभ्यन्तरता है।[२३] जीवन जीने में आत्मनिष्ठता अनुपयोगी है। जो आनन्द आत्मनिष्ठता में है, वह अनुभूति-गम्य है। इसमें व्यक्ति की अपनी एकान्तता है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति वस्तुनिष्ठ या वैषयिक चिन्तन को अनुपयोगी समझता है।[२४]

कीर्कगार्ड के मत में आत्मनिष्ठ व्यक्ति धार्मिक व्यक्ति है। धार्मिक व्यक्ति अपने अस्तित्व की गहराई में निहित परमेश्वर का प्रेमी भक्त है। प्रेम, श्रद्धा एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति आत्मनिष्ठता के गुण हैं। वस्तुनिष्ठ तर्कणा से इसे समझा नहीं जा सकता है। प्रेम में गोपी-भाव है। प्रेमी अपने प्रेम का प्रदर्शन नहीं चाहता। वह अपने अन्दर उसकी अनुभूति करता रहता है। वह उसे छिपाये रखता है। परमेश्वर गुप्त में है। उसके प्रति प्रेम भी गुप्त होना चाहिए। प्रेम आत्मनिष्ठता के ज्वार से उभरता है। इसे आत्माभिमुख होकर ही समझा जा सकता है। अपने में स्थिर होकर तथा अपनी प्रज्ञा को अपने में ही स्थिर करके अर्थात् स्थितप्रज्ञ होकर अन्तःस्थ शक्तियों को जागृत करने के लिए धार्मिकता और प्रेम परमावश्यक हैं।[२५]

कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित आत्मनिष्ठता की अवधारणा को पल्लवग्राही (डैबलिंग) मति अथवा अस्थितप्रज्ञा (चंचल मति) वाले लोग समझ सकने में असमर्थ हैं। उसने प्रज्ञा को स्थिर करने के लिए आत्मनिष्ठता का वरण किया। आत्मनिष्ठता के वरण में उसने अपनी सामयिक मिथ्याभिमानी, प्रदर्शनात्मक तथा वैज्ञानिक तर्कणाप्रधान जर्मन सभ्यता की कटु आलोचना की। कीर्कगार्ड का विचार है कि सारमूलक परिकल्पनाधृत प्रत्ययवादी दर्शन आत्म-विमुख कर देता है। हीगल के दर्शन में यही दोष है। इस दोष को आत्मनिष्ठ चिन्तन विधि से ही दूर किया जा सकता है। आत्मनिष्ठता एक ऐसे कार्य की ओर संकेत करती है जो वस्तुनिष्ठ प्रत्यय से परे है और मनुष्य की अन्तःस्थ मूल प्रकृति को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। ईदृग्विध कार्य ही विश्वास है। यह प्रातिभज्ञानोपेत विश्वास आत्मा की गहराई से उद्भूत होता है। जो किसी भी वस्तुनिष्ठ विषयीकरण (आब्जेक्टीवेशन) से परे है।[२६] कीर्कगार्ड आत्मनिष्ठ दार्शनिक है। वह एक रुग्ण परीक्षक की भांति एक व्यक्तिगत साक्षी की भांति अनुभूत सत्य को प्रस्तुत करता है न कि एक डॉक्टर के समान द्रष्टा बनकर। वह जिस सत्य को प्रस्तुत करता है वह अस्तित्वात्मक सत्य (एक्जिस्टेन्सियल ट्रुथ) है, उसके लिए ही उसका जीवन और मरण है। जिसमें वह जीता है उसी को प्रस्तुत करता है।[२७] जो उसका आचरण है वही उसका ज्ञान है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति गीतोक्त "दक्ष" कुशल व्यक्ति है। दक्ष वही है जो अस्तित्व के प्रति सजग है। परम सत् से युक्त होने के कारण ही उसे गीता 'युक्त' कहती है। कीर्कगार्ड की शब्दावली में वही आत्मनिष्ठ है।

कीर्कगार्ड के विचार से आत्मनिष्ठ व्यक्ति को ही परमेश्वर की अनुभूति हो सकती है। वही धार्मिक अस्तित्व-धारी है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति अपने अस्तित्व के भीतर विश्वास की आँखों से ईश्वर का दर्शन करता है। विश्वास की आँखों के लिए अवतार की सच्चाई आरक्षित (रिजर्वड) है।[२८] जीवन की अर्थवत्ता इसी में है कि ईश्वर को जाना जाय और उसके प्रेम में हुआ जाय।[२९] ईश्वर का प्रेम अपने अस्तित्व से प्रेम है। ईश्वर को जानना अपने को जानना है। आत्मनिष्ठता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही इस कार्य में सहायता कर सकती है। आत्मनिष्ठ या स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव रखता है। कीर्कगार्ड के विचार से पूर्ण समर्पण में विश्वास की छलाँग (लीप) है। अब्राहम के विश्वास के साथ ही उसका पूर्ण समर्पण-भाव है। अपने प्रिय पुत्र इसाक के बलिदान में अब्राहम ईश्वर के प्रतिसमर्पित है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त से पूर्ण समर्पण चाहते हैं।..." मय्यर्पित मनोबुद्धि-र्योमद्भक्त: स मे प्रिय:" गीता में अनेक स्थलों पर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का आदेश है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तभी हो सकता है जब आत्मनिष्ठता हो। आत्मनिष्ठता का प्रथम सोपान सत्तात्मक संताप (एक्जिस्टेन्सियल ऐंग्विश) है। यह ईश्वरानुभूति में सहायक है। गीता अर्जुन-विषाद से ही प्रारम्भ होती है।

कीर्कगार्ड का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसने इस सत्तात्मक नैराश्य के कटुपन (बिटरनेस) का स्वाद नहीं चखा, उसने जीवन की सार्थकता खो दी, चाहे उसका जीवन कितना ही सुन्दर और आल्हादकारक ही क्यों न रहा हो।[३०]

तुलनात्मक पर्यालोचन

जहाँ तक गीतोक्त स्थितप्रज्ञता का आशय दृढ़ निश्चयात्मकता और अस्तित्वात्मक आभ्यन्तरत्ता का है, कीर्कगार्ड की आत्मनिष्ठता की अवधारणा समानता लिए हुए है, किन्तु स्थितप्रज्ञता बहुत विराट अर्थ में सर्वभूतहित भाव से सम्बद्ध है, जबकि आत्मनिष्ठता मात्र मानव-अस्तित्व की आभ्यन्तरता तक ही सीमित है। गीता का 'स्थितप्रज्ञ' कीर्कगार्ड का 'आत्मनिष्ठ' नहीं हो सकता है। एक में असीम की छलांग तो दूसरे में ससीम की अन्तर्वेदना। एक समस्त जीव-जगत् का मित्र और अद्वेष्टा है तो दूसरा मात्र मानव-अस्तित्व का ही रक्षक और प्रहरी है। स्थितप्रज्ञता में सार का प्राधान्य है। सार आत्मा ही है। आत्मा अजर, अमर, नित्य, शाश्वत एवं पुराण है। शरीर तो नाशवान् है। शरीर आत्मा का घर है। यह मरता-मिटता रहता है किन्तु देही (आत्मा) का विनाश नहीं होता है।[३१]

अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड गीता के सारमूलक दर्शन की गहराई तक पहुँचने में असमर्थ है। वह मानव-अस्तित्व अर्थात् हाड़-मांस के देह तक ही विचार करता है। वह यह भी मानता है कि इसी अस्तित्व की गहराई में ईश्वर का निवास है। किन्तु ईश्वर और मनुष्य दोनों के बीच अलंघ्य खाई (अन्ब्रिजेबुल गल्फ) देखकर वह भय-भीत हो जाता है। कीर्कगार्ड मनुष्य को वास्तविक मनुष्य, अर्ह मनुष्य बनाना चाहता है। वह देवता बनने का नाटक बन्द करने को कहता है। उसे सारवादी आदर्श-मूलक प्रत्ययवाद से घृणा है। हीगलीय दर्शन अथवा पारम्परिक पाश्चात्य दर्शन में सार को ही परम प्रधान माना गया है। प्लेटो का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान-जगत् सार-जगत् है। यह संसार उसी की प्रतिकृति मात्र है। सोरेन कीर्कगार्ड यह नहीं मानता है। उसका विचार है कि बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करने से कोई लाभ नहीं है, लाभ तो उन्हें आचरण-गत करने में ही है। कीर्कगार्ड अपने समय के ईसाइयों की कटु आलोचना करता है। वह उन्हें ईसाई बनने के लिये चेतावनी देता है।

मेरे विचार से कीर्कगार्ड सार-सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। 'सार सिद्धान्त की उपेक्षा और अस्तित्व को आदर' सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों को प्रिय है। अस्तित्ववाद का मूल मन्त्र है : "अस्तित्व सार से पहले है"। गीता सार को सर्वप्रथम और प्रधान स्थान देती है जबकि अस्तित्व को गौण स्थान देती है। कैसे गीता और कीर्कगार्ड की मान्यताओं में समरूपता का दर्शन किया जा सकता है? वे विरोधी दो ध्रुव हैं। उन्हें खींच-तानकर मिलाने में बड़ा परिश्रम है। यदि अस्तित्व और सार के विभेद को कुछ काल के लिए विस्मृत कर दिया जाय तो गीता के स्थितप्रज्ञ तथा कीर्कगार्ड के आत्मनिष्ठ व्यक्ति में समझौता कराया जा सकता है। इस कार्य में महान् दार्शनिकता है।

जहाँ तक गीतोक्त स्थितप्रज्ञ के लक्षण की बात है, आत्मनिष्ठ व्यक्ति में इसे ढूँढ़ा जा सकता है। ईश्वर के प्रतिपूर्ण समर्पण-भाव दोनों को इष्ट है। श्रद्धा और विश्वास दोनों के लिए आवश्यक शर्त है।

अस्तित्व की आभ्यन्तरता में दोनों की निष्ठा है। दोनों आत्मस्थ हैं। दोनों अन्तरानुभूति में विश्वासी हैं। तर्क से दोनों को चिढ़ है। ईश्वर के लिए दोनों समर्पित हैं। दोनों की कथनी और करनी में एकरूपता है। दोनों सापेक्षवाद के समर्थक हैं। दोनों आत्मिकरूप से सन्तुष्ट हैं। दोनों अन्त राराम तथा अन्तर्ज्योति हैं। दोनों अस्तित्व बोध के अधिकारी हैं। दोनों कर्म-योगी हैं। वे कर्म में अधिकार मानकर चलते हैं, किन्तु फल-प्राप्ति की चिन्ता दोनों को ही नहीं है। अब्राहम और इसाक की कथा कर्म के अधिकार और फल में आधिकार की बात को पुष्ट करती है।

स्थितप्रज्ञ भोग से वैराग्य[३२] की ओर अतिक्रमण करता है। कीर्कगार्ड का आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी इसी प्रक्रिया में है। सौन्दर्यात्मक स्तर से धार्मिक स्तर तक छलाँग मारकर वह पहुँच जाता है। गीतोक्त स्थितप्रज्ञ शनैः-शनैः अभ्यास और वैराग्य से पहुँचतता है। कर्म-बन्ध से मुक्ति दोनों को प्रिय है। किन्तु जितना चयन-स्वातन्त्र्य आत्मनिष्ठ व्यक्ति को है, स्थितप्रज्ञ को नहीं। मेरे विचार से जितना गन्ध निरपेक्षता का स्थितप्रज्ञता में है, कीर्कगार्ड अपने आत्मनिष्ठ व्यक्ति को इससे बचाता है। कीर्कगार्ड निरपेक्ष स्थिति का विरोधी है। स्थितप्रज्ञ में निरपेक्षता का गन्ध है, जो कीर्कगार्ड के आत्मनिष्ठ व्यक्ति से उसे पृथक् कर देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता और कीर्कगार्ड के दर्शन में सार और अस्तित्व का संघर्ष है। निःसन्देह इसका प्रभाव उनकी मान्यताओं पर पड़ेगा ही। गीता भारतीय संस्कृति व भारतीय दर्शनरूपी धेनु का दुग्ध है। वह दर्शन-सार है। उसकी मान्यता अति प्राचीन है। कीर्कगार्ड १९ वीं शताब्दी का अस्तित्व-समर्थक और सार को अस्तित्वाधीन मानने वाला दार्शनिक है। पाश्चात्य पारम्पारिक दर्शन में उसने सार की ही प्रभुता देखी, जिससे मानव-अस्तित्व जर्जरित होता जा रहा था। समुद्र में एक बूंद के समान मानव-अस्तित्व पूर्णतः उपेक्षित हो चुका था। उसने इस मान्यता का डटकर विरोध किया और अस्तित्व को सार का पूर्ववतो बताकर अस्तित्व का हित-चिन्तन किया। आत्मनिष्ठता की अवधारणा में यही अस्तित्वात्मक मान्यता है। यदि सार अस्तित्व का कल्याण न कर सके तो क्या लाभ उससे ? सार तो मानव-निर्मित है, वे परिवर्तनीय हैं। गीता सारवादिनी पारम्पारिक दर्शन-मूला मान्यताओं से पूरित है। इसमें अस्तित्व अर्थात् शरीर की गणना नहीं, शरीरी अर्थात आत्मा की गणना है।

गीता एवं कीर्कगार्ड के दर्शन में स्थितप्रज्ञता एवं आत्मनिष्ठता की अवधारणाओं की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि गीता का 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष सार अर्थात् आत्मा को ही मुख्य मानता है जबकि कीर्कगार्ड का 'आत्मनिष्ठ' व्यक्ति अस्तित्व अर्थात् शरीर को ही परम प्रधान मानता है। दोनों के दो रास्ते हैं। वे पृथक्-पृथक् उन्हीं पर चलते हैं। एक सार-समर्थक है तो दूसरा अस्तित्व-समर्थक। एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। एक ईश्वर को बाहर और भीतर-सर्वत्र, कण-कण में, समस्त स्थावर और जंगमों में देखा करता है तो दूसरा ईश्वर को अपने अस्तित्व (देह) की गहराई में गुप्त रूप में असीम देखता है। एक ईश्वर की कृपा से उद्धार पाता है तो दूसरा अपने ही स्वातन्त्र्य और दायित्व से उद्धरित होना चाहता है।

समाहार में यह कहा जा सकता है कि स्थितप्रज्ञता और आत्मनिष्ठता दोनों वस्तुनिष्ठता से परे की स्थिति हैं। दोनों अन्तर्मुखी दशाएँ हैं। बाहर से भीतर की ओर दो गतियाँ हैं। दोनों को दो दृष्टियों से समझना चाहिए। हां, कुछ साम्याधार पर और कुछ वैषम्याधार पर विवेचनीय हैं। तुलनात्मक दर्शन का यही कार्य है।

अस्तित्व-भवन
६७६ सी, सिविल लाइन,
बस्ती, उ. प्र.

—रामदास पाण्डेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियां

१. मनुस्मृति
२. गीता २ : ५४
३. गीता २ : ५८
४. वही २ : ५६, २ : ५७ द्रष्टव्य ।
५. वही २ : ६४
६. वही २ : ६८
७. वही २ : ६९
८. वही २ : ७१
९. वही २ : ७२
१०. वही ३ : ६
११. सोरेन कीर्कगार्ड; आन अथारिटी एण्ड रिवीलेशन, अँग्रेजी अनु. वाल्टर लारी (हार्पर टार्च बुक्स, दी क्लाइस्टर लाइब्रेरी, न्यूयार्क) संस्करण १९६६, पृष्ठ १४७ द्रष्टव्य ।
१२. गीता ३ : ७
१३. गीता ५ : १०
१४. गीता ५ : २४
१५. गीता ६ : ७
१६. गीता ६ : ८
१७. गीता ६ : २९
१८. ईशोपनिषद्—मन्त्र, ६
१९. गीता ८ : ८
२०. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ : ८
२१. गीता १० : ११
२२. गीता १२ : १३, १४, १५, १६, १७, १८, एवं १९ श्लोक ।
२३. पाल रूविचेक; अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष, हिं. अनु. डा पी. माचवे, (मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी-भोपाल), सं. १९७३, पृष्ठ १०२-१०३ देखें ।
२४. डी. जे. ओ, कॉनर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ— ए क्रिटिकल हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलॉस्फी, संस्करण— १९६४ में एलास्डेयर मैकिन्टायर का लेख," एग्जिस्टेन्सियलिज्म पृष्ठ ५१० द्रष्टव्य ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५. सोरेन कीर्कगार्ड; आन एथारिटी एण्ड रिवीलेशन, पृष्ठ १५५ तथा १६८ से सहायता लें।

२६. लुइस डूपरे; कीर्कगार्ड ऐज थिआलॉजियन (शीड एण्ड वार्ड, लि. ३३ मेडन लेन, लन्दन, डब्ल्यू. सी.–२) सं. १९६३, पृष्ठ १४३.

२७. ज़ेम्स कालिन्स; दी माइण्ड आफ कीर्कगार्ड, १९६७ (शिकागो) पृष्ठ-१९, पृष्ठ २६ सहायतार्थ अवलोकनीय।

२८. वही, पृष्ठ १४७–१४८.

२९. सोरेन कीर्कगार्ड; दी आर, अँग्रेजी अनु., वाल्टर लॉरी (ऐंकर बुक्स डबुल डे एण्ड कं. न्यूयार्क, सं. १८५९, पृष्ठ २५४.

३०. सोरेन कीर्कगार्ड:, आइदर–आर, भाग–२, पृष्ठ १७५ (स्वेन्सन एण्ड स्वेन्सन), प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, (सं. १९४६)

३१. गीता २ : १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५ तथा ३० श्लोक द्रष्टव्य।

३२. गीता २ : ५२

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पातञ्जलयोग में ईश्वर प्रणिधान– उसका स्वरूप और स्थान

योग-साधना चिरकाल से विश्व के अनन्त कष्टों के निवारक उपाय के रूप में स्वीकृत रही है। योग-साधना की कितनी विधियाँ प्रचलित रही हैं यह कह सकना न तो संभव है और न प्रासङ्गिक ही, किन्तु योग-साधना की विविध विधियों अथवा परम्पराओं में महर्षि पतञ्जलि प्रदर्शित विधि को सर्वाधिक प्रतिष्ठित अथवा प्रामाणिक माना जाता है इसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी ऐसा मेरा विश्वास है। प्रस्तुत निबन्ध में पतञ्जलि प्रणीत योग सूत्र में प्राप्त योग परम्परा में ईश्वर प्रणिधान का क्या स्वरूप है और उसमें उसका क्या स्थान है इसकी चर्चा की जा रही है।

पतञ्जलि के सूत्रों में ईश्वर-प्रणिधान का अनेक प्रसङ्गों में प्रयोग देखा जाता है। समाधिपाद में उन्होंने चित्तवृत्ति के निरोध के उपायों में अन्यतम उपाय के रूप में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख किया है।[1] जबकि एक अन्य स्थल पर वे योग के आठ अंगों में अन्यतम नियमों में से एक नियम के रूप में ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख करते हैं।[2] इन दोनों उल्लेखों को देखकर यह सन्देह होता है कि पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान योग अर्थात् चितवृत्तियों के निरोध का एक स्वतन्त्र प्रशस्त मार्ग है, अथवा उसके अनुसार ही योग के अन्य अंग नियम का उप-अंग है। यह प्रश्न तब और उलझ जाता है, जब वे एक अन्य स्थल पर उसे ही क्रिया योग के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त जब वे 'समाधिसिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्'[4] कहकर ईश्वर प्रणिधान को समाधिसिद्धि का उपाय घोषित करते हैं, तब यह उलझन और बढ़ जाती है। क्योंकि उनके अनुसार समाधि स्वयं योग आठ अंगों में अन्तिम अंग है, तथा वह सविकल्प, निर्विकल्प, सविचारा, निर्विचारा, सानन्दा, निरानन्दा, सस्मिता आदि, अनेक प्रकार की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात आदि भेदों से युक्त है। इस स्थिति में किसी स्पष्ट निर्देश के अभाव में यदि ईश्वर प्रणिधान को समाधि के प्रथम प्रकार सविकल्प का कारण मान लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाए तो वह सम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि से बहुत कनिष्ठ सिद्ध होने लगेगी और उस स्थिति में वह साक्षात् योग का, चित्तवृति के निरोध का उपाय कैसे स्वीकार किया जा सकेगा। व्यास एवं विज्ञान भिक्षु आदि आचार्यों ने इस समस्या का समाधान ईश्वर प्रणिधान के रूप में अन्तर मानकर किया है।[५] उनकी मान्यता है कि योग के अन्यतम उपाय के रूप में वर्णित ईश्वर प्रणिधान परमात्मप्रज्ञा रूप है। परमात्मप्रज्ञा भक्ति का प्रकार-विशेष है जिसमें साधक की प्रज्ञा में परमात्मा-विषयक प्रेम का उदय रहता है, जिसके फलस्वरूप उसे (साधक को) ईश्वर की कृपा का लाभ हो जाता है, और उस कृपा के कारण ध्यान मात्रा से साधक (ध्यान करनेवाले) को समाधि और मोक्ष दोनों की प्राप्ति उपायान्तर के बिना ही हो जाती है। यह भक्ति-विशेष मानसिक, वाचिक, कायिक रूप से तीन प्रकार की अथवा अभिध्यान अर्थात् तीव्रइच्छा-रूप एक अद्वितीय प्रकार की हो सकती है।[६] क्रियायोग अथवा योगाङ्ग के रूप में वर्णित ईश्वर प्रणिधान इससे भिन्न है जिसमें साधक अपनी समस्त क्रियाओं को अथवा उसके परिणामस्वरूप प्राप्तव्य भोगों को ईश्वर को समर्पित कर देता है।[७]

इन आचार्यों के अनुसार पूर्वोक्त परमात्म-प्रज्ञारूप ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग अथवा योगाङ्ग की सीमा से बाहर नहीं है किंतु वह यहाँ स्वाध्याय पद से विवक्षित है।[८]

इस प्रसंग में विचारणीय है कि पतञ्जलि प्रणीत इन योग सूत्रों में, जिनकी कुल संख्या १६५ है, ईश्वर प्रणिधान पद का केवल चार बार प्रयोग करते हुए क्या पतञ्जलि को इतना ध्यान नहीं रहा कि वे इस पद का केवल सत्ताइस सूत्रों के अन्तर पर सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयोग कर बैठे, अथवा परमात्मचिन्तन (परमात्मप्रज्ञा) के लिए पतञ्जलि को कोई शब्द ही नहीं मिल सका और वे शब्द-दारिद्रय के कारण स्वाध्याय अर्थ के लिए ईश्वर प्रणिधान पद का प्रारम्भ में प्रयोग करते हैं, और दूसरे पाद में उचित शब्द का बोध हो जाने पर वे उसके लिए स्वाध्याय पद का एकाधिक बार प्रयोग करते हैं, और उस पद का भी स्वाध्याय पद के साथ ही उसके वास्तविक अर्थ में प्रयोग करने लगे। साथ ही उन्हें इतना अवसर भी नहीं मिला कि वे १६५ सूत्रों में निबद्ध अपने शास्त्र में समुचित पद-प्रयोग पर विचार कर सुधार भी कर लेते।

इस प्रसंग में मेरी मान्यता अथवा मेरा सुझाव है कि ईश्वर प्रणिधान पद के सभी प्रयोगों में भिन्न अर्थों के करने की आवश्यकता नहीं है, सभी स्थलों पर इस पद का अर्थ परमात्मप्रज्ञा अर्थात् ईश्वर-चिन्तन ही मानना चाहिए, प्रणव जाप अथवा प्रणव अर्थ की भावना उसकी क्रिया अथवा बौद्धिक स्थिति है, समस्त लौकिक और वैदिक क्रियाओं का अथवा कर्मफलों का ईश्वर को समर्पण उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहज फल अथवा ईश्वर-चिंतन के साथ लोक में स्थिति के समय की एक गौण क्रिया है, दूसरे शब्दों में ईश्वर-चिंतन की क्रिया उसका बोध और सहजफल तीनों ही ईश्वर प्रणिधान की विशेष स्थितियाँ हैं, अतः उन्हें ईश्वर प्रणिधान ही मानना चाहिए। स्वाध्याय पद का अर्थ मोक्षशास्त्र का अध्ययन ही लेना चाहिए ईश्वर-चिन्तन नहीं।

जहाँ तक ईश्वर प्रणिधान को योग के अन्यतम साधन और योग के अन्यतम अंग के उपांगके रूप में परिगणन के कारण विरोध प्रतीति का प्रश्न है, उसका समाधान प्रथम पाद में समकालीन प्रचलित सम्प्रदायों का संकेत मानने से सहज हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि पतञ्जलि ने प्रथम पाद में चित्तवृत्ति के निरोध के जिन उपायों का उल्लेख वा पद का प्रयोग करते हुए किया है, वे सभी मत पतञ्जलि के अपने पक्ष नहीं हैं। उनका पक्ष केवल अभ्यास वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है केवल यही है, जो साधनपाद से कैवल्यपाद के अन्त तक समानरूप से स्वीकृत है। योगांग का निर्देश क्रमिक अभ्यास का निर्देश है, वैराग्य सर्वत्र उनमें अनुस्यूत है और यह वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास तक समान रूप से चलता है, और इसलिए वे कैवल्य के लिए सत्व पुरुषान्यताख्याति के प्रति भी वैराग्य आवश्यक मानते हैं [६]। ईश्वर केवल प्रणिधान मात्र से चित्तवृत्ति निरोध रूप भक्तियोग का पक्ष उनका न होने पर भी अन्य पक्षों की अपेक्षा इसे वे कुछ वरीयता भले ही दे सकते हैं, इसीलिए उन्होंने इसे द्वितीय क्रम में रखा है और इसका कुछ परिचय भी दिया है, प्रच्छर्दन विधारणरूप प्राणायाम, विषयवती प्रवृत्ति, विशोका प्रवृति, केवल वैराग्य, स्वप्न-निद्रा-अथवा ज्ञान के आलम्बन अथवा यथाभित ध्यान के पदों की भांति इसे अन्याल्पात नहीं छोड़ा है। ये सभी पक्ष पतञ्जलि के समय योगपरम्परा के रूप में स्वीकृत रहे हैं, योग सूत्र में उन्होंने इस सभी का संकेतमात्र किया है। क्योंकि योग साधना का दर्शन है अतः इसमें उन्होंने खण्डन मण्डन की सर्वथा उपेक्षा की है। इन विविध परम्पराओं में उन्हें जो जितने रूप में ग्राह्य था उतना उन्होंने निस्संकोच ग्रहण कर लिया है। उदाहरणार्थ ईश्वर प्रणिधान के अतिरिक्त उन्होंने प्राणायाम को भी यथोचित मान्यता दी है। प्राणायाम को चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय रूप में भी अनेक योग विषयक उपनिषदों में तथा वर्तमान कालतक कुछ योग सम्प्रदायों में स्वीकार किया जाता है, किन्तु पतञ्जलि उसे केवल एक योगाङ्ग के रूप में ही मान्यता देते हैं। उनकी मान्यत है कि प्राणायाम से चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता अपितु प्रकाश के आवरण के नाश के साथ उसके द्वारा साधक को अन्तरंग प्रथम योगाङ्ग धारणा की योग्यता मात्र प्राप्त होती है। अन्तर इन्द्रिय मन आदि की कौन कहे बाह्य इन्द्रियों की वश्यता भी प्राणायाम से नहीं प्रत्याहार से प्राप्त होती है। [१०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके अतिरिक्त शेष पांच पक्षों की प्रथम पाद में चर्चा करके भी वे सम्पूर्ण योग सूत्र में उनकी कहीं चर्चा तक नहीं करते। यदि वे सभी पक्ष पतञ्जलि को विकल्प के रूप में अभिमत होते तो वे इस प्रकार उनकी उपेक्षा न करते।

फलतः हम इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य पक्षों की भाँति ईश्वर प्रणिधान का पक्ष भी पतञ्जलि का पक्ष नहीं है। हां इसे वे योग विरोधी न मानकर आंशिक रूप में उसे योग के लिए उपयोगी मानते हैं। इसीलिए वे इसे नियम नामक योगाङ्ग के प्रकार के रूप में स्वीकार करने के साथ ही दूसरे स्थल पर समाधि-सिद्धी के प्रति भी इसे कारण मानने में भी संकोच नहीं करते। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि पतञ्जलि प्राणायाम और प्रत्याहार से धारणा के प्रथम सोपान पर पग रखकर क्रमशः ध्यान और समाधि का मार्ग दिखाते हैं।[११] इसके साथ ही समाधि-भावना के प्रयोजन से न केवल ईश्वर प्रणिधान की अपितु तप और स्वाध्याय की भी करणीयता स्वीकार करते हैं।[१२] और इन तीनों को समाधि के कारण के रूप में एक समष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं।

योग सूत्र के प्रायः सभी परम्परागत व्याख्याकारों का ध्यान प्रथम पद गत इस योग परम्पराओं के संकेत की संकेतता पर नहीं गया है। सम्भवतः इसी कारण पूर्व संकेतित परस्पर विरोध के समाधान के लिए उन्हें ईश्वर प्रणिधान पद के दो भिन्न अर्थ खोजने पड़े हैं। वस्तुतः यहां ईश्वर प्रणिधान का अर्थ प्रणवजाप और उसकी अर्थ-भावना ही मुख्य है। तथा सर्व कर्म समर्पण अथवा उनके फलों का समर्पण रूप अर्थ गौण एवं प्रासंगिक अर्थ है, मुख्य अर्थ नहीं।

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मोतीलाल नेहरु पार्क इलाहाबाद (उ. प्र.)

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

टिप्पणियाँ

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः १. १२। ईश्वर प्रणिधानाद्वा। २३। प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य। ३४। विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी। ३५। विशोका वा ज्योतिष्मती। ३६। वीतराग विषयं वाचित्तम्। ३७। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। ३८। यथाभिमत ध्यानाद्वा। १. ३६। योगसूत्र।

२. तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। २. १.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. योग सूत्र २. ४२–यमनियमआसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोष्टावङ्गानि । २. २८ । शौचसन्तोषतपःस्वध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः । २. ३२) ।

४. योग सूत्र २. ४२

५. प्रणिधानमत्र न द्वितीय पाद वक्ष्यमाणं किन्त्वसम्प्रज्ञात कारणीभूत समाधिः भावनाविशेष एवं । तज्जपस्तदर्थभावजनमित्यागामिसूत्रेणैव आत्मप्रणिधानस्यात्र लक्षणीयत्वात् । - योगवार्तिक १. २३, पृ. ६३

६. प्रणिधानाद् भक्ति विशेषाद् मानसाद्वाचिकात्कायिकाद्वा अभिध्यानम्-अनागतेऽर्थे इच्छा, इदमस्याभिमतमस्तु इति, तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण । तत्ववैशारदी १. २३ पृ. ६३ ।

७. (क) ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा । व्यासभाष्य २. ८१ ख) प्रथम पादोक्तप्रणिधानातदतिरिक्तमत्र प्रणिधानमाह–सर्वक्रियाणामिति । लौकिक वैदिकासाधारण्येनं सर्वकर्मणाम् परमेश्वरेऽन्तर्यामि न्यर्पणमित्यर्थ : । –योगवार्तिक २. १, पृ. १३६

८. स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । व्यासभाष्य वही २. १ ।

९. तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम् । ३. ५०

९. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । धारणासु च योग्यता मनसः । २. ५२.–५३

१०. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । ततः परमावश्यता इन्द्रियाणाम् । २. ५४-५५

११. देशवन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्येकतानताध्यानम् । तदेवार्थमात्रनिर्मासि स्वरूपशून्यमिव समाधिः । ३. १–३

१२. तपः स्वाध्यायेश्वरे प्रणिधानानि क्रियायोगः । समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । २–१–२

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषाई-खेल और जीवन-चर्याएँ

उत्तर विट्गेंस्टाइन के दर्शन का प्रमुख आशय भाषा संबंधी उस प्रचलित मत का खण्डन करना है जिसके अनुसार " भाषा सदैव एक ही प्रकार से कार्य करती है और हमेशा एक ही प्रयोजन के लिए इस्तेमाल की जाती है : विचारों को संप्रेषित करने के लिए-ये विचार मकानों, पीड़ाओं, शुभ और अशुभ या आपकी इच्छानुसार अन्य किसी भी विषय के बारे में हो सकते हैं।"[१] यह सोचना कि शब्द उन विषयों से जिनके लिए उनका प्रयोग किया गया है किसी न किसी प्रकार से सह-सम्बन्धित हैं, गलत होगा। इस प्रकार के विचार में यह कल्पना निहित है कि भाषा का केवल एक ही विशेष उपयोग या नियोजन होता है, कि वह जगत् के बारे में बात करने के लिए इस्तेमाल की जाती है। वस्तुतः जगत् के बारे में ही नहीं बल्कि जगत् के अन्दर संचार-माध्यम के रूप में भी उसका प्रयोग किया जाता है। और इस भाँति के प्रयोग के, सन्दर्भ के अनुसार, अनेक प्रकार हो सकते हैं। भाषा एक मूर्त सामाजिक क्रिया है जो मानवी आवश्यकताओं और प्रयोजनों को अभिव्यक्ति देती है। " आज्ञा देना, प्रश्न करना, पुनर्गणना, बातचीत-हमारे स्वभावगत इतिहास के वैसे ही अङ्ग हैं जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना, खेलना-कूदना, आदि। "[२] अतः भाषा को हम उस व्यापक मानवी सन्दर्भ, जिसमें कि वह स्थित है, से अलग करके नहीं देख सकते।

विभिन्न मानवी सन्दर्भों में भाषा के विविध मूर्त प्रयोगों विट्गेंस्टाइन ने " भाषाई-खेल " और उस व्यापक मानवी सन्दर्भ को जिससे अलग करके भाषा को देखा ही नहीं जा सकता, और जिसमें वह यथार्थतः स्थित है, " जीवन-चर्या " कहा है। विट्गेंस्टाइन ने इन दोनों ही मुहावरों का प्रयोग बहुत निश्चित और स्पष्ट अर्थों में नहीं किया है। अतः प्रस्तुत निबंध का आशय " भाषाई खेल " और " जीवन-चर्या " के अर्थ को समझना और इन दोनों के परस्पद सम्बन्ध को स्पष्ट करना है।

परामर्श (हिन्दी) वर्ष २ : अङ्क ४; सितम्बर १९८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि "भाषाई-खेल हमारी भाषा के किसी एक विशेष पक्ष का सरलीकृत मॉडल है।" [३] विट्गेंस्टाइन ने 'भाषाई-खेलों की बाहुल्यता" [४] की बात क है और यह भी कहा है कि प्रतिदिन के भाषाई-खेलों की विशाल अनेकता के बारे में हम प्रायः अविज्ञ रहते हैं। [५] फिर भी उन्होंने भाषाई-खेलों की विविधता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक लम्बी सूची तैयार की है- [६]

आज्ञा देना, और उसका पालन करना -
किसी वस्तु की आकृति का वर्णन करना अथवा उसका नाप देना -
वर्णन के द्वारा किसी वस्तु की रचना करना (चित्रांकन) -
किसी घटना को प्रतिवेदित करना -
किसी घटना के बारे में अनुमान लगाना -
किसी प्राक्कल्पना का निर्माण और उसका परीक्षण करना-
किसी प्रयोग के परिणाम को तालिकाओं और आरेखों में प्रस्तुत करना-
कहानी गढ़ना और उसे पढ़ना -
नाटक में अभिनय करना-
नारे लगाना -
पहेली बुझाना-
लतीफ़ा गढ़ना, उसे कहना-
व्यावहारिक गणित के किसी सवाल का हल ढूँढ़ना-
एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करना-
पूछना, धन्यवाद देना, श्राप देना, अभिनन्दन करना, प्रार्थना करना-

इसके अतिरिक्त विट्गेंस्टाइनने अन्य तमाम भाषाई-खेलों का भी जगह जगह जिक्र किया है। स्वप्न का वर्णन करना [७] सम्वेदनाओं को अभिव्यक्त करना, [८] विगत इच्छाओं को प्रतिवेदित करना, [९] निर्णय की अभिव्यक्ति से भविष्य-कथन करना, [१०] निर्देशनात्मक परिभाषा देना, [११] 'मेरा मतलब था ..' और 'मैंने सोचा था...' के भाषाई-खेल। [१२] यहाँ तक कि विट्गेंस्टाइन ने झूठ बोलने को भी एक भाषाई-खेल कहा है जिसके लिए अन्य किसी दूसरे 'खेल' की तरह सीखने की आवश्यकता होती है। [१३] स्पष्ट ही भाषाई-खेलों की विविधता निश्चित नहीं है और इसकी कोई अटल सूची निर्मित नहीं की जा सकती। विट्गेंस्टाइन ने भाषाई-खेलों की कभी कोई स्पष्ट और केवल एक अर्थवाली परिभाषा प्रस्तुत नहीं की और शायद ऐसा किया भी नहीं जा सकता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सभी भाषाई खेलों में मानवी कार्य, अर्थ और संप्रेषणीयता निहित होती है तथापि उनमें कोई एक, समान रूप से सभी में व्याप्त, विशेषता नहीं होती जिससे उन्हें परिभाषित किजा जा सके। जिस प्रकार अन्य खेलों में हम आड़ीतिरछी और परस्पर व्याप्त समानताओं-कभी व्यापक समानताएँ तो कभी पोरेबार समानताएँ–का एक जटिल जाल पाते हैं,[१४] उसी तरह भाषाई-खेलों का भी मानों एक जटिल जाल है। इस प्रकार की समानताओं के लिए विट्गेंस्टाइने "पारिवारिकसादृश्यता" कहा है।[१५] तात्पर्य यह है कि भाषाई-खेलों के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। हम उनके बीच केवल अपने प्रयोजन के अनुसार एक काम-चलाऊ सीमा निर्धारित कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है। विभिन्न भाषाई-खेलों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द प्रायः वही रहते हैं किन्तु भाषाई-खेलों के सन्दर्भ में उनके अर्थ बदल जाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषाई-खेल एक अस्पष्ट संप्रत्यय है। किन्तु विट्गेंस्टाइन का मत है कि अस्पष्ट होने के बावजूद भी कई संप्रत्यय उपयोगी बने रहते है; बल्कि यहाँ तक कि कई बार उनकी सुस्पष्टता उनकी उपयोगिता में बाधक हो जाती है। क्या कभी कभी हम एक सुस्पष्ट तस्वीर की जगह एक धुँधली तस्वीर को वरीयता नहीं देते? क्या अपनी तर्जनी से किसी स्थान पर संकेत करते हुए यह कहना 'लगभग वहाँ खड़े हो जाइए' कोई अर्थ नहीं रखता?[१६] ऐसे उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि कई जगह स्पष्ट परिभाषाएँ नहीं दी जा सकतीं किन्तु अपनी बात को उदाहरणों द्वारा समझाया अवश्य जा सकता है। बिट्गेंस्टाइन भाषाई-खेल के संप्रत्यय को भी उदाहरणों द्वारा प्रत्यक्षतः बताते हैं,[१७] उसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं करते।

खलों की ही भाँति सभी भाषाई-खेलों के भी मानो अपने-अपने नियम और अपनी-अपनी व्याकरण होती है। कोई भी भाषाई-खेल खेलते समय हम उसके नियमों के अनुसार ही 'चलते' हैं। नियम तोड़ना भाषाई-खेल में गलती करना है। इसी प्रकार किसी एक भाषाई-खेल के नियमों को दूसरे खेल में आरोपित करना, भाषाई-खेलों में घपला करना है। इस प्रकार का घपला अक्सर हो जाता है क्योंकि विभिन्न भाषा खेलों में उपयोग होनेवाले शब्द वे ही रहते हैं और उनकी सतही व्याकरण हमें धोके में डाल देती है। 'वर्णन' शब्द को ही लीजिए। किसी 'कमरे का वर्णन' करना और 'संवेदनाओं का वर्णन' करना दो अलग-अलग बातें हैं किन्तु दोनों ही प्रसंगों में 'वर्णन' शब्द का अर्थ हम कभी-कभी एक ही लगा बैठते हैं और कमरे में रखी वस्तुओं की तरह संवेदनाओं के विषय भी ढूंढने लगते हैं। यहाँ वर्णन करने की सतही व्याकरण हमें धोखा दे जाती है और हम 'कमरे के वर्णन' और 'संवेदनाओं के वर्णन' के दो भिन्न खेलों को समान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों से खेलने लग जाते हैं जो स्पष्टतः गलत है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि भाषाई-खेलों के नियम, स्वयं भाषाई-खेलों की ही भाँति, निश्चित और स्पष्ट नहीं होते। वे संकेत स्तम्भों की तरह काम करते हैं जो हमें केवल दिशा बताते हैं–वास्तविक रास्ता हमें स्वयं ही ढूँढना होता है। [१८]

नियम की अवधारणा के साथ 'गलत' और 'सही' की अवधारणाएँ भी जुड़ी हुई हैं। कोई भी भाषाई-खेल जब अपने नियमानुसार खेला जाता है तभी सही होता है। किन्तु वह नियमानुसार खेला गया है इसका निर्णय खेलनेवाला स्वयं अपनी मर्ज़ी से नहीं करता। वस्तुगत रूपसे इसकी जाँच ज़रूरी है। अतः नियमों का सार्वजनिक होना आवश्यक है। निजी-नियम नियम नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे इच्छानुसार, बिना किसी वस्तुनिष्ठ जाँच के, कभी भी बदले जा सकते हैं। ऐसा भाषाई-खेल जिसकी उसके नियमानुसार सार्वजनिक और वस्तुनिष्ठ जाँच नहीं की जा सकती, वस्तुतः खेल कहा ही नहीं जा सकता। पीड़ा को एक आत्मनिष्ठ संवेदना मानना एक ऐसा ही छद्म-खेल है। यह अपनी एक निजी-भाषा हो सकती है, लेकिन इसे भाषाई-खेल नहीं कहा जा सकता [१९]

भाषाई-खेलों के अपने परिवार होते हैं। [२०] विट्गेंस्टाइन ने कम से कम तीन ऐसे परिवारों का जिक्र किया है। कुछ भाषाई-खेल ऐसे हैं जिन्हें उन्होंने 'आद्य भाषाई-खेल' कहा है। [२१] अपनी **ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स** में उन्होंने भाषाई-खेलों के संप्रत्यय को वस्तुतः केवल ऐसे ही खेलों तक सीमित रखा है। ये 'आद्य भाषाई-खेल' भाषा के वे प्रारम्भिक हिस्से हैं जिनका उपयोग प्रतिदिन की स्वाभाविक भाषा को सीखने में किया जाता है। भाषाई-खेलों का दूसरा परिवार प्रतिदिन की पूर्ण निर्मित भाषा में खेले गए भाषाई-खेलों का है। विट्गेंस्टाइन ने इस प्रकार के खेलों की एक लंबी सूची दी है। भाषाई-खेलों का तीसरा परिवार विभिन्न तकनीकी भाषाएँ और उनके अपने खेल हैं जिनका आविष्कार मनुष्य ने प्रतिदिन की भाषा के अतिरिक्त किया है और ये भाषाएँ प्रायः प्रतिदिन की भाषा का संक्रमण कर जाती हैं उससे परे और ऊपर रहती हैं।

भाषाई-खेल एक दूसरे से आच्छादित और परस्पर गुम्फित रहते हैं। केवल प्रयोजनानुसन्र ही उनकी सीमाएँ निर्धारित की जा जा सकती हैं। गणित को हम एक भाषाई-खेल कह सकते हैं किन्तु एक दूसरी दृष्टि से वह विज्ञान के भाषाई-खेल का एक भाग हो सकता है। इस प्रकार एक स्तर पर विज्ञान एक भाषाई-खेल है जिसके अंतर्गत भौतिकी, प्राणिकी, आदि, अनेक भाषाई-खेल सम्मिलित हैं; और इन अलग-अगल विशेष भाषाई-खेलों में अनेक सामान्य भाषाई-खेल– जैसे, प्रश्न पूछना, गणना करना, सिद्धान्त बनाना, आज्ञाएँ देना, उनका पालन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना, प्राक्कल्पनाओं का परीक्षण करना आदि,–कभी एक दूसरे का समर्थन करते हुए, कभी-कभी विरोध करते हुए, समाविष्ट हैं। इन तमाम भाषाई-खेलों पर विज्ञान या किसी विज्ञान विशेष का एकाधिकार नहीं है। ये सभी प्रतिदिन के भाषाई-खेलों के परिवार के सदस्य हैं।

प्रतिदिन के भाषाई-खेल, इस प्रकार, बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनका न केवल हमारे रोजमर्रे के जीवन में प्रमुखस्थान है बल्कि ये वे अधिष्ठान हैं जिस पर अन्य (असाधारण भाषाएँ) आधारित हैं। विज्ञानादि की विशिष्ट भाषाएँ केवल साधारण भाषाओं के माध्यम से ही सीखी जाती हैं। साधारण भाषा और उसके खेल आधारभूत हैं।

भाषाई-खेलों को मूर्त सामाजिक कार्यों में गिना जा सकता है। प्रार्थना करना, गाली देना, गणना करना ऐसे ही सामाजिक कार्य हैं जैसे दान देना, मारना-पीटना, लेन-देन करना, आदि। यही कारण है कि किसी भी भाषाई-खेल को उसके सामाजिक सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है। सामाजिक सन्दर्भ से स्वतन्त्र कोई भी भाषाई-खेल नहीं हो सकता। भाषाई-खेल में प्रयुक्त यदि हम किसी शब्द-संप्रत्यय को समझना चाहते हैं तो उस शब्द के प्रतिवेश में सम्पन्न होनेवाले मानवी–व्यवहार, क्रियाओं और स्वाभाविक अभिव्यक्तियों को समझना होगा। किसी भी शब्द का कोई भी ऐसा प्रयोग नहीं है जो सभी भाषाई-खेलों में एक समान लागू हो सके। एक ही शब्द विभिन्न भाषाई-खेलों में भिन्न भिन्न रूप से और भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। अतः शब्दार्थ-वाक्यार्थ जानने के लिए हमें उन विशिष्ट परिस्थितियों का अवलोकन करना होगा जिनमें उसे इस्तेमाल किया गया है। और यही वह बिन्दु है जहाँ भाषाई-खेल जीवन-चर्या से जुड़ता है।

विट्गेंस्टाइन ने अपने लेखों-ग्रन्थों में 'जीवन-चर्या' के मुहावरे का प्रयोग 'भाषाई-खेल' की अपेक्षा काफी कम किया है। वस्तुतः यह मुहावरा **इन्वेस्टीगेशंस्** में केवल पाँच बार आया है और अन्य स्थानों पर यदा-कदा ही इसको प्रयुक्त किया गया है। **इन्वेस्टीगेशंस्** से पूर्व 'जीवन-चर्या' की बजाय विट्गेंन्स्टाइन ने 'परिस्थितियों' और 'अवसरों' का प्रयोग किया है। देखिए–

ऐसा प्रतीत होता है कि परिस्थिति कोई भी क्यों न हो मुझे सदैव ही यह विदित रहता है कि अमुक शब्द का प्रयोग करना चाहिए या नहीं। सरसरी दृष्टि से ऐसा लगता है वह (शब्द) किसी विशेष खेल की एक चाल है किन्तु बाद में वह खेल से स्वतन्त्र हो जाता है।...कभी-कभी मानो हम कहने लगते हैं 'यह सब बकवास है, छड़ी की एक विशेष लंबाई होती है, हम उसे कैसे भी अभिव्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों न करें।' लेकिन ज़रा सोचिए, यदि मैं सिर्फ इतना ही कहूं कि मुझे यह तो सदैव विदित ही रहता है कि छड़ी छोटी दीखती है या बड़ी, तो ! [२२]

इसी प्रकार विट्गेंस्टाइन ने किसी जन-जाति की भाषा समझने का उदाहरण प्रस्तुत किया है —

आपको (तब) पता चलोगा कि जिसे आप 'संशय' या 'विश्वास' की अभिव्यक्ति कहते हैं उसका औचित्य बहुत हद तक–निश्चित ही पूर्णतः नहीं चेष्टाओं के प्रदर्शन, मुखाभिव्यक्ति, यहाँ तक कि आवाज़ के उतार-चढ़ाव तक में निहित होता है। [२३]

अतः ऐसा लगता है कि इससे पहले कि हम किसी अन्य जनसमूह की भाषा समझ सकें, हमें चेष्टाओं, मुस्कराहटों, आदि को समझना होगा। बच्चों के बारे में तो हमें यह विदित ही है कि वे भाषा बोल पाने से पहले ही कम से कम कुछेक चेष्टाओं और संकेतों–क्रोध, स्मित–के अर्थ को सीख जाते हैं।

चेष्टाएँ, मुखाकृतियाँ, शब्द और क्रियाएँ–जीवन-चर्या के अच्छे उदाहरण कहे जा सकते है। ज़ीवन-चर्या हमारे भाषाई-खेलों की पूर्वमान्यता है, उनमें वह निहित है। विट्गेंस्टाइन ने यह स्वीकार किया है कि भाषा बोल पाना, हमारे कार्य का या जीवन-चर्या का एक भाग है।[२४] वे कहते हैं, "किसी भाषा की कल्पना करना, एक जीवन-चर्या की कल्पना करना है।" [२५] वस्तुतः भाषा को जीवन-चर्या से अलग किया ही नहीं जा सकता। जब हम किसी बात को सही या ग़लत कहते हैं तो यह नहीं सोचना चाहिए कि उसका सही या ग़लत होना हमारे मतैक्य को अभिव्यक्त करता है। यह वस्तुतः हमारी भाषा की सहमति–हमारी ज़ीवन-चर्या की सहमति–को प्रदर्शित करता है। [२६]

बच्चे अपने समूह की भाषा किस प्रकार सीखते हैं ? यदि हम गौर करें तो पाएँगे कि वे शब्दों का अर्थ उनकी परिभाषाओं-भले वे निर्देशनात्मक परिभाषाएँ ही क्यों न हों–से नहीं सीखते। विट्गेंस्टाइन का स्पष्ट मत है कि भाषा व्याख्या द्वारा नहीं, प्रशिक्षण द्वारा सीखी जाती है। भाषा सीखने का आरम्भ शब्दों से नहीं, किन्हीं अवसरों और कार्यों से होता है। [२७] तात्पर्य यह है कि शब्दों और भाषा के चरित्र को उन अवसरों, परिस्थितियों और कार्यों, जिनमें कि उनका प्रयोग किया गया है, से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ, 'आग जलाती है,' इस 'निश्चिति' (अथवा 'अवश्यंभाविता') का वास्तविक स्वभाव क्या है ? इसे तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। तर्क के रूप में वस्तुतः यहाँ कोई युक्ति जुटाई ही नहीं जा सकती। पक्ष या विपक्ष में यदि कोई तर्क यहाँ जुटाया भी गया तो 'आग जलती है,' इस पूर्वकथन में निहित निश्चिति को वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तो अधिक दृढ़ कर सकता है न ही इसे दुर्बल बना सकता है। इसके विरोध में कितने ही तर्क क्यों न दिए जाएँ, हमें कोई भी तर्क आग की लपटों में हाथ डालने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।[२८] अतः इस निश्चित का वास्तविक आधार यदि कोई है तो वह हमारी जीवनचर्या-हमारे सोचने और रहने का तरीका है।[२९]

जब हम किसी जीवन-चर्या की कल्पना नहीं कर पाते तो उसकी भाषा को भी नहीं समझ पाते। यदि कोई हमसे पूछे, क्या इस मेज़ की कोई लम्बाई है, तो यह प्रश्न ही हमारी समझ में नहीं आ सक्ता। हम यह कल्पना ह नहीं कर सकते कि बिना लम्बाई की मेज़ भला कैसी होगी? इसी प्रकार पत्थरों की भाषा और चेष्टाओं को समझना भी-यदि ऐसा कुछ होता हो-हमारे लिए असम्भव है। वृक्षादि के सन्दर्भ मे इतनी कठिनाई नहीं है। कम से कम उनमें, जिसे हम गति समझते हैं, वह तो होती है। पशुओं औंर अन्य जीवित प्राणियों में तो हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि किसी हद तक उनकी 'जीवन-चर्या' हमारी अपनी की ही तरह होती है। विट्गेंस्टाइन कहते हैं—

एक पत्थर की ओर देखिए और कल्पना कीजिए कि उसकी भी संवेदनाएँ हैं। आप स्वयं से कहेंगे कि 'एक वस्तु पर संवेदना आरोपित करने का विचार भला आ ही किस प्रकार सकता है? फिर तो किसी एक संख्या पर भी उसे आरोपित किया जा सकता है।' और अब एक छटपटाती मक्खी को देखिए और एकदम आपकी सारी कठिनाइयां समाप्त हो जाएँगी..[३०]

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य के सभी भाषाई-खेल और जीवन-चर्याओं को हम पशुओं पर आरोपित कर नकते हैं। विट्गेन्स्टाइन पूछते हैं–

एक कुत्ता पीड़ा का स्वांग नहीं कर सकता? क्या वह बेहद ईमानदार है? क्या कोई किसी कुत्ते को पीड़ा का स्वांग सिखा सकता है? शायद यह सम्भव हो सके कि उसे किन्हीं अवसरों पर कुछ इस प्रकार का भौंकना सिखाया जाए कि मानो उसे पीड़ा हो रही हो। किन्तु फिर भी यहाँ उन परिस्थितियों का, जो इस प्रकार के वास्तविक स्वांग के लिए अनिवार्य है, पूर्ण अभाव होगा।[३१]

तात्पर्य यह है कि भाषाई-खेलों की सम्भावनाएँ जीवन-चर्या पर निर्भर करती हैं। वे वस्तुतः जीवन-चर्या की ही सम्भावनाएँ हैं। हमारे सभी भाषाई-खेल हमसे भिन्न जीवन-चर्याओं पर लागू नहीं किए जा सकते और न ही अपनी जीवन-चर्या से भिन्न हम कोई भाषाई-खेल खेल सकते हैं।

भाषाई-खेलों का यदि कोई आदि स्रोत है तो वह जीवन-चर्या ही है। केवल जीवन-चर्या ही भाषाई-खेलों को औचित्य प्रदान कर सकती है। हम एक विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार का भाषाई-खेल क्यों खेलते हैं ? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि इसके मूल में स्वयं हमारी जीवन-चर्या है । जीवन-चर्या मानो भाषाई-खेल में मूर्तमान हो उठती है । हम एक घायल मनुष्य की सहायता करते हैं, यह हमारी जीवन-चर्या है । यह सोचना कि हम उसपर तरस खाते हैं इसलिए उसकी सहायता करते हैं, गलत होगा क्योंकि तरस खाना और सहायता करना एक ही बात है । यह पुनरुक्ति मात्र है । यदि तरस खाना कोई व्यक्तिगत अनुभूति का नाम है तो उसका हमारे खेल से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'मुझे बहुत पीड़ा हो रही है' तो वह हमारी सहायता मांग रहा होता है । इस समय पीड़ा से सम्बन्धित इस खेल को (सहायता के लिए अप्रत्यक्ष निवेदन को) हमें नोट करना होगा कि स्वयं 'पीड़ा क्या होती है' इसकी व्याख्या करना है । 'पीड़ा' की अपने आप में कोई व्याख्या नहीं हो सकती और यदि कोई व्याख्या हो भी तो भाषाई-खेल में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता ।[३२] ये जीवन-चर्याएँ हैं जो भाषाई-खेलों को औचित्य प्रदान करती हैं और जीवन-चर्याओं का औचित्य ढूंढना बेमानी है । वे तो भाषाई-खेलों में निहित है, उनकी पूर्व-मान्यताएँ हैं, उनके प्राग्-भाषिक आधार हैं ।

निस्सन्देह हम सामान्य लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार नहीं करते जैसा स्वचालित यन्त्रों के साथ करते हैं । इसी प्रकार पीड़ाग्रस्त लोगों और पीड़ा का स्वांग लरनेवाले लोगों के साथ हमारा व्यवहार भिन्न भिन्न होता है । यह जीवन-चर्या है । जीवन-चर्या इससे भिन्न भी हो सकती है । हम एक ऐसी जीवन-चर्या की कल्पना भी कर सकते हैं जिसमें गुलाम को मशीन समझा जाए और जानवरों को वस्तुएँ मानकर उनके साथ पशुवत् आचरण किया जाए । गर्म ओवन में उन्हें ज़िंदा डालकर उनकी क्रियाओं को—चीखने-चिल्लाने तड़प आदि को-तटस्थता से परखा जाए । ये सब भिन्न भिन्न प्रकार की जीवन-चर्याएँ हो सकती हैं; किन्तु, भाषाई-खेल की दृष्टि से उनकी व्याख्या करना निरर्थक है । उन्हें तो नोट कर करना है—

'जिसे स्वीकार ही करना है-जो प्रदत्त है, वह, कहा जा सकता है, जीवन-चर्या है ।'[३३]

भाषाई-खेल अनेक और अनन्त हो सकते हैं किन्तु उनकी अनेकता मनमानी नहीं हो सकती; वे सदैव जीवन-चर्चा के अनुरूप ही होंगे-उसके विरोधी, या उससे भिन्न नहीं हो सकते । जीवन-चर्या से अपनी एकता के कारण, भाषाई-खेल अपनी अनेकता और विविधता के बावजूद-मर्यादित रहते है । ऐसा कोई भाषाई-खेल नहीं हो सकता जो जीवन-चर्या का अतिक्रमण कर जाए, उसके परे चला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाए। इस अर्थ में जीवन-चर्या मनुष्य के स्वभावगत इतिहास और उसके तथ्यों (विशेषताओं) की ओर संकेत करती है। [३४] । और ये तमाम तथ्य केवल 'तथ्य' मात्र हैं-इनकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। हमारे स्वभावगत इतिहास के 'तथ्य' क्या हैं ?

हमारी जीवन-चर्या या स्वभावगत इतिहास की सर्वप्रथम विशेषता विचारणा है और इसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। मनुष्य किसलिए सोचता है? इसका उपयोग क्या है ? "क्या मनुष्य इसलिए सोचता है कि चिंतन करना उसके लिए लाभप्रद है। (क्या वह अपने बच्चों की परिवरिश इसलिए करता है कि वह लाभप्रद है ?) "[३५] किन्तु ऐसा नहीं है - बावजूद इसके कि सोचने का परिणाम लाभदायक ही क्यों न रहा हो, सोचना हमारे स्वभावगत इतिहास का एक 'तथ्य' है। " मनुष्य वस्तुतः सोचते ही हैं।"[३६]

हमारे स्वभावगत इतिहासकी दूसरी विशेषता भाषा है। भाषा उदाहरणतः पशुओं के स्वभावगत इतिहास की विशेषता नहीं है। हमारे सन्दर्भ में भाषा का होना और पशुओं के संदर्भ में इसका अभाव-इन दोनों ही बातों की व्याख्या नहीं की जा सकती।

कभी कभी यह कहा गया है कि पशु इसलिए बात नहीं कर सकते कि उनमें मानसिक क्षमता की कमी है और इसका अर्थ है कि वे विचार नहीं कर सकते। किन्तु वे बातचीत नहीं कर सकते, बस। या, यदि भाषा के आद्य रूप को अपवाद मान लिया जाए तो यूँ कहा जा सकता है कि वे भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते। आज्ञा देना, प्रश्न करना, पुनर्गणना करना, गप्प लगाना हमारे स्वभावगत इतिहास के वैसे ही अंग हैं जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना, खेलना-कूदना।[३७]

विचारणा के कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनमें भाषा पूर्व-मान्यता की तरह निहित है। निम्नलिखित पर ध्यान दें।

कोई भी यह कल्पना कर सकता है कि एक पशु क्रोधित है, भयभीत है, आश्चर्य-चकित है। लेकिन आशान्वित है ? और क्यों नहीं ?

एक कुत्ते को यह अहसास हो सकता है कि उसका स्वामी द्वार पर खड़ा है किन्तु क्या उसे यह भी अनुमान है कि उसका स्वामी परसों के दिन वापस आ जाएगा ? और यहाँ किस कार्य को न कर पाने की ओर संकेत है ?

जो बातचीत कर सकते हैं क्या आशा भी केवल वे ही लोग कर सकते हैं ? क्या वे ही जिन्होंने भाषा-प्रयोग में दक्षता प्राप्त कर ली है ? तात्पर्य यह है कि आशा करना हमारी जटिल जीवन-चर्या का एक पर्याय है।[३८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षेप में यह (आशा करना) एक ऐसा उदाहरण है जिसके लिए भाषा की आवश्यकता है और ऐसे अनेकानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो केवल भाषा-प्रयोग करनेवाले मनुष्य के संदर्भ में ही संभव हो सकते हैं। अतः भाषा का प्रयोग एक ऐसा जाति-गुण है जो हमारे स्वभावगत इतिहास के एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है।

मानवप्रकृति की एक अन्य विशेषता को विट्गेंस्टाइन ने 'निर्णयों की सहमति' कहा है।[३९] किन्हीं विशेष परिस्थितियों में हम सब सामान्यत समान निर्णय लेते हैं- यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ यदि हम सभी पीड़ा को दुःखद मानने में सहमत न होते और पीड़ा के प्रति हमारी सबकी प्रतिक्रियाएँ एक समान न होतीं तो पीड़ा की अवधारणा ही मनुष्य के लिए बुद्धिगम्य न हो पाती। विट्गेंस्टाइन के अनुसार पीड़ित होने पर हम सबके लिए रोना और कराहना स्वभावगत बात है और यह भी उतना ही स्वभावगत है कि, पीड़ा जो हमारे सरीखे दूसरे लोगों को दुःख देती है, उसका हम उपचार करें–

न केवल अपनी जब बल्कि कोई दूसरा व्यक्ति पीड़ित होता है तो उसकी परिचर्या करना उसके दुःखते अंग की देखभाल करना हमारी एक आदिम प्रतिक्रिया है लेकिन यहाँ आदिम शब्द या तात्पर्य क्या क्या है? शायद यही कि इस प्रकार का व्यवहार प्राग्भाषिक है, कि कोई एक भाषाई-खेल इस पर आधारित है, कि यह विचारणा का परिणाम नहीं है बल्कि विचारणा का एक आद्य रूप है।[४०]

हमारे स्वभावगत इतिहास का एक अन्य पक्ष हमारी समान अभिरुचियों से सम्बन्धित है। इस प्रसंग में विट्गेंस्टाईन ने 'स्वाँग' की अवधारणा का उदाहरण प्रस्तुत किया है–

...कल्पना कीजिए, किसी एक आदिम जाति के व्यक्तियों की परवरिश आरम्भ से ही कुछ इस प्रकार हुई है कि अपनी भावनाओं को किसी भी रूपमें अभिव्यक्त न कर सके। यदि कोई शिकायत करता है तो उसका मजाक उड़ाया जाता है या उसे दंड दिया जाता है। वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे हम (भावनाओं की अभिव्यक्ति के नाम पर) स्वांग भी कह सके। शिकायत करना मानों स्वयं ही एक स्वांग है।[४१]

.. 'स्वांग', ऐसे लोग कहेंगे, 'कितनी बेतुकी अवधारणा है'[४२] क्योंकि यहाँ की जीवन चर्या एक भिन्न प्रकार की होगी। जिन विषयों में हमारी अभिरुचि है, उनमें उनकी नहीं होगी। यहाँ भिन्न प्रकार की अवधारणाएँ अकल्पित नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः यही एक तरीका है जिससे फर्क किस्म की अवधारणाओं की कल्पना की जा सकती है।[४३]

विट्गेंस्टाइन के अनुसार इस प्रकार विभिन्न भाषाई-खेल मानव प्रकृति के कुछेक 'तथ्यों' पर निर्भर होते हैं कि सभी मनुष्य सोचते हैं, भाषा का प्रयोग करते हैं अपने निर्णयों और प्रतिक्रियाओं में सहमति दर्शाते हैं और उनकी समान अभिरुचियाँ होती हैं। इस अर्थ में भाषा और उसके भाषाई-खेल मानवी क्रियाओं द्वारा, मनुष्य की स्वभाव विशेषताओं द्वारा, उसकी जीवन-चर्या द्वारा निर्धारित होते हैं। इन 'तथ्यों' और 'जीवन-चर्याओं' का अस्तित्व सभी भाषाई-खेलों से पहले है। भाषा के लिए ये एक महत्वपूर्ण भूमि तैयार करते हैं किन्तु वे स्वयं अव्याख्यायित रहते हैं। इनके लिए कोई सफाई नहीं दी जा सकती।

उपर्युक्त चर्चा से कभी कभी यह गलतफहमी हो सकती है कि विट्गेंस्टाइन ने भाषाई-खेलों को युक्तिसंगत बनाने के लिए जीवन-चर्या को उनके मूलाधार के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु यह बात पूर्ण-सत्य नहीं है क्योंकि यदि भाषाई-खेलों को यह कहा जाए कि उनका मूलाधार जीवन-चर्या है जो उन्हें निर्धारित करती है तो यही बात जीवन-चर्या के लिए भी कही जा सकती है। यदि भाषाई-खेल जीवन-चर्या द्वारा निर्धारित होते हैं तो बहुत हद तक जीवन-चर्या भी भाषाई-खेलों द्वारा निर्धारित होती है। दोनों का प्रभाव परस्पर है। विट्गेंस्टाईन ने ऐसे तमाम आदिवासियों और जनजातियों के कल्पित उदाहरण दिए हैं जिनकी जीवन-चर्या हमारी अपनी से भिन्न प्रकार की है। और इसलिए यह कह जा सकता है कि वे अपनी मूलतः अवधारणाओं की वजह से एक भिन्न प्रकार की दुनिया में रहते हैं। हमारी अवधारणाएँ भिन्न हैं, अतः हमारी जीवन-चर्या भी भिन्न है।

पुनः, जीवन-चर्या और भाषाई-खेलों के परस्पर सबंध से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भाषाई-खेलों या जीवन-चर्याओं को एक दूसरे से व्याख्यायित किया जा सकता है। विट्गेंस्टाइन का यह लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं है कि वे इसमें से किसी के स्वभाव के 'कारणों' का पता लगाएँ—

.. मैं यह भी नहीं कहता कि प्रमुख प्राकृतिक तथ्य फर्क होते तो भिन्न भिन्न लोगों की अवधारणाएँ फर्क होतीं (एक कल्पना के रूप में) बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि यदि किसी का यह विश्वास है कि कुछ ऐसी भी अवधारणाएँ होती हैं जो पूर्णतः सत्य हैं और यदि वे भिन्न होतीं तो इसका अर्थ होता कि हम जिसे उपलब्ध करना चाहते हैं, वह उपलब्ध न कर पाते—ऐसी दृश्य में यह अच्छा होगा कि वह प्रकृति के कुछ ऐसे तथ्यों की कल्पना करें जिनके हम अभ्यस्त नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब उसे सामान्य अवधारणाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार की अवधारणाओं का निर्माण बुद्धिगम्य हो सकेगा।[४४]

कारणों का पता लगाना विज्ञान का काम है। दर्शन का नहीं है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि जिस प्रकार जीवन-चर्या के प्रत्यय को विट्गेंस्टाइन ने अव्याख्यायित माना है और उसे तथ्य के रूप में स्वीकार भी करने के लिए हमें आमंत्रित किया है, उसी तरह भाषाई-खेल भी अंततः अव्याख्यायित ही रहते हैं। उन्हें भी ज्यों का त्यों स्वीकार ही करना है। कारण स्पष्ट है। यदि हम भाषाई-खेलों की व्याख्या करते हैं तो हमें भाषा के परे जाना होगा, उसका अतिक्रमण करना होगा। किन्तु यह असंभव है। और ऐसी दशा में तथाकथित व्याख्याएँ असंतोषप्रद कैसे मानी जा सकती हैं? आखिर आपके प्रश्न भी तो इसी भाषा में निर्मित किए गए हैं, यदि कुछ पूछना है तो उसे इसी भाषा में तो अभिव्यक्त किया गया है।[४५] तात्पर्य यह है कि भाषा से परे कोई मानक या वस्तुगत यथार्थ नहीं होता जिससे भाषा की तुलना की जा सके। मानवी भाषा मानो स्वयं ही अपने यथार्थ का निर्माण करती है। भाषा और भाषाई-खेलों के अतिरिक्त और कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे किसी भी कथन की सत्यता या असत्यता का औचित्य दर्शाया जा सके। एक मात्र संभावित औचित्य हमारे भाषाई अभ्यास हैं। वस्तुतः जीवन-चर्या का संप्रत्यय भी भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सकता। भाषा और जीवन-चर्या वस्तुतः एक ही हैं। **जीवन-चर्या प्राग्भाषिक भाषा है। भाषा भाषिक जीवन-चर्या है।**

भाषाई-खेलों के लिए-विशेषकर प्रतिदिन के साधारण भाषाई-खेलों के लिए किसी भी प्रमाण या औचित्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। विट्गेंस्टाईन कहते हैं—

.. प्रतिदिन के भाषाई-खेल को तो कदाचित् हमें स्वीकार ही करना है और उसकी **गलत** व्याख्या को **गलत** ही मानना है। आरंभिक भाषाई-खेल, जिन्हें बच्चों को सिखाया जाता है, के लिए कोई सफाई पेश नहीं की जा सकती। औचित्य स्थापित करने के लिए किए गए प्रयत्न को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए।[४५]

.. हमारी गलती यह है कि जिसे हमें प्रकृत कार्य के रूप में देखना चाहिए, अर्थात्, जहाँ हमें यह कहना चाहिए कि अमुक भाषाई-खेल संपन्न हुआ, हम उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न आरंभ कर देते हैं।[४६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

. प्रश्न अपने अनुभवों द्वारा भाषाई-खेल की व्याख्या का नहीं है, बल्कि भाषाई-खेल को केवल नोट करने का है।[४७]

उपरोक्त के प्रकाश में विट्गेंस्टाइन का यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है –

. दर्शनशास्त्र हर चीज़ को हमारे समक्ष रख देता है– न तो वह उसकी व्याख्या करता है और न ही उससे कुछ घटित करता है।[४८]

. वह हर चीज को जैसी की तैसी छोड देता है।[४९]

१९, राम टेकरी एक्सटेंशन,
तेलिया तालाब,
मंदसौर (म. प्र.)

–सुरेंद्र वर्मा

टिप्पणियाँ

१. विट्गेंस्टाइन, लुडविग : **फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशंस** : अक्सफर्ड' १९७२, परिच्छेद ३०४ (आगे टिप्पणियों में इस ग्रंथ के लिए **इन्वेस्टीगेशंस्** लिखा जाएगा और उसके बाद की संख्या परिच्छेद का संकेत करेगी। यदि संख्या के पूर्व 'पृ.' लिखा हो तो उसे 'पृष्ठ' समझना चाहिए। सभी उद्धरणों का अँग्रेजी से अनुवाद स्वयं लेखक द्वारा किया गया है।

२. **इन्वेस्टीगेशंस्** २५।

३. फिलिप्स, डेरॅक एल. **विट्गेंस्टाइन एण्ड साइन्टिफिक नॉलेज**, मैक्मिलन, १९७७, पृ. ३२।

५. **इन्वेस्टीगेशंस्**, २४।

५. वही, पृ., २२४।

६. वही २३।

७. **इन्वेस्टीगेंशंस्** पृ. १८४।

८. वही, २८८।

९. वही, ६५४।

१०. वही, ६३२।

११. वही, २७।

१२. वही, पृ. २१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. वही, २४९।
१४. वही, ६६।
१५. वही, ६७।
१६. देखिए, **इन्वेस्टीगेशंस्** ७१।
१७. वही, २३।
१८. **इन्वेस्टीगेशंस्** ८५।
१९. वही, २४३-२४४।
२०. वही, १७९।
२१. देखिए, **इन्वेस्टीगेशंस्** २ तथा पृ. २००।
२२. नोटबुक, पृ. १८१।
२३. **द ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स,** न्यूयोर्क १९५८, पृ १०३।
२४. **इन्वेस्टीगेशंस्**, २३।
२५. वही, १९।
२६. वही, २४१।
२७. **लेक्चरस् एण्ड कन्वर्सेशन्स्**, बर्कले एण्ड लाओस एन्जल्स, १९७३, पृ. ३।
२८. **इन्वेस्टीगेशन्स्**, ४७२।
२९. देखिए, वही, ३२५।
३०. **इन्वेस्टीगेशंस्** २८४।
३१. वही, २५०
३२. विट्गेंस्टाइन का निजी भाषा संबंधी दृष्टिकोण इसे पूर्णतः स्पष्ट कर देता है।
३३. इन्वेस्टीगेशंस्, २२६।
३४. 'जीवन-चर्या' के संप्रत्यय को मनुष्य के 'स्वभावगत इतिहास' और उसके 'तथ्यों' से सर्वप्रथम डेरिक, एल. फिलिप्स ने जोड़ा है। देखिए, **विट्गेंस्टाइन एण्ड साइन्टिफिक नॉलेज**, मैक्मिलन, १९७७, पृ. ८०–८४
३५. **इन्वेस्टीगेशन्स्** ४६७।
३६. वही, ४६६।
३७. **इन्वेस्टीगेशंस्**, २५।
३८. वही, १७४।
३९. **इन्वेस्टीगेशस्**, २४२, ४२१।
४०. **जीटल**, १९६७, परिच्छेद, ५४०–४१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४१. **जीटल**, परिच्छेद ३८३ ।

४२. वही, ३८४ ।

४३. वही, ३८८ ।

४४. **इन्वेस्टीगेशंस्**, पृ २३० ।

४५. **इन्वेस्टीगेशंस्**, पृ. २०० ।

४६. वही, ६५५ ।

४७. वही, १२४ ।

४८. इन्वेस्टीगेशंस्, १२६ ।

४९. वही, १२४ ।

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास प्रक्रिया–मानव का वर्तमान और भविष्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। साथ ही साथ वह विकास की प्रक्रिया में उलझा हुआ एक जानवर भी है। अतः वह प्रकृति के साधारण जनन और जरा के नियमों से भी बन्धा है। विकास की प्रक्रिया में अनेक घटकों का योगदान रहा है और रहेगा। एक उदाहरण लें। ऑक्सीजन के अणु को ही ले लें। इसके बिना हमारा जीवित रहना असम्भव है। पुरातन काल में जब प्रथम बार ऑक्सीजन का अणु उत्पन्न हुआ होगा तब इसे भी एक प्रकार का प्रदूषण (Pollution) कहा जा सकता है। उस समय यदि कोई ऐसा जीवाणु होता जिसे इस प्रकार के अणु से अरुचि होती तो आज विकास की प्रक्रिया कुछ और ही होती। इस कल्पना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विकास की प्रक्रिया कितनी संवेदनशील है।

ऐसी प्रतिसंवेदी विकास की प्रक्रिया को वर्तमान स्थितियों में रखकर देखें। आज हम किस चौराहे पर खड़े हैं इसे कई तरफ से देखा जा सकता है। इनमें से सबसे मुख्य आयाम है जनसंख्या का। कृपया ध्यान रक्खें कि मैं आपको (Malthusians) की ओर नहीं ले जा रहा। बस तथ्य भर की बात है। जनसंख्या में वृद्धि सभी को चौंकानेवाली है। सन एक से लेकर सन १६५० तक जबकि विश्व की आबादी ढाई करोड़ से पाँच करोड़ हुई, आशा है कि वर्तमान जनन–गति से सन १९७५ से सन २००५ तक केवल तीस वर्षों में हम समस्त विश्व के लोग चार अरब से आठ अरब हो जायेंगे। अरस्तू कहता था कि अनियंत्रित जनसंख्या निर्धनता, क्रान्ति और हिंसा को जन्म देती है। आज हमारे नगरों में बढ़ती हुई भीड़-भाड़ का हमारी संवेदनशीलता (Sensitivity) पर क्या प्रभाव है किसी से छिपा नहीं है। ऊँची जन्म–दर का एक और प्रभाव है हमारे काम करनेवाले लोगों के गिरते अनुपात पर। यदि जन्म–दर प्रति हजार पर चालीस हो तो उस आबादी के चालीस प्रतिशत से भी अधिक लोग पन्द्रह वर्ष से कम आयु के होते हैं। इसका प्रभाव पड़ता है राष्ट्र की कार्य–क्षमता पर। बढ़ती हुई आबादी के और भी दूरगामी परिणाम हैं, जैसे औद्योगीकरण, बढ़ता शोर, प्रकृति के साधनों से अंधा बलात्कार, वायु–जल–मिट्टी का प्रदूषण आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-विकास की वर्तमान प्रक्रिया पर एक दूसरे आयाम का प्रभाव और भी अधिक कारगर है। वह है जीवन की बढ़ती गतिशीलता। आइए इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण लें। स्वर्गीय भाभा ने एक बार कहा था कि प्रथम १८५० वर्षों के अन्त तक हम लोग विश्व भर में ३३ अरब टन प्रति शताब्दी की दर से कोयला जला रहे थे। अब यह दर ३३० अरब टन प्रति शताब्दी है। अन्य शब्दों में पिछले करीब २००० वर्षों में प्रयोग की गई समस्त उर्जा का आधा भाग वर्तमान शताब्दी में फूंका गया।

इसी प्रकार अब प्रति ५–६ वर्ष में मानव ज्ञान दुगुना हो रहा है। प्लेटो से अब तक पैदा हुए समस्त वैज्ञानिकों की ८०% संख्या आज जीवित है। आज यूरोप में प्रति दिन १००० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। मनुष्य अपनी जीविका के लिए जल्दी-जल्दी स्थान बदल रहा है। आज के हमारे औद्योगिक प्रतिष्ठान जुटे हैं अपने उत्पादन की जीवन-अवधि कम करने में। कोई चीज बाजार से क्रय कीजिए वह अब कम दिन चलती है। सारांश में चारो ओर गति बढ़ रही है और हमारी समस्त ज्ञानेन्द्रियों पर बाह्य दबाव बढ़ता जा रहा है। इसी के साथ-साथ हमारा परिवार, जोकि सदैव से एक सुदृढ़ इकाई की तरह बना रहा है और चारों ओर के झटके और उतार-चढ़ाव अद्भुत रूप से झेलता रहा है, धीरे-धीरे चटख रहा है। कुछ देशों में यह टूटन धीमी है, कुछ में तेज। परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं। आज हम सुनते हैं बात किराए के मानव–भ्रूणों की। वैज्ञानिक लोग कल्पना कर रहे हैं Embryo-Emporiums की।

इन्ही परिवर्तनों के साथ एक और आयाम बदल रहा है। वह है हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक वातावरण। इसी परिप्रेक्ष्य में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है मूल्य–बोध का। आज की मूल्य–हीनता से कौन परिचित नहीं है? मनुष्य जुटा है संघर्ष में और उलझा है गलाघोंट प्रतिस्पर्धाओं में। इसी वर्तमान परिवेश का मिला–जुला असर है मानव के विकास की प्रक्रिया पर। आज का बदला हुआ पर्यावरण हमारे लिए अनेक "सौगात" लेकर आया है : क्रोध, कुंठा, त्रास, तनाव, निराशा, निर्ममता और भय। उसकी प्रबल आकांक्षा और वस्तुस्थिति में एक भीषण दरार बन गई है। वह चाहता है चिरयुवा रहना किन्तु निरन्तर बढ़ रहा है बुढ़ापे की ओर—कम समय में वयस्कता (परिपक्वता नहीं) की ओर जल्दी मृत्यु की ओर। सीमित समय में आज यहाँ सभी घटकों का विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालना असम्भव है। अतः आइए एक घटक चुन लें–क्रोध। बड़ा महत्वपूर्ण है। देखें हमारा पुरातन ज्ञान और आज का विज्ञान क्या कहता है इस बारें में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता में कहा है :

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

क्रोध से अविवेक, अविवेक से भ्रमति स्मरण शक्ति, जिससे बुद्धिनाश और अन्त में प्रण (श्रेय–साधन) से गिरना । यदि हम नवीनतम अन्तःस्रावी-विज्ञान का अध्ययन करें तो भी यह जानने के बाद कि क्रोध का हमारे मस्तिष्क पर किस प्रकार असर होता है और इसका परिणाम क्यों और क्या होता है तो हम निकटतम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । केवल समानता की बात है "All that is old is gold" की बात नहीं । इस उदाहरण का सबसे अधिक महत्व है यह जानना कि किसी एक संवेग (क्रोध) का हमारे व्यवहार पर कितना गम्भीर असर होता है और ऐसे बढ़ते हुए संवेग आधुनिक मानव की विकास - प्रक्रिया को कितना मोड़ देने में सक्षम हैं ।

आज की स्थिति में परिचित होने के बाद भविष्य में मानव–विकास की प्रक्रिया पर विचार किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या हम लोग विकास की इस प्रक्रिया को सुखद मोड़ दे सकते हैं । यह इस बात पर निर्भर है कि हम मानव–भविष्य को निर्धारित करनेवाली शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करते हैं । हम लोग किस प्रकार संगठित होकर चुनौतियों का सामना करते हैं । यद्यपि प्राकृतिक शक्तियां (Natural forces) स्वयं विकास की प्रक्रिया में बड़ी महत्वपूर्ण हैं किन्तु फिर भी इनमें प्रयास करने पर सुखद परिवर्तन सम्भव है । उदाहरण के लिए, वैज्ञानिकों का मत है कि आनुवन्शिकी (Genetics) में जीन में विकास की प्रक्रिया लॉटरी से मिलती-जुलती है और इसमें प्रयास करने से कृत्रिम सुधार सम्भव है । आज हम सभी सुजनन–विज्ञान (Eugenics) से परिचित हैं । अब यह सम्भव लगता है कि प्रयास करने से हानिप्रद जीन से मानव जाति को छुटकारा मिल जाय । कृत्रिम चर्म, फेफड़े, गुर्दे, रक्त, रक्त, नलिकाएँ और हृदय जीव–अभियान्त्रिकी (Bio-Engineering) की सफलता के प्रतीक हैं । साथ ही साथ ये सभी जीव-वैज्ञानिक की हार के भी द्योतक हैं । यह इस बात की याद दिलाते हैं कि अभी तक वैज्ञानिक रुग्णता को पूरी तरह समझ ही नहीं पाये हैं । अन्यथा वे बीमारी जनन एवं जरा की प्रक्रिया को रोक देते । किन्तु फिर भी विज्ञान की प्रगति से ऐसी आशा की किरण अवश्य फूटती है कि यदि मानव प्रयास करे तो जीवन के उत्कर्ष और सौन्दर्य में चार चाँद लग सकते हैं । हम सभी मिलकर एक स्वस्थ पर्यावरण ला सकते हैं । कुछ सुन्दर समुद्र-तट, पर्वत–माला, मरुस्थल और वन–उपवन सदैव के लिए सुरक्षित रखकर हम आनन्दमय भविष्य की ओर बढ़ सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इसी प्रकार एक सुसंस्कृत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक वातावरण भी प्रयास करने से बनाया जा सकता है। इसके विपरीत आधुनिक तकनीक पूर्ण मानव संहार करने को भी सक्षम है। हमारे बढ़ते हुए कदम इस बात का निर्णय करेंगे कि हम भविष्य में किस और चलेंगे। चाहें हम रचनात्मक भविष्य की ओर चलें या विनाश के गर्त में, एक बात तय है, और वह है कि भविष्य में जीवन की गतिशीलता निश्चित बढ़ेगी। अभी तक हमने इस बढ़ती गति को मानव पर तनाव बढ़ाने के रूप में ही देखा है। आइए अब देखें इस गति की एक खूबी। सड़क के किनारे बैठ कर एक प्याला चाय पीते समय इधर–उधर चलते–फिरते लोगों पर एक नजर डालें। आप को सभी कुछ ठीक-ठाक लगेगा। अब आप एक वाहन पर स्वयं तीव्र गति से इसी भीड़ से गुजरें। इस बढ़ती गति का हमारे ऊपर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। अब हमें परिवहन–तन्त्र के अवगुण तुरन्त दिखाई देने लगते हैं। झुंझलाहट इसी का एक परिणाम मात्र है। तीव्र गति के उन पलों में हम एक उत्तम परिवहन–तन्त्र की अपेक्षा भी तुरन्त करने लगते हैं। शरीर एवं बुद्धि के स्तर पर तीव्र गतिशीलता का यह प्रभाव अद्‌भुत है। आइए एक और घटना–क्रम का विहंगावलोकन करें।

एक साधारण ढीले-ढाले साक्षर भारतीय को अपने वाहन पर पीछे एक सवारी बैठा ले देखिए। अक्सर आप देखेंगे कि वह वाहन भी चलाता है और पीछे बैठे हुए महानुभाव से जीवन की अनेकानेक घटनाओं पर जीवन्त गोष्ठी भी करता जाता है। वाहन रुकते ही उसके शरीर-बुद्धि की चपलता मन्द पड़ जाती है। मौलिक प्रश्न है कि क्या चारों ओर बढ़ती जीवन की इस गति से हम चपल स्वस्थ गुण को ग्रहण कर सकते हैं। और साथ ही साथ इसके द्वारा उत्पन्न हुए कुंठा, त्रास, और तनाव को कम कर सकते हैं। यदि हां, तो कैसे ? इसी प्रश्न के उत्तर में छिपी है मानव के सुनहरे भविष्य की कुंजी। और गुण-दोष की छटनीं में छिपी है मानव मस्तिष्क की क्षमता जिसकी सहायता ने उसके विकास को भविष्य में आनंदमय मोड़ दिया जा सकता हैं। अतः मैं इसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न कहता हूँ। आइए देखें और समझें कि हम किस प्रकार अपने बल बूते ही सुखद भविष्य की नींव डाल सकते हैं।

हम यह मान कर चलें कि प्रयास हमारे प्राण का प्रतिबिम्ब जैसा है। जन्म से मृत्यु तक हमारे इस प्रयास का लक्ष्य क्या है ? मेरा विचार है कि यह सफर एक पवित्र स्वतंत्रता भर का ही है। मानव-बालक बड़ा निरीह पैदा होता है। वह शेर के बच्चे की तरह जन्म के कुछ ही समय बाद कूदफांद नहीं पाता। धीरे-धीरे बड़ी कठिनाई से माँ की गोद से वह बैठना, चलना, खड़े होना, दौड़ना सीखता है। यह बात है उसकी शारीरिक स्वतंत्रता की। फिर शुरू होती है कहानी उसके आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयास की। फिर समय आ भी सकता है, नहीं भी, प्रबुद्ध चेतना का, वैचारिक स्वतंत्रता का। इस संदर्भ में हम तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं (सहज) वृत्ति (Instinct), बुद्धि (Intelligence) और सहज-बोध (Intuition) या अन्तःप्रज्ञा। शेली कहता था कि मानव-जीवन एक ऐसे सुलगते जलते अंगारे की तरह है जिस पर अक्सर राख जमा होती है, और कभी कभी एक झोंका आता है और यह अंगारा चमक उठता है। गम्भीर प्रश्न यह है कि वह झोंका क्या है, और क्या यह सम्भव है कि उस अंगारे की चमक दमक का अनुकूल, नियमन या नियंत्रण हम स्वयं कर सकें। मेरा उत्तर हां में है। एक उदाहरण लें। करोड़ों ऐसे लोग हैं जिनमें जीवन की एक नन्हीं सी चिनगारी भरी है। यह चिनगारी उनके जीवन की समस्त ऊर्जा का प्रतीक-मात्र है। यह ऊर्जा इतनी कम है कि इन लोगों के जीने या मरने से मानव-विकास की प्रक्रिया पर कोई असाधारण प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिन्होंने अपनी प्रज्ञा से इस चिनगारी को एक लौ % में बदल लिया है। जो ज्ञानी हैं उन्हें ऐसे लोगों की इस लौ के प्रकाश-ताप का भान हो जाता है। ऐसे लोगों की संख्या कम है, किन्तु वे मानव विकास की प्रक्रिया में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। एक तीसरी श्रेणी और है ऐसे बिरले महामानवों की जिन्होंने अपने सच्चे मन प्रयास से इस लौ को एक ज्वाला में बदल दिया था। उनमें इस अद्भूत परिवर्तन के बाद शरीर की उपस्थिति एक औपचारिकता मात्र है। इस अद्भुत परिवर्तन को मैं किन शब्दों में बांधूं? शब्दों की शक्ति सीमित है। जब तक और कोई अच्छी अभिव्यक्ति न मिल जाय, दो शब्दों का उपयोग करते हैं इस परिवर्तन को समझने के लिए : Time transgression अर्थात् समय की सीमा का अतिक्रमण, उल्लंघन। आप से यदि मैं पूछूं कि आप उस पल की व्याख्या कैसे करेंगे जब आइन्स्टान ने पदार्थ और ऊर्जा का सम्बन्ध पाया होगा? इसकी व्याख्या के बाद आइन्स्टाइन चाहे जीवित रहता या न रहता उसने समय की सीमा का उल्लंघन कर लिया था। अर्थात् उसका शरीर एक औपचारिकता-मात्र रह गया था, इस चमत्कार के बाद। यह एक ऐसा चमत्कार था जिसके बिना मानव विकास की प्रक्रिया कुछ और ही होती। भविष्य के लिए यह जिज्ञासा का प्रश्न है कि क्या सचेतन रूप से हम प्रयास के बल पर इस ओर बढ़ सकते हैं? मेरा प्रबल मत है कि यह सम्भव है और इसे समझना और पाना मानव के सुखद भविष्य के लिए अत्यावश्यक है। मेरे विचार से इस अद्भुत स्तर को पाने के लिए कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। प्रथम : चरम एकाग्रता और निरीक्षणक्षमता। अन्य शब्दों में लक्ष्य से आत्मसात् होने का प्रयास। इसी मार्ग में हमारे अनेकानेक मनीषियों ने शून्यता के कुछ पलों का अनुभव किया है। दूसरी बात है बाहर से आनेवाले आवेगों की छटनी का। उनके परिष्कार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिमार्जन का। आज के परिवर्तनों की गति अधिक होने के कारण यह महत्वपूर्ण है। तीसरी बात है छँटे हुए आवश्यक आवेगों को (सहज) वृत्ति के विशाल क्षेत्र में संग्रह करना। इसके आगे का क्षेत्र स्वयं अनुभवजन्य अधिक है। सत्य यह है कि मनुष्य इस प्रकार अपनी प्रज्ञा को किसी चमत्कार को पकड़ने के लिए तत्पर करना है। मेरा मत है कि जब प्रबल प्रज्ञावान मानव इस मार्ग से आगे बढ़ता है तो समय की सीमा लाँघी जा सकती है। यह सच है कि मानव-सामर्थ्य असीमित है। यह सम्भव है कि उसकी Tensility (तन्यता) वातावरण के वेगशाली परिवर्तनों, बढ़ते संवेगों और गतिशीलता के बावजूद बढ़ाई जा सके। इन्हीं समस्याओं से आज के कई वैज्ञानिक जूझ रहे हैं। अभी तक के अनुसन्धानों का प्रवाह यह बताता है कि हम शायद ऐसे रास्तों की ओर जा रहे हैं, जो हमारे पुरातन समय के मनीषियों को ज्ञात था। यह है रास्ता लंगड़े ज्ञान से, मनन,श्रद्धा, निष्ठा से अंधी कर्मण्यता तक पहुँचकर ज्ञान से जोड़ने का। अर्थात् योग का। कुछ लोग कहते हैं कि आयोजन निपट प्रयोजन के बिना लिया कोई दैवी या मधुर शब्द भी लक्ष्य से आत्मसात् होने में संगीत का काम करता है किन्तु यह गीत आवश्यक है:

सकल अहंकार हे आमार
डुबाव चोखेर जले

मैं तो मानता हूँ कि मानव विकास के सुखद वर्तमान और भविष्य की प्रक्रिया इसी सत् चित् और आनन्द या सत्यं शिव सुन्दरम् में छिपी है।

—भूमित्र देव

प्राणिविज्ञान विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ.

०००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता और अर्थ

प्राचीन भारतीय काव्य-दृष्टि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बहुत महत्त्व दिया है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ की अविभाज्य एकता को काव्य की पहिचान के लिए निर्णायक माना था। काव्य की यह पहिचान उसके माध्यम—काव्य भाषा—के सम्बन्ध से निर्धारित की गई थी। शायद इसीलिए दण्डी ने शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध की चर्चा काव्यशरीर के नाते की: 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली'। यदि कवित्व को उसके शरीर—माध्यम के उपयोग या भाषिक संरचना—से अभिन्न मानने-न मानने का विवाद छोड़ दिया जाए, तो दण्डी की इस उक्ति में शब्द और अर्थ या 'वागर्थ' की उस अविच्छेद्यता की प्रक्रिया के दर्शन किए जा सकते हैं जिसका उपयोग कालिदास ने अपने आराध्य 'पार्वतीपरमेश्वरौ' की अविच्छेद्यता को उपमा देने के लिए किया था। दण्डी के विचारानुसार पदावली काव्य का शरीर है, लेकिन तभी जब वह एक विशेष गुण से सम्पन्न हो: वह गुण है 'इष्टार्थव्यवछिन्न' होना अर्थात् इष्टार्थ से विलक्षणता-सम्पन्न होना।

कवि का अभिप्रेत अर्थ शब्द में समाते समय उसमें एक जादुई शक्ति उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार काव्य-शरीर के रूप में पदावली में जो असाधारणता उत्पन्न होती है, वह उस अभिप्रेत से आती है जिसे व्यक्त करना कवि को अभीष्ट था। तभी तो एक ही तरह की पदावली एक स्थान पर काव्योत्कर्ष की साधक और दूसरे पर बाधक बन जाती है। 'कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहुकोटि-कोटिन्ह धावहीं' और 'सब जात फटी दुःख की दुपटी कपटी न रहैं जहँ एक घटी' में एक जैसी पदावली होते हुए भी एक में इष्टार्थ अथवा कवि के अभिप्रेत से व्यवछिन्न होने के कारण वह कवित्व को प्राप्त हुई है जबकि दूसरी उक्ति में उसी प्रकार की पदावली ने कवित्व में बाधा डाली है। यदि एक स्थिति में 'नीरस तरुवर विलसति पुरतः' में काव्य हो सकता है तो दूसरी स्थिति में 'शुष्कः वृक्षः तिष्ठत्यग्रे' में भी काव्य का अस्तित्व सम्भव है। कब किस तरह की उक्ति काव्य हो सकती है, इसका निर्णायक 'इष्टार्थ' है। लेकिन, यह इष्टार्थ कोई ऐसी शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जो बाहर रह कर पदावली को निमंत्रित करती हो, प्रत्युत काव्य-रचना की प्रक्रिया में शब्द-सन्धान के लिए संघर्ष करते हुए अंततः रचित कृति में शब्द के भीतर से उसकी विलक्षणता को आलोकित करता है। तुलसीदास ने 'जल-बीचि' के सादृश्य से काव्य में शब्द और अर्थ के इसी सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है : "गिराअरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'

अर्थ के सम्बन्ध से शब्द को काव्य मानने की प्रवृत्ति कहीं-कहीं इस तरह भी प्रकट हुई है मानो अर्थ का अपना गुण शब्द को काव्य बनाता हो। पंडितराज जगन्नाथने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कह कर शब्द को काव्य बतलाते हुए भी उसका काव्यत्व अर्थ के गुण—रमणीयता—पर आश्रित मान लिया है। उनकी इस परिभाषा में शब्द का अपना गुण उसे काव्य नहीं बनाता, प्रत्युत वह जिस अर्थ का वाहक है, इसी पर उसका काव्यत्व निर्भर रहता है। दण्डी ने पदावली को यद्यपि काव्य न मानकर काव्यशरीर ही माना है, फिर भी उसका काव्यशरीरत्व उसके अपने गुण-व्यवछिन्न या विलक्षण होने-पर निर्भर बतलाया है; यह बात अलग है कि उसमें यह गुण अर्थ के सम्बन्ध से संक्रमित होता है। दण्डी के मतानुसार इस गुण का उत्स अर्थ में निहित है, लेकिन शब्द अर्थ का सेवक मात्र नहीं है। अर्थ के स्रोत से विलक्षणता प्राप्त होते ही पदावली काव्य-शरीर बन जाती है। जगन्नाथ और दण्डी दोनों के दृष्टिकोणों में मुख्य अन्तर यह है कि जगन्नाथ की दृष्टि में शब्द अर्थ के प्रतिपादन का साधन है जबकि दण्डी के विचारानुसार अर्थ पदावली की विलक्षणता का स्रोत है। दोनों की दृष्टि में पदावली या शब्द की समान प्रतिष्ठा नहीं है और उसे काव्यत्व प्रदान करने के सम्बन्ध में अर्थ की स्थिति के विषय में भी दोनों में मतभेद है; फिर भी अर्थ की महिमा को चुनौती दोनों में से किसी ने नहीं दी है।

:१:

आधुनिक युग में पश्चिम में अर्थ की महिमा के समक्ष कुछ कवि-विचारकों ने प्रश्न-चिन्ह अवश्य लगाया है। मलार्मे ने तो यही कहा था कि कविता विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है; आर्किबाल्ड मैक्लीश ने साफ़ ही कह दिया कि कविता का अर्थ नहीं, उसका होना प्रयोजनीय है; ए पोइम शुड नॉट मीन, बट बी। एज़रा पाउण्ड ने जब यह कहा कि कविता उपन्यास के उतनी निकट नहीं होती जितनी चित्रकला के, तो उनका अभिप्राय भी मैक्लीश के दृष्टिकोण के निकट था। चित्रकला में अर्थ की अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं हैं, वह मात्र रूप-रचना हो सकती है, जबकि उपन्यास में अंकित कथा के रूप में अर्थ का अस्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य है। यदि कविता उपन्यास की अपेक्षा चित्रकला के अधिक निकट है तो उसमें अर्थ की अभिव्यक्ति अनिवार्य नहीं रह जाती–उसका रूप-गठन ही उसके काव्यत्व का निर्णायक बन जाता है।

कविता को अर्थ की अनिवार्यता से मुक्त करने के आग्रह की अपनी एक पृष्ठभूमि है। सौन्दर्यशास्त्रीय या नन्दतिक दृष्टिकोण कलाओं की मूलभूत एकता के प्रति आग्रही है। कलाओं की एकता की धारणा को कभी-कभी इतना तूल दिया जाता है कि उनकी अपनी माध्यमगत भिन्नता का विचार तिरस्कृत होकर रह जाता है। कलाओं की एकता की इस धारणा का प्रतिफलन इस रूप में भी देखने में आता है कि कला-धर्म रूप-सौष्ठव का पर्याय बन जाता है। अर्थ की ओर जाना रूप-सौष्ठव की शुद्धता से विचलन प्रतीत होता है; क्योंकि अर्थ का विचार रचना की मांसलता से हमारा ध्यान बँटाता है। जिस कला में कृति की मांसलता से अवधान के स्खलित होने की आशंका जितनी कम रहती है, वह उतनी ही शुद्ध मानी जाती है। इस दृष्टि से संगीत सर्वाधिक शुद्ध कला है। उसका कोई विषय होना आवश्यक नहीं। उसकी सार्थकता विशुद्ध रूप से रूप-संघटना (ध्वनि-संरचना) पर निर्भर रहती है। इसी दृष्टि से संगीत अन्य कलाओं के लिए आदर्श है। संगीत के समान अन्य कलाओं से भी यह अपेक्षा की जाने लगती है कि उनकी गति अर्थनिरपेक्षता के इस आदर्श की उपलब्धि की दशा में हो।

चित्रकला अनेक बार विषय-चित्रण से मुक्त होकर कलाकार की स्वतन्त्र कल्पना को रंग-रूप देने में सार्थक होती है। अंकित चित्र अपने-आप में एक रूप-सृष्टि होता है, अपने से बाहर के किसी रंग-रूप के अंकन का आयोजन उसमें नहीं होता। ऐसा करके चित्रकार शुद्धकला के आदर्श को प्राप्त कर लेता है।

चित्रकार रेखाओं और रंगों से जो कार्य करता है, वही कार्य कवि शब्दों से कर सकता है। ऐसा होना इस सीमा तक सम्भव है कि समीक्षक को कवि के कृतित्व में कवि और चित्रकार का संघर्ष दिखलाई दे जाए। शमशेर के विषय में मुक्तिबोध ने लिखा ही था, "शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। ......शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। ...... पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेक्नीक और मनोवृत्ति अपनाये और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के मूल नियमों को काव्य-कला में गुप्त रूप से संस्थापित करे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर की कविता में मुक्तिबोध को कवि और चित्रकार के कला-कर्म का जो विपर्यास दिखलाई दिया है, उसका कारण कलाओं की मूलभूत एकता की धारणा की अस्वीकृति न होकर एक कला के सर्जनात्मक आयामों को दूसरी में विस्थापित करने की जटिलता का ज्ञान है। काव्य और चित्रकला की माध्यमगत भिन्नता को लक्ष्य कर उन्होंने कवि और चित्रकार की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं के एक हो जाने से उत्पन्न कठिनाई को ध्यान में रखा है। इस प्रसंग में शमशेर की कविता के विषय में जो कहा गया है, वह चित्रकार की भूमिका में उतरे हुए किसी भी कवि द्वारा कविता को अर्थ से मुक्त किए जाने की प्रक्रिया के विचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है: "शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात् चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो कवि-कर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है।...भाषा **द्वितीय संकेत व्यवस्था** है। वह मूलभूत **सूचनाओं की सूचना** है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफी अमूर्त, एब्स्ट्रैक्ट है। इसलिए जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाए जाएँ, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गई सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हों, उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाए जाएं।"

यह कहना शायद, सही नहीं है कि कविता में भी भाषा द्वितीय संकेत व्यवस्था होती है। सामान्य व्यवहार की भाषा से काव्यभाषा इसी बात में भिन्न होती है कि जहाँ पहली **द्वितीय संकेत-व्यवस्था** होती है वहाँ दूसरी **प्रथम संकेत व्यवस्था** बन जाती है। कविता की अपनी शक्ति द्वितीय संकेत-व्यवस्था को प्रथम संकेत-व्यवस्था में परिणत कर देने अथवा उसके निकट पहुंचा देने पर निर्भर रहती है। गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने भट्टनायक की रस-दृष्टि की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "काव्यगत शब्दों की अभिधा-शक्ति शास्त्रगत अभिधा के समान शुद्ध नहीं रहती। वह भावना तथा भोगीकरण-व्यापारों से मिश्रित रहती है।" इससे यह पता चलता है कि काव्य में प्रयुक्त शब्दों का काम सूचना देना न होकर विभावन अर्थात् रचना में भाव को सम्प्रेषण के उपादनों में समो देना होता है। इसीलिए काव्य में भाषा और सम्प्रेषण के उपादानों के मध्य व्यवधान नहीं रह जाता। कवि का मनोभाव जब रचना में व्यक्त होता है तो उसे सम्प्रेषणीय बनाते समय शब्द से अर्थ और अर्थ से भाव तक का फैलाव सिकुड़कर शब्द में इस तरह समा जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि सीधे शब्द-प्रयोग में उसे सम्प्रेषित करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है—कवि के शब्द-विधान में भाव का स्पंदन जिस प्राणशक्ति का संचार कर देता है, उसे केवल उन शब्दों में अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव उन शब्दों से सीधे होता है। शब्दों से भाव तक पहुँचने के लिए कोई सीढ़ियाँ नहीं चढनी पड़तीं—कोई अनुक्रम शब्द और भाव के मध्य नहीं रहता। इसीलिए रसानुभूति असंलक्ष्य क्रम ध्वनि मानी गई है। शब्द का अर्थ काव्य में भी बना रहता है, लेकिन उसका कार्य सूचना देना नहीं रह जाता; वह तत्काल भावप्रेषण में तिरोहित हो जाता है। सम्प्रेषण की प्रक्रिया में भाषा के इस वैशिष्टय को लक्ष्य कर भट्टनायक ने 'भावकत्व' व्यापार की स्थापना की थी। काव्य-भाषा साक्षात्कारों को वहन करने के कारण सीधे इन्द्रियबोध का उपादान होती है-वह सूचना न देकर अनुभव का विषय बनकर पाठक के लिए मानस-प्रत्यक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देती है।

(२)

ऐसा इसीलिए होता है कि काव्य-भाषा में कल्पनाशक्ति समाई रहती है और वह अनुषंगों के बल पर उसे सीधे भावदीप्ति की क्षमता प्रदान करती है। यही कल्पनाशक्ति विभावन में ढल कर पाठक को भावकत्व की स्थिति सुलभ कराती है। आज भी, जब कि कविता का विचार रस की दृष्टि से करना बहुत संगत नहीं है, कविता में अभिधा के आगे विभावन और भावकत्व की धारणा सार्थक बनी हुई है। यह विभावन कहीं शब्दार्थ से चित्र की सृष्टि कर चित्र को ही भाव का आलम्बन बना देता है तो कहीं इस तरह की गई चित्र-सृष्टि सीधे कोई भाव न जगाकर रचनाकार के किसी आशय को मूर्त करने का निमित्त होती है। शमशेर और मुक्तिबोध दोनों ने शब्दार्थ से चित्र-रचना की है, लेकिन दोनों की चित्र-सर्जना में यह अंतर विद्यमान है। मुक्तिबोध ने अपने एक कल्पित मित्र के मुख से कहलाया है :—"विचारों को तुम तुरंत संवेदनाओं में परिणत कर देते हो फिर उन्हीं संवेदनाओं से तुम चित्र बनाते हो।" इस प्रकार मुक्तिबोध की फेंटेसियाँ संवेदनामय विचारों की अभिव्यक्ति का निमित्त हैं जब कि शमशेर के काव्य में उपलब्ध चित्र स्वयं संवेद्य हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

सींग और नाखून

सींग और नाखून
लोहे के बख्तर कंधों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीने में सूराख़ हड्डी का
आँखों में घास-काई की नमी।
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उलटी कलम थामे।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर।

इस कविता में शब्दार्थ से एक चित्र बनाया गया है। शब्दों का अर्थ चित्र-रचना के लिए काम आया है। चित्रकार जो काम रेखाओं से करता वह शमशेर ने शब्दों के अर्थ से किया है। यदि चित्र में रेखाएँ प्रारंभिक सूचना देती हैं तो इस कविता में शब्द-प्रयोग को द्वितीय संकेत-व्यवस्था या सूचना की सूचना मानने का कोई कारण नहीं है; लेकिन इसके आगे यह कविता यदि किसी अर्थ को वहन करती है तो वह उस भाव की दीप्ति से भिन्न नहीं हो सकता जो इन शब्दों से प्राप्त चित्र की अनुक्रिया के रूप में पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न होता है। यदि यह चित्र शब्दों से न बनाया जाकर रेखाओं से बनाया जाता तो भी उसमें यह अर्थ रहता। वास्तव में यह अर्थ रचना का आस्वाद है-कलाकार द्वारा प्रदत्त निर्मिति का पाठक की चेतना से सम्पर्क होने पर उसे जो अनुभव होता है, वह है। कथ्य या आशय अथवा अभिप्रेत के अर्थ में भी इस कविता में कवि के मंतव्य की खोज की जा सकती है, लेकिन मंतव्य हाथ आने पर वह अनुभव बना न रह सकेगा जो इन पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों से बने चित्र से प्राप्त होता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि चित्र शब्दों से बना है या रेखाओं से। दोनों स्थितियों में चित्र से चेतना का सम्पर्क रचना के आस्वाद के रूप में अनुभव का विषय बनता है। चित्र चाहे रेखाओं से बना हो चाहे शब्दों से, उसके आशय की खोज उस अनुभव का मूल्य चुकाकर ही की जा सकती है जो उसके आस्वाद से प्राप्त होता है। चित्र जब कलाकार के मन्तव्य तक पहुँचने का साधन-मात्र रह जाता है तो उसका सर्जनात्मक वैशिष्टय उसके अर्थ में तिरोहित हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांशतः कविता में कवि का आशय व्यक्त होता है और कवि अनेक बार चित्रों की सृष्टि अपने आशय को मूर्त बनाने के लिए करता है। इस स्थिति में कविता का आशय उन चित्रों से बिलगाया जा सकता है; लेकिन इस प्रक्रिया से जो अर्थ हाथ लगता है, वह काव्यानुभव-विरहित ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है। काव्य का अर्थ-ग्रहण आपत्तिजनक नहीं है, लेकिन काव्यानुभव के मूल्य पर—दूसरे शब्दों में, कविता को विघटित करके—प्राप्त किया गया अर्थ कला की ओर पीठ किए रहता है। इसलिए उसका कोई कलात्मक मूल्य नहीं रह जाता। किसी रचना का आशय कलात्मक दृष्टि से तभी मूल्यवान् हो सकता है जब उसके सर्जनात्मक वैभव की चेतना के मध्य वह ग्रहण किया गया हो। रचना को उसकी मांसलता में ग्रहण करने पर ही ऐसा हो सकता है—कवि के मनोभाव की अभिव्यक्ति ने जो विभावन-कल्पना—सृष्टि—रचना में उपलब्ध कराया है, उसे आत्मसात् करते हुए जब अर्थ ग्रहण किया जाता है तभी कला-संवेदना की दृष्टि से उसका कोई मूल्य हो सकता है। उदाहरण के लिए अब्दुल बिस्मिल्लाह की कविता 'लोहे की दीवार' ली जा सकती है। इस कविता में कवि ने जो मन्तव्य प्रकट किया है, उसका कलात्मक मूल्य उस अनुभव को दीप्त करने की क्षमता में निहित है जो शब्दार्थ से रचे गए चित्रों के भीतर प्राप्त होता है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

न तुम बैलट की चाप सुन सकोगे
न गिट्टियों की चीखें
बैलट के पहियों में मोजे हैं
और गिट्टियों की जबानें कटी
इसलिए तुम भी अपनी बार
चीखने का नहीं, बचने का यत्न करना

तुम अभी मौन हो इसलिए पता नहीं है
कि तुम्हारे दाँतों के आगे
और ओठों के पीछे
लोहे की दीवार खड़ी है।

इन पंक्तियों में बिस्मिल्लाह ने मताधिकार की प्रवंचना उद्घाटित की है। जनता निर्वाचन के जिस अधिकार का भ्रम पाले रहती है, उसी का उपयोग सत्ता उसे फुसलाने के लिए करके चुपचाप उसका दमन करती रहती है। यह आशय इन पंक्तियों से ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन इसमें वह काव्य हमारे हाथ नहीं आता जो कवि के कल्पना-समृद्ध शब्द-प्रयोग में निहित है। बैलट की कल्पना रोलर के रूप में करने के साथ जनता को उससे कुचली जा रही गिट्टियों का रूप देकर कवि ने सादृश्य के बल पर दोनों के मध्य जो नया सम्बन्ध विधान किया है, उसी में इन पंक्तियों की मार्मिकता निहित है। जैसे ही यह कवि-कल्पित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध-विधान हमारे ध्यान से हटता है, वैसे ही आशय कवित्वशून्य रह जाता है। बैलट के पहियों में मोजे होने और गिट्टियों की जबानें कटी होने की कल्पना नेइस सम्बन्ध को और भी संश्लिष्ट बना दिया है। इसी प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से वंचित होने की व्यथा का अनुभव लोहे की उस दीवाल की कल्पना के बिना असम्भव है जो दाँतों के आगे और ओठों के पीछे खड़ी बतलाई गई। इस कल्पना से आशय को पृथक् कर कवि का मन्तव्य ग्रहण किया जा सकता है, कविता नहीं।

कई बार ऐसा भी होता है कि कथ्य के स्तर पर कवि का देय बहुत साधारण या महत्त्वहीन होता है, लेकिन वह कथ्य कवि-मानस की जिन प्रतीतियों के भीतर आकार ग्रहण करता है, वे असाधारण होती हैं। चन्द्रकात देवताले की एक कविता है–'एक नदी'। इस कविता में उन्होंने प्रेमिका की याद आने पर होनेवाला अनुभव अंकित किया है। यह विषय न तो नया है न असाधारण, लेकिन प्रेमिका की याद आने पर होनेवाले अनुभव को देवताले ने जिन प्रतीतियों में प्रस्तुत किया है वे अपने-आप में अपूर्व हैं।

एक नदी

न जाने कौन से अक्षांश
 और देशान्तर पर
नींद की नदी सूरज की चट्टान से
 टकरा गयी
और उजाले की एक पीली चमकदार
 कश्ती में बैठी हुई वह
जैसे अपने ही भीतर उगे
सुर्खरंगी फूलों के पौधों को नोचती रही
पूरे अस्तित्व के शीशे पर उसके स्वर
बौछारों की तरह टकराते रहे
और हम धूप और छाया के
 जंगलों में बहती
एक पानीहीन नदी में
 गुमसुम नहाते रहे।

अनायास याद आजाने की घटना प्रतीति में ढलकर अनजाने-अनचीन्हे क्षेत्र में नींद की नदो के सूरज की चट्टान से टकरा जाने का दृश्य बन गई। विस्मरण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाएक स्मरण की स्थिति में पहुँच जाने को कवि ने नींद की नदी के विपरीत सूरज की चट्टान की कल्पना में प्रत्यक्ष किया है और विस्मरण (नींद की नदी) पर स्मरण के हावी हो जाने के अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए सूरज की चट्टान से उसके टकरा जाने को उजाले की चमकदार कश्ती, सुर्ख़रंगी फूलों के पौधों को नीचे जाने और अस्तित्व के शीशे पर बौछार की तरह स्वरों के टकराते रहने में प्रतिफलित होते देखा है।

कविता में इन्द्रियबोध सदा इतना प्रखर नहीं होता; फिर भी उसके होने का भान पाठक को होता है और यह भान उसे अर्थ में विघटित किए जाने के प्रतिवाद के लिए पर्याप्त कारण है। इन्द्रियबोध के अभाव की स्थिति में कभी-कभी प्रतीकानुषंग पूरे शब्द-प्रयोग को लाक्षणिक भंगिमा से सम्पन्न कर जिस विदग्धता की सृष्टि करते हैं उसी में कविता का होना निहित रहता है। नन्दकिशोर आचार्य की कविता 'बाँसुरी : मोरपाँख' के उदाहरण से यह बात समझी सकती है:

बुरा तो नहीं मानोगे
यदि मुझे, अब
तुम्हारी बाँसुरी बने रहना
स्वीकार नहीं।
यह नहीं कि मैं उपेक्षित हुआ—
बल्कि अधरों पर तुम्हारे सदा
सज्जित रहा;
किन्तु मेरा कब रहा संगीत वह
जो मेरे रन्ध्र-रन्ध्र से बहा।
मुझ से तो अच्छी रही
वह मोर-पाँख
जो तुम्हारे मुकुट पर चढ़ी
—और न भी चढ़ती
पर जिसका सौन्दर्य
उसका अपना था।

इन पंक्तियों का कवित्व मुख्य रूप से दो प्रतीकों बाँसुरी और मोरपाँख—से संकेतित परस्पर विपरीत स्थितियों को आमने-सामने कर देने पर टिका है। इन प्रतीकों से निस्सृत होकर सांकेतिकता पूरी कविता में फैल गई है। इससे 'संगीत' और 'सौन्दर्य' को नई अर्थवत्ता ही नहीं, नई दीप्ति भी प्राप्त हुई है जिसका स्रोत अनुषंगजन्य लाक्षणिक वक्रता है। अधरों पर सज्जित होने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकुट पर चढ़ने की सांकेतिकता को भी इसी स्रोत से ऊर्जा प्राप्त हुई है। इस प्रकार पूरी रचना में बाँसुरी और मोरपाँख के प्रतीकों से उद्गत प्राणधारा व्याप्त हो गई है। इस कविता में ये प्रतीक केवल अर्थ के उपादान न होकर रचना के मांसल अवयव हैं। यदि इनके प्रतीकार्थ को अलग कर यह कह दिया जाए कि किसी का साधन बनने से अधिक महिमामय अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखना है भले ही साधन बनकर कितना ही बडप्पन क्यों न पाया जाए; तो कविता हमसे छूट जाती है—कलानुभव से हम वंचित रह जाते हैं।

यह भी सम्भव है कि कविता न तो इन्द्रिय-प्रत्यक्षों की प्रखरता पर निर्भर हो न प्रतीकानुषंगों की लाक्षणिक वक्रता पर; फिर भी कविता कविता होने के नाते महत्त्व की अधिकारिणी हो, अर्थ के नाते नहीं। राजेश जोशी की कविता 'नींद' में नींद न आने की शिकायत एक मुहावरे के सहारे की गई है जिसमें लक्षणा का प्रयोग माना भी जाए तो वह रूढ़ा लक्षणा ही होगी जिसकी भास्वरता रूढ़ि ने नष्ट नहीं तो क्षीण अवश्य कर दी है, फिर भी कविता का अस्तित्व उसमें बना हुआ है :

नींद

तकिए में
कपास का एक पेड़
कपास के फूल पर
चिड़िया नहीं आती
नींद
किस चिड़िया का नाम है।

इन पंक्तियों में उपलब्ध कविता उस कल्पना में निहित है जिसने चिड़िया के सेतु से तकिए के कपास से और नींद न आने की स्थिति को जोड़ा है। इस सम्बन्ध-विधान के लिए एक ओर कपास के फूल पर चिड़िया के आने से सम्बन्धित लोक विश्वास और दूसरी ओर 'किस चिड़िया का नाम है' मुहावरे को लेखक की कल्पना ने परस्पर सम्बद्ध कर दिया है। यह इतने सहज, संयत ढंग से नपे-तुले शब्दों में किया गया है कि मुहावरा लोकविश्वास के भीतर खप गया है जिससे नींद न आने की शिकायत में विलक्षणता आ गई है।

इस सन्दर्भ में 'सपाट बयानी' जैसी संज्ञा भ्रम उत्पन्न करती है क्योंकि उससे 'बयान' के भी कविता होने की सम्भावना व्यक्त होती है। डॉ. नामवर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंह ने सपाटबयानी का उदाहरण देने के लिए नागार्जुन की जो कविता उद्धृत की है, उसमें प्रयुक्त भाषा अंशत: भावसम्पृक्त लाक्षणिक वक्रता से सम्पन्न है। उस कविता में 'चूल्हा रोया' 'चक्की रही उदास' जैसी लाक्षणिक क्रियाओं का प्रयोग ही नहीं किया गया है, अनेक स्थितिव्यंजक चित्र भी उसमें अंगीभूत हैं:

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों को गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।

दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठीं घर भर भी आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

फिर भी इस कविता का सर्जनात्मक वैशिष्ट्य भाव-सम्पृक्त लाक्षणिक वक्रता अथवा स्थिति-व्यंजक चित्र-सर्जना तक सीमित नहीं है। वह इन विशेषताओं से समन्वित उस भाषिक क्षमता में निहित है जिसने अकाल की दारुण स्थिति का अनुभव समय के फैलाव में व्यक्त किया है। प्रथम पद्य की हर पंक्ति के आरम्भ में 'कई दिनों तक' की आवृत्ति इस काल-व्याप्ति के भान को विशदता प्रदान कर गई है। अगले पद्य की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'कई दिनों के बाद' का प्रयोग कर कवि ने उस स्थिति से मुक्त होने में लगे समय की लम्बाई की चेतना को सघन किया है। पहले पद्य में उस स्थिति के लम्बे समय तक बने रहने को मूर्त किया गया है तो दूसरे पद्य में उससे उबर पाने में लगी देर साकार हुई है। स्थिति की निरन्तरता को कवि ने पहले विद्यमानता के बिन्दु से फिर समापन के बिन्दु से आँका है। इस प्रकार दो रूपों में आकार ग्रहण करते हुए भी पूरी कविता में काल-व्याप्ति का बोध ही मुख्य रहा है, फिर भी कविता में एकस्वरता नहीं आने पाई है क्योंकि कवि ने उसे जिन दो विपरीत बिन्दुओं से अंकित किया है, उनके फलस्वरूप अभिप्राय की एकता-स्थिति के साक्षात्कार की विभिन्नता में खो गई है।

स्पष्ट है कि इस कविता का काव्यत्व या उसके कविता होने का श्रेय बयान की सपाटता या सपाट बयानी को नहीं, रचना-कर्म की सूक्ष्मता को है जिससे काल-व्याप्ति की संवेदना को कल्पना में ढालकर उसे आत्मसात् कर सकने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सक्षम भाषा में उतारा। कलात्मक दृष्टि से मूल्य इस सर्जनात्मक वैशिष्ट्य का ही है, कविता के आशय का नहीं। कविता का कथ्य नितान्त अख़बारी है जबकि उसकी सर्जनात्मक परिणति कला की अपनी विभूति है।

: ३ :

भाषा में कल्पना के रचाव के स्थान पर कवि जब अपनी बात खोल कर समझाने लगता है तो रचना की संश्लिष्ट आवयविकता ख़तरे में पड़ जाती है। ऐसा होने पर घटकों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होने लगती है और संरचना में जोड़ स्पष्ट दिखलाई देने लगते हैं। समर्थ कवि भी जब अर्थ-प्रेषण के लिए अपनी कल्पना को विश्लिष्ट रूप में अंकित करता है तो उसकी सर्जनात्मक क्षमता क्षीण होकर प्रकट होती है। मुक्तिबोध सामान्यतया अपनी संवेदना को फैंटेसी में पर्यवसित कर देते हैं, लेकिन 'भूल-गलती' इसका अपवाद है। इस कविता में उन्होंने प्रतीक और प्रतीकार्थ की भेदक रेखा को इतना उभार दिया है कि रचना में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का द्वैध बराबर बना रहा है जिसमें आरोप का प्रयत्न स्पष्ट झलकता है। इसी प्रकार **रामचरितमानस** के छोटे-बड़े सांगरूपकों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के जोड़ साफ़ दिखलाई देते हैं। 'मानस' में कहीं-कहीं मन्तव्य की स्पष्टता की चेष्टा सादृश्य को एकदम अनावृत कर गई है। उदाहरण के लिए :

अर्क जवास पात बिन भयउ। जस सुराज खल उद्यम गयउ॥

और

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धन जैसे॥

में कल्पना की संश्लिष्टता के दर्शन ही नहीं होते।

: ४ :

लेकिन कविता के अर्थ से उसके 'होने' को अलगाने की आवश्यकता अधिक इसलिए अनुभव होती है कि अनेक बार कविता के मूल्यांकन के नाम पर उससे दुहे गए अर्थ का मूल्यांकन किया जाने लगता है। मैक्लीश ने जब अर्थ को परे धकेल-कर कविता के 'होने' पर बल दिया तो इस प्रकार के मूल्यांकन का प्रतिवाद ही किया था। अर्थ का विरोध करते हुए उन्होंने रचना की मांसल प्रतीति का प्रतिपादन करके प्रकारान्तर से उस भारतीय काव्यदृष्टि के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया जो शब्दार्थ के सायुज्य के रूप में भाषा में कल्पना के रचाव को काव्य का लक्षण या कम-से-कम उसका शरीर मानती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के प्रति निष्ठावान समीक्षक 'अर्थ' से 'रचना' की भिन्नता के विषय में प्रायः सचेत रहता है। मुक्तिबोध ने शमशेर के काव्य पर विचार करते समय उनके काव्य के कथ्य पर कोई टिप्पणी न करके उनकी कला-प्रवृत्ति की ही व्याख्या की। इस प्रसंग में 'रचना' और अर्थ के अन्तर का प्रतिपादन किए बिना ही अपने समीक्षा कर्म के लिए उन्होंने 'अर्थ' को छोड़कर रचना को ग्रहण किया है। **कामायनी : एक पुनर्विचार** में उन्होंने कृति के निर्वचन से उपलब्ध कथ्य का मूल्यांकन किया है। यह निर्वचन उनका अपना है और उसमें भूल भी हो सकती है; फिर भी इस विषय में वे सचेत थे कि यह मूल्यांकन 'अर्थ' का था, कविता का नहीं। उक्त समीक्षा-ग्रंथ में उन्होंने बार-बार इस बात की चर्चा की है कि वे **कामायनी** के काव्यत्व का मूल्यांकन नहीं कर रहे। यही कारण है कि समीक्ष्य कृति के निर्वचन से प्राप्त अर्थ में उन्हें जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति जान पड़ी उसका डट कर विरोध करते हुए भी वे उसके सर्जनात्मक वैभव की प्रशंसा रह-रहकर मुक्त कंठ से करते रहे।

: ५ :

फिर भी कला के कलाबाह्य उपयोग की सम्भवना और उसके औचित्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्य कलाओं के समान कविता का भी नानाविध उपयोग होता है। इस उपयोग के अन्तर्गत 'रचना' और 'अर्थ' दोनों का लाभ लिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई कविता किसी विक्षिप्त कवि की है, अथवा कविता रच चुकने के बाद वह विक्षिप्त हो गया हो तो उसकी 'रचना' के माध्यम से उसके विक्षेप के मूल तक पहुँचा जा सकता है। इससे उसकी चिकित्सा में सहायता मिल सकती है; लेकिन वह उसकी 'रचना' का उपयोग है, जो उसके कविता होने का अनुभव नहीं करा सकता। खोजने पर कविता के इस उपयोग के उदाहरण मिल जाएँगे, लेकिन उनकी कलात्मक सार्थकता का दावा किया जाने का कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। इसलिए ऐसा उपयोग कला के क्षेत्र में कभी चिन्ताजनक नहीं माना गया।

इसके विपरीत कविता के अर्थ के उपयोग ने कला को समझ के लिए बहुत बार खतरा पैदा कर दिया है। कविता से दुहे गए अर्थ में समाज-चेतना, संस्कृति-बोध और इतिहास-दृष्टि और बहुत-कुछ दूसरी चीजें खोजी जा सकती हैं। ये चीजें उसमें रहती हैं, इसलिए उनकी खोज में कुछ भी अनुचित नहीं है। अनुचित यह तब हो जाता है जब इनके सहारे कलाकार की महानता नापी जाने लगती हैं अर्थात् जब अर्थ में इन चीजों की खोज को कला-मूल्यों का स्थानापन्न बना दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। इससे कला-विषयक निर्णय गलत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'प्रसाद' कवि की अपेक्षा नाटककार के रूप में महान् हैं!

यह स्थिति कला-मूढ़ता की द्योतक है, जिससे कविता के मूल्यांकन को बचाना आवश्यक है। कविता के 'अर्थ' का जो भी मूल्य हो, उसका 'होना' उसमें निहित नहीं रहता। जिसे आवश्यकता हो, वह कविता से अर्थ दुह ले, कला का सरोकार 'रचना' से उत्पन्न काव्यानुभव से है, अर्थ से नहीं।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर (राजस्थान)

– जगदीश शर्मा

समसामयिक परिप्रेक्ष्य में मुंशी प्रेमचन्द के साहित्य के विविध आयामों का हिंदी के मर्मज्ञ और मूर्धन्य समीक्षकों द्वारा पुनर्मूल्यांकन

प्रेमचन्द : सृष्टि और दृष्टि

सम्पादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशक : महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा
नारायण पेठ, पुणे–४११०३०

सजिल्द, मूल्य २५ रु. मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (४)

मू. "यदा यदुत्पन्नं सत् कार्यानुकूलसहकारिमध्यमधिशेते तदा तदेव कार्यं प्रति तस्य प्रयोजकत्वमिति चेत्" तत्किमवान्तरजातिभेदमुपादाय बीजस्वभावेनैव वा ? आद्ये स एव जातिभेदस्तत्र प्रयोजकः, किमायातं बीजत्वस्य । द्वितीये तु समानशीलानामपि सहकारिवैकल्यादकरणमित्यायातम्, तत्तत्सहकारिसाहित्ये सति तत्तत्कार्यम्प्रतिप्रयोजकस्य बीजस्वभावस्य सर्वसाधारणत्वादिति ।

बीज से अन्य बीज, अङ्कुर या बीजानुभव इन तीनों में से कोई भी क्यों उत्पन्न नहीं होता इस आशंका के निवारणार्थ बौद्धों की ओर से यह प्रतिवाद संभव है कि (एकही कारण के अनेक कार्य होनेपर भी) जिस कार्य की कारणसामग्री के मध्य में अवस्थित होकर कोई कारण उत्पन्न होता है, उसी कार्य के लिये वह कारण उपयुक्त होता है, अन्य के लिये नहीं । अतः बीज हर समय उक्त तीनों कार्य संपन्न नहीं कर पायेगा । इसपर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि बीज जिस किसी कार्य के लिये (विभिन्न परिस्थितियों में) जो प्रयोजक होता है वह 'तत्काल कार्यकारिरूप' से होता है या बीजरूप से ? यदि 'तत्कालकार्यकारित्व' ही बीज की प्रयोजकता का निर्धारक माना जाय तो बीजत्व की कहीं आवश्यकता नहीं रह जायेगी । इस आपत्ति को टालनेके लिये यदि बीजत्व को बीजप्रयोकता का निर्धारक मानें तो सभी बीजत्वयुक्त बीज अङ्कुरकारक हैं, किन्तु वे सहकारि (मध्य में अवस्थित) सहकृत न हों तो अङ्कुरोत्पादन नहीं कर सकते ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । सहकारियों की उपस्थिति में कार्योत्पादन समर्थ जो बीज (त्वरूप बीज)-स्वभाव है वह सभी बीजों में एकसमान ही विद्यमान होता है ।

मू. अत्रापि प्रयोगः– यद्येन रूपेणार्थक्रियासु नोपयुज्यते न तत् तद्रूपम्, यथा बीजं कुञ्जरत्वेन किञ्चिदप्यकुर्वन्न कुञ्जरस्वरूपम्, तथा च शाल्यादयः सामग्रीप्रविष्टाः बीजत्वेनार्थक्रियासु नोयुज्यन्त इति व्यापकानुपलब्धिः प्रसङ्गहेतुः तद्रूपताया अर्थक्रियां प्रति योग्यतया व्याप्तत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त बात सिद्ध करने के लिये (बौद्ध विचारपद्धति का अनुसरण कर) प्रसङ्गानुमानरूप प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है । इसके लिये अपेक्षित व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार होगा : जो वस्तु जिस रूप से किसी कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होती वह वस्तु उस रूपसे युक्त नहीं होती; जैसे बीज का हाथी के रूप से किसी कार्य के लिये उपयुक्त नहीं होनेसे वह हाथी के रूप से युक्त नहीं होता । अतः किसी वस्तु को किसी धर्मयुक्त होने के लिये उसे उस धर्म से किसी कार्य में व्याप्त होना आवश्यक है । किन्तु बौद्धामतानुसार खेत में बोया बीज भी 'तत्कालकारि'त्वरूप से ही अङ्कुरोत्पादक होता है । अतः ऐसे बीजमें उक्त व्याप्य-व्यापकभावान्तर्गत 'बीज' रूप से 'अङ्कुरोत्पादकत्व'रूप व्यापकधर्म विद्यमान नहीं है । इस कारण उसमें बीजरूप व्याप्यधर्म भी नहीं रह सकता । (व्यापक धर्म न होने पर व्याप्यधर्म का होना संभव नहीं ।) तात्पर्य यह है कि यदि बीजत्व का किसी कार्य के लिये उपयोग हो न हो तो उसकी बीज में सत्ता मानना निराधार है ।

मू. "तद्रूपत्वमेतस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादशक्यापन्हवमिति चेत्" अस्तु तर्हि विपर्ययः–यद्यद्रूपं तत् तेन रूपेणार्थक्रियासूपयुज्यते, यथा स्वभावेन सामग्रीनिवेशिनो भावाः, बीजजातीयाश्चैते कुशूलस्थादय इति स्वभावहेतुः तद्रूपतामात्रानुबन्धित्वाद्योग्यतायाः,

उक्त कथनपर बौद्धों की ओर से यह प्रतिवाद हो सकता है कि बीजत्व किसी कार्य का प्रयोजक न भी हो तो भी अकार्यकारी बीज में भी उसकी उपस्थिति प्रत्यक्षगम्य ही होनेसे उसका अस्वीकार संभव नहीं । इसपर नैयायिक भी विपर्ययानुमानद्वारा यह सिद्ध कर सकता है कि यदि बीज में बीजत्व की अवस्थिति मान ली जाती है तो ऐसे बीज को कोई न कोई कार्य अवश्य संपन्न करना होगा । अनुमानार्थ अपेक्षित व्याप्ति इस प्रकार है: जो वस्तु जिस स्वरूप से युक्त होती है वह उस स्वरूप से कोई-न-कोई कार्य सम्पन्न करती ही है । जो वस्तु स्वरूपविशेष से युक्त नहीं होती वह उस स्वरूप से कोई भी कार्य नहीं कर पाती । जैसे पत्थर बीज न होने से बीज का कार्य नहीं कर पाता । सामग्रीमध्यस्थित बीज तत्कालकार्यकारित्वरूप से युक्त होने से अङ्कुरोत्पादन का कार्य करता है । भंडार में रखा गया बीज बीजत्वयुक्त है । अतः उसे बीजरूप से कोई न कोई कार्य करना ही चाहिये ।

मू. ततश्चास्ति किञ्चित्कार्यं यत्र बीजत्वेन बीजमुपयुज्यत इति । "बीजानुभव एवासाधारणं कार्यं यत्र बीजत्वं प्रयोजकं तच्च सर्वस्मादेव बीजाद्भवतीति किमनुपपन्नम् इति चेन्" न, यौगिकतदनुभवस्य तदन्तरेणाप्युपपत्तेः । "लौकिक इति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेत् " सत्यमेतत् नत्विदमवश्यं सर्वस्माद्बीजाद्भवति इन्द्रियादिप्रत्यासत्तेरसदातनत्वात्, असार्वत्रिकत्वाच्च,

तो ऐसा कोई न कोई कार्य होना आवश्यक है जिसके लिये बीज रूप से बीज उपयोगी हो सके। क्या बीज का ज्ञान ही ऐसा कार्य होगा जिसके लिये बीज मात्र विशेषकारण हो सके ? नहीं; बीज उपस्थित न होने पर भी योगसामर्थ्य से प्राप्त होनेवाले बीजविषयक ज्ञान के लिये बीज की आवश्यकता नहीं होती। यदि कहें कि बीज के लौकिक (या सामान्य) ज्ञान के लिये ही बीज की जरूरत (विषयक के रूप में) पड़ती है तो उत्तर होगा कि यह बात सच नहीं है। सभी बीजों से बीजविषयक ज्ञान घटित होना बीज के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष घटित होने पर निर्भर है। किन्तु यह सन्निकर्ष कभी कभी ही घटित होता है और वह भी विशेष परिस्थितियों में ही।

मू. ततश्च योग्यमपि सहकार्यसन्निधानान्न करोतीत्यर्थसिद्धम्। "कार्यान्तरमेवातीन्द्रियं सर्वबीजाव्यभिचारि भविष्यतीति चेत्" तन्न, तावदुपादेयम्, अमूर्तस्य मूर्तानुपादेयत्वात्, परिदृश्यमानमूर्तघटिततया मूर्तान्तरस्य तद्देशस्यानुपपत्तेः। नापि सहकार्यम्, मिथःसहकारिणामव्यभिचारानुपपत्तेः।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बीज स्वप्रत्यक्षजनक होने पर भी जबतक उसके साथ इन्द्रियरूप सहकारियों का सन्निधान नहीं होता तबतक वह यह प्रत्यक्षज्ञान भी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह है कि समर्थ कारण के लिये भी सहकारियों की आवश्यकता होती है। इस पर यह प्रतिवाद संभव है कि सभी बीजों से उत्पन्न हो सकनेवाला कोई इन्द्रियगोचर ऐसा कार्य होगा जिसके लिये केवल बीज ही आवश्यक हो। किन्तु यह कार्य न बीज-समवेत होगा न बीज-निमित्तक। बीज-समवेत कार्य या तो अमूर्त (निराकार) होगा या मूर्त। बीज मूर्त होनेसे कोई अमूर्त वस्तु उसमें समवेत नहीं हो सकती। कोई मूर्त वस्तु भी बीज-समवेत नहीं हो सकती। क्योंकि बीज-समवेत (या बीज से उत्पन्न होनेवाला) अङ्कुर भी है; अतः यदि अन्य कोई मूर्त वस्तु बीजमात्र का कार्य हो तो वह अंकुर के स्थान में नहीं रह सकती। दो मूर्त पदार्थों का एक ही स्थान में रहना संभव नहीं है। बीजनिमित्तक कार्य भी सहकारि-सहकृत बीज-निमित्तक हो (सहकारिविरहित समर्थ वस्तु भी कार्योत्पादन नहीं करती यह बात सिद्ध हो गयी है।) तो जो बीज सहकारि-सहकृत नहीं होगा वह इस कार्य का निमित्त-कारण नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में बीज-सामान्य का कोई कार्य है यह बात सिद्ध नहीं होगी जिससे बीज-स्वभाव निष्प्रयोजन मानना अनिवार्य हो जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. अपिचैवंसति प्रयोजकस्वभावो नान्वयव्यतिरेकगोचरः, तद्गोचरस्तु न प्रयोजकः, दृश्यं च कार्यजातमदृश्येनैव स्वभावेन क्रियते, दृश्येन त्वदृश्यमेवेति, सोऽयं 'यो ध्रुवाणी 'त्यस्य विषयः ।

उक्त आपत्तियों को देखते हुए कहना पड़ता है कि बौद्धों के कथनानुसार जो 'कुर्वद्रूपत्व' जैसा धर्म कार्य-अंकुर के लिये अपेक्षित है उसका इस कार्य के साथ साहचर्य प्रत्यक्षगम्य नहीं और जिस बीजत्व जैसे धर्म का अंकुर के साथ साहचर्य प्रत्यक्षगम्य है वह अंकुर का प्रयोजक नहीं; वैसे ही दृश्य अंकुर जैसा कार्य अदृश्य कुर्वद्रूपत्वरूप धर्मद्वारा निर्धारित होता है और कोई अतीन्द्रिय कार्य दृश्य बीजस्वभाव से निर्धारित होता है । ये सारी विचित्र बातें

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि च सेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुव नष्टमेव च ॥'

इस कहावत की याद दिलाती है । इसका मतलब है कि जो व्यक्ति निश्चित बातों को छोड़कर अनिश्चयात्मक बातों के पीछे लगता है वह निश्चित और अनिश्चित दोनों बातों से हाथ धो बैठता है ।

मू. अथवा व्यतिरेकेण प्रयोगः–विवादाध्यासितं बीजं सहकारिवैकल्य-प्रयुक्ताङ्कुरादिवैकल्यं तदुत्पत्तिनिश्चयविषयीभूतबीजजातीयत्वात्, यत्पुनः सहकारिवैकल्यप्रयुक्ताङ्कुरादिवैकल्यं न भवति न तदेवम्भूत बीजजातीयं, यथा शिलाशकलमिति ।

अबतक विशद की हुई बातों को ही व्यतिरेकानुमान के द्वारा नैयायिक संक्षेप में पुनः उपस्थित करता है। अनुमान इस प्रकार है: विवादास्पद कुशलस्थ बीज सहकारियों से सहकृत होने के कारण ही अंकुररूप कार्य उत्पन्न नहीं कर पाता; क्यों कि वह निश्चय से अंकुरोत्पादक बीज की जाति का है। जो पत्थर जैसी वस्तु सहकारियों के न होने से अंकुरोत्पादन नहीं करती वह अंकरोत्पादक बीज को जाति की भी नहीं होती ।

मू. "न च किमुक्तसाध्यव्यावृत्तेरुक्तसाधनव्यावृत्तिरुदाहृतत्वात् किं वा परम्परयापि तथाविधप्रसवसामर्थ्यविरहादिति व्यतिरेकसन्देह इति वाच्यम्"। प्रागेव शङ्काबीजस्य निराकृतत्वादिति ।

उक्त व्यतिरेकानुमान के लिये आधारभूत व्यतिरेक व्याप्ति के बारे में एक संदेह संभव है । वह यह है कि पत्थर जैसे व्यतिरेक दृष्टान्त में सहकारिविरहयुक्त अंकुरानुत्पादकत्व के अभाव के कारण बीजजातीयत्व का अभाव है यह बात न होकर संभवतः परंपरया अंकुरोत्पादकता का अभाव होने के कारण ही उसमें बीज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीयत्व का अभाव हो। सरल शब्दों में, संदेह इस बात को लेकर हो सकता है कि 'कुर्वद्रूप' बीज से भिन्न होने के कारण ही शायद पत्थर बीजजातीय न हो। इसपर नैयायिक उत्तर देतें हैं कि 'कुर्वद्रूपत्व' जैसे धर्म का निकारण किया जा चुका होने से ऐसा संदेह उठ ही नहीं सकता।

मू. "स्यादेतत्, मा भूत् सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः, अस्तु बीजत्वमेव प्रयोजकम्, भवतु च सहकारिसमवधाने सति कर्तृस्वभावत्वं भावस्य, तथा च तदसन्निधानेऽकरणमप्युपपद्यताम्, तथापि तज्जातीयमात्र एवेयं व्यवस्था न त्वेकस्यां व्यक्तौ, करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र दुर्वारत्वादिति चेत्"। न विरोधस्वरूपानवधारणात्।

अत्र एक नया (क्षणभंगसाधक) तर्क प्रस्तुत करने के उद्देश्य से बौद्ध भूमिका बना रहे हैं। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि कार्यकरणसामर्थ्य तथा असामर्थ्य इन दो विरुद्ध धर्मों का किसी वस्तु में सहावस्थान नहीं होता। बीजगत बीजत्व ही अंकुर-प्रयोजक होता है। कोई भी वस्तु सहकारियों से सहकृत होनेपर ही अपना कार्य कर पाती है और उनके न होने पर वह यह कार्य नहीं कर पाती। ये सब बातें स्वीकार कर लेने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि किसी जाति के संबंध में ही वे लागू की जा सकती हैं। जैसे, बीज जाति के कुछ बीज समर्थ होंगे तो कुछ असमर्थ, कुछ सहकारिसहकृत होंगे तो कुछ असहकृत। किन्तु किसी बीज-व्यक्ति को ये बातें नहीं लागू की जा सकतीं। तथापि कार्यकारित्व तथा अकारित्व ये विरुद्ध धर्म (तथाकथित) एक ही व्यक्ति में प्रत्यक्ष से ही गम्य हैं, इस विरोध के निरासार्थ क्षणभङ्गवाद मानना आवश्यक हो जाता है। इस तर्क पर नैयायिकों का कहना है कि उक्त विरोध का स्वरूप बौद्ध नहीं समझ पाये हैं।

मू. स खलु धर्मयोः परस्पराभावरूपत्वं वा स्यात् नित्यत्वानित्यत्ववत्, धर्मिणि तदापादकत्वं वा शीतोष्णत्ववत्, तद्वत्ता वा दण्डित्वकुण्डलित्ववत्।

विरोध के स्वरूप को उद्घाटित करने के लिये नैयायिक पूछते हैं कि यह विरोध दो धर्मों के परस्पराभावरूप होने के सदृश है क्या? जैसे नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पराभावरूप हैं वैसे ही सामर्थ्य और असामर्थ्य परस्पराभावरूप हो सकते हैं। दो और विकल्प इस विरोध के स्वरूप के संबंध में नैयायिक प्रस्तुत करते हैं। वे है: 'परस्पराभावव्याप्यत्व' तथा 'परस्परात्यन्ताभाववत्व'। शैत्य उष्णत्वाभावव्याप्य है और उष्णत्व शैत्याभावव्याप्य। अतः एक की उपस्थिति दूसरे के अभाव को आपादित करती है। यह विरोध का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा तरीका है। दण्डित्वरूप धर्म में कुण्डलित्व का और कुण्डलित्व में दण्डित्व का अभाव होना यह तीसरे प्रकार के विरोध का उदाहरण है।

मू. न प्रथमः, निर्विशेषणस्यासिद्धेः, यावत्सत्वं किञ्चित्करणात्। सद्विशेषणस्य तु विरोधसिद्धावप्यध्यासानुपपत्तेः। यदा यदकरणं हि तदा तत्करणस्याभावो न त्वन्यदा तत्करणस्य, न चैतयोरेकधर्मिसमावेशमातिष्ठामहे।

उक्त तीन विरोध की विधाओं में पहली विधा से सामर्थ्य-असामर्थ्य को विरोधी नहीं सिद्ध किया जा सकता। शुद्ध अकारित्व बीज या अन्य वस्तु में कभी नहीं होता। जबतक कोई वस्तु विद्यमान है तबतक वह कुछ न कुछ करती ही रहती है। और कुछ नहीं तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं या स्थानों से अपना संयोग प्रत्येक वस्तु स्थानान्तरणवशात् बनाती रहती है। अतः निरपेक्ष अकारित्व किसी भी वस्तु में नहीं होता। सापेक्ष अकारित्व, अर्थात् जब किसी कार्य को कोई वस्तु उत्पन्न करती है उस समय उस कार्य को अनुत्पादन, इनमें जरूर विरोध है; किन्तु ये दो विरोधी धर्म बीजादि में अवस्थित नहीं दिखाई देते। एक समय जिस कार्य को कोई वस्तु उत्पन्न करती है उससे अन्य समय उस कार्य की वह अनुत्पादक जरूर है। किन्तु इन दो धर्मों में कोई विरोध नहीं है।

मू. न द्वितीयः, भावाभावव्यतिरिक्तयोः करणाकरणयोरसिद्धेः, व्यापारापरव्यपदेशसहकारिभावाभावौ हि करणाकरणे कार्यभावाभावौ वेति। अतिरेकसिद्धावपि स्वकाल एव स्वभावप्रतिक्षेपवत् अकरणाभावमाक्षिपेत् करणं न त्वन्यदा। न हि यो यदा नास्ति स तदा स्वाभावं प्रतिक्षेप्तुमर्हतीति, विरोध्यभावं वा आक्षेप्तुम्, तथासति न कदापि तन्न स्यात्, न वा कदापि तद्विरोधी भवेदिति 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इत्यायातम्, न वा विरोधः।

विरोध की दूसरी विधा कारित्व-अकारित्व के संबंध में गैरलागू है यह अब नैयायिक विशद करते हैं। कारित्व यदि भाव है तो अकारित्व उसका अभाव ही होगा। वैसे ही अकारित्व को भाव मानें तो कारित्व उसका अभावरूप होगा। कारित्व और अकारित्व के दो अर्थ हो सकते हैं। 'कारण-व्यापार' के रूप से पहचाने जानेवाला सहकारियों का संकलन या असंकलन यह एक अर्थ है और दूसरा 'कार्योत्पत्ति या अनुत्पत्ति'। इनमें से कोई भी अर्थ लें तो भी कारित्व अकारित्व, परस्पराभावरूप ही सिद्ध होते हैं। किन्तु इन्हें परस्पराभावव्याप्य मानकर परस्पराभाव-प्रतिक्षेपक मान भी लें तो भी विरुद्धधर्माध्यास सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई वस्तु अपने उपस्थिति-काल में ही अपने अभाव का प्रतिक्षेप करती है वैसे ही कारित्व अपने काल में ही अकारित्व के अभाव का आपादन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेगा, अन्य काल में नहीं। जो वस्तु जब नहीं है वह वस्तु उस समय के अपने अभाव का प्रतिक्षेप या अपने विरोधी के अभाव का आपादन नहीं कर सकती। ऐसा यदि संभव हो तो हर समय प्रत्येक वस्तु की सत्ता बनी रहेगी क्योंकि विरोधी के अस्तित्व का निरपेक्ष विरोध वह बराबर करती रहेगी। ऐसा मान लेने से गीता में प्रतिपादित सांख्य-मत, जिसके अनुसार असत् कभी सत् नहीं होता और सत् कभी असत् नहीं होता, स्वीकार कर लेना होगा। और अगर ऐसा करें तो विरोध नाम की कोई बात ही नहीं रह जायेगी।

मू. "नन्वेवं सति परिमाणभेदोऽपि कालभेदेन न विरुध्येत, तत्राप्येवं वक्तुं सुकरत्वात्"। न, बाधकबलेन तत्र कालभेदस्य विवक्षितत्वात्, तथाहि—नारब्धद्रव्यैरेव द्रव्यावयवैर्द्रव्यान्तरमारभ्यते मूर्तत्वसमानदेशत्वयोरेकदा विरोधात्, तथा चारम्भपक्षे पूर्वद्रव्यनिवृत्तिः, अनिवृतावनारम्भ इति। तत्र निवृत्तावाश्रयभेदादेव परिमाणभेदः, अनिवृत्तौ संयोगिद्रव्यानुपचये क्व परिमाणभेदोपलम्भो यो विरोधमावहेत्, तदुपचये तु क्व परिमाणान्तरोत्पत्तिः आश्रयानुपपत्तेः, अत एव स्थौल्यातिशयप्रत्ययोऽपि तत्र भ्रान्तः, तस्मात् कालभेदेनापि न परिमाणभेद एकस्मिन्धर्मिण्युपसंहर्तुं शक्यत इत्यादि पदार्थचिन्ताचतुरैः सह विवेचनीयम्।

यदि समयभेद के आधार पर कारित्व और अकारित्व के विरोध का समर्थन किया जाय तो इसी प्रकार विभिन्न परिमाणों के विरोध का भी समर्थन किया जा सकता है। तब जो वस्तु आज छोटी हैं वही कुछ समय के अनंतर बड़ी दिखाई देनेपर पहली वस्तु बदली न होकर वही बड़ी हो गयी है ऐसा मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? इस आशंका पर नैयायिक प्रतिवाद करते हैं कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न समयपर भी विभिन्न परिमाण नहीं होते यह बात प्रमाणसिद्ध होने से विभिन्न परिमाणों का एक वस्तु में समन्वय घटित नहीं हो सकता। इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है: एक वस्तु के उत्पादक जो घटक हैं वे ही उस वस्तु के नष्ट हुए विना दूसरी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकते (ऐसा यदि संभव हो तभी विभिन्न परिमाण एक ही घटकों से निर्मित वस्तु में सहावस्थित हो सकते हैं।) क्योंकि दो मूर्त वस्तुएँ एक ही स्थान में कदापि नहीं रह पायेंगी। यदि एक ही घटक से अन्यान्य वस्तुओं का प्रादुर्भाव माना जाय तो नयी वस्तु का प्रादुर्भाव होने के पूर्व पुरानी वस्तु या तो नष्ट हो जायेगी या वह वैसे ही बनी रहेगी इनमें से पहला विकल्प स्वीकार कर लें तो नया परिमाण पहली वस्तु में नहीं, नयी वस्तु में अवस्थित मानना पड़ेगा। तब परिमाण-विरोध की बात ही उपस्थित नहीं होगी। दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर, पहली वस्तु नष्ट होने के कारण इस वस्तु में जबतक अन्य संयोगिद्रव्य सम्मिलित नहीं होता तबतक उसके परिमाण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फर्क कैसे आ सकता है ? और यदि ऐसे द्रव्य का पूर्ववस्तु में समावेश मान भी लें तब भी जबतक (इस कारण) नयी वस्तु की उत्पत्ति-पूर्व वस्तु के स्थान में स्वीकार नहीं की जाती तबतक पहले परिमाण का स्थान दूसरे परिमाण ने ग्रहण किया यह कैसे माना जा सकता है ? यदि कोई पूछे कि परिमाण-भेद का प्रत्यभिज्ञान तो अनुभवसिद्ध है–जैसे एक दुबले पतले व्यक्ति को मोटा हुआ देखकर 'यह वही है जो पहले बिलकुल दुबला था, ऐसी पहचान होना एक मामूली बात है–तो उसपर नैयायिक कहेंगे कि यह प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है या तो वस्तु में परिवर्तन हुआ होना चाहिये या उसका परिमाण एकसा ही रहना चाहिये। कृश व्यक्ति जब मोटा होता है तब उसका शरीर कम से कम बदल ही जाता है यह मानना आवश्यक है। अतः कालभेद से भी एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी परिमाण अवस्थित नहीं हो सकते। इन बातों का स्पष्टीकरण पदार्थ-विचार करनेवाले वैशेषिकों की सहायता से करना आवश्यक है क्यों कि वे ही पदार्थस्वरूप का यथावत् स्वरूप निर्धारण करने में रुचि रखते हैं।

मू. "अस्तु तर्हीहापि बाधकं बलम् प्रसङ्गतद्विपर्यययोरुक्तत्वादिति चेत्" न, तयोः सामर्थ्यासामर्थ्यविषयत्वात्तत्र चोक्तत्वात्। स्तां वा, न तथापि ताभ्यां शक्त्यशक्त्योरविवक्षितत्वात् कालभेद एव विरोधः साध्यते, तथोपसंहर्तुमशक्यत्वात्। "यदा तदेत्युपक्षेप्य यत् समर्थं तत्करोत्येवेत्युपसंहर्तुं शक्यमिति चेत्" न, कालनियमाविवक्षायां यत्समर्थं तत्करोत्येव कदाचिदिति स्यात्, तथा च सम्भवविधेरत्यन्तायोगो विरुद्धः, न त्वयोगः नीलं सरोजं भवत्येवेतिवत्।

पुनः बौद्ध पूछते हैं कि जैसे परिमाण-भेद एक ही वस्तु में संभव नहीं यह बात बाधक-प्रमाण से सिद्ध मान ली जाती है वैसे ही कारित्व-अकारित्व के सहावस्थान के संबंध में भी प्रसङ्ग-विपर्ययरूप बाधक-प्रमाण के आधार पर निर्णय क्यों न किया जाय ? अर्थात्, जो बीज कारि है वह अकारि नहीं होगा और जो अकारि है वह कारि नहीं होगा ऐसा प्रसङ्ग-विपर्यय के आधार पर मान लिया जा सकता है। इसपर नैयायिकों का उत्तर है कि कारित्व और अकारित्व ये सामर्थ्य तथा असामर्थ्य रूप ही हों तो उनके संबंध में पीछे जो प्रसङ्ग-विपर्ययानुमान प्रस्तुत किये गये थे उनका खंडन कर दिया गया है। किन्तु यदि सामर्थ्य-असामर्थ्य से भिन्न ही कारित्व-अकारित्व मान लेना हो तो कालनिरपेक्ष शुद्ध-कारित्व और शुद्ध-अकारित्व का विरोध प्रसङ्ग-विपर्यय द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो जिस समय एक कार्य करता है वह उसी समय उस कार्य का अकारि नहीं होता। यही विरोध प्रसङ्ग-विपर्यय से सिद्ध हो सकता है। सामान्य कारित्व और सामान्य अकारित्व किसी भी वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसपर यह आशंका संभव है कि कालनिर्देश किये बिना, 'जो समर्थ है वह अपना कार्य करता ही है' ऐसा कथन क्या नहीं किया जा सकता ? उत्तर है कि 'हां, किया जा सकता है ।'; किन्तु इस प्रकथन का अर्थ होगा कि 'समर्थ व्यक्ति कभी न कभी अपना कार्य करता ही है ।' यहाँ 'ही' का अर्थ 'अत्यंतायोग' या बिलकुल कार्य करने का 'व्यवच्छेद' या निरास हैं न कि 'अयोग' या न करने का निरास है । यदि 'अयोगव्यवच्छेद' 'ही' का ('एव' कार का) अर्थ होता तो 'समर्थ व्यक्ति सर्वदा कार्य करता है' ऐसा अर्थ उपर्युक्त कथन का होगा, जो ठीक नहीं है : तात्पर्य यह है कि कभी न कभी कार्य कर लेने पर भी वस्तु 'समर्थ' मानी जा सकती है ।

मू. "ननु यदसमर्थं प्रथमासीत् तस्य पश्चादपि सामर्थ्यं कुत आयातम्, प्रथम समर्थस्य वा पश्चादपि कुत्र यातम्" । नैतदेवम्, तत्तत्सहकारिमतस्तत्तत्कार-कत्वं हि सामर्थ्यम्, अतद्वतस्तदन्यवतो वा तदकर्तृत्वमसामर्थ्यम्, इदञ्चौत्पत्तिकमस्य रूपम् । तेच सहकारिणः स्वोपसर्पणकरणवशाद्भिन्नकाला इत्यर्थात्कार्याणामपि भिन्नकालतेति । "तथाप्येककालस्थ एव भावो जातनष्टस्तदा तदा तत्कार्यं करोतु, उत्पन्नमात्रस्य तत्स्वभावत्वादेकदेशस्थवत् इति चेत्"

अब पुनः प्रश्न किया जा रहा है कि जो वस्तु पहले असमर्थ थी वह बाद में समर्थ कैसे हो गयी ? उसमें सामर्थ्य कैसे बाद में प्रकट हो गया ? वैसे ही जो वस्तु पहले समर्थ थी उसका सामर्थ्य बाद में कहाँ और कैसे चला गया ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है: सहकारियों से सहकृत होकर अपना कार्य कर सकना ही कारणवस्तुगत सामर्थ्य है । सहकारिविरहित होनेपर अन्य कार्यसहकारियों से सहकृत होनेपर अपना कार्य न कर पाना यही कारणवस्तुगत असामर्थ्य है । यही वस्तु का स्वाभाविक और (जन्मतः विद्यमान) रूप है । इसका मतलब यह नहीं कि वस्तुएँ सहकारिसहकृत होकर ही जन्म लेती हैं । सहकारियों के भी अपने अपने भिन्न-कालिक कारण हुआ करते हैं । जिससे कार्य भी जब तब पैदा नहीं होता । जब सभी सहकारि संकलित होते हैं तभी कार्य उत्पन्न होता है । इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे एक स्थान में अवस्थित कारण दूसरे स्थान में कार्य उत्पन्न करता है (उदाहरणतः इन्द्रियों के द्वारा आत्म में सुखानुभूति घटित होती है ।) वैसे ही क्षणमात्र-स्थायी कोई पदार्थ अन्य काल में भी अपना कार्य क्यों न उत्पन्न करे यदि कार्योत्पाद-सामर्थ्य उसका स्वभाव हो ? कारणबिनाश के बाद भी सहकारिसंकलन होनेपर कार्य घटित होने में क्या बाधक है ? यदि कोई बाधक नहीं तो एक ही वस्तु को विभिन्न कालों में अवस्थित मानने की आवश्यकता नहीं है।

मू. सेयमेककालस्थता स्वरूपापेक्षया सहकारिसान्निध्यापेक्षया वा ? आद्ये न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किञ्चिदनुपपन्नम्, नित्यानामाप्येवंरूपत्वात् वर्तमानैकस्वभावत्वात्सर्वभावानाम्, तदेवचित्सावधि तु क्वचिन्निरवधीति विशेषः। सावधित्वेऽपि व्यापारफलप्रवाहप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां विशेषः। द्वितीयस्तु स्यादपि यदि तेषां यौगपद्यं भवेत्, क्रमिणस्तु सहकारिणः इत्युक्तम्। सहकारिसहितः स्वभावेन करोतीति वक्तरि तु जातनष्ट एव करोत्वित्युत्तरप्रसङ्गो निर्गलशैशवस्येत्यलमनेन।

एक काल में अवस्थित वस्तु अन्यकाल में कार्य क्यों न उत्पन्न करे? इस ऊपर के प्रश्न में 'एककाल' से मतलब या तो अपना उपस्थितिकाल होगा या अपने सहकारियों का अवस्थितिकाल। पहला विकल्प स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्षणिक ही क्या नित्य पदार्थ भी अपने ही काल में अवस्थित होते हैं। सभी पदार्थ वर्तमानस्वभाव ही होते हैं। कोई भी पदार्थ भूत या भविष्य बनकर नहीं रह सकता। नश्वर पदार्थों की वर्तमानता सावधिक होती है और अविनाशी पदार्थों की वर्तमानता निरवधिक होती है। मतलब यह है कि नश्वर-पदार्थ विनाशशील होने से सर्वदा वर्तमान नहीं होते किन्तु नित्य पदार्थ हमेशा ही वर्तमान होते हैं। सभी नश्वर पदार्थ सावधिक होनेपर भी इनमें से कुछ सहकारियों को प्राप्त कर तथा अन्य कुछ अवान्तर प्रक्रियाओं को (व्यापार-फल-प्रवाह) जन्म दे कर उनके द्वारा दूरगामी कार्य से सम्बद्ध होते हैं। जैसे यज्ञयागादि का अपूर्व के द्वारा स्वर्गप्राप्ति जैसे फल से संबंध होता है। उपरि निर्दिष्ट दूसरा विकल्प ('सहकारियों का अवस्थितिकाल ही सहकृत वस्तु का काल है' यह) स्वीकार किया जा सकता है यदि सब सहकारी एकही समय घटित हों। लेकिन यह बात नहीं है। सहकारी प्रायः क्रमिक होते हैं। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'वस्तुमात्र का स्वभाव सहकारिसहित होकर कार्य करना है' इस मतपर 'वस्तु उत्पन्न होते ही कार्योत्पादसमर्थ होनी चाहिये' ऐसा आक्षेप उपस्थित करना नितान्त बालिशता का द्योतक है।

मू. तस्मात्कार्यस्य स एव कालः, कारणस्य तु स चान्यश्चेति सम्बन्धिकालापेक्षया पूर्वकालताव्यवहारः। अपि च यदा तदेतिस्थाने यत्र तत्रेति प्रतिक्षिप्य तयोरेव प्रसङ्गतद्विपर्यययोः को दोषः। "न कश्चिदिति चेत्" तर्हि देशाद्वैतं वा कारणभेदो वा आपद्येत। "आपद्यताम् तदादाय योगाचारनयनगरं प्रवेक्ष्याम इति चेत्" न, हेतुफलभाववादं वैरिणमनपोद्य तत्र प्रवेष्टुमशक्यत्वात्। तदपवादे वा सत्त्वाख्यसाधनशस्त्रसन्यासिनस्तव बहिर्वादसंग्रामभूमावपि कुतो भयम्?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस समय कारण विद्यमान हो (और जिस समय सहकारी भी विद्यमान न हों) वही यदि कारण का स्वकाल हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसी काल में कार्य उत्पन्न होना आवश्यक हो तो कारण का (परिभाषानुसार) कार्यपूर्ववर्ति होना कैसे संभव होगा? उक्त स्पष्टीकरण के अनुसार तो कारण और कार्य ये समवर्ती ही होंगे? इस प्रश्न के समाधानार्थ स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि कार्य का काल कारणसामग्री के समवधान के तुरन्त बाद का है। किन्तु कारण का काल यह और उसके पू. का ये दोनों हैं। कुछ कारण-जैसे निमित्त-कारण-कार्य उत्पन्न होनेपर प्रायः समाप्त हो जाते हैं। किन्तु समवायीकारण कार्य उत्पन्न होने के बाद और कार्यविनाश होने तक बराबर विद्यमान रहता है। कारण के काल को कार्य का पूर्वकाल इसीलिये कहते हैं कि वह कार्योत्पत्ति से संबद्ध जो काल या क्षण है उससे पूर्वक्षण में अवश्य विद्यमान रहता है।

अब नैयायिक बौद्धों पर प्रत्याक्षेप करते हुए कहते हैं कि 'बीज जब समर्थ हो तभी उसे अंकुरोत्पादन करना चाहिये' इस प्रकार के प्रसंगविपर्यय के बदले यदि 'खेत में बोया बीज उसी समय कुशूल में भी अंकुरोत्पादन-समर्थ हो तो उसे कुशूल में भी अंकुरोत्पादन करना चाहिये' ऐसा प्रसंग तथा विपर्ययानुमान उपस्थित किया जाय तो उनके द्वारा क्षणिक बीज में भी, खेत में अंकुरोत्पादन-सामर्थ्य और कुशूल में अंकुरोत्पादन-असामर्थ्य इन दो विरोधी धर्मों के अध्यास के कारण, भेद मानना अनिवार्य हो जायगा। जिस विरुद्ध धर्माध्यास के कारण स्थिर प्रतीत होनेवाली वस्तु को क्षणिक मानना पड़ा उसी अध्यास के कारण अब क्षणिक को भी देशभेद से भिन्न मानना आवश्यक हो जाता है ऐसा नैयायिकों का आक्षेप है। यदि यह अध्यास भेदकारी नहीं हो तो बौद्धों का बतलाया अध्यास भी भेदकारी नहीं हो सकता। कह सकते हैं कि खेत में बोये बीज का जो सामर्थ्य है वही उस समय कुशूल में बीजोत्पादन का भी सामर्थ्य है। अर्थात्, (कालभेद से जैसे बीज का सामर्थ्य बदल सकता है) वैसे देशभेद से बीज का सामर्थ्य बदलता नहीं। खेत में पड़ा बीज खेत में उत्पादनसमर्थ हो तो उसे कुशूल में भी उत्पादनसमर्थ मानना होगा। यह बात अलग है कि वह खेत में पड़ा होने समय कुशूल में रखा नहीं होता (न वह उस समय वहाँ रखा ही जा सकता है क्यों कि खेत में पड़ा होनेसे वह कुशूलस्थ बीज से अलग हो जाता है।) किन्तु ऐसा कहने का मतलब होगा कि बीज के अवस्थान तथा अनवस्थान के प्रदेश अलग अलग नहीं हैं। सभी प्रदेश बीज-प्रदेश ही हैं। यदि कोई बीजप्रदेश न हो तो वहाँ बीज असमर्थ सिद्ध हो जायगा।) यह बात तब संभव होगी जब या तो सभी प्रदेश एक ही मान लिये जायें या सभी प्रदेशों में एक ही बीज की स्थिति मान ली जाय। इसपर, विज्ञानवादी भूमिका अपनाकर बौद्ध यदि कहें कि बाह्य समझे जानेवाले सब पदार्थ विज्ञानरूप ही होने के कारण तथाकथित प्रदेशभेद आभासमात्र है (वे सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञानरूप ही हैं अतः प्रदेशभेद के आधारपर सामर्थ्य असामर्थ्य का विरोधाध्यास सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं) तो उसपर सीधा प्रतिवाद यह होगा कि कार्य और कारण के भेदपर आधारित जो कार्यकारण नियम है उसे विज्ञानवादी कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। और यदि कार्य-कारणभाव नियम को ही त्यागने के लिये बौद्ध तैयार हो जायें तो क्षणिकत्वसाधन के लिये सत्वरूप हेतु पर आधारित अनुमान प्रस्तुत करना भी उसके लिये असंभव हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में स्थिरवाद के अस्वीकार का दुराग्रह बौद्धों के लिये कदापि उचित नहीं होगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, **—नारायणशास्त्री द्राविड**
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया

'भारतीय साहित्यकार की समस्याएँ' शीर्षक से प्रकाशित 'अज्ञेय' का प्रवचन बड़े मनोयोग से पढ़ा। उनका यह कथन बड़ा यथार्थ लगा कि आज कविता का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है।

किंतु यह कहना कदापि सत्य नहीं है कि "ऐसी कविता में, वाचिक परिस्थिति में, जो कि वास्तव में श्रव्य काव्य होता है, हमेशा रीत प्रधान होती है और कवि का व्यक्तित्व गौण हो जाता है...।.. जो 'क' की लिखी हुई है वह 'ख' की भी लिखी हुई हो सकती थी या जो 'ख' ने लिखी है वह 'क' ने लिखी हुई भी हो सकती थी...।" किन्हीं दो कवियों की बात छोड़िए, एक ही काव्यधारा के और एक ही सम्प्रदाय के दो कवियों का उदाहरण लीजिये। क्या सूरदास और नन्ददास की कविता में अन्तर नहीं है? क्या सूरदास की कविता में उनका भावुक व्यक्तित्व और नन्ददास में उनका तार्किक व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित नहीं है? दोनों की कविताओं में उनका व्यक्तित्व इतना प्रकट है कि कोई भी अध्येता कविता सुनते ही कह देगा कि यह किसकी कविता है। इसी प्रकार क्या 'अज्ञेय' कह सकते हैं कि एक ही काव्यधारा छायावाद के जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दत पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा की कविताओं में कोई अंतर नहीं है? चारों की कविताओं में आकाश-पाताल का अंतर है और सबकी कविता में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित है।

आज की कविता पढ़कर जब हम उसमें कवित्व न खोज कर उसके रचयिता की खोज करने लगते हैं तो इसका कारण यह है कि उसमें कवित्व नहीं है या इतना कम है कि उस पर ध्यान ही नहीं जाता है और इसीलिए रचयिता का नाम जानना चाहते हैं। रचयिता के नाम पर आज की कविता कुछ चल जाती है। जब हम जान लेते हैं कि यह 'अज्ञेय' की कविता है तो मन को समझाते हैं कि इसमें अवश्य कवित्व होगा, ढूंढना चाहिए। आज स्थिति यह है कि कविता से उसके रचयिता का व्यक्तित्व नहीं जानते, रचयिता को जान कर उसकी कविता को समझने का प्रयत्न करते हैं।

हिन्दी विभाग
विश्वभारती
शांतिनिकेतन

—सियाराम तिवारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ-समीक्षा

(१)

रघुवंश; आधुनिकता और सृजनशीलता; मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली; पृ. सं. १८०; मूल्य ४५-००

हमारे यहाँ कुछ ही आधुनिक लेखक होंगे जो आधुनिकता को लेकर किसी लम्बी बहस में जाना चाहें- अधिकतर लेखक उसे एक हल कर लिया गया संदर्भ मानकर आगे बढ़ जाना चाहेंगे और सृजनशीलता की चिन्ता भी कुछ ही कृती लेखकों में देखी जाती है जो रचनाकर्म से किसी गहरे स्तर पर जुड़े होते हैं। दिलचस्प यह है कि इन दिनों ऐसे स्थिर आग्रहोंवाले व्यक्ति भी दीख जाएँगे जो सृजनशीलता की चिन्ता को समाज की मुख्यधारा से कटे हुए अन्तर्मुख या भटके हुए लोगों की चिन्ता मान चुके हैं। रघुवंश उन थोड़े से लेखकों में हैं जिनके लिए रचनात्मक ईमानदारी के कसौटी-प्रश्नों से टकरना है, प्रश्नों के सरल हल ढूंढ़ना नहीं।

'आधुनिकता और सृजनशीलता' में रघुवंश के समय समय पर लिखे गए निबंध संकलित हैं। विषयों के अनुसार उन्हें तीन खण्डों में संपादित किया गया है- आधुनिकता और सृजनशीलता, लोक साहित्य और प्रकीर्ण। इनमें पहला खंड ही सबसे महत्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है। पहले ही निबंध 'भारतीय बौद्धिक परिस्थिति और आधुनिकता का संदर्भ' में रघुवंश अनुभव करते हैं कि देश की अवरुद्ध सृजनशीलता के कारणों को विवेचित करने के लिए आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का सही विश्लेषण ज़रूरी है। उनकी दृष्टि में साहसिक क्रांतिकारिता के बिना संस्कृति की सृजनशीलता चुक जाती है और समन्वय का आग्रह करनेवाली मूल्यदृष्टि किसी भी स्तर पर क्रांति को नहीं पनपने देती। हमारे यहाँ की मुख्य बिडम्बना रघुवंश के अनुसार यह है कि अधिकतर बुद्धिजीवी आधुनिकता को एक ओर पश्चिमीकरण के रूप में ग्रहण करते हैं दूसरी ओर भारतीय परम्परा के जड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कार उनमें गहरे स्तर पर बने रहते हैं। रघुवंश की चिन्ता का विषय केवल समकालीन साहित्यिक सृजनशीलता नहीं है-पूरा भारतीय जीवन-संदर्भ है। उनकी स्पष्ट धारणा है: 'देशकाल में समाहित सामाजिक यथार्थ से टकराए बिना रस रोमांस और रहस्य के मानववाद की सृष्टि की जा सकती है, खोखली अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व नागरिकता को जन्म दिया जा सकता है, पर किसी रचनात्मक यथार्थ-दृष्टि का अनुसंधान नहीं किया जा सकता।' (पृष्ठ ११)

आधुनिक सर्जनशीलता को रघुवंश किसी विशेष अर्थ में मूल्य निरपेक्ष मानते हैं पर इस मूल्यनिरपेक्षता की व्याख्या ऐसी करते हैं कि मूल्यवादी भी उनसे सहमत हो लेंगे–"आधुनिकता मूल्य निरपेक्ष इसी अर्थ में है कि सृजनशीलता के रूप में स्वयं मूल्यों का स्रोत है।" (पृ. ४९) अभिव्यक्ति के माध्यमों में भाषा का प्रश्न रघुवंश की गहरी चिन्ता से जुड़ा है– बिना भाषिक संचरना के कोई अनुभव व्यक्त नहीं हो सकता। आज के मूल्य-संदर्भ में भाषा और अनुभव की प्रक्रिया पर विचार करने के लिए रघुवंश विसंगति के मर्म की व्याख्या करना चाहते हैं। भाषा-विसंगति के दुहरे स्तरों पर अपनी सक्रियता प्रमाणित करती है। एक स्तर पर वह एक विवशता, एकरसता निरन्तरता के बोझ को व्यक्त करती है, दूसरे स्तर पर विसंगति का उपयोग अनुभव की सीमा विवशता को न व्यक्त कर उसकी नई संभावनाओं को उजागर करता है। (पृ. ८३)

दूसरे खंड के एक महत्त्वपूर्ण निबंध 'लोककाव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति' में रघुवंश ने काव्य और लोककाव्य का यह अंतर स्पष्ट किया है कि काव्य-प्रसंग में रसनिष्पत्ति की व्याख्या जिस तटस्थता अर्थात् निजता से मुक्ति के आधार पर की गई है, लोककाव्य के संदर्भ में वह प्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि लोकगायक इस अभि-व्यक्ति के प्रति न तटस्थ है और न निजत्व की भावना से असम्पृक्त है। फिर भी उसकी सहज रसात्मकता विचारणीय है क्योंकि उसका सहयोग सामाजिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है। इस प्रश्न के भीतर बहुत-से प्रश्न हैं जिन पर आगे बहस होनी चाहिए थी पर विडम्बना यह है कि हमारी साहित्यिक आलोचना में सारी बहसें अभिजात वर्गीय साहित्य पर केन्द्रित रही हैं और जनवाद की दुहाई देनेवाले भी वहीं टिके हुए हैं।

तीसरे खंड के एक निबंध 'साहित्य का प्रगतिशील मानदण्ड' में रघुवंश ने स्पष्ट कहा है कि लोकप्रियता जनसाहित्य का मानदण्ड नहीं हो सकती। उनकी चिन्ता यह नहीं कि मार्क्सवादी दृष्टि ने साहित्य की यथार्थवादी सामाजिक व्याख्या की है– बल्कि यह तो साहित्य के हित में ही है, उनकी चिन्ता यह है कि मार्क्सवादी दृष्टि 'साहित्य का श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार सज्जित होना अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानती है'। अब यह कहने की जरूरत नहीं रह गयी है कि मार्क्सवादी दृष्टि इस हद तक सरलीकरण नहीं सिखाती, न उसे उपयोगी मानती है। इस दृष्टि के कुछ स्थूल व्याख्याताओं की प्रतिक्रिया में ऐसे पूर्वग्रह बना लेना अपनी दृष्टि के हित में नहीं है। 'प्रेमचंद की प्रासंगिकता' इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण और अन्तिम निबंध है। रघुवंश प्रेमचंद को आदर्शवादी कहने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि प्रेमचंद के सर्जनात्मक तत्त्व और उनकी भाषिक संरचना जीवन के यथार्थ से ही ग्रहण किए गए हैं। कलात्मक संयोजन किन बिन्दुओं पर कमज़ोर है उसकी जाँच भी रघुवंश ने की है।

इस प्रकार अलग अलग विषयों के निबंधों के इस संकलन में लेखक की रचनात्मक ईमानदारी और वैचारिक, नैतिक, कलात्मक दृष्टि की पहचान सुलभ है। लेखक के पूर्वग्रह और अन्तर्विरोध भी जहाँ-तहाँ स्पष्ट हैं और उन्हें छिपाने या गौरवान्वित करने का साहित्यिक छत्र यहाँ नहीं दिखाई देता।

हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ. प्र.)

—परमानंद श्रीवास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

मृत्युंजय उपाध्याय : **वैश्वानर**, (१९८०), बंगाल हिन्दी परिषद्, १५, वंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता, ७०००१२ पृ. ६९ डिमाई, सजिल्द, मूल्य २० रुपये

'वैश्वानर' में श्री. मृत्युंजय उपाध्याय मानव-जीवन के सत्य की खोज करने का प्रयास करते हैं। जीवन की सफलता, आदर्श और उपलब्धियाँ मानव को श्रेष्ठता तो प्रदान करती हैं पर उसके जीवन के मूल सत्य भूख की प्राथमिकता को नकारा नहीं जा सकता। अतीत से वर्तमान तक की दीर्घतम परिधि को इस लघु आकारिक काव्य में समेट कर इस सत्य को पहचान कराने का प्रयत्न मृत्युंजय ने किया है। समकालीन मानवजीवन की भीषण एवं दुःखमय अवस्था के परिप्रेक्ष्य में उक्त सत्य को मिथिकीय संदर्भों में कवि ने पिरोया है। इसके कारण काव्य को एक प्रतीकात्मकता आ मिली है। रचनाकार की कुशलता के कारण काव्य में बोझिल तत्वपरकता या विवरणात्मकता नहीं आयी है बल्कि अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक एवं नाटकीय बन गयी है।

इस कथात्मक काव्य का नायक विश्वामित्र है। वेदों से पुराणों तक भारतीय सांस्कृतिक ग्रथों में विश्वामित्र के बहु-आयामी व्यक्तित्व के प्रकट उल्लेख मिलते हैं। विश्वामित्र का चरित्र एक महान् तपस्वी, महान् विद्रोही ब्राह्मण, महान गुरु एवं सप्तमंडल के स्रष्ट के रूप में विराट् तथा मेनका द्वारा तपोभंग, वसिष्ठ से संघर्ष, सेनःशंप की मुक्ति, त्रिशंकु की रक्षा इत्यादि कतिपय प्रसंगों के कारण जुझारू, क्रांतिकारी एवं यथार्थ से परिपूर्ण बन गया है जो आज के संदर्भ में भी अर्थवान् लगता है। विश्वामित्र के व्यक्तित्व के इन यथार्थ बिंदुओं को पकडकर कवि ने प्रस्तुत दीर्घ काव्य में उसे साकार किया है।

महाभारत महाकाव्य के शांतिपर्व के एक प्रसंग में युद्धिष्ठिर ने प्रश्न उठाया था–'केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेत् जघन्य काल आगतो।' प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामह ने 'विज्ञान-बल से' जीवन-निर्वाह की बात कही थी और यह बताया था कि पुराकाल में विश्वामित्र जैसे तपस्वी ब्राह्मण को भी आपत्‌काल में मृत्यु से बचने के लिए चाण्डाल-घर में पड़ी कुत्ते की टांग को चुराना पड़ा था। इस मिथिकीय प्रसंग भित्ती पर सामयिक जीवन के सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न 'वैश्वानर' में किया गया है।

विश्वामित्र वक्ता हैं। घटनास्थल है चांडाल का घर। चाँडाल श्रोता है। मध्यरात्रि में चल रहे इस कथन-प्रवाह में कौन, कहाँ, क्या, कैसे, क्यों, जैसे प्रश्नों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्तरों की खोज की गयी है। निर्बल, निस्सहाय और अकेले विश्वामित्र जघन्य, महाभयंकर विकराल काल के आगमन को देख रहे हैं। भीषण परिस्थितियों की भार से उनका मानस भयानक दबाव महसूस कर रहा है। अपने अतीत के महान् पराक्रम के संदर्भ में वर्तमान की विकरालता उन्हें विलक्षण पीड़ा दे रही है। इस विरोधमय नाटचात्मक स्थिति में विश्वामित्र की अपार पीड़ा एवं जटिल मानसिकता के विविध पहलुओं को कवि ने उजागर किया है। विश्वामित्र के स्वगतपरक संभाषण में अनेक मिथकीय संदर्भ उभरते हैं, युगीन सत्य के संकेत भी स्पष्ट हो जाते हैं। यह आत्मगत कथन न केवल हार्दिकता से प्रभविष्णु हुआ है बल्कि दृश्योपम वर्णनों एवं समर्थ शब्द-संयोजन से भी समृद्ध हुआ है।

हिन्दी विभाग —दुर्गा दीक्षित
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे, ७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल काँगड़ी

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ३ अंक १
दिसम्बर १९८१

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान के
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रि
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ◻ रमाकान्त सिनारी ◻ विजय भारद्वाज ◻ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ◻ संगमलाल पांडे ◻ आर. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ❋ के. जे. शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदा
मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे.
❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क कां
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्या
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११०
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भी
कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

⁝ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया
सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त में अस्तित्व और मरण

मृत्यु एक रहस्यमय विषय है। इस विषय पर चिन्तन उतना ही पुराना है जितना मनुष्य। विगत दशकों में पश्चिमी बुद्धिजीवियों ने मृत्यु की विवेचना चिकित्साशास्त्र और विधि, समाजविज्ञान और मानवशास्त्र, मनोविज्ञान और साहित्य, धर्मशास्त्र और दर्शन जैसी पद्धतियों द्वारा विशेषरूप से की है। इस निबन्ध में मृत्यु और मरण की विवेचना हम दार्शनिक मानवशास्त्र (फिलॉसाफिकल एन्थ्रोपालोजी) की पद्धति से करेंगे। दार्शनिक मानवशास्त्र जैसी पद्धति की नव्यता और विषय की अतिबृहत्ता को ध्यान में रखते हुए इस निबंध के अप्रतिपाद्य को अविलम्ब कह देना आवश्यक है। हम न तो शुद्ध दर्शन कहेंगे, और न शुद्ध मानवशास्त्र। पुनर्जन्म के भाव या अभाव को सिद्ध करना हमारा प्रयोजन नहीं। फलतः तदर्थ दिये गए तर्कों की प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित करना हमारा अभीष्ट नहीं। आत्मजनों के मरने पर लोग क्या विधि-कर्म करते हैं, या किस रंग के वस्त्र कितने दिनों तक पहिनते हैं–इसकी विवेचना भी यहाँ यथेप्सित नहीं। मृत्यु और वस्त्र-वर्ण का सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्य है, जिसकी विवेचना का भार हम मानवशास्त्रियों को सौंपते हैं। दार्शनिक मानवशास्त्र की पद्धति और परिधि को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। यह मतभेद अहेतुक या निर्दोष नहीं। हम स्वीकारते हैं कि दार्शनिक मानवशास्त्र की हमारी भी परिभाषा निर्मल नहीं। हमारी मान्यता है कि विकल्पों के माध्यम से तत्त्वार्थ जगत् के निर्माण की प्रविधि का नाम दर्शन है, एक ऐसी तकनीकी साधना जिसमें समवायी जीवन को आकार और संस्कार देने का आग्रह होता है। वस्तुतः दर्शन मानव अस्तित्व में अन्तस्थ दो सच को प्रतिष्ठित करने की योजना है। प्रथम, वस्तुगत को तदर्थ और यथारूप अस्वीकार करना, दूसरे, मनुष्य को धुरी बनाकर सांबोधिक संसार की रचना। मनुष्य ने वस्तुओं को वस्तुओं के लिए कभी नहीं स्वीकारा। स्वयं से स्वयं के ही आयाम प्रस्थापित करने के लिए मनुष्य ने वस्तुजगत् को सघन विषयों, प्रमेयों और अभिधेयों का परिमाण दिया। मनुष्य अपनी ही सीमा है। इहलोक और परलोक में इन दोनों के मध्य, आदि और अन्त से अपर सच स्वयं मनुष्य ही है।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड ३ : अङ्क १; दिसम्बर १९८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं से निष्क्रमण कर आत्मेतर सत्ताओं में पहुँच कर फिर स्वयं तक प्रतिगमन करते रहने की परिधि ही मनुष्य का इतिहास है। व्यवहार ओर परमार्थ, संसार और निर्वाह की परिकल्पना मनुष्य की आत्मकता की विस्तृति और अपने प्रतिरूप को सत्तात्मक आयाम देने के उदाहरण हैं। दर्शन आत्मबोध की सत्तात्मक विस्तृति की प्रविधि है, आत्म-परिभाषा की ऐसी तकनीक जिसके धरातल पर समवायी आत्मकता की अभिव्यंजना का आदेश है।

अतः दर्शन संज्ञात्मक संस्कृति (कागनिटिव कल्चर) की सिद्धपीठ है, संचेतन मन से नियोजित आदर्शों के सन्दर्भ में जन्म, जीवन और मरण की समवायी युक्ति है। मृत्यु कोई निःसंग समस्या नहीं। यह संज्ञात्मक संस्कृति में चल रहे समवायी जीवन का एक भाग है, उस जीवन का भाग जिसकी रचना मनुष्य ने समवायी आत्मकता के परिप्रेक्ष्य में की है और जिसके सन्दर्भ में वह मृत्यु को स्वीकारता या नकारता है। मृत्यु अस्तित्व के आकार और रीति की समस्या है, जीवन के अर्थ और आदर्श की समस्या।

प्रस्तुत निबन्ध में हम अद्वैत वेदान्त में मरण की परिकल्पना को दार्शनिक मानवशास्त्र की पद्धति से अभिव्यंजित करेंगे। वेदान्त के अनुसार जीवन के आदर्शों की सिद्धि ही जीवन का अन्त है, अस्तित्व का एक ऐसा सुखात्मक अवसान जिसमें व्यक्ति के सामाजिक और ऐतिहासिक मूल्य शेष हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक मृत्यु की चर्चा करना हमारा लक्ष्य नहीं, ऐसी चर्चा चिकित्साशास्त्र का आधेय है। हमारी चर्चा का विषय चिकित्साशास्त्र की सफलता से संजात व्यथा से है, ऐसी सफलता जिसकी सिद्धि व्यक्ति को अमरत्व देने में है। वह समाज और इतिहास कैसा होगा जिसमें सर्व सर्वत्र अमर हो? यह प्रश्न अमर जीवों की सघनता से संत्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। इसी संत्रास से परितप्त हो ऋषियों ने दर्शन को "महौषधिशास्त्र" (मेटा-मेडिसन) के नाम से अभिहित किया था, और जिस पर प्रस्थान ही उन्होंने काय-चिकित्सा और शल्य-विज्ञान पर चिन्तन करने के बाद किया था। मेटा-मेडिसन के रूप में अद्वैत वेदान्त का ध्येय उस संबन्धार्थ जगत की रचना करना था जिसमें जन्म, जीवन और मरण कल्याणात्मक घटनाएँ हैं, जिसमें अमरत्व की ईहा और उसकी सिद्धि के साधन महाव्याधि हैं, न्यूरोसिस हैं।

इस निबन्ध के पाँच प्रभाग हैं। प्रथम प्रभाग में हम 'योगवासिष्ठ' से प्रश्नों की एक मेखला प्रस्तुत करेंगे। हम देखेंगे कि आत्मबोध के किस पैमाने से प्रेरित हो मनुष्य किस तरह के प्रश्न उठाता है, कैसे वह इन प्रश्नों के माध्यम से वस्तुजगत् को तदर्थ अस्वीकार करता है, क्यों वह मृत्यु-भय से संत्रस्त है, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों उसे अमर अस्तित्व के प्रति अनीहा है ? ऐसे संत्रास में संबन्धार्थ जगत् के निर्माण का आग्रह है, और दर्शन उस निर्माण की प्रविधि। इस प्रविधि की प्रथम कोटि सत् है, जिसका संक्षिप्त विवेचन दूसरे प्रभाग में हुआ है। निरस्त सत् (आत्मन्) को इतिहास और संबन्धार्थ संसार में अस्तित्व की ईहा नहीं। हम सिद्ध करेंगे कि सत् की परिकल्पना मृत्यु-वरण की युक्ति हैं, जन्म या जीवन की नहीं। कैसे निरीह सत् की भूमि पर "मैं" और "मेरे" की गरिमा में बंधने को अहंपुरुष का आविर्भाव होता है, और कैसे सघन विषयों की संस्कृति उत्तम पुरुष में जी रहे जीवों की समवायी कर्म-कथा है– इसका विवरण तृतीय प्रभाग में है। चतुर्थ प्रभाग में हम देखेंगे कि कैसे यह अहंपुरुष निरतिशय अस्तित्व का भारहार बन गया है, कैसे यह "मैं" और "मेरे" की परिधि का विस्तार करता हुआ मृत्यु को नकारता है, और कैसे वह अहम्-मम के भार से रहित सत् की खोज में जन्म और मरण की पुनःस्थिति से त्रस्त है। पांचवे प्रभाग में हम अद्वैत वेदान्त द्वारा संविहित एक जन्म के अभिलाषी अस्तित्व का निर्देश करेंगे। जन्म लेकर मैं अपने कर्मी अस्तित्व को कैसे जीऊं कि मृत्यु का वरण कर सकूं, और मरणोपरान्त पुनर्जन्म की ईहा न हो। पुरुषार्थी पुरुष के मृत्यु-वरण को हम अभिजात्य अस्तित्व का मान देंगे। हम यह प्रतिष्ठित करेंगे कि वेदान्त के अनुसार मृत्यु-वरण एक कल्याणात्मक वासना है जो अमरत्व की वासना से श्रेष्ठतर है।

प्रथम प्रभाग

योगवासिष्ठ में एक आख्यान है। अस्तित्व की व्यथा ले राम के रूप में अवतारी ईश्वर अपने मानवी गुरु विश्वामित्र से कहते हैं : "हे महर्षि, विषयों का धारी और भोगी अस्तित्व विरस हो गया है। इस विसरता ने मुझे चिन्तित कर रखा है। आखिर संसार में क्या सुख है ? मनुष्य जन्मा है मरने के लिए, और वह मरेगा ऐसे कि उसका पुनर्जन्म होगा पुनर्मरण के लिए। विषयी अहं– पुरुष जैसे मरीचिका में फंसा मृग हो, जिसने मरीचिका को सरोवर समझ लेने की गलती कर दी है, और जो मरुभूमि के अन्तराल में दिशाहीन हो गया है। आवेशी मानव मायावी विषयों के अनुधावन में सनक सा गया है, उन विषयों में जो होने का आभास देकर भी वस्तुतः होते नहीं। मरीचिका में जल प्राप्ति की व्यथा ही मृग की नियति बन गयी है। उसी तरह मनुष्य भी पुनर्जन्म के सुख से प्राप्त पुनर्मरण की पीड़ा से अभिशप्त है। इतने पर भी संसार नाम वाली इस पुनर्जन्म और पुनर्मरण की पुनःस्थिति से निर्गति की चिंता मनुष्य नहीं करता। वह इस तरह के प्रश्न नहीं उठाता : मैं कौन हूँ ? मेरे विषयी अस्तित्व का क्या सबक है ? संसार नाम वाली यह विषयता कैसे संजात हुई ? क्या संसार एक दीर्घीकृत छलना है, या इसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ सत्य भी है ? यदि यह इन्द्रजाल है तो इसे तद्रूप में स्वीकार कर ही क्यों न जीएँ ?

"हे महर्षि, इन दिनों मैं ऐसे ही प्रश्न उठाता रहा हूं। मुझे बताइये मर कर फिर जन्म लेने की ईहा मनुष्य में क्यों है ? होकर न होने की, और न होकर फिर होने की यह पुनःस्थिति क्यों ? मुझे तो लगता है कि मरण और पुनर्मरण की यह परम्परा निःसार है, शुष्क वेणु में कीचक के वेलय गान की तरह निरर्थक। अस्तित्व जल रहा है, और मैं इससे निर्गति चाहता हूं। उत्क्लेशी अस्तित्व से मुझे कुत्सा हो गई है, इतनी कुत्सा कि मैं पाषाणवत् निर्वेद हो गया हूं। कभी कभी सोचता हूं कि मरण और पुनर्मरण के प्रति मनुष्य की निरपेक्षा पर रो लूं। किन्तु मैं जानता हूं मेरे स्वजन मेरे रोने पर खुद रोने लगेंगे, इसीलिए रो रो कर भी नहीं रो पाता। निपुण तस्कर की भांति संसार नाम वाली इस सघन विषयता ने मनुष्य की मेटाफिजिकल चिन्ता को उपहत कर रखा है। मेटाफिजिशियन नाम वाले प्रहारी के अतिरिक्त विषयी परिधि में फस गये अस्तित्व का त्राण और कौन कर ही सकता है ?

"हे महर्षि, इस विषयी अहंपुरुष की आदिभूमि अविद्या है। यह पुरुष स्वयं की अनन्त तक सम्भूति से खुश है, यद्यपि पुनर्मरण से उसे पीड़ा होती है। मैं इस अहं-पुरुष से भयभीत हूं, क्योंकि इसके आकार में अविद्या नाम वाली ईहा शरीरी हो गयी है। स्वयं को धुरी बनाकर संबन्धार्थ जगत् को स्वीकारने के लिए यह अहंपुरुष जन्मा है, और उसी की कर्मकथा के रूप में अहंपुरुष का संसार उसकी आत्मकथा का फैलाव है। में इस अहंपुरुष के आदेश को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि बालक की तरह यह एक वस्तु से दूसरे वस्तु तक झपटता है। स्वयं से इतर विषयों को स्वयं में ही प्रतीक्ष्य कर आत्मानुप्राप्ति की यह रीति ने अहं-पुरुष को एक उन्मत तुरंग बना दिया है, ऐसा तुरंग जो विक्षिप्त हो घर से भागता है केवल घर वापस आने के लिए।

"मेरा शरीर उत्तम पुरुष में जी रहे मेरे कर्मी अहं का गृह है, "मैं" और "मेरा" कहने का माध्यम। मैं इस शरीर को अपनी परम धाम नहीं मान सकता। यह शरीर कृतघ्न है, क्योंकि बड़े यत्न से पालन-पोषण के बावजूद यह जीर्ण-शीर्ण होकर मरता है, और मृत्यु को नकारने में अनन्त अस्तित्व की ईहाभक्ति से सहयोग नहीं कर पाता। मतिमान् व्यक्ति यह जानता है कि सत् और शरीर का सम्बन्ध आपाती है, कि शरीरी अस्तित्व उसकी आत्मा नहीं, कि वह शरीर का नहीं, कि शरीर उसका नहीं। बचपन विनोद में बीत जाता है, और युवावस्था काम-केलि में। किन्तु युवावस्था डायमण्ड के उन खण्डों की तरह है जो किसी अभागे हाथों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिसलकर दूर चले जा रहे हों। फिर अल्प-वीर्य शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, और युवतियाँ उस दोहरे शरीर की उपमा ऊंट से कर मनोविनोद करती हैं। कामुकता तब भी अपने उत्कर्ष पर होती है, किन्तु शिथिल इन्द्रियाँ केवल विषाद ही दे पाती हैं। समाज जीर्ण शरीर को अनुपयोगी सिद्ध कर देता है, और क्षीणबल अहं-पुरुष केवल मानहानि भोगता है। परलोक की चिन्ता में मनुष्य पुण्य कर्म की चिन्ता में रहता है, यद्यपि शरीर बदहजमी से इहलोक में ही त्रस्त है। और तब विषाद और व्याधि से समवेत शरीर को मौत हड़प लेती है। अस्तित्व और अमर अस्तित्व की ईहा व्यर्थ है, निष्प्रयोजन और निःसार है।

"इतने पर भी निरतिशय अस्तित्व की ईहा से प्रेरित मनुष्य सोचता है: 'यह विषय-जगत् मेरे लिए है, और मैं इसका भोक्ता हूं। ये उपकरण हैं जिनके चलते मैं वस्तु-जगत् को विषय-जगत् में बदल दूंगा, और फिर विषय-जगत् का भोग पुनः पुनः और अनन्त तक करूंगा।' ऐसा है यह कर्मी अस्तित्व जिसे मनुष्य उत्तम पुरुष की शैली में जी रहा है, और जो जीव को आत्मन् समझ लेने की भ्रांति से संजात है। "मैं" और "मेरे" की शैली में भोगा संसार मित्रों और दुश्मनों में, पक्ष और प्रतिपक्ष में विभक्त है। हे महर्षि, आप ही बताइये सत् और सम्मति के, निराकार आत्मन् और अहंपुरुष के अन्तर को समझनेवाला विचारशील पुरुष विषयी अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है?

"हे महर्षि मैं संत्रस्त हूं। मैं मरना नहीं चाहता, किन्तु जीवित रहने का कोई सबब भी नहीं देख पाता। आप मुझे उस सत् का सम्भाषण करें जो विषय जगत् की सिद्धपीठ है। ऐसी चर्चा मुझे शान्ति देगी। होकर न होना और न होकर पुनरपि होने की व्यथा से निर्गति देगी। मुझे बताइये कि जनक जैसे महीपतियों ने वियोगी होकर भी किस कौशल से कर्मी अस्तित्व को भोगा था, उनकी पुरुषार्थी मौत का ऐसा क्या रहस्य था कि पुनर्मरण के लिए उनका पुनर्जन्म नहीं हुआ। मनुष्य अपने अस्तित्व का क्या करें? किस चिन्ता का आसरा ले मनुष्य उचित और अनुचित, सुख और दुःख की सरकुलैरिटी से निर्गति पा सकता है? और फिर ऐसी चिन्ता की भूमि क्या है? मुझे कर्मी अस्तित्व को स्वीकार करने का सबब दीजिये, ऐसा सबब जिसके परिप्रेक्ष्य में ऐसे जी सकूँ कि जीवन का पारभौतिक अर्थ खो न जाय। बिना सबब के मैं सन्त्रस्त रहूंगा। यदि सबब है, और मुझे उसका निर्देश नहीं दिया जाता तो मैं अन्न जल का त्याग कर नंगे घूमूंगा। मैं सब कुछ त्याग कर आत्महत्या कर लूंगा। मेरे लिए कोई भी कुछ नहीं, और मैं भी किसी के लिए कुछ नहीं?"[1]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईश्वर द्वारा नंगा होने और आत्महत्या करने की धमकी बड़ी गम्भीर बात है। मगर गुरु विश्वामित्र इस धमकी से भयभीत नहीं होते। विश्वामित्र उस संस्कृति की कड़ी है जिसके विधायकों ने उत्तम पुरुष की रीति में भोगे संत्रास को ईश्वर और जीव के अजनबीपन से ऊपर उठ कर स्वीकारा था। फलतः इस संत्रास का समाधान मनुष्य द्वारा ईश्वर की शरणागति में नहीं। इसका समाधान है ईश्वर के 'प्राब्लेमेटिक' हो जाने में, अस्तित्व की कुंठा को भोग कर निर्वस्त्र होने और आत्महत्या की धमकी देने में। इसीलिए तो विश्वामित्र हिन्दू धर्म के भगवान राम की प्रशंसा मतिमान् प्रश्न पूछ सकने के लिए करते हैं। आखिर ईश्वर यदि जन्म, जीवन और मरण का सबब समझे बिना अस्तित्व को अस्वीकार कर दे तो विचारशील मनुष्य ईश्वर की प्रशंसा तो कर ही सकता है। विश्वामित्र के अनुसार, कुछ लोग ऐसे हैं, विशेषतः स्वर्ग के मालिक इन्द्र जैसे देवता, जो अस्तित्व को खो देने के डर से दार्शनिक प्रश्न नहीं उठाते। विश्वामित्र की दृष्टि में अस्तित्व का अर्थ महामानव होने में है, ऐसा मानव जिसे मेटाफिजिकल चिन्तन की धुन है, और जिसे विश्वास है कि जन्म और मरण की समस्यायें उठाना मेटामेडिसिन है : **विचारो हि महौषधम्**।

किन्तु राम को जीने और मरने की पड़ी है। विश्वामित्र के हितोपदेश सुनने का धैर्य राम के पास कहां से हो? सचेत विश्वामित्र तुरन्त ही एक आख्यान सुनाते हैं, वही आख्यान जिसे व्यास की संस्तुति पर शुकदेव ने राजा जनक से विदेहनगर में सुना था। जनक ने कहा था : "हे शुकदेव, संसार की ऐसी रीति है कि उसमें सब कुछ हो करके फिर नहीं रहता। इस संसार का आविर्भाव अविद्या नाम वाली पारभौतिक ईहा से होता है। इसी ईहा के परिप्रेक्ष्य में अहं-पुरुष भोक्ता के रूप में अस्तित्ववान् हुआ है। देश और काल में विषयजगत् की सीमा इन्हीं कर्मी पुरुषों का क्रियात्मक आयाम है। संसार से, जो कर्मी पुरुषों की संकल्पात्मक सघनता ही है, तभी निर्गति हो सकती है जब मनुष्य निरतिशय अस्तित्व की वासना का अपहार शुद्धावासना से करता है।"[२] प्रसंग बढ़ाते हुए जनक कहते हैं कि अहं-पुरुष के संकल्पात्मक अस्तित्व का प्रकाशन कर ही दार्शनिक चिन्ता संसारी सच को उजागर कर सकती है। ऐसी चिन्ता मनुष्य को जीवेम शरदः शतम् के परिप्रेक्ष्य में मृत्युवरण की प्रेरणा देकर पुनरपि जन्मम् पुनरपि मरणम् से मुक्ति देती है।[३]

प्रस्तुत आख्यान अपने आप में पूर्ण है। यह उन प्रश्नों की अपरिहार्यता सिद्ध करता है जिन्हें वह उठाता है, और पूछे गए प्रश्नों का आवश्यक उत्तर नहीं देता। योगवासिष्ठ ईश्वर को 'प्राब्लेमेटिक' अस्तित्व दे उन्हें मतिमान् प्रश्न पूछने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बुद्धि देता है, ऐसे प्रश्न जिन्हें अजनवी हो गये ईश्वर ने स्वयं को पहिचानने के लिए पूछा है। अतः ये प्रश्न निरीह नहीं, वस्तुजगत् के प्रति तटस्थ साइन्टिफिक उत्कण्ठा मात्र नहीं। योगवसिष्ठ के लेखक ने अजनवी अस्तित्व को भोगा है, फिर समाधान पाकर समस्या तक लौटा है। इसीलिए तो राम के प्रश्न "प्लाण्टेड" हैं, पूर्वानुमानित समाधान के वाचक हैं। सम्भावित समाधान खोजने के पूर्व ही उत्तर स्वयं प्रश्नों के मिस मुखर हो गए हैं। राम के प्रश्न-समाधान-विशेष के पक्ष में युक्ति है, एक दार्शनिक प्रतिज्ञा तक पहुंच सकने की सीढ़ी। यह सच है कि ये प्रश्न समाधान खोजते हैं, उससे भी बड़ा सच है कि ये अवाग्र प्रतिज्ञा की प्राप्ति के बाद पूछे गए हैं। राम के प्रश्न वस्तुजगत् को तदर्थ स्वीकार करने और एक विशेष आयाम ने 'प्राब्लेमेटिक' अस्तित्व से वाकिफ़ होने के प्रस्ताव है। योगवासिष्ठ का दर्शन 'हरम्यूनिटिकल सरकिल' का एक आदर्श नमूना है, अवाग्र निष्कर्ष से प्रेरित तकनीक द्वारा उसी निष्कर्ष तक पहुँचने का उदाहरण।

प्रस्तुत आख्यान के प्रश्न 'आन्टोलाजीकिल' हैं। वे वस्तुकृत हो गये अस्तित्व के प्रति मतिमान् आक्रोश हैं और मौत के रोज़-ब-रोज़ के अन्दाज़ में आमूल परिवर्तन चाहते हैं। ये प्रश्न संत्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है, ऐसा सन्त्रास जो दार्शनिक चिन्तन पर अनाधारित अस्तित्व को अस्वीकार करने और सतर्क चिन्तन के बावजूद जीवन के सबब तक न पहुँचने से संजात है। राम मानते हैं कि शरीर सम्बन्धार्थं जगत् को भोगने का साधन है, यश और अधिकार की कर्मभूमि है। किन्तु वे शरीर को अकृतज्ञ कहते हैं, क्योंकि मनुष्य की कामना के बावजूद शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर बेजान हो जाता है। उन्हें मालूम है कि वृद्धावस्था में लैंगिक ईहाएँ उत्कट होती हैं, किन्तु वे त्रस्त इसलिए हैं कि ढ़ल गई इन्द्रियाँ मनुष्य को ज़लील करती हैं। राम के शरीर और मन में बेगानकी है। इस विवर अस्तित्व के प्रति उन्हें आक्रोश है, क्योंकि निरतिशय अस्तित्व की ईहा और उसके साधन-रूप शरीर में अजनवीपन है। राम को लगता है जैसे उनके अस्तित्व की गरिमा लूट गई हो, क्योंकि अनन्त तक रह सकने की एषणा और वैसा न हो सकने कि नियति में इतरीभाव है।

किन्तु प्रस्तुत आख्यान का मोटिफ यहीं नहीं समाप्त होता। राम का अस्तित्ववाद न तो फ्रेंच है और न तो उनका अजनवीपन काफी हाउस का है। मृत्युमय अस्तित्व से सार्त्र का मानव अपमानित हुआ, इनिहास में ही ईश्वर हो सकने की एषणा को असफल देख उस मानव ने ऐतिहासिक अस्तित्व को ही व्यर्थ माना। सार्त्र के अनुसार मनुष्य की समस्या है उसका ईश्वर न होना; उस समस्या का समाधान है ईश्वर हो सकने में। जो सार्त्र के अनुसार समाधान है वही योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाशिष्ठ के अनुसार समस्या है। राम ईश्वर हैं, वे सर्वत्र समस्तरूप इस तरह से हैं कि सब कुछ उन्हीं के लिए है। ऐसे ही ईश्वर अपने ईश्वर-पन से ऊब गए हैं। किन्तु अस्तित्व की निरसता केवल ईश्वररूप राम को ही नहीं, मनुष्यरूप राम को भी है। पुनर्जन्म और पुनर्मरण में राहे-गुजर हो राम थक गए हैं; और अमरत्व की कल्पना से ही उन्हें उल्टी होने लगती है। वृद्धावस्था उन्हें जलील करती है, 'इटरनल रिकरेंस' से वे त्रस्त हैं; मरने के लिए जन्म लेने को वे अपमान समझते हैं, और अमरत्व की भावना से उन्हें चक्कर आने लगता है। योगवाशिष्ठ की सबसे बड़ी देन है हिन्दू ईश्वर को अस्तित्ववादी बना देने में, समस्याओं के समाधान को समस्या बना देने में।

मानव राम का अस्तित्व 'क्राइसिस' में है। इस 'क्राइसिस' का कारण है: जन्म से पहले वे मरे हैं, और मरणोपरान्त उनका जन्म होगा पुनर्मरण के लिए। योगवाशिष्ठ के राम इस तर्क से आश्वस्त नहीं हो सकते कि जब तक जीवन है मौत नहीं, और मरने के बाद जीवन नहीं। उनका विश्वास है कि वे जीवित इसलिए है कि वे मरे हैं। जीवन की शर्त मौत है। वे संत्रस्त इसलिए हैं कि मृत्यु भी उनके अहंपुरुष का परिहार करने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि मृत्यु एक बाह्य सत्ता है जो उनके अस्तित्व का अन्त कर देगी। राम मृत्यु से भयभीत हैं, इसलिए नहीं कि मृत्यु अजनवी है बल्कि इसलिए की मृत्यु को वे जानते हैं, भोगे हैं। आखिर जो अद्यतन अज्ञात हो उससे भय क्यों? भय एक अनुभव है, और जो अननुभूत है उससे भय नहीं। राम का भय युक्त भय है, परिकल्पित या सम्भावित नहीं। उनको भय इसलिए है कि वे पहले भी मर चुके हैं, और फिर मरेंगे। उन्हें बोध है कि मृत्यु एक क्लेशमय अनुभव है। वे केवल यही जानना चाहते हैं कि इस क्लेशानुभव के बावजूद अहंपुरुष मृत्यु को क्यों अस्वीकार करता है, विशेषतः जब पुनर्जन्म के बाद उसका पुनर्मरण होगा ही। राम के लिए मृत्यु आनुषंगिक नहीं, बल्कि देश और काल में विषयी अस्तित्व का सबब है। मृत्यु की चिन्ता भी अचेतन और आनुषंगिक नहीं। मरण अत्यन्त अकेलेपन की स्थिति है, परदेशी हो गए अस्तित्व में आमूल आत्म-चेतना की स्थिति। कुछ चिन्तकों के अनुसार मृत्यु की सचेत प्रत्याशा विकृत जीवन की अभिव्यक्ति है। राम के विचार से ऐसे लोग आत्म-प्रवंचना में व्यस्त है। इन लोगों ने मानसिक विकास और वयस्क जीवन के विरुद्ध कसम खा रक्खी है। इनका अस्तित्व निरन्तर शिशुता को अर्पित है।

राम इस सुखद आत्म-प्रवंचना और अमरत्व की ईहा से संजात शिशुता को अस्वीकार करते। दर्शन से वे उस जीवन-शैली की माँग करते हैं जिसमें मनुष्य थम पुरुष में जन्म ले सके, प्रथम पुरुष में जी सके, और प्रथम पुरुष में ही मौत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वरण कर पुनर्जन्म और पुनर्मरण की व्याधि से मुक्ति पा सके। अस्तित्व की गरिमा सौ साल जी कर मरण की सामर्थ्य में है। ऐसी जीवन शैली कुछ दार्शनिक 'कैटिगरीज' पर टिकी है, जिनका विवरण हम आगे आनेवाले संभागों में देंगे।

द्वितीय प्रभाग

"सत्" एक निरपेक्ष पद है, उस अप्रतिम सत्ता का द्योतक है जो स्वयं से है, और स्वयं में ही नित्यतः ठहरी है।[४] सत् एक विश्वात्मक जमाव है, पूर्णता की ऐसी स्थिरता जो सर्वत्र, सर्वदा, और सदैव से समस्त है। यह ऐसी तार्किक पूर्णता है जो जोड़-तोड़, गुणा-भाग से अपर है। इस निरपेक्ष सत्ता में योग करना वदतोव्याघात होगा, क्योंकि जिसका योग सत् में हो सकता है वह स्वयं सत् है।[५] सत् में वियोजन भी संभव नहीं, क्योंकि जो घटाया जा रहा है वह स्वयं सत् ही है। सत् एक सम्पूर्णता नहीं, इदम्-तद् के योग का तुल्यांक नहीं। सत् कोई पदार्थ नहीं, 'इदम्' और 'तद्' जैसे शब्दों से सम्बोधित वस्तु नहीं। 'इदम्' और 'तद्' से सत् का अभिधान करना भाषा के माध्यम से सत् का विरूपण करना है।[६] सत् इदन्ता नहीं, विज्ञप्ति-वाचक वाक्यों का बिशेष्य नहीं। ज्ञान का अविषय होने से सत् प्रमेय नहीं। विषयज्ञान एक निर्धारित ज्ञान है, परिमित घट का ज्ञान जिसमें घट-विशेष से इतर वस्तुएँ घट की प्रतियोगी होती हैं। ऐसी सत्ता जिसका यद् किंचित् से अभेद हो और जो किसी भी तरह से किसी भी का स्वयं से वर्जन न करती हो—ऐसी सत्ता वाच्य-वाचक वाक्यों का विशेष्य नहीं हो सकती।[७] सत् एक अविभाज्य समस्तता है, इदम्-तद् की भाषा से अपर। ज्ञान सामग्री का विषय न होने के कारण सत् के भाव या अभाव का निर्देश नहीं हो सकता, और न तो उसकी सत्ता के बारे में कहे गये विधि या निषेध वाक्यों का प्रमाणीकरण ही।[८]

सत् एक अप्रतिम सामान्य है, इस अर्थ में नहीं कि घट या पट की भाँति यह एक क्लास (जाति) है बल्कि इस अर्थ में कि सर्वथा और सर्वत्र ही यह समस्त रूप से सर्व है। सत् किसी वस्तु का धर्म या गुण नहीं और न तो विशेष सत्ता के रूप में अभिधेयों या गुणों का धारी ही।[९] 'गाय श्वेत रंग की है', इस प्रपोजीशन में 'श्वेत' शब्द श्वेतत्व और श्वेत गाय दोनों का द्योतक है। यहां 'श्वेत' शब्द सामान्य का निरूपक है, गायों की ज्ञातिगत समरूपता और व्यक्तिगत भिन्नता का निश्चायक। इस सामान्य का व्यापार वस्तुओं की समानता और वैशिष्टचता को स्थापित करना है, इसके बिना दृष्ट जगत् का पतन हो जायेगा। एक गाय-विशेष अन्तस्थ गोत्व के कारण ही गाय से इतर अनन्त वस्तुओं से ही भिन्न नहीं है, बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य नीली पीली गायों से भी पृथक् है। ऐसा सामान्य व्यवहार जगत् का विधायक है, ऐसा जगत् जहां वस्तुओं में परस्पर भेद है और जहां वस्तु विशेष के समान और भी वस्तुएँ हैं।

सत् इस अर्थ में सामान्य नहीं।[१०] वस्तुतः यह नानार्थ जगत् का विधायक ही नहीं। सत् किसी भी वस्तु से भिन्न या अभिन्न नहीं, क्योंकि यह कोई वस्तु नहीं। सत् किसी वस्तु के सदृश नहीं, क्योंकि सत् से इतर और कुछ है ही नहीं। यह किसी के सदृश नहीं, क्योंकि सत् से भिन्न कुछ है ही नहीं। सत् न तो इदम्, तद् है और न उनका भेदक ही। सत् अमात्र है, किसी भी तरह से किसी भी का मानक नहीं।[११] यह कोई मूलमंत्र नहीं जिससे उचित और अनुचित, शिव और अशिव जैसे मूल्य अनुमानित हो सके। सत् उन परिस्थितियों से परिमित नहीं जिनके चलते 'दूर और दूरतर', 'अधिक और अधिकतर', 'श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर' जैसे भावों में भाषा का व्यापार होता है। वस्तुतः सत् में ऐसे भावों पर टिके संसार का पतन होता है। सत् पुरुषार्थी नहीं, बल्कि समस्त पुरुषार्थों का व्याघाती है।[१२] इदम् तद् से प्रेरित लाजिक में नान-टाटोलाजिकल प्रवृत्ति का आदेश है, प्रमेयों में प्रामाणिक अभिधेय उपपन्न कर सकने का दस्तूर। किन्तु सत् में टाटोलोजी के अलावा, पुनरुक्ति के अतिरिक्त कोई अभिधान सम्भव नहीं। सत् विश्वात्मक स्तब्धता है।[१३] अपुरुष और निश्चेष्ट होने के नाते सत् कुछ कहता नहीं, कह सकने का विषय नहीं। पुरुषार्थी अहंपुरुष से संजात बुद्धि और भाषा में चुप रहने की सामर्थ्य नहीं। सत् के बारे में कुछ कहा जा सकता नहीं, मगर कुछ कहे बिना मनुष्य रह सकता नहीं। परिणाम वही होगा जो होना चाहिए: यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह......।

सत् कर्मी पुरुष नहीं, भोक्ता या भोग्य नहीं। मेरे संसारी अस्तित्व की यह अनिवार्यता है कि जो मैं होकर नहीं रहा वही मैं जो कुछ हूँ का सबब है। "मैं वह जीव हूं, जो था, जो वह हो सकता हूं, वह होऊंगा। इस हो चुके और हो सकने के बीच मेरा अस्तित्व कुछ ऐसा है जो मेरी ही हाथों की पकड़ से भागा जा रहा है।"[१४] मैं अपनी ही विरासत हूं, स्वयं का आधार हूं, अपना ही भोगा इतिहास और अपनी ही कर्म-कथा। कर्मी पुरुष होने के नाते मैं इतिहास-पुरुष हूं, आगत और अनागत का राहे-गुजर हूं। स्वयं तक पहुंच सकने के लिए ही मैं वर्तमान से भागा जा रहा हूं। मगर सत् तो कर्म पुरुष नहीं। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि सत् कब नहीं था और क्या हो सकने के लिए क्या नहीं रहा।[१५] सत् से इतिहास नहीं, सत् इतिहास से नहीं, सत् में इतिहास नहीं, सत् और इतिहास का कोई सम्बन्ध नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि सत् अत्र और इदानीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, तत्र और तदा नहीं। सत् समस्त और सर्वदा है, वह ऐसी चीज नहीं जो कुछ हो सकती है, या जो कुछ हो चुकी है, या जिसमें कुछ हो रहा है।[१६] सत् कर्म-रहित और काल-रहित, बुद्धि-रहित और शब्द-रहित आकाशवत् निःस्तब्धता है।[१७]

सत् गतिहीन है।[१८] संकलपात्मक चेतना का ईहात्मक अन्त्य की ओर गमन ही 'गति' है। संकल्प का अर्थ है अभाव का बोध और उस बोध को पूर्ण करने के लिए साधनों का अभिधान।[१९] अभाव जड़ वस्तु और निर्विषयी चेतन में नहीं हो सकता। अभाव एक बोध है, विषय भावना है। परिमित और प्रथम पुरुष में जी रहे जीव को ही अभाव बोध हो सकता है, ऐसा पुरुष जो "मैं" और "मेरे" की शैली में जी रहा है। मुझे किसी वस्तु के अभाव का बोध है क्योंकि मैं एक चैतन्य पुरुष हूं और मुझमें उस वस्तु विशेष को प्राप्त करने की इच्छा है। ऐसा नहीं कि मुझे वस्तु की इच्छा इसलिए है कि वह वस्तु विशेष मेरे पास नहीं है, मुझे उस वस्तु की इच्छा है इसलिए मुझे उसका अभाव है। महानिद्रा में मग्न सत् को तो सत् होने का भी बोध नहीं। सत् पूर्ण है इसलिए नहीं कि वह सबका समस्त रूप से धारी है। सत् पूर्ण इसलिए है कि उसमें किसी विषय की इच्छा नहीं, इसलिए किसी वस्तु का अभाव नहीं।[२०] सत् चेतना मात्र है, बिना किसी विषय बोध के और फलतः आत्म-बोध से रहित। सत् नाम-रहित, रूप-रहित, बुद्धि-रहित, शब्द-रहित, काल-रहित, कर्म-रहित निरपेक्ष सत्तामात्रता है। सत् अतीव निरीह है, इसमें कोई भाव या अभाव नहीं, विधि और निषेध नहीं, राग और विराग नहीं, आज और कल नहीं। सत् ऐसी सत्तामात्रता है जिसका अन्यथा भाव नहीं, ऐसी भूमि जिसमें संभूति नहीं। सत् एक आन्टोलाजिकल टोटोलोजी है।[२१]

सत् वस्तुमात्रता है। यह स्वयं से इस कदर चिपक गया है कि इसमें किंचित् दरार या विवर नहीं, स्वयं का स्वयं में जमाव इतना अपारदर्शी है कि उसमें अस्ति और शक्ति का, यथार्थ और सम्भावनीय का इतरीभाव नहीं।[२२] सत् इस हद तक आप्तकाम है कि इसमें आपाती स्फुटन भी सम्भव नहीं, स्वयं को ही स्वीकार करने के लिए अपना प्रतियोगी बनने की सामर्थ्य नहीं। सत् कोई पद नहीं, ऐसी 'थीसीस' नहीं जो स्वयं से ही डायलेक्टिकल सम्बन्ध में रह सकने के हेतु स्वयं का ही 'एण्टी–थीसीस' हो सके।[२३] सत् इतना अहूष है कि सत्तामात्रता से ऐतिहासिक अस्तित्व तक, स्वयं को विषयजगत् में खोकर स्वयं को निरपेक्ष अहं तक सम्पूर्ण करने के अन्तराल का राहे गुजर नहीं हो सकता।

सत् में उत्कर्ष शक्ति नहीं। यह न तो हेगेल के 'स्पिरिट' की तरह सिर पर चल सकता है, न कार्ल मार्क्स के डायलेक्टिक की तरह पैर के बल। सत् का कोई गन्तव्य नहीं, क्योंकि उसमें कोई ईहा नहीं जिसके शरीरी होने की प्रक्रिया स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार कहीं से चलकर कहीं पहुँच सके।[२४] सत् न तो जन्म लेता है, न मरता है, इसमें न इच्छा है न सदिच्छा। ऐसा अपुरुषार्थी सत् न तो कुछ पा सकता है न तो खो सकता है न दे सकता है, न किसी कार्य का कर्ता है न किसी कारण का कार्य।[२५] सत् कार्य-कारण के प्रवाह से ऊपर है। सत् स्वयम्भू है केवल इसी अर्थ में कि कार्य-कारण की कैटिगरी इसकी व्याख्या नहीं हो सकती।[२६] सत् "क्यों" प्रश्नों के प्रति खामोश है, स्वयं इसकी सत्ता बिना "क्यों" के है। सत् 'एब्सर्ड' है।

तृतीय प्रभाग

सत् की इस परिकल्पना ने भारतीय बौद्धिक परम्परा को व्याकुल कर दिया। 'सत्' और 'कारण' पर टिकी हिन्दू संस्कृति यकायक बेसबब हो गयी। अस्तित्व और मरण के प्रस्तुत संन्दर्भ में दो प्रश्न अपरिहार्य से लगते हैं। प्रथम, ऐसे सत् का उस कर्मी मानव से क्या सम्बन्ध है जो अहं-पुरुष में अस्तित्व भोग रहा है और जिसकी ही कर्म कथा यह संसार है? दूसरे, जन्म और मरण से संत्रस्त जीव के लिए इस अजन्मे और अमर सत् की क्या सार्थकता है? हम दूसरे प्रश्न की व्याख्या आने वाले प्रभागों में करेंगे और पहिले प्रश्न की मीमांसा इस प्रभाग में।

कोई भी दार्शनिक संस्कृति कुछ मूल शब्दों पर टिकी होती है। "सत्" और 'कारण' ये दो शब्द हिन्दू संस्कृति की भूमि है। "वह ऋषि कहाँ जो मेरी समस्या का समाधान कर उके? उस आदि-कारण को कौन जानता है जिससे जगत् संजात हुआ? यदि कोई ज्ञाता है तो यहाँ आये और उस ज्ञान की घोषणा करे।" दीर्घतमस् ने इन प्रश्नों को ऋग्वेद में पूछा था। उनका मन विश्व का एक स्नैपशाट लेता है, फिर आशुचित्र लेकर शतशः परिकल्पनाओं में बिखर जाता है। जगत् के अस्तित्व से ही दीर्घतमस् घबड़ा जाते हैं। वे स्वयं को दृष्ट जगत् में प्रवासी इसलिए मान लेते हैं कि वे इसके आदि कारण को नहीं जानते, उनका मन इतना व्यग्र है कि वे अनिद्रा और बदहज़मी से त्रस्त हैं। दीर्घतमस् 'प्राब्लमैटिक' हो गये।

दीर्घतमस् की भाषा उनके त्रस्त अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। बेसबब जगत् को वे अस्वीकार करते हैं, और सबब के मिस पूछे गये प्रश्नों का जबाब उन्हें मिलता नहीं। किन्तु ये प्रश्न अबोध नहीं। दीर्घतमस् ने दशकों तक शिक्षा-संस्थानों का भ्रमण करने के बाद इन प्रश्नों को पूछा था। इन प्रश्नों में एक दार्शनिक चिन्तन की शैली और उस चिन्तन के आयाम में एक विशेष समवायी जीवन को प्रतिष्ठित करने की तकनीक अन्तस्थ है।[२७] ये प्रश्न मुकुर हैं, उस चेहरे के मुकुर जिसे सत्ता को संनिहित करने का व्यसन है और जो बेकैफ़ियत अस्तित्व को व्यर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानता है। ये प्रश्न 'प्राइमेसी' जगत् को नहीं देते हैं, देते हैं उन शर्तों को जिनके चलते वे जगत् को स्वीकार कर सकें। संस्कृति की आदि बेला में ही मनुष्य के मन और उसमें अन्तस्थ तर्क ने स्वयं को जगत् का विधायक माना। तभी तो दीर्घतमस् को बदहज़मी हो गयी, और उनके बाद भी कितने ही लोग उन्हीं प्रश्नों को दुहराते हुए बीमार हो गये। उपनिषदों ने इस तरह दुहराया : वह कौन सी सत्ता है जिसके ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो सकता है ? उत्तर मिला : सत् (ब्रह्मन्) के जान लेने पर, जो सब कुछ का कारण है।

इस तरह कार्य-कारण की अनुमान-विधि में विशिष्ट भारतीय मेटाफिजिक्स जन्मी। और साथ में जन्मी जगत् के कारण को जान लेने पर जगत् को स्वीकार करने की संस्कृती। मानसिक संत्रास में जन्मी इस मेटाफिजिक्स ने निदानात्मक चिन्तन की विधि मेडिसिन से उधार मांगी : क है ख, ग के कारण। यह हेतु-विद्या दो मान्यताओं पर टिकी है। प्रथम, किसी वस्तु या तथ्य को उसके कारण से सम्बद्ध करके ही जाना जा सकता है। दूसरे, हर वस्तु सम्पूत है, और इस सम्पूति का कोई सबब है जिसका स्वरूप कारणात्मक है। इस चिन्तन विधि की यह पूर्व-धारणा थी जगत् तभी सार्थक हो सकता है जब यह सत्य सिद्ध हो सके। इसका निष्पादन तत्त्वशास्त्रियों ने सत् को आदि कारण परिकल्पित करके और दृष्ट जगत् को कार्यसिद्ध करके किया। सत् – जिसके नाम ब्रह्मा, शिव, ईश्वर इत्यादि हैं--चैतन्य पुरुष है, जो अनन्त और सब कुछ सर्वत्र और सदैव ही समस्त है। महा-निद्रा में मग्न यही सत् यकायक इच्छाशक्ति के बल उठ खड़ा हुआ अपने अस्तित्व का ख्यापन करने के लिए, "अहम् इदम्" का आख्यापन करने के लिए। सत् द्वारा आत्म-विज्ञप्ति की इसी प्रक्रिया का नाम संसार है, ऐसी कार्यावस्था जिसमें निरपेक्ष अहं (ईश्वर) स्वयं को स्वीकार करने के लिए स्वयं को ही अनन्त इदं में बिखेर दिया है। अतः आदिकारण की कार्यावस्था होने के कारण दृष्ट जगत् सत्य है, अनन्त कार्यों में सम्पूत आदि कारण स्वरूप सत् सत्य है, और दोनों का सम्बन्ध भी उतना ही सत्य है। जगत् शिव क्योंकि यह सत्य है, उस आदि कारण का कार्य जो समस्त पुरुषार्थों की धाम है।

मेडिसिन पर टिकी भारतीय मेटाफिजिक्स की एक और पूर्व धारणा थीं : प्रमाणशास्त्र की भूमि पर स्वस्थ समवायी जीवन की स्थापना। तर्कपरक जीवन की प्रतिष्ठा के लिए तत्त्वशास्त्रियों ने पदार्थों का वर्गीकरण, उनके सामान्य और संजात गुण-धर्मों, पदार्थों और धर्मों के बारे में प्रामाणिक प्रापोजीशन इत्यादि का अध्ययन किया। इस तरह प्रमाणशास्त्र का इजहार हुआ। जिसके अनुसार मनुष्य का स्वास्थ्य 'कागनिटिव सब्जेक्ट' होने में है, और स्वस्थ जगत् ऐसे प्रमेयों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेखला जिनके बारे में विधि और निषेध वाक्यों का विन्यास हो सके। यह तारक भाषा वाच्य-वाचक लाजिक से अनुशासित थी, ऐसा लाजिक जो न्यायशास्त्रियों के अनुसार समस्त चिन्तन का आधार, सभी सद्कर्मो का साधन, और सभी धर्मों की धाम है।[२८] लाजिक श्रेष्ठतम तारक शक्ति है, महौषधि है।[२९]

इस आरोग्यकर लाजिक का इज़हार गौतम अक्षपाद ने दो बातों को ध्यान में रख कर किया था।[३०] प्रथम, दृष्टजगत् को आदिकारण का कार्य सिद्ध कर इसकी सार्थकता सिद्ध करना, मनुष्य के जन्म, ज़ीवन और मरण का मूल्य देना। आदिकारण जैसे महासत्य के सन्दर्भ में मनुष्य जन्म ले, सद् कर्म करे, और फिर वृद्धावस्था में मर सके। गौतम अक्षपाद का दूसरा ध्येय था अनुभव का विकल्पों के माध्यम से अनुशासित करना, इस हद तक पूर्वानुमानित कर देना जैसे वस्तुएँ या घटनाएँ अनुमान प्रमाण की कड़ियाँ हों। विशृंखल विश्व से संजात दीर्घतमस् की बदहज़मी को अन्वयव्यतिरेक की अनुमान पद्धति ने स्वस्थ किया। इस पद्धति की अभिरुचि मुख्यतः कारण में नहीं, बल्कि कारण की परिभाषा और कार्य-कारण की व्याप्ति सिद्ध करने में हैं।[३१] हम क को कारण मान लें, और ख को कार्य। जब क का भाव है तो ख का भी, जब क का अभाव है तो ख का भी अभाव है। जगत् में स्थित नाना वस्तुओं के अतिरिक्त, इस प्रतिमान का प्रयोग जगत् और ईश्वर के बीच कार्य-कारण संबंध सिद्ध करने के लिए किया गया है। "ईश्वर जगत् का कारण है," इस वाक्य की प्रामाणिकता का निदर्शन "जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है" के प्रतिमान पर किया गया।

किन्तु इस न्याय पद्धति से दीर्घतमस् स्वस्थ नहीं हुए। उनकी बदहज़मी की मुल्तबी ही हो सकी। अन्वय-व्यतिरेक के प्रतिमान द्वारा ईश्वर की कारणता और जगत् की कार्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः "जब क नहीं, तब ख नहीं" के सत्य होने पर ही "जब क है, तब ख है" सत्य हो सकता है। किन्तु आदिकारण ईश्वर नित्य और एक है। नित्य और सर्वव्याप्त सत्ता महानस में धूम-अग्नि की तरह अनेक बार उदाहरण के तौर पर पेश नहीं किये जा सकते। नित्य है उसका अन्यथा भाव नहीं होता। वैसे ही "जगत्" शब्द न किसी विशेष सत्ता का द्योतक है न सामान्य का, जैसे "घट" और "घटत्व" क्रमशः घटविशेष और सामान्य घट के द्योतक हैं। "जगत्" शब्द किसी विशेष या सामान्य विशेष का वाचक नहीं। "जब मैं आंख खोलता हूँ तो एक जोड़ी जूते देख सकता हूं, तारे देख सकता हूं, मगर मैं "जगत्" नहीं देख पाता। मैं गायों का रंभाना सुन सकता हूं, लेकिन मैं "जगत्" को नहीं सुन पाता। वही हालत मेरी अन्य ज्ञानेन्द्रियों की भी है। वे अकेले या सब साथ में "जगत्" का अनुभव नहीं कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाती। वे हमेशा विषय विशेष का अनुभव करती हैं।"[३२] "यत्र धूमो तत्र वह्निः" एक युक्तिसंगत वाक्य है जिसकी प्रामाणिकता अनुभव सिद्ध है। किन्तु, "ईश्वर कारण है, जगत् कार्य है" इस वाक्य में हेत्वाभास है, इसकी प्रामाणिकता को निदर्शित करने के लिए अनुभवजन्य उदाहरण अनुपलब्ध हैं। "ईश्वर" और "जगत्" जैसे शब्द प्रमेय सत्ताओं के द्योतक नहीं। "ईश्वर कारण है, जगत् कार्य है"–इस वाक्य की प्रामाणिकता की न तो पुष्टि हो सकती है, न निषेध। निषेध उसी सत्ता का हो सकता है जो प्रमेय हो, जिसका प्रतियोगी संभव हो, ज्ञान सामग्री उपलब्ध होने पर जिसका भाव प्रदर्शित हो सके, और ज्ञान-सामग्री के बावजूद जिसका अभाव हो। उदाहरण के लिए "पुस्तक मेज पर नहीं है।"[३३] परिस्थिति विशेष में पुस्तक मेज पर हो सकती है, दूसरी परिस्थिति में पुस्तक मेज पर नहीं भी हो सकती है। दोनों परिस्थितियों में पुस्तक का भाव और अभाव ज्ञान का विषय होता है। किन्तु उन परिस्थितियों की कल्पना नहीं की जा सकती जहां नित्य और सर्वव्याप्त ईश्वर न हो। कारण सत् और कार्य जगत् की परिकल्पना व्याघातक, असंगत और व्यर्थ है।

दीर्घतमस् की बदहज़मी फिर उभरी। मगर एक रोचक आयाम के साथ। नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति जैसे बौद्ध न्यायशास्त्रियों ने कार्य-कारण सिद्धान्त की सीमा दिखाकर यह सिद्ध कर दिया था कि हिन्दू दर्शन ने दीर्घतमस् की बदहज़मी का निदान गलत किया था। इस बात को सुनकर सबसे ज्यादा खुशी हुई अद्वैत वेदान्तियों को जिनके अनुसार निरपेक्ष सत्ता में सक्रिय कारणता का आरोप असंगत है। कार्य-कारण के भार से सत् को मुक्ति हुई, उसकी निरपेक्ष सत्ता-मात्रता की रक्षा हुई। वस्तुतः जगत् की सत्ता है, मगर इसकी भूमि में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं, लाजिकल नेसेसिटी नहीं। कार्य-कारण के सिद्धान्त की असफलता से जगत् एक रहस्य हो गया, क्योंकि जगत् की सत्ता की एकमात्र तार्किक व्याख्या फेल हो गयी। इस रहस्य का नाम है माया। जगत् एक अनादि यथार्थता है जिसकी व्याख्या के लिए "क्यों" और "कब" जैसे प्रश्न अयुक्त हैं। यदि कोई सम्बुद्ध व्यक्ति कहे कि "मैं नहीं जानता," तो प्रश्नकर्ता, जो उतना ही सम्बुद्ध है, उन प्रश्नों को नहीं दोहराता जिनके उत्तर में किसी सम्बुद्ध पुरुष ने कह दिया, "मैं नहीं जानता"।[३४]

इस प्रस्ताव में चिन्तन के नये आयाम अन्तस्थ हैं। वस्तुतः दीर्घतमस् की बदहज़मी प्रश्नों की गलत परिकल्पना से हुई। दीर्घतमस् का पूर्वाग्रह था कि जो कुछ भी पूछा जा सके वह प्रश्न है, और हर प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर है। योगवासिष्ठ दीर्घतमस् के पूर्वाग्रह से मुक्त है। वसिष्ठ कहते हैं, "जगत् कहाँ से और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कब संजात हुआ ? हे राम, ऐसी चिन्ता आपको न हो । इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।" [३५] वसिष्ठ के इस प्रस्ताव में मेटाफिजिक्स और प्रमाणशास्त्र की उपेक्षा का आदेश है, जीवन मरण के नये सन्दर्भ अन्तस्थ हैं । "मैं कौन हूं ? यह संसार मुझे कैसे घटित होता है ? मैं अहं पुरुष कैसे हो गया, ऐसा पुरुष जिसका अस्तित्व कर्मी है और जिसका संसार उसी का ही कर्म संघात है ? इस शैली में पूछे गये प्रश्नों पर अनुमनन करना ही दार्शनिक चिन्तन का अर्थ है ।" [३६]

दर्शन की यह परिभाषा क्रान्तिकारी है । यह क्रान्ति चिन्तन के उस आयाम का मुकुर है जिसके अनुसार संसार की सार्थकता उसके सत्य होने में नहीं, बल्कि यह प्रदर्शित करने में है कि सार्थकता केवल मिथ्या की ही हो सकती है । अतः जगत् की सार्थकता की रक्षा के हेतु उसे सत् से संजात सिद्ध करना पूर्वाग्रहमात्र है, आदिम प्रवृत्ति का द्योतक है । परम्परा से प्राप्त ऐसे पूर्वाग्रह से मुक्ति चाहने के लिए ही अद्वैत वेदान्तियों ने सत् को निरीह और अपुरुषार्थी माना, अन्ततः यह बताने के लिए कि जगत् सार्थक इसलिए है कि यह सत् की सृष्टि या परिणाम नहीं, कि अहं पुरुष का जन्म, जीवन और मरण सत् के कारण नहीं बल्कि सत् के बावजूद है । अकर्मी सत् से कर्मी संसार तक का संक्रमण किसी तार्किक या तात्त्विक अनिवार्यता के कारण नहीं, बल्कि काकतालीय योगेन है, आपाती स्फुटन है । [३७] तार्किक दृष्टि से यह पारभौतिक स्फुटन एब्सर्ड है, अप्रतिम कपट का नमूना है । [३८] कपट का अर्थ है : जो तर्करूपेण असम्भव है, वह अस्तित्वरूपेण संभव हो जाता है । [३९] इस आपाती कपट का नाम माया है, ऐसी अनादि वासना जो निरीह, आप्तकाम सत् का तिरोभाव कर तत् देश में ही अहं पुरुष का निक्षेप करती है, काल और कर्म के मिस निरपेक्ष अहंपुरुष होने का भार सौंप देती है । [४०] अतः माया कर्मी पुरुष के आविर्भाव की पारभौतिक शर्त है । यह माया प्रमेय नहीं, बल्कि समस्त प्रमाण-प्रमेय की पूर्वाग्र भूमि है । इसे प्रमेय बनाना महासाहस का काम है, ऐसा साहस जो बाल बुद्धि वाले ही कर सकते हैं, संबुद्ध व्यक्ति नहीं । [४१]

माया की ऐसी विरोचित गरिमा क्यों ? इस प्रश्न को उठाने में हमारा विशेष प्रयोजन है । हम माया की परिभाषा को दोहराना नहीं चाहते । आचार्यों ने इस कार्य को जरूरत से ज्यादा ही कर दिया है । हम यह प्रश्न यह सिद्ध करने के लिए किये हैं कि सार्थक अस्तित्व का आधार माया है, और गरिमामय मृत्यु-वरण का आधार सत् या ब्रह्मन् । हम देख चुके हैं कि आप्तकाम सत् एक लाजिकल और आन्टोलाजिकल टटोलाजी है, और जिसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता । अजर और अमर सत् के स्वरूप में संसार की असाध्यता और असंभवता अन्तस्थ है । सत् की इस परिकल्पना पर खड़े लाजिक का आदेश है कि संसार असम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। जन्म-मरण वाले कर्मी अस्तित्व का आदेश है कि अकाल और निश्चेष्ट सत् का निषेध हो, कम से कम तिरोभाव हो। एसेन्स का, सत् का आदेश है कि अहं-पुरुष का अस्तित्व असंभव हो, और अस्तित्व का आदेश है कि सत् विस्मृत हो जाये। अविद्या द्वारा सत् के तिरोभाव का आशय है: कर्मी संसार लाजिक की पारभौतिक पराजय का दृष्टान्त है, उस लाजिक की पराजय जिसके अनुसार तर्क-संगत सत्य केवल टाटोलाजी ही हो सकता है।[४२] अविद्या उस मन की परिकल्पना है जिसकी अभिरुचि वस्तुजगत् में नहीं, न ही उसकी अभिरुचि है प्रमाण-शास्त्र से नियोजित प्रमेयों और अभिधेयों से सघन हो गये जगत् में। इसकी अभिरुचि है ऐसे संसार की रचना जिसमें पुरुषार्थी मानव का अस्तित्व प्रथम पुरुष में हो सके।[४३] ऐसे संसार में "मैं कर्ता हूं" की भूमि है "मैं हूं," और फिर दोनों ही "मैं जानता हूं" की सीमा के नियामक। ऐसी दार्शनिक चिन्ता का ध्येय "मैं जानता हूं" को साधन बनाकर "मैं हूं" सिद्ध करने में नहीं। इसका ध्येय "मैं हूं की सीमा और स्वरूप को जानना है, उस अहं पुरुष का ज्ञान जिसके चलते संसार वैसा हो सका जैसा यह है। अन्ततः अविद्या की परिकल्पना की पृष्ठभूमि में उस संसार की संरचना था जिसमें पुरुषार्थी मानव अपने सत् को भूलकर प्रथम पुरुष में अस्तित्व ले सकें, और फिर उसी सत् की अनुप्राप्ति के लिए मृत्यु का वरण कर सकें।

सत् और अविद्या का, एसेन्स और अस्तित्व का यह वैरस्य सोद्देश्य है। अनासक्त सत् और ईहात्मक अस्तित्व के बीच युक्ति-संगत संबंध स्थापित करने के लिए श्रेष्ठतर लाजिक की ज़रूरत नहीं। आवश्यकता है जीवन के उस स्वरूप को समझना जो इस वैरस्य में समवेत है और जिसे भोग सकने के लिए इस वैरस्य की परिकल्पना हुई थी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने निर्लिप्त सत् और कर्मी अस्तित्व के इतरीभाव को स्पष्ट समझाया है। अविद्या से प्रेरित अहंपुरुष विषयी होता है। यही अहंपुरुष ज्ञान के माध्यम से अपने सत् को पहिचान कर विषयी अस्तित्व से निर्गति पाता है। प्रसंग को स्पष्ट करते हुए उपनिषद् कहती है कि निष्कर्म सत् और अहंपुरुष दोनों ही सत्य मार्ग है, और ये ही दो सत्य मार्ग हैं।[४४] वे लोग अज्ञानी हैं जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, या स्वर्ग में अमर जीवन की कामना करते हैं। उपनिषद् के कथन का स्पष्टीकरण योगवासिष्ठ में संवाद के बतौर हुआ है। अगस्त्य ऋषि से सुतीक्ष्ण पूछते हैं: हे महर्षि आप धर्म के मर्मज्ञ हैं, अर्थ, नीति और काम-शास्त्र के विशारद हैं। आप दर्शन में भी पारंगत हैं। मैं संशय प्राप्त हूँ। निर्गति का साधन क्या है: ज्ञान, कर्म या इन दोनों का कोई विशेष समीकरण? मुझे बताइए कि इन तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कौन मोक्ष का साधन है और क्यों ?[४५] अगस्त्य ऋषि उत्तर देते हैं, "किसी गन्तव्य तक पहुँचने के लिए पक्षी दोनों पंखों से उड़ान मारता है। वैसे ही पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों का सहारा लेता है। कर्म मनुष्य को धर्म से सम्बद्ध करता है, काम अर्थ और यश प्राप्ति में जीवन को व्यस्त करता है। ज्ञान मनुष्य के कर्मी अस्तित्व को सत् में निःशेष कर देता है।[४६] किन्तु मनुष्य के लिए कर्मी अस्तित्व आवश्यक है, इसके बाद ही वह इस विषयी अस्तित्व से निर्गति पा सकता है। जब सूती बसन भी शरीर ढकने न मिल सकें तो ऊनी कम्बल से सन्यास लेने की बात उपहासास्पद है।"[४७]

कर्म और ज्ञान के सम्बन्ध का क्रम महत्त्वपूर्ण है। योगवासिष्ठ में इस सम्बन्ध की व्याख्या संवाद विधि से हुई है। भारद्वाज से वाल्मिकि कहते हैं: "आकाश का कोई रंग नहीं होता। फिर भी नीले आकाश का प्रत्यक्ष होता है। सार्वभौम होते हुए भी यह प्रत्यक्ष मिथ्याभास है। उसी तरह सत् निराकार और निर्विशेष है। फिर भी इस सत् का अनुभव नानार्थ जगत् के रूप में होता है। विवेकशील चिन्तन सिद्ध करता है कि संसार नाम वाली यह सघन विषमता केवल सत्ताभास है, सत्ता नहीं। इस सत्ताभास का कारण अविद्या है, उस पारभौतिक विमर्श शक्ति के कारण जो सत् का तिरोभाव कर सत् के प्रदेश में ही अहंपुरुष का प्रक्षेपण करती है। अशुद्ध और शुद्ध दो प्रकार की वासनाएँ होती हैं। प्रथम प्रकार की वासना अविद्या है, वह ईहा जो अहंपुरुष की आकार वाली हो जाती है। यह अहंपुरुष स्वयं का ही विस्तार करने के लिए विषयों का धारण करता है, उन परिस्थितियों का परिहार करता है जिनसे उसे आघात का शक होता है, और अपने तादात्म्य के हेतु मृत्यु को अस्वीकार कर पुनर्जन्म का आकांक्षी है। दूसरी प्रकार की वासना विद्या है जो सत् के ज्ञान के लिए प्रेरित करती है, पुनर्जन्म और पुनर्मरण से निर्गति पा सकने के लिए अशुद्धा वासना को निःशेष और दग्धबीज कर देती है।"[४८]

इस तरह सत् की परिकल्पना विषयी अस्तित्व को भोग कर मर सकने के लिए हुई थी, अमरत्व या मर कर फिर जी सकने के लिए नहीं। सत् विषयी अस्तित्व से निर्गति लेने की युक्ति है, इस सच की अनुभूति कराने के लिए कि मेरा कर्मी अहं एक उपयोगी मनोराग था, और सौ वर्ष तक मेरा संसार मेरी सर्जनात्मकता का एक रंगमंच। अविद्या की परिकल्पना कर्मी अहंपुरुष को संभव बना सकने के लिए हुई थी। ऐसी परिकल्पना अपुरुषार्थी सत् के बावजूद पुरुषार्थी अस्तित्व की सार्थकता को स्वीकार करने का आयाम है।[४९] अविद्या की परिकल्पना "यत्र धूमो तत्र वह्निः" के प्रतिमान पर "जिसकी सत्ता है, वह कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है" की सिद्धि करना नहीं था। न तो अविद्या मिथ्या ज्ञान मात्र ही है जिसकी उपपत्ति या निवृत्ति श्रेष्ठतर प्रमाण-शास्त्र से हो सके। वस्तुतः अविद्या संसारी अस्तित्व को गौरव देने की युक्ति है। यह गौरव अध्यारोप-अपवाद-न्याय पर टिका है, निष्क्रिय, सत् का अपलाप कर सत् के देश में ऐसे अहंपुरुष का आविर्भाव करना जिसकी सार्थकता प्रथम पुरुष में जन्म और जी कर प्रथम पुरुष में ही मृत्यु को वरण कर सकने में है।[५०] हम देख चुके हैं कि सत् है का आदेश है कि संसार तर्कतः सम्भव नहीं। अविद्या एक पारभौतिक अनुकम्पा है जो संसार को सम्भव करती है। अविद्या उस संवेदना का आयाम है जिसके अनुसार कुछ अर्थों में जी सकने का भ्रम सत्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी दूसरे ही सन्दर्भ में नीत्शे ने कहा था : "सत्य एक ऐसी भ्रांति है जिसके बिना एक विशेष प्रकार का जीव जिन्दा नहीं रह सकता।" वह विशेष जीव मनुष्य है जिसका अस्तित्व सम्भव और सार्थक कर सकने के लिए अविद्या ऐसे सत्य को संजात करती है जिसके प्रतिमान में मनुष्य जी सके। वस्तुतः इतिहास और काल ने मनुष्य का विषयी अस्तित्व एक सुखात्मक भ्रान्ति है, ऐसी भ्रांति जिसके चलते संसार और समाज, विज्ञान और दर्शन सम्भव है। अविद्या उस कर्मी पुरुष का प्रादुर्भाव करती है जिसके कारण और उसके लिए घटनाओं भरा संसार है।

चतुर्थ प्रभाग

इस कर्मी पुरुष का स्वरूप और संसार की सीमा क्या है जिसका निर्माण यह पुरुष करता है? हम देख चुके हैं कि अविद्या एक पारभौतिक स्फुटन है जो सत् का तिरोभाव करके तद्देश में ही स्वयं का प्रक्षेपण अहं-पुरुष के रूप में करती है। अहं-पुरुष का अस्तित्व एक पारभौतिक घटना है जिसमें सत् की स्वयं से अकाल आसन्नता से लेकर अहंपुरुष द्वारा काल की मध्यस्थता से उसी सत् की अनुप्राप्ति का इतिहास अन्तस्थ है। सत् स्वयं से आसन्न या अनन्तर इसलिए है कि इसमें अहम्-मम का विषयी और विषय द्वैधीकरण नहीं। सत् समस्तरूप से समस्त है। अतः सत् के लिए कोई विषय नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए वह कर्म करे, और जिसे पाकर विषयी हो सके। सत् विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत् से इतर ऐसा कुछ नहीं जो सत् को पाकर विषयी हो सके। सत् न धारी है, न धारण किया जा सकता है। सत् को पुरुषार्थी मानना वदतो-व्याघात होगा। सत् ऐसी अमूर्त पूर्णता है जो इतिहास में किसी भी पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं हो सकती। काल और इतिहास में इसी सत् तक पहुँच सकनेवाली ईहा अविद्या है।

इसी ईहा का मूर्तरूप अहंपुरुष है। यह कर्मी पुरुष सत् की भांति समस्त होना चाहता है, और निखिल समस्तता का विषयी भी होना चाहता है। अहं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष विषयी अस्तित्व के माध्यम में ही सत् की भांति स्वयं से अतन्तर होना चाहता है, ऐसी अनन्तरता जिसकी पारभौतिक हानि से ही वह अहंपुरुष हो सका। समस्त विषयों का धारी हो स्वयं तक पहुंचने की इस राहे-गुज़र का नाम संग-वासना है। मनुष्य विषयों के द्वारा विषयों में ही अधिवासी बनने आया है। उसके अस्तित्व की शैली है : "मेरा घर, यह मेरा है। और मैं यह हूं।"[५१] इस "मैं यह हूं," के सन्दर्भ में मनुष्य जो कुछ भी करता है वह "कर्म" है। संस्कृत ग्रामर में "कर्म" उद्देश्य के अर्थ में आता है, उस उद्देश्य के अर्थ में जिसकी सिद्धि के लिए कर्ता उद्यत है।[५२] क्रियापद स्वयं अपने आपके लिए नहीं बल्कि वाक्य के संज्ञापद के निमित्त होता है। संज्ञापद "स्वतंत्र" है, क्योंकि इसके निमित्त ही क्रिया पद का आशय निश्चित होता है। संज्ञापद वाक्य की क्रियापद का वाहक होता।[५३] किन्तु व्याकरण केवल शब्दों का अनुशासन मात्र ही नहीं। संस्कृत व्याकरण में 'आन्टोलाजिकल फार्म' अंतस्थ है, मनुष्य के समवायी अस्तित्व की परिकल्पना और परिभाषा समवेत है। व्याकरण की तरह अस्तित्व में भी कर्म किसी कर्ता का होता है और जिसके माध्यम से कर्ता की गति किसी लक्ष्य तक पहुंचने की होती है,[५४] विषयी अस्तित्व की हद नापने के इसी संकल्प का नाम 'कर्म' है, ऐसा संकल्प जो निर्विषयी और निरपेक्ष सत् के तिरोभाव से व्युत्पन्न है और जिसकी गति कर्मी अहंपुरुष की विषयी समस्तता से संजात निरपेक्षता की प्राप्ति तक है।[५५]

इस तरह "मैं यह हूं" समस्त क्रियाओं का घटनाओं का जन्मदेश है, पूर्वांग है। विषय–जगत् इसी अहंपुरुष की सर्जनात्मक आत्मकता का क्षेत्र है, आत्मबोध के लिए सम्बन्धों और घटनाओं, समाज और संस्थानों के मिस आत्म-विस्तार की पीठ है।[५६] यही आत्ममोह धर्म और दर्शन, कला और विज्ञान में अमूर्त और अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त हो पाता है। यजुर्वेद पूछता है, "किसने किसके लिए यह संसार दिया ?" उत्तर में यजुर्वेद कहता है, "काम ने स्वयं को ही यह संसार दिया। काम दाता है। काम ही ग्रहीता है।"[५७] वेद का आशय है कि अहं-पुरुष में रह सकने की पारभौतिक ईहा ने स्वयं को ही यह संसार दिया जिससे यह कह सके : "मैं कर्ता हूं, यह मेरा है।" संसार कर्मी अहंपुरुष का क्षेत्र है, शरीरी अहंपुरुष के "यह मैं हूं" कह सकने की सीमा है। मेरा शरीर मेरे लिए वस्तु नहीं, प्रमेय नहीं। मेरा शरीर मेरे "यह मैं हूं" कह सकने का माध्यम है, मेरे सम्बन्धार्थ संसार का क्षेत्र और सीमा। संसार मानव सम्बन्धोंकी सघनता है, "मैं" और "तू" का खेल है जिसका केन्द्रबिन्दू "मैं यह यह हूं" है।[५८] मेरा संसार मेरा ही विधेय है। यह आत्म-मोह मनुष्य ने कहीं से सीखा नहीं है, यह मोह पूर्वांगी है जिसका बोध कर सकने के लिए मनुष्य जन्मा है।[५९] अतः अन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई बायोलाजिकल घटना नहीं, बल्कि प्रथम पुरुष में जी सकने की ईहा का सशरीरी हो जाना है। जन्म एक ऐतिहासिक स्थिति है जिसमें अहंपुरुष अपने को अपनी ही विरासत के रूप में पाता है।[६०] जन्म स्वयं से चलकर स्वयं तक पहुंच सकने का एक सोपान मात्र है। मनुष्य अपने ही संकल्पों की संतान है। उसका कर्तापुरुष होना न तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त है न समाज की नैतिक परिकल्पनाओं द्वारा आरोपित। जन्म के पहिले मनुष्य कर्ता पुरुष था। कर्तापुरुष के रूप में जी कर मर जाने के बाद ही जीव कर्ता पुरुष के रूप में जन्मा है।[६१]

ऐसा है यह अहंपुरुष जिसका अस्तित्व "मैं कर्ता हूं" से प्रेरित है और जिसका संसार उसकी ही कर्मकथा है। यह पुरुष सत्य और असत्य का, शिव और अशिव का इज़हार कर सकता है, संसार से बेजार हो नंगे घूम सकता है। किन्तु संसार को स्वीकार करके भी उसकी शर्त यही है कि वह प्रथम पुरुष में "मैं यह हूं" की शैली में जी सके।[६२] मनुष्य वस्तु-जगत् का भाग नहीं, वस्तुतः वस्तु-जगत् है ही नहीं। तथाकथित जगत् विषय-क्षेत्र है, प्रथम पुरुष में जी रहे जीवों की सघन परम्परा है। विषय-क्षेत्र वस्तुओं का योगमात्र नहीं जिसे निरपेक्ष रूप से मनुष्य स्वीकारता या निषेध करता हो। विषय-जगत् सुखद या दुःखद यथार्थता है, कर्म-क्लेश का कुरुक्षेत्र है। कर्म पुरुष विषयों को धारण करने के लिए तत्पर है, और संसार की सीमा धारी जीवों के अस्तित्व की सीमा है।[६३] अहंपुरुष की चेतना वस्तुओं का अभिलेख मात्र नहीं करती, उन्हें आक्रान्त करती है, यह वस्तुओं को अपने ही प्रतिमान पर स्वीकार करती हैं, उन्हें सहन भर नहीं करती।[६४] वस्तुतः संसार में न निर्विषय चेतना है न निरपेक्ष वस्तु। संसार से प्रवास लेकर विषयों में समवेत हो रही चेतना की प्रक्रिया है, अहंपुरुष के विषयावेश का इतिहास है।

इस तरह विषय-जगत् से इतर कोई वस्तु जगत् नहीं। विषय-जगत् और अनुभव के उपकरण—ये दोनों समविस्तारी हैं। इन्द्रियों के मिस अहंपुरुष विषय-जगत् तक राहे-गुजर होता है, स्वयं के अस्तित्व का स्वयं को ही आश्वासन देने के लिए। इन्द्रियानुभव अहं के द्वारा स्वयं को ही विषय जगत् में स्थापित करने की प्रक्रिया है। इसीलिए अहं सुखद स्थितियों की पुनरावृत्ति खोजता है, स्वयं की, सुखद इन्द्रिय-विषयों की, और विषयानुभव के माध्यम इन्द्रियों की। अहंपुरुष को मृत्यु का अविराम भय बना रहता है। यह भय आत्मानुराग और मृत्यूपरान्त अस्तित्व बना रहने की ईहा का परिणाम है। मृत्यु-संत्रास समस्त इन्द्रियानुभव में अन्तस्थ है। अहंपुरुषों से सघन हो गया यह संसार मृत्यु के खिलाफ़ एक समवायी आवाज़ है, अमरत्व के लिए एक नियोजित आह्वान। संसार एक ऐसी अविराम पुनरुस्थिति है जो आत्मानुवृत्ति की सर्जनात्मक प्रक्रिया से संजात है।[६५] किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं को शाश्वत बनाने की यह व्यग्रता विरोधाभासी है। शरीर के माध्यम से अहंपुरुष स्वयं को ही केन्द्र में रख सम्बन्धार्थ संसार बनाता है। किन्तु शरीर जर्जर हो जाता है, और निरतिशय अस्तित्व की वासना के बावजूद अहंपुरुष मरता है। संसार दुःखमय है, इस अर्थ में, और इसी अर्थ में कि अमर अस्तित्व की ईहा और उसके माध्यम में इतरीभाव है, विरसता है। किन्तु अमरत्व की वासना शरीर के मरने के साथ मर नहीं जाती। यह वासना मृत्यु को अस्वीकार कर पुनः शरीरी होती है, पुनर्मरण के लिए।

अमर अस्तित्व की ईहा से प्रेरित अहंपुरुष आत्म-प्रवंचना में समर्थ है। इस आत्म-प्रवंचना में क्षणिक को नित्य बनाने की वासना समवेत है। इस वासना की परिणति स्वर्ग के विश्वास में होती है, जहाँ शाश्वत यौवन है और जहाँ विषय की कामना और उसकी प्राप्ति में आसन्नता है। वस्तुतः स्वर्ग की सत्ता और उसके विश्वास में कुछ भी अलौकिक या आधिदैविक नहीं। स्वर्ग अनन्त अस्तित्व की ईहा का वस्तुकरण है, देश और काल में शाश्वत अहंपुरुष हो सकने का प्रक्षेपण है।[६६] मनुष्य की काल ओर इतिहास में ईश्वर हो सकने की ईहा का प्रतिबिम्ब स्वर्ग है, शरीरी पुरुष होते हुए भी अकाल और अमर हो सकने की वासना का प्रतिबिम्ब। किन्तु कर्मी अहंपुरुष होते हुए ही अकाल और अनश्वर सत् होने की वासना असाध्य है, सत् तक पहुँचने के लिए सत् से दूर भागने की प्रक्रिया है। सत् अनश्वर इसलिए है कि अस्तित्व की ईहा के अभाव में वह शरीरी नहीं होता, जन्म नहीं लेता। "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" की शैली में मनुष्य अपने को सम्पूर्ण करते चला है, बिना इस सत्य का बोध किए कि सत् पूर्ण इसलिए नहीं है कि वह समस्त विषयों का धारी है बल्कि इसलिए की धारी होने की ईहा के अभाव में उसे विषयाभाव नहीं। अतः "मैं यह हूँ" की शैली में भोगा अस्तित्व विरोधाभासी है, इसमें युगपत् ही आँखे खोलने और बन्द करने की लाचारी है।[६७] जन्म लेकर मनुष्य नित्यता चाहता है, ऐसी नित्यता जो अजन्मी है। अहंपुरुष मृत्यु को स्वीकार नहीं करता, किंतु शरीरी अस्तित्व को वह स्वीकार करता है। जिसके चलते वह जन्मा और जिसके कारण मृत्यूपरान्त पुनर्जन्म लेगा पुनर्मरण के लिए। मनुष्य केक खाएगा और रखेगा भी। सत् तक पहुँच सकने के लिए पुनर्जन्म और पुनर्मरण की प्रक्रिया वहाँ तक न पहुंचने की पुनरुस्थिति है, अपूर्ण अहंपुरुष और आप्तकाम सत् के अन्तराल को निरंतर बढ़ाती "रिकरेन्स" है।[६८] सत् तक पहुँचने के लिए अहंपुरुष फिर फिर जन्म लेता है, फिर फिर युवा होता है, फिर फिर जीर्ण होता है, और मर जाता है पुनर्जन्म लेकर पुनर्मरण के लिए"।[६९] अहंपुरुष एक अविवेकी जीव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विरोधाभासी अस्तित्व का ड्रामाटिक वर्णन ब्रह्मवैवर्त पुराण के एक आख्यान में मिलता है। सुरासुर संग्राम के दौरान देवनगर के राजमहल ढ़ह गए थे। युद्धोपरान्त इन्द्र ने विश्वकर्मा को बुलाया और देवेन्द्र की महिमा और शौर्य के अनुकूल महल बनाने का भार सौंपा। प्रतिभाशाली विश्वकर्मा ने एक वर्ष में ही अद्‌भुत महल बनाया। किन्तु इन्द्र की मांगें क्रमशः बढ़ती गयीं। महल बनाकर उध्वस्त हुआ, फिर बनकर पुनः उध्वस्त हुआ। मीनार और कुंज, सरोवर और क्रीडा उद्यानों की माँगे बढ़ती गयी। निराश विश्वकर्मा ने विष्णु की शरण ली।

दूसरे दिन एक ब्राह्मणपुत्र इन्द्रमहल के सामने प्रस्तुत हुआ। इन्द्र पूछने लगे, "प्रिय पुत्र, यहाँ आने का प्रयोजन कहो", ब्राह्मणपुत्र कहने लगा, "हे इन्द्र मैंने आपके महल की प्रशंसा सुनी है। कुछ प्रश्न मेरे मन को क्लेश दे रहे हैं। सोचा उन्हें आपके सम्मुख रख दूँ। इस प्रासाद को सम्पूर्ण होने में कितने वर्ष लगेंगे। आपसे पहले भी कितने ही इन्द्र ऐसे प्रासाद को सम्पूर्ण नहीं कर सके।" मुस्करा-कर इन्द्र पूछने लगे, "पुत्र, क्या इतने इन्द्र होते हैं?" इसी बीच न जाने कहाँ से चीटीओं की मीलों लम्बी कतार प्रकट हुई। चीटीओं की इस अनन्त सघनता की ओर संकेत कर ब्राह्मण पुत्र कहने लगा, "हे देवराज, धरातल पर बालू के कण गिन सकना आसान है, इन्द्रों की गणना कोई नहीं कर सका। ज्ञानी लोग तो ऐसा ही कहते हैं।"

इंद्र सोच में पड़ गए। घबड़ाकर जंगल में संन्यास ले लिया। सुनकर इन्द्र की पत्नी शची व्यग्र हो उठी। इन्द्राणी देवगुरु बृहस्पति को लेकर इन्द्र के पास पहुँची। बृहस्पति ने इन्द्र को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की महिमा बताई। सबका पृथक् पृथक् महत्त्व बतलाया। सुनकर इन्द्र गृहस्थ जीवन को वापस लौटे।[७०]

स्पष्टतः पौराणिक आख्यान मेटाफिजिक्स को जनसुलभ बनाने की तकनीक है। इन आख्यानों की रचना मेटाफिजिक्स, थियोलोजी और प्रमाण-शास्त्र के समान्तर हुई थी। इनका महत्व वर्ण्य विषय में नहीं, वर्णन शैली के कारण है। इनकी भाषा व्यंजनात्मक और लक्षणात्मक है, तथ्यात्मक नहीं। ये आख्यान अमूर्त सत्य का निदर्शन घटनाओं के माध्यम से करते हैं। ज्ञानेंद्रियाँ व्यक्त हो उठती हैं जिनकी आत्मकथा के मिस अमूर्त सत्य शब्द पा जाते हैं, ऐसे शब्द जिनका अभिधान प्रमाण शास्त्र की भाषा नहीं कर सकती। जब फिलासफर चुप होते हैं तो कवि गान कर उठते हैं, और मिथक के मिस अमूर्त सत्य शरीरी हो जाते हैं। दार्शनिक सत्य को समझ लेना स्वस्थ जीवन की माँग है। किन्तु सर्वसाधारण अमूर्त सत्य को समझ नहीं सकता। इस वैरस्य को दूर करने के लिए मेटाफिजिक्स और मिथक में सह-सम्बन्ध बना। किसी भी दार्शनिक संस्कृति के लिए मिथक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरिहार्य है। प्रस्तुत आख्यान भारतीय इतिहास दर्शन की ओर संकेत करती है जिसके अनुसार घटनाएँ दिन या तिथि से पूर्वस्थ हैं, और जो इस बात पर बल देता है कि किसी विशेष दिन में क्या घटता है उसके अतिरिक्त वह दिन कोई दिन नहीं। ऐसा नहीं कि किस तिथि में कुछ घटता है, जो घटता है वहीं वह तिथि है। कैसे क्या घटित होता है, वह कब घटता है से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के मिथक में चित्रित जीवन "नेचुरल" नहीं, किसी प्रागैतिहासिक रहस्य के अनुष्ठान की स्मृति नहीं। और न तो यह किसी सेक्रेड हिस्ट्री का, "टाइम" की 'टाइमलेस' सम्भूति का, अंकन ही है। प्रस्तुत आख्यान मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की समीक्षा है, उस अस्तित्व का जिसमें भोग्य–विषय नित नए हैं किन्तु उनका सर्जक कर्मी अहंपुरुष प्राचीन से भी प्राचीनतम है। अफसोस है कि हिंदू धर्म के बारे में एलियाड की आश्वस्त अनभिज्ञता हिस्ट्री आफ रेलिजन का प्रतिमान बन गई है। एलियाड उस विचार पद्धति के प्रतिनिधि हैं जिनके अनुसार जो लिनियर नहीं वह प्रागैतिहासिक है, प्रिमिटिव है। सच तो यह है कि इन्द्र अहम्-मम की रीति में जी रहे जीव का प्रतीक है, उस कर्मी अहं का प्रतीक जिसके लिए उससे इतर सब कुछ उसी के लिए भोग्य विषय है। स्वयं से प्रवासी हो यह जीव विषयों तक भागा जा रहा है, स्वयं तक पहुंच सकने के लिए ही।[७१] किन्तु आत्मानुप्राप्ति की यह योजना निरन्तर असफल होती है, स्वयं को सम्पूर्ण करने में यह पुरुष शून्य हो जाता है।[७२] इन्द्र-मिथक के अनुसार अहंपुरुष में भोगा अस्तित्व विरोधाभासी है, ऐसा अस्तित्व जिसमें भूख मिटाने के लिए किया गया भोजन मनुष्य जिंदा रखता है केवल फिर भूखा होने के लिए। इन्द्र कभी 'नेचर' में, आदि प्रकृति में नहीं लौट सकते, क्योंकि वे कभी आदि प्रकृति थे ही नहीं। अहंपुरुष में भोगा अस्तित्व कभी ऐतिहासिक नहीं हो सकता। इन्द्र ऐतिहासिक मनुष्य के प्रतीक हैं जो अपने ही निर्विषयी सत् से संयोग खो बैठा है और जो कर्मी अस्तित्व की रीति से इतिहास में ही विषयी सत् होता चाहता है, ऐसा सत् जो समस्त हो और उस समस्तता का विषयी भी हो। किन्तु ऐसा होना असंभव है, क्योंकि सत् न तो विषय है न विषयी ही। फलतः अहंपुरुष निष्कर्मी सत् और कर्मी अस्तित्व, पूर्णता और शून्यता के बीच ऐतिहासिक सम्पूर्णता का भारहार हो गया है।[७३] इन्द्र की भांति मनुष्य स्वयं का ही मूर्तिकरण करने चला है, 'मैं हूँ' कह सकने लिए 'मेरा है' की सृष्टि में व्यस्त है।

मनुष्य का इतिहास स्वयं को आश्वस्त करने का गतिशील सरकुलैरिटी है। इस सरकुलैरिटी में मृत्यु का भय समवेत है, "मैं हूं" किन्तु "मैं नहीं रहूंगा" का संत्रास है। इस भय से त्राण पाने के हेतु मनुष्य कर्मी सरकुलैरिटी की किलेबन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरन्तर नये विषयों को प्राप्त कर करता है। इन्द्र की भांति मयुष्य का अस्तित्व एक पारभौतिक आत्ममोह का नमूना है, सघन विषयता की ऐसी गतिमान और पारदर्शी सरकुलैरिटी जिसे मनुष्य ने अपने ही चेहरे को देखते रहने के लिए बनाता जा रहा है। पौराणिक आख्यान काल की प्रागैतिहासिक आरम्भ की बात नहीं करते, भारत के प्रत्येक धर्म और दर्शन ने संसार को अनादि माना है। इन्द्र का मिथक अहंपुरुष में भोगे इतिहास का नाटकीय वर्णन है, सत् और सत् हो सकने के साधन के बीच वैरस्य का इजहार है। [७४]

इन्द्र-मिथक का मन्तव्य स्पष्ट है। यह उजागर करता है कि कैसे और किस हद तक "मेरे" के प्रतिमान में इन्द्र में "मैं" को बन्दी कर रखा है। आख्यान उस रीति का निर्देश करता है जिसके चलते इन्द्र अपनी ही सरकुलैरिटी से निर्गति हो सकता है। नाटकीय रीति से मिथक प्रवृत्ति और निवृत्ति का, अस्तित्व और मरण का संबन्ध समझाता है। मिथक यह भी समझाता है कि प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति घातक है, और निवृत्ति के बिना अनन्त प्रवृत्ति व्यर्थ है। इन्द्र केवल प्रवृत्ति का दावेदार है, अनन्त तक अनन्त विषयों में आत्म विस्तार का समर्थक। [७५] इन्द्र का नाम "गोप" है, विषयासक्त इन्द्रियों का रक्षक। क्योंकि वे आत्म-स्थापना के उपकरण हैं। [७६] ऋग्वेद इसी इन्द्र की, विषयों की सृष्टि कर उसमें अधिवासी होनेवाले इस जीव का गुणगान कर धन्य होता है। "मनुष्य अपने शौर्य और शक्ति से महान् होते हैं, पुरुषार्थ द्वारा स्वर्ग तक ऊँचा उठते हैं, और शासन करने के लिए ही वसुन्धरा को विजित करते हैं। [७७] अहंपुरुष के कर्मी होने का सबब प्रभुत्व-वासना है, ऐसी वासना जो समस्त अभिधान-अभिधेय का आधार है। क्रिया की आवश्यकतावश ज्ञान पैदा होता है, और क्रिया की समाप्ति पर ज्ञान निःशेष हो जाता है। विषयी अस्तित्व की आवश्यकताएं ही सत्य और असत्य का निर्धारक हैं। प्रमाणशास्त्र भी आत्म-स्थापना की तकनीक है। ऐसी प्रविधि जिसके द्वारा अहंपुरुष स्वयं की सत्ता की पुष्टि चाहता है। स्वर्ग इसी आत्मस्थापना का प्रतीक है, कल्पतरु का कल्पित देश जहाँ कामना करना ही पाना है, और अन्ततः जहाँ कामना की ही कामना होती है क्योंकि कामना से इतर और कुछ उपलब्ध करने को शेष नहीं रहता।

इन्द्र ईहा की निःशेष तृप्ति चाहते हैं। वे ईहा नहीं रोक सकते, भले ही उन्हें तुच्छ की ईहा करनी हो। इन्द्र जरास्थुश के वंशज हैं जिनकी तरफ से नीत्शे ने घोषणा की थी : "मनुष्य ऐसे जी सके कि पुनर्जन्म की ईहा हो।" ब्रह्मवैवर्त का आख्यान इन्द्र से वयस्क होने की प्रार्थना करता है, ऐसी प्रार्थना जो निरंतर नये खिलौनों की माँग की अनर्थता दिखाकर की गयी है। [७८] 'इटरनल रिकरेन्स'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ईहा अस्तित्व को लकीर का फकीर मात्र बना सकती है, नित्य कर्म की तरह इस हद तक नीरस कि जीवट मनुष्य के हौसले निःशेष हो जायें। ब्रह्मवैवर्तपुराण का आख्यान इन्द्र को मनन करने को बाध्य करता है कि क्या हो सकने के लिए वे अस्तित्व लिए थे और कैसे एक सिंह की भांति विषय-जाल में फँस कर रह गये।[७९] इन्द्र की योजना थी दिलेर आर्यों लायक नगर स्थापित करने की, उन आर्यों लायक नगर जो किन्हीं पारभौतिक कारणों से आप्तकाम सत् को खो कर उसी सत् तक पहुँचने का इतिहास सम्पूर्ण करने चले थे। भविष्यता को अर्पित अस्तित्व को भोगते हुए वे भविष्यता का अन्त कर देना चाहते थे, काल और इतिहास के मारक होते हुए वे संसार को काल में ही अकाल कर देना चाहते थे। यह जानकर कि अमर होने के प्रयास में वे पुनरपि मरेंगे, इन्द्र अपने नगर को त्याग संन्यास ले लेते हैं। अमर अस्तित्व के समर्थक इन्द्र एक क्षण भी जी सकने को मानहानि समझते हैं। इन्द्र या तो अनन्त तक संसारधारी रहेंगे, या फिर किसी भी विषय का क्षणमात्र भोग नहीं करेंगे। या तो अमर विषयी रहेंगे, या फिर मरने के लिए जन्म लेने को मानहानि समझने वाले आजीवकों की भांति लंगोटी बांध लेंगे।

पचम प्रभाग

किन्तु इन्द्र की वासना व्यर्थ नहीं। वासना से संजात विषाद उन्हें बृहस्पति की बात सुनने की प्रेरणा देता है। बृहस्पति प्रवृत्ति और निवृत्ति की बात करते हैं, प्रवृत्ति जिसकी भूमि अविद्या है, और निवृत्ति जिसका आधार निराकार सत् है। वेदान्त के अनुसार जिसका अन्त नहीं, उसका कोई अर्थ नहीं, जन्म लेने का गौरव मरने में है। अर्थमय अस्तित्व सदसत्–अनिर्वचनीयता न्याय पर टिका है, पुरुषार्थी जीवन इसीलिए सम्भव है कि यह नित्य और नित्य सत्य असत् दोनों से भिन्न है।[८०] इस न्याय के अनुसार विषयी अस्तित्व भोगने के पहिले ही बैरागी होना जीवन के प्रति सबसे बड़ी हिंसा है, और अनन्त तक अस्तित्व न त्यागने की ईहा सबसे बड़ी विषचिका। इतिहास में ही ईश्वर हो जाने के प्लेग से मुक्ति पाने के लिए ही तो अरिष्टनेमी ने इन्द्र द्वारा स्वर्ग में अमरत्व का निमन्त्रण अस्वीकार किया था। इसी अमरत्व की घुटन से तंग आकर ही तो नचिकेता ने यम से पूछा था : अमर अस्तित्व सौ वर्ष के पुरुषार्थी जीवन से किस मायने में श्रेष्ठतर है?[८१]

उपरोक्त प्रश्न अहं को भोगने और जय करने, प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल्य को पहिचानने की प्रार्थना है। प्रवृत्ति का अर्थ है, उद्योग, इन्द्रियों के माध्यम से विषयों में अनुरक्ति। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसकी आत्मता के मारक हैं, 'मैं यह हूँ' और 'यह मेरा है' की घोषणा के माध्यम।[८२] मनुष्य विषयी और भोगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में आत्मबोध करने चला है। इस आत्मबोध का दूसरा नाम प्रेयस् है, ऐसा आत्मानुराग जो प्रत्येक अनुराग में पूर्वाग्र है और समस्त व्यवहार में अन्तस्थ।[८३] यह पूर्वाग्री आत्मानुराग जन्म के रूप में शरीरी होता है, फिर शरीर के के माध्यम से स्वयं को ही प्रस्थापित करता है। शरीर के माध्यम से इस आत्म-बोध की प्रक्रिया का नाम पुरुषार्थ है।

जीवन में चार पुरुषार्थ हैं। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम का अर्थ है शरीर और मन में रतिभाव की तृप्ति। काम के महत्व को अथर्व वेद ने इस प्रकार स्वीकारा है: "आप कुछ में अन्तस्थ हैं, सर्वव्याप्त और महान् हैं। मैं आपका अभिवादन करता हूँ।" आत्मबोध की प्रक्रिया हिन्दू संस्कृति ने काम को ईश्वर का दर्जा दिया। किन्तु मनुष्य के रूप में मैं काम से भी बड़ा हूँ। धन और यश, अर्थ और अधिकार की वासना भी तो मेरे आत्मबोध के अंग हैं। इसी वासना से प्रेरित हो मैं अपने सामाजिक आयाम को पहचानता हूँ, अर्थ, नीति, युद्ध और शान्ति, राजनीति और रिवोल्यूशन करता हूँ। काम और अर्थ की तृप्ति धर्म के परिप्रेक्ष्य में, नैतिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में करता हूँ।

इन तीन पुरुषार्थों की तृप्ति करते करते मुझे बोध होता कि मैं वह नहीं रहा जो मैं था। म वृद्ध हो चला, और वानप्रस्थ लेता हूँ। मैं इस आत्म-प्रवंचना में नहीं पड़ता कि वृद्धावस्था एक आइडिया मात्र है, एक कानूनी प्रतिसंधिता जो एक उम्रविशेष में मुझे रिटायर कर देती है। जो लोग ऐसा सोचते हैं उनके मन में निरंतर शिशुता की ललक है। इस ललक का पूर्वाग्रह है कि व्यक्ति समाज से संजात है, और समाज के अतिरिक्त उसके अस्तित्व का कोई आयाम नहीं। वेदान्त के अनुसार मैं रिटायर होता हूँ, केवल इसलिए कि मैं समाज से बड़ा हूँ, समाज के पहिले और बाद में भी हूँ। आत्मबोध की खोज में मैंने उत्तम पुरुष की रीति में जन्म लिया, उत्तम पुरुष की रीति में ही अपने सामाजिक आयाम को पहिचानने के लिए रिश्ते नातों का जामा पहिना। अब जरूरत है कि अपने ही चेहरे को शीशे में देखूं और पूछूं: लोग जो और जितना मुझे समझते हैं, क्या मैं वही और उतना ही हूँ?

इस प्रश्न के उत्तर में मैं अपने उस आयाम की खोज में निकलता हूँ जिसे समाज और इतिहास नहीं दे सकते। उत्तम पुरुष में भोगे अस्तित्व से पार जाने की इच्छा का नाम संन्यास है। उस ईहा से पार जिसके चलते मैंने स्वयं को स्वयं से इतर विषयों का धारी और भोगी होकर पहिचाना था। अब मैं भारतीय या अमेरिकन नहीं। वैसा अस्तित्व तो घटाकाशमात्र था, 'मैं' और 'मेरा' कह सकने के लिए बृहत्तर आकाश का घेराव था। अब तो 'मैं' और 'मेरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आप' 'मेरे' और 'तेरे' की दीवाल ढह गई, न तो मैं किसी का रहा और न कोई मेरा। 'मैं यह हूँ' का चोला उतर गया, फलतः आत्मस्थापन का माध्यम यह शरीर अतिरिक्त हो चला। [८४] मैं न मोटा हूँ न पतला, न दीर्घ न हूँ न अदीर्घ, न युवा हूँ न वृद्ध। [८५] अब तो जो मैं नहीं हूँ वह हो सकने के लिए जो मैं था वह नहीं रहने की बात ही नहीं उठती। मैं काल और इतिहास का मारक न रहा, वह कर्मी अहं-पुरुष जो कुछ हो सकने के लिए आगत और अनागत को जोड़ता था। अब मैं आगत और अनागत से विलग बेहद वर्तमान मात्रता हूँ, नीरव और स्थिर। अब तो मैं कहीं से आ नहीं रहा इसलिए कहीं जा नहीं रहा हूँ, न कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, न सुखी हूँ न दुःखी हूँ, न योगी हूँ न वियोगी हूँ। श्रुतियों और स्मृतियों को न पढ़ता हूँ न सुनता हूँ, और न दार्शनिक पक्ष और प्रतिपक्ष की बात ही सोचता हूँ। मैं तो उचित और अनुचित, ज्ञात और अज्ञात, सत्य और मिथ्या के अस्तित्व से ऊपर उठ गया। मेरे न तो हाथ है न पैर, न श्वास है न प्रश्वास, न भाषा है न विचार। मैं तो आकाश मात्र हूँ, आदि और अनन्त सत्ता मात्रता हूँ। मैं अज हूँ, ओम् नाम वाली वह सत्ता हूँ जो अजन्मा होने के कारण अमर्त्य है। इसीलिए तो मुझे मौत का गम नहीं। मेरा शरीर और उत्तम पुरुष में भोगा सम्बन्धार्थ संसार तो निराकार सत्ता मात्रता या असाध्य थे। अब तो मैं अत्र और तत्र, यदा और कदा की सीमा से मुक्त हूँ। मेरे लिए वस्तु का, देश और विदेश का भेद व्यर्थ है। जहाँ भी और जब कभी मैं मरूंगा तो सत्तामात्रता में निराकार हो जाऊंगा, उस सत्मात्र निरपेक्षता में जो सर्वत्र है, सदा है और सदैव से समस्त है।

ऐसा है यह निवृत्तिमार्ग, जीवन का चतुर्थ और अन्तिम पुरुषार्थ। इसके अनुसार मृत्यु भौतिक या 'नेचुरल' नहीं। बिना किसी का शरीर हुए कोई शरीर नहीं होता, ऐसा कोई शरीर नहीं जो किसी का भी शरीर नहीं। भौतिक शरीर अवश्य है, किन्तु यह मरता नहीं, इसका केवल आकार परिवर्तन होता है। वस्तुतः 'मैं यह हूँ' कहने का माध्यम ही मरता है, 'यह मैं हूँ' कह सकने की असमर्थता के अतिरिक्त मृत्यु कुछ नहीं। [८६] वेदान्त के अनुसार मर सकने की समर्थता में ही मरने का गौरव है। इस गरिमामय मरण को निष्क्रमण कहा गया है, 'मैं' और 'मेरे' की वासना से ऐसी निर्गति की पुनर्जन्म की लालसा न हो। इसीलिए तो मृत्यु 'एब्सर्ड' नहीं, ऐसी अवांछित घटना नहीं जो मेरे ऊपर अध्यासित हो। मैं मृत्यु का वरण करता हूँ। जीवेम शरदः शतम् के बाद मृत्युवरण ही मुक्ति है, अमरत्व और 'इटरनल रिकेरेन्स' के घुटन से मुक्ति। [८७]

अब हम सारांश देंगे। हमने देखा कि मनुष्य वस्तु जगत् और भौतिक मृत्यु को तदर्थ स्वीकार नहीं करता। विकल्पों के माध्यम से मनुष्य मूल्यों का संसार रचता है, आत्मपरिभाषा देता है, और फिर उस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्वीकारता और नकारता है। अतः मृत्यु समवायी जीवन को आकार और रीति देने की समस्या है जिसे वेदान्त ने अध्यारोप अपवाद न्याय के परिप्रेक्ष्य में समझा और स्वीकारा है। इस न्याय के अनुसार अविद्या संकल्पशक्ति है जो निराकार सत् का आवरण कर तद्प्रदेश में संकल्पी अहंपुरुष को अस्तित्ववान् करती है। अविद्या इस सत्य का द्योतक है कि उत्तम पुरुष में विषयी होने की इच्छा पूर्वाग्र है। इस इच्छा के चलते मनुष्य संसार और इतिहास को अपनी ही कर्मकथा के रूप में स्वीकारता है। अविद्या "बैडफेथ" के खिलाफ युक्ति है, और इस सत्य का समर्थन करती है कि अपने ही विषयी आयाम को पहिचानने के लिए ही मनुष्य ने संसार और इतिहास को स्वीकारा है। संसार ट्रान्सेण्डेण्टल नार्सीजिज्म का, पारभौतिक आत्मानुक्ति का परिणाम है, एक ऐसा गतिमान् मुकुर जिसे मनुष्य अपना ही चेहरा देखने के लिए बनाता जा रहा है। किन्तु व्यक्तिविशेष का फर्ज़ है कि चेहरे को देखकर शीशे को बन्द कर दे और उस निराकार सत् का ध्यान करे जिसके विस्मरण के परिणामस्वरूप वह अहंपुरुष हो सका। ८८ इसके पहिले कि समाज उसे अनुपयोगी सिद्ध कर उसकी मानहानि करे, व्यक्ति अपनी निराकार सत्ता का ध्यान कर समय और समाज से बड़ा हो जाय। ८९ अस्तित्व वासना अवश्य है, केवल यह वासना अत्यन्त शिव है। मृत्यु-वरण भी वासना है, केवल यह वासना अतीत आनन्दमयी है। ९० वेदान्त के अनुसार मनुष्य की योनि में जन्म न ले सकना सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, दूसरा बड़ा दुर्भाग्य है मृत्यु-वरण न कर सकना।

—**विभूतिसिंह यादव**

टेम्पल विश्वविद्यालय
कॉलेज ऑफ लिबरल आर्टस्
डिपार्पमेंट ऑफ रिलिजन
फिलाडेल्फिया
पेन्सिल्वानिया १९१२२ (यू. एस्. ए.)

टिप्पणियाँ

१. नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितम् – – – सर्वमेव परित्यज्य त्यजताम् कलेवरम्।

योगवासिष्ठ, वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर (बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, १९३७ भाग १, पृ. २७-६९ अनुवाद करते समय यथास्थान **तात्पर्य प्रकाश** नामक भाष्य के वाक्यों को भी मूल वाक्यों के साथ रख दिया गया है। भाष्य-वाक्य दार्शनिक बातों को मूल वाक्यों की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. स्व संकल्पवशात् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते । पणशीकर, **योगवासिष्ठ** (यो वा.), **भाग** १, पृ. ७५
३. **वही**, पृ. ७६
४. अव्यावृताननुगतः पूर्ण : स्वात्मन्यवस्थितः ।
विद्यारण्य स्वामी, **बृहदारण्यक वार्तिक सार** (बृ. वा. सा.), (काशी सं. १८९७), भाग १, पृ. ९८२
५. निधर्मकं तु ब्रह्म । **वही**, पृ. ९९२
६. अमात्रो – – – अव्यवहार्यं इतीदृशात् । **वही**, पृ ६८
७. विदिताविदिताभ्यां तदन्यदेवेति शास्त्रगीः । **वही**, पृ. ९९३
८. भावाभावो भय ध्वंसि ब्रह्म वेद्यं ततः श्रुतिः, **वही**, भाग २, पृ. १८०७
९. शंकराचार्य, **सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारसंग्रह** (स. सि. सं.) (वाराणसी : संवत् २०१८), पृ. ११७
१०. कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं किंचित्भेदं न तस्यास्ति । **वही**, पृ. १५१
११. नाऽभावोऽपि प्रसज्येत नेति नेति वीप्सया । **बृ. वा सा.**, भा. १, पृ. ९८८
१२. अतोऽन्यस्यापि न हेयमुपदेयम् वा । अन्याभावश्च । शंकराचार्य, **कठभाष्य** १:४
१३. वेदान्तवाक्यानां अथ वाचामगोचर : । श्रीराम शर्मा (सं.) **योगवासिष्ठ** (बरेली : संस्कृति संस्थान, १९७५), भा. १, पृ. ३६०
१४. Salvan, Jacques; The Scandalous Ghost (Detroit, Wayne State University Press, 1967) p. 118.
१५. काल त्रयेऽपि – – – वस्तुतो नैव कश्चन । **स. सि. सं.** पृ. ११७
१६. अस्तितामात्रं निरंजनं निरवयम् । शंकराचार्य, **छान्दोग्य भाष्य**, ६. २. १
१७. सत्तामात्रं समरसमेकं । **स. सि. सं**, पृ. १२९
१८. सर्वज्ञः सर्वसम्बन्धो गत्याभावात्र गच्छति । शर्मा, यो. **वा.**, भाग १, पृ.३६०
१९. संकल्प वासनाजालै : स्वरेवयाति बन्धनम् । **वही**, पृ. ३९५
२०. **बृ. वा. सा.**, भाग १, पृ. ९८२
२१. निष्कलं निष्क्रियं शान्तं – – – – । स. सि. स., पृ. २९ ।
२२. तृष्णादि – – – असंभवात् भ्रमः । **छान्दोग्य भाष्य**, ७. २३. १
२३. यः स्वरूपेऽपि निर्भाग्य : कथम् सोऽन्यत्र सिद्ध्यति । **बृ. वा. सा.** भा. १, पृ. ९९४
२४. शंकराचार्य, **तैत्तिरीय भाष्य**, २. १
२५. नायमात्मा कुतश्चिद् बभूव न प्रभूतः । शंकराचार्य, **क. भाष्य**, २.१८
२६. **माण्डूक्य कारिका**, ३. ५.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७. Langer, Susan; Philosophy in a New Key, (Cambridge : Harvard University Press, (1974) p. 3.

२८ प्रदीपः सर्वविद्यानां – – – – । ढुण्ढिराज शास्त्री (स.) **न्याय दर्शनम्** (वाराणसी : चौखम्भा, १९७९), पृ. १५

२९. **वही**, पृ. १–१६

३०. परमकारुणिको मुनिः प्राणिनाय । केशव मिश्र, **तर्क-भाषा** (वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १९६४), पृ. ५

३१. परीक्षितानि प्रमाणनि प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते । **न्याय दर्शनम्** पृ. ३९३

३२. Milton, Munitz, Language, Belief and Metaphysics (Albany : State University, A New York Press, 1970) p. 239.

३३. Bibhuti S Yadav, "Negation Nirvana and Non-sense", Journal, American Academy, A Religion, XLV 4 (1977) p. 452-4.

३४. न बुद्धिमन्तः पृच्छन्ति न जानामीति वादिनम् । **बृ. वा. सा.** भाग १, पृ.९३३

३५. कुतो जातोऽयमिति ते राम मास्तु ते विचारणा ।
शर्मा, **यो. वा.**, भाग १, पृ. ५१२

३६. न्यायेन इति परामर्शो विचार इति कथ्यते ।

३७. काकतालीय योगेन संजीतोऽस्ति मूढैव हि ।
पणशीकर, **यो. वा.**, भाग १, पृ. ५३०

३८. दुर्घटनां नियामकम् । **बृ. वा. सा**, भाग १, पृ. ९३३

३९. विचारासहत्वं चाविद्याया अलंकारेव । विद्यारण्य स्वामी, **विवरण प्रमेय संग्रह** (काशी : अच्युत ग्रन्थमाला, सं. १९९८), पृ. १७५

४०. लोककार्यविशेषाणां तमएव नियामकम् । **बृ. वा. सा.**, भाग १, पृ. ९३२

४१. तस्य मानाभि सम्बन्धो न बालेनापि शम्यते । **बृ. वा. सा.**, भा. १, पृ. ९१०

४२. अध्यासात् एव संसार : **स. सि. सं.** पृ. ७८

४३. विक्षेपनाम्नि रजस्तु प्रवृत्ति हेतु पुरुषस्य । **वही**, पृ. ७७

४४. इमौ द्वौ एव पन्थानौ । शंकराचार्य, **गीताभाष्य**, १३. २

४५. कर्मज्ञानं वा मोक्षसाधनम्, पणशीकर, **यो. वा.**, भा १, पृ. ३

४६. **तात्पर्य प्रकाश**, पृ. ४

४७. **वही** पृ. ४

४८. **वही**, पृ. १२–१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४९. संकल्पबीज वृक्षस्याविद्याया बीजोद्भवम् । विषयाकार संकल्पपरम्परा---। वही, पृ. ५३०
५०. स्वरूपविस्मरणं तद्योगेन – – – बाह्य कल्पनोमुखायाः । वही पृ. ३५६
५१. मम पुत्रो – – – सोऽहमिदं वासनैव विवल्गति । शर्मा, **यो. वा.**, भाग १, पृ. ४३३
५२. कर्त्तुरिप्सिततम् कर्म । कालनाथ झा, **कारक दर्शनम्** (वाराणसी : चौखम्भा, १९६९), पृ. १
५३. स्वातन्त्र्यं धात्वर्थ पराश्रयत्वम् । **वही**, पृ ४२
५४. बुद्धि संकल्पकलिता प्रयाति । शर्मा, **यो. वा.**, भा. १, पृ ५१५
५५. क्वचिद् विष्णुः क्वचिद् ब्रह्मा – – – । **वही**, भाग २, पृ. ३४
५६. अहन्त्व बीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्रुग : । **वही**, भा. २, पृ. २६२
५७. कामो दाता कामः प्रतिगृहीता । **यजुर्वेद** ७. ४८
५८. अहमयर्योदयो योऽयम् स चित्त वेदनात्मकः । शर्मा, **यो. वा.**, भा. २, पृ. २१५
५९. अहंभावोऽहंङकारो जन्म – – – ममेदमिति विस्तीर्णास्तेषां – – – । **वही**, भा. १–४९८
६०. एवं जीवां ही संकल्प वासना रज्जुवेष्टितः, **वही**, पृ. ५१५
६१. पुनरपि जननं पुनरपि मरणम् । शंकराचार्य, **भजगोविन्दम्** (मद्रास : गणेश एण्ड कं., १९६२), पृ. ५२
६२. मदर्था एवाभि विषया : । मुसलगांवकर (सं.) **सांख्यतत्व कौमुदी** (वाराणसी : चौखम्भा, १९७१), पृ. १८४
६३. यावद् ममेदं इति आस्था । शर्मा, **यो. वा.**, भा. २, ६. १५
६४. आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । **सांख्यतत्व कौमुदी**, पृ. २०४ ।
६५ पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् । शंकर, **भजगोविन्दम्**, पृ. ५२
६६. क्वचिद् स्वर्ग विलासिनी, क्वचिद् सुरपदं प्राप्ता । शर्मा, **यो. वा.**, भा. पृ. ३४
६७. निमेषोन्मेषयोर्वापि तथैव ज्ञान कर्मयोः । **स. सि. सं.**, पृ. १३९
६८. प्रतीचीं पश्यतां पूंसां कथं प्राची विलोकनं । **वही**, पृ १३९
६९. जरामरणम् पुनः पुनः । शर्मा, **यो. वा.** भा. २, पृ, २७ ।
७०. Zimmer, H; The Signs and Symbols in Indian Art and Civilization (Princeton : Princeton University Press, 1974) p. 3–11.
७१. स्फुरति ·· ··· ···गच्छति··· ··· भ्रमति संहरति स्वयं । शर्मा, **यो. वा.**, भा. १, पृ. २६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७२. पलायते यत्पुरुषः स्वात्ममानं प्रहरन्स्वयम्। **वही**, पृ. ३६५
७३. दूरं दूरमितोगत्वासेत्य च पुनः पुनः। **वही** पृ. १४१
७४. यद्येन वर्धते तेन नाशस्तस्य न सिध्यति। **स. सि. सं.**, पृ. ८०
७५. यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, **ऋग्वेदका सुबोध भाष्य** (परदी १९६७), भाग २, पृ. ३०
७६. तस्मात् परांगपश्यति नान्तरात्मा। **वहो**, पृ.७
७७. **वही**, भा. १, पृ. २०९ .
७८. घनाहंकारता गतम्। शर्मा, **यो. वा.**, भा. १, पृ. ५१५
७.९ तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंह शृंखलया यथा। **वही**, पृ. ४९०
८०. भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः। **वही**, पृ. ३८४
८१. अति दीर्घे जीविते को रमेत। **कठउपनिषद्**, १. १. २८
८२. देहादि अभिमानात्। राजा राधाकान्त देव, **शब्दकल्पद्रुम** (दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, १९६१), भाग ३, पृ. २१६
८३. अतिशयेन प्रियः। तारानाथ तर्कवाचस्पति, **वाचस्पत्य** (कलकत्ता : १८७३) भा. ५, पृ. ४५४०
८४. शंकराचार्य, **स. सि. सं**, पृ. १२०
८५. नाहंस्थूलो न दीर्घो नापि वृद्धः। **वही**, पृ. १२८
८६. आत्मनस्तिरोधानमात्रं मरणं इत्यर्थः। **तात्पर्यप्रकाश**, पृ. ३७०
८७. हा हतोऽस्मि··· ··· ···गतोस्मि इति पुनः पुनः। **वही**, पृ. ५६८
८८. स्वरूपविस्मरण तद् योगेन ··· ··· ···। **वही**, पृ. ३५६
८९. संसार वृत्तयो मुक्ता इदानीं विश्राम्यहं। पणशिकर, **यो. वा.**, भा. १, पृ. ५६८
९०. मनसैव मनश्चित्वा पार्थ परमबन्धनम्। **वही**, पृ. ३८९

० ० ०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री अरविन्द की उदात्त कल्पनाओं के सन्दर्भ में आचार्य शंकर

प्रस्तुत निबन्ध में श्री अरविन्द की उन कतिपय दार्शनिक मान्यताओं पर अपना विचार व्यक्त करना चाहता हूँ जिनका श्री शङ्कराचार्य के अद्वैत दर्शन से सीधा सम्बन्ध है।

(१)

योगिराज श्री अरविन्द के विशाल व्यक्तित्व एवम् सर्वतोमुखी विशिष्ट प्रतिमा से हम आप पूर्ण परिचित हैं। भारत राष्ट्र के पूर्ण विकास एवम् समृद्धि की उनकी उदात्त कल्पना भावुक जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

श्री अरविन्द ने उन सभी पहलुओं पर विवेचन पूर्वक अपना उदात्त दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिनका अनुसरण अपनी जगद्गुरुता सुप्रतिष्ठित रखने की दृष्टि से भारत के लिये अनिवार्य है।

इसी सन्दर्भ में श्री अरविन्द ने अपना दर्शन तथा राष्ट्रीयता का परस्पर पूरक रूप में घनिष्ट एवम् स्निग्ध सम्बन्ध है। दर्शन का मुख्य प्रयोजन मानव को वास्तविक रूप में राष्टीय बनाना ही है। इसी लिये यथार्थ दर्शन का उद्भव राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत महापुरुष के हृदय में ही होता है। न्यायदर्शन का उद्भव महर्षि गौतम के हृदय में क्यों हुआ, इसे स्पष्ट करते हुए श्री गङ्गेशोपाध्याय तत्त्वचिन्तामणि के प्रारम्भ में लिखते हैं–

"अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुः अष्टादश विद्यास्थानेषु अभ्यर्हिततमान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनाय।"

इसका आशय स्पष्ट है कि परमकरुणिक मुनि के हृदय में ही दर्शन का आविर्भाव होता है। यह परम कारुणिकता स्थावर जङ्गमात्मक संसार मात्र के प्रति आवश्यक है। ऐसी परम कारुणिकता किसी महान् राष्ट्रप्रेमी, राष्ट्रियता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्त भावना से ओत-प्रोत महापुरुष में ही सम्भव है। ऐसा महापुरुष ही दुःखपङ्कनिमग्न संसार मात्र के उद्धार की पवित्रतम भावना से सही अर्थ में भावित हो सकता है।

यही स्थिति समग्र भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में है। श्री अरविन्द में भी हम ऐसी भावना का दर्शन करते हैं। वे उच्च कोटि के राष्ट्रीयतावादी हैं। उनकी राष्ट्रियता मानवमात्र के लिये हे। भारत उनकी दृष्टि से एक चिन्मय तत्त्व है। उनका स्पष्ट मत है कि भारत ही दिव्यजीवन का सन्देश चतुर्दिक् फैलेगा; अतः भारत का महत्त्व आन्तरराष्ट्रीय है। श्री अरविन्द की यह दिव्यजीवन की कल्पना अनन्य साधारण है। वे मानते हैं कि शीघ्र ही अतिमानव या दिव्य मानव का जन्म होने वाला है, उस समय विज्ञान, कला तथा राजनीति का स्वरूप बदल जायगा। वे सभी दिव्यजीवन के साधन हो जायेंगे। अति मानव के अवतरण से शरीर प्राण तथा मन का परिवर्तन होगा और सभी व्यक्ति एकत्व एवम् आनन्द का अनुभव करेंगे। श्री अरविन्द की इस परम उदात्त कल्पना से हमें यह स्पष्ट आभास हो रहा है कि उनके दर्शन का लक्ष्य कितना मङ्गलमय एवम् पुनीत है।

(२)

अरविन्द का दिव्यकल्पनालोक

योगिराज अरविन्द प्रथम कवि हैं, अनन्तर दार्शनिक। कविहृदय एवम् दार्शनिक हृदय का अद्भुत सम्मिश्रण हमें श्री अरविन्द में देखने को मिलता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कविहृदय ने दार्शनिक हृदय को पराभूत कर लिया है। कवि की भारती का स्वरूप स्पष्ट है:—

" नियतिकृतनियमरहितां ल्हादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ "

(मम्मट, काव्यप्रकाश)

निश्चित ही कवि की उदात्त दिव्य कल्पनाओं पर कोई भी अङ्कुश नहीं लगा सकता। सम्भवतः कवि का उदार, स्पृहणीय, काल्पनिक जगत्, कल्पना के किसी दिव्य धरातल पर ही अपने अनुपमेय स्फीत रूप में अनुभूत होता है। वह यदि इस व्यावहारिक धरातल पर आये तो अवश्य ही मलिन हो जायगा।

कविहृदय श्री अरविन्द के दर्शन में ऐसी ही स्पृहणीय कल्पनाएँ हैं। उनका भाव-प्रवण कविहृदय जिस दिव्य कल्पनालोक में जगत् का दिव्यीकरण जिस पूर्णाद्वैतवाद के द्वारा करना चाहता है वह सचमुच ही तर्क के निकष पर कुछ असम्भव सा दीखता है और यह शोभा की ही बात होनी चाहिए:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

" नैषा तर्केण मतिरापनेया "

पर उनका पूर्ण योग इस तर्काप्रतिष्ठित तत्त्व का लाभ अवश्य करायेगा यह विश्वास हम लोगों को करना ही चाहिए।

(३)

शाङ्कर दर्शन के सन्दर्भ में अरविन्द

अरविन्द अतीम करुणा तथा भावुकता से ओत-प्रोत हैं। उनका करुणापूर्ण भावुक हृदय यह स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं है कि जगत् असत्य है। किसी को असत्य स्वीकार करना उन्हें अनुचित प्रतीत होता है। इसीलिए 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस शाङ्कर-अद्वैत की मान्यता को वे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यही उचित है और इसके आधार पर जगत् भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।

पर मैंने शङ्कर के अद्वैत को जितना समझा है, उस के अनुसार शङ्कर भी जगत् को असत्य नहीं मानते। जब उपनिषद् का स्पष्ट उद्घोष है–" सर्वं खल्विदं ब्रह्म– " सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है, तब जगत् भी ब्रह्म ही है; क्यों कि 'इदं सर्वम्' का अर्थ जगत् ही है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् को परम प्रमाण स्वीकार करने वाले शङ्कर जगत् को मिथ्या कैसे मान सकते हैं ?

कहा जा सकता है कि शङ्कराचार्य की यह भी स्पष्ट मान्यता है–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथा।' इस के अनुसार तो उनकी दृष्टि में जगत् मिथ्या है ही; पर इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि शङ्कराचार्य 'जगन्मिथा' मानते हुए जगत् को जगत् रूप में मिथ्या मानते हैं न कि ब्रह्म रूप में। किसी भी वस्तु का अपने वास्तविक रूप में सत्य होने के साथ अन्य अवास्तविक रूप में असत्य होना निर्विकार सिद्ध है। रज्जु रज्जु रूप से सत्य है, सर्प रूप से तो असत्य ही है। जगत् रूप में जगत् का मिथ्या या असत्य होना प्रमाणसिद्ध है। कम से कम अद्वैत-वादी की दृष्टि से तो इस में विवाद या मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। शङ्कर के अनुसार सत्य, वस्तु, ब्रह्म–ये सब पर्यायवाची शब्द हैं और इन शब्दों का अर्थ है–कालत्रयानपायी आत्मा (तीनों काल में नष्ट होनेवाला आत्मतत्त्व)।

जगत् जिस रूप में हमें दीख रहा है उस रूप में कथमपि कालत्रयानपायी नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। अतः अपने प्रत्यक्ष दृश्यमान रूप में जगत् अवस्तु, असत्य, मिथ्या है ही। अरविन्द भी कालत्रयानपायी रूप में जगत् को सत्य नहीं मानते। वे जगत् की सत्यता इस रूप में मानते हैं कि उस में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्‌शक्ति अन्तर्व्याप्त है। यह जगत् सत्य ब्रह्म की लीला रूप में एक सत्य परिणाम है, मात्र इस में चेतना तिरोभूत है। यह सब शङ्कर को प्रकारान्तर से मान्य है, अधिकांशतः स्वीकार्य है। कालत्रयानपायिता न होने मात्र से जगत् का अपने रूप में असत्यत्व उन्हें अभिप्रेत है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'– ब्रह्म ही एक मात्र अद्वितीय तत्त्व है, इस तथ्य का पूर्ण समर्थन अरविन्द करते ही हैं। ऐसी स्थिति में शङ्कर एवम् अरविन्द की जगत् के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ है उन में परस्पर विरोध की कोई सम्भावना ही नहीं है।

यदि सब सत्य ही मान लिया जाय तो सत्य-असत्य के व्यवहार का आधार क्या होगा ? निरपेक्ष सत्यता एवम् सापेक्ष सत्यता ही सही, पर कुछ भेद तो 'सत्य-असत्य' व्यवहार के लिए व्यवहारिक जगत् में स्वीकार करना ही होगा और वही एकमेव अद्वितीय तत्त्व के निर्णय का आधार होगा।

(४)

शङ्कर का मायावाद एवम् अरविन्द

शङ्कर के मायावाद की चर्चा 'दिव्यजीवन' में पर्याप्त रूप से की गयी है। जगत् का उपादान कारण माया-अज्ञान है, यह शङ्कर की मान्यता श्री अरविन्द के कारुणिक कविहृदय को खटकती है। वह ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार करना चाहता है। वास्तव में शङ्कर के दृष्टिकोण को सही रूप में हृदयङ्गम करने की आवश्यकता है। शङ्कर अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादी हैं। उन के अनुसार जगत् का निमित्त एवम् उपादान कारण अभिन्न एक है और वह ब्रह्म ही है। उनके दर्शन में स्पष्ट उल्लेख है :–

"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया चोपादनं भवति। यथ लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया चोपादानं भवति।"

(वेदान्तसार, सदानन्द)

इस का आशय यह है कि जैसे लूता (मकड़ी) जालरूप कार्य के प्रति अपने चैतन्य की प्रधानता से निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण है, वैसे ही आवरण एवम् विक्षेपशक्ति से विशिष्ट अज्ञानरूप उपाधि से उपहित ब्रह्म अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्तकारण तया अपनी उपाधि अज्ञान की प्रधानता से उपादान कारण होता है।

इसके अनुसार स्पष्ट है कि शङ्कर के मत में भी ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। अन्तर इतना ही है कि ब्रह्म की उपादान कारणता उन्होंने अज्ञान-माया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रधानता से स्वीकार की है और यह भी इसलिए कि अद्वैत या पूर्णद्वैत प्रतिष्ठित हो सके। अन्यथा एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, 'सब कुछ ब्रह्म ही है' यह तथ्य प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा; क्योंकि यदि ब्रह्म अपनी प्रधानता से ही जगत् को उपादान कारण माना जायगा तो प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं है क्यों कि वह कूटस्थ है। कदाचित् ऐसा सम्भव हो तो भी ब्रह्म एवम् जगत् ये दो वस्तु कालत्रयानपायी रूप में सत्य होंगी फलतः द्वैत के प्रतिष्ठित हो जाने से शङ्कर के अद्वैत तथा अरविन्द के पूर्णद्वैत की प्रतिज्ञा असम्भव होगी।

(५)

रज्जु-सर्प का दृष्टान्त

ब्रह्म एवं उससे भिन्न रूप में प्रतीयमान जगत् के मध्य अज्ञान-माया को कारण रूप में स्वीकार कर शङ्कर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि एक मात्र सत्य सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान से ज्ञात जगत् ठीक उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में सत्य रज्जु में अज्ञान के द्वारा सर्प कल्पित होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि रज्जु के स्थान पर ब्रह्म को तथा सर्प के स्थान पर जगत् को समझना चाहिए। फलतः रज्जु में सर्प को काल्पनिक सत्ता के समान ही ब्रह्म में जगत् की काल्पनिक सत्ता मात्र है। इस से यह तथ्य अति स्पष्ट हो जाता है कि जैसे रज्जु की सत्ता से अतिरिक्त सर्प की सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त जगत् की सत्ता नहीं है। इस तथ्य का सुपरिणाम यह है कि जिस अज्ञान के कारण ब्रह्म में जगत् कल्पित है उस अज्ञान की ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होने मात्र से सत् चित्-आनन्दमय ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति स्वतः हो जाती है। इस के लिए पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं होती तथा यथार्थतः सब कुछ ब्रह्म ही है—यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है।

यदि ब्रह्म एवम् जगत् के बीच अज्ञान को कारण रूप में न स्वीकार किया जाए तो रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के द्वारा शङ्कर ब्रह्म मात्र की वास्तविक (पारमार्थिक) सत्ता सिद्ध कर जिस अद्वैत की सुप्रतिष्ठा चाहते हैं वह न हो सकेगी तथा अरविन्द का पूर्णद्वैतवाद स्वप्नमात्राही रह जायगा।

(६)

स्वर्ण-अलङ्कार का दृष्टान्त

श्री अरविन्द शङ्कर के मायावाद को ही अस्वीकार करते हुए ब्रह्म से जगत् की उपत्ति के लिए स्वर्ण-अलङ्कार को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टान्त के अनुसार स्वर्ण के स्थान पर ब्रह्म है तथा अलङ्कार के स्थान पर जगत्। क्या ऐसा मानने पर जैसे स्वर्ण की अपेक्षा उससे निर्मित अलङ्कार अधिक शोभाशील एवम् शोभाधायक होता है वैसे ही जगत् में भी ब्रह्म की अपेक्षा अधिक शोभा एवम् शोभाधायकता सिद्ध नही होती? फलतः ब्रह्म से भी उत्कृष्ट जगत् सिद्ध न होगा? यदि यही इष्ट हैं तो 'पूर्णाद्वैतवाद' का अर्थ क्या है? तब अद्वैत कहाँ रहा? तब तो जैसे स्वर्ण-अलङ्कार दोनों ही पूर्ण सत्य रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं वैसे ही ब्रह्म एवं जगत् दोनों ही स्वतन्त्र रूप में पूर्ण अस्तित्व से सम्पन्न हो कर रहेंगे। ऐसी स्थिति में पूर्ण द्वैतवाद सिद्ध होगा न कि पूर्ण अद्वैतवाद।

यदि श्री अरविन्द का तात्पर्य यह माना जाय कि जैसे अलङ्कार की प्रकृति स्वर्ण ही है अतः परमार्थतः सद् स्वर्णतत्त्व मात्र होने से स्वर्ण एवम् अलङ्कार में पूर्ण अद्वैत है वैसे ही जगत् की प्रकृति ब्रह्म मात्र होने से पूर्ण अद्वैत सिद्ध होता है; तब भी यह प्रश्न उठता है कि उनके अनुसार जगत् में चेतना तिरोभूत क्यों है? जैसे स्वर्ण के परिष्कृत रूप अलङ्कार में अधिक शोभा है वैसे ही ब्रह्म के परिष्कृत रूप जगत् में चेतना का अधिकाधिक विकास उपलब्ध होना चाहिए। उसके तिरोभूत होने का तो कोई कारण प्रतीत नही होता।

(७)

बाह्य रूप में जगत् अदिव्य क्यों?

सत् चिद्घन ब्रह्म से उत्पन्न जगत् बाह्य रूप में अदिव्य क्यों? इस प्रश्न का समाधान श्री अरविन्द के शब्दों में यह है–"मनुष्य अभी पार्थिव विकास की मध्यवर्त्ती भूमिका में है। मनुष्य के ऊपर देव सृष्टि है। अभी मनुष्य को देवता बनना है। इसी लोक में इसी शरीर से मनुष्य देवता बन जाएगा। पृथ्वी ही स्वर्ग हो जाएगी। अतिमन-दिव्यमन के अवतरण की आवश्यकता है। भू, प्राण और मन से बने मनुष्य में विज्ञान, आनन्द, चित् और सत् के समञ्जस संयोग से एक ऐसी दिव्य आनंदमय सृष्टि होनी सम्भव है जो अभी तक नहीं हुई है।"

श्री अरविन्द के इस समाधान से उनकी जगत् के सम्बन्ध में एक ऐसी भव्य एवम् परम उदात्त कल्पना हम लोगों के सम्मुख अवश्य अवतरित होती है जो किसी करुणामय हृदय से सम्पन्न महापुरुष के स्वभाव के अनुरूप है और जिस स्वर्णिम भविष्य में यह कल्पना साकार होगी उसकी प्रतीक्षा प्रत्येक मानव को उत्कट उत्कण्ठा से करनी चाहिए; पर तर्क के धरातल पर ये प्रश्न मेरी समझ में असमाधेय ही रह जाते हैं कि विशुद्ध चिद्घन ब्रह्म से उत्पन्न जगत् में मानव क्यों पार्थिव विकास की मध्य भूमिका में ही रह गया? क्यों देव सृष्टि के नीचे ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य मात्र रह गया ? देव-सृष्टि एवं मनुष्य-सृष्टि के रूप में वैषम्य क्यों ? ब्रह्म से तो दिव्य आनन्दमय ही सृष्टि होनी चाहिए, ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

शङ्कर के अनुसार तो इन प्रश्नों का समाधान बड़ी ही सुगमता से हो जाता है और वह व्यावहारिक धरातल पर तर्क के निकष पर खरा उतरता है। रज्जु-सर्प का दृष्टान्त यह स्पष्ट करता है कि वस्तु वास्तवरूप में कुछ और होती हुई भी अज्ञानवश अवास्तव रूप में कुछ और ही प्रतीत होती है। ठीक ऐसे ही ब्रह्म भी जीव के अज्ञानवश अवास्तव जगत् के रूप में उसे प्रतीत होता है और अज्ञानवश अवास्तव रूप में प्रतीयमान वस्तु का अदिव्य तथा अपेक्षित विकास से रहित होना स्वाभाविक ही है।

'सत् चिद्घन अद्वितीय ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ ही क्यों ?' इस प्रश्न का समाधान अरविन्द के अनुसार यह है– एकमेकवाद्वितीय ब्रह्म में एकत्व को बहुत्व में व्यक्त करने की शक्ति है। आनन्दमय ब्रह्म अपने एकत्वमय निष्क्रिय अनन्त स्वरूप का आनन्द तो सदा होता ही रहता है, परन्तु जब चाहता है तब बहुत्वमय सक्रिय स्वरूप का भी आनन्द लेता है। हम उसे अपनी सीमित बुद्धि से आदेश नहीं दे सकते कि तुम सक्रिय क्यों ? तुम बहु क्यों ? अनन्त तुम सान्त क्यों ?

एक भावुक कविहृदय की दृष्टि से यह समाधान सम्भवतः ठीक हो सकता है और अन्ततः भावनाप्रधान होकर ही हमें एक निष्कर्ष पर पहुँचना होता है, पर यथासम्भव तर्क के निकष पर समाधान को प्रमाणित करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह बात समझ में नहीं आती कि आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम कूटस्थ ब्रह्म में किसी प्रश्न की इच्छा ही क्यों उत्पन्न होगी ? और वह भी दुःखमय अदिव्य जगत् को उत्पन्न करने के लिए क्यों होगी ? शङ्कर के अनुसार तो उपर्युक्त प्रश्न का तर्कसङ्गत समाधान मिल जाता है कि अज्ञानमायारूप उपाधिवश ब्रह्म से यह सब सम्भव है। अज्ञान-भ्रम वश विभिन्न प्रकार के चित्र विचित्र कार्य हो जाया करते हैं। यह व्यवहार जगत् में प्रत्यक्षसिद्ध है ही।

(८)

परमध्येय एवम् विषयभोग

अरविन्द एवम् शङ्कर के मतभेद का एक मुख्य स्थल यह भी है कि शङ्कर तो परम ध्येय की प्राप्ति के लिए विषयत्याग को आवश्यक समझते हैं पर अरविन्द विषयभोग के साथ ही मानव को परमध्येय तक पहुँचा देने की बात करते हैं। वास्तव में शङ्कर का आग्रह विषय-त्याग के लिए उतना नहीं है, जितना कि विषयासक्ति के त्याग के लिए है। विषयासक्ति का त्याग यदि विषयभोग के साथ सम्भव हो तो शङ्कर का विषयभोग से कदापि विरोध नहीं है। सामान्यतः यह पाया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि विषयासक्ति के कारण ही विषयभोग में प्रवृत्ति होती है और सामान्य भूमिका के मानव को विषयासक्ति के निराकरण के लिए विषय में दोषदर्शनपूर्वक उसके त्याग के लिए अग्रसर होना ही पड़ता है। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर ही शङ्कर विषयत्याग पर बल देते हैं। यदि विषयभोग के साथ उस पर से आसक्ति मिटाने का अदम्य साहस मानव में है तो विषयभोग के साथ कोई विरोध नहीं ही होना चाहिए। पर यह कहाँ तक सम्भव है इस पर बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से दूर-दृष्टि अपना कर गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए।

(९]

अरविन्द दर्शन का अध्ययन

मेरी दृष्टि में अरविन्द का दर्शन शङ्कर के अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक एवम् पूरक रूप में एक प्रशस्त भूमिका का रूप ले सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि अरविन्द दर्शन के अध्येता शङ्कर के अद्वैत दर्शन को अच्छी प्रकार समझकर निष्पक्ष रूप से यथासम्भव अरविन्द की दार्शनिक मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास करें तथा उस दिशा में सोचें जिसके अनुसार यथासम्भव शङ्कर दर्शन के नवनीत के रूप में अरविन्द दर्शन एक बोधगम्य प्रशस्त भारतीय दर्शन का रूप ले कर जन जन के मानसपटल पर सुप्रतिष्ठित हो।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

— सुधाकर दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जगत् मिथ्या"–एक आलोचना

शंकर के अद्वैत दर्शन का केन्द्रीय वाक्य है–"ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या"। शंकर ने ब्रह्म को निरपेक्ष सत्य माना है और विश्व को उसके समक्ष भ्रम कहा है। 'ब्रह्म' निरपेक्ष, शुद्ध चेतना है। वह विशुद्ध ज्ञाता है।

"अहं ब्रह्मास्मि" तथा "तत्वमसि" आदि मन्त्र भी यही व्यक्त करते हैं कि परम तत्व अर्थात् 'ब्रह्म' विशुद्ध ज्ञाता है। विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता को स्वीकार करना एक बौद्धिक अनिवार्यता है। यद्यपि विशुद्ध ज्ञाता को कभी जाना नहीं जा सकता (अर्थात् उसे कभी ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता) क्योंकि स्वभावतः वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं, इसलिए ह्यूम जैसे सन्देहवादी ज्ञाता की सत्ता पर सन्देह करते हैं। किन्तु जैसा कि डेकार्ट ने 'Cogito ergo sum के माध्यम' से स्पष्ट किया था-सन्देह से भी सन्देही (अर्थात् ज्ञाता) का अस्तित्व सिद्ध ही होता है। अतएव सन्देह करके भी ज्ञाता सत्ता को मानना ही पड़ता है। इमैनुएल काण्ट को भी ज्ञान की व्याख्या करने की क्रम में विशुद्ध ज्ञाता (Transcendental Synthetic Unity of Pure Apperception) की सत्ता अपरिहार्य दिखी। आधुनिक भारतीय दार्शनिक श्री कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य ने भी सैद्धान्तिक चेतना (Theoretical Consciousness) के रूप में विशुद्ध ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार बौद्धिक अनिवार्यता को देखते हुए, शंकर द्वारा 'ब्रह्म सत्यम्' कहा जाना उचित ही है। किन्तु वे 'ब्रह्म सत्यम्' कहने के साथ आवश्यक रूप से जोड़ कर 'जगत् मिथ्या' भी कहते हैं, मानो एक की सत्यता से दूसरे की सत्यता तर्कतः आपादित (Logically Implied) होती हो। सामान्यतः ऐसा स्वीकार भी कर लिया गया है कि 'ब्रह्म सत्यम्' कहते ही 'जगत् मिथ्या' सिद्ध हो जाता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'ब्रह्म ज्ञान' में वैविध्य पूर्ण विश्व दृष्टिगोचर नहीं होता, सिर्फ शुद्ध, अभेद चैतन्य शेष रहता है और यह परमार्थतः सत्य है, अतएव विश्व को परमार्थतः सत्य नहीं माना जा सकता। उसकी सिर्फ व्यावहारिक सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वह मिथ्या या भ्रम है। ऊपर से देखने पर यह तर्क इतना साफ और सरल दीखता है जिसके विरुद्ध कुछ कहने का कोई उपाय नहीं हो सकता, लेकिन गहराई से छान-बीन करने पर पता चलता है कि 'जगत् मिथ्या' कह कर शंकर ने एक ऐसी समस्या को उत्पन्न कर दिया है जिसे उनकी अद्वैत दृष्टि से संगति रखते हुए सुलझाया ही नहीं जा सकता।

१. शंकर की दृष्टि में ब्रह्म अर्थात् शुद्ध-ज्ञाता एक परात्पर स्थिति Transcendental State है। वह समस्त विषयों से अतीत अवस्था है। जब समस्त विषयों से चेतना को मुक्त कर लिया जाता है तो ज्ञाता मात्र शेष रह जाता है। यही आत्मज्ञान है। शंकर का 'ब्रह्मज्ञान' या पारमार्थिक ज्ञान यही 'अपरोक्षानुभूति' है। किन्तु प्रश्न है कि चेतना को सम्पूर्ण विश्व के समस्त विषयों से हटा लेने पर विश्व मिथ्या या भ्रम कैसे हो जाता है? विषयों से चेतना को हटा लेने पर विषय तिरोहित हो जाते हैं–यह धारणा आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादियों (Subjective Indealists) की है। किन्तु शंकर आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी नहीं वरन् निरपेक्ष प्रत्ययवादी हैं। फिर भी यदि यह मान लें कि विश्व उनके लिए नष्ट हो गया जो ज्ञान (अर्थात् आत्मज्ञान) को उपलब्ध हो गए तो उनका उस स्थिति से सामान्य, व्यावहारिक ज्ञान के तल पर आना असम्भव होगा। जब वैविध्य समाप्त हो कर शुद्ध एकत्व की स्थिति उपलब्ध हो गयी तो उससे इतर विशेष का कोई कारण नहीं हो सकता। फिर भी ज्ञानी व्यावहारिक ज्ञान के तल पर आते और अपने मत का प्रचार करते हैं, तो यही सिद्ध होता है कि विश्व भ्रम नहीं है। इस आपत्ति का उत्तर वेदान्त में यह कह कर दिया जाता है कि आत्मज्ञान हो जाने पर व्यक्ति 'जीवन्मुक्त' हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों के चलते वह विश्व में अपनी आयु पूर्ण करता है। यह दलील भी एकदम लचर हैं। ज्ञान हो जाने के पश्चात् क्या प्रारब्ध कर्म शेष रह सकते हैं? शंकर की दृष्टि में मुक्त चेतना निर्विषय होती है, अतः वहां इन विषयों का कोई भी स्थान नहीं रह जाता। यदि प्रारब्ध कर्मों का आधार ज्ञाता चैतन्य के अतिरिक्त किसी और सत्ता, यथा–जड़ प्रकृति या परमात्मा को माना जाय तो अद्वैतवाद की जगह द्वैतवाद या कम-से-कम विशिष्टाद्वैत वाद आ जाएगा। इसके अतिरिक्त प्रारब्ध कर्मों के सम्बन्ध में एक और समस्या खड़ी हो जाती है; वह यह कि प्रारब्ध कर्मों को पारमार्थिक सत्य माना जाए या व्यावहारिक सत्य? शंकर की अद्वैत दृष्टि में शुद्ध अद्वय चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ परमार्थतः सत्य नहीं है और प्रारब्ध कर्म शुद्ध चैतन्य के तत्त्व नहीं माने जा सकते, अधिक-से-अधिक चेतना के विकार माने जा सकते हैं अतः वे सिर्फ व्यवहारतः सत्य हैं, परमार्थतः नहीं। तब ज्ञान होने पर भी यदि ज्ञाता पर प्रारब्ध कर्म प्रभाव डाल कर उसे व्यवहारिक विश्व में वापस ला सकते हैं तो व्यावहारिक सत्य पारमार्थिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य से भी प्रभावशाली, श्रेष्ठ हो जाएगा। अतः प्रारब्ध कर्म की दलील यह बतलाने में असफल रहती है कि आत्म ज्ञान के पश्चात् भी ज्ञाता व्यावहारिक विश्व में कैसे वापस आ सकता है? अतः इस दृष्टिकोण से विश्व को भ्रम कहना युक्ति संगत नहीं है।

२. विश्व को भ्रम कहने का दूसरा आधार अज्ञेयतावादी दृष्टिकोण हो सकता है। हमने देखा कि विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता अपरिहार्य है। अतः वह निरपेक्ष सत्य है। किन्तु विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता जैसा कि काण्ट ने अपने अज्ञेयतावादी दर्शन में दिखलाया। शंकर ने भी बतलाया है कि जगत् की स्थिति अनिर्वचनीय है; इसके सम्बन्ध में न-'है' कहा जा सकता है और न- 'नहीं है'। अतः इस दृष्टि से कि विशुद्ध ज्ञाता की सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध है और विश्व की स्थिति संशयपूर्ण, यह कहा जा सकता है कि 'ब्रह्म' (विशुद्ध ज्ञाता) सत्य है और जगत् मिथ्या। यहाँ मिथ्या या भ्रम का अर्थ संशय है। संशय में हमारे समक्ष दो विकल्प रहते हैं और किसी एक के सम्बन्ध में निर्णय नहीं लिया जा सकता। अंधेरे में दूर पर खड़ी चीज पेड़ है या मनुष्य-तय नहीं हो पाता। इस संशय के चलते मनुष्य का भ्रम हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ विश्व के सम्बन्ध में यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि वह अस्तित्ववान् है, या नहीं; इस अर्थ में विश्व एक भ्रमपूर्ण स्थिति है। 'सर्प-रज्जु भ्रम' के प्रसिद्ध वेदान्ती उदाहरण में भी इस प्रकार का संशय रहता है। किन्तु विश्व को यदि इस अर्थ में भ्रम कहा जाय तो उसके सत्य होने की भी सम्भावना रहेगी, क्यों कि संशय के दो विकल्पों में से कोई भी सत्य हो सकता है। मात्र संशय के आधार पर किसी एक विकल्प को निरस्त नहीं किया जा सकता। सांप का भ्रम हो रहा है, यह एक संशयपूर्ण स्थिति है इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि साँप नहीं है, रस्सी ही है। ऐसा कहने का हमारे पास कोई यौक्तिक आधार नहीं रहता। साँप के होने की भी सम्भावना सत्य हो सकती है। इस तरह इस दृष्टिकोण से विश्व के सत्य होने की भी सम्भावना रहेगी। किन्तु तब शंकर का अद्वैतवाद खंडित हो जाता है। अतएव शंकर की अद्वैत दृष्टि से संगति रखते हुए विश्व को भ्रम सिद्ध करने में अज्ञेयतावादी मत भी सहायक नहीं हो सकता।

३. अब सिर्फ एक सम्भावना शेष रह जाती है। वह है—असीम चेतना का दृष्टिकोण। आत्म ज्ञान हो जाने पर चेतना अभेद दशा को उपलब्ध हो जाती है। बाह्य अभ्यन्तर इत्यादि कोई भेद वहाँ नहीं रह जाता। अतः चेतना की कोई सीमा नहीं रह जाती, वह असीम हो जाती है। असीम होने के कारण उसके बाहर कुछ भी नहीं रह जाता। अतएव आत्मज्ञानी समस्त विषयों पर आधिकारिक निर्णय दे सकता है। फलस्वरूप आत्मज्ञ को यदि विश्व भ्रम दीखता है यह भी निरपेक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य माना जाएगा। यदि विश्व को भ्रम कहने का यह दृष्टिकोण मान्य हो तो, सारी बात इस प्रश्न पर निर्भर करेगी कि असीम चेतना का हम क्या अर्थ लेते है? असीम चेतना का साधारण अर्थ होता है–असीम ज्ञान, समस्त विषयों का ज्ञान। जिसका एक निष्कर्ष यह निकल सकता है कि असीम चेतना कोण-गणित, भौतिक शास्त्र, मनोविज्ञान, भूगोल, इतिहास, आदि सभी विषयों का ज्ञान होगा। यह निष्कर्ष हास्यास्पद भले ही लगे किन्तु असीम ज्ञान का इससे भिन्न शायद ही कोई ठोस अर्थ हो सकता है। ज्ञान का अर्थ है विषय का ज्ञान, इसलिए असीम ज्ञान का अर्थ होगा सभी विषयों का ज्ञान। लेकिन शंकर आत्मज्ञान को शुद्ध, अभेद चैतन्य दशा मानते हैं जो समस्त विषयों से शून्य है। इसीलिए असीम चेतना का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता। (क्ष) किन्तु समस्त विषयों से विरहित चेतना को असीम चेतना क्यों कहा जाय? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि–जब तक चेतना विषयों से बंधी रहती है, सीमित रहती है। विषयों से मुक्त हो कर ही वह असीम होती है। अतः असीम चेतना का अर्थ समस्त विषयों का ज्ञान नहीं वरन् समस्त विषयों से मुक्ति है। किन्तु समस्त विषयों से चेतना को हटा लेना ज्ञान है या अज्ञान इसके बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। डॉक्टर राधाकृष्णन् ने प्रज्ञा (Intuition) की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि ज्ञान का लक्षण असंदिग्धता है और प्रज्ञा में यह सर्वोच्च अंशों में पायी जाती है।[?] किन्तु शंकर के आत्मज्ञान–अपरोक्षानुभूति को ज्ञान माने तो यह वैसा ही होगा जैसे कि एक कमरे में बहुत सी वस्तुएँ दिखायी पड़ती हों और वहाँ बिल्कुल अंधेरा कर दें तो कुछ भी न दिखायी देगा। यहाँ एक प्रकार की असंदिग्धता अवश्य पायी जाती है, क्यों कि अगर कमरे में एक छड़ी पानी में डूबी रखी हो तो पहले वह टेढ़ी दीखती थी, एक भ्रम होता था; और अब कोई भ्रम नहीं होगा। किन्तु स्पष्टतया यह असंदिग्धता ज्ञान की कीमत पर पायी गई असंदिग्धता है। इसलिए शंकर की 'अपरोक्षानुभूति' ज्ञान है तो वह अज्ञान से किसी तरह भिन्न नहीं है।

यह ठीक है कि विशुद्ध ज्ञाता के अस्तित्व को अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है और उसका साक्षात् (या 'अपरोक्षानुभूति') तभी किया जा सकता है जब सभी विषयों को चेतना से निरस्त कर दिया जाता है। किन्तु यह स्थिति वस्तुतः अंधेरे कमरेवाले उदाहरण के ही अनुरूप है। अंधेरे कमरे में हमें कोई चीज नहीं दीखती, हाथ को हाथ नहीं सूझता, फिर भी 'स्व' का बोध होता है, बल्कि अन्य विषय न रहने से 'स्व' का बोध ही प्रगाढ़तर रूप से होता। किन्तु इस असंदिग्ध बोध से सिर्फ ज्ञाता पक्ष की सुनिश्चितता मिल सकती है। यदि विषय मुक्त होने से चेतना की इस दशा को असीम कहा जाता है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस असीमता से वस्तु जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस आधार पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु जगत् को भ्रम कहने का हमारे पास कोई यौक्तिक अधिकार नहीं रह जाता। इसलिए शंकर का आत्म ज्ञान—जो एक निर्विषय चैतन्य दशा है—हमें विश्व को भ्रम कहने का कोई अधिकार नहीं देता। जब ही शंकर आत्मज्ञान को निर्विषय चैतन्य दशा कहते हैं, तभी उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए कि वे विश्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह रहे; अतः वे उसे भ्रम भी कैसे कह सकते हैं? यदि यह तर्क दिया जाता है कि ज्ञाता के अस्तित्व को अनिवार्यतः मानना पड़ता है अतः वह परम सत्य है, लेकिन उस दशा में विश्व दृष्टिगोचर नहीं होता अतएव विश्व परम सत्य नहीं हैं, इसीलिय यह भ्रम मात्र है तो यह एक भूल होगी। क्यों कि विश्व को चेतना से हटा देना तो उस स्थिति की उपलब्धि की शर्त ही है, अतः वहां विश्व दृष्टिगोचर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो उस स्थिति की ज्ञान की मौलिक शर्त ही है, वह उस ज्ञान का विषय क्यों कर बनेगी, विशेष कर वह शर्त जो अभावात्मक है (अर्थात जिसके निषेध से उस दशा को पाया जाता है)? अतः इस आधार पर विश्व को भ्रम कहना भूल है। यही वैसा ही है जैसे कमरे में आने के पूर्व हम जूते उतार देते हैं (मान लें कि कमरे में आने के लिए यह आवश्यक हो) और कमरे में आकर कहें कि जूता असत्य या भ्रम है क्यों कि जिस समय हम कमरे में हैं उस समय वहाँ जूता नहीं है। अतएव शुद्ध चैतन्य दशा को असीम चैतन्य अवस्था मान लेने पर भी हमें विश्व को भ्रम कहने का कोई अधिकार नहीं मिलता। असीम चेतना वाली इस युक्ति की उपरोक्त आलोचना को और भी स्पष्ट एवं तार्किक रूप में रखने के लिए इसे एक द्विविधा के आकार में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है:—

॰ असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित करती है, अथवा असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित नहीं करती।

॰ यदि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित करती है तो वह विश्व के समस्त विषयों का ज्ञान देती है; और यदि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को समाहित नहीं करती तो वह विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती है।

॰ या तो असीम चेतना विश्व के सभी विषयों का ज्ञान देती है या वह विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती।

हम देख चुके हैं कि असीम चेतना विश्व के समस्त विषयों का ज्ञान देती है—यह मत शंकर की अद्वैत दृष्टि से संगति नहीं रखता—(देखें–३ (क्ष))। अतएव यही विकल्प मान्य होगा कि असीम चेतना विश्व के ज्ञान को स्वयं में समाहित नहीं करती है। फलस्वरूप यही निष्कर्ष आता है कि असीम चेतना विश्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकती। इसलिए विश्व को भ्रम भी नहीं कहा जा सकता।

यदि इन प्रश्नों का उत्तर यह कह कर दिया जाय कि तर्क-वितर्क से इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं, वरन् 'आत्मज्ञान' या सत्य की 'अपरोक्षानुभूति' में ही इन रहस्यों का उद्‌घाटन होता है, तो स्पष्टतया यह प्रश्नों को टालना ही समझा जाएगा क्यों कि 'अपरोक्षानुभूति' एक निर्विषय दशा है अतः 'क्यों', 'कैसे', क्या' इत्यादि प्रश्नों का समाधान वहाँ हो ही नहीं सकता।

उपरोक्त आलोचना 'जगत् मिथ्या' कथन पर एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है और यदि यह अनुत्तरित रह जाती है तो शंकर के अद्वैतवाद पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाएगा।

–हिरेन्द्रप्रसाद साह
शोधछात्र
दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार)

टिप्पणी

१. 'But certainty and not communicability is the truest test of knowledge and Intnition has this sense of assurence or certainty, and therefore is a species of knowledge.' Radhakrishan, S., 'An Idealist View of Life' (London, George Allen and Unwin), p.145

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति के अन्तर्विरोध : भारतीय सन्दर्भ

संस्कृति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की जाती रही हैं और इस बात को लेकर भी काफी विवाद होता रहा है कि उस की प्रक्रिया का निर्धारण किस प्रकार होता है। लेकिन इस सारे विचार-विमर्श में एक बात सामान्य तौर पर उभर कर आती रही है कि उसका सम्बन्ध मूलतः मनुष्य की चेतना के संस्कार से है और सांस्कृतिक विकास का तात्पर्य मानवीय चेतना का विकास ही है। संस्कृति को इतिहास से जोड़कर इसीलिए देखा जाता रहा है कि उस का अध्ययन मनुष्य की चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन है और उसी में से उसके भविष्यत् विकास की संभावनाएँ उजागर होती हैं। लेकिन यह अध्ययन भी तभी सांगोपांग माना जा सकता है जब हमें उस लक्ष्य या मंजिल का भी ज्ञान हो जिस ओर यह विकास-यात्रा उन्मुख है क्योंकि यात्रा की मूल प्रेरणा के आधार पर ही यात्रा की प्रक्रिया भी तय होती है। इस का तात्पर्य यही हुआ कि किसी भी संस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण वे आदर्श या मूल्य करते हैं जिनकी सिद्धि में ही कोई समाज अपनी सार्थकता स्वीकार करता है। संस्कृति को इसलिए मूल्य-दृष्टि कहा जाता है क्योंकि उन चरम मूल्यों के अर्जन की प्रक्रिया ही सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

शायद इसी कारण बहुत से विचारक संस्कृति का दायरा मूल्यों के धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते हैं और उनके अर्जन की सामाजिक-व्यक्तिगत प्रक्रिया तथा सामान्य उपयोगिता की अन्य बातों को उससे अलग कर देते हैं। इस तरह की उपयोगिता के क्षेत्र को वे सभ्यता के दायरे में रखते हैं और इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति सिर्फ मानसिक वस्तु रह जाती है और अन्य सारा भौतिक-सामाजिक जीवन सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत समझ लिया जाता है। यह विभाजन विश्लेषण की सुविधा के लिए तो एक हद तक उपयोगी हो सकता है, लेकिन इसका आत्यंतिक और प्रक्रियागत महत्व नहीं है। इस विभाजन को आत्यन्तिक मान लेने के भ्रम की वजह से ही इतिहासकार संस्कृति का अध्ययन करते हुए अपने को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-दर्शन, कला और साहित्य तक ही सीमित रखते हैं और अन्य सारे जीवन को उसके क्षेत्र से बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार संस्कृति का क्षेत्र सिर्फ मानसिक व्यापार तक ही सीमित रह जाता है और उस का यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता नहीं स्थापित होता। विचार और आचार में एक दुर्निवार असंगति विकसित हो जाती है।

इस भ्रामक दृष्टि का ही यह परिणाम हुआ है कि दुनिया के आततायी, साम्राज्यवादी और शोषक समाज भी अपने को सुसंस्कृत और सभ्य मानते रहे हैं। हम केवल अपने को इसलिए सभ्य और संस्कृत नहीं कह सकते कि हमने मनुष्य के दमन और उसके संहार के कुछ ऐसे सूक्ष्म उपाय विकसित कर लिए हैं जो आदिम या जंगली समाज के पास नहीं थे। लेकिन ऐसे समाजों का अपने को सुसंस्कृत मानना भी कोई सचेत ढोंग तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी दृष्टि ही भ्रामक रही है– अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस भ्रामक दृष्टि से मिलने वाले तात्कालिक भौतिक लाभों ने भ्रम को पहचानने की प्रेरणा नहीं विकसित होने दी। इसी कारण जब कोई साम्राज्यवादी, या सामाजिक अन्याय से ग्रस्त समाज साहित्य और कला का अपने यहाँ विकास होते देखता है और उसके लिए आवश्यक भौतिक सुविधाएँ भी जुटाने में रुचि लेता है तो अपने को सुसंस्कृत मानने में उसे कोई अनौचित्य नहीं दीखता। यंत्र-कौशल्य तथा अन्य उपयोगिता परक ज्ञान और व्यवस्था के विकास की वजह से सभ्य तो वह होता ही है। ऐसे समाजों को यह अन्तर्विरोध समझ में नहीं आता—यदि आता भी है तो एक उपेक्षणीय अल्पसंख्या को ही—कि शोषण, दमन, विस्तारवादी या एकाधिकारवादी प्रवृत्ति और युद्धों के द्वारा उन्होंने उन बुनियादी मानव-मूल्यों और आदर्शों को ही आहत किया है जो उनकी संस्कृति की मूल निर्धारक प्रेरणाएँ हैं और इसलिए ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य के सारे विकास और आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद उनका आचरण वास्तविक अर्थों में सांस्कृतिक आचरण है नहीं, कि जिसे वे संस्कृति या सभ्यता मान कर अपनी उपलब्धियों पर गर्व कर रहे हैं वह कोई जीवित प्रेरणा नहीं बल्कि कृत्रिम सजावट भर रह गयी है। वे नहीं समझ पाते कि संस्कृति जीवंत आचरण है, ड्राइंगरूम, पुस्तकालय या अजायबघरों की सजावट नहीं, कि उनकी मानवीय चेतना के सृजनात्मक विकास की यात्रा पाशविक भटकावों की शिकार हो रही है।

अतः संस्कृति के बारे में किसी भी विचार-विमर्श के पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि संस्कृति केवल मूल्य-दृष्टि ही नहीं, मूल्यनिष्ठा भी है। यह केवल विचार नहीं, विश्वास और आचरण भी है। चेतना के विकास का अर्थ विचार का ही नहीं, अनुभूति का विकास भी है। मनुष्य एक अनुभवशील प्राणी है अतः जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक उसके विचार, उसके जीवन-मूल्य उस का दैनंदिन अनुभव नहीं बन जाते तब तक संस्कृति की प्रकिया अधूरी रह जाती और इसलिए अन्तर्विरोध पूर्ण भी हो जाती है। इसलिए संस्कृति व्यवहारतः सभ्यता को, बल्कि पूरे जीवन को ही अपने दायरे में ले लेती है। यदि जीवन किन्हीं मूल्यों की ओर उन्मुख और उन से अनुप्राणित है तो उसके हर पक्ष में उन्ही मूल्यों की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। संस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। किसी भी जाति की मूल्य-दृष्टि, उसकी आस्थाएँ और विश्वास उस की प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन आस्थाओं और विश्वासों का एक परम या साध्य रूप होता है और दूसरा सापेक्ष और साधनात्मक रूप। आवश्यक यह है कि इन दोनों रूपों में आन्तरिक और जहाँ तक संभव है बाह्य संगति भी हो और साध्य रूप साधनात्मक रूप में भी बराबर प्रतिविम्बित होता रहे। इसलिए मैं संस्कृति और सभ्यता में प्रक्रियागत या आत्यन्तिक भेद नहीं करता बल्कि स्वयं को उन विचारकों से सहमत पाता हूँ जो सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप मानते हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था और आचरण यदि उन चरम मूल्यों और विश्वासों को प्रतिम्बिबित नहीं करते जो हमारी संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा हैं तो यही मानना होगा कि संस्कृति एक समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है – बल्कि वह एक द्विभाजित संस्कृति है जिसका अर्थ होता है कि हमारा मन द्विभाजित मन है, अतः रुग्ण मन है। इस द्विभाजन को ही मैं संस्कृति का अन्तर्विरोध कहता हूँ। भारतीय वेदान्त परम्परा में सत्य की तीन कोटियाँ बताई गयी हैं—पारमार्थिक सत्य, व्यावहारिक सत्य, और प्रातिभासिक सत्य। लेकिन यदि हमारी दृष्टि प्रातिभासिक और व्यवहारिक प्रकार के सत्यों की पृष्ठभूमि में पारमार्थिक सत्य को नहीं देख पाती तो वह निश्चय ही अधूरी या द्विभाजित दृष्टि है। द्विभाजित दृष्टि द्विभाजित संस्कृति का ही विकास कर पाती है।

संस्कृति मूल्य-दृष्टि, मूल्यनिष्ठा होने के साथ-साथ मूल्य को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है। अतः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न भौगोलिक, मानवीय और आर्थिक कारणों से कई बार ऐसे अन्तर्विरोध विकसित हो सकते हैं, लेकिन संस्कृति की जीवंतता या सृजनशीलता का एक लक्ष्य यह भी है कि वह निरन्तर इन अन्तर्विरोधों की पहचान करती रहती है। मनुष्य एक चेतन सत्ता है, अतः उसमें यह क्षमता है कि वह इन अन्तर्विरोधों को समझ कर उनके समाहार की दिशा में सचेष्ट हो सकता है। इसके बिना संस्कृति सड़ने लगती है और मर जाती है। संस्कृति जीवंत होती है, जीवाश्म नहीं। यदि आज हम अपनी बीमारी को समझने की कोशिश कर रहे हैं तो यह हमारी स्वास्थ्य चेष्टा का, हमारी जीवेषणा का एक प्रमाण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी संस्कृति के केन्द्रीय प्रेरक तत्त्व या मूलभाव की पहचान का एक स्रोत उसकी सृष्टि-परिकल्पना है। आदिम स्तर से लेकर सभ्यतम स्तर तक विभिन्न समाजों में जगत् की सृष्टि को लेकर अपनी अलग-अलग परिकल्पनाएँ विकसित हुई हैं और उन समाजों की जीवन-दृष्टि और जीवनयापन की पद्धति पर इन परिकल्पनाओं का निर्धारक प्रभाव रहता है। सृष्टि किस उद्देश्य से रची गयी है ? इस प्रश्न का उत्तर ही यह तय करता है कि मनुष्य के जीवन का प्रयोजन क्या है और उसे अपना जीवन कैसे जीना चाहिए। सृष्टि-रचना का उद्देश्य ही निजी स्तर पर व्यक्ति और सामुदायिक स्तर पर पूरे सामाजिक जीवन का उद्देश्य बन जाता है क्योंकि उसी उद्देश्य और प्रक्रिया के साथ अपने को जोड़ दे कर वह किसी दैवी उद्देश्य अथवा बृहत्तर जीवन और उसकी प्रक्रिया से अपने को जोड़ देता है। आधुनिक विचारधाराओं में भी तो इतिहास की प्रक्रिया व दिशा को पहचान कर अपने को उसके साथ कर देना ही वैज्ञानिक जीवन–पद्धति और प्रगतिशीलता माना गया है। इसी प्रकार परम्परागत समाजों में सृष्टि की परिकल्पना में निहित उद्देश्य के साथ अपने को निष्ठा पूर्वक एवं आचरणगत स्तर पर जोड़ देना ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य की उपलब्धि की ओर उन्मुख होना माना जाता था। जब हम यह जान लेते हैं कि यह संसार, यह जीवन किस प्रयोजन से अस्तित्व में आया, तब हम यह भी जान लेते है कि क्या करने में हमारे अस्तित्व की सार्थकता है और तब यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन बल्कि सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं की संगति भी इस मूल केन्द्रीय भाव या चरम मूल्य से हो। वही व्यवस्था वास्तविक अर्थों में सार्थक कही जा सकती है जो हमारे इस प्रकार निर्दिष्ट मूल उद्देश्य की सिद्धि के लिए उचित वातावरण एवं सुविधाएँ प्रदान करे और विचार एवं प्रक्रिया के हर स्तर पर उस में सहायक हो। यही चरम मूल्य और सापेक्ष मूल्य की संगति, संस्कृति और सभ्यता की एकान्विति और व्यावहारिक सत्य में पारमार्थिक सत्य का प्रतिबिम्बन है।

भारतीय समाज में व्यापक स्तर पर स्वीकृत निर्गुण ब्रह्मवादी और सगुण-ईश्वरवादी दोनों ही प्रकार की सृष्टि की परिकल्पनाओं में यह स्पष्ट है कि सृष्टि एक परम चेतना का सृजन है और यह सृजन उस ने अपने को जानने के आनन्द के प्रयोजन से किया है। परम चेतना निर्वैयक्तिक रूप में ब्राह्म अथवा ब्रह्म कही गयी है और वैयक्तिक रूप में ईश्वर। ईश्वरवादी परिकल्पना में सृष्टि ईश्वर की लीला है जिस के माध्यम से वह अपने अस्तित्व के अनुभव का आनन्द लेता है। इस परिकल्पना को मान लेने पर मानवी जीवन का उद्देश्य यही हो जाता है कि वह जीवन को इसी लीलाभाव से ले क्योंकि तभी वह ईश्वर के उद्देश्य में सहायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है। सब कुछ ईश्वर द्वारा रचा गया है अतः सब कुछ बाह्य रूप से भिन्न होने पर भी एक ही ईश्वरीय तत्त्व से अनुप्राणित है। अपने में निहित इस ईश्वरीय तत्त्व की अनुभूति ही जीवन का उद्देश्य है, यही अपने को जानने का आनन्द है जिसके लिए यह लीला रची गयी है।

इसी तरह निर्गुण ब्रह्मवादी विचारधारा में सृष्टि को अव्यक्त परम चेतना की अभिव्यक्ति माना गया है। इसी परिकल्पना का पूर्ण विकास वेदान्त की अद्वैतवादी चिन्ता धारा में हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता का यह स्वभाव है कि वह अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती रहती है। अतः मनुष्य और समूची सृष्टि इसी परम चेतना या ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। इसीलिए सभी आत्माओं और परमात्मा में तात्त्विक एकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। इस कारण सृष्टि रचना का जो उद्देश्य परम सत्ता या चेतना का है वही व्यक्ति में निहित आत्मा का हो जाता है। ब्रह्म स्वयं के वास्तविक दर्शन के लिए अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य आत्मान्वेषण और आत्मानुभूति है। यह ब्रह्म का सहज स्वभाव है।

इसलिए इन सृष्टि–परिकल्पनाओं के आधार पर यह आत्मानुभूति ही भारतीय संस्कृति का मूल प्रेरक भाव है : आत्मा का अन्वेषण और उसके बोध का, अनुभूति का आनन्द। आत्मा कर्म-प्रवृत्ति के माध्यम से जीवन में प्रवृत्त होती है और अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान न होने पर अज्ञान के अन्धकार में भटकती रहती है। आत्मा का वास्तविक बोध अर्थात् अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष या मुक्ति की स्थिति है जिसे चरम पुरुषार्थ अर्थात् जीवन का चरम मूल्य माना गया है। ऐसा लगता है कि चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम व्यावहारिक सत्य है तथा मोक्ष पारमार्थिक सत्य, धर्म इन को अंतःग्रंथित करनेवाला सूत्र या प्रक्रिया है। उसी के कारण यह संभव हो पाता है कि पार्थिव का अस्वीकार न करते हुए उसे ही परम आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन के रूप में विकसित किया जा सके। इसीलिए इस संसार को ही आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान माना है : मोक्षायते संसारः। स्वयं शंकराचार्य का कथन है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव अवगति ही है : जगतः सर्वाप्रवृत्तिः...अवगतिनिष्ठा, अवगत्यवसानैव। इसीलिए वैशेषिक सूत्रों में धर्म उसी को कहा गया है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति होती है : यतो अभ्युदयनिश्रेयसिद्धिः स धर्मः।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का चरम मूल्य आत्म के वास्तविक स्वरूप का बोध–आत्मानं विद्धि–स्वीकार किया गया और इसी के इर्द गिर्द संस्कृति के स्वरूप, संगठन और प्रक्रिया का विकास हुआ। आत्म की प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चरम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया और सारी समाज व्यवस्था को इस तरह विकसित करने की कोशिश की गई कि वह इस चरम मूल्य की सिद्धि में हर स्तर पर सहायक हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा में व्यवस्था को भी धर्म कहा गया। जिस प्रकार ऋत सम्पूर्ण सृष्टि का आधार माना गया इसी प्रकार धर्म सम्पूर्ण समाज रचना का। प्राचीन साहित्य में मूल्य और संस्कृति की चर्चा नहीं है, वहाँ सदैव धर्म की बात की गई है यद्यपि उस का तात्पर्य सदा वही है बल्कि उससे भी कुछ बृहत्तर है जो हम आज संस्कृति या मूल्य का मानते हैं। धर्म-दृष्टि या धर्म-निष्ठा का वही अर्थ और महत्त्व है जो आज की भाषा में मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा का है— धर्म का अर्थ किसी पंथ या सम्प्रदाय से नहीं बल्कि एक जीवन-दर्शन और जीवन-प्रक्रिया से है।

आप सोच रहे हो सकते हैं कि यहाँ तक के विश्लेषण में तो किसी तरह के सांस्कृतिक अन्तर्विरोध की बात ही नहीं है, बल्कि इस विवेचन के द्वारा तो एक बुनियादी ऐक्य पर ही अधिक बल दिया गया है। अधिक से अधिक आपत्ति किसी को हो सकती है तो यही कि वह आत्म के बोध को–और स्मरण रहे कि स्वतंत्रता उसी का सामाजिक प्रतिबिम्ब है—एक चरम मूल्य के रूप में मानने को तैयार न हो। किसी को भी ऐसा सोचने और उसके अनुरूप आचरण करने का अधिकार है लेकिन इससे यह तथ्य नहीं झुठलाया जा सकता कि जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसका मूल प्रेरक भाव यही रहा। यह भाव आज भी प्रासंगिक है या नहीं, यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है। अभी तो हमारे लिए यह देखना जरूरी है कि जिस मूल्य को भारतीय संस्कृति या धर्म की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप स्वीकार किया गया, उनके अनुरूप संस्कृति के समग्र स्वरूप का, उसके विभिन्न उपादानों का, उसके साधनात्मक स्वरूप का विकास हुआ या नहीं। अर्थात् हमें यह देखना होगा कि किस हद तक भारतीय समाज व्यवस्था में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन इसी मूल प्रेरणा के अनुरूप विकसित हो सका अथवा उस में और मूल प्रेरणा में साधनात्मक मूल्य और चरम मूल्य में, व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य में कोई विपर्ययोन्मुख द्विभाजन तो नहीं हो गया।

मेरी समस्या यहीं से शुरू होती है। "सत्य सत्य नहीं है, यदि वह अपने समस्त विधान में विशुद्ध आत्मचेतना के संकेतों की अभिव्यक्ति न करे।" भारतीय संस्कृति की इस केन्द्रीय प्रेरणा—आत्मान्वेषण, आत्मानुभूति और आत्मसृजन से पूर्ण सहमत होते हुए भी मैं उन सामाजिक विश्वासों और व्यवस्थाओं से सहमत नहीं हो पाता हूँ जिनका विकास उपरिनिर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के प्रयोजन से किया गया। मुझे भारतीय संस्कृति के साध्य रूप और साधनात्मक रूप के बीच तक गहरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्विरोध दीखता है जैसे दोनों एक केन्द्र से नहीं निसृत होते या मिलते बल्कि दो अलग केन्द्रों से समान्तर रेखाओं की तरह चलते हैं।

यह बहुत विचित्र लगता है कि जिस संस्कृति या धर्म ने पारमार्थिक सत्य या चरम मूल्य के रूप में अद्वैत की अनुभूति को —क्योंकि वही विशुद्ध आत्मा की वास्तविक अनुभूति है –प्रतिष्ठा दी, उसी ने व्यावहारिक सत्य या साधनात्मक मूल्य के रूप में वर्ण व्यवस्था जैसी स्तरभेदवादी व्यवस्था को जन्म दिया। व्यावहारिक सत्य के रूप में धर्म का एक रूप न केवल वर्णधर्म के रूप में स्वीकार किया गया बल्कि उसे सनातन व्यवस्था माना गया क्योंकि वह व्यावहारिक स्तर पर पारमार्थिक सत्य की अभिव्यक्ति की तरह मान्य था। वर्ण का आधार वह तात्त्विक ऐक्य नहीं है जो अद्वैत का आधार है। वर्ण को सनातन और अनिवार्य मानना अनिवार्यतः एक मतभेद और उच्चावचक्रम को मान्यता देना है। यदि अद्वैत समाज का चरम मूल्य है तो सामाजिक व्यवस्था में भी उस का प्रतिम्बिबित होना अनिवार्य है। लेकिन वर्णधर्म का जो रूप समाज में विकसित हुआ वह इस मूल दृष्टि का सामाजिक स्तर पर प्रत्याख्यान करता है। कुछ लोग वर्ण की मनोवैज्ञानिक, समाजवैज्ञानिक और अध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हैं। मैं उन सब मोहक व्याख्याओं से परिचित हूँ लेकिन यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और आज के समाज में भी स्वतः प्रमाणित है कि वर्ण का निर्धारण अन्ततः किन्हीं गुणों या कर्म के आधार पर नहीं बल्कि जन्म के आधार पर आ टिका। डॉ. राधाकृष्णन् जैसे वर्ण व्यवस्था के व्याख्याता भी यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों के काल से ही वर्ण के निर्धारण के लिए जन्म को ही योग्यता माना जाने लगा था।

बौद्ध और जैनधर्म द्वारा वर्ण व्यवस्था के विरोध का परिणाम यह हुआ कि यह प्रणाली और संकुचित हो गई। मनुस्मृति में जहाँ विभिन्न वर्णों के कर्मों को रूढ़ि की तरह निश्चित कर दिया गया, वहीं ब्राह्मणों की तुलना में अन्य वर्णों के प्रति हेयता की भावना व्यक्त की गयी और शूद्रों के लिए तो स्पष्ट ही तिरस्कार पूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया गया। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों का दण्ड मृदु और अन्य वर्णों का क्रमशः कठोरतर रखा गया। स्वयं को मानववादी कहने वाली और जीवन मात्र के प्रति करुणा और प्रेम का भाव पुष्ट करनेवाली हिन्दू समाज व्यवस्था में शूद्र वर्ण की उपेक्षा और उनके जीवन को सस्ता समझना बहुत अमानवीय लगता है। याज्ञवल्क्य (३।२३६) एवं मनु (११।६६) में ब्राह्मण की हत्या को महापातक कहा है जब कि स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, और उसके लिए जो प्रायश्चित्त एवं दण्ड की व्यवस्था बतायी गयी है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र जीवन का महत्व बिल्कुल ही नगण्य सा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षत्रिय को मारने पर प्रायचित्त था छः वर्ष का ब्रह्मचर्य, १००० गायों एवं एक बैल का दान। वैश्य को मारने पर तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य, १०० गायों एवं एक बैल का दान था, किन्तु शूद्र को मारने पर प्रायश्चित था केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्च एवं १० गायों और एक बैल का दान। यही बात गौतम (२२।१४-३६) मनु (११।१२६-३०) एवं याज्ञवल्क्य (३।२६६-६७) में भी पायी गयी है। आपस्तम्ब (१।९।२५।१४ एवं १।९।२६।१) ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र को मार डालने पर इतना ही पातक लगता है जितना कि एक कौवा, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, मराल, मेंढ़क, नेवला, कुत्ता आदि को मार डालने से होता है। (मनु. ११।१३१) स्तर के अनुसार प्रत्येक कर्म में इसी प्रकार का भेद किया गया है।

यह आश्चर्यजनक लगता है कि शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य जैसे महान् अद्वैतवादी दार्शनिकों के काल में वर्ण व्यवस्था एक कठोरतम जाति व्यवस्था के रूप में विकसित हो गई थी। अरब यात्री अलबरूनी ने तत्कालीन भारतीय समाज की कठोरता और जड़ता का आँखें खोल देनेवाला वर्णन किया है। अधिक दुःखपूर्ण यह था कि इन महान् अद्वैतवादियों ने भी 'जन्म' और 'रक्त' पर आधारित वर्ण व्यवस्था को न केवल किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी बल्कि उसे अपना पूरा समर्थन दिया! ऐसा क्यों है? सामाजिक स्तर पर इस तरह के विभाजन के द्वारा हम किस तरह के अद्वैत की पुष्टि करते हैं? यदि अद्वैत हमारा लक्ष्य है तो इस तरह के भेद पर आत्यन्तिक जोर क्यों है? यह स्मरणीय है कि यह भेद केवल सामाजिक कर्म का नहीं बल्कि आत्यन्तिक भेद है क्योंकि वर्ण धर्म के उच्चावचक्रम में ब्राह्मण को सर्वोत्तम और शूद्र को निम्नतम बताया गया है बल्कि शूद्र का तो एक मात्र कर्तव्य ही यह है कि वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करे।

कुछ विद्वानों के अनुसार वर्ण व्यवस्था बाह्य स्तर पर तो समानता या अद्वैत की भावना से अलग दीख सकती है लेकिन वस्तुतः उसकी एक आन्तरिक संगति है क्योंकि वह कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर आधारित है। आत्मा नित्य है जो देहान्तर के द्वारा पुनर्जन्म लेती रहती है और उसके वर्तमान जन्म का निर्धारण उसके पूर्वजन्म के अनुसार होता है। यह सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में मानवीय स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को गौरव देता है क्योंकि यह मनुष्य को कर्म की स्वतंत्रता प्रदान करता और उसे अपनी नियति का नियंता बना देता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट किया जाता है कि मनुष्य के इस जन्म का वर्ण उसके पूर्वजन्म के आधार पर निर्धारित है, अतः वह सामाजिक न्याय का उल्लंघन नहीं है। लेकिन यह बहुत अजीब लगता है कि इस प्रकार कर्म-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को मान्यता देते हुए भी न केवल प्रत्येक वर्ण का कर्म बिल्कुल निश्चित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया गया है बल्कि उसका उल्लंघन करने पर तत्काल सामाजिक दंड की भी व्यवस्था है। यदि उसे अपने कर्म का फल स्वयं भावी जन्म में भुगतना है तो उस का दंड या उसे पूरा करने के लिए सामाजिक उत्पीड़न इसी जन्म में क्यों ? समाज को उसे दंड देने के अधिकार को नैतिक औचित्य किस प्रकार मिलता है और किस आधार पर समाज किसी व्यक्ति को उस के जन्म के आधार पर कोई निश्चित कर्म करने पर बाध्य कर सकता है ? यदि यह आधार आध्यात्मिक है तो उसका दंड भी आध्यात्मिक स्तर पर मिलेगा ही। फिर इसी जन्म में सामाजिक स्तर पर उसके साथ दंडपूर्ण व्यवहार क्यों ? और यदि यही व्यवहार उसके लिए उचित है और उससे बलात् अपना निहित कर्म करवाया जाना चाहिए तो फिर कर्म की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का क्या होगा क्योंकि उसके बिना कर्मफल के न्याय का कोई नैतिक औचित्य नहीं है ?

कर्म के आधार पुनर्जन्म में वर्ण-निर्धारण का सिद्धान्त यदि ठीक है तो यह भी स्पष्ट है कि फिर उच्चतम वर्ण में पहुँचे बिना मुक्ति नहीं मिलनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है और कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण में रहते हुए मोक्षलाभ कर सकता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें निम्न वर्ण के व्यक्ति को भी मोक्षलाभ हुआ है। इससे दो बातें ध्वनित होती हैं। एक तो यह कि वर्ण कोई आध्यात्मिक स्तर नहीं है, वह केवल सामाजिक स्तर है और दूसरे यह भी कि फिर चरम मूल्य की सिद्धि के लिए वर्ण कोई अनिवार्यता नहीं है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि वैदिक विधि के बिना भी चरम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है—क्योंकि शूद्र वर्ण का व्यक्ति वैदिक कर्मकाण्ड के बिना भी चरम पुरुषार्थ तक पहुँच सकता है—तो वैदिक विधि विधान चरम मूल्य तक पहुँचने का एक मात्र जरिया नहीं है और इसलिए उनका पालन न करना अनिवार्यतः आध्यात्मिक स्तर से च्युत होना नहीं है। यदि वेद-विहित कर्म ही मोक्षलाभ का एक मात्र साधन नहीं तो वेदविरुद्ध होना या अवैदिक होना कोई भयंकर दोष या अपराध नहीं समझा जाना चाहिए जैसा कि समझा जाता रहा है। समाज में केवल वेद-विहित कर्म से अलग होना दोष माना गया बल्कि शंकराचार्य जैसे प्रकांड बौद्धिक व्यक्तित्व ने भी श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण की प्रतिष्ठा दी।

यह भी अजीब लगता है कि जहाँ एक ओर वास्तविक "आत्म" की पहचान पर सर्वाधिक बल दिया गया, वहीं दूसरी ओर "आत्मा" को वर्ण से इस तरह घेरा गया कि उसे तोड़ना एक दुष्कर कार्य हो गया। दैनंदिन कर्म में वर्ण का आग्रह इतना प्रबल किया गया कि व्यक्ति की पहचान का एक प्रभुत्वरूप वर्ण बन गया। "स्व" को वर्ण से किस तरह एक कर दिया गया इसका अनुमान इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लगाया जा सकता है कि 'स्वधर्म' भी 'वर्णधर्म' ही हो गया। इसी के साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि यदि किसी भी कर्म--व्याधकर्म या ऐसे ही शूद्रकर्म--का पालन करते हुए मोक्ष लाभ हो सकता है तो यह समझ में नहीं आता कि शारीरिक श्रम पर आधारित कर्म को निम्न स्तर का क्यों समझा गया है? शारीरिक श्रम या सेवा शूद्र वर्ण का कार्य है और इसीलिए उसे निम्नतम स्थान दिया गया है। यदि शूद्र-कर्म आध्यात्मिक उपलब्धि के मार्ग में बाधक नहीं है और वह भी आत्मज्ञान का एक साधन हो सकता है तो उसे हेय समझने और उसके प्रति तिरस्कार की भावना रखने को संगत नहीं माना जा सकता। वर्णधर्म के नाप पर यह सारी व्यवस्था उसी धर्म के अन्तर्गत की गयी है जो अद्वैत में आस्था प्रकट करता है। यह तो हो सकता है कि वैयक्तिक दुर्बलताओं की बजह से हम आदर्शों का पालन ठीक तरह से न कर पाएँ लेकिन हमारे दार्शनिक विश्वासों और घोषित समाजिक मान्यताओं के बीच भी यदि कोई संगति न मिले तो उसे दृष्टि का अन्त-विरोध ही कहना होगा। ऐसा क्यों हुआ, इसके कारणों की खोज तो आवश्यक है ही पर यह भी आवश्यक है कि इस असंगति को दूर करने की ओर सचेष्ट हुआ जाए क्यों कि चरम मूल्य और उस की सिद्धि के लिए विकसित प्रक्रिया में जब तक संगति नहीं होगी तब तक समाज का विकास भी द्विभाजित ही रहेगा। चरम मूल्य और साधनात्मक मूल्य के बीच निरन्तर बढ़ती हुई यह दरार पूरे समाज को, समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व में एक द्विभाजन विकासित कर देगी। ऐसा द्विभाजित व्यक्तित्व--व्यक्ति का हो या समाज का--किसी अद्वैत की साधना नहीं कर सकता। बल्कि व्यक्तित्व का यह द्विभाजन सिर्फ वर्ण के स्तर पर ही नहीं सभी स्तरों पर अभिव्यक्ति पाने लगता है।

यह वर्ण धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि भारतीय समाज में कर्म या आचरण की स्वतंत्रता जैसी मानवीय धारणा का व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग नहीं किया जा सका। स्वतंत्रता का आशय केवल विचार या विश्वास की ही स्वतंत्रता रहा। यह भी विचित्र लगता है कि विचारों और विश्वासों के दमन की कोशिश नहीं की गई और विरोधी विचार रखनेवालों के प्रति भी पूर्ण सम्मान प्रदर्शित किया गया। लेकिन कर्म या आचरण में किसी तरह की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया गया। ईश्वर में आस्था न रखने वाले या वेदविचार का वैचारिक विरोध करने वाले लोग समाज के प्रतिष्ठित सदस्य बने रह सकते थे लेकिन विवाह, खान-पान और संस्कारों तथा सामाजिक आचार व्यवहार में उन्हें भी निर्दिष्ट विधि का ही पालन करना पड़ता था। विश्वास की स्वतंत्रता थी पर आचार की स्वतंत्रता सामाजिक बहिष्कार का कारण बन सकती थी--बल्कि यदि असावधानीवश या बलात् आचार च्युति हो गई हो तो वह भी दाम्य नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैद्धान्तिक दृष्टि से आज भी वही सही है यद्यपि अन्य सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण इस ओर कुछ शिथिल समाधि होने लगी है। अन्यथा आचरण की स्वतंत्रता का तात्पर्य वर्णच्युति माना जा कर ऐसे व्यक्तियों के सामाजिक बहिष्कार को –जो एक बड़ा दंड था––ही एकमात्र उपाय माना गया। इस बात की ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि इस प्रकार कर्म या आचरण की उसी स्वतंत्रता को बाधित किया गया है जिसे सैद्धान्तिक स्वीकृति दी गयी थी। साथ ही इस बात की भी अनदेखी की गयी कि विश्वास और आचरण में भेद व्यक्तित्व को खंडित करता है और व्यक्तित्व उस मूल्य को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा है जिसे संस्कृति में जीवन का चरम उद्देश्य माना गया है। हमें देखना चाहिए की विश्वास और आचरण के इस द्वैध ने भारतीय मानस को किस हद तक द्विभाजित किया है और किस तक बहुत सी सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक असंगतियाँ इसी द्विभाजन का परिणाम कह जा सकती हैं।

वर्णधर्म की इस अनमनीयता का एक असर यह भी हुआ कि परम्परागत भारतीय समाज व्यवस्था और इस्लाम के बीच एक अलगाव बना रहा। ऐसा लगता है कि यदि भारतीय समाज ने वर्ण की कठोरता न विकसित की होती तो अद्वैत वेदान्त और सूफी दर्शन की समानताएँ दोनों समाजों के बिच एक सार्थक और व्यापक स्तर पर प्रभावी समन्वय स्थापित कर सकती थीं और तब कुछ आवश्यक सामाजिक भेद अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह जाते। किसी ऐंसी जाति की कल्पना मुश्किल है कि सम्पूर्ण जगत् में तात्त्विक ऐक्य तथा केवल अभिव्यक्तिगत भिन्नता मानते हुए भी दूसरे मनुष्य और समाजों को इतना अलग माना जाए कि उनकी छाया अथवा छूने मात्रा से खान–पान की वस्तुएँ ही नहीं मनुष्य तक भी अपवित्र हो जाएँ। लेकिन यह दुर्घटना भारतीय समाज का एक तथ्य रही और काफी हद तक आज भी बनी हुई है। अद्वैत में आस्था रखनेवाले समाज ने मध्य-काल तक आते-आते न केवल अन्य धर्मावलम्बियों के साथ खान-पान और सामाजिक सम्बन्धों का निषेध किया बल्कि स्वयं अपने में भी ऐसी दरारें पैदा कर दीं जो आज तक समाज की प्रमुख विसंगति बनी हुई है। हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क भारत में एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हो गया लेकिन इस सम्पर्क के जितने व्यापक प्रभाव हो सकते थे वे कम हुए। इस्लाम की उपासना पद्धति से––बल्कि किसी भी उपासना पद्धति से––भारतीय परम्परा का कोई बुनियादी विरोध नहीं था लेकिन अन्य कारणों के साथ साथ जिन में इस्लामी समाज की अपनी भूमिका भी महत्व-पूर्ण थी– वर्ण की उद्धारता के आग्रह ने दोनों समाजों को एक करने में कई बाधाएं उपस्थित कीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा नहीं है कि मूल प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयत्न नहीं हुए। निर्गुणपंथ और वैष्णव सन्तों ने वर्ण और सम्प्रदाय के भेद को महत्वपूर्ण न मानते हुए मानवी जीवन की तात्त्विक एकता पर बल दिया। लेकिन अल्प समय ही में वैष्णव सम्प्रदाय ने व्यावहारिक स्तर पर वर्ण भेद को स्वीकार कर लिया और उसके अनुयायी अपने सामाजिक जीवन में वर्ण और जाति के सभी सामाजिक भेदों को स्वीकार करते रहे। कबीर और दादू जैसे सन्तों का असर समाज के निम्न वर्णपर ही अधिक रहा। इस पृष्ठभूमि में यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि सवर्ण भारतीय समाज ने कबीर की बजाय तुलसीदास को क्यों अपने अधिक निकट महसूस किया।

प्रश्न उठता है कि यह अनमनीय वर्णधर्म और इस के साथ जुड़ा सामाजिक स्तरभेद तथा निम्न वर्ण और उसके लिए निहित कर्म के प्रति तिरस्कार और उसे मूल्यहीन समझने की भावना, अन्य धर्मावलम्बियों को अपने से हीन मानना तथा सैद्धान्तिक स्तर पर कर्म की पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार करते हुए सभी प्रकार के सामाजिक-धार्मिक कर्मों को करणीय कर्तव्यों की तरह नहीं बल्कि सामाजिक बंधन की तरह प्रत्येक व्यक्ति पर आरोपित कर देना क्या मूल दृष्टि या चरम मूल्य का विपर्यय नहीं है। आश्चर्य है कि गांधी जैसे क्रान्तदर्शी विचारक भी वर्ण व्यवस्था को जन्म पर आधारित और पूर्व निर्दिष्ट कर्तव्य व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं।

कुछ विद्वानों ने वर्णधर्म की समाज-वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उसे सामाजिक श्रम विभाजन की प्रणाली बताया है। लेकिन यदि ऐसा ही होता तो इस श्रम विभाजन को जन्म और रक्त आधारित करने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि इस का आधार व्यक्ति की निजी प्रवृत्तियाँ होतीं। तब यह श्रम विभाजन सनातन और आत्यन्तिक नहीं होता। धर्मव्याध ब्राह्मण को कहता है : जिस कर्म के लिए सृजनकर्ता ने मुझे जन्म दिया है, मैं उसमें रत हूँ। ..मैंने अपना जीवन अपने उच्चवर्णों के लोगों के लिए अर्पित कर दिया है...मेरा वर्तमान कर्म पूर्वजन्म के पापों और कर्मों का परिणाम है...महान् गौरव उसे ही मिलता है जो अपने वर्णधर्म में रत रहता है।" यह विश्लेषण सुन कर ब्राह्मण यह सोचता है कि अपनी वर्णधर्म परायणता के कारण यह धर्मव्याध शूद्र नहीं बल्कि ब्राह्मण है। लेकिन यह सोचना बिल्कुल भावनात्मक है और इसका आधार वर्णधर्म का समर्थन है। ऐसा सोचने से धर्मव्याध ब्राह्मण नहीं हो जाता बल्कि शूद्र के लिए निहित उसी कर्म का पालन करता रहता है जिसको किसी भी स्थिति में करने पर ब्राह्मण पर सख्त निषेध लगाये गये हैं। यदि वर्ण का आधार एक सुनियोजित सामाजिक व्यवस्था के लिए श्रम विभाजन ही होता तो एक वर्ण को निम्न मानते हुए उस के कर्म के प्रति तिरस्कार और निन्दा की भावना नहीं होती बल्कि श्रम की प्रतिष्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जाती और न शूद्र वर्ण को वैदिक स्वाध्याय और कर्मों से ही वंचित किया जाता जबकि कहीं-कहीं तो व्यवस्था की गयी है कि यदि भूल से भी वेदवाक्य शूद्र के कानों में पड़ जाय तो उस का दंड है उसके कानों में पिघला हुआ शीशा भरवा देना।

विद्वानों का यही वर्ग कभी-कभी वर्ण विभाजन को गुणों के आधार पर किये गये अधिकारी भेद का परिणाम मानता है। लेकिन यह मान्यता भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यदि ऐसा होता तो प्रतिलोम विवाहों को अनुचित नहीं माना गया होता और न वर्ण-संकरता का विचार ही विकसित होता। वर्ण-संकरता का विचार ही जन्म के आधार पर वर्ण विभाजन के सिद्धान्त से उपजा है। यदि अधिकारी भेद किसी तरह की आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए है तो इसे आत्यन्तिक नहीं माना जा सकता। अलग साधनों से ही सही निम्न वर्ण का व्यक्ति भी चरम मूल्य तक पहुंच सकता है और उच्च वर्ण होने का तात्पर्य मुक्ति के अधिक नजदीक होना नहीं है। इसी तरह वैदिक कर्मकांड और तपस्या के बिना भी मोक्ष-लाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में वर्णाश्रित अधिकारी भेद का कोई आत्यन्तिक या सनातन महत्त्व नहीं रह जाता।

इसलिए यह एक ऐतिहासिक विसंगति ही लगती है कि आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैत और सामाजिक स्तर पर "वसुधैवकुटुम्बकम्" के प्रति आस्था घोषित करनेवाली संस्कृति व्यावहारिक सत्य या सामाजिक आचार-विश्वास के स्तर पर इतने द्वैत, भेद और संकीर्णता रखे। उन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का सांगोपांग अन्वेषण जरूरी है जिन की वजह से इस तरह के अन्तर्विरोध विकसित हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं—कम से कम मुझे तो नहीं—कि चरम मूल्य के रूप में भारतीय संस्कृति ने जिस अद्वैत के विचार को, वास्तविक आत्म की अनुभूति को केन्द्र में रखा उसे आधार बना कर एक ऐसी समाज व्यवस्था विकसित की जा सकती थी, जा सकती है जो व्यावहारिक स्तर पर किसी भी तरह के शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार करती और पारस्परिक तात्त्विक आकर्षण का अनुभव करने वाले समतामूलक समाज की स्थापना में सहयोगी होती। पार्थिव और दिव्य के बुनियादी द्वन्द्व का समाचार करने में जो अद्वैतवादी दृष्टि सफल हुई हो उसमें सामाजिक द्वन्द्वों के समाहार का रास्ता भी तलाशा जा सकता है। अद्वैत की इस अनुभूति के बिना प्रेम, करुणा, अहिंसा, समानता और न्याय अधिक से अधिक केवल नैतिक धारणाएँ रह जाते हैं, मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ नहीं बनते। यदि इस मूल दृष्टि को हर संभव सीमा तक व्यावहारिक स्तर पर विकसित नहीं किया जाता तो भारतीय समाज का ही नहीं बल्कि वैश्विक मानव समाज का विभाजन तीव्र होता जायेगा जिसका आवश्यक परिणाम होगा विघटन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंसा और विनाश अर्थात् संस्कृति पर विकृति की, मानवीयता पर पाशविकता की विजय। मैं डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के इन शब्दों के साथ अपनी बात पूरी करना चाहता हूँ : "सच्ची प्रगति वृक्ष के विकास की भांति एक सजीव प्रक्रिया है। हमें निष्प्राण लकड़ी को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी भरे फेंक देना होगा। हम अतीत में इतनी बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवर्तन भर से धर्म की आत्मा अव्यवस्थित नहीं हो जायेगी। हमारी कुछ संस्थाएँ सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण के मार्ग में दुर्जय बाधाएँ बन गयी हैं और हमें इन बाधाओं को हटाने के लिए प्रयास करने होंगे, अंधविश्वास को बनाये रखनेवाली शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना होगा और लोगों के मनों को नया रूप देना होगा। इन दिनों जबकि जीवन की गति तीव्रतर हो रही है, ज्ञान बढ़ रहा है और आकांक्षाएँ विस्तार पा रही हैं, हमें परिवर्तन करने ही होंगे; अन्यथा इस का तात्पर्य यह होगा कि हम सृजन की भावना खो चुके हैं और निष्प्राण अंत तक आ पहुंचे हैं।"

सुथारों की बड़ी गुवाड़,
बीकानेर (राज.)

-नंदकिशोर आचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (५)

मू. " ननु यावत्योऽर्थक्रिया भिन्नदेशास्तवद्भेदं कारणमस्तु को विरोधः इति चेत् " न, तेषामपि प्रत्येकं तत्प्रसङ्गस्य तदवस्थत्वात्, एवमेकस्य जगति वस्तुतत्त्वस्यालाभे साध्वी क्षणभङ्गसाधनपरिशुद्धिः ।

सभी बीजप्रदेशों को एक मान लेना विज्ञानवाद की ओर ले जाता है अतः प्रदेशों की भिन्नता को अस्वीकार न कर भिन्न भिन्न प्रदेशों में घटित हो सकनेवाले जो भिन्न भिन्न कार्य हैं उनके उत्पादन का सामर्थ्य रखनेवाले भिन्न भिन्न कारण मान लेने में क्या हर्ज़ है ऐसी आशंका अब बौद्ध उपस्थित करते हैं। इसपर प्रतिबाद सरल है। इन भिन्न भिन्न कारणों में से प्रत्येक के संबंध में प्रसंग-विपर्यय से यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह एक न होकर अनेक हैं। जैसे 'खेत में अङ्कुरोत्पादक बीज दूर में उत्पादन नहीं करता पास ही उत्पादन करता है। अतः वह क्षणिक होते हुए भी एक नहीं है' इस प्रकार के प्रसंग-विपर्ययानुमान से किसी भी वस्तु में अनेकत्व प्रस्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार कोई 'एक' वस्तु स्वीकार करना असंभव हो जाय तो वस्तु-स्वरूप-विचार ही छोड़ देना पड़ेगा।

मू. "अस्तु तर्हि कश्चिद्दोष एवानयोरिति चेत् "। स पुनः कस्मिन् साध्ये? किं सामर्थ्यासामर्थ्ययोः, किं, वा तद्विरुद्धधर्माध्यासेन भेदे, आहोस्वित् शक्त्यशक्त्योर्विरोधे ?

प्रदेश-भद से कारण-भेद सिद्ध करने के लिये जो प्रसंग-विपर्यय प्रस्तुत किये गये वे ही शायद सदोष हैं ऐसी शंका बौद्ध उपस्थित कर रहे हैं। उसपर नैयायिक पूछते हैं कि यह दोष सामर्थ्य-असामर्थ्य-साधक अनुमान में संभाव्य है, या विरुद्ध-धर्माध्यास-साध्यक अनुमान में, अथवा कारित्व-अकारित्व-साध्यक अनुमान में ?

मू. नाद्यः, सर्वत्र सामर्थ्ये हि प्रसह्य कारणात्, सर्वत्राशक्तौ क्वचिदप्यकरणात्। " सर्वदेशसमानस्वभावत्वेऽप्यस्य स्वोपादानदेश एव तत्तत्कार्यं करोतीत्यमस्य स्वभावः स्वकारणादायातो न नियोगपर्यनुयोगावर्हतीति चेत् ।" तर्हि सर्वकालसमानस्वभावत्वेऽपि तत्तत्सहकारिकाल एव करोतीत्ययमस्य स्वभावः स्वकारणादायात इति किं न रोचयेः ?

सामर्थ्यासामर्थ्य-साधक अनुमान सदोष नहीं हो सकता। असामर्थ्य-साधक अनुमान सदोष हो तो सर्वत्र बीजादि कारणों में कार्योत्पादन-सामर्थ्य सिद्ध होगा। तब हमेशा कार्योत्पत्ति होती रहनी चाहिए। सामर्थ्य-साधक अनुमान में सदोषता हो तो कहीं भी कार्य-करण सामर्थ्य न होने से कार्योत्पत्ति ही होने नहीं पायेगी। कहा जा सकता है कि वस्तुमात्र का स्व-कारण से अवतीर्ण स्वभाव ही ऐसा है कि सभी प्रदेशों में एक जैसे होते हुए भी जहाँ वस्तु का उपादान विद्यामान है वहीं वह अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य संपन्न करता है, अन्यत्र नहीं। इस संबंध में अनुकूल प्रतिकूल चर्चा करना व्यर्थ है। तब यही बात काल के संबन्ध में भी कही जा सकती है। विभिन्न कालों में एक जैसा वस्तु का स्वभाव होने पर भी सहकारि-समवधान काल में ही कारण-वस्तु अपना कार्य निष्पन्न करती है। देश-भेद के समान ही काल-भेद की भी उपपत्ति दी जा सकती है।

मू. न द्वितीयः, विरुद्ध धर्माध्यासेनाप्यभेदे भेदव्यवहारस्य निर्निमित्तकत्व-प्रसङ्गात्। अनैकान्तिकश्च हेतुः कालतोऽपि न भेदं साधयेत्।

विरुद्धधर्माध्यास–साध्यक अनुमान सदोष होने का मतलब होगा कि विरुद्धधर्माध्यास वस्तुगत भेद-व्यवहार का प्रयोजक नहीं है। यदि ऐसी बात हो तो भेदव्यवहार के लिए कोई निमित्त नहीं रह जायेगा। देशाधारित विरुद्ध-धर्माध्यास भेद-साधक न हो तो कालाधारित विरुद्ध-धर्माध्यास भी भेद-साधक नहीं होगा। तब यह भेद साधन के लिये प्रस्तुत हेतु व्यभिचरित हो जायगा।

मू. न तृतीयः, विरोधलक्षणयोगे बाधकसहस्रेणापि विरोधस्थापनेतुमशक्यत्वात्, अयोगे का तदेव चिन्त्यिम्।"यद्विधाने यस्य निषेधो यन्निषेधे वा यस्य विधानं तयोरेकत्र धर्मिणि परस्परपरीहारस्थिततया विरोधः, स चेह नास्ति, तद्देशकार्यकारित्वं हि तद्देशकार्याकारित्वेन विरुद्धम्, तद्विधौ तस्यैव नियमेन निषेधात्, न पुनर्देशान्तरे तत्कार्याकारित्वेन तस्यानिषेधात्, न ह्यन्यत्र तदकरणमतत्करणं वा तत्र तत्करणस्या-भावोऽपि तु तत्र तदकरणमिति चेत्"। हन्त, एवम्भूतविरोधलक्षणव्यावृत्तिभिन्न-कालशक्त्यशक्त्योरपीत्युक्तप्रायम्, तत्प्रतिसंधीथाः।

कारित्व अकारित्व के विरोध का साधक अनुमान तब सदोष होगा जब कारित्व और अकारित्व विरोधी ही न हों और यह बात तब होगी जब विरोध के लक्षण इस तथाकथित विरोध में न हो। यदि यह वास्तविक विरोध है तब कोई भी बाधक उसे समाप्त नहीं कर सकता। परस्पराभावरूप या परस्पराभावव्याप्य-रूप कारित्व अकारित्व अनिवार्यतः विरोधी होने चाहिए। यदि कहें कि कारित्व अकारित्व के बीच प्रदेश-विशेष के सम्बन्ध में ही विरोध है, सामान्यतः नहीं तो दूसरी बात है। विरोध उन दो बातों या तथ्यों में हुआ करता है जिन में एक के विधान या निषेध से दूसरे का निषेध या विधान होता हो और इस कारण जो किसी भी धर्मि (या स्थान) में परस्पर का अपवारण कर अवस्थित होते हैं ऐसा विरोध कारित्व अकारित्व के बीच (प्रदेश-विशेष संबंध से) नहीं है। एक प्रदेश में कार्यो-त्पादन उसी प्रदेश के कार्यानुत्पादन का विरोधी हो सकता है किन्तु प्रदेशान्तर में कार्यानुत्पादन से उसका कोई विरोध नहीं हो सकता। देशान्तर से अकारित्व या अन्यकार्यकारित्व प्रदेशविशेषगत कारित्व का न विरोधी है (न सहचर ही)। अतः कारित्वाकारित्व-विरोध-साधक अनुमान सदोष है ऐसा बौद्धों का प्रतिपादन हो तो नैयायिक भी कह सकते हैं कि विभिन्न कालिक कारित्व अकारित्व के संबंध में भी यही बात लागू होती है। एककाल-कारित्व अन्यकाल-अकारित्व का कदापि विरोध नहीं हो सकता। अतः जो एक समय कारी है वह अन्य समय अकारी पाया जाय तो आश्चर्य नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. तस्मात्प्रसङ्गतद्विपर्ययास्थितावपि असिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः। "ननु यदेकदा यत्करोति तद्यावत्सत्त्वं तत्करोत्येव, यथा कश्चिच्छब्दः शब्दान्तरमिति प्रसङ्गोऽस्तु। विपर्ययस्तु यदेकदा यन्न करोति तत्सर्वदैव तन्न करोति, यथा शिलाशकलमङ्कुरम्, न करोति चैकदा कुशूलस्थ बीजमङ्कुरमिति चेन् "। तदेतज्जात्यभिप्रायेण व्यक्त्यभिप्रायेण वा स्यात्।

पीछे प्रसंग-विपर्ययानुमान ही असिद्ध बतलाया गया। अब वह अनुमान निर्दोष मान कर भी विरुद्ध-धर्माध्यास संभव नहीं यह (ऊपर विशद की हुई बात) संक्षेप में दुहराते हुए पुनः दूसरे ढंग से कारित्व-अकारित्व-साधक प्रसङ्गविपर्ययानुमान प्रस्तुत करते हैं। प्रसङ्गानुमान इस प्रकार है: जो वस्तु एक समय कोई कार्य करती है वह अपने रहते वह कार्य करती रहती है, जैसे, 'अन्त्य-भिन्न शब्द अपने जैसे अन्य शब्द को उत्पन्न करता ही है। शब्द का क्रमिक ध्वनियों के रूप में प्रसरण होता है यह वैशेषिक मत है। इन ध्वनियों की परंपरा में अन्त्य-ध्वनि किसी अन्य ध्वनि का उत्पादक नहीं होता। इसलिए अन्त्यभिन्न शब्द का उदाहरण यहाँ दिया है। विपर्ययानुमान (अकारित्व साधक) इस प्रकार होगा: जो वस्तु एक समय एक कार्य नहीं करती वह अन्य समय भी वह कार्य नहीं करती, जैसे पत्थर से अंकुर कभी पैदा नहीं होता। कूशलस्थ बीज एक बार भी अंकुर पैदा नहीं करता, अतः वह कभी अंकुर पैदा नहीं करेगा। नैयायिक अब इन अनुमानों के संबंध में प्रश्न करते हैं कि ये जाति के संबंध में कारित्वाकारित्व-साधक हैं या या व्यक्ति के संबंध में ?

मू. प्रथमे द्वयमपि अनकान्तिकम्, अनियमदर्शनात्। द्वितीये द्वयमप्यन्यथासिद्धम्, एकान्तासामर्थ्यप्रयुक्तत्वादत्यन्ताकरणस्य, सामर्थ्ये सति सहकारिसन्निधिप्रयुक्तत्वात्करणनियममस्य।

जाति के संबंध में कारित्वाकारित्वानुमान हों तो वे दोनों व्यभिचार युक्त हैं। बीज-जातीय कुछ पदार्थ कारी हैं तो कुछ अकारी भी। अतः सभी बीज-जातीय न कारी ही सिद्ध हो सकते हैं न अकारी ही। अनुमान व्यक्ति संबंध में हो तो उनके हेतु अन्यथासिद्ध याने असाधक हैं। पत्थर में जो सर्वथा अंकुराकारत्व है उसका कारण अनुमापक हेतु न हो कर पत्थर का आत्यन्तिक असामर्थ्य है। इसी प्रकार कुशलस्थ बीज का अंकुरानुत्पादकत्व सहकारियों के न होने के कारण है तो क्षेत्रस्थ बीज की अंकुरोत्पादकता सहकारिसाकल्य के कारण है।

मू. एतेन "यद्यत्करोति तत्तदुत्पन्नमात्रम्, यथा कर्मविभागम्, यदुत्पन्नमात्रं यन्न करोति तन्न कदाचिदपि, यथा शिलाशकलमङ्कुरमिति "—निरस्तम्। अत्रापि पूर्ववदनेकान्तान्यथासिद्धिदोषाविति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त अनुमान के समान ही क्षणिकत्व-साधक अन्य अनुमान भी सदोष होंगे। जैसे जो वस्तु कोई कार्य करती है वह उत्पन्न होते ही करती है; कर्म जैसे उत्पन्न होते ही विभाग का उत्पादन करता है। जो वस्तु उत्पन्न होते कोई कार्य नहीं करती वह कदापि उसे नहीं करती। उदाहरणार्थ, पत्थर अंकुर को उत्पन्न होते ही नहीं निर्माण करता अतः वह उसे कदापि नहीं निर्माण करता। यह अनुमान पहले अनुमान के जैसे ही व्यभिचार और अन्यथासिद्धि दोषों से ग्रस्त है।

मू. नापि तृतीयः, कृतकत्वानित्यत्वादेरपि परस्पराभाववत्तामात्रेण विरोधप्रसङ्गादिति।

पीछे कारित्व और अकारित्व के विरोध के स्वरूप के संबंध में तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये थे। उनमें परस्पराभावरूपत्व, परस्पराभावव्याप्यत्व इन दो विकल्पों का खण्डन अबतक चलता रहा। तीसरा विकल्प "परस्परात्यंताभाववत्व' यह है। इसका भी खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि कृतकत्व में नियत्व का और नित्यत्व में कृतकत्व का अभाव है लेकिन इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

मू. "अस्तु तर्हि तस्यैव तेनैव सहकारिणा सह सम्बन्धोऽसम्बन्धश्चेति विरोधः"। न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—सम्बन्धिनः सम्बन्ध्यन्तरे स्वभावस्वाभाव्यं वा विरुध्येत, अभावप्रतियोगित्वं वा, तदैवेति सहितं तत्रैनेति सहितं वा, उभयसहितं वा, तथैवेतिसहितं वा? इति।

कारित्व-अकारित्व के विरोध का एक नये ढंग से समर्थन करने का उपक्रम बौद्ध कर रहे हैं। कार्योत्पत्ति के लिए अपेक्षित जो सहकारी हैं उनमें एक सहकारी दूसरे सहकारी (से भिन्न होने के कारण) के अभाव रूप ही होगा। अतः सहकारियों का समवधान तथा असमवधान ये दोनों बातें किसी कारण में सहचरित नहीं होंगी। भाव और अभाव का साहचर्य होने लगे तो इनका विरोध ही समाप्त हो जायगा। यह प्रतिवाद अभाव अपने आधार से अभिन्न होता है इस मत के आधार से किया जा रहा है। एक ही वस्तु दूसरी वस्तू से सम्बद्ध होने पर उससे असबद्ध भी नहीं हो सकती। 'असंबंध' का अर्थ है संबंधाभाव और इसे अपने आधार से अभिन्न मानना होगा। ऐसा मानने पर सम्बन्ध को ही संबंधाभावरूप मानना पड़ जायेगा। 'असमवधान' का दूसरा अर्थ 'अभावप्रतियोगित्व' ऐसा किया जा सकता है। किन्तु सत्कार्यवाद का पुरस्कार किया जाय तो कोई भी सत् वस्तु असत् न होने के कारण अभावप्रतियोगिता सद्वस्तु में कभी आ नहीं सकती। सत्कार्यवाद न मानने पर सत्पदार्थ कभी न कभी असत् होता है यह बात स्वीकार्य हो सकती है किन्तु 'असमवधान' का अर्थ जब समवधान है उसी समय उसका न होना यह समझा जाय तो समवधान और असमवधान के विरोध का समर्थन संभव है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध को और भी सुस्पष्ट करना हो तो जिस समय और जहाँ समवधान है उसी समय और वहीं उसका न होना असमवधान का अर्थ लिया जा सकता है। विरोध को और भी तीव्र माना जाय तो जिस समय, जहाँ और जिस प्रकार का समवधान है उसी समय, वहीं और उसी प्रकार का समवधान न होना 'असमवधान' समझा जा सकता है। इस प्रकार समवधान-असमधान-विरोध के कुछ छः तरीके सभाव्य हैं। इनकी क्रमशः अग्रिम परिच्छेद में चर्चा की जायेगी।

मू. न प्रथमः, अनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सत्कार्यप्रतिषेधात्। न तृतीयः, प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्भावसमानकालत्वानभ्युपगामत्। न चतुर्थः, सहि न तावत् स्थिति-यौगपद्यनियमेन सम्बन्धिनोः, तदसिद्धेः। इत एव तत्सिद्धावितरेतराश्रयत्वम्-नियमसिद्धौ हि विरोधसिद्धिस्तत्सिद्धौ च भेदे सति नियमसिद्धिरिति। न चान्यतस्तत्सिद्धिः, तदभावात्, अनियतोपसर्पणासर्पणकारणप्रयुक्तत्वाच्च संबंधासम्बन्धयोः। नापि विनाशस्याहेतुकत्वादयं विरोधोऽर्थात् सिध्यति, तस्याप्यसिद्धेः। ध्रुवभावित्वे तु वक्ष्यामः। नापि पञ्चमः, नही तदैव तत्रैव स एव सहकार्यस्ति नास्ति चेत्यभ्युपगच्छामः।

उक्त पांच विकल्पों में से पहला विकल्प ग्राह्य नहीं। अभाव को अधिकरण-रूप स्वीकार करने पर ही संबंधी और असंबंधी एक होंगे जिससे समवधान और असमवधान परस्परविरुद्ध मानने होंगे। लेकिन अभाव की अधिकरणात्मकता का पुरस्कार नैयायिक नहीं करते। सत्कार्यवाद पर आधारित दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद भी नैयायिकों के लिये भी स्वीकार्य नहीं है। 'एकही समय समवधान का एक ही वस्तु में घटित न होना' यह विरोध का तिसरा अर्थ भी स्वीकारार्ह नहीं। प्रागभाव (वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व जो उसका अभाव होता है वह) और ध्वंस (विनाश) जिस वस्तु के हों उसके साथ (एकही समय) घटित नहीं होते। किन्तु अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी के साथ स्थान-भेद से एकही समय विद्यमान होने में कोई हर्ज नहीं। 'एक ही देश में समवधान और असमवधान सहकारियों में न होना' यह चौथा विकल्प भी स्वीकारार्ह नहीं। सब सहकारी एकसाथ रहते ही हैं ऐसा नियम हो तो उक्त विरोध संभाव्य है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है। उक्त विरोध को वास्तविक मान कर यदि इस नियम की स्थापना की जाय तो अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होगा क्योंकि नियम माने बिना विरोध प्रस्थापित नहीं होता और विरोध प्रस्थापित होने पर क्षणभङ्ग सिद्ध होगा (क्योंकि परस्पर-विरुद्ध समवधान और असमवधान एक वस्तु में सहावस्थित न हो सकने से वस्तु को क्षणभङ्गुर मानना आवश्यक होगा।) और उसके आधार पर ही समवधान नियम भी सिद्ध होगा। इस पर यह प्रतिवाद उपयुक्त नहीं कि समवधान नियम का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाधक कोई अन्य प्रमाण ही हो सकता है। ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है सब सहकारी सब समय सहकृत इसलिए नहीं होते कि उनकी उपस्थिति उनके एक स्थान में सम्मिलित होने पर निर्भर है और यह बात अनिश्चित ही होगी कि कब कौनसा सहकारी स्थानविशेष में उपस्थित होगा। यह भी प्रतिवाद उपर्युक्त कथन पर नहीं हो सकता कि विनाश वस्तुमात्र के लिये स्वाभाविक होने के कारण प्रत्येक वस्तु का अपनी उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में ही विनाश अवश्यं-भावी होगा और तब क्षणिक सहकारियों के सहकृत होने पर ही कोई भी कार्य (क्षणिक) उत्पन्न होना संभव है। इस बात पर से सहकारि-समवधान-नियम अपने आप सिद्ध हो जाता है। विनाश अहेतुक या स्वाभाविक होने की बात ही अस्वी-कारार्ह होने से उक्त प्रतिवाद में कोई तथ्य नहीं रह जाता। विनाश अवश्यंभावी अवश्य है किन्तु वह अहेतुक है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। ऊपर बतलाया गया पाँचवा विकल्प अब विचारणीय रह जाता है। एक काल में एक सहकारी एक ही स्थान में एक ही प्रकार से विद्यमान होता है और अविद्यमान भी ऐसा कोई नहीं मानेगा। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर समवधान का साहचर्य ही कैसे हो पायेगा जिससे इनके विरोध की बात चलायी जाय।

म. "ननु समवधानं नाम सहकरिणां धर्मः संयोगो भवद्‌भिरिष्यते, स च तेभ्योऽतिरिक्तोऽव्याप्यवृत्तिश्चेत्यपि, तथा च स एव तदैव तत्रैवास्ति नास्ति चेति। अनतिरेके स्थिरवादिनो व्यस्तान्यपि बीजवारिधरणिधामानि तान्येवेति तेभ्योऽपि कार्योत्पत्तिप्रङ्गः। व्याप्यवृत्तित्वे च सर्वत्र रक्तादिविभ्रमः शब्दादिकार्योत्पत्ति-प्रसङ्गश्च। तस्मादसंयुक्तेभ्योऽन्ये एव संयुक्तस्वभावाः परमाणवो जाता इत्येव न्यायः।" नैतदेवम्, क्षणिकपरमाणावप्यस्य विरोधस्य दुर्वारत्वात्। तथाहि—पूर्व दिगवस्थितः परमाणुर्यथा परदिगवस्थितेन परमाणुनाऽपरदिगवच्छेदेनावृतरूप उत्पन्नः तथैव किं पूर्वदिगच्छेदेनापि, न वा, उभयथा वा। आद्ये उभयतोऽप्युनपलब्धि प्रसङ्गः। द्वितीये तूभयतोऽप्युपलम्भापत्तिः। तृतीये पुनः स एव दुरात्मा विरोधः, स एव तेनैव तदैवावृतोऽनावृतश्चेति।

अब पूर्वोक्त विकल्पों में से छठे विकल्प की चर्चा करने के उद्देश से 'समवधान' के स्वरूप का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हैं कि सहकारियों का परस्पर संयोग ही 'समवधान' है; यह संयोग सहकारियों से भिन्न (उनके विशेषणभूत गुणरूप) तथा 'अव्याप्यवृत्ति' है। 'अव्याप्यवृत्ति' का अर्थ 'वस्तु के अंशमात्र में या कालविशेष में वस्तु में रहने वाला और कालविशेष में न रहने वाला' ऐसा होता है। ऐसे अव्याप्यवृत्ति संयोग से युक्त तथा रहित सहकारी एक ही होने चाहिए। ऐसी अवस्था में परस्पर-समवहित बीज, पृथ्वी, पानी आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और एक दूसरे से अलग पड़े हुए यही पदार्थ अभिन्न होने के कारण ये पदार्थ अलग अलग अङ्कुरोत्पादन-समर्थ होने चाहिए। यदि संयोग, शब्द आदि को व्याप्यवृत्ति माना जाय तो कहीं एक स्थान में शब्द उत्पन्न होने पर सर्वत्र शब्दोत्पत्ति होनी पड़ेगी। शब्द-कारण भेरी जैसे साधन का आकाश के एक अंश से संयोग होने के कारण संपूर्ण विश्व में व्याप्त आकाश के साथ भी यह संयोग घटित हो जाएगा और तब संपूर्ण विश्व में भेरी के आघात का शब्द सुना जाना चाहिए। यही नहीं, रक्त, पीत आदि वर्ण भी व्याप्यवृत्ति मानने होंगे जिससे किसी वस्तु का एक अंश रक्त या पीत होने पर वह वस्तु पूर्णतया उस वर्ण की हो जानी चाहिए। अतः परस्पर-संयुक्त परमाणुओं से अन्य ही परस्पर-संयुक्त परमाणु-पुञ्जरूप सहकारी होते हैं ऐसा मानना आवश्यक होगा। बौद्ध स्थूल अवयवी की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अवयवी परमाणु-पुञ्जरूप है ऐसा उनका मत है। इस प्रकार समवधान और असमवधान के विरोध का जो समर्थन बौद्ध प्रस्तुत करते हैं उसका अब नैयायिक खंडन करते हुए कहते हैं कि क्षणिक परमाणु में भी समवधान और असमवधान के विरोध के समान आन्तरिक विरोध की उपस्थिति सिद्ध की जा सकती है। उदाहरणतः, पूर्वदिशा में अवस्थित कोई परमाणु उसकी विपरीत दिशा में अवस्थित किसी अन्य परमाणु से आवृत होने योग्य हो कर जैसे उत्पन्न होता है वैसे ही पूर्व दिशा में अवस्थित किसी परमाणु से आवरण-योग्य होता है या किसी भी दिशा के परमाणु उसका आवरण नहीं कर पाते ? या एक दिशा में आवृत होते हुए विपरीत दिशा के परमाणु से वह अनावृत ही रहता है ? ऐसा प्रश्न पूछा जाय तो उसका कोई भी उत्तर परमाणुओं के अन्तर्विरोध को ही प्रकट करेगा। पहला विकल्प स्वीकार करने पर कोई परमाणु कहीं भी दिखाई नहीं पड़ेगा। (क्योंकि अपनी दिशा में स्थित अन्य परमाणु से भी वह आवृत हो जायेगा।) दूसरा विकल्प मानने पर किसी भी स्थान में परमाणु उपलंभ-योग्य मानना पड़ जायेगा। (उसका आवरक कोई न हो सकने के कारण) तीसरा विकल्प सीधे परमाणु के अन्तर्विरोध की ओर ले जाता है। एक ही परमाणु दूसरे परमाणु से एक ही समय में आवृत है और अनावृत भी ऐसा मानना परमाणु-स्वरूप के अन्तर्विरोध का ही द्योतक है।

मू. "प्रकारभेदमुपादायाविरोध इति चेत्"। कः पुनरसौ? दिगन्तरावच्छेदः। "यदि हि यद्दिगवच्छेदेनैव संयुक्तस्तद्दिगवच्छेदेनैवासंयुक्तोऽपि ततो विरोधो स्यात् इह तु नैवमिति चेत्"। हन्त, संयोगसंयोगिनोर्भेदपक्षेऽपि यद्ययं सिद्धान्तवृत्तान्तः स्यात्कौ दूषो दोष इति। एतेन व्यतिरेकपक्षोऽपि निरस्तः।

उक्त विरोध-संभावना के परिहार के लिये बौद्ध कहते हैं कि दिशाभेद से एकही परमाणु का दूसरे परमाणु से आवृत तथा अनावृत होना संभव है। जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा में एक परमाणु दूसरे परमाणु से संयुक्त हो उसी दिशा में वह उसी परमाणु से असंयुक्त भी माना जाय (अतः अनावृत भी) तब तो विरोध उत्पन्न होगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इसपर नैयायिक विस्मयाकुल होकर प्रतिवाद करते है कि जैसे परमाणुओं के विरोध-परिहार की बात की जा सकती हैं वैसे ही समवधान और असमवधान के संभाव्य विरोध के परिहार की भी बात संभव है। संयोग, संयोगी सहकारियों से भिन्न होने पर भी एक ही सहकारी विभिन्न प्रदेशों के संबंध से अन्य सहकारियों के साथ संयुक्त तथा असंयुक्त दोनों हो सकता है। (एक प्रदेश में संयुक्त होकर भी अन्य प्रदेश में असंयुक्त रहना एक ही वस्तु के लिए असंभव नहीं।)

इस प्रकार सत्व तथा क्षणिकत्व के बीच अन्वयव्याप्ति संभव नहीं यह विस्तार के साथ प्रदर्शित कर अन्वयव्याति पर आधारित व्यतिरेकव्याप्ति भी (उनके बीच) संभव नहीं ऐसा निष्कर्ष नैयायिक प्रस्तुत करते हैं। व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार होगा : जो क्रमशः या सहकारिसमवहित हो कर कार्योत्पाद नहीं करता वह सत् नहीं होता, जैसे शशविषाण। स्थिर समझी जाने वाली वस्तु उक्त दोनों तरीकों से कार्योत्पादन-समर्थ नहीं प्रतीत होती। अतः वह सत् नहीं।

मू. अधिकश्च तत्राश्रयहेतुदृष्टान्तासिद्धौ प्रमाणाभावः, अवस्तुनि प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाणप्रवृत्तावलीकत्वानुपपत्तेः। "एवन्तर्ह्यव्यवहारे स्ववचनविरोधः स्यादिति चेत्" तत्किं स्ववचनविरोधेन तेषु प्रमाणमुपदर्शितं भवेत्, व्यवहारनिषेधव्यवहारोऽपि वा खण्डितः स्यात्, अप्रामाणिकोऽयं व्यवहारोऽवश्याभ्युपगन्तव्य इति वा भवेत्।

उक्त व्यतिरेक-व्याप्ति में आश्रयासिद्धि, हेत्वसिद्धि और दृष्टान्तासिद्धि जैसे दोष भी प्रतीत होते हैं। 'जो क्रमशः या युगपत् (समवहित होकर) कार्य नहीं करता वह सत् नहीं, जैसे 'शशविषाण' इस व्याप्ति-वचन में आश्रय या पक्ष वाचक पद 'क्रमशः या युगपत् कार्य न करने वाला' यह है। बौद्ध मतानुसार ऐसी कोई वस्तु हो नहीं सकती। हेतु-वाचक पद 'सत् न होना' यह है। कोई भी वस्तु असत् नहीं होती। दृष्टान्त 'शशविषाण' भी असत् ही है। इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति पूर्णतया सदोष सिद्ध होती है। जो असत् है उसके संबंध में कोई भी प्रमाण कोई भी-विधि या निषेधरूप-प्रक्रिया कार्यान्वित नहीं कर सकता। यदि ऐसी प्रक्रिया अवस्तु के संबंध में घटित हो तो वह अवस्तु नहीं रह सकती। कोई पूछ सकता है कि अवस्तु को 'अवस्तु' कहना भी एक व्यवहार ही है। किन्तु ऐसा निर्देश करने से अवस्तु की अवस्तुता जाती रहेगी क्या? इस प्रश्न पर कुछ प्रति-प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनका उत्तर अपेक्षित है। जैसे, 'अवस्तु' को 'अवस्तु' कहने से क्या उसकी प्रामाणिकता प्रस्थापित होती है? अथवा ऐसा करने से उसके संबंध में व्यवहार-निषेध (अव्यावहारिकता) की जो बात कही गयी थी भी वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्डित हो जाती है) जिससे 'अवस्तु' के संबंध में कुछ भी कथन करना अनुपयुक्त सिद्ध हो। या अवस्तुत्व-व्यवहार अप्रामाणिक होते हुए भी टाला नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि 'असत्' को 'असत्' कहना भी उसे प्रमाण-विषय मानने जैसा है जिससे उक्त विसंगतियाँ पैदा होती हैं।

मू. न तावत्प्रथमः, नहि विरोधसहस्रेणापि स्थिरे तस्य क्रमादिविरहे वा शशशृंगे वा प्रत्यक्षमनुमानं वा दर्शयितुं शक्यम्, तथात्वे वा कृतं भौतकलहेन। द्वितीयस्त्विष्यत एव प्रामाणिकैः। "अवचनमेव तर्हि तत्र प्राप्तम्" किं कुर्मो यत्र वचनं सर्वथैवानुपपन्नं तत्रावचनेन श्रेयः, त्वमपि परिभावय तावत् निष्प्रामाणिकेऽर्थे मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयान् ?

पूर्वोक्त तीन विकल्पों में पहले विकल्प के अनुसार 'अवस्तु'त्व व्यवहार के आधार पर अवस्तु की वस्तुता या प्रामाणिकता सिद्ध करना उचित नहीं क्योंकि क्रम-यौगपद्य रहितत्व, शशशृंग आदि जो पद असत्व-साधक अनुमान में अन्तर्भूत हैं उनके प्रत्यक्ष या अनुमान से कोई ज्ञान प्राप्य नहीं है। अतः इन अलीक वस्तुओं के संबंध में विधि या निषेध दोनों संभव नहीं हैं। हाँ, यदि कोई प्रमाण इनके समर्थनार्थ प्रस्तुत किया जाता है तो उसकी चर्चा की जा सकती है। उस परिस्थिति में निरर्थक वाद-विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। दूसरे विकल्प के अनुसार अलीक के संबंध में व्यवहार-निषेध का व्यवहार भी उपयुक्त नहीं। यह बात समझदार लोगों को स्वीकार्य ही होनी चाहिये। कोई पूछेगा कि क्या अलीक के बारे में कुछ बोला ही न जाय ? उत्तर होगा, हाँ, मौनधारण के सिवा उस सबंध में कोई उपाय ही नहीं रह जाता। बौद्ध भी सोचने पर जान सकते हैं कि अप्रामाणिक बात के संबंध में मौन स्वीकार करना योग्य है या निरर्थक प्रलाप करते रहना।

मू. एवं विदुषापि भवता न मूकीभूय स्थितम्, अपि तु व्यवहारः प्रतिषिद्ध एवासीति चेत्"। सत्यम्, यथा अप्रामाणिकः स्ववचनविरुद्धोऽर्थो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानेन त्वया च अप्रामाणिक एवासति व्यवहारः स्वीकृतस्तथास्माभिरपि प्रमाणचिन्तायामप्रामाणिको व्यवहारो मा प्रसाङ्क्षीदिति मन्यमानैरप्रामाणिक एव स्ववचनविरोधः स्वीक्रियते। यदि तूभयत्रापि भवान् समानदृष्टिः स्यादस्माभिरपि तदा न किञ्चिदुच्यत इति।

पुनः बौद्ध पूछते हैं कि अप्रामाणिक बात के संबंध में मौन-धारण ही उचित है ऐसा कहते हुए भी नैयायिक अप्रामाणिक को व्यवहार्य कह कर अपनी ही बात क्यों करते हैं ? नैयायिक इस पर उत्तर देते हैं कि बौद्धों को भी अप्रामाणिक शशविषाणादि के सम्बन्ध में व्यवहार करना ही पड़ता है। शशविषाणादि क्षणिक न होने से सत् भी नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन बौद्ध न करें तो इन अवस्तुओं की सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बारे में सम्भ्रम पैदा हो सकता है। अतः 'ये अप्रामाणिक हैं' ऐसा व्यवहार किये बिना बौद्धों का काम नहीं चल सकता। उसी प्रकार प्रमात्मक अनुमित्यादि के लिये प्रमात्मक लिंगपरामर्शादि ही कारण होते हैं, अप्रमात्मक नहीं यह बात समझाने के लिये अप्रमाण या असत् के विषय में अप्रामाण्य-व्यवहार नैयायिक करें तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इतना स्व-वचन-विरोध अपरिहार्य हैं। बौद्ध क्षणिकत्व और सत्व की व्यतिरेक-व्याप्ति के उदाहरण के रूप में शश-विषाणादि अलीक वस्तुओं का निर्देश न कर अलीक सम्बन्धी अप्रमाण्य-व्यवहार के प्रश्न को नहीं उठाते तो नैयायिक भी इस व्यतिरेक-व्याप्ति के खंडन के लिये प्रयत्नशील नहीं होंगे। इस चर्चा का मन्तव्य यह है कि अलीक-साध्य, पक्ष, दृष्टान्तयुक्त व्याप्ति के द्वारा बौद्ध क्षणिकत्व सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते। नैयायिक या अन्य लोग इन्हें अलीक कहते हैं इसीसे इनकी सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती।

म. तृतीये तु अप्रामाणिकश्चाप्यवश्याभ्युपगन्तव्यश्चेति कस्येयमाज्ञेति भवानेव प्रष्टव्यः। 'व्यवहारस्य सुदृढनिरूढत्वादिति चेत्"। अप्रामाणिकश्च सुदृढनिरूढश्चेति व्याघातः। "कथञ्चिदपि व्यवस्थितत्वादिति चेत्"। अप्रामाणिकश्चेन्न कथञ्चिदपि व्यवतिष्ठते, प्रामाणिकश्चेत् तदेवोच्यतामिति वादे व्यवस्था।

उक्त तीसरे विकल्प के अनुसार कोई बात अप्रामाणिक होते हुए भी अवश्य स्वीकार्य होनी चाहिये। लेकिन क्या ऐसा मानने को कोई आदेश भी दे सकता है? यदि कहा जाय कि 'स्वीकार या व्यवहार के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं, असत्ख्याति पर आधारित निश्चय से भी व्यवहार घटित हो सकता है' तो उसका प्रतिवाद यह होगा कि जो निश्चय यथार्थ नहीं वह अप्रामाणिक होने से व्यवहार का कारण नहीं हो पायेगा। अप्रमा-मूलक व्यवहार सम्भव अवश्य है किन्तु वह पुरस्कारार्ह नहीं हो सकता। यदि प्रमाणाधारित व्यवहार है तब कोई आपत्ति नहीं। किन्तु तब इस व्यवहाराधारभूत प्रमाण को उद्धृत करना होगा। उसके बिना काम नहीं चलेगा। कम से कम वादविवाद में—जिसका लक्ष्य सत्य की ही खोज है—प्रमाण के आधार पर ही विचार आगे बढ़ सकता है।

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

—नारायणशास्त्री द्राविड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनधर्म में प्रतिपादित पुण्य-पाप : एक विश्लेषण

जैन धर्मसम्मत कर्मवाद की यह मान्यता नहीं है कि संसार का प्रत्येक कार्य अथवा जगत् की प्रत्येक घटना कर्मजन्य है। विश्व में होने वाले कार्यों एवं घटनाओं के विविध कारण होते हैं। कुछ घटनाएँ भौतिक होती हैं, कुछ कालजन्य, कुछ स्वाभाविक, कुछ आकस्मिक या संयोगवश एवं कुछ वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रयत्नजन्य होती हैं। जैन कर्मवाद विशुद्ध व्यक्तिवादी है। जिस प्रकार जैन तत्त्ववाद आत्मा को स्वदेहपरिणाम मानता है उसी प्रकार जैन कर्मवाद कर्म को स्वशरीर परिमाण मान कर उसे व्यक्ति तक ही सीमित रखता है। जैसे जीव अपने शरीर में बद्ध रह कर ही अपना कार्य करता है वैसे ही कर्म भी अपने शरीर की सीमा में रह कर ही अपना काम करता है। जैसे आत्मा सर्वव्यापक नहीं है वैसे ही कर्म भी सर्वव्यापक नहीं है। चूंकि आत्मा एवं कर्म के कार्य अथवा गुण अपनी देह तक ही सीमित हैं अतः तदाधारभूत आत्मा एवं कर्म भी स्वदेह तक ही परिमित है। वस्तुतः आत्मा और कर्म के मिश्रित रूप का नाम ही देह है। जैन कर्मवादी नैयायिकों की भांति कार्यमात्र के प्रति कर्म को कारण नहीं मानते। नैयायिक ईश्वर और कर्म को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण मानते हैं।

कर्म दो प्रकार के हैं : शुभ और अशुभ। शुभ कर्म का दूसरा नाम पुण्य है और अशुभ कर्म का दूसरा नाम पाप। इस प्रकार पुण्य एवं पाप शुभ एवं अशुभ कर्मों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चूंकि शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध प्राणी के शरीर से है अतः तद्रूप पुण्य और पाप इन दोनों का सम्बन्ध भी उस शरीर से ही है। जब यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पुण्यवान् है तो जैन कर्मवाद की दृष्टि से इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि उस व्यक्ति का शरीर शुभ कर्मोदययुक्त है अर्थात् उस व्यक्ति के शरीर से सम्बद्ध इन्द्रियां, वाणी, मन आदि एवं उनकी प्रवृत्तियां यानी मन-वचन-काय की क्रियाएँ शुभ अर्थात् सुखद हैं। दूसरे शब्दों में, वह व्यक्ति सब प्रकार से अथवा सामान्य तौर से अथवा अधिकांशतः सुखी है। इसी तरह जो व्यक्ति पापी होता है वह सब प्रकार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यावत् अधिकांशतः दुःखी होता है। इस प्रकार पुण्य और पाप का फल सुख और दुःख है। सुख एवं दुःख व्यक्ति के व्यक्तित्व अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक गठन पर अवलम्बित हैं जिसका निर्माण पुण्य और पाप अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों के आधार पर होता है।

यदि पाप-पुण्य से ही दुःख-सुख होता है तो बाह्य पदार्थों की क्या आवश्यकता है ? यदि पाप-पुण्य दु.ख-सुख की उत्पत्ति का ही कारण है तो बाह्य पदार्थों की प्राप्ति किन कारणों से होती है ? दूसरे शब्दों में, सुख-दुःख की उत्पत्ति में बाह्य पदार्थों का क्या योगदान है तथा उनकी प्राप्ति के क्या कारण हैं ? ये दो प्रश्न इस प्रसंग में स्वाभाविकतया पैदा होते हैं।

बाह्य वस्तुएं एवं परिस्थितियाँ सुख-दुःख की उत्पत्ती में अवश्य सहायक बनती हैं किन्तु उन्हीं को सुख-दुःख का मूल कारण मानना अयुक्तिसंगत है। जिस व्यक्ति में सुख दुःख की उत्पत्ति की शक्ति या योग्यता विद्यमान रहती है अर्थात् जिसमें पुण्य एवं पाप की सत्ता होती है उसी में बाह्य पदार्थ सुख एवं दुःख उत्पन्न कर सकते हैं। जो व्यक्ति अमुक प्रकार के सुख अथवा दुःख से परे हैं अर्थात् जिसमें अमुक प्रकार का सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता उसे उस सीमा तक बाह्य पदार्थ प्रभावित नहीं करते। तात्पर्य यह है कि बाह्य पदार्थ किसी व्यक्ति को उसी सीमा तक प्रभावित करते हैं जिस सीमा तक उसका व्यक्तित्व उनसे प्रभावित हो सकता है। कोई भी पदार्थ अथवा वातावरण सबको समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न प्रकार का है अर्थात् हरेक के पुण्य-पाप की संचिति यानि सुख-दुःख का अनुभव करने की योग्यता अलग-अलग तरह की है। बाह्य वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ व्यक्ति में विद्यमान योग्यता के अनुसार ही सुख-दुःख उत्पन्न करने में सहायक कारण के रूप में कार्य करती हैं। सुख-दुःख का मूल कारण तो व्यक्ति में ही मौजूद होता है जो पुण्य-पाप के संग्रह के रूप में रहता है। इस प्रकार सुख-दुःख का उपादान-कारण अर्थात् मूल कारण स्वयं व्यक्ति है, जबकि बाह्य पदार्थ निमित्त-कारण अर्थात् सहायक कारण के रूप में हैं। इस दृष्टि से बाह्य वस्तुओं एवं परिस्थितियों का भी महत्त्व स्वीकार करना होगा क्योंकि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण की प्रधानता होते हुए भी निमित्त-कारण का भी योगदान होता है। उपादान-कारण की समानता होते हुए भी निमित्त-कारण की भिन्नता के कारण कार्य में कुछ भिन्नता आ ही जाती है। इसी प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करने की शक्ति अर्थात् पुण्य-पाप के संचय की समानता होते हुए भी बाह्य पदार्थों तथा परिस्थितियों की असमानता के कारण सुख-दुःख की अनुभूति में कुछ अन्तर आना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्वाभाविक नहीं है। जैसे बाह्य वस्तुओं की अभिन्नता अथवा समानता होने पर भी व्यक्तित्व की असमानता के कारण सुख-दुःख की अनुभूति में अन्तर आ जाता है वैसे ही व्यक्तित्व की अभिन्नता अथवा समानता होने पर भी बाह्य परिस्थितियों की असमानता के कारण सुख-दुःख के अनुभव में भिन्नता आना स्वाभाविक है।

बाह्य पदार्थों अथवा साधनों की प्राप्ति के कई कारण हैं। उन सब कारणों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं: अपने पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न द्वारा पदार्थ की प्राप्ति और स्वतः अर्थात् बिना किसी प्रयत्न के वस्तु की उपलब्धि। प्रयत्न द्वारा वस्तु की प्राप्ति में अनेक बाह्य कारणों के साथ ही साथ पुण्य-पाप रूप आन्तरिक कारण भी अपना यथोचित योगदान करता है। व्यक्ति का किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना उसकी बुद्धि, शक्ति, विचारधारा, विश्वास आदि पर निर्भर करता है। ये सब गुण व्यक्ति के पुण्य-पापपुंज के अनुसार होते हैं अर्थात् जिस समय व्यक्ति के व्यक्तित्व का जैसा रूप होता है उस समय वह उसी के अनुरूप बुद्धि आदि के द्वारा बाह्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रयत्न करता है। उसके पुण्य-पाप से सर्वथा असम्बद्ध बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की स्थिति में फलप्राप्ति में अन्तर आना अर्थात् कभी इच्छित फल की प्राप्ति होना, कभी इच्छित फल की प्राप्ति न होना, कभी अधिक फल की प्राप्ति होना, कभी कम फल की प्राप्ति होना इत्यादि उसके पुण्य-पाप पर निर्भर नहीं है। इसके लिए न उसके पुण्य की प्रशंसा करनी चाहिए, न उसके पाप की निन्दा। जहाँ तक उसकी बुद्धि, शक्ति, श्रमशीलता आदि का फलप्राप्ति से सम्बन्ध हो वहीं तक उसके पुण्य-पाप को सहरना-कोसना चाहिए। संयोगवशात् अल्प प्रयत्न करने पर भी अधिक लाभ हो सकता है तथा प्रचुर पुरुषार्थ करने पर भी पर्याप्त लाभ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं कभी-कभी पुरुषार्थ के अभाव में ही अकस्मात् भारी लाभ हो जाता है तथा इसके विपरीत कभी-कभी अथक प्रयत्न करने पर भी कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इन सब दशाओं का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। किसी व्यक्ति का पुण्य-पाप उसके व्यक्तित्व को संचालित एवं प्रभावित करता है, उसके नियन्त्रण के अन्दर की परिस्थितियों को नियन्त्रित एवं निर्मित करता है। जो परिस्थितियाँ अथवा घटनाएँ उसके नियन्त्रण के बाहर हैं उसके लिए वह उत्तरदायी नहीं है, उनसे उसके पुण्य-पाप का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी परिस्थितियाँ एवं घटनाएं अपने-अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होती हैं जिनका उस व्यक्ति से साक्षात् या असाक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं होता। संयोगवशात् या अकस्मात् वे परस्थितियाँ तथा घटनाएँ उस व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण बन जाती हैं। हाँ, उन परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग्यता उसकी अपनी होती है—उसके पुण्य-पाप की देन होती है।

बाह्य साधन अर्थात् धनादि की उपलब्धि पुण्य से ही होती है, ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। पुण्यशालियों अर्थात् सदाचारियों की भांति पापी अर्थात् दुराचारी एवं भ्रष्टाचारी भी समृद्धि प्राप्त करते देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, बहुधा पापी लोग समृद्धि में पुण्यात्माओं से आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। इसका जो भी कारण हो, इतना निश्चित है कि पापपूर्ण आचरण से भी धनादि की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् पापी भी समृद्धिशाली हो सकते हैं। समृद्धि हो या न हो, सुख-दुःख का अनुभव प्रधानतया आन्तरिक कारणों अर्थात् पुण्य-पाप के आधार पर होता है। समृद्धिशाली भी दुःखी देखे जाते हैं, जब कि निर्धन व्यक्ति भी सुख का अनुभव करने वाले होते हैं। विपुल संग्रह करने वाले भी दुःखी पाये जाते हैं जब कि अकिंचन भी सुखी दिखाई देते हैं। जैसे ऐसा नियम नहीं है कि धनादि की उपलब्धि पुण्य से ही होती है वैसे ही ऐसा भी नियम नहीं है कि पुण्य से धनादि की प्राप्ति होती ही है। पुण्यपूर्ण कृत्य हो अथवा पापपूर्ण कृत्य, परिस्थितियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के अनुसार धनादि की प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी जिस प्रकार धनादि की प्राप्ति पुण्ययुक्त एवं पापयुक्त अर्थात् अच्छे और बूरे दोनों प्रकार के कार्यों से हो सकती है उसी प्रकार धनादि का उपयोग भी पुण्यमय और पापमय दोनों प्रकार के कामों में किया जा सकता है। पुण्यमय अर्थात् सत्कार्य में किया जानेवाला धनोपयोग शुभकर्मों का उपार्जन करने वाला होने के कारण सुखद होता है, जब कि पापमय अर्थात् असत्कार्य में किया जाने वाला धनोपयोग अशुभ कर्मों का उपार्जन करने वाला होने के कारण दुःखद होता है। यही बात पुण्ययुक्त एवं पापयुक्त धनोपार्जन के विषय में भी समझनी चाहिए।

पुरुषार्थ द्वारा होने वाली अर्थात् प्रत्यत्नजन्य किसी वस्तु की प्राप्ति पुण्य-पाप से सम्बद्ध हो सकती है किन्तु बिना किसी प्रकार के पुरुषार्थ के अर्थात् स्वतः होने वाली धनादि की प्राप्ति का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। जो साधन-सामग्री किसी के जन्म के पूर्व ही कहीं मौजूद हो और उसे संयोगवश बिना किसी प्रकार का पुरुषार्थ किये ही प्राप्त हो जाय तो इसमें उसके पुण्य का हाथ कैसे हो सकता है।? उसके जन्म के पूर्व तो उसका पुण्य वहाँ है ही नहीं अतः उस साधन-सामग्री के उपार्जन से उसका संबंध होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अनुभव तो यही बताता है कि उस सामग्री का उपार्जन किसी अन्य के पुरुषार्थ द्वारा ही हुआ है। वह तो संयोगवशात् उसका स्वामी बन गया है। उसने उस सामग्री के उपार्जन में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया है। ऐसी स्थिति में वह साधन-सामग्री उसके पुण्य से कैसे सम्बद्ध हो सकती है? हाँ, उस सामग्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निमित्त से होने वाला सुख-दुःख अवश्य उस व्यक्ति के पुण्य-पाप से सम्बद्ध होता है। यही बात संयोगजन्य साधन-सामग्री की अप्राप्ति के विषय में भी समझनी चाहिए अर्थात् स्वतः प्राप्त निर्धनता पाप का परिणाम नहीं है। अपितु उस निर्धनता से होने वाला सुख-दुःख पुण्य-पाप का परिणाम है। इस प्रकार पुण्य-पाप का फल अमीरी-गरीबी नहीं अपितु सुख-दुःख है। चूंकि शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध शरीर से है अतः पुण्य पाप और तत्परिणामरूप सुख दुःख भी शरीर से ही सम्बद्ध है। बाह्य पदार्थ सुख-दुःख की उत्पत्ति में निमित्त-कारण हो सकते हैं। सुख-दुःख का उपादान-कारण तो शुभाशुभ कर्मरूप पुण्य पाप ही हैं।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय. — मोहनलाल मेहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रियाएँ

१

'कविता और अर्थ' (परामर्श (हिन्दी), सितंबर ८१) में जगदीश शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि "कला का सरोकार 'रचना' से उत्पन्न काव्यानुभव से है, अर्थ से नहीं" (पृ. ३७४) और यह अनुभव सर्जनात्मक वैभव के आस्वाद में निहित रहता है। किन्तु यह वही रसवादी, कलावादी या मज़ावादी दृष्टि है जो राजकला के दौरान उदित हुई और सामंतकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुई। उसका आधार वही आदर्शवादी चिन्तन है जिसने आत्मा अथवा चेतना को एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में प्रस्थापित किया। वास्तविकता यह है कि चेतना व्यक्ति के सामाजिक होने की देन है। सामाजिकता के अभाव में व्यक्ति अनुभव-प्रलाप, एकालाप एवं चीख़ से अधिक कुछ नहीं है। यह रचनाकार की सामाजिकता ही है जो इन्द्रियानुभूति को सृजन में बदलती है। रचना का आशय उसमें सन्निहित रहता है। यह तो लेखक भी मानता है कि आशय को सर्जनात्मक वैभव के मध्य ही ग्रहण किया जा सकता है। पर, यह विकल्प नहीं, अनिवार्यता है। आशय को गौण वे ही मानेंगे, जो रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं और अपना पाथेय लिये हैं; जिस क्षण पाथेय चुरेगा व्यक्तिवादी चीखेगा, अन्यथा आत्मरक्षा में अन्य यात्रियों से संवाद की स्थिति में आना होगा। चीख़ में कोई सर्जनात्मक वैशिष्टच कैसे माना जा सकता है? अतः बुनियादी बात यह है कि आशय को रचना से दुहना नहीं होता, वह तो रचनाकार की अनुभूति में निहित रहता है। कभी उसको खराद कर अधिक पैना बनाती है; अनुभव को गहरा करती है। खरीदे जाने का वैशिष्टच तो है, किन्तु क्या खरीदा गया है, किस शक्ल में यह उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। वही संवेदना की चरम परिणति है। जो खरीद से बना वही आशय हुआ। खरीद अनुभव चमत्कृत भले ही करे लेकिन रचनामूल तक नहीं ले जाता। सर्जनात्मक वैभव को कथ्य से अलग नहीं कर सकते हैं। रचना का संश्लिष्ट वैभव ही काव्यानुभव देता है। उसमें वस्तु की 'अनाटॉमी' पहले है, सुडौलता-मांसलता बाद की चीज है। इसलिए अनुभव को चीख होने से बचाने के लिये रचनाकार अपने संवाद में वस्तु से जितना अधिक जूडा होता है उतनी महान् कला होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जनात्मक वैशिष्टय तो सम्मान मात्र है–अपूर्व सम्मान। महत्व तो कथ्य का रहता है। प्रयोजन-सिद्धि के लिये ही कला का जन्म हुआ है।

१९८१२, बलदेव पार्क — गोविंद प्रसाद
कृष्णनगर, दिल्ली–११००५१

(२)

श्री गोविन्द प्रसाद की प्रतिक्रिया पढ़ कर मुझे ऐसा लगा कि मेरे लेख के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया है। कुछ ऐसी बातों की कल्पना उन्होंने अपनी ओर से कर ली है जो मैंने नहीं कही हैं। कहीं-कहीं उनके अपने विचारों के अंतर्विरोध भी उनकी प्रतिक्रिया में झलक रहे हैं।

मेरे लेख में पृष्ठ ३६६ पर कहा गया है कि "अधिकांशत: कविता में कवि का आशय व्यक्त होता है।" इससे स्पष्ट है कि मैंने कविता में अर्थ की सत्ता स्वीकार की है। मैंने निषेध उस दृष्टिकोण का किया है जो **कविता को विघटित करके उससे निचोड़े हुए अर्थ के अधार पर** रचना का **कलात्मक मूल्य** निर्धारित करता है। पृष्ठ ३६७ पर मेरे इन वाक्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है: "**काव्य का अर्थ-ग्रहण आपत्तिजनक नहीं है,** लेकिन काव्यानुभव के मूल्य पर—दूसरे शब्दों में **कविता को विघटित करके**— प्राप्त किया गया अर्थ कला की ओर पीठ किए रहता है। इसलिए उसका कोई कलात्मक मूल्य नहीं होता।" जब मैं यह कहता हूँ कि "किसी रचना का आशय कलात्मक दृष्टि से तभी मूल्यवान् हो सकता है, जब उसके **सर्जनात्मक वैभव की चेतना के मध्य** वह ग्रहण किया गया हो" तो मैं इसे विकल्प नहीं, अनिवार्यता ही मानता हूँ, जैसा कि इस वाक्य में 'तभी' शब्द के प्रयोग के स्पष्ट है। यदि मैं इसे अनिवार्यता नहीं मानता तो सर्जनात्म वैभव से अलगाये हुए अर्थ का कलात्मक मूल्य क्यों अस्वीकार करता ?

सर्जनात्मक वैभव के मध्य अर्थ की स्वीकृति रचना-कर्म के सामाजिक आयामों की स्वीकृति है। लेकिन उक्त लेख का यह प्रकृत विषय नहीं है। पृष्ठ ३६५ पर मैंने लिखा है, "काव्य-भाषा में कल्पना-शक्ति समाई रहती है। कल्पना-शक्ति 'चीख' नहीं होती; उसके मूल में कलाकार की आत्म-चेतना और सामाजिक परिवेश की अंत:क्रिया सक्रिय रहती है। लेख में यह बात इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कही गई कि यह समस्या उस संदर्भ में अवधान का केन्द्र नहीं है। 'चीख' की कल्पना मेरी नहीं, प्रतिक्रियाकार की है।

कथ्य का अपना मूल्य कला-मूल्य नहीं हो सकता, यह बात मुक्तिबोध जैसे मार्क्सवादी साहित्य-मर्मज्ञ के समीक्षा कर्म में दोनों के मध्य किए गए अन्तर से स्पष्ट है, जिसकी चर्चा मैंने अपने लेख में की है।

जिसे मैं रचना की 'मांसलता' कहता हूँ, वह माध्यम में समाई हुई कल्पना का साक्षात्कार है। काव्य-भाषा को द्वितीय संकेत व्यवस्था मानने के विरुद्ध विभावन पर मैंने इसीलिए जोर दिया है (पृ. ३६४)। कल्पना के भीतर समाज-चेतना, संस्कृति, विचारधारा आदि बहुत सी चीजें घुली रहती हैं। इस प्रकार 'मांसलता' वही है जिसे श्री गोविन्द प्रसाद ने 'रचना का संश्लिष्ट वैभव' कहा है। इस संदर्भ में 'खराद' के सादृश्य का प्रयोग असंगत लगता है। 'खराद' ऊपर से की गई सँवार होती है जब कि 'संश्लिष्टता' से 'सामग्री' और सँवार का द्वैध न होकर रचना की अंतरंग एवं आवयविक समग्रता सूचित होती है।

सर्जन के सामाजिक आयामों और वस्तु और रूप के सम्बन्धों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। 'सर्जन का अभिप्राय' और 'रूप तथा रूपवाद' शीर्षक दो लेखों में मैंने क्रमशः इन दो विषयों पर थोड़ा-बहुत विचार किया है। इन लेखों के प्रकाशित होने पर इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण, शायद, और स्पष्ट हो सके।

५६, गोल्फ कोर्स,
जोधपुर-३४२००१

– जगदीश शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ-समीक्षाएँ

१

भगवत् गीता : इन दि लाइट आफ श्री अरविन्द, अनुवादक और संपादक डॉ ह. माहेश्वरी, प्रकाशक–लेखक स्वयं, वितरक–शब्द श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरि, मूल्य–२०–०० ।

भगवत् गीता पर असंख्य भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं और आगे भी लिखी जाती रहेंगी, क्योंकि इसमें जीवन के एक ऐसे मौलिक प्रश्न को उठाया गया है जिसका उत्तर देने का अर्थ है व्यवहार और परमार्थ विषयक सभी प्रश्नों का समाधान पा लेना । इसी से इसका कोई भी उत्तर असंख्य संभाव्य उत्तरों में से एक ही हो सकता है । किन्तु गीता अपना उत्तर इस प्रकार प्रस्तुत करती है जैसे मानो वह सभी संभव समाधानों का एक-साथ आकलन कर रही हो और तब भी एक संगत व्यवस्था दे रही हो । वास्तव में असंगतियाँ और विरोध विकल्प-बुद्धि के ग्रहण-व्यापार के क्रम में ही उत्पन्न होते हैं, सत् तो सब विरोधों की अविरुद्ध और आत्मसंगत स्थिति है । जो दृष्टि विकल्पों का अतिक्रमण कर अपने को सत् की सुर-धुन के साथ मिला देती है वह भी इसी प्रकार की व्यवस्था प्रकट करती है—जिसमें विरुद्ध विकल्प अविरुद्ध भाव में स्थिति पाते हैं । गीता की ऐसी ही दृष्टि है । किन्तु गीता के अन्यान्य भाष्यकारों ने उसमें अपनी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ खोजने का प्रयत्न किया है, जैसे हम सत् में भी खोजने का प्रयत्न करते हैं । यही स्वभाविक भी है । किन्तु श्री अरविन्द इन सब भाष्यकारों से भिन्न हैं, वे गीता के और उसमें उठाये गए मूल प्रश्न के प्रति किसी सिद्धान्त के माध्यम से प्रस्तुत नहीं हो कर खुले : निर्विकल्प भाव से प्रस्तुत होते हैं । वास्तव में यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि उनका भाष्य इस दृष्टि से गीता के अनुरूप है कि वह भी सैद्धान्तिक आग्रह से मुक्त हो कर उस अनुभव और अर्थ का अवगाहन करता है जिसका साक्षात्कार गीता ने किया है, किन्तु यह भिन्नता भी है कि वह गीता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि का आधुनिक मानस् में अवधारण कर उसे आधुनिक पदावली में प्रस्तुत करता है। इसी से गीता पर उनका भाष्य अन्य सब भाष्यों से भिन्न प्रकार का है।

किन्तु श्री अरविन्द ने गीता का भाष्य एक-एक श्लोक की व्याख्या करते हुए नहीं किया, उन्होंने उसको समग्रतः ग्रहण कर उसके तात्पर्य के विभिन्न अवयवों को आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया है। किन्तु इसकी भी आवश्यकता थी कि गीता के प्रत्येक श्लोक को आधुनिक मानस् के लिए आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया जाय। माहेश्वरी जी ने अपनी इस पुस्तक में यही अवशिष्ट कार्य बहुत उत्तम रूप में किया है।

माहेश्वरी जी से दर्शन के सभी विद्यार्थी परिचित हैं, क्योंकि उन्होंने वर्षों तक दर्शन का अध्यापन किया है और अपने जीवन से अनेकों को प्रेरणा दी है। पिछले लगभग १२ वर्षों से वे श्री अरविन्द आश्रम में ही जा बसे हैं और श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि के अनुसार अपने जीवन को साधने में निरत हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द की दृष्टि उनके लिए केवल पढ़ने-पढ़ाने की, या कहें जानकारी पाने और देने की वस्तु नहीं है बल्कि वह स्थिति है जो साध्य है, जो जीवन का अर्थ और तत्त्व है। इसलिए **गीता : श्री अरविन्द के प्रकाश में** का लेखन उनके लिए वास्तव में आत्मसाधना का ही एक पर्व कहा जा सकता है।

माहेश्वरी जी ने प्रत्येक श्लोक का अनुवाद करते हुए श्री अरविन्द की कृति **एस्सेज आन गीता**— में से ऐसे स्थल उनके साथ उद्धृत किये हैं जो श्री अरविन्द द्वारा उन श्लोकों को दृष्टि में रखकर लिए गए हैं। इस प्रकार माहेश्वरी जी ने भाष्य या व्याख्या के रूप में स्वयं कुछ नहीं लिख कर श्री अरविन्द को ही प्रस्तुत किया है, जो वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अतिरिक्त, यह उनकी इस दंभ-हीनता का द्योतक भी है कि वे अधिकारी चिन्तकों, साधकों या द्रष्टाओं से आगे कुछ कह सकते हैं—जिस दंभ से हम लोग प्रायः ही ग्रस्त हैं। उन्होंने अपना कार्य केवल श्लोकों का अंग्रेजी में अनुवाद करने तक सीमित रखा है। किन्तु अनुवाद अनुवादक के कृतित्व को कम व्यक्त नहीं करता. विशेषतः तब जब वह किसी काव्य-कृति का हो। फिर गीता तो केवल काव्य-कृति ही नहीं है, न वह मात्र दार्शनिक कृति है, वह एकसाथ दोनों ही है और दोनों से कई अधिक है, वह एक ऐसे तत्त्वदर्शी की कृति है जो पूरी संस्कृति का मुख बन कर बोल रहा है। ऐसी कृति का अनुवाद उतना ही सफल हो सकता है जितना अनुवादक स्वयं उस दृष्टि से तादात्म्य सिद्ध कर सकता है। माहेश्वरी जी के अनुवाद में मूल के गौरव, विपुलता, व्यञ्जकता, और मार्मिकता की पूर्ण रक्षा हुई है। इतना नहीं, मूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भाषा में जो प्रसाद गुण है उसकी भी अनुवाद में न केवल रक्षा हुई है बल्कि यहाँ वह हमें और भी अधिक मिलता है। पुस्तक का मुद्रण और सज्जा भी, श्री अरविन्द मुद्रणालय के द्वारा मुद्रित अन्य प्रकाशकों के अनुरूप ही अत्युकृष्ट है।

— यशदेव शल्य

डी-५९
बापुनगर
जयपुर-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२

दिनकर के पत्र– सं. कन्हैयालाल फूलफगर; प्रका.–दिनकर शोध संस्थान ८२/२ई, विधान सरणी, कलकत्ता–७००००४; पृ. डिमाई ३२ + २८० = ३१२; सजिल्द; मूल्य–४०/–

आत्मकथा और पत्र, दो ऐसे माध्यम हैं जिससे उनके लेखक को संपूर्णता में जाना और पकड़ा जा सकता है। सचाई इन दोनों का प्राणतत्त्व है। पर आत्मकथा के लेखक को फिर भी गोपन का अवसर रहता है। किन्ही विशेष क्षणों की सहज प्रतिक्रिया का जैसा निश्छल भाव पत्रों में रहता है, आत्मकथा में वैसी त्वरित क्रिया न होने से कथयिता की आत्मसजगता कुछ अधिक होती है और वह चयन और गोपन के आन्तरिक आग्रह के दबाव में भी काम कर सकता है। पत्र, विशेषतः आत्मीय जनों को लिखे गये पत्र, मनुष्य के अन्ततम की अभिव्यक्ति होते हैं और मनुष्य बाहर-भीतर जैसा है उसे सीधे-सहज रूप में प्रस्तुत करते हैं। कुशल राजनीतिज्ञों के व्यवहार-प्रधान पत्रों की स्थिति भले ही अलग हो, उक्त प्रकार के पत्रों के माध्यम से उनके लेखक की अन्तरात्मा में सरलता से गहरे तक उतरा जा सकता है, और उनके आधार पर उसके चरित्र और व्यक्तित्व का प्रामाणिक आकलन किया जा सकता है। इस दृष्टि से साहित्यकारों के ऐसे पत्रों का प्रकाशन बड़ा महत्वपूर्ण होता है।

श्री फूलफगर ने दिनकर शोध संस्थान की ओर से स्व. रामधारी सिंह 'दिनकर' के पत्रों को संकलित करके इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। संकलन में ७१ से अधिक मित्रों तथा स्वजनों को लिखे गये बहुसंख्य पत्रों को सम्मिलित किया है। सन् १९३४ से लेकर १९७४ में दिनकर जी के देहावसान तक ४० वर्षों की दीर्घ अवधि में लिखे गए ये पत्र दिनकर के संघर्षमय जीवन की साक्षी देते हैं। परिवार, साहित्य और राजनीति के विविध स्तरों से जुड़े इन पत्रों में मात्र व्यक्तिगत सूचनाएँ नहीं हैं। इनमें व्यक्ति, लेखक और राजनीति के दबाव को भोगते रचनाकार के त्रिविध व्यक्तित्व का समाहार है। दिनकर की पारिवारिक कठिनाइयाँ, उनसे उत्पन्न उनकी बेचैनी, बात को सुलझाने का सद्भावपूर्ण प्रयत्न जैसे इन पत्रों में मुखर है, वैसे ही लेखन के क्षेत्र में अपने पैर जमाने की सजग आकांक्षा, उसके लिए मित्रों की सदाशयता को प्राप्त करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्परता और लेखन, प्रकाशन तथा विक्रय की योजना की संतत चिंता भी व्यक्त हुई है और दिनकर का उनकी समग्र संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती है। दिनकर अपनी समस्याओं से जूझते हुए भी मित्रों या संपर्क में आये व्यक्तियों के हितचिन्तन के लिए तत्पर दिखते हैं। दूसरों की योग्यता के अनुकूल उन्हें सम्मान या अधिकार-पद मिले इसकी चिन्ता उनके कई पत्रों से सहज उजागर होती है। कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह, डॉ प्रेमस्वरूप गुप्त, रामजी पाण्डेय, वीरेन्द्रकुमार जैन के विषय में उनकी तत्परता डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा स्वयं वीरेन्द्रकुमार जैन को लिखे पत्रों से स्पष्ट होती है। पौत्र-पौत्री के विवाह की चिन्ता और उससे उत्पन्न मानसिक तनाव उनके अनेक पत्रों में गहराया हुआ दीखता है। समाज की वर्तमान स्थिति का कटु अनुभव और जातिवाद के फैलते विष के मारक प्रभाव को दिनकर ने गहरी पीड़ा के साथ भोगा है। उनकी आत्मा उनसे निरंतर युद्ध-रत रहती है, यह उनके पत्रों से साफ़ प्रकट है। कवि और लेखक के रूप में वे अपने कर्तृत्व के प्रति जितने आत्मसजग हैं, अपनी आलोचना के प्रति उतने ही तटस्थ और अप्रभावीत भी। रचना-कर्म उनके लिए एक अनिवार्य धर्म था, जिसका पालन करने के लिए वे स्वयं ही नहीं ललरते रहे या अवकाश न मिलने पर पीड़ित होते रहे, बल्कि कवि-मित्रों को उत्साहित और प्रेरित भी करते रहे। उसके लिए उनकी छटपटाहट उनके अनेक पत्रों में व्यक्त हुई है। इसी प्रकार, अपने लिए दूसरों का अहित करके चलना उन्होंने नही सीखा। सुधांशु जी के प्रति आदरभाव और उनके अस्वास्थ्य के समय की आवश्यकता का अनुभव करके ही उन्होंने हिंदी-ग्रंथ अकादमी का अध्यक्ष पद स्वीकार नहीं किया। दिनकर अपने कर्मशील जीवन में मनुष्य-धर्म का निर्वाह करते विषय स्थितियों से जूझते रहे और अन्ततः छीजते-छीजते समाप्त हो गये। पुत्र की ओर से मिले कष्ट ने उन्हें तोड़ डाला, पर वे अपने कर्तव्य से विरत नहीं हुए। अपनी मानसिक पीड़ा को उन्होने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को एक पत्र में व्यक्त करते हुए कहा है–"दिमाग के भीतर खंजर घूमता रहता है। बड़ी मुश्किल से उसे रोक पाता हूं। मै जीवन में चारों ओर से घिर गया हूं। मृत्यु और वैराग्य के सिवा तीसरा दरवाजा दिखायी नहीं देता हैं।" सघन पीड़ा और आत्ममंथन के संत्रास को भोगते जीवन की इससे बढ़कर सहज अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है? सरस्वती और लक्ष्मी के बैर को बुझाने की कोशिश में उन्होंने बड़ी कटुता से अनुभव किया था–"हम जिस समाज में जी रहे हैं, उसके प्रोप्राइटर राजनीतिज्ञ हैं मैनेजर अफसर हैं, बुद्धिजीवी मजदूर हैं। बूढ़ा मजदूर भर-पेट मजदूरी नहीं कमा सकता, वही मेरा हाल है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनकर के पत्र उनके हृदय की भाषा हैं। सादगी और सहज अभिव्यक्ति उनकी प्रकृत विशेषताएँ हैं। अपनी सहजता में जैसे वे जबतब अँग्रेज़ी शब्दों, वाक्यों और उद्धरणों का प्रयोग करने लगते हैं; वैसे ही भावावेग में कविता की पंक्तियाँ भी, चाहे वे अपनी हों या दूसरों की, चाहे हिंदी की या उर्दू की; उनके कथनों में रंग भर लाती हैं। अपने चारों ओर के प्रति उनकी सजगता, इन पत्रों में उतनी ही मूर्त और मुखर है जितनी अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति है। छोटे-बड़े पत्रों में उनकी कर्म-तत्परता, विरोध सहन करने की तटस्थतापूर्ण क्षमता और संवेदनशीलता से पाठक का निरंतर साक्षात्कार होता रहा है।

श्री फूलफगर ने इन्हें एकत्र करके व्यक्ति-क्रम से व्यवस्थाबद्ध किया है। इस कार्य की काठनाई से परिचित पाठक उनके कठिन श्रम का अनुमान कर सकते हैं। श्री फूलफगर इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। इतना अवश्य है कि इस व्यवस्थापन में पाठक को तिथियों का ध्यान रखते हुए सभी पत्रों के बीच से दिनकर के जीवन की घटनाओं का क्रम जोड़कर उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का रूप संजोने का श्रम स्वयं ही करना पड़ेगा, क्योंकि पत्रों में व्यक्तिश: तिथियों का बिखराव आ गया है। पुस्तक में डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' द्वारा लिखित 'आमुख' अपने-आप में पत्र-साहित्य के परिचय का एक महत्त्वपूर्ण विवरण-पत्र भी है और दिनकर के समग्र व्यक्तित्व का उनके पत्रों के आधार पर प्रस्तुत एक सच्चा चित्र भी है। स्वयं फूलफगर जी की 'अपनी बात' से कई परिचित परिचित तथ्यों के सूत्र हाथ आते हैं। उनका श्रम सराहनीय है, सफल भी।

–आनंद प्रकाश दीक्षित

३

शोध–(पत्रिका)– प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, आरा (भोजपुर, बिहार) सं–डॉ. बनारसीप्रसाद भोजपुरी तथा डॉ. राजाराम जैन.

'शोध' आरा की नागरी प्रचारिणी सभा की साहित्य तथा संस्कृति की गवेषणापूर्ण पत्रिका है, जिसका प्रथमांक (२०३६ विक्रमाब्द : १९७९ खृष्टाब्द) हमारे हाथों में है। शोध के क्षेत्र में आरा की इस सभा ने पुस्तक रूप में कुछ प्रकाशन इसके पूर्व प्रस्तुत किये हैं, किन्तु पत्रिका के प्रकाशन के रूप में यह इसका पहला प्रयास है। पत्रिका का उद्देश्य भोजपुर के साहित्य, वहाँ की संस्कृति और लोक-जीवन को प्रकाश में लाना, उन पर नवीन शोध के लिए लेखकों को प्रेरित करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी को स्वीकार करते हुए उन शोध के परिणा को प्रकाशित करना है। अपने इस उद्देश्य को सम्पादक द्वयने अपनी सम्पादकी टिप्पणियों में सुस्पष्टतया प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने प्रदेश की साहित्य विभूतियों का ससम्मान उल्लेख करते हुए शोध कर्ताओं को आह्वान किया है कि उनके साहित्य के अनुशीलन, प्रचार-प्रसार पर ध्यान दें। इन रचनाकारों में प्रतिष्ठित लेखखों के नाम परिगणित हैं, वहाँ शाहाबाद जिले के प्रगतिशील रचना कारों का भी ससम्मान उल्लेख है। साहित्य को पीढ़ियों या वर्गों में बाँटकर देख की संकुचित दृष्टि से बचकर सम्पादक द्वयने अपने प्रदेश की अस्मिता को जग का एक संगठनात्मक कार्य आरंभ करना चाहा है। इस क्रम में उन्होंने प्रदेश मित्र साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय भी दिया है।

हिंदी में सभा और सम्मेलन या परिषद् से प्रकाशित की जानेवाली शो पत्रिकाओं का विषयक्षेत्र विस्तृत रहा है। उनकी तुलना में 'शोध' प्रादेशि जागरण का स्वर लेकर उपस्थित है और हिंदी में इस क्षेत्र के योगदान का आक करना चाहती है। यह इसकी विशिष्टता है; सीमा और संकोच न बन जाय- अपेक्षित है।

वर्तमान अंक में संकलित लेखों में पर्याप्त वैविध्य है और उसकी सीमा में भोजपुरी लोकसाहित्य, आधुनिक हिंदी-साहित्य-सेवा जैसे लेखों के अतिरि भोजपुर के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्व को उजागर करनेवाले, आर्य-संस्कृति बिहार की भूमिका निश्चित करनेवाले अथवा प्राचीन साहित्य में भोजपुरी भा के मूल रूप को खोजने अथवा उस क्षेत्र के विस्मृत किंतु महत्वपूर्ण कवि व लोक-गायक का विस्तृत परिचय देनेवाले लेख तो हैं ही, कन्नड के आदिकवि प पर भी एक लेख प्रस्तुत है जिसे कन्नड-साहित्य के महारथी विद्वान पं. के. भुजब शास्त्री ने कन्नड़ लिपि में प्रस्तुत किया था। इसका नागरी-लिप्यंतरण श्री. ए राजरत्नम् ने तथा हिंदी शब्दानुवाद श्री. एस. रामचंद्रन् ने किया है। अं लेख में आरा नागरी प्रचारिणी सभा का इतिहास और उसकी विकास कथा दी गयी है।

९० पृष्ठ की इस पत्रिका ने अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रस्तुत अंक में महत्व पूर्ण सामग्री सामने लाने का प्रयास किया है और शोध के क्षेत्र में क्षेत्रीयता दृष्टि से पहल की है। हिंदी का विशाल वाङ्मय इस प्रकार के प्रयासों से इतिहास में नये पन्ने जोड़ सकता है। हिंदी को अपने व्यापक रूप को पहचा और अपने गौरव की अभिवृद्धि करने में इस प्रकार के कार्य से सहकार मि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह शुभ ही है। हम 'शोध' का 'परामर्श' परिवार की ओर से हार्दिक स्वागत करते हैं और उसकी स्तरीयता के प्रति प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

—आनंद प्रकाश दीक्षित

४

बाइबिल के हिंदी अनुवादों की भाषा —ले. डॉ. मैथ्यु वेच्चुर; प्रका. संत पौलुस प्रकाशन, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद–२; पृ.–८०; अजिल्द;–१२ रु.

प्रस्तुत पुस्तिका डॉ. वेच्चुर के डी. फिल्. के शोध प्रबंध "१९ वीं शताब्दी के बाइबिल के हिंदी अनुवादों की भाषा" की भूमिका है। खड़ी बोली हिंदी गद्य में ईसाइयों ने अपने धर्मग्रंथ बाइबिल के अनेक अनुवाद प्रकाशित किये। हिंदी-भाषा और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अन्य कार्य भी किये। उससे उनके धर्म प्रचार को भले ही बल मिला हो, हिंदी को भी अपने प्रचार-प्रसार में सहायता मिली और उसकी उपयोगिता भी सिद्ध हुई। हिंदी में शोधकर्ताओं ने इन क्षेत्रो में किये गये कार्यों का शोध करके कई प्रबंधों की रचना की है: डॉ. वेच्चुर के प्रस्तुत प्रबंध का विषय बाइबिल के अनुवादों तक सीमित है किन्तु चूंकि उनका अध्येय भाषा है और अकेले 'नया नियम' के ही ३० अनुदित संस्करण मूलतः प्रकाशित हो चुके हैं तथा उनके परवर्ती संस्कारणों की संख्या कहीं अधिक है, अतः अपनी सीमा में भी यह अध्ययन काफी विस्तृत और रोचक है। डॉ. वेच्चुर ने अपने अध्ययन का विषय छोटी-छोटी अनुदित उन पुस्तिआओं को नहीं बनाया है जो प्रतिवर्ष मुक्त बाँटी जाती है और जिनकी संख्या, उनकी दृष्टि में, लाखों है। इस विपुल सामग्री को देखकर डॉ. वेच्चुर १९ वीं शती को 'बाइबिल युग' ही कहना पसंद करते हैं। इन अनुवादों की भाषा में ग्रामीण शब्दों का भण्डार हिंदी की शक्ति है। डॉ. वेच्चुर ने इस बात को लक्षित करते हुए बाइबिल के अनुवादों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया है और प्रस्तुत भूमिका में बाइबिल के अनुवादों का एक-एक नमुना, प्रभु-प्रार्थना, देकर उसका कुछ परिचय पाठक को करा दिया है। संपूर्ण भूमिका निष्कर्ष सहित ६ शीर्षकों में विभाजित है। ये शीर्षक हैं—१ बाइबिल का सामान्य परिचय, २ बाइबिल की मूल भाषा और अनुवाद, ३ बाइबिल के हिंदी अनुवाद ४ अनुवाद, ५ बाइबिल के अनुवादों की भाषा एवं सामयिक हिंदी तथा ६ निष्कर्ष।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ वेच्चुर ने सामान्य परिचय में इस बात को स्पष्ट किया है कि बाइबि की हस्तलिखित प्रतियाँ ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ही प्राप्त होती है और संसा की १९०० भाषाओं में संपूर्ण बाइबिल का अनुवाद मिलता है तथा अनेक भाषाओं और बोलियों में यह आंशिक रूप से अनूदित है। बाइबिल के ग्रंथों का नामो ल्लेख करते हुए डॉ. वेच्चुर ने कहीं-कहीं उनके क्रम का ध्यान नहीं रखा है, सा ही 'न्यू टेस्टामेंट' शब्द को लॅटिन से व्युत्पन्न बताते हुए भी उसकी व्युत्पत्ति क नहीं बताई है। 'नया नियम' के सत्ताइस ग्रथों को 'सर्वसामान्य' कहकर डॉ वेच्चुर वस्तुतः क्या कहना चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं होता। इसी प्रकार 'मूल संस्करण' जैसे प्रयोग से भी उनका अभिप्राय स्पष्ट समझ में नहीं आता।

डॉ. वेच्चूर ने बड़े परिश्रमपूर्वक तथा वैज्ञानिकरीति से अपनी साम जुटायी तथा उसका व्यवस्थापन किया है। अनेक विद्वानों के ग्रंथों का अध्ययन करते और मूल सामग्री को देखते हुए उन्होंने प्रामाणिकता की रक्षा की है। उनकी धारणा है कि डॉ. वार्ष्णेय के द्वारा प्रतिपादित यह मत कि 'सर्वप्रथम हिंदी अनु वाद फोर्ट विलियम कालेज से संस्कृत और हिंदू धर्मशास्त्र के अध्यापक त कलकत्ता बेंच के प्रधान हेनरी टामस कोलब्रुक ने किया' ठीक नहीं है क्योंकि "वास्तव में यह अनुवाद और उसका प्रकाशन कभी हुआ ही नहीं।" अ उनकी सम्मति है कि "विलियम मेरी का १८११ का अनुवाद ही हिंदी का पहला अनुवाद है"

डॉ वेच्चुर की इस भूमिका से अन्याय हिंदी अनुवादों का इतिहास त उनकी भाषा की जानकारी तो होती ही है उन्होंने अन्यान्य हिंदी बोलियों, भार तीय भाषाओं तथा हिंदी अनुवादों और संस्करणों की प्रकाशन वर्ष, अनुवादक नाम तथा प्रकाशन स्थान सहित तालिकायें देकर पाठकों तथा शोधकर्ताओं का विशे उपकार किया है। अन्यान्य हिंदी तथा विदेशी साहित्यकारों के विचारों के निक के आधार पर तैयार की गयी यह भूमिका रूप पुस्तक इस विषय की मूल्यवा सामग्री प्रस्तुत करती है। पुस्तक पठनीय है।

—आनंद प्रकाश दीक्षि

५

भक्तिमीमांसा–सं. एवं व्याख्याकार–डॉ. विश्वनाथ शुक्ल; प्रका.–वि पब्लिकेशन्स समद रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.) सजिल्द; पृ. २४+४०=१ मूल्य–२० रु.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति के स्वरूप का निर्वचन करनेवाले सूत्र-ग्रंथों में 'नारद भक्तिसूत्र' तथा 'शाडिल्य भक्तिसूत्र' का नाम प्रसिद्ध है। 'भक्तिमीमांसा' भी सूत्र ग्रंथ ही है; किंतु इसके रचियता और रचनाकाल का कुछ पता नहीं है, अतएव यह इनसे सूत्र संख्या में बड़ा होकर भी वैसी ख्याति न प्राप्त कर सका। इस ग्रंथ का पहली बार संपादन, कुछ और भक्तिसूत्रों के साथ १९२३ ई. में डॉ. गोपीनाथ कविराजने 'सरस्वती भवन स्टडीज' में किया था। उक्त अंग्रेजी शोधपत्रिका में कविराज ने 'ए न्यू भक्तिसूत्र' नामक भूमिका दी थी और मूल सूत्रों के साथ ग्रंथ के थोड़े से प्रारंभिक भाग पर संस्कृत में टिप्पणी की थी। डॉ. विश्वनाथ शुक्ल ने प्रस्तुत संस्कारण में मूल संस्कृत सूत्र, हिन्दी व्याख्या तथा परिशिष्ट में सूत्र-सूची, पराभक्तिसूत्र (ले. हरिहरारण्य स्वामी) एवं उनका हिन्दी अनुवाद तथा भक्ति की कतिपय परिभाषाएँ देने के अतिरिक्त २४ पृ. की विस्तृत भूमिका देकर ग्रंथ को हिंदी पाठकों के लिए विशेष उपयोगी बना दिया है। 'प्राक्कथन' लेखक डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी ने उनकी इस व्याख्या और गंभीर अध्ययन का बहुमान करते हुए उनके कार्य को इस साहित्य को लोकजीवन में प्रसार की दृष्टि से आगे बढानेवाला माना है।

डॉ. शुक्ल ने एक ही जिल्द में भक्तिमीमांसासूत्र के साथ-साथ पराभक्तिसूत्र को भी हिंदी व्याख्या सहित प्रस्तुत करके पाठकों को दुहरा लाभ प्रदान किया है। हिंदी में उनका यह कार्य पहला होने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। अपनी विस्तृत भूमिका में डॉ. शुक्ल ने बड़े परिश्रमपूर्वक भक्तिमीमांसासूत्र के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उसे श्रीमत्भागवत की परम्परा से जोड़ा है और सप्रमाण सिद्ध किया है कि उसका लेखक श्री. बोपदेव के 'मुक्ताफल' नामक संग्रहग्रंथ का अनुसर्ता है। इसी आधार पर उन्होंने उसका रचनाकाल १३ वीं शती ई. का उत्तरार्ध और १६ वीं शती के उत्तरार्ध के बीच माना है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से 'मुक्ताफल' के अनुसरण के साथ-साथ डॉ. शुक्ल उसे शांडिल्य भक्तिसूत्र की अपेक्षा नारदभक्तिसूत्र के अधिक निकट मानते हैं। उन्होंने लक्षित किया है कि भक्ति को ही परमपुरुषार्थ माननेवाले इस ग्रंथ की इतर ऐसे ग्रंथों से भिन्न परंपरा है जो मोक्ष को भक्तिद्वारा साध्य मानते हैं और उसे परमपुरुषार्थ कहते है। साथही यह सूत्रग्रथ भक्ति की प्रतिष्ठा भावरूप में नहीं रसरूप में करता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसमें भक्ति को निर्गुण तथा सगुण द्विविध रूपात्मक माना गया है और सगुणभक्ति के अनेक भेदों पर प्रकाश डाला गया है। दो-दो पाद के चार अध्यायों और कुल १०२ सूत्रों में समाप्त इस भक्तिमीमांसासूत्र का अध्ययन इन सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होगा और भक्ति के अध्यात्म तथा उसके काव्यशास्त्रीय रूप को ग्रहण करने में इस ग्रंथ से विशेष सहायता प्राप्त होगी। डॉ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्ल ने अपनी व्याख्या में अधिकाधिक स्पष्टता के लिए विशेष शब्दों की व्यु करते हुए उनके अर्थ के निदर्शन का भी यथावश्यक प्रयोग किया है तथा भा तादि ग्रंथों से सूत्र की पुष्टि के प्रमाण भी एकत्र किये हैं । इससे उनकी व्या अत्यन्त उपयोगी बन गयी है । हमारी दृष्टि में एकाध स्थल ऐसा भी है व्याख्या पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना चाहिए था । यथा, तीसरे अध्या प्रथम पाद में ३१ वे और ३५ वें सूत्र में मेल बैठाने और पुनरुक्ति से बचने आवश्यकता प्रतीत होती है । इसी प्रकार दूसरे पाद में ५० वें सूत्र की कुछ अ स्पष्ट व्याख्या अपेक्षित है ।

सारत:, डॉ. शुक्ल का यह कार्य भूमिका और व्याख्या दोनों दृष्टियों मौलिक तथा परमोपयोगी है और एक अल्पज्ञात किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को पाठकों की पहुँच में ले आने के लिए डॉ. शुक्ल बधाई के पात्र हैं ।

—आनंद प्रकाश दी

आचार्य एव अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (संस्था)

१. भुसावल आर्ट्स्, साइन्स तथा कामर्स कॉलेज
भुसावल, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

२. कर्नाटक विश्वविद्यालय
पावटे नगर, धारवाड–३ (कर्नाटक)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

(१८) **प्रा. नागोराव ल. कुंभार**
दर्शन विभाग
महात्मा बसवेश्वर महाविद्यालय
लातूर, जिला– उस्मानाबाद (महाराष्ट्र)

(१९) **डॉ. ज. वा. जोशी**
'लक्ष्मी' फ्लॉट नं. ९,
एल्. आई. सी कॉलोनी, पुणे–४११००

(२०) **डॉ. (श्रीमती) पवनकुमारी**
रिसर्च एसोसिएट
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–११०००७

(२१) **डॉ. नारायणशास्त्री द्राविड**
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर–४४००१०

(२२) **डॉ. विजयकुमार भारद्वाज**
दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–११०००७

(२३) **प्रोफेसर एस्. पी. कनाल**
५७०, डबल स्टोरी,
न्यू राजेंद्रनगर, दिल्ली-११००६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साभार अभिस्वीकृति

शल्य, यशदेव; **संस्कृति: मानव-कर्तृत्व की व्याख्या**; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८१; पृ. १४३; मू. रुपये ६-००

वेच्चुर, (डॉ,) मैथ्यु; **बाइबिल के हिन्दी अनुवादों की भाषा**; सन्त पॉल्स प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८१; पृ. ८०

चतुर्वेदी, बनारसीदास (संपा.); **लोक-क्रान्ति-पाथेय**; सर्व सेवा संघ प्रकाशन, दिल्ली, १९८०; रु. ७०

Tondon, Vishvanath; Selections From Vinoba; Sarva Seva Sangha, Delhi, 1981; Rs. 50

०००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

27-6-84
पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ३ अंक २

मार्च १९८२

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे

राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ◆ राजेन्द्र प्रसाद ◆ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ◻ रमाकान्त सिनारी ◻ विजय भारद्वाज ◻ शारदा जैन

संगमलाल पांडे ◻ आर्. बालसुब्रमणियन्

अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. ...

※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शुभ" तथा "गुड" : तुलनात्मक अर्थ-विवेचन

सर्वविदित है कि नीतिशास्त्र का मूल प्रतिपाद्य विषय, पाश्चात्य एवं प्राच्य सभी चिंतकों की दृष्टि में, सर्वदा "शुभ" का प्रत्यय एवं उसकी व्याख्या तथा परिभाषा ही रहा है; किन्तु शुभ "शब्द" का प्रयोग विभिन्न भाषाओं में अनेक विभिन्न अर्थों में किया जाता है। आंग्ल भाषा में इसका पर्यायवाची शब्द "गुड" है। मेरा अभिमत है कि जिस तरह "दर्शन" का अर्थ आंग्ल भाषा में प्रचलित एवं प्रायः स्वीकृत उसके पर्यायवाची "फिलॉसोफी" से पूर्णतः प्रगट नहीं होता है, वैसे ही संस्कृत एवं संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में प्रचलित शब्द 'शुभ' के लिए आंग्ल भाषा में प्राप्त 'गुड' शब्द सम्यक् एवं उपयुक्त पर्यायवाची नहीं है। मेरी दृष्टि में, 'गुड' को प्रचलित हिन्दी या हिन्दुस्तानी में प्रयुक्त शब्द 'अच्छा' का अनुवाद तो स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु 'शुभ' का अनुवाद स्वीकार करना अत्यधिक भ्रामक है क्योंकि भारतीय नीति-परंपरा में शुभ को सदैव ही नैतिक संदर्भ में समझाया गया है। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में क्या हमें आंग्लभाषा में किसी अन्य सम्यक् शब्द की खोज करना चाहिए अथवा आंग्लभाषियों को अन्य किसी पर्यायवाची शब्द के निर्माण के लिए बाध्य करना चाहिए। इस समस्या पर विचार करने पर हमें अन्त में निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि कोई समीचीन शब्द उपलब्ध नहीं होता; तथापि प्रबुद्ध पाठकों से मेरा निवेदन है कि इस दिशा में यदि वे कुछ उत्तम सुझाव दे सकें, तो उत्तम होगा। इस शोध-लेख का विवेच्य-विषय 'शुभ' तथा 'गुड' के विभिन्न अर्थों का उद्‌घाटन है।

सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि 'गुड' न केवल शुभ का अनुपयुक्त पर्यायवाची है, अपितु अनेकार्थक होने के कारण स्वयं आंग्लभाषियों के लिये इसका अर्थ-निर्णय करना सदैव एक समस्या रहा है। हम पाते हैं कि आंग्लभाषा में 'गुड' के कम-से-कम तीन अर्थ हैं –

१) यह 'गुडनैस' अथवा 'शुभत्व' नामक गुण या विशेषता की ओर संकेत करता है। इस अर्थ में यह तब प्रयुक्त होता है जब यह किसी वाक्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधेय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जार्ज एडवर्ड मूर अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिया एथिका' में शुभ को इसी अर्थ में नीतिशास्त्रीय अन्वेषण का प्रधान विषय घोषित करते हैं तथा उसे सरलगुण होने के कारण अपरिभाष्येय[१] सिद्ध करते हैं।

२) 'गुड' शब्द का प्रयोग 'वस्तु' अथवा 'माल' के लिये भी होता है अतः यह बहुवचन में भी प्रयुक्त किया जाता है। इस अर्थ में इसका संबंध किसी भी तरह नैतिकता से नहीं है। यहाँ मूर रचित शब्द 'द गुड'[२] की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है; किन्तु तत्क्षण यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूर के 'द गुड' व सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त 'गुड्स्' शब्दों के अर्थों में मूलभूत भेद है। मूर का 'द गुड' से तात्पर्य केवल उन चीज़ों से है जिनमें शुभत्व नामक नैतिक गुण पाया जाता है व जिन्हें हम शुभ वस्तुयें अथवा नैतिक वस्तुयें संबोधित करते हैं। माल-असबाब से उसका तात्पर्य कदापि नहीं है। हिन्दी में 'शुभ' का बहुवचन में प्रयोग होता ही नहीं है।

३) 'गुड' शब्द का प्रयोग 'वेल्फेयर' के अर्थ में भी किया जाता है। भारतीय नीतिशास्त्र भी शुभ तथा कल्याण अथवा कल्याणकारी में भेद नहीं करता। स्मरणीय है कि भारतीय नीतिशास्त्र शुभ को शुभत्व नामक अपरिभाष्येय विशेषता न मानकर उसे कल्याणकारी से परिभाषित करता है। यही कारण है कि भारतीय नीति-चिंतन वेदों से आज तक आत्म-कल्याण व विश्व-कल्याण पर सर्वदा बल देता रहा है। भारतीय मनीषी इस निष्कर्ष पर किन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण नहीं पहुँचे; वरन् शुभ के प्रत्यय को परिभाषित करने की लंबी चिंतन-प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही उन्होंने यह सत्य जाना है कि शुभ को केवल कल्याणमय से ही परिभाषित किया जाना चाहिए। शुभ का अर्थ उन्होंने 'नैतिक आदर्श' लिया और इस नैतिक आदर्श को विश्व-कल्याण से समझाने की चेष्टा की। अपरिभाष्येय कहकर उसे सामान्य लोगों तथा समाज के लिये अबूझ पहेली-सा छोड़ देना उन्होंने उचित नहीं समझा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्तव्यपरायणता के साथ ही उनकी सामाजिक चेतना कितनी जागृत थी। शुभ को अपरिभाष्येय सिद्ध करने की मूर की मौलिक पद्धति व ईमानदार बौद्धिक प्रयास तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिये बौद्धिक-विलास तथा महाविद्यालयीन व विश्वविद्यालयीन विद्यार्थियों, शोधार्थियों व शिक्षकों के लिये भले ही कौतुक एवं प्रशंसापूर्ण बौद्धिक व्यायाम का साधन हो सकता है; पर यह सोचना कि इससे हम भारतीय समाज को कोई नैतिक मापदंड प्रदान कर सकते हैं, नितांत भ्रांतिपूर्ण ही नहीं, मूर्खतापूर्ण ही होगा। मूर की पुस्तक के चौथे एवं अंतिम अध्याय- 'नीतिशास्त्र का व्यवहार से संबंध' तथा 'आदर्श'- में स्वयं मूर को विभिन्न नैतिक प्रत्ययों तथा कर्तव्य आदि की व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते समय जिन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा है उससे भी यदि समकालीन भारतीय चिंतक व शिक्षक कोई शिक्षा ग्रहण न कर, यदि नैतिकता के क्षेत्र में पाश्चात्य चिंतन-पद्धतियों के अनुकरणकर्ता मात्र बने रहते हैं तो मौलिक नैतिक चिंतन के श्रम से घबराये इन शिक्षकों से नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन को रोकने में समाज को किसी भी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए क्योंकि वह रेत में से तेल प्राप्त करने की कामना के समान होगा।

राइट[3] अपनी पुस्तक 'द वेरायटीज़ ऑफ गुडनैस' में गुड शब्द के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करते हुए उसके प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनमें से एक को वे 'बेनीफिशियल गुड' की संज्ञा देते हैं। यद्यपि उन्होंने इसे उपयोगी या यूज़फुल का ही एक प्रकार स्वीकार किया है, तथापि उसके द्वारा प्रस्तुत कुछ उदाहरणों व उसकी व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि उसका तात्पर्य यहाँ कल्याण-कारी से ही है। उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि हम समस्त अच्छी संस्थाओं को देश के लिये व अच्छी आदत को प्रत्येक व्यक्ति के लिये 'अच्छा' मानते हैं। जैसा कि स्वयंसिद्ध है यहाँ 'गुड' से तात्पर्य कल्याणकारी से है। हिंदी में भी 'अच्छा' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में तब होता है जब हम यह कहते हैं कि कल्याणकारी संस्थायें देश के लिये अच्छी होती हैं। 'बेनिफिशियल' का एक हिन्दी पर्यायवाची 'लाभदायी' होता है क्योंकि जैसा कि विदित है उपर्युक्त विशेषण 'बेनीफिट' या 'लाभ' शब्द से बना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राइट जब इसे यूज़फुल अर्थात् उपयोगी का ही एक उप-प्रकार कहते हैं तब वे कल्याणकारी, उपयोगी तथा लाभदायक को भ्रमित कर देते हैं। जब कि इनमें स्पष्टतः भेद है।

'गुड' के दूसरे प्रयोग को वे 'उपयोगितावादी अच्छाई' (युटीलिटेरियन गुडनैस) कहते हैं। वे अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जब हम किसी योजना अथवा परामर्श को अच्छा कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह किसी उद्देश्य-विशेष के लिये उपयोगी अथवा लाभदायक है। हिन्दी में भी 'अच्छा' शब्द इस अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हम योजना लाभदायी सलाह को अच्छा कहते हैं, पर शुभ नहीं।

राइट के मतानुसार 'केवल उपयोगी' वह है जो 'सामान्यतः' किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अच्छा होता है तथा 'बेनीफिशियल' वह है जो किसी व्यक्ति-विशेष के व्यक्तिगत उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अच्छा होता है। मैं इस वर्णन से असहमत हूँ क्योंकि मेरे मतानुसार स्थिति इससे भिन्न है। हम प्रायः उपयोगी के अर्थ में अच्छा उसे कहते हैं जो सामान्यतः सभी के लिये न होकर, किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियोंके लिये कार्य-साधक होता है जैसे 'स्टेथस्कोप' चिकित्सक के लिये उपयोगी होता है, सभी लोगों के लिये नहीं। जबकि लाभदायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अर्थ में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग व्यापक क्षेत्र के लिय होता है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि पौष्टिक आहार लेना अच्छा है अथवा पौष्टिक आहार अच्छा है।

जब कल्याणकारी के अर्थ में अच्छा या गुड शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह सर्वाधिक संख्या के लिये होता है। इसके अन्तर्गत न केवल संपूर्ण राष्ट्र अपितु समस्त विश्व आ जाता है। जब हम किसी योजना को देश के लिये अच्छा कहते हैं तो हमारा बल इस बात पर रहता है कि यह इस या उस व्यक्ति या राज्य के लिये ही अच्छी न होकर, अनेक लोगों की भलाई के लिये, संपूर्ण राष्ट्र की भलाई के लिये अच्छी है। दूसरी ओर जब हम अभियांत्रिकी की किसी पुस्तक को अच्छा कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह इंजीनियर बनने के इच्छुक विद्यार्थी के लिये 'उपयोगी' है, न कि वह उसके लिये 'कल्याणकारी' है। कल्याण व उपयोग में अन्तर है जिसे सदा ध्यान में रखा जाना चाहिए।

राइट का यह मत ठीक है कि 'गुड' शब्द का प्रयोग हम उन चीजों के लिये भी करते हैं जो हमें सुख देती हैं। इसे वे 'हेडॉनिक गुड' से संबोधित करते हैं। इसके अन्तर्गत हम सुस्वादु भोजन, मनोनुकूल परिधान व मित्र आदि को सम्मिलित करते हैं जो व्यक्तिगत सुख प्रदान करती हैं। सुखवादी 'शुभ' को इसी अर्थ में परिभाषित करते हैं।

अच्छा या 'गुड' शब्द का प्रयोग हम शारीरिक अंगों की स्थापना तथा मस्तिष्कीय शक्तियों की सामर्थ्य के सन्दर्भ में भी करते हैं। जैसे जब हम यह कहते हैं कि मेरी मित्र की आँखें अथवा दृष्टि अच्छी हैं या 'ब' की स्मरण-शक्ति अच्छी है। राइट इसे 'मेडीकल गुडनैस' की संज्ञा देता है। द्रष्टव्य है कि हम यह कभी नहीं कहते कि आँखें या स्मरण-शक्ति शुभ है।

हम किसी शिक्षक, वैज्ञानिक, बढ़ई, कलाकार आदि को भी अच्छा कहते हैं। जब हम ऐसा कहते हैं तब हमारा संकेत उनके विशिष्ट क्षेत्र में अर्जित उनकी विशेषता या कुशलता की ओर रहता है। इस अर्थ में अच्छा या 'गुड' का प्रयोग हिन्दी व आंग्लभाषा दोनों में अत्यधिक प्रचलित है। राइट इसे 'टैक्नीकल गुडनैस' की संज्ञा देते हैं जिससे प्रायः सभी सहमत होंगें। यहाँ भी हम यह देखते हैं कि 'अच्छा' शब्द की जगह 'शुभ' को स्थानापन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस अर्थ में 'अच्छा' का नैतिकता से कोई संबंध नहीं है। एक अच्छा अथवा अपने व्यवसाय में निपुण डॉक्टर नैतिक दृष्टि से बुरा अथवा हत्यारा हो सकता है।

इतना ही नहीं 'गुड' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग हम मोटर, मकान जैसी वस्तुओं, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि पालतू जानवरों तथा दैनिक प्रयोग में आने-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली वस्तुओं यथा चाकू, हथौड़ा आदि के लिये भी करते हैं। तेज धारवाली चाकू को हम इसलिये अच्छा कहते हैं क्योंकि इससे किसी भी वनस्पति को काटने में सुविधा रहती है। उस कार को हम अच्छा कहते हैं जो बिना बिगड़े अर्थात् हमें परेशानी में डाले बिना अच्छी गति से चलती है। वह कुत्ता हमारी दृष्टि में अच्छा है जो मालिक की व उसके घर की रक्षा पूर्ण सजगता से करता है। इस तरह यहाँ 'गुड' या अच्छा से तात्पर्य साधन के रूप में किसी चीज के अच्छा होने से है। यही कारण है कि राइट इसे 'इन्स्ट्रूमेंटल गुडनैस' अथवा साधन की अच्छाई की श्रेणी में रखते हैं। पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 'साधन के रूप में अच्छा' व 'साधन के रूप में शुभ' में भेद है। शुभ व अशुभ विशेषण नैतिकता व औचित्य अनौचित्य की ओर संकेत करते हैं; जबकि अच्छा व बुरा 'गुड-बैड' शब्दों का प्रयोग अन्य अर्थों में भी संभव है।

जब प्रसिद्ध बुद्धिवादी लाइबनित्ज तीन विभिन्न प्रकार के शुभ को परिभाषित करते हैं तब उन्हें भी इस शब्द की अनेकार्थता के कारण इसकी सम्यक् व्याख्या में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उनके अनुसार 'पूर्णता' तत्त्वमीमाँसीय शुभ है; जबकि 'सुख' भौतिक शुभ है, तथा सद्गुणप्रसूत कर्म नैतिक शुभ है। यहाँ शुभ से उसका अर्थ 'आदर्श' से है। इस तरह नैतिक आदर्श या शुभ को उन्होंने सद्गुणजन्य कर्म से परिभाषित किया है। यहाँ हम 'गुड' के एक और अर्थ–आदर्श से परिचित होते हैं। तथा 'आदर्श' के स्वरूप को जब हम समझने का प्रयास करते हैं, तो 'सर्वोच्चता' के साथ 'अभीष्ट होने' की उसकी विशेषता को जानते हैं। दूसरे शब्दों में, 'आदर्श' हम उसे कहते हैं जो अंतिम अर्थात् सर्वोच्च उद्देश्य हो तथा इसी कारण जिसे 'अभीष्ट' स्वीकार किया गया हो। दूसरे स्थान पर लाइबनित्ज यह कहते हैं कि शुभ या गुड वह है जो सुख उत्पन्न करे और फिर वे सुख को पूर्णता की ओर हुई वृद्धि के प्रत्यक्षीकरण से परिभाषित करते हैं; जबकि दूसरे स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि सुख (हैपीनैस) आदर्श है और नैतिक सिद्धांत साधन मात्र हैं। इस तरह अंत में, उनके मतानुसार तत्त्व-मीमांसीय व भौतिक शुभ में कोई भेद ही नहीं रह जाता और नैतिक शुभ मात्र साधन बनकर रह जाता है। मेरे मतानुसार, उनकी व्याख्या में आयी इस असंगति का मूल कारण 'हैपीनैस' (मानसिक सुख) व 'प्लेजर' (भौतिक सुख) को भ्रमित करने के अतिरिक्त 'गुड' शब्द का अनेकार्थक होना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'गुड' शब्द अनेकार्थक है व दैनिक बोलचाल की भाषा में नैतिक अर्थ के अतिरिक्त भी इसका अन्य अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अतः नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इसका प्रयोग हमें अत्यधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतर्कतापूर्वक करना चाहिए। द्वितीय, 'गुड' का पर्यायवाची हिन्दी में सदैव 'शुभ' शब्द नहीं होता। हिन्दी में 'शुभ' का प्रयोग सदैव नैतिक अर्थात् कल्याण-कारी के सन्दर्भ में किया जाता रहा है। 'गुड' के नैतिक अर्थ को छोड़ दिया जाये तो हिन्दी भाषा में इसका सर्वाधिक उपयुक्त पर्यायवाची शब्द 'अच्छा' है।

वरिष्ठ व्याख्याता,
दर्शनशास्त्र विभाग,
केलाबार विश्वविद्यालय
केलाबार, नाइजीरिया.

— छाया राय

टिप्पणियां

१) जी. ई मूर; प्रिंसिपिया एथिका, पृष्ठ संख्या ६.
२) तत्रैव: पृष्ठ सं. ८.
३) जार्ज हेन्रिक फॉन राइट; द वेरायटीज़ ऑफ गुडनैस.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औपनिषद् परम्परा में योग

भारतीय साधना के प्रत्येक क्षेत्र में योग का स्थान सर्वोच्च है। योग का सम्बल लिए बिना कोई भी साधना साध्य-प्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती। अनादि अविद्या के प्रभाव से मनुष्य का चित्त स्वभावतः ही बहिर्मुख है। चित्त को अंतर्मुख करने के लिए जो सक्रिय प्रयत्न है वही योग का प्राथमिक रूप है। कर्म के मार्ग से हो, चाहे ज्ञान के मार्ग से हो, भक्ति के मार्ग से हो अथवा अन्य किसी उपाय से हो चित्त की एकाग्रता का सम्पादन आवश्यक है। जब तक वह नहीं होता तब तक सफलता की आशा दुराशामात्र हैं।

भारत वर्ष में योग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ज्ञान का जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण हर क्षेत्र में क्रियात्मक विज्ञान की आवश्यकता रही है। लक्ष्य को क्रियात्मक रूप देना सभी ने आवश्यक समझा है। इन लक्ष्य तक पहुँचने के मार्गों को ही योग कहा जाता है। अतः भारत वर्ष में कोई भी शास्त्र योग के बिना पूर्ण नहीं माना गया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा दर्शनों (आस्तिक तथा नास्तिक) में योग का उल्लेख पाया जाता है।

प्रायः सभी उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का निरूपण किया गया है तथा उसकी प्रधानता स्वीकार की गई है। योग को ज्ञान और परा-भक्ति के सदृश ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया है। कठोपनिषद् में इंद्रियों की स्थिर धारणा को योग कहा गया है।[1] इस उपनिषद् में नचिकेता को यमराज ने अमरत्व प्राप्त करने का उपाय योग ही बताया है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में निदिध्यासन द्वारा आत्मदर्शन करने की बात कही गयी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में भी योग का महत्व प्रख्यापित किया गया है। इसके साथ ही कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिन में प्रधानतया केवल योग का ही वर्णन है। ये संख्या में इक्कीस हैं– १) अद्वयतारकोपनिषद् (२) अमृतनादोपनिषद् (३) अमृतबिन्दूपनिषद् (४) मुक्तिकोपनिषद् (५) तेजोबिन्दूपनिषद् (६) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (७) दर्शनोपनिषद् (८) ध्यानबिन्दूपनिषद् (९) नादबिन्दूपनिषद् (१०) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् (११) ब्रह्मविद्योपनिषद् (१२) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१३) महावाक्यो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पनिषद् (१४) योगकुण्डल्युपनिषद् (१५) वराहोपनिषद् (१६) योगचुडामण्युपनिषद् (१७) योगतत्त्वोपनिषद् (१८) योगशिखोपनिषद् (१९) शाण्डिल्योपनिषद् (२०) हंसोपनिषद् और (२१) योगराजोपनिषद् ।

इन सभी उपनिषदों में चित्र, चक्र, नाड़ी, कुण्डलिनी इन्द्रियों आदि का एवं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, ब्रह्मध्यानयोग, प्रणवोपासना और ज्ञानयोग का विस्तृत वर्णन है ।

योग उपनिषदों में योग के प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है । त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग के ज्ञानयोग तथा कर्मयोग द्विविध भेद स्वीकार किये गये हैं[3] । वराहोपनिषद् में लय, मन्त्र तथा हठ योग के भेद से योग को त्रिविध कहा गया है[4] । योगशिखोपनिषद् में मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग को योग की चार भूमिकायें बताया गया है और इनके एकत्व को महायोग कहा गया है[5] । नादबिन्दूपनिषद् में हंसयोग का उल्लेख है[6] । हंसविद्या द्वारा जरामरणादि से मुक्ति[7] और ईश्वरत्व की प्राप्ति[8] होने का प्रतिपादन ब्रह्मविद्योपनिषद् में विस्तार से किया गया है । हंसविद्या के निरूपण की दृष्टि से नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु, योगचूडामणि एवं हंस आदि उपनिषद् महत्वपूर्ण हैं । योगशिखोपनिषद् में सुषुम्नाध्यानयोग का निरूपण करते हुए उसकी प्रशस्ति की गयी है[9] । वराहोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्रभाग में योगाभ्यास[10] और सांख्य योगसमाधि[11] का उल्लेख तथा पंचम अध्याय में योगाभ्यास विधि[12] का विस्तृत विवरण मिलता है । वहीं बन्धमय की सिद्धि के सम्पुटयोग[13] का निरूपण[14] करते हुए ब्रह्म, एवं रुद्र ग्रन्थियों के भेदक वेधकत्रययोग[15] का प्रतिपादन किया गया है[16] । कृष्णयजुर्वेदीय ब्रह्मविद्योपनिषद् में प्रणवहंसानुसन्धानात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान के निरूपण के प्रसंग में नमस्कारयोग[17] का उल्लेख है और अथर्ववेदीय बृहज्जाबालोपनिषद् के तृतीय ब्राह्मण में मुसुण्ड के पूछने पर कालाग्निरुद्र द्वारा दिये गये विभूतियोग[18] के उपदेश का विवरण मिलता है ।[19] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् एवं अद्वयतारक उपनिषद् में तारकयोग का निरूपण मिलता है ।[20]

योग का अंतिम लक्ष्य पुरुष अर्थात् आत्मा को स्वरूपावस्थिति प्रदान करना है और स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिए चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्णरूप से निरोध होना चाहिए । योग में चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के लिए मार्ग का निर्देश किया जाता है जिसे योगांग कहा जाता है । प्रायः भारतीय दर्शन में पातंजलयोग के आठ अंगों का उल्लेख मिलता है । उपनिषदों में भी इन्ही योगांगों को स्वीकार किया गया है किन्तु तेजोबिन्दूपनिषद् में पंद्रह योगांगों, योगशिखोपनिषद् में बीस योगांगों तथा कुछ उपनिषदों में योग के षडङ्गों का उल्लेख मिलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्राचीनकाल में षडङ्ग योग का साधन भी बहुत व्यापक रूप से प्रचलित था। भाष्यकार आचार्य भास्कर ने अपने गीताभाष्य में षडङ्गयोग का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित था। यह षडङ्गयोग लोकोत्तर सिद्धि का असाधारण कारण माना जाता था। तान्त्रिक और बौद्धयोगी भी प्रकारान्तर से षडङ्गयोग का ही अनुकरण करते थे और यह मानते थे कि यही सम्यक् अथवा निरावरण प्रकाश का कारण है। समाजोत्तर नामक ग्रन्थ में इन ६ योगांगो का निर्देश इस प्रकार मिलता है —

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥

अमृतनादोपनिषद्, मैत्रायण्युपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद् और योगचूडामण्युपनिषद् में षडङ्ग योग का वर्णन मिलता है। अमृतनादोपनिषद् (१-६) मैत्रायण्युपनिषद् (६-१७) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि–इन ६ अंगों का उल्लेख मिलता है। किन्तु ध्यानबिन्दूपनिषद् (४१) तथा योगचूडामण्युपनिषद् में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इन छः अंगों का वर्णन मिलता है। दर्शनोपनिषद् (१-४) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।२-१०) योगतत्त्वोपनिषद् (१/४) वराहोपनिषद् (५/११) और शाण्डिल्योपनिषद् (१) में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि– इन आठ अंगों का उल्लेख है। योगतत्त्वोपनिषद् में प्राणायाम के स्थान पर प्राणसंयम शब्द मिलता है। तेजोविन्दूपनिषद् (१/१५-१६) में यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान तथा समाधि-ये पन्द्रह योगांग बताये गये हैं।

उपनिषद् साहित्य में इन योगांगों के अवान्तर भेदों का भी उल्लेख है जो पातंजल योग में बताये गये भेदों से किञ्चित साम्य और वैषम्य दोनों रखते हैं। तेजोबिन्दूपनिषद् में प्रतिपादित पंचदशांगयोग तथा योगतत्त्व, वराह, दर्शन, शाण्डिल्य, त्रिशिखिब्राह्मण एवं मण्डलब्राह्मण उपनिषदों में निरूपित अष्टांगयोग के प्रथम अंग यम की परिभाषा देते हुए त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि विद्वान् लोग देह और इंद्रियों में वैराग्य को यम कहते हैं [२१]। तेजोबिन्दूपनिषद् के अनुसार सर्व 'ब्रह्म' का ज्ञान हो जाने से होनेवाला इन्द्रियसमूह का संयम ही यम कहलाता है [२२]। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में यम के चार प्रकार का उल्लेख है- (१) शीत, उष्ण, आहार तथा निद्रा पर विजय (२) सर्वदा शान्ति (३) निश्चलत्व तथा (४) विषय और इन्द्रियों का निग्रह। वराहोपनिपनिषद् (५।१२) शाण्डिल्योपनिषद् (४) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (३२), दर्शनोपनिषद् (१/६) में अहिंसा, सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच–इन दस प्रकार के यम का उल्लेख है। यम के इन विवरणों में अपरिग्रह को स्थान नहीं दिया गया है और शौच– जिसे पातंजल योग में नियम माना गया है–– का समावेश कर लिया गया है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१) में नियम के नौ प्रकार बताये गये हैं–गुरुभक्ति, सत्यमार्ग में अनुरक्ति, सुखागतवस्तु अनुभव और उस वस्तु के अनुभव से तुष्टि, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, फल में अभिलाषा तथा वैराग्य। वराहोपनिषद् (५।१३-१४), शाण्डिल्योपनिषद् (१), दर्शनोपनिषद् (२।१) तथा त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (३३) में नियम दस प्रकार के बताये गये हैं–तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में ईश्वरपूजन के स्थान पर 'हरि का आराधन' तथा सिद्धान्तश्रवण के स्थान पर 'वेदान्तश्रवण' शब्द मिलता है जो पाठभेद है। योगतत्त्वोपनिषद् में यमों तथा नियमों का विशेष विवरण नहीं मिलता, यहाँ अहिंसा को नियमों में सर्वप्रमुख कहा गया है।

आसन को पंचदशांग योग में सातवां तथा अष्टांग योग में तीसरा अंग माना गया है। ध्यानबिन्दु एवं योगचूडामणि उपनिषदों में यम और नियम को आध्यात्मिक साधना की आधारशिला होने के कारण पूर्वगृहीत मानकर उनका स्वतंत्र योगांग के रूप में उल्लेख न कर षडंगयोग का प्रतिपादन करते हुए आसन को प्रथम योगांग बताया गया है। अमृतनादोपनिषद् में यमनियम की ही भाँति आसन को योगसाधना के लिए आवश्यक मानने के कारण उसका स्वतंत्र योगांग के रूप में उल्लेख न करते हुए भी पद्म, स्वस्तिक या भद्रासन में बैठकर षडंग योग की साधना करने का प्रतिपादन किया गया है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (४२) तथा योगतत्त्वोपनिषद् (२६) में आसन के चार प्रकार–सिद्ध, भद्र, सिंह तथा पद्म का उल्लेख है। शाण्डिल्योपनिषद् (तृतीय खण्ड) में आठ प्रकार के आसन बताये गये हैं। यहाँ पर योगतत्त्वोपनिषद् में प्रतिपादित सिद्ध का उल्लेख नहीं है तथा इन तीन के अतिरिक्त स्वस्तिक, गोमुख, वीर, मुक्त तथा मयूर-इन पाँच प्रकारों का उल्लेख है। दर्शनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में नौ प्रकार के आसनों का वर्णन है। उक्त आठ प्रकारों में ही सुखासन को जोड़ दिया गया है। वराहोपनिषद् (५।१५-१६) में आसन ग्यारह प्रकार के बताये गये हैं। इस उपनिषद् में दर्शनोपनिषद् में उल्लिखित सुखासन का समावेश नहीं किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् वर्णित आठ प्रकारों के अतिरिक्त चक्र, कूर्म तथा कुक्कुटासन का समावेश मिलता है। वराहोपनिषद् (५।१५-१७) में चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त तथा गोमुख नाम के ग्यारह आसनों को योगिजनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा स्वीकृत बताते हुए चक्रासन का स्वरूप निरूपित किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२।३५-५२) में स्वस्तिक, गोमुख, वीर योग, पद्म, बद्धपद्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर, मत्स्य, सिद्ध, पश्चिमतान और सुख इन सत्रह आसनों की परिभाषा मिलती है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (४२) में आसनों को जितनी जीवजातियाँ हैं उतने ही (अर्थात् असंख्य) होने और उनके महेश्वर को ही ज्ञात होने की बात कही गयी है। 'आसनेन सर्जं हन्ति' कहकर योगचूडामण्युपनिषद् (१०९) में आसनसिद्धि को रोगों को दूर करने में साधक माना गया है।

प्राणायाम को पंचादशांगयोग के प्रतिपादक तेजोबिन्दूपनिषद् में चतुर्थ और षडंग योग के प्रतिपादक उपनिषदों में दो में द्वितीय तथा तीसरे में तृतीय योगांग माना गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (६।१), मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।५) तथा वराहोपनिषद् (५।१८) में प्राणायाम को पूरक, कुम्भक तथा रेचक के भेद से त्रिविध स्वीकार किया गया है। साधारणतया बाह्य वायु का शरीर में आपूरण पूरक, शरीर में वायु को–भरे घड़े में जल की भाँति–धारण करना कुम्भक एवं अन्तःस्थ वायु का विरेचन रेचक कहा गया है[२३]। किन्तु तेजोबिन्दूपनिषद् में ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से इनकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की वृत्ति पूरक है, इस वृत्ति की स्थिरता कुम्भक है और प्रपंच का निषेध रेचक है[२४]। वराहोपनिषद् में कहा गया है कि बहिःस्थ सारे विषय रेचक हैं, शास्त्रों से उपलब्ध बोध पूरक है और स्वरूपानुसन्धान या स्वानुभव कुम्भक है[२५]। ध्यानबिन्दूपनिषद् में पूरक, कुम्भक एवं रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषद् (१।१९) में कुम्भक को दो प्रकार का कहा गया है–(१) केवल कुम्भक (२) सहितकुम्भक। सहित कुम्मक को पुनः चार प्रकार का बताया गया है– (१) सूर्य कुम्भक (२) उज्जायी कुम्भक (३) शीतल कुम्भक (४) भस्त्री कुम्भक। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाने पर साधक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता[२६]। शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। दर्शनोपनिषद् (६।१६-२०) में प्राणायाम से चित्तशुद्धि एवं पापनाशपूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासी के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्रत्याहार को षडांगयोग के प्रतिपादक अमृतनादोपनिषद् (६) में प्रथम, ध्यानबिन्दु (४१) एवं योगचूडामणि (२) उपनिषदों में तृतीय, अष्टांगयोग में पंचम एवं पंचदशांग योग में बारहवाँ योगांग माना गया है। इसका स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिशिखिब्राह्मण एवं मण्डलब्राह्मण उपनिषदों में चित्र या मन का विषयों से आहरणपूर्वक अन्तर्मुखीभाव [२८] या निरोध [२९] बताया गया है। दर्शनोपनिषद् में में मरणपर्यन्त किये जाने वाले सारे शुद्ध अशुद्ध कर्मों को ब्रह्मार्पित कर देने अथवा नित्य एवं काम्य कर्मों को ब्रह्माराधन बुद्धि से करने को भी प्रत्याहार कहा गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (८।१–२), दर्शनोपनिषद् (७।२–८) में पाँच प्रकार का प्रत्याहार बताया गया है। पहले प्रकार का प्रत्याहार ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को शक्तिपूर्वक रोकना है। दूसरे प्रकार का प्रत्याहार मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य जगत् में ब्रह्म के ही दर्शन करना या उनको आत्मरूप समझना है। तीसरे प्रकार का प्रत्याहार समस्त दैनिक कर्मों के फलों का त्याग या समस्त जीवन कर्मों को ब्रह्मार्पित करना है। चौथे प्रकार का प्रत्याहार समस्त इन्द्रिय-सुखों से मुख मोड़ना है। पाँचवे प्रकार का प्रत्याहार पाद, अंगुष्ठ, गुल्फ, जंघा, जानु (घुटना) उपायु, मेढ़ू, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालू, नासा, अक्षि, पैर, भ्रू-मध्य, ललाट मूर्धा–इन अठारह मर्मस्थानों पर प्राणवायु का एक निश्चित क्रम से आरोहण, अवरोहण करना है। दर्शनोपनिषद् (७।९–१०) में प्रत्याहार का फल बताते हुए उसे सारे पापों का नाशक एवं भवरोग का निवर्तक कहा गया है।

पंचदशांग योग के तेरहवे, अष्टांगयोग के छठे एवं षडंग योग के चौथे अंग के रूप में स्वीकृत धारणा का निरूपण विभिन्न उपनिषदों में विविध रूप में मिलता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२।३१) में इसका स्वरूप चित्त का निश्चलीभाव बताया गया है और शरीरगत पंचभूतों में मनोधारणरूप धारणा को भवसागर के पार करानेवाली नौका कहा गया हैं। अमृतनादोपनिषद् के अनुसार संकल्पपूर्ण मन को आत्मा में लीन करके परमात्म चिन्तन में लगाना धारणा है। [३०] योगतत्त्वोपनिषद् (६८–७२) के अनुसार पंचज्ञानेन्द्रियों के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूँघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सबमें आत्म-विचार करना धारणा है। दर्शनोपनिषद् (८।१।३) में पंचविध धारणा का निरूपण करते हुए शरीरगत पंचभूतांश में बाह्य पंचभूतों की धारणा करने का प्रतिपादन किया गया है। पंचविध धारणा का फल बताते हुए योगतत्त्वोपनिषद् (१०३–१०४) में कहा गया है कि इससे योगी दृढ़शरीर एवं मृत्युञ्जयी हो जाता है। शाण्डिल्योपनिषद् (७।४३–४४) में भी धारणा-विशेष से सब रोगों की निवृत्ति बतायी है।

अष्टांगयोग एवं षडंगयोग के अधिकांश निरूपणों में ध्यान को समाधि से ठीक पहले की स्थिति माना गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् (१।१६) में आत्मध्यान को चौदवहाँ, योगतत्त्वोपनिषद् (२५) में भगवद्ध्यान को सातवाँ एवं मैत्रायणी (६।१८) तथा अमृतनाद (६) उपनिषदों में ध्यान को क्रमशः तृतीय एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय योगांग कहा गया है। मैत्रेयी (२।२) एवं स्कन्द (११) उपनिषदों में ध्यान का स्वरूप मन की निर्विषय स्थिति (ध्यानं निर्विषयं मनः) बताया गया है। तेजोविन्दूपनिषद् में 'मैं चिन्मात्र ब्रह्मतत्त्व ही हूँ' इस प्रकार के चिन्तन को ध्यान कहा गया है।[३१] शाण्डिल्योपनिषद् में ध्यान दो प्रकार का कहा गया है- सगुण तथा निर्गुण। यहाँ पर सगुण ध्यान से मूर्ति का तथा निर्गुण ध्यान से आत्मा का ग्रहण किया गया है[३२]।

योगतत्त्वोपनिषद् (१०४–१०५) में इष्टदेव के ध्यान को अणिमादिसिद्धि-प्रदायक सगुण ध्यान कहा गया है और निर्गुण ध्यान से समाधिसिद्ध होने का प्रतिपादन किया गया है। दर्शनोपनिषद् (९।१–६) तथा ध्यानबिन्दूपनिषद् (१४–३७) में सविशेष ब्रह्म, निर्विशेष ब्रह्म, प्रणव, त्रिमूर्ति तथा हृदय के ध्यान का वर्णन मिलता है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।१।९) के अनुसार ध्यान सभी शरीरों में चैतन्य की एकतानता रूप है। योगकुण्डल्युपनिषद् (३।२५–३२) में ध्यान को संसारनाशक कहते हुए उसका निरूपण किया गया है। योगचूडामण्युपनिषद् (१११–११२) में द्वादश प्राणायामों से प्रत्याहार, द्वादश प्रत्याहारों से धारणा, द्वादश धारणाओं से ध्यान एवं द्वादश ध्यानों से समाधि के सिद्ध होने का उल्लेख है।

अमृतनादोपनिषद् तथा मैत्रायण्युपनिषद् में षडंगों में तर्क का भी समावेश है। वहाँ आगम के अविरोधी अर्थात् श्रुत्यानुसारी तर्क का ही ग्रहण किया गया है।

योगांगों के सभी विवरणों में समाधि को अन्तिम अंग माना गया है। शाण्डिल्योपनिषद् में समाधि को एक प्रकार का कहा गया है[३३]। त्रिशिखिब्राह्मण (२।३२) एवं मण्डलब्राह्मण (१।१।१०) उपनिषदों में समाधि को ध्यान-विस्मृतिरूप बताया गया है। यह सर्ववृत्तिविवर्जित अर्थात् सारी मनोवृत्तियों के समाप्त हो जाने की स्थिति है।[३४] वराहोपनिषद् (२।७५) के अनुसार यह आत्मा एवं मन के ऐक्य की संज्ञा है। योगतत्त्वोपनिषद् (१०७) में इसे जीवात्मा एवं परमात्मा की समतावस्था तथा दर्शनोपनिषद् (१०।१) में परमात्मा एवं जीवात्मा के ऐक्य का बोध कहा गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१।११) के अनुसार समाधि जीवात्मपरमात्मैक्य की त्रिपुटीरहित, परमानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यात्मक अवस्था है[३५]। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२।१६१–१६२) के अनुसार समाधि वह स्थिति है जिसमें 'मैं ही परब्रह्म हूँ' 'ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का अनुभव करता हुआ योगी ब्रह्म हो जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। दर्शनोपनिषद् (१०।२–५) में कहा गया है कि नित्य, सर्वगत एवं कूटस्थ आत्मतत्त्व स्वरूपतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपों में दिखायी देता है अतः भ्रान्त लोग अद्वयतत्त्व में ही जीव एवं ईश्वर का भेद कर लेते हैं किन्तु वस्तुतः 'मैं यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन नहीं केवल साक्षिस्वरूप शिवतत्त्व ही हूँ' इस प्रकार की बुद्धि समाधि कहलाती है। दर्शनोपनिषद् (१०।?) में समाधि को भवनाशक कहा गाया है और योगशिखा (६।७५) एवं योगकुण्डली (३।१४) उपनिषदों में बताया गया है कि योगी समाधि सिद्ध होने के साथ ही अमृतत्व प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

योगतत्त्व (२०) एवं वराह (५।७१-७२) उपनिषदों में योग की चार अवस्थाएँ या भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। योगतत्त्व (६३-६४) में प्रणव के जप के अभ्यास की और वराहोपनिषद् (५।७२-७३) में बाह्य-कर्मपरित्यागपूर्वक आन्तर कर्मों के करने की स्थिति को आरम्भावस्था कहा गया है जो प्रथम अवस्था है। द्वितीय भूमिका घटावस्था कही जाती है। योगतत्त्व (६५-६८) के अनुसार इस स्थिति में प्राण-अपान, मन-बुद्धि तथा जीवात्मा एवं परमात्मा का अन्योन्य से अविरोधपूर्वक एकत्व-स्थापन होता है। वराहोपनिषद् (५।७३-७४) के अनुसार इस भूमिका में वायु सुस्थिर रहती है। परिचय नामक तृतीय अवस्था को वराहोपनिषद् (५।७४) में प्रचय भूमिका भी कहा गया है। इस भूमिका का निरूपण योगतत्त्वोपनिषद् (८१-८३) में भी प्राप्त होता है। चतुर्थ अवस्था निष्पत्ति-भूमिका कही गयी है। यह सहज योग की स्थिति है [३६]।

वराहोपनिषद् में शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसी, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा इन सात [३७] भूमिकाओं का निरूपण करते हुए इनमें से प्रथम तीन भूमिकाओं में स्थित साधक को मुमुक्षु, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ में स्थित को क्रमशः ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर एवं ब्रह्मविद्वरीयान् तथा अन्तिम भूमिका में विद्यमान साधक को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा गया है [३८]। इन भूमिकाओं का अक्ष्युपनिषद (५।४२) में विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्नपूर्णोपनिषद् (५।८१-८५) में भी सात भूमिकाओं का वर्णन है।

तेजोबिन्दूपनिषद् (१।१५-३७) में पूर्वोक्त योगांगों के साथ ही त्याग, मौन, देश, काल, बन्ध, देहसाम्य और दृक्स्थिति को भी योगांग मानकर इन पारिभाषिक पदों का अर्थ बताया गया है। योगतत्त्वोपनिषद् (२४-२७) आदि में इन अंगों के अतिरिक्त महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान और मूलबन्ध, दीर्घप्रणवसन्धान, सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली तथा सहजोली का विवरण भी मिलता है। तारकयोग, हंसयोग, कुण्डलिनीयोग एवं इन सबसे सम्बन्धित व्योमपंचक, लक्ष्यमय, चक्र, नादानुसन्धान तथा कुण्डलिनीजागरण आदि का निरूपण भी विभिन्न उपनिषदों में उपलब्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शनों में योग दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। योग दर्शन की परम्परा पर्याप्त प्राचीन तथा बहुपल्लवित है। यद्यपि योगदर्शन का व्यवस्थित ग्रन्थ तथा परम्परा पतंजलि के योगसूत्र से ही प्रारम्भ होता है तथापि प्राचीन भारतीय साहित्य में योग के यत्र तत्र दर्शन होते हैं तथा उसका स्वरूप भी पातंजल योग से किन्चित् भिन्न दिखायी देता है। उपनिषद् साहित्य की योग परम्परा इसका प्रमाण है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि योग का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् पातंजल योगसूत्र से प्राचीन हैं तथापि यह परंपरा भी पर्याप्त प्राचीन है और पातंजल योग से भिन्न होने के कारण प्राचीन भारतीय योग के अपेक्षाकृत अज्ञात तथा अप्रचलित रूप का उद्‌घाटन करती है और इसलिए उपादेय भी है।

दर्शन विभाग,
महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

– **उर्मिला चतुर्वेदी**

टिप्पणियाँ

१. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् (कठोपनिषद् २।३।११)

२. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु–
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्यमेव ॥ (कठोपनिषद् २।३।१८)

३. ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधां मतः। (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २३)

४. लयमन्त्रहठा योगाः (वराहोपनिषद् ५।१०), योगशिखोपनिषद् १।१२६

५. मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते। (योगशिखोपनिषद् १।१३०)

६ वक्ष्यमाणद्वादशमात्रात्मक प्रणवार्थमहाविराऽस्मि इत्यनुसन्धानं हंसयोगः।
(नादबिन्दूपनिषद् ५)

७. हंस हसेति योजयेत्। जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते (ब्रह्मविद्योपनिषद् २३-२४)

८ ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान्। (ब्रह्मविद्योपनिषद् २५)

९. योगशिखोपनिषद् ६।४१–४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वामहाकुले ।
पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यासंपुनश्चरन् । (वराहोपनिषद् ४।२।४०)
११. महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ।
१२. विदित्वा स्वात्मनो रूपमसम्प्रज्ञातसमाधितः ।। (वराहोपनिषद् ४।२।३७-३८)
वराहोपनिषद् ५।१
१३. अयंच सम्पुटो योगो मूलबन्धौऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः । (वराहोपनिषद् ५।४५)
१४ वराहोपनिषद् ५।४२–४५
१५. वेधकत्रययोगेन । ब्रह्मग्रन्थिततोभित्वां विष्णुग्रन्थि भिनच्यसो ।
विष्णुग्रन्थिं ततौ भित्वारुद्रग्रन्थिं भिनच्यसो ।। (वराहोपनिषद् ६२-६५)
१६. वराहोपनिषद् ५।६१–६८
१७. पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चोर्चयेत् ।। (ब्रह्मविद्योपनिषद् ५६-५७)
१८. अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं विभूतियोगेमनुब्रूहि इति। स होवाच (बृहज्जाबालोपनिषद् ३।१)
१९. बृहज्जाबालोपनिषद् ३।१–३४
२०. तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति । (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ३।१।६) तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति––। (अद्वयत।रकोपनिषद् ५)
२१. देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यतेबुधैः । (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २।२८)
२२. सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमो यमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।। (तेजोबिन्दूपनिषद् १।१७)
२३. अमृतनादोपनिषद् ११–१४, दर्शनोपनिषद् ६।१२–१३
२४. निषेधनं प्रपंचस्य रेचकाख्यः समीरित :।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकं प्राणसंयम :। (तेजोबिन्दूपनिषद् १।३२-३३)
२५. बाह्यस्थितविषयं सर्वं रेचकः समुदाहृत :।
पूरक शास्त्रविज्ञानं, कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ।। (वराहोपनिषद् ५।५८)
२६. ब्रह्मापूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः–– । (ध्यानबिन्दूपनिषद् २१)
२७. योगतत्त्वोपनिषद् ५०–५१
२८. चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तुसत्तम । (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २।३०)
२९. विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।१।७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३०. मनः संकल्पकंध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ।। (अमृतनादोपनिषद्, १५)

३१ सो हं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते । (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद २।३१)
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्यात :।। (तेजोबिन्दूपनिषद् १।३६)

३२. अथध्यानं तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति । सगुणं मूर्तिध्यानम् ।
निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् (शाण्डिल्योपनिषद् १।७१)

३३. समाधिस्त्वेक रूपा (शाण्डिल्योपनिषद् १।७२)

३४. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २। १५५ एवं तेजोबिन्दूपनिषद् १।३७

३५. अथ समाधिः। जीवात्मकपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति । (शाण्डिल्योपनिषद् १।७२)

३६. यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशां गतः ।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका ।। (वराहोपनिषद् ५।७५)

३७. ज्ञानभूमि : शुभेच्छास्यात् प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी
सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात् ततो संचलिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी दुर्यगा स्मृता ।। (वराहोपनिषद् ४।२।१--२)

३८. वराहोपनिषद् ४।१।१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हॉब्स : स्वार्थवादी अथवा उपयोगितावादी ?

हॉब्स के नीति दर्शन का कई विचारकों द्वारा अध्ययन किया गया है तथा अधिकांशतः इसकी आलोचना स्वार्थवादी नीति-दर्शन स्वीकार करने तथा मानव स्वभाव का स्वार्थवादी विश्लेषण करने के कारण की जाती है। प्रस्तुत लेख में हम हॉब्स के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगें व देखेंगे कि हॉब्स किन अर्थों में मनुष्य के स्वार्थवादी स्वरूप को स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयास करेंगें कि हॉब्स नैतिक स्थार्थवाद को स्वीकार न कर मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य सदैव शुभ-प्राप्ति या अशुभ की अवहेलना के लिए कार्य करता है। मनुष्य के पास न कोई ऐसी शक्ति है न इच्छा जिससे वह इसके विरुद्ध जा सके। जिस तरह एक पत्थर सदैव नीचे की ओर जाता है इसी तरह मानव स्वभावतः शुभ-प्राप्ति की ओर आर्कषित होता है।अपने शुभ के प्रति आर्कषित होना अथवा उसके लिए कार्य करना हॉब्स मनुष्य का कर्तव्य नहीं समझते। वे कहते हैं कि क्योंकि मनुष्य के सभी ऐच्छिक कार्य स्वसुख व आत्मपरिरक्षण के लिए होते हैं इसलिए किसी और उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा बौद्धिक नहीं हैं।

ए ई. टेलर का विचार है कि हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादी न होकर कर्तव्यवादी हैं। वे कहते हैं–

"Hobbes's ethical doctrine, disengaged from an egoistic psychology, with which it has no logically necessary connection, is a very strict deontology though with interesting differences of some of the characteristic thesis of Kant"[1]

यह सत्य है कि हॉब्स व काण्ट में कुछ समानतायें हैं। हॉब्स भी काण्ट के समान नैतिक कानूनों के आदेशात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि प्राकृतिक कानूनों का ज्ञान बुद्धि द्वारा होता है तथा समझौते का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्डन करना एक प्रकार की तार्किक असंगति है। परन्तु प्राकृतिक कानून की प्रतिबद्धता का स्वरूप उनके लिए उसके बौद्धिक स्वरूप से नहीं आता। मनुष्य उनका पालन करने के लिए बाध्य है क्योंकि ये कानून शान्ति सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसलिए हॉब्स के बारे में यह कहना कि वे कर्तव्यवादी हैं उचित प्रतीत नहीं होता।

हॉब्स मानते हैं कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पूर्ण स्वार्थी है क्योंकि यह अवस्था संघर्ष व प्रतिद्वन्द्विता की अवस्था है। यह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है तथा इसमें सब मनुष्य बराबर हैं। स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि यदि कुछ मनुष्य एक साथ रहे व उनकी अहम्–प्रधान भावनाओं को संयत करने तथा उनकी क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिये कोई शक्ति न हो तो जीवन की स्थिती अत्यन्त विषादमय व दुःखद हो जायेगी। हॉब्स के शब्दों में 'प्रत्येक मनुष्य का अन्य प्रत्येक मनुष्य के साथ युद्ध होगा।' उस अवस्था में, जो सबसे निकृष्ट बात है, 'निरन्तर भय और हिंसात्मक मृत्यु का खतरा है, और मनुष्य का जीवन, एकाकी, दरिद्र, कष्टप्रद, पाशविक तथा अल्पायु होता है।'[२]

आलोचकों का कहना है कि इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि मनुष्य कभी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। परन्तु ये आपत्ति अप्रासंगिक है क्योंकि हॉब्स ये नहीं मानते कि राज्य के अभाव में मनुष्य सचमुच ही एक दूसरे से निरन्तर युद्ध में लगे रहते हैं। उनकी प्राकृतिक अवस्था राज्य का एक कल्पनात्मक विकल्प है; यह वह स्थिति है जिसमें कि मनुष्य पहुँच जायेंगे यदि उनके कार्यों को विनियन्त्रित करनेवाली कोई शक्ति न हो।

किन्तु मनुष्य सदैव इस प्राकृतिक अवस्था में रहना नहीं चाहता, मृत्यु का भय तथा जीवन की आवश्यक वस्तुओं की इच्छा के कारण वह शान्ति की आशा करता है। व्यक्तिगत कल्याण की प्राप्ति अथवा आत्म-परिरक्षण, शान्ति, परस्पर सहयोग तथा साहचर्य के वातावरश में, हिंसा और संघर्ष के वातावरण की अपेक्षा अधिक सुगमता से हो सकती है, यह ज्ञान मनुष्य को बुद्धि द्वारा होता है। बुद्धि मनुष्य के लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं करती है। वह आत्मपरिरक्षण ही रहता है। वह केवल इतना बताती है कि अपने हितों की सुरक्षा शान्ति व सहयोग से ही हो सकती है।

यदि मनुष्य सचमुच इतना ही स्वार्थी और समाज विरोधी हैं जितना कि हॉब्स उन्हें मानते हैं तो उनके लिए राज्य की स्थापना करना प्रायः असम्भव होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हॉब्स इस कठिनाई से परिचित थे। मनुष्य की रचना में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावनाओं तथा वृत्तियों के अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य मौलिक तत्त्व को स्थान दिया है। वह है बुद्धि। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स के मतानुसार एक व्यक्ति तथा राज्य के घटक के रूप में मनुष्य जीवन की व्याख्या दो तत्त्वों १) इच्छा (जिसमें अनिच्छा भी है) तथा (२) बुद्धि के आधार पर की जानी चाहिए। बुद्धि इच्छा में कोई नई प्रेरक शक्ति नहीं जोड़ती, और न ही यह किसी मौलिक अथवा निःसृत भावना अथवा वृत्ति को नष्ट कर सकती है। इसका कार्य केवल विनियमित करने का है। वह बताती है कि यदि व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है तो उसे शान्ति की खोज करनी चाहिए और उसे स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था के उपरान्त शान्ति व सुरक्षा की अवस्था की स्थापना होती है। सब मनुष्य मिलकर एक समझौता करते हैं व इस बात पर सहमत होते हैं कि वे न्याय व प्राकृतिक कानून का पालन करेंगे।

हॉब्स प्राकृतिक अवस्था में मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि इस अवस्था में मनुष्य को जीवित रहने के लिए अपनी शक्ति को बढ़ाना होता है। इस प्रकार जीवन अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरंतर और निर्विश्राम इच्छा बन जाता है।[३] सभी मनुष्यों की समानता के कारण मनुष्य केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है वह दूसरे के हितों की ओर ध्यान नहीं देता।

कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि क्या राज्य की स्थापना, हॉब्स के मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा आत्मपरिरक्षण के सिद्धान्त से असंगत नहीं है? इसका उत्तर है: नहीं; क्योंकि राज्य की स्थापना का एकमात्र उद्देश्य शान्ति तथा मनुष्यों के स्वार्थों को रक्षा है। राज्य मनुष्य के आन्तरिक सामाजिक स्वभाव की अभिव्यक्ति नहीं है, यह स्वाभाविक विकास का परिणाम भी नहीं है जैसा कि अरस्तु इसे समझते थे, यह तो अपनी एक निश्चित आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य द्वारा बनाया गया एक कृत्रिम साधन है। यह साध्य पर ले जाने के लिये एक साधन मात्र है; स्वयं साध्य नहीं। शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये कुछ कानूनों की आवश्यकता होती है और ये कानून सर्वप्रभु (Sovereign) बनाता है। प्रत्येक व्यक्ति इन कानूनों का पालन करने के लिये बाध्य है। यहां यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि सर्वप्रभु कानून की रचना करता है तो वह कुछ ऐसे कानून बना सकता है जो केवल उसके हित में है। उदाहरणतः चोरी करना उसके लिये सदाचार हो सकता है। परन्तु प्रश्न है कि क्या हॉब्स सर्वप्रभु को ऐसा करने की स्वीकृति देते हैं ? हॉब्स स्वीकार करते हैं कि कानून सर्वप्रभु बनाता है, परन्तु वे यह नहीं कहते कि कानून मनमाने ढंग से बनाये जाते हैं। ये कानून मानव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के तथ्य हैं तथा नैतिक सदाचार, जैसे–न्याय, समानता तथा दया पर आधारित हैं। राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों का योगमात्र है। इसके अतिरिक्त उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नहीं।

हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादी के रूप में यह दावा तो करते हैं कि आत्म-परिरक्षण मानव ज़ीवन का एकमात्र लक्ष्य है, परन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि राज्य की स्थापना के उपरान्त मनुष्यों को अपने स्वार्थवादी संवेगों व वृत्तियों को नियन्त्रित करना होता है। अब वह इतना स्वतन्त्र नहीं होता जितना प्राकृतिक अवस्था में था। राज्य की स्थापना के बाद मनुष्य को कानून के अनुसार कार्य करना चाहिए और ये कहना ऐसे आदर्श को स्वीकार करना है जो न्याय, दया तथा सामान्य सुख की ओर ले जाता है, जिसमें समाज के सभी सदस्य भाग लेते हैं तथा जिसके परिणाम सभी लोग समान रूप से बाँटते हैं।

इस प्रकार मनुष्य में 'सामान्य सुख' की प्राप्ति की इच्छा इसलिए नहीं होती क्योंकि वह अपने साथी नागरिकों के लिए सहानुभूति रखते हैं बल्कि वे इस ओर अपने स्वार्थ व हितों के कारण अग्रसर होते हैं। वैयक्तिक शुभ प्राप्त करने की इच्छा उन्हें सामूहिक शुभ की ओर प्रेरित करती है। हॉब्स शान्ति व सुरक्षा की अवस्था में उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि शान्ति की अवस्था में मनुष्य को इस तरह से कार्य करना चाहिए जिससे सामान्य सुख में वृद्धि हो।

अब हम यहां यह देखेंगे कि हॉब्स किस प्रकार का उपयोगितावाद स्वीकार करते हैं। कार्य–उपयोगितावाद (act–utilitarianism) अथवा नियम– उपयोगितावाद (rule–utilitarianism)। हॉब्स यह नहीं कहते कि राज्य की स्थापना के बाद कार्य का औचित्य उसके शुभ या अशुभ परिणामों पर निर्भर करता है, बल्कि वे यह विश्वास करते हैं कि राज्य की स्थापना के बाद कार्यों का निर्णय कानूनों के अनुसार होता हैं। प्राकृतिक अवस्था में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय; नैतिक तथा अनैतिक का कोई भेद नहीं होता न ही वहाँ सम्पत्ति के कोई अधिकार हो सकते हैं। ये विभेद सर्वप्रथम राज्य की स्थापना होने पर ही प्रगट होते हैं। जो कुछ भी राज्य द्वारा उचित बनाये गये कानूनों के अनुसार है उचित व न्यायपूर्ण है और जो कुछ भी उसके विरुद्ध है अनुचित, अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक है।

हॉब्स इस बात को जानते थे कि सैद्धान्तिक रूप से कानून बनाने की शक्तियाँ कितनी असीम व अबाधित क्यों न हो व्यवहार में वे एक निश्चित सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। शासक के आदेश व प्राकृतिक कानून में कोई संघर्ष नहीं होना चाहिए। हॉब्स ये घोषित करते हैं कि शासक के ऊपर 'प्राकृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून' के अतिरिक्त और कोई सीमा नहीं है और निरपराध व्यक्ति को दण्ड करना प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है। इस प्रकार हॉब्स दण्ड के उपयोगितावादी सिद्धांत का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि दण्ड में हम भूतकालीन अशुभ की ओर न देखकर आनेवाले शुभ की ओर देखते हैं। दण्ड देने का कारण केवल यह है कि वह अधिकांशतः शुभ परिणामों की ओर ले जाता है। दण्ड केवल सार्वजनिक शक्ति द्वारा दिया जा सकता है। अन्य व्यक्तियों द्वारा कष्ट देना दण्ड नहीं बल्कि घृणा या शत्रुता का द्योतक है। हॉब्स का दण्ड सम्बन्धी सिद्धांत बाद में बेंन्थम व अन्य उपयोगितावादियों द्वारा स्वीकार किया गया। बेंन्थम के अनुसार– 'सभी दण्ड एक प्रकार का अपकार व दुष्टता है। यदि इसे हम स्वीकार भी करें तो केवल उस सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक ये किसी अन्य अशुभ को करने से रोकता है।' ४

हॉब्स दण्ड के उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी उसकी एक कमी के प्रति सतर्क थे। वे कहते हैं कि निर्दोष व्यक्ति को हम उस कार्य के लिए दण्डित नहीं कर सकते जो उसने नहीं किया है। उपयोगितावादी इसके विपरीत यह मानते हैं कि निरपराध व्यक्ति को दण्ड देना उस सीमा तक उचित है जहाँ तक वह किसी अन्य अशुभ की ओर ले जाता है। परन्तु हॉब्स के अनुसार निरपराध को दण्ड करना प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है और इस तरह की शक्ति सर्व प्रभु के पास नहीं है। सर्वप्रभु की स्थापना मनुष्यों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए हुई है और निरपराध को दण्डित करने से उसका यह लक्ष्य पूरा नहीं होता।

आलोचक यह मानते हैं कि मानव स्वभाव में जो कृत्रिम विभाजन हॉब्स ने किया है वह घोर आलोचना का पात्र है। उनका एक ओर तो मनुष्य को अहंवादी, भावुक, प्रतिस्पर्धाशील कहना और दूसरी ओर उसके बौद्धिक पक्ष पर बल देकर सामुहिक समझौते द्वारा राज्य की स्थापना करना, दो ऐसी बाते हैं जिनमें संगति होना कठिन है। यदि हम यह मान लें कि हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता में विश्वास करते थे तो आलोचकों का तर्क उनके लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, ऐसा मानना आवश्यक नहीं। हॉब्स का उद्देश्य राज्य के कालगत जन्म का वर्णन करना नहीं है उनका ध्येय राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करना तथा उसका औचित्य सिद्ध करना है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतिक अवस्था में हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हुए भी शान्ति व सुरक्षा की अवस्था में, बिना किसी असंगति के नियम-उपयोगितावाद को स्वीकार करते हैं। वह मानते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि इस अवस्था में मनुष्य अपने स्वार्थों पर नियन्त्रण रखते हैं और सर्वप्रभु द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार कार्य करते हैं, न कि अपनी इच्छा या अनिच्छानुसार।

– रेनू खन्ना
मानविकि एवं सामाजिक विज्ञान विभाग
भारतीय तकनीकी संस्थान
कानपुर (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

1. Taylor, A. E.; 'The Ethical doctrine of Hobbes;' Philosophy Vol. XIII (1938) pp. 406–24.
2. Hobbes; Leviathan, English works, vol. 3. Sir William Molesworth, London : Bohn 1841, p. 113.
3. Ibid., pp 85–86
4. Bentham; The Principles of Morals and Legislation, Hafner Publishing Co. N. Y. 1948, p. 170.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता, कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ? : जैन दर्शन के सन्दर्भ में

आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति :– प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूति और भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावनां का सहभागी बनाता है। प्राणी की इसी पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति को उमास्वाति ने तत्त्वार्थ में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है (तत्त्वार्थ ५/२१)। वस्तुतः यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधारभूमि है। हम सामाजिक हैं क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना अथवा दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहाँ उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएं तो उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके, निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और सम्भव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल हो कर आत्महत्या कर लेवें। मनुष्य ही क्या पशु-पक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के नहीं जी सकते हैं। संक्षेप में आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी सहानुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना यह प्राणीय प्रकृति है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुभूति और भावनाओं का सम्प्रेषण कैसे होता है ?

आत्माभिव्यक्ति के साधन :– विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति या तो शारीरिक संकेतों के माध्यम से करते हैं या ध्वनि संकेत के द्वारा। इन ध्वनि संकेतों के आधार पर ही बोलियों एवं भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसीलिए सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार सम्प्रेषण के लिए भाषा मिली हुई

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। शब्द प्रतीकों, जोकि सार्थक ध्वनिसंकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं, के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति दे पाना यही उसकी अपनी विशिष्टता है। क्योंकि भाषा के माध्यम से मनुष्य जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है उतनी स्पष्टता से विश्व का दूसरा कोई प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनिसंकेत या अंग संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है जितनी भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्द प्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आँशिक एवं मात्र संकेत ही होता है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई माध्यम खोजा नहीं जा सका है।

भाषा का स्वरूप :– हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द-प्रतीक बना लिये हैं और भाषा हमारे इन शब्द-प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें 'नाम' दे दिये हैं और इन्हीं नामों के माध्यम से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य सम्बन्धी जानकारियों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुर्सी शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा 'प्रेम' शब्द से एक विशिष्ट भावना को संकेतित करते हैं। मात्र यही नहीं व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के पारस्परिक विभिन्न प्रकार के सम्बधों के लिये अथवा उन सम्बधों के अभाव के लिये भी शब्द प्रतीक बना लिये गये हैं। भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्द प्रतीकों के ताने बाने से हुई है। भाषा शब्द-प्रतीकों की यह नियमबद्ध व्यवस्था है जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है।

शब्द एवं भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य :– यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है कि क्या इन शब्द-प्रतीकों में भी अपने विषय– अर्थ की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ विषय का वाचक अथवा संकेतक है किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय की पूर्णतया अभिव्यक्ति करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुण–धर्मों और पर्यायों (अवस्थाओं) का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषा की प्रामाणिकता या उपयोगिता सन्देहात्मक बन जाती है। किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर दे। जैन आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ (विषय) के सम्बन्ध को लेकर एक मध्यम-मार्गीय दृष्टिकोण अपनाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत नहीं हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है। किन्तु वे मीमांसकों के समान यह भी नहीं मानना चाहते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु वह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। दूसरे शब्दों में शब्द और उनके विषयों में तद्रूपता का सम्बन्ध नहीं है। प्रभाचन्द्र शब्द और अर्थ में तद्रूप सम्बन्ध का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मोदक शब्द के उच्चारण से तो मीठे स्वाद की अनुभूति नहीं होती है अतः मोदक शब्द और मोदक नामक वस्तु भिन्न भिन्न हैं। (न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ पृ. ५३६) किन्तु इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि शब्द और उनके विषय अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता है। अर्थ-बोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि रिप्रेजेन्टेटिव तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हूबहू चित्र नहीं है, जैसे नक्षे में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और न उसका हूबहू प्रतिबिम्ब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है किन्तु उसका हूबहू प्रतिबिम्ब नहीं है। फिर भी वह अपनी सहज योग्यता, संकेतक शक्ति और प्रयोग (usage) के द्वारा विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ (विषय) में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य सम्बन्ध है। यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकार करते हैं किन्तु यह सम्बन्ध मीमांसकों के समान नित्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ (मीनिंग) बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका नित्य एवं तद्रूप सम्बन्ध नहीं है। जैन दार्शनिक मीमांसाकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त-संकेत आदि अपने अभिव्यंजनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं उसी प्रकार शब्द संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर भी अर्थबोध करा देता है। शब्द और अर्थ (विषय) दोनों की विविक्त सत्ताएँ हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है। फिर भी दोनों में एक ऐसा सम्बन्ध अवश्य है जिससे शब्दों में अपने अर्थ के वाचक होने की सीमित सामर्थ्य है। शब्द में अपने अर्थ या विषय का बोध कराने की एक 'सहजयोग्यता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है जो उसकी 'संकेतक-शक्ति' और 'प्रयोग' (समय) पर निर्भर करती है। इस प्रकार शब्द सहजयोग्यता, संकेत-शक्ति और प्रयोग इन तीन के आधार पर अपने अर्थ या विषय से सम्बन्धित होकर श्रोता को अर्थबोध करा देता है। जैन आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है कि शब्द और उसके अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कथन है कि यदि शब्द और उसके अर्थ में कोई संम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रमाणिकता ही समाप्त हो जाएगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसलिये जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द अपने विषय का वाचक तो होता है किन्तु उसकी समस्त विशेषताओं का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में वह समर्थ नहीं है। शब्दों में अर्थ (विषय) की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य सीमित और साक्षेप ही है, असीमित या पूर्ण और निरपेक्ष नहीं। 'प्रेम' शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्त तो करता है किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराईयाँ समाविष्ट नहीं है। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से और एक मित्र अपने मित्र से 'मैं तुझसे प्रेम करता हूँ' इस पदावली का कथन करते हैं किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के सन्दर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा ? वे सब समानपदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भाव-प्रवणता को अभिव्यक्त कर रहे हैं वह भिन्नभिन्न ही है। दो भिन्न संदर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही सन्दर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के सन्दर्भ में वक्ता और श्रोता दोनों की भाव प्रवणता और अर्थ ग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। अर्थ-बोध न केवल शब्द सामर्थ्य पर निर्भर है अपितु श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। वस्तुतः अर्थ-बोध के लिये पहले शब्द और उसके अर्थ (विषय) में एक सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु को दिखाते हैं। धीरे धीरे-बालक उनमें सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है या पढ़ता है तो उसे उस अर्थ विषय का बोध हो जाता है, अतः मैं अपने विषय को अर्थ-बोध करा देने की शक्ति भी मात्र शब्द में नहीं है अपितु श्रोता या पाठक के पूर्व संस्कारों में रही हुई है अर्थात् वह श्रोता या पाठक की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थ बोध नहीं दे पाते हैं। इसलिये जैन दार्शनिक मीमांसा दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थ बोध देने की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ और होता है और श्रोता उसे कुछ और समझ लेता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, अतः यह मानना होगा कि शब्द और अर्थ में वाचक वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करना कभी सम्भव ही नहीं होता।

दूसरे शब्द में, अपने विषय का वाचक होने की शक्ति भी सीमित ही है। शब्द शक्ति की इस सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों की एवं भावनाओं की जितनी विविधताएँ हैं उतने शब्द नहीं हैं। अपने वाच्य विषयों की अपेक्षा शब्द संख्या और शब्द शक्ति दोनों ही सीमित है। उदाहरण के लिए मीठा शब्द को लिजिए। हम कहते हैं गन्ना मीठा है, गुड़ मीठा है आम मीठा है, रसगुल्ला मीठा है, तरबूज मीठा है आदि-आदि। यहाँ हम सभी के मीठेपन की अनुभूति के लिए एक ही शब्द 'मीठा' प्रयोग कर रहे हैं किन्तु हम यह बहुत ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि सबके मीठेपन का स्वाद एक समान नहीं है। तरबूज़ मीठा है और आम मीठा है इन दोनों कथनों में 'मीठा' नामक गुण एक ही प्रकार की अनुभूति का द्योतक नहीं है। यद्यपि पशुओं के ध्वनि संकेत और शारीरिक संकेत की अपेक्षा मनुष्य के शब्द संकेतों में भावाभिव्यक्ति एवं विषयाभिव्यक्ति की सामर्थ्य काफी व्यापक है किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। भाषा की और शब्द संकेत की इन सीमाओं पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। क्योंकि विश्व में वस्तुओं, तथ्यों, भावनाओं की जो अनन्तता है उसकी अपेक्षा हमारा शब्द भण्डार अत्यन्त सीमित है। एक 'लाल' शब्द को ही लिजिए। वह लाल नामक रंग का वाचक है किन्तु लालिमा की अनेक कोटियाँ हैं, अनेक अंश (डिग्रीज़) हैं, अनेक संयोग (कोम्बिनेशन) हैं। क्या एक ही 'लाल' शब्द भिन्न प्रकार की लालिमाओं का वाचक हो सकता है? एक और उदाहरण लिजिए– एक व्यक्ति जिसने गुड़ के स्वाद का अनुभव किया है, उस व्यक्ति से जिसने कभी गुड़ स्वाद का अनुभव नहीं किया है, जब यह कहता है कि गुड़ मीठा होता है तो क्या श्रोता उससे मीठेपन की उसी अनुभूति को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने अभिव्यक्त किया है। गुड़ की मीठास की एक अपनी विशिष्टता है। उस विशिष्टता का ग्रहण किसी दूसरे व्यक्ति को तब तक ठीक वैसा ही नहीं हो सकता है जबतक कि उसने स्वयं गुड़ के स्वाद की अनुभूति नहीं की हो। क्योंकि शब्द सामान्य होता है सत्ता विशेष होती है। सामान्य विशेष का संकेतक हो सकता है लेकिन उसका समग्र निर्वचन नहीं कर सकता है। शब्द अपने अर्थ (विषय) को मात्र सूचित करता है। शब्द और उसके विषय में तद्रूपता नहीं है, शब्द को अर्थ (मीनिंग) दिया जाता है। इसीलिये बौद्धों ने शब्द को विकल्पयोनि कहा है। (विकल्पयोनयः शब्दाः– न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ५३७) शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक होते हुए भी उसमें और उसके विषय में कोई समानता नहीं है। यहाँ तक कि उसे अपने विषय का सम्पूर्ण एवं यथार्थ चित्र भी नहीं कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता। यद्यपि शब्द में श्रोता की चेतना में, श्रोता के शब्द और अर्थ के पूर्व संयोजन के आधार पर, अपने अर्थ (विषय) का चित्र उपस्थित करने की सामर्थ्य तो होती है किन्तु यह सामर्थ्य भी श्रोता सापेक्ष है।

सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ? :– इस प्रकार भाषा या शब्द-संकेत अपने विषयों के, अपने अर्थों के संकेतक तो अवश्य हैं किन्तु उनकी अपनी सीमाएँ भी हैं। इसीलिए सत्ता या वस्तु तत्त्व किसी सीमा तक वाच्य होते हुए भी अवाच्य बना रहता है। वस्तुतः जब जीवन की सामान्य अनुभूतियों और भावनाओं को ही शब्दों एवं भाषा के द्वारा पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है तो फिर परम सत्ता के निर्वचन का प्रश्न तो और भी जटिल हो जाता है। भारतीय चिन्तन में प्रारम्भ से लेकर आजतक सत्ता की वाच्यता और अवाच्यता का यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क को झकझोरता रहता है। वस्तुतः सत्ता की अवाच्यता का कारण शब्द भण्डार तथा शब्द शक्ति की सीमितता और भाषा का अस्ति और नास्ति की सीमाओं से घिरा होना है। इसीलिये प्राचीन काल से ही सत्ता की अवाच्यता का स्वर मुखर होता रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (२/४) वाणी वहाँ से लौट आती है, उसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सका। इसी बात को केनोपनिषद् में 'यद्वाचावभ्युदितम्' (१/४) के रूप में कहा गया है। कठोपनिषद् में 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यम्' कह कर यह बताया गया है कि परमसत्ता का ग्रहण वाणी और मन के द्वारा संभव नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्ता को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अवाच्य कहा गया है। जैन आगम आचारांग का भी कथन है कि 'वह (सत्ता) ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है; वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है। तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है अतः यह वाणी विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता अर्थात् उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वह अनुपम अरूपी सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके' (आचारांग १।५।६)

उपरोक्त सभी कथन भाषा की सीमितता और अपर्याप्तता को तथा सत्ता की अवाच्यता या अवक्तव्यता ही सूचित करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तत्त्व या सत्ता को किसी भी प्रकार वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। यदि ऐसा होगा तो सारा वाक्-व्यवहार निरर्थक होगा। श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र और आगम व्यर्थ हो जाएँगे। यही कारण था कि जैन चिन्तकों ने सत्ता या तत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समग्रतः (एज़ ए होल) अवाच्य या अवक्तव्य मानते हुए भी अंशतः या सापेक्षतः वाच्य माना। क्योंकि उसे अवक्तव्य या अवाच्य कहना भी तो एक प्रकार का वचन या वाक्-व्यवहार ही है, यहाँ हमारा वाच्य यह है कि वह अवाच्य है। अतः हमें व्यवहार के स्तर पर उतर कर सत्ता की वक्तव्यता या वाच्यता को भी स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसी आधार पर श्रुतज्ञान एवं आगमों की प्रमाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

जैन आचार्यों ने दूसरों के द्वारा किये गये संकेतों के आधार पर होनेवाले ज्ञान को श्रुत कहा है। संक्षेप में समस्त आनुभविक ज्ञान मतिज्ञान और सांकेतिक ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान की परिभाषा है– जिस ज्ञान में संकेत-स्मरण है और जो संकेतों के नियत अर्थ को समझने में समर्थ हैं वही श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान संकेत और वचन-श्रवण के द्वारा होता है वह श्रुतज्ञान है (विशेषावश्यक-भाष्य १२० एवं १२१)। सामान्यतया श्रुतज्ञान का मुख्य आधार शब्द है किन्तु हस्तसंकेत आदि अन्य साधनों से होनेवाला ज्ञान भी श्रुतज्ञान कहलाता है क्योंकि श्रुतज्ञान के दो भेद प्रसिद्ध हैं– अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत। अक्षर श्रुत के तीन भेद हैं– संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। वर्ण का ध्वनि संकेत अर्थात् शब्द-ध्वनि व्यंजनाक्षर है। वर्ण का आकारिक संकेत अर्थात् लिपि संकेत संज्ञाक्षर है। लिपि-संकेत और शब्द-ध्वनि-संकेत के द्वारा अर्थ को समझने की सामर्थ्य लब्ध्यक्षर है। शब्द या भाषा के बिना मात्र वस्तु-संकेत, अंग-संकेत अथवा ध्वनि-संकेत द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत है। इसमें हस्त आदि शरीर के संकेतों, झण्डा आदि वस्तु संकेतों तथा खासना आदि ध्वनि संकेतों के द्वारा अपने भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया जाता है। संक्षेप में वे सभी सांकेतिक सूचनाएँ जो किसी व्यक्ति के ज्ञान, भाव या विचार को सार्थक रूप से प्रकट कर देती है और जिसके द्वारा पर (दूसरा व्यक्ति) उनके लक्षित अर्थ का ग्रहण कर लेता है, श्रुतज्ञान है। चूंकि श्रुतज्ञान प्रमाण है अतः मानना होगा कि शब्द-संकेत या भाषा अपने विषय या अर्थ का प्रमाणिक ज्ञान देने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में सत् या वस्तु वाच्य भी है। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता या वस्तुतत्त्व को अंशतः वाच्य या अवक्तव्य और समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य कहा गया है। यहाँ यह विचार कर लेना भी आवश्यक है इस अवक्तव्यता का क्या अर्थ है।

अवक्तव्य का अर्थ :– डॉ. पद्मराज ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है :–

(१) पहला वेदलालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण जिसमें विश्वकारण की खोज करते हुए ऋषि इस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है। यहाँ सत्ता की अस्ति (सत्) और नास्ति (असत्) रूप से वाच्यता का निषेध किया गया है।

(२) दूसरा औपनिषदिक दृष्टिकोण जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे : "तदेजति तन्नैजति" 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'सदसद्वरेण्यम्' आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है। यहाँ उसे दो विरुद्ध धर्मों से युक्त मानकर उसको भाषा के द्वारा अवाच्य कहा गया है।

(३) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपत. अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे– "यतो वाचो निवर्तन्ते", "यद्वाचाभ्युदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्य:" आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्टकोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(४) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है। जिसमें सत्ता को अंशतः वाच्य और समग्रतः अवाच्य कहा गया है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं :–

(१) सत् व असत् दोनों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(२) सत्, असत् और सदसत् तीनों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(३) सत्, असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) इन चारों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अक्तव्य मानना। अर्थात् यह कि वस्तु-तत्त्व अनुभव में तो हो सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह अनुभव-गम्य है, शब्द-गम्य नहीं।

(५) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

(६) वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं उतने वाचक शब्द नहीं है। अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता है। आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा गया है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके। इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुन: वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता और शब्द संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमीचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्य-भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये वक्तव्य भावों के अनन्तवे भाग का ही कथन किया जा सकता है। अत: यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठे अर्थ मान्य रहे हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। अर्थात् वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई रास्ता ही नहीं रह जाएगा। अत: जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता या अवाच्यता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय या वाच्य भी है। सत्ता अंशत: निर्वचनीय है और अंशत: अनिर्वचनीय। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट छह अर्थों में से पहले तीन को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है।

जैन दर्शन में सप्तभंगी की योजना में एक भंग अवक्तव्य भी है। सप्तभंगी में दो प्रकार के भंग हैं– एक मौलिक और दूसरे सांयोगिक। मौलिक भंग तीन हैं– स्याद्अस्ति, स्याद्नास्ति और स्याद् अवक्तव्य। शेष चार भंग सांयोगिक हैं, जो इन तीन मौलिक भंगों के संयोग से बने हुए हैं। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य के अर्थ को स्पष्ट करना था। हमने देखा कि सामान्यतया जैन दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् रूप से अर्थात् एक ही साथ प्रतिपादन करना भाषायी सीमाओं के कारण अशक्य है क्योंकि ऐसा कोई भी क्रियापद नहीं है जो एक ही कथन में एक साथ विधान या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषेध दोनों कर सके। अतः परस्पर विरुद्ध और भावात्मक एवं अभावात्मक धर्मों की एक ही कथन में अभिव्यक्ति की भाषायी असमर्थता को स्पष्ट करने के लिये ही अवक्तव्य भंग की योजना की गई है। किन्तु जैन परम्परा में अवक्तव्य का यही एक मात्र अर्थ नहीं रहा है।

मेरी दृष्टि में अवक्तव्यता या अवाच्यता का भी एक ही रूप नहीं है। प्रथम तो "है" और "नहीं है" ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है अतः सत्ता को अवक्तव्य या अवाच्य कहा गया है। दूसरे, निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे, अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन सम्भव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य मानना होगा। चौथे, प्रत्येक वस्तु में अनन्त विशिष्ट गुणधर्म हैं, किन्तु भाषा में प्रत्येक गुण-धर्म का वाचक शब्द नहीं है, इसलिए वस्तुतत्त्व अवाच्य कहा गया। पांचवे, प्रत्येक वस्तु के गुणधर्म विशेष होते हैं और शब्द सामान्य होता है और सामान्य शब्द उस 'विशेष' की विशिष्टता का समग्रतः वाचक नहीं हो सकता। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता समग्र रूप से अवाच्य होते हुए भी सापेक्ष एवं अंश रूप से वाच्य भी है।

— सागरमल जैन

निदेशक,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी (उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघटनावाद का सत्ताशास्त्रीय मूल्यांकन

ज्ञान की दो तार्किक कोटियाँ उद्देश्य और विधेय हैं। इनको ज्ञाता और ज्ञेय की सत्तात्मक कोटियाँ मान लेना एक दार्शनिक भूल है। ऐसी भूल की दो जुड़वां सन्तानें यथार्थवाद और विज्ञानवाद हैं। दार्शनिक यथार्थवाद विधेय को ज्ञेय पदार्थ बनाकर उसे सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। दार्शनिक विज्ञानवाद (Idealism) उद्देश्य को ज्ञाता, आत्मा बनाकर उसे ही सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। अतः यथार्थवाद (Realism) और विज्ञानवाद (Idealism) दोनों ही एकांगी और पक्षपाती दर्शन प्रणालियाँ हैं। इनमें सम्पूर्ण अनुभव या सत्ता की पकड़ नहीं होती।

यथार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों ही तार्किक प्रणाली पर आधृत सत्ताशास्त्र के आभास मात्र है। तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप विचारों में स्पष्टता और क्रमबद्धता प्रदान करते हैं। तर्कशास्त्र वैध तर्कों के सिद्धान्त का विज्ञान है, न कि सत्ता का विज्ञान। तत्त्व-विज्ञान और सत्ताशास्त्र तर्कशास्त्र से अलग और उसके आधारभूत विज्ञान हैं। सत्ताशास्त्र सत्ता की तलाश करता है, सत्ता या तत्त्व के स्वरूप पर विचार करता है। तर्कशास्त्र वैचारिक आकारों की तलाश करता है, उनकी संरचना करता है। अतः सत्ताशास्त्रीय समस्याओं का समाधान ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की तार्किक प्रणालियों से नहीं हो सकता।

लेकिन पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकोंने सत्ताशास्त्रीय सिद्धान्त की तलाश या तो ज्ञानमीमांसा या मूल्यमीमांसा के माध्यम से करते हुए या तो यथार्थवाद या विज्ञानवाद को अपना लिया। ग्रीक परमाणुवादियों ने ज्ञेय जगत् को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान की तो सुकरात के शिष्य प्लेटो ने ज्ञाता-तत्त्व को सत्ता मान लिया। बुद्धिवादी देकार्त, स्पिनोजा और लायबनिज ने आत्मतत्त्व पर बल दे कर विज्ञानवादी रूख अपनाया तो लॉक ने दर्शन को यथार्थवादी दिशा दी। इसका विरोध कर के बर्कले ने आत्मपरक विज्ञानवाद को संवर्धित किया तो काण्ट ने अनुभवातीत विज्ञानवाद को प्रस्तुत किया जिसे हेगेल ने तार्किक पूर्णता प्रदान की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेगलोत्तर दर्शनशास्त्र में हम इस बात की अनुभूति पाते हैं कि यथार्थवाद और विज्ञानवाद का हूँ हूँ मैं मैं अदार्शनिक हैं। समकालीन दर्शनशास्त्र की अनेक प्रमुख प्रणालियाँ इस अनुभूति पर आधृत हैं कि यथार्थवाद और विज्ञानवाद से सत्ता की पकड़ नहीं हो सकती। सत्ता की पकड़ के लिये हमें इन वादों या जल्पों के परे जाने की आवश्यकता है।

समकालीन संघटनावाद (Phenomenology) इसी दार्शनिक अनुभूति की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। संघटनावाद सत्ताशास्त्र को ज्ञानमीमांसा और मूल्य-मीमांसा से अलग स्वतंत्र स्थान प्रदान करता है। तदर्थ यह ज्ञाता और ज्ञेय या उद्देश्य और विधेय को सत्तारहित करके यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सुझाव प्रस्तुत करता है। ब्रेण्टानो ने, जो संघटनावाद के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी पुस्तक 'सायकालोजी फ्रॉम एन इम्पिरिकल स्टैंण्डप्वाइण्ट' में विचारों के मनोवैज्ञानिक उद्‌भव और उनकी तार्किक वैधता के मध्य अन्तर स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि हर मनस्-संघटना पारदर्शी होती है और किसी वस्तु का संकेत करती है। उनके अनुसार प्रत्येक मानसिक क्रिया में एक आभिप्रायिक निर्देश होता है। यह निर्देश क्या है और इसका निर्दिष्ट पदार्थ क्या है इसका समुचित परीक्षण ब्रेण्टानो ने नहीं किया। इस काम को माइनांग ने हाथ में लिया। विषय-वस्तु और पदार्थ सम्बन्धी भेद के निर्धारण के लिए उन्होंने पोलैण्ड के दार्शनिक द्वारडोवस्की की सहायता ली। द्वारडोवस्की ने अपनी पुस्तक "टुआर्डस् ए थ्योरी आफ द कण्टेण्ट एण्ड ऑब्जेक्ट आफ प्रेजेण्टेशन्स" में मनस्-संघटना के तीन संयोजक प्रत्ययों का भेद स्पष्ट किया है। ये हैं :– मानसिक क्रिया, उसकी विषय-वस्तु और इन दोनों की आधारस्तम्भ वस्तु। "विषयवस्तु या पदार्थ वह अवस्था है जिसकी ओर मानसिक क्रिया गतिमान् होती है।"[1] इस तरह किसी 'पदार्थ' का वस्तु होना आवश्यक नहीं है। ये पदार्थ अस्तित्ववान् या अस्तित्वविहीन हो सकते हैं। वृक्ष, घर, कलम आदि अस्तित्ववान् पदार्थ हैं। सम्बन्ध, अंक, जल-परियाँ, एक-श्रृंगाश्व आदि अस्तित्वविहीन पदार्थ हैं। उद्दिष्ट या पदार्थ मानसिक क्रिया के समक्ष निर्णय या वाक्य के रूप में आते हैं। 'सूर्य कल पूर्व में निकलेगा' यह एक पदार्थ या उद्दिष्ट है। इन्हें हम तर्कशास्त्र में तर्कवाक्य कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माइनांग ने ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की महत्ता को स्वीकार कर के यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सुझाव प्रस्तुत किया है। लेकिन माइनांग के संघटनावाद में ज्ञाता और ज्ञेय के परस्पर सम्बन्ध की पर्याप्त परीक्षा और प्रतिष्ठापना नहीं हो सकी।

हुसर्ल ने अपने पूर्ववर्ती संघटनावादियों के दिशा-निर्देश को समझा और उसे आगे बढ़ाया। हुसर्ल की आरम्भिक पुस्तकें हैं : "लॉजिकल इनवेस्टिगेशन्स,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक्सपीरियन्स एण्ड मीनिंग, युनीवर्सल्स एण्ड एब्सेट्रेक्शन, द एनालिसिस आफ ह्वोल एण्ड पार्ट, द आयडिया आफ ए प्योर ग्रामर" तथा "एक्सपेरियन्स एण्ड कण्टेण्ट"। इन सब में उनका उद्देश्य यह दर्शाना था कि अनुभववाद (Empiricism) तर्कसम्मत नहीं है। तर्क अन्तर्दृष्टि पर आधृत है, न कि अनुभव-जन्य सामान्यीकरण पर।

हुसर्ल ने कहा कि संघटनात्मक विश्लेषण में हम अस्तित्व की चर्चा नहीं करते बल्कि केवल मानसिक तत्त्वों का विचार करते हैं। मानसिक संघटनाएं पारदर्शी होती हैं। ये किसी बाह्य सत्ता का निर्देश नहीं करतीं। हम जब संघटनाओं का विश्लेषण करते हैं तो हम केवल इनके उद्देश्य, आशय, या अर्थ को जानना चाहते हैं। ऐसे विश्लेषण में हम दैनिक जीवन के वस्तुगत आयाम पर नहीं जाते। इस तरह विच्छेद (या Epoche) की प्रक्रिया द्वारा हुसर्ल ने सार-तत्त्वों को वस्तुतत्त्वों से अलग किया। इससे वस्तुओं के उद्घाटन का निलम्बन हो गया। इस प्रक्रिया में हर प्रकार की सत्ता को प्रकोष्ठीकृत (Bracketed) करके केवल प्रतीतियों, प्रत्ययों या सारतत्त्वों (Essences या Concepts) का विश्लेषण किया जाता है। इस तरह उद्देश्य और विधेय दोनों को सत्तात्मकता से च्युत करके हुसर्ल ने यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सशक्त मार्ग प्रस्तुत किया। इससे सत्ताशास्त्र ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की परिधि और पहुँच के परे हो जाता है। हुसर्ल ने कहा कि गणित की तरह संघटनावाद केवल सम्भाव्यता का विज्ञान है और सम्भाव्यता ठोस वस्तुओं के अस्तित्व से पूर्व आती है।[२]

लेकिन अपने बाद के दार्शनिक विचारों में हुसर्ल शुद्ध संघटनात्मक और वैचारिक विश्लेषण से हटकर एक सत्ताशास्त्रीय संरचना में जुट गये। उनके प्रारम्भिक दर्शन में उद्देश्य और विधेय केवल तार्किक कोटियां थी। परन्तु अब वे उद्देश्य को ज्ञाता मानने लगे। ज्ञाता या अनुभवातीत विषयी या आत्मा (Transcendental Ego) अब केवल संघटनाओं में व्यवस्था या स्पष्टता प्रदान करनेवाला तार्किक सिद्धान्त ही नहीं रह जाता। वह अब सत्तात्मक हो जाता है। हुसर्ल का यह विचार उन्हें काण्ट के समान अनुभवातीत विज्ञानवादी (Transcendental Idealist) बना देता है। हुसर्ल के दर्शन का यह रूप उनके Formale und Transcendentale Logik में देखा जा सकता है।

मारविन फार्बर ने हुसर्ल की आलोचना करते हुए कहा है कि हुसर्ल ने पहले तर्कवाक्यों और प्रत्ययों के विश्लेषण की पद्धति अपनायी और बाद में जब वे इस मौलिक पद्धति का परित्याग कर यह मानने लगे कि ज्ञेय पदार्थों की परि-कल्पना केवल आत्मपरक सन्दर्भ में ही हो सकती है तो वे बर्कले से अलग दिखाई नहीं देते। हुसर्ल वस्तुतः "आत्मपरक परिस्थिति" का उपयोग करते हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर. बी. पेरी द्वारा बताई गयी 'आरम्भिक विधेयकता की परिभाषा' Definition by initial predication के दोषी हो जाते हैं।[३] हुसर्ल का दर्शन इस तरह एकांगी हो जाता है। वे ज्ञाता को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान कर देते हैं और ज्ञाता को तज्जनित गौड़ स्थान दे देते हैं। वे ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता की सत्ता पर आधृत और उससे निस्सृत समझने लगे। इसके कारण उनके दर्शन में आत्मपरक विषय और अस्तित्व की वस्तुगत सत्ता में गड़बड़ी पैदा हो गयी। यह गड़बड़[४] उनकी पुस्तक Philosopher der Arithmatic में भी देखी जा सकती है। फ्रेग ने हुसर्ल की इस बात के लिए आलोचना की और कहा कि हुसर्ल ने 'चांद' और 'चांद की प्रतीति' का अन्तर स्पष्ट नहीं किया। हुसर्ल ने इस बात का अनुभव किया और बाद में मनोवैज्ञानिकता Psychologism का त्याग कर अनुभवातीत मनोवैज्ञानिकता का संवरण व संवर्धन किया। लेकिन इससे हुसर्ल का दर्शन आत्मपरक विचारों के ढाँचों और सम्बन्धों की सीमा में बन्ध गया।

आरम्भ में हुसर्ल ने देकार्त की भाँति दर्शन को भौतिक जगत् की सन्दिग्धता से मुक्त कर गणितीय निश्चितता प्रदान करने का प्रयास किया। इस पद्धति से दर्शन को निश्चित ही कुछ उपलब्धि मिली। लेकिन इस थोड़ी-सी उपलब्धि के लिए संघटनावाद ने बहुत कुछ खो दिया। वास्तविक अस्तित्व का बहुत बड़ा भाग संघटनावाद में दार्शनिक महत्व न पा सका। ज्ञेय जगत् की उपेक्षा हो गयी। ज्ञाता को सम्पूर्ण सत्ता मान लेने से सत्ता के ज्ञेयात्मक या वस्तुपरक पक्ष की पकड़ न हो सकी और सत्ता का अवमूल्यन हो गया। मारविन फार्बर ने कहा है :—

"हुसर्ल एवं दूसरों के आत्मपरक दर्शन ने पद्धति और मौलिक प्रत्ययों के स्पष्टीकरण में महान् योगदान किया है। लेकिन वे सभी, जो अवैध अज्ञान के दोषी नहीं हैं, यह मानेंगे कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो आत्मपरक पद्धति से नहीं दर्शाई जा सकती।"[५] ऐसी पद्धति तर्कशास्त्र के दर्शन और वर्णनात्मक मनोविज्ञान में पर्याप्त उपयोगी है। लेकिन इतिहास-दर्शन में जहाँ हमारा सामना वास्तविक घटनाओं और व्यक्तियों से होता है, यह पद्धति कामगर नहीं हो सकती।

संघटनावाद की प्रथम भूल यह है कि यह मनोवैज्ञानिक, तार्किक या प्रत्ययों के संघटनात्मक विश्लेषण को सत्तात्मक विश्लेषण मान बैठता है। द्वितीय भूल यह है कि यह सम्पूर्ण सत्ता की महत्ता को न समझ कर उसके एक पक्ष—ज्ञाता— को सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। इससे ज्ञेय पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। तृतीय भूल यह है कि संघटनावाद ज्ञाता के केवल ज्ञानात्मक पक्ष को दार्शनिक महत्व देता है। आत्मा के अन्य पक्ष जैसे संकल्पात्मक, क्रियात्मक, संवेगात्मक आदि की उपेक्षा हो जाती है। आत्मा के अनेक कार्य हैं जिनमें ज्ञान केवल एक कार्य है। इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगतियों का मुख्य कारण यह है कि हुसर्ल अपने परवर्ती विचारों में सत्ताशास्त्र को ज्ञानमीमांसा के अन्दर गौड़ स्थान देने का प्रयास करने लगे।

ज्ञानमीमांसा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। वह विचारों के प्रकार की खोज करती है। लेकिन उससे सत्ताशास्त्र का निगमन नहीं किया जा सकता। हुसर्ल जब आत्मतत्त्व में सम्पूर्ण सत्ता का निवेश कर उससे ज्ञेय जगत् की सत्ता का निगमन करते हैं तो उनका विज्ञानवादी दृष्टिकोण उनके दर्शन पर हावी हो जाता है। उनका विज्ञानवादी पक्षपात उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब वे वस्तु जगत् को केवल प्रत्यय कह देते हैं। उनके अनुसार मन और मानसिक प्रत्यय ही अन्तर्जनित जगत् के घटक हैं। कहा जा सकता है कि आत्मत्व को प्राथमिकता देने का उनका प्रयास केवल रीतिवैज्ञानिक (Methodological) है नकि तात्त्विक। किन्तु यह सत्य नहीं है। हुसर्ल का संघटनावाद उस समय केवल रीतिवैज्ञानिक नहीं रह पाता जब वे आत्मत्व को अनुभव के पूर्व प्रतिस्थापित कर उसमें पूर्ण सत्ता का निवेश करने लगते हैं। "यह बात हुसर्ल के इस कथन से स्पष्ट है कि अनुभव प्रत्येक प्रत्ययात्मक सत्य से पूर्व प्रतिष्ठित है, और प्रत्यक अनुभव के पूर्व अस्तित्व प्रतिष्ठित है और प्रत्येक अस्तित्व के पूर्व व्यक्तिगत सत्ता अपेक्षित है तथा प्रत्येक व्यक्तिगत सत्ता आत्मत्व की प्रागपेक्षा करती है। वे स्पष्टतः आदर्शवादी परम्परा का पालन करते हैं। वे विज्ञानवाद या आदर्शवाद का मूल सिद्धान्त छोड़ नहीं पाते।"[६]

प्रत्यय से सत्ता का निगमन नहीं हो सकता। प्रयोजनात्मक, आशयिक या आभिप्रायिक विश्लेषण में हमें प्रयोजन, प्रत्यय या आदर्श की प्राप्ति हो सकती है किन्तु इससे सत्ता की पकड़ नहीं हो सकती। "विच्छेद, निलम्बन और संरचनात्मक कार्यविधि सत्ताशास्त्र के लिए भूमिका तैयार कर सकते हैं लेकिन वे उसका प्रजनन नहीं कर सकते। हम किसी हैट से उतनी ही वस्तुएँ निकाल सकते हैं जितनी उसमें रखी हों, उससे अधिक नहीं।"[७] अतः हुसर्ल का संघटनावाद आदर्शों या अमूर्त प्रत्ययों तक ही सीमित रह सकता है। इनसे हम वस्तुजगत् का तनिक भी ज्ञान नहीं पा सकते। फार्बर ठीक ही कहते हैं कि "सभी शुद्धीकरण की प्रक्रियाओं के साथ पाये जानेवाले विच्छेद Epoche पर जिस सत्ताशास्त्र का संवर्धन हुसर्ल ने किया है वह वास्तविक सत्ताशास्त्र नहीं हो सकता।"[८]

विचारक के रूप में हुसर्ल ने प्रधानतः दो कार्य किये हैं। संघटनावादी विचारक के रूप में हुसर्ल ने तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा को सत्ताविषयक चर्चा से मुक्त करके असाध्य काम किया है। अपनी पुस्तक "लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन्स" में उन्होंने यह खूब स्पष्ट किया है कि तर्कशास्त्र और संघटनावाद का मुख्य उद्देश्य संघटनाओं, प्रयोजनों को समझना है। ऐसा करने के लिए हमें संघटनाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता को निलम्बित करना पड़ता है और उनको हम उनकी प्रतीतियों या प्रत्ययों की तरफ मोड़ते हैं। हुसर्ल के प्रतीत्यात्मक विच्छेद Eidetic Reduction का यही उद्देश्य है। इसका मतलब है संघटनाओं के अस्तित्वात्मक रूप को कोष्ठीकृत कर देना। सत्ता की समझ और उसका विवेचन सत्ताशास्त्र का विषय है। हुसर्ल के इसी दृष्टिकोण ने समकालीन दर्शन में महान् योगदान किया है।

लेकिन हुसर्ल के संघटनावाद का दूसरा पक्ष भी है जिसमें उन्होंने सत्ताशास्त्रीय समस्याओं के समाधान को ज्ञानमीमांसा के माध्यम से प्राप्त करने का असफल प्रयास किया है। इस रूप में उन्होंने अनुभवातीत आतमत्व को सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर उससे वस्तुजगत् का निगमन करना चाहा है। उनका यह दृष्टिकोण उनके प्रथम दृष्टिकोण के बिलकुल विरुद्ध और उससे असंगत है।

– **गोरखनाथ मिश्र**

दर्शन विभाग
धेम्पे महाविद्यालय
पणजी, गोवा

टिप्पणियाँ

१. जॉन पैसमोर - **दर्शन के सौ वर्ष**– अनु-चाँदमलशर्मा व कलानाथशास्त्री-वैज्ञानिक तथा तकनीकी आयोग, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार-पृ. २२२
२. एडमण्ड हुसर्ल– **आयडियाज : जेनरल इण्ट्रोडक्शन टू प्योर फेनोमेनाकोजी**– अनु. डब्ल्यू ब्वायस गिब्सन-जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, १९३१ पृ. १३
३. मारविन फारबर – **फेनोमेनालोजी एण्ड एग्झिस्टेन्स** टारपर एण्डरो पब्लिशर्स– १९६७ पृ. ८४
४. वहीं पृ. ४–५
५. वहीं पृ. १३
६. वहीं पृ. ९५
७. वहीं पृ. १०६
८. वहीं पृ. १११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिकालीन रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य में शृंगार-दर्शन

'रीति' शब्द रीतिकालीन काव्य में काव्य-विधान यानी काव्य-रचना की वैज्ञानिक पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में रीतिकालीन कवियों ने विभिन्न काव्य-अगों के साथ 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे 'रीति' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया है। चितामणि ने 'काव्य रीति', मतिराम ने 'रस-रीति', सोमनाथ ने 'छंद-रीति', देव ने 'कवि-रीति' तथा दूलह ने 'अलंकार की रीति' की बात कही है। तो इस प्रकार 'रीति' शब्द का अर्थ हो गया– रचना से सम्बन्धित नियमों का विधान। जिस ग्रन्थ में रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो, वह रीतिग्रन्थ कहलाएगा। जिस काव्य की रचना इन नियमों के आधार पर हो, वह रीतिकाव्य होगा।

जिसे हमने रीतिकाव्य कहा है, वही रीतिबद्ध काव्य कहा जाता है। रीति-ग्रन्थों में काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के लक्षण और फिर उनके उदाहरण दिये जाते थे। वे उदाहरण रीतिबद्ध काव्य में गिने जाएँगे। केशव, मतिराम, चिन्तामणि, देव, पद्माकर आदि का काव्य रीतिबद्ध काव्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार–जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो, वह भी रीति–कवि है।' बिहारी ऐसे कवि हैं। उन्होंने काव्य–रचना सम्बन्धी नियमों के लक्षण नहीं दिए, किन्तु उनका काव्य उन लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करता है। अतः बिहारी भी रीतिबद्ध काव्य (रीति काव्य) में ही आते हैं।

जिन कवियों ने न तो इन नियमों का विवेचन किया है, न ही उनके आधार पर काव्य-रचना की है, वे कवि रीतिमुक्त कवि कहे जाते हैं और उनका काव्य रीतिमुक्त काव्य। रीतिमुक्त कवि दरबारी जीवन से दूर थे, अतः उन पर काव्य-शास्त्रीय परम्परा का न तो प्रभाव पड़ा है, न ही उन्हें यह प्रभाव ग्रहण करने की कोई विवशता थी। ये स्वच्छंद कवि कहे जा सकते हैं। घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा आदि कवि रीतिमुक्त कहे जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य के तृतीय काल-खंड का नाम 'रीतिकाल' जिन रचनाओं के आधार पर रखा गया, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्यशास्त्र से जुड़ी थीं। ऐसी रचनाएँ, अधिकांशतः, दरबारों में ही लिखी गयीं, क्योंकि उन्हें यश व अर्थ के लिए 'सामन्ती मोद' यानी आश्रयदाताओं की विलास-वृत्ति को ध्यान में रखकर लिखना था। स्पष्ट है कि इनका मुख्य विषय शृंगार रहा होगा। यद्यपि 'रीतिकाल' नाम से अधिकांश समीक्षक दरबारी काव्य या रीतिमुक्त शृंगारी काव्य से लेते हैं, किन्तु दरबारी घेरे से बाहर बहुत विपुल परिमाण में साहित्य लिखा गया है। इस विविधमुखी साहित्य में शृंगारी काव्य छोटा-सा स्थान रखता है। अस्तु। यहाँ रीतिबद्ध और रीतियुक्त-शृंगारी काव्य का तुलनात्मक विश्लेषण अभिप्रेत है।

काव्य एक कला है। रीतिकाल की कला सामाजिक प्रवृत्ति और दरबारी परिवेश से बहुत प्रभावित रही। काव्य-कला की बात करें, तो रीतिबद्ध काव्य दरबारी परिवेश से और रीतिमुक्त काव्य कवियों के मनःसंघातों से प्रेरित और प्रभावित रहा। यह युग वस्तुतः आडम्बरों और कृत्रिमताओं का युग था, जो दरबारी जीवन से काफी प्रभावित रहा। औरंगजेब के बाद दरबार में वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया था। अन्य राजा भी इसी का अनुकरण कर रहे थे। दरबार में नर्तकी दैनिकी का एक अनिवार्य अंग थी, जिससे कवि, मूर्तिकार, चित्रकार-- सभी प्रभावित होते थे। अतः इन्हें स्थूल शृंगार की प्रेरणा मिलना स्वाभाविक था।

कला के क्षेत्र में दो प्रकार के मनीषी प्रवेश करते हैं। एक परम्परा के अनुसर्ता होते हैं और दूसरे स्वानुभूति के उद्गाता। पहला शास्त्रीय मार्ग है, जिसमें सीमाओं के बन्धन में रहकर कला-वैभव प्रदर्शित किया जाता है। रूढ़ियों से ऊब चुके कलाकार स्वच्छन्द धारा को जन्म देते हैं। साहित्य में दोनों प्रवृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। रीतिकालीन काव्य में दोनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

दोनों धाराओं की तुलना से पूर्व दोनों कवियों के व्यक्तित्व में निर्मायक तत्त्वों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। रीतिबद्ध कवियों की शृंगारिक रचनाओं का प्रेरक तत्त्व 'अर्थ' था, 'यश' तत्त्व गौण था। अतः राजाश्रय में जाने पर राजाओं की ऐश्वर्य- वृत्ति और दरबार के मादक परिवेश ने उनके काव्य का स्वरूप निश्चित किया। राज-कृपा पाने के लिये उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ निश्चित होती गयीं। शृंगार-चित्रण में सामन्तीय रसिकता तथा संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा के लदाव ने उसे रूढ़िवादी व चिन्तनहीन बना दिया। दरबार में अपने कवित्व का ठोस प्रमाण देने के लिए उन्होंने काव्यशास्त्र का आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया। इस नयी स्थिती में अपने मानसिक तनाव को आधार देने के लिए उसने भक्ति का आवरण ओढ लिया। उधर दरबार में फारसी के कवियों से होड़ बनाये रखने के लिए रीतिबद्ध कवि ने कामशास्त्र का आधार ग्रहण किया। इस प्रकार यह काव्य उनके भीतर की उपज न होकर उनके आरोपित व्यक्तित्व की देन कहा जा सकता है। जगदीश गुप्त का मत है कि ये कवि 'संघर्ष–चेतना से विमुख थे, अतः नवीन दिशाओं का संधान न कर सके।' यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। कवि का सबसे बड़ा संघर्ष आत्म-संघर्ष होता है। वह स्वयं अपने संस्कारों से, अपनी मानसिकता से, अपने पारिवेशिक उथल-पुथल से जूझता है। इस काल के रीति-कवि भी अपने व्यक्तित्व को दरबारी माहौल के अनुसार छीलते रहे।

किन्तु रीतिमुक्त कवि पर ऐसा कोई दबाव नहीं था। उनका व्यक्तित्व मूलतः प्रणय–दीक्षित है। इनकी काव्य–प्रेरणा इनकी प्रेमिकाएँ हैं अर्थात् भीतरी तत्त्व के लिये वे लिखते रहे हैं। इन्होंने बड़ी निर्भीकता से रूढ़ियों को तोड़ा है। घनानन्द सुजान के लिये मर्यादाएँ तोड़ते हैं, बोधा दूसरी जाति की सुमान से परिणय रचाते हैं। रीतिकवियों की भांति ये कवि अर्थ अथवा यश की कामना से ग्रस्त नहीं थे, अतः व्यक्तित्व में बाधा पड़ने पर इन्होंने दरबार को त्याग दिया। प्रारंभ में दरबार में रहने पर भी इन्होंने अपने व्यक्तित्व पर दरबारी परिवेश को हावी नहीं होने दिया। ये स्वाभिमानी थे। घनानन्द का स्वाभिमान इतना प्रबल है कि घनानन्द केवल सुजान के कहने पर ही गाने हैं। किन्तु झुकने वाले के समक्ष यह भी झुक जाते हैं। कुल मिलाकर काव्य इनके लिये साधन था, साध्य नहीं। वह आश्रय-प्राप्ति के लिये नहीं बल्कि अपनी पीड़ा व्यक्त करने के लिये लिखा गया था। इनकी दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ और अन्तर्मुखी थी, रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि वस्तुनिष्ठ और बहिर्मुखी थी।

रीतिबद्ध कवि का मूल विषय श्रृंगार है। 'श्रृंगार' काव्यशास्त्रीय शब्द है जो इसके बंधनों व परम्परा की ओर संकेत करता है। इस सन्दर्भ में रीतिमुक्त कवि का मूल निवेद्य प्रेम है, जो इनकी स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है। रीतिबद्ध कवियों ने श्रृंगार को भौतिक स्तर पर ग्रहण किया है, जो कहीं–कहीं मानसिक स्तर का स्पर्श करता है। इनकी श्रृंगार–भावना छल और कुंठा से रहित है। शरीर–सुख की यह साधना रसिकता तक पहुँच गयी है। रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम को प्रायः मानसिक स्तर पर चित्रित किया है जो कहीं–कहीं आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त हो जाता है। यदि 'काम' शब्द का स्थूल अर्थ लिया जाये, तो रीतिबद्ध कवि बंधन में रहकर काम–दंश से पीड़ित रहता है, जबकि रीतिमुक्त कवि मुक्त रहकर काम–दंश से मुक्त रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिबद्ध काव्य में परिवेश के अनुकूल संयोग-वर्णन को प्रधानता मिली है। यहाँ प्रेम-संबंधी क्रियाओं का जमकर वर्णन हुआ है। प्रथम दर्शन और प्रथम प्रणय की उत्पत्ति के चित्रों में प्रायः आकर्षण और स्तम्भन की दशा का वर्णन हुआ है, जिनमें जटिलता की अपेक्षा रमणीयता अधिक है। यथा :

'मोहन मोहि रह्यो कबको कबकी वह मोहनि मोह रही है।'

स्पर्श और आलिंगन के चित्रों में विशेष मादकता दिखायी देती है। यहाँ तक कि लरिका होने (देव) या उलझा हार सुलझाने के बहाने (बिहारी) भी स्पर्श-सुख खोजा गया है। नायिका को आलिंगित करने के लिये नायक उसकी सखी पर अबीर उछालता है, ताकि उसकी आँखें वन्द हो जाएँ। उधर सखियों का निमंत्रण देखिए :

छीन पितंबर कम्मर तें सुबिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाई कह्यो मुसकाई लला फिर आइयो खेलन होरी॥

नायिका के कटाक्ष-चित्रण के द्वारा भी प्रेम के उन्मादक पक्ष पर ही ध्यान रखा गया है : इनमें मार्मिकता की अपेक्षा चमत्कृति अधिक है। स्तन-वर्णन में भी यही ध्यान रखा गया है : रीतिबद्ध काव्य में भोग-दृष्टि की प्रधानता के कारण ही मुखवर्णन उपेक्षित सा रहा है। यदि है भी, तो 'नित्यप्रति चहुं ओर पूनो' दिखाकर उसे चलता-सा कर दिया है। कुछ स्थलों पर चेचक के दागों और मिस्सी लगे दाँतों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो औचित्यपूर्ण नहीं लगता है। इनकी भोगवादी दृष्टि के प्रमाण देखिए—

१. कंचुकी में कसे आवे उकसे उरोज-बिन्दु (देव)
२. कुंच-गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै (बिहारी)
३. सोने के सरोज-से उरोज (देव)

रीतियुक्त काव्य में सहज सौन्दर्य का स्वाभाविक वर्णन हुआ है। इसका संयोग-वर्णन गौण और कल्पित है। यहाँ कवियों की सौन्दर्य-चेतना रूप की अपेक्षा उसके प्रभाव का वर्णन करने में सचेत रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपने स्थायी विरह को काल्पनिक संयोग द्वारा सह्य बनाना ही अभीष्ट था। विशेष रूप से घनानन्द के चित्रों में ऐसा तरल सौन्दर्य द्रष्टव्य है। उनकी तो उक्ति ही उस 'अपार पानिप' के समक्ष ओछी पड़ जाती है। कुल मिलाकर रीतियुक्त काव्य में सुरति और सुरतान्त के चित्र बहुत कम मिलते हैं। उन चित्रों में भी मनोल्लास ही प्रमुख रूप से आया है। सहजता के कारण ये चित्र ताज़गी और नवीनता से भरे हुए हैं। कुछ प्रमाण देखिए—

१. अंग-अंग तरन्त उठै दुति की परिहै मनो रूप अबै घर च्वै।
(घनानन्द)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. अपने अपने निज गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नन्दगाँव पै री॥
(ठाकुर)

३. देखें रूप रावरो भयो है जीव बावरो। (घनानन्द)

लोक-लाज की उपेक्षा करते हुए भी परकीया–प्रेम का वासनात्मक चित्र प्रस्तुत करना इन्हें अभीष्ट नहीं था। इनकी प्रेम–दृष्टि सूक्ष्म थी, जिसमें भावना की प्रधानता है। इनमें प्रणयगत उदात्तता मिलती है। प्रणयगत उदात्तता वैषम्य-सापेक्ष होती है। अतः घनानन्द में यह उदात्तता सर्वाधिक मिलती है। वहाँ उसकी विकल्पात्मक परिणति भक्ति-भावना में हुई है।

कुल मिलाकर रीतिबद्ध काव्य में वर्णन नायक–नायिका का है, रीतिमुक्त में वर्णन प्रेमिका का है। पहला अनुबंधित है, जबकि दूसरा अनुभूत है। दोनों में मुख्य अन्तर भंगिमा और भावना का है।

रीतिबद्ध काव्य में कुछ मानसिक भाव-चित्र भी मिलते हैं। जहाँ उन्होंने रूप का संश्लिष्ट वर्णन किया है, वहाँ वह यथेष्ट चाक्षुष प्रभाव छोड़ता है। जैसे-

ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई
(मतिराम)

दै गल बाहीं जु नाहीं करी वह नाहीं गुपाल को भूलत नाहीं (देव)

इसी प्रकार रीतिमुक्त कवियों में भी अपवादस्वरूप कुछ स्थूल चित्र मिलते हैं। बोधा कभी–कभी तो एकदम बाज़ारू ढंग पर उतर आते हैं।

रीतिबद्ध कवियों ने उद्दीपन के लिये वेशभूषा, आभूषणों का भी वर्णन किया है, जो रागात्मक परिवेश के निर्माण में सहायक हुआ है। किन्तु रीतिमुक्त कवियों का वर्णन सहजता व सच्चाई के कारण सौन्दर्य–बोध में विशेष योग देता है। प्रेमिका का काली साड़ी में सोकर उठने का वर्णन इसका एक प्रमाण है।

विरह–वर्णन

आचार्य विश्वनाथ ने वियोग के चार भेद माने हैं -- पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण (स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मक चतुर्धा स्यात्)। वियोग में क्योंकि संयोग का अभाव निहित है, अतः पूर्वराग और मान भी इसी में गिने जायेगें।

रीतिबद्ध काव्य में वियोग–वर्णन अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। कारण यह है कि ऐसा दरबारी माहौल के अनुकूल नहीं पड़ता था। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वराग और मान में फिर भी संयोग अवस्था से निकटता बनी रहती है। अतः रीतिबद्ध काव्य में इन दोनों स्थितियों का विविध सन्दर्भों में सविस्तार रूपायन हुआ है। प्रवास और करुण स्थितियों में कवियों का मन नहीं रमा है। उधर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिमुक्त काव्य में प्रेम का वियोग पक्ष असाधारण विस्तार से वर्णित है। उसमें मुख्य रूप से प्रवासजन्य विरह का ही रूपायन हुआ है, जो अपने प्रभाव की तीव्रता में प्रायः करुणावस्था में बदल जाता है।

रीतिबद्ध कवियों का विरह-वर्णन अनुभूत नहीं है। अतः उसमें यांत्रिकता और कृत्रिमता स्पष्ट दिखायी देती है। पूर्व-राग की अपेक्षा मान अवस्था के माध्यम से चमत्कार अधिक लाया जा सकता था। मान में भी प्रणयमान की बजाय ईर्ष्यामान को अत्यधिक विस्तार से दिखाया गया है। ऐसा प्रायः सभी कवियों ने मुग्धा, मध्या और प्रौढा--तीनों नायिकाओं में दिखाया है। इससे वक्रोक्ति के प्रयोग करने और चमत्कार दिखाने का अवसर मिल गया। एक प्रमाण ही पर्याप्त होगा—

पलनु पीक अंजनु अधर महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल ॥ (बिहारी)

किन्तु देव इसका अपवाद कहे जा सकते हैं। उन्होंने नायिका की दीनता उदासीनता मान-अपमान आदि के भावनामय चित्रों से नारी की करुणा को मूर्त, कर दिया है। जैसे—

साथ में राखिये नाथ उन्हें हम हाथ में चाहति चार चुरी ये (देव)
कौन तिन्हैं दुख है जिनके तुमसे मन-भावन छैल छबीले। (देव)

रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम के माध्यम से जो पीड़ा प्राप्त की, वही उनकी कविताओं का मूल स्रोत है। इनकी कविताएँ इनकी निराशा को एक उच्च भाव-भूमि प्रदान करती हुई प्रतीत होती हैं। निराशा की इस स्थिति में प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति हो जाना सहज ही था। इनकी पीड़ा कही नहीं जा सकती—'मिलिकै बिछुरैं सोई जानतु है।' उस दुःख की वास्तविक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में बहुत अन्तर हो जाता है। बोधा की तो वेदना सुनने वाला ही कोई नहीं है, जिसे सुनकर कोई भी भावना में बह सकता है। इतने पर भी यह प्रेम-पीड़ा उन्हें शिरोधार्य है, इस पर उन्हें गर्व है। यह पीड़ा ही तो इनके भाव पक्ष का आकर्षण है, जो पाठक को उस अनुभूति के भीतर से गुजारते हुए अपने साथ बहा ले जाने में सफल है। प्रमाण प्रस्तुत हैः—

१. तेरे बाँटे आयो है अंगारन पे लौटिबो (घनानन्द)
२. होरी-सी हमारे हियें लागियै रहति है (घनानन्द)
३. हो घन आनन्द जीवन-मूल दई प्यासन भारत मोही (घनानन्द)
४. चहिये सुख तो लहिये दुख को दृग् बार पयोनिधि में बहिये (बोधा)
५. हम कौन सो पीर कहें अपनी दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः रीतियुक्त कवियों की वियोग—व्यथा बड़ी गहन और व्यापक है। उसमें सूक्ष्मता और आसक्ति की तीव्रता दिखायी देती है। यहाँ तक कि संयोग में भी वियोग की आकांक्षा बनी रहती है। कई बार इन्होंने अपनी व्यथा को मौन तक सीमित रखकर उसकी मार्मिक व्यंजना की है।

दूसरी ओर रीतिबद्ध काव्य में नायिका द्वारा पत्र या दूती के माध्यम से सन्देश भेजने की रूढियों का पालन–मात्र हुआ है। यहाँ पुरुष-विरह का वर्णन तो है ही नहीं। रीतियुक्त काव्य में नारी के साथ साथ पुरुष–भाव वा विरह भी संतुलित रूप में आया है। बोधा ने 'विरह वारीश' नामक प्रबन्ध काव्य में माधव विरह स्थान-स्थान पर दिखाया है। इनके प्रबन्धों में भी विरह का स्वरूप पर्याप्त गहन और गंभीर है। पुरुष–विरह का वर्णन उस पुरुष–प्रधान समाज में क्रान्तिकारी दृष्टि कही जा सकती है।

रीतिबद्ध कवियों का विरह-काव्य प्रायः शास्त्रीय आधार पर लिखा गया है। किंतु रीतिमुक्त कवियों में आंशिक रूप से यह आधार मिलता है। वहाँ पूर्वराग और मान की स्थितियों का वर्णन न के बराबर है। प्रवास और करुण स्थितियों का चित्रण शास्त्रीय नहीं है, भावावेग की वहाँ प्रधानता मिलती है। अतः आवेग का बंधन से कोई संबंध नहीं है। अतः वहाँ कोई शास्त्रीय आधार खोजना व्यर्थ है। इधर रीतिबद्ध काव्य में फारसी के 'मुबालगा' से प्रभावित होकर ऊहा का खूब प्रयोग किया है। बिहारी की दूर की कौड़ी यानी अतिशयोक्तिमूलक कल्पना प्रसिद्ध है। उनकी विरह-उक्तियों में कागज़ का विरह-ज्वाला से जलना या आँसुओं से गलना, नायिका का साँस लेते हुए सात-आठ हाथ आगे-पीछे जाना आदि अनेक प्रमाण मिल जाएँगे। रीतिमुक्त कवियों के विरह-दर्शन में ऊहा व दूरारूढ कल्पना का प्रायः अभाव रहा है। यद्यपि कुछ अपवाद मिल जाते हैं किन्तु वे भी वैसी उपहासास्पद स्थिति तक न जाकर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ जाते हैं। जैसे–

'छाती सों छुवाय दिया बाती आनि बारि ले।' (आलम)

रीतिबद्ध कवि प्रारंभ में दरबार से बाहर रहकर रचना करते रहे हैं। मुक्त-स्थिति के कारण ऐसी रचनाओं में जो वियोग-चित्र प्राप्त होते हैं, वे प्रेमानुभूति में उनकी गहरी पैठ का आभास देते हैं। इसी प्रकार रीतिमुक्त कवि भी प्रारंभ में कुछ समय दरबार में रहकर रचना करते रहे हैं। उन्होंने कुछ शास्त्रीय अध्ययन भी किया था। इस कारण उनके काव्य में कुछ शास्त्रीय दर्शन भी मिल जाते हैं। ऐसा प्रभाव बोधा पर सर्वाधिक पड़ा है। वही ऐसे रीतिमुक्त कवि हैं, जिन्होंने 'बारहमासा' में नियमित रूप से ऋतु-वर्णन किया है। अन्य कवियों पर यह प्रभाव नगण्य ही कहा जाएगा। यहाँ विरह में शरीरी व्यापारों की अपेक्षा प्रिया के रूपादि के प्रभावों को ही स्मृति का आलम्बन बनाया गया है। इनके काव्य में कृशता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ दर्शन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी उपहासास्पद नहीं बने, क्योंकि वे अनुभूतिजन्य हैं। निराशा के चरम पर पहुंच कर ये कवि ऊहा की ओर नहीं मुड़ते, वरन् दैन्य-निवेदन से प्रिय के मन में करुणा जगाना चाहते हैं। यथा –

रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये।

०० ०० ००

कबहूँ तो मौरियै पुकार कान खोलि है।

यहाँ रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य के कतिपय उद्धरण हमारे उपर्युक्त कथन को बल प्रदान करेंगें। रीतिबद्ध काव्य में वियोग के ऐसे प्रभावशाली दर्शन उसे सजीवता प्रदान करते हैं और रीतिमुक्त काव्य का उद्धरण हल्का-सा चमत्कार दिखाता हुआ भी अनुभूति-प्रेरित लगता है।

रीतिबद्ध काव्य –

१) च्वै-सी गयी दिन तीन ही में (पद्माकर)
२) देखत बुरै कपूर ज्यों (बिहारी)
३) गोरी-गोरो मुख आज
ओरो से पिघल जात

रीतिमुक्त काव्य –

अंक मरौं चकि चौंकि परौं

नैतिक सन्दर्भ

शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्वकीया नायिका को आदर्श गृहिणी कहा जा सकता है। रीतिबद्ध कवियोंने स्वकीया को अष्टांगवती दिखाया है, यथपि इस प्रकार के उत्सर्गमूलक प्रेम का चित्रण नगण्य रूप में ही हुआ है। देव ने परकीया व सामान्या के प्रति आसक्ति में मर्यादा-हानि दिखाते हुए प्रेमहीन तिय को वेश्या कहा है। स्वकीया की नैतिकता तथा आचारवत्ता दिखाने के पीछे इन कवियों में एक आस्था-बोध दिखाई पड़ता है। पारिवारिक नैतिकता के भी कुछ चित्र मिलते हैं।

ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज सँभारे (मतिराम)
लाज करे गुरु लोगन में अरु काज करे घर में घर बैठी (देव)

रीति-कवियों की नैतिक चेतना के निर्माण के मूल में सामाजिक जीवन दृष्टि थी। सामन्ती परिवेश के कारण ही उनके काव्य में परकीया-प्रेम इतनी बहुलता से मिलता है। दरबार में अपनी साख बनाये रखने के लियें उर्दू-फारसी के रकीबों व माशूकों की टक्कर में उन्हें खंडिता नायिका का वर्णन करना पड़ा। फिर राजाओं और अमीरों की नैतिकता देव के शब्दों में थी भी यही–

'जो रमनी रमनीय लगै बस ताके रहैं सजनी रजनी-भर।' अतः ऐसे वर्णन उनकी विवशता थी, हृदय से निकली हुई वस्तु नहीं। शास्त्रानुरूप इन्हें नायिका–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद के उदाहरण भी देने थे और विलासी शासकों का मनोरंजन भी करना था।

रीतियुक्त कवियों की स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। इन्होंने आम परकीया व सामान्या से अपने प्रेम को वाणी दी। ठाकूर सुजान चमारिन से प्रेम रचते हैं। घनानंद और बोधा भी मर्यादाएं तोड़ते हैं। ये कवि स्वयं प्रणयशील हैं। इन्होंने निर्बन्ध रूप से हृदयगत भावों को व्यक्त किया है। इसके बावजूद इन्होंने लोक-लाज का त्याग नहीं किया है। उधर रीतिबद्ध कवि निर्द्वंद्व भाव से परकीया और सामान्या का वर्णन नहीं कर पाए।

शास्त्रीय बन्धनों के अनेक दुष्प्रभाव इनके शृंगार-वर्णन में दर्शनीय हैं। इससे इनकी रचनाएँ बौद्धिक और यान्त्रिक हो गयी हैं और काव्य तत्त्वों के करुण में भाव तत्त्व लगभग कुचला गया है। इस शास्त्रीय बन्धन से रचना में रचनात्मकता भी कम दिखायी देती है। देव, मतिराम आदि की प्रारंभिक रचनाएँ सहज, प्रभावशाली और भावनात्मक हैं, किन्तु शास्त्रीय उदाहरणों के रूप में लिखा गया इनका (परवर्ती) काव्य इन गुणों से हीन कहा जा सकता है। पद्माकर जैसे कवि 'आठों याम सीता राम' रटना चाहते हैं, किन्तु 'पेट की चपेट' ने इन्हें स्थूल शृंगार की ओर धकेल दिया।

रीतिबद्ध कवियों ने फारसी से ऊहात्मकता का प्रभाव लिया है। रीतिमुक्त कवियों पर फारसी-काव्य का प्रभाव उत्तम शैली के रूप में पड़ा है और बहुत गहरा पड़ा है। 'इश्कलता', 'इश्कनामा', 'वियोग बेलि' आदि कृतियाँ फारसी शैली में ही लिखि गयी हैं। कमाल और घनानंद, आदि और द्विजदेव की जीवन-स्थितियों और आदर्शों में बड़ा साम्य है। दोनों प्रकार के काव्यों की भावभूमियों में भी काफी समानता है। फारसी की भांति हिन्दी के रीतिमुक्त काव्य में भी लोक-लाज की अवहेलना की गयी। किन्तु इस काव्य पर फारसी के ईश्वर-प्रेम का प्रभाव कम ही पड़ा है। दर्पण, बिम्ब, सुरा, साकी, प्याला आदि के दृष्टान्त भी इन्होंने ग्रहण नहीं किये।

विषय पक्ष को लेकर रीतिबद्ध कवियों पर भारतीय काव्यशास्त्र और कामशास्त्र हावी रहा है। उदाहरण रूप में लिखे गये काव्य में भी भोगवादी दृष्टि की प्रधानता इसका उदाहरण है। रीतिमुक्त काव्य के विषय पक्ष पर सूफी धारा का प्रभाव पड़ा है। दार्शनिक प्रभाव इनके अनुकूल नहीं बैठते थे, अतः इन्होंने उनसे केवल प्रेम-सम्बन्धी प्रभाव ग्रहण किया है। यह प्रभाव काव्य के अलौकिक पक्ष को लेकर पड़ा है। इन सभी कवियों ने इश्क मजाजी से इश्क हकीकी तक पहुँचने का अच्छा निरूपण किया है। यद्यपि बोधा अपने जीवन में इश्क मजाजी में ही भटककर रह गये, किन्तु वर्णन वे भी करते हैं– 'इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।' इश्क हकीकी में भी लौकिक प्रेम की स्मृति बनी रहती है। ध्यातव्य है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके द्वारा वर्णित प्रेम मूलतः लौकिक है, रहस्यमूलक नहीं। कभी-कभी ये सगुण तत्त्व की ओर उन्मुख होने लगते हैं, किन्तु रहस्य-प्रवृत्ति का सम्बन्ध निर्गुण-साधना से ठीक बैठता है। अतः इनका प्रेम लौकिक ही है। वस्तुतः ये कवि मूलतः प्रेमी थे, भक्त नहीं।

कुल मिलाकर रीतिबद्ध काव्यधारा में भारतीय परम्परा प्रधान और हावी रही है, जबकि रीतिमुक्त में वह एकदम गौण है।

निष्कर्षतः, रीतिबद्ध काव्य रीति से शासित काव्य है। अतः यहाँ रीति प्रमुख थी और काव्य गौण वस्तु थी। रीतिमुक्त काव्य स्वच्छन्द काव्य है, जो अपना मार्ग स्वयं निश्चित करता है। यहाँ संवेदना प्रधान और मूलतत्त्व है। रीतिबद्ध काव्य का शिल्प (ढाँचा) पहले से निश्चित है। निश्चित ढाँचे के भीतर संवेदना को नहीं ढाला जा सकता। इसी कारण रीतिबध्द काव्य यान्त्रिक हो गया है। रीतिमुक्त काव्य में अनुभूति खुलकर व्यक्त हुई है, जो व्यापक प्रभाव छोड़ने में समर्थ है।

१८, गोविंद नगर
अम्बाला छावनी

—अशोक भाटिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला-सर्जन

कला सर्जन के अनेक प्रकारों में से एक है, यद्यपि बहुत बार एकमात्र कला को ही सृजनात्मक कर्म मान लिया जाता है। 'सर्जन' का एक व्यापक अर्थ हो सकता है, जिसके अनुसार चित् का विषयोन्मुख प्रवर्तन मात्र सर्जन है, और विषयोन्मुख प्रवर्तन चित् द्वारा सत् में अपने प्रयोजन का निरूपण है। किन्तु इसका एक संकुचित अर्थ हो सकता है, जिसके अनुसार प्रयोजन के केवल आत्म-बोध-पूर्वक निरूपण को ही सर्जन कहा जा सकता है। इनमें दूसरा अर्थ स्वीकार करने पर न केवल मानव-चेतना का अध्यवसायात्मक प्रवर्तन ही, जिसे अधिकांश दर्शन-सम्प्रदाय अनादि वासनामूलक 'विकल्प' कहते हैं, अतिक्रामी होने के कारण सर्जन के क्षेत्र से बाहर हो जायगा, बल्कि स्वप्न, जो आत्म-बोध-रहित प्रवर्तन है, और क्रीड़ावश बालक द्वारा रेतीले घरोंदों का निर्माण, जो आत्मबोध-रहित और निष्प्रयोजन प्रवर्तन है, भी इसके क्षेत्र से बाहर हो जायेंगे। किन्तु पहला अर्थ स्वीकार करने पर पाशवप्रवृत्ति भी सर्जन के क्षेत्र में सम्मिलित हो जायेगी। किन्तु तब भी सम्भवतः इनमें से व्यापकतर अर्थ ही अधिक युक्त है, क्योंकि अध्यवसाय, स्वप्न और क्रीड़ा को सर्जन के क्षेत्र से बाहर कर देने पर न केवल सर्जन का अर्थ ही क्षीण हो जाता है, बल्कि इन तीन अभिनिवेशों का स्वरूप भी अग्राह्य हो जाता है। किन्तु 'सर्जन' में 'पाशवक्रिया' का समावेश उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह या तो आवेगात्मक उद्वेलन होता है अथवा बाह्यतः नियोजित प्रवर्तन-कम से कम ऐसा हम उसे समझते हैं। सर्जन के लिए चित् का स्वातन्त्र्य स्वतःजात स्फुरण, और उसके द्वारा सत् में रूप अथवा तंत्र का उत्कीर्णन, ये दो तत्त्व होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, सर्जन चित् द्वारा सत् में स्वातन्त्र्य का निरूपण है। सत् को चित् से पृथक् कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह द्वैत पारमार्थिक है, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन है कि सत् और चित् का द्वैत स्वयं चित् के ही अतिक्रामी[1] प्रवर्तन का आक्षेप है, आद्यभाव (प्राइमोर्डियल बींग) इस द्वैत से रहित है। सम्भवतः इस आद्यभाव की आत्यंतिक अनुद्भिन्नता को प्रकट करने के लिए ही तैत्तिरीय उपनिषद् ने इसे असत् कहा है।[2] और ऋग्वेद में इसे

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असत् और सत् से प्राक् कहा गया है ।[३] सर्जन में चित् का स्फुरण और द्वैत का आविर्भाव, यह युगपत् होना अनिवार्य है । किन्तु द्वैत के आविर्भाव के साथ ही स्वातन्त्र्य प्रतिबन्धित हो जाता है और जितना ही सत् चित् से पृथक् अपनी स्थिति बना लेता है चित् के लिए उसमें आत्म-निरूपण उतना ही प्रयत्न-साध्य हो जाता है । वास्तव में चित् और सत् का यह द्वैत मानवीय चेतना में ही स्फुट होता है और इस चेतना में पृथक्भूत सत् की बाधा स्वप्न में न्यूनतम होती है, क्योंकि इसमें सत् भौतिक नहीं होकर तान्मात्रिक होता है । उससे कुछ अधिक, किन्तु तब भी अत्यन्त न्यून, बाधा पौराणिक मनस् और क्रीड़ारत बाल-मनस् में होती है, क्योंकि इन दोनों में भी सत् का भौतिक पक्षः उसके देश-काल के नियम, रूपरेखाओं की सम्यक्ता और सन्तुलन की अपेक्षाएं : उपेक्षित रहता है और आन्तर प्रेरणामूलक साक्षात्कार से नियंत्रित होता है । किन्तु द्वैत की सृष्टि, प्रतिबिम्बन अथवा प्रत्यंकन के लिए इतर का आक्षेप, और उसका आत्मानुरूप रूपान्तरण, यह सर्जन का मूल है जो मानवीय चेतना के उपर्युक्त सभी प्रवर्तनों में मिलता है । इन सबमें निरवयव और निराकार प्रकाश विमर्श रूप में उद्भिन्न होकर विविध और विपुल बनता है ।

ईश्वरीय सृष्टि के सम्बन्ध में समझा जाता है कि वह पूर्णतः निर्बाध है, जिसका अर्थ है कि उसमें सृजन-वासना, कल्पना और क्रियान्वयन तीनों एकान्वित रहते हैं । ऐसी अवस्था में ईश्वरीय सर्जन सर्जन की उपर्युक्त परिभाषा की पूर्ति नहीं करता । इसी कारण पाशव निर्माण भी सर्जन नहीं है, क्योंकि उसमें चित् विषय से तदात्म और इस प्रकार स्वातन्त्र्य—रहित रहता है । इनसे भिन्न मानवस्तरीय चित् विषयी-विषय-रूप द्वित्व में विभक्त होकर विषयि-पक्ष में अपने तन्त्र का विकास करता है और उसके माध्यम से विषय-पक्ष का ग्रहण करता है । भाषा आदि प्रतीक रचनाएं विषयी के विषय-ग्रहणमूलक इस आत्मतन्त्र के ही रूप हैं । मनुष्य के ज्ञान को व्यवहित कहने का भी यही औचित्य है । विषय-ग्रहणात्मक ये विषयि-मूलक तन्त्र चित् के स्वतन्त्र सर्जन होते हैं, किन्तु सृष्ट होने के साथ ही ये विषय : सत् : रूप में उसके नियामक हो जाते हैं । उदाहरण के लिए भाषा चित् की स्वतन्त्र सृष्टि है जो उसके द्वारा विषयावधारण के तन्त्र के रूप में उत्सृष्ट होती है, किन्तु अपनी सृष्टि के साथ ही यह मानव-चित् को उस सीमा तक अपनी रचना की व्यवस्था से उपहित कर देती है जिस सीमा तक वह उसके तन्त्र को अपनी सृजन-वासना की अभिव्यक्ति से पृथक् अस्तित्व दे देता है । भाषा के इस स्वरूप के कारण ही बौद्ध और वेदान्ती दार्शनिक भाषा को विक्षेप और परमार्थ को अनभिलाप्य कहते हैं । यही बात अन्य प्रतीक-रचनाओं, जैसे विज्ञान, नीति, धर्म, कला आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । ये सब चित् के स्वतंत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तन के आयाम हैं जो उसके आत्म-निरूपण के क्रम में उद्भूत होते हैं, और इस रूप में देखे जाने पर इन्हें चैतन्य में निमीलित वैभव का उन्मीलन कहा जा सकता है। उपनिषद् में सृष्टि का तत्त्व आनन्द को कहने का यही औचित्य हो सकता है।[४] किन्तु ये ही विषय-रूप में चित् से पृथक् साध्य बन कर उसकी उपाधि और पारतन्त्र्य बनते हैं। चित् के ये सब निरूपण प्रेक्षणात्मक होते हैं, इनमें चित् आत्मनिरूपण के लिए प्रेक्षक-विषयी और प्रेक्ष्य-विषय के रूप में उद्भिन्न होता है। इस उद्भिन्नता में जब उसकी वृत्ति विषयोन्मुख : विषय-तन्त्र : होती है तब वह रचनात्मक होने पर भी सर्जनात्मक नहीं होता। किन्तु जब वह विषय को स्थगित कर अपने में अपना विमर्श करता है तब वह विषय को स्वातंत्र्य के चरितार्थन के लिए साधन बनाता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह विमर्श केवल विषयि-विषय रूप में उद्भिन्न चित्र के लिए ही संभव है क्योंकि केवल इस प्रकार उद्भिन्न चित् ही विषय-पक्ष के स्थगन के द्वारा विषयी-रूप में आत्म-विमर्श कर सकता है। विज्ञान, उपयोगात्मक निर्माण और लोक-व्यवहार साधारणतः विषयाधीन रचनात्मकता के वर्ग में रखे जा सकते हैं और नीति तथा कलाएँ आत्मविमर्श के वर्ग में। दर्शन की स्थिति उभयतः रहती है, क्योंकि यह एक ओर बौद्धिक प्रत्ययों का विषयनिष्ठ विवेचन करता है, किन्तु दूसरी ओर ये प्रत्यय विषयोन्मुख नहीं होकर प्रत्यङ्मुख होते हैं।[५] किन्तु तब भी दर्शन का विमृश्य विषयी नहीं होकर तटस्थ प्रत्यय ही होता है जो अपने ताटस्थ्य में विषयवत् ही होता है। कला और नीति दोनों के विषयिमूलक होने पर भी इनमें गंभीर अन्तर है : यह अन्तर इनके विमृश्य के स्वरूप में निहित है। कला का विमृश्य भावनात्मक विषयी द्वारा अपनी विषयिमूलक भावना ही होती है, जबकि नीति का विमृश्य कर्म-प्रवृत्ति की विषयिता का तत्त्व होता है। भावना स्वरूपतः विषयिनिष्ठ और विशिष्ट होती है, किन्तु ज्ञान-ग्राह्य होने के लिए इसका विषयीकरण और सामान्यीकरण अनिवार्य होता है, किन्तु तब यह मनोविज्ञान के लिए विमृश्य होती है। किंतु कला भावना के विषयिनिष्ठ रूप में ही उसे अहंकारोपाधि से मुक्त कर प्रेक्षक के लिए उपलब्ध करती है। उचित रूप से कहें तो, व्यक्ति-मूलक विषयिगत भावना का व्यक्ति-मुक्त विषयिगत भावना के रूप में उपभोग और इस भोगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है। इसका व्यक्ति-मुक्तः अहंकारोपाधिमुक्तः होना इसके प्रेक्ष्य होने की अनिवार्य पूर्वपेक्षा है, और प्रेक्ष्य का भोगित्वमूलक होना इसकी रसात्मकता की।[६] इस प्रकार यह कला की ही विशेषता है कि इसमें व्यक्ति-विषयिनिष्ठ भाव विषयरूप में विजड़ित हुए बिना अहंकारोपाधि से मुक्त हो पाता है। इसके विपरीत कर्म-प्रवृत्ति में चित् मूलतः ही निर्वैयक्तिक होता है,[७] यद्यपि विमृश्य विषयिनिष्ठ प्रवृत्ति ही होती है।[८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला-सर्जन कला-बोधपूर्वक होता है, जिसका अर्थ है कि भावविमर्शोन्मुख चैतन्य आत्म-निरूपण, अथवा कहें आत्म-क्रियान्वयन, के क्रम में किसी उपादान को उत्कीर्ण कर उसे आविष्ट करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे[1] विमर्श चित् का बौद्धिक आकार में उन्मीलन है। अब यह एक अनिवार्य वस्तुस्थिति है कि कोई उन्मीलन इस आकार तक सीमित नहीं रहता : जागृदवस्था में चित् का उन्मीलन महाभूत-पर्यन्त विकसित होता है और स्वप्न में तन्मात्र पर्यन्त। परिणामतः कलात्मक विमर्श भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में से किसी उपादान का उपयोग अपने क्रियान्वयन के क्रम में करता है। विमर्श का इन उपादानों में निरूपण ही सर्जन है।

विमर्श में चित् का उन्मीलन दो स्रोतों से होता है, बाह्योद्दीपन से, और स्वतः। आद्य (प्राइमोर्डियल) उन्मीलन स्वतः ही है, जो अद्वय और अनुद्भिन्न चित में अस्मिता और जगत् : अस्मत् युष्मत्: इस प्रत्यय-युगल के रूप में प्रस्फुटित होता है। ग्राह्य-ग्राहक, अथवा उद्दीपक-उद्दीप्य के द्वैत का मूल इसी स्वतोद्भव में है। किन्तु द्वितीय स्तरीय उन्मीलन : मानव-स्तरीय विमर्श : में भी अनेक बार विमर्श का स्रोत अनुद्दीप्त या स्वतंत्र चित् में ही होता हैं। दर्शन और कला में ऐसा बहुधा होता है। महान रचनाएँ इसी स्तर के विमर्शों की फल होती हैं। किन्तु उन्मीलन का स्रोत चाहे जो भी हो, उसकी अभिव्यक्ति, या कहें उपादान में अवतरण, सदैव न्यूनाधिक दुस्साध्य और औपाधिक ही होता है। इसका कारण है : हम स्वयं चित् का ग्रहण उसके तान्मात्रिक या भौतिक स्तर पर अवतीर्ण होने पर ही करते हैं– अधिकाँश में भाषा के रूप में अथवा वर्ण-योजना, स्वर-ग्राम आदि के रूप में। किन्तु स्वयं न पद या वाक्य-रूप में स्फुटित अर्थ तान्मात्रिक या भौतिक है न ध्वनियों के लय, ताल और आरोहावरोह की व्यवस्था अथवा रेखाओं के भंग तथा वर्णों की योजना तान्मात्रिक या भौतिक, यद्यपि भौतिक उपादान में अवतीर्ण हुए बिना ये अर्थ स्वयं वक्ता, गायक और चित्रकार को भी विदित नहीं होते। किन्तु भौतिक उपादान में इनका प्रवाह रूढ हो जाता है और इनका आशय व्यामिश्रित और खंडित हो जाता है। सर्जन इस मूल आशय में पुनः प्रवेश कर विमर्श और उपादान में उसे अधिकृत और अमिश्र रूप में धारण करने की साधना है। इसके लिए कलाकार को स्वयं उपादान को चिन्मय बनाने का प्रयत्न करना होता है जिससे चित् अधिकाधिक निर्बाध रूप में प्रकट हो सके। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपादान चित् से पृथक् या इतर नहीं है, यह उसके उन्मीलन के क्रम में ही आविर्भूत होता है– इससे भिन्न इसका स्वरूप अनवधार्य है। किन्तु तब भी इसमें एक दूरी है, जो क्रम को उत्पन्न करती है। इसे देह में मस्तिष्क और केश में अन्तर की उपमा से समझा जा सकता है जो समान रूप से भौतिक होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी चित् के उन्मीलन के निकट-दूर हैं। कुछ व्यक्तियों में विमर्श अधिक सप्राण होता है और अभिव्यक्ति अधिक सहज, जो उनमें भौतिक के मनस् के समीपतर और मनस् के चित् के समीपतर होने का द्योतक होता है, इसके विपरीत स्थिति तो अधिकांशतः ही हम पाते हैं– केंचुए-कछुए में जबकि देह-भाव का प्राधान्य है, सिंह-हरिण आदि में प्राणभाव का, गाय-अश्वादि में ऐन्द्रिक भाव का, और बन्दर आदि में ऐन्द्रिक और मनस्-भाव का प्राधान्य है। मनुष्य में भी व्यक्तिभेद से ये क्रम देखे जा सकते हैं। देहेन्द्रिय-प्रधान व्यक्तियों में जबकि सृजन अलभ्य होता है, चित् के समीपतर में यह सहज। मीरा, सूर, कबीर, में भाषा, अलंकार और छन्द जिस प्रकार अभिव्यक्ति के लिए सहज माध्यम बनते हैं, और इसके विपरीत, रीति-काव्य के कवियों में स्वयं ये ही साध्य बनते हैं, उससे हमारे इस प्रतिपादन की सत्यता देखी जा सकती है।

० ० ०

ऊपर हमने कला को भावना का तत्परक विमर्श (भावना का आत्मविमर्श भावनात्मक आत्मविमर्श) इस प्रकार परिभाषित किया है। हम ऐन्द्रिक ग्रहणों और तन्मूलक विमर्श को क्रमशः सत्य और उसके परामर्श का आदर्श मानने के लिए इतने अभ्यस्त हैं कि ग्रहण और अवधारणा की अन्य विधाओं को उनके सही रूप में समज ही नहीं पाते। इसीसे कला को उच्छ्वास और पुंजीभूत उद्वेग-ऊर्जा के व्यय के साधन के रूप में ही अधिकांशतः देखा गया है[१०]। अवश्य कुछ लोगों ने उसे द्रष्टृभाव के रूप में भी देखा है, किन्तु वह एक दूसरी भ्रांति हैं; किसी विचार-वितर्क के आधार के विना तो वह है ही। यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि कवि-कलाकार किन्हीं अलौकिक तत्त्वों का उस अर्थ में दर्शन करता है जिस अर्थ में हम घट-पट आदि गोचर वस्तुओं का करते हैं। कला ग्रहण की सब अध्यवसायात्मक विधाओं से नितान्त भिन्न है और यह भिन्नता इस बात में है कि अध्यवसायात्मक विधाओं में चित् की वृत्ति जब कि निर्धारण-विश्लेषण-परक रहती है, कला में वह ग्राह्य-गत के गठन, संतुलन, लय और छन्द से तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न करती है। प्रथम वृत्ति जब कि विषयोन्मुख है, दूसरी विषयिगत : भावमूलक :। 'विषयिगत' 'आत्मोन्मुख' से भिन्न है, 'आत्मोन्मुख' और 'विषयोन्मुख' में 'उन्मुखता' समान है, किन्तु विषयिगत या भाव-मूलक वृत्ति में कोई उन्मुखता नहीं होती, अथवा कहें उसमें उन्मुखता व्यंजक या सांकेतिक, बल्कि कहें अवान्तर, होती है, मौलिक नहीं होती। किन्तु तब भी विमर्श इसका उसी प्रकार आत्मा है जिस प्रकार अध्यवसायात्मक वृत्ति का। जैसा कि हमने पीछे कहा, विमर्श निरवयव चित् में सावयवता का आविर्भाव है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि यह अस्फुट सावयवता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रस्फुटन है। बिषयोन्मुखवृत्ति की विमर्शात्मकता प्रायः सभी अध्यात्मवादी दर्शनों ने देखी है, किन्तु विषयिगत वृत्ति की विमर्शात्मकता का विचार किसी नें सम्यक् रूप से नहीं किया। अभिनवगुप्त इस विचार के निकटतम पहुँचे हैं और वे वास्तव में इस प्रसंग में 'विमर्श' शब्द का ही प्रयोग करते हैं और चित् 'शिव' तत्व को प्रकाश और विमर्शात्मक कहने और जगत् को चित् का विमर्श कहने में उनका पूर्णतः वही आशय है जो हमारा है, किन्तु तब भी जैसे वे रस-विवेचन में ठीक वही बात नहीं कहते जो हम कहना चाहते हैं, और जो सही प्रतीत होती है। हमारे विचार के अनुसार विमर्श चित् का बुद्धिमूलक प्रस्फुटन है। स्वयं व्यक्ति का अपना आविर्भाव अतिक्रामी चित् के युष्मत्-व्यवहित-अस्मत् के रूप में विमर्श का परिणाम है।

'यह घट है' अध्यवसाय में एक प्रत्यक्षगत स्थिति 'यह घट है' और इन तीनों पदों की पृथक्-पृथक् और संयुक्त व्यावृत्तियों में उद्भिन्न होती है, यही विमर्श है। यही विमर्श-वृत्ति भाव में निमीलित विमृश्य को ध्वनि के उपादान में स्वर-ग्राम, लय, यति और भंग के रूप में उत्कीर्ण कर उसमें राग का सर्जन करती है। इस प्रकार राग भावना का आत्म-निरूपण है जो भाषायी निरूपण से मूलतः भिन्न प्रकार का है। काव्य में भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ उसका कथन-व्यापार, अथवा कहें भाषा व्यापार, स्थगित हो जाता है और वह वस्तु-वाचक से भाव-विमर्शक हो जाता है। इस विमर्श में अभिधान सम्भव नहीं होता, वह होने पर भाव वस्तु में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे मनोविज्ञान में; इसमें भाव अनिर्देश्य विषयिता में ही अपने निरूपण की माँग करता है। उदाहरण के लिए महादेवी की निम्न पंक्तियाँ लें—

धीरे धीरे उत्तर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन, शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।

इसमें रात्रि का वर्णन नहीं है, इसमें रात्रि-दर्शन से भाव-लोक में उन्मिषित अलक्ष्य-अवाच्य बोध का साक्षात्कारी विमर्श है। इसके पदवाक्य इस बोध का कथन नहीं कर इसके विकसन के माध्यम बनते हैं। यह जितना कविता के लिए सही है उतना ही उपन्यास के लिए भी सही है। उपन्यास प्रकटतः वृत्त कहता है, किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास भावलोक की यात्रा होता है और परिणामतः उसके प्रकटतः कथनात्मक वाक्य इस भाव के उन्मेष के माध्यम होते हैं। यह उसका 'वृत्त' होता है जो लोक में कभी कहीं घटित नहीं हुआ होता और न जिसका घटित हुआ होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिक होता है, किन्तु तब भी जो या तो लोक में घटित घटनाओं को उद्भासित करता है अथवा अलौकिकतया निरूपित करता है। 'लोकोद्भासन' से तात्पर्य है, भाव में उन्मिषित बाह्य लोक में घटित घटनाक्रम को, अथवा उसकी अनुरूपता में कल्पित घटना-क्रम को, सामान्य के उदाहरण के रूप में कहना; 'अलौकिकतया निरूपण' का अर्थ है, भाव-लोक को विमर्शात्मक चैतन्य को अर्पित करना।

लोकोद्भासन और अलौकिकतया निरूपण, ये कला-सर्जन की दो पृथक् विधाएं हैं। इनमें कथात्मक काव्य: उपन्यास, कहानी, नाटक, महाकाव्य आदि मुख्यतया प्रथम विधा के और संगीत, गीत-काव्य तथा चित्रकला और मूर्तिकला की अधिकांश कृतियाँ दूसरी विधा के उदाहरण हैं। किन्तु प्रथम प्रकार की कला-कृतियाँ भी द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत संग्रहीत की जा सकती हैं, क्योंकि कला का मर्म इस दूसरे रूप में ही है। यहाँ प्रथम प्रकार की कला-कृति के उदाहरण के रूप में किसी ऐतिहासिक उपन्यास को लें। इतिहास लेखन से ऐतिहासिक उपन्यास का भेद इस बात में होता है कि प्रथम का लेखक जब कि कार्यों और प्रयोजनों का यथातथ वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, और कल्पना तथा सहानुभूति का उपयोग यथातथ के, तद्गत अर्थ के, विषयनिष्ठ मर्म तक पहुँचने में करता है, ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक इन बाह्य और आन्तर वृत्तों के विषयिगत भाव-लोक में प्रतिष्ठित होकर और उसके भोगित्व का प्रेक्षक बन कर उसका तत्त्व प्रस्तुत करता है। इसीसे इतिहास जब कि सामान्यात्मक कल्पनाओं और साधारणीकरणों के आधार पर विशेष घटनाओं, कर्मों और प्रयोजनों का विशेषपरक विवरण और व्याख्या प्रस्तुत करता है, कलाकार विशेषपरक आख्यान का उपयोग निर्विशिष्ट, व्यक्त्योपाधि-मुक्त भाव की अभिव्यंजना के लिए करता है। उदाहरण के लिए, राम-सीता और दुष्यंत-शकुंतला के क्रमशः वाल्मीकीय रामायण और अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वर्णित चरित यदि इतिहास-सिद्ध भी हों तो भी उनकी ऐतिहासिकता इन कृतियों के लिए केवल व्यंजक माध्यम मात्र होती है, जैसे बुद्ध की प्रतिमा में प्रयुक्त प्रस्तरखण्ड बुद्धभाव के आकृत्यवधारण के लिए माध्यम मात्र है। अवश्य इनमें बहुत अन्तर भी है, किन्तु यहाँ उस अन्तर की चर्चा अप्रासंगिक है। इसीसे कलाकार इतिवृत्त को भावलोक के तर्क की अपेक्षानुसार बदल और ढाल लेता है। और कभी-कभी तो वह इतिवृत्त अपने को पूरी तरह ही कलाकार द्वारा साक्षात्कृत भाव-लोक अर्थ की विवृत्ति के प्रयोजन के लिए समर्पित कर देता है। उदाहरणतः राम, कृष्ण और बुद्ध के चरित। अब, ये चरित उपर्युक्त दो में से किसी एक विधा सर्जित होते हैं, जैसे राम-चरित रामचरित-मानस में प्रथम (लोकोद्भासक) विधा में और उत्तररामचरित में दूसरी (अलौकिकतया निरूपण की) विधा में सर्जित है। प्रथम में राम का वृत्त सामाजिक सम्बन्धों को भाव-लोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पुनर्जन्म देकर उन संबन्धों के ऐहिक जीवन को उद्भासित करने के लिए उपकरण बनता है, और दूसरे में भाव के अरूप-अनाम अस्तित्व के नामरूप में विस्फुट होने के लिए उपादान बनता है। लौकिक उपाधियों से यह मुक्ति ही कला को सामान्य बनाती है। परिणामतः यह प्रत्ययात्मक सामान्यता से भिन्न प्रकार की सामान्यता है। इनमें प्रथम को ब्रह्म के सत्-तत्त्व से और दूसरे को आनन्द तत्त्व से सम्बन्धित कहा जा सकता है।

कला-सर्जन को प्रायः सौन्दर्य-सर्जन के और कला-बोध को सौन्दर्य बोध के पर्याय के रूप में देखा जाता है, जब कि लोक में सुन्दर नयनाभिराम आकृति को और गौणतः श्रवणाभिराम ध्वनि आदि को कहा जाता है। किन्तु यह सर्वविदित ही है कि कला में कलित रूप या भाव आवश्यक रूप से इन्द्रियाभिराम या मनोऽभिराम नहीं होता। तब कला को सौन्दर्य-सर्जन कहने से क्या तात्पर्य है? लौकिक सौन्दर्य का कलात्मक सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है?

अभी हमने लौकिक सौन्दर्य को अभिरामता से पारिभाषित किया, किन्तु इसमें प्रमाण मानसिक प्रतिक्रिया हुई, कोई वस्तुगत लक्षण नहीं। किन्तु वास्तव में यदि थोड़ा गहराई से देखा जाय तो भौतिक वस्तुओं के ज्ञान की भी यही स्थिति है, उनकी विद्यमानता किसी ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया से ही सूचित होती है, उनके स्वगत लक्षण से नहीं। इस प्रकार 'सुन्दर' और 'लाल' निरूपणों में अन्तर इनके प्रमाणों में विषयिनिष्ठ-विषयनिष्ठ के प्रकार-भेद के कारण नहीं है बल्कि विषयिगत प्रतिक्रियाओं में ही प्रकार-भेद के आधार पर है। भौतिक वस्तुपरक प्रतिक्रिया अस्तित्वाग्रही बुद्धि-विकल्पों के लिए उपादान बनती है और अभिरामतापरक प्रतिक्रिया भोगाग्रही बुद्धि-विमर्श के लिए। ऐसा नहीं है कि दूसरी प्रतिक्रिया में अस्तित्व का आग्रह रहता नहीं है, किन्तु तब परोक्ष और गौण होता है, अथवा कहें वह इन्द्रियमूलक विकल्पजन्य ही होता है। जैसे 'यह पुरुष सुन्दर है' में 'यह पुरुष है' वस्तु-मूलक अध्यवसाय ही है, जो 'सुन्दर' पद से व्यंजित भाव-निरूपक विमर्श के साथ क्रियान्वित होता है। वास्तव में सौन्दर्य के लौकिक बोध में यह परोक्ष और गौण पक्ष प्रत्यय और मुख्य होने की भ्रांति से ग्रसित हो जाता है और इस प्रकार भोगाग्रही विमर्श अस्तित्वाग्रही विकल्प का रूप ले लेता है। इस विपर्यास का घटित नहीं होना ही कला-बोध है।[१२] यह दिवास्वप्न में बाल और वयस्क के मनस् में भेद के जैसा है: पहला जब कि इस स्वप्न को सत्य-रूप में ग्रहण कर उससे नियन्त्रित होता है, दूसरा इसकी असत्यता को अप्रासंगिक जानकर इससे सौख्य के उपभोग के लिए उसमें स्वतन्त्रतया विचरण करता है। कला इस अस्तित्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनाग्रही भोग-विमर्श को ही अभिव्यक्ति देती हैं। उदाहरण के लिए कुमारसंभव का पहला श्लोक लें :

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरो तोयनिधीवगाह्य, स्थितः पृथिव्यां इव मानदंडः ॥

इस श्लोक की पहली पंक्ति साधारण वर्णनात्मक वाक्य जैसी ही है, सिवाय 'देवतात्मा' विशेषण के, जो वर्णनात्मक नहीं होकर रूपक है; किन्तु तब भी इस पंक्ति का सम्पूर्ण पद-विन्यास और छन्द मानो 'देवतात्मा' पद में व्यक्त गौरव और अलौकिक पावनता की अनुभूति में अपने को उंडेल रहा है, और दूसरी पंक्ति में वह जैसे वर्णनात्मक पदों को अपने जादुई आवेश से प्रत्यङ्मुख कर देता है जिससे भाव अपने रूप का आप दर्शन कर सके। अलंकार, उदाहरणतः रूपक, अस्तित्वाग्रह से मुक्त करने के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यहां द्रष्टव्य है कि भाषा के अधिकांश पद रूपकात्मक ही हैं, किन्तु वे रूपक भाषा की, और वास्तव में हमारे ग्रहण मात्र की, मौलिक विवशता के कारण हैं : सत् हमें कल्पना के माध्यम से ही ग्राह्य होता है; किन्तु काव्य में प्रयुक्त अलंकार विवशतया नहीं स्वेच्छया प्रयुक्त होते हैं। 'चन्द्रमुख' पद मन को इन्द्रिय-विषय के ग्राह से मुक्त कर गुरुत्वाकर्षणविहीन भाव-लोक में निर्बद्ध कर देता है। यही बात चित्र के लिए भी सत्य है, जिसके चित्रण का विषय प्रस्तुत दृश्य या आकृति नहीं होकर या तो आकृति को आविष्ट करनेवाला भाव-मूलक अर्थ होता है, अथवा चित्रकार चिदाकाश में आलोकित भौतिक गुरुत्व से विनिर्मुक्त आकार मात्र। उदाहरण के लिए जब कि बाह्य दृश्य का देश सापेक्षताओं के अधीन होता है, चित्र का देश स्वायत्त और अपने तंत्र के केन्द्र पर व्यवस्थित होता है। इसीसे यह भी आवश्यक नहीं होता कि चित्रकार किसी वास्तविक व्यक्ति का ही चित्र बनाये, और न वास्तविक व्यक्ति के चित्र में उसकी प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही उसका कार्य होता है। यदि ऐसा हो तो फिर कुरूप व्यक्ति का चित्र भी कुरुप ही होगा, जब कि चित्रलिखित कुरूपता और सुरूपता चित्रित व्यक्ति-मूलक नहीं होकर भाव-निरूपित होती है। उदाहरणतः चित्रकार दिव्य और आसुर भावों को देवों और असुरों के रूप में प्रस्तुत करता है, और तब भावों का रेखाओं के माध्यम से यह अनासक्त विमर्श दर्शक को उसी अनासक्त अभिवृत्ति में प्रस्तुत होकर अवगम्य होता है, और तब वह चित्ररूप में सुरूप-कुरूप नहीं रहकर कुशल-अकुशल होता है। वास्तव में यही बात तब प्राकृतिक रूप-दर्शन में भी होती है जब हम उसके प्रति आसक्त-भाव से उन्मुख नहीं होकर प्रेक्षक-भाव से उन्मुख होते हैं। यही कला-बोध है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि जब किसी बाह्य दृश्य से दर्शक के भाव-लोक में भोगित्व मूलक प्रेक्षकत्व का उन्मेष होता है तब वह दर्शक कला-बोध में स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। इसे ही विषय पक्ष में इस प्रकार कह सकते हैं कि जब बाह्य दृश्य अपनी गोचर वस्तुता की अपेक्षा उससे उन्मिषित किसी 'जनतान्तर स्थिर भाव' के अलौकिक प्रकाश में अपनी वस्तुता से मुक्त होकर प्रस्तुत होता है तब वह कला-बोध का विषय होता है। कलाकार वह है जो इस बोध को किसी गोचर माध्यम में रूपायित कर देता है।

—यशदेव शल्य

टिप्पणियाँ

* महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के हिन्दी विभाग में नवम्बर १९८१ में दिया गया व्याख्यान।

१. 'अतिक्रामी' का अर्थ है जो व्यक्ति के ज्ञान या इच्छा के अधीन नहीं होकर इनसे तत्त्वतः प्राक् हैं।

२. 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो सदजायत।' वल्ली-२ अनुवाक ७

३. 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।' ऋग्वेद संहिता, ८।७।१७

४. 'यद्वै तत्सुकृतं, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।' तैत्तिरीय उप; वल्ली-२ अनुवाक ७। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' वल्ली ३. अनुवाक ६।

५. द्रष्टव्य-यशदेवशल्य- 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु' परामर्श (हिन्दी) त्रैमासिक, जून १९८०

६. तुलना के लिए द्रष्टव्य- 'तथा च मधुरादौ रसे औदारिकाभ्यवहर वैलक्षण्येन प्रवृत्त इदमित्थमिति प्रमातरि विश्रमयन्प्रमातृभागमेव प्रधानतया विमृशन् भुंजान इत्युच्यते...... तत्रवीतविघ्नत्वादेवासौ रसना, चर्वणा निवृत्तिः, प्रतीतिः प्रमातृ विश्रांतिरेव, तत एवं हृदयेन परामर्श-लक्षणेन प्राधान्याद्व्यपदेस्यावस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्यानादरणात्सह्यतोच्यते। (ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका पर उत्पल की विवृत्ति, भाग-२, पृ. १७८।

७ तुलनीय- Kant : "Act as if the maxim of your action were to become through your will a universal law of Nature" Groundwork of the Metaphysics of Morals.. Translation : H. J. Paton, Harper Torch Books, p. 89.

८. द्रष्टव्य-सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः (कालिदासः) अभिज्ञान शाकुंतलम्, प्रथमांक, श्लोक २१।

९. दर्शन का आरम्भ बिन्दु।

१०. वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान (सुमित्रानन्दन पन्त)

११. तुलनीय- कांट; क्रिटीक आफ जजमेंट, अनु.। -२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (६)

मू. जल्पवितण्डयोस्तु पक्षादिषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रवृत्तस्य न स्वचनविरोधः। तत्र प्रमाणेनोत्तरमनिष्टमशक्यं च, अप्रमाणेनैव तूत्तरे स्ववचनेनैव भङ्ग, मृदुक्तेषु प्रश्नादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेय स्वीकारात्, अनुत्तरे तु अप्रतिभैवेति।

वाद (बिवाद) प्रमाणभूत बात का ही उल्लेख उचित होने से अप्रामाणिक अलीक वस्तुओं का क्षणिकत्वसाधक अनुमान में निर्देश योग्य नहीं यह पिछले परिच्छेद में प्रतिपादित किया गया। अब 'जल्प या वितण्डा रूप विवाद में (जिनमें किसी मत की स्थापना के लिये नहीं, किंतु प्रतिपक्षी पर विजय पाने के एकमात्र उद्देश्य से भाग लिया जाता है) क्षणिकवादी बौद्ध के साथ नैयायिक यदि भाग ले तो उसे अप्रामाणिक शशशृंगादि के सम्बन्ध में कम-से-कम उनकी अप्रामाणिकता का तो उल्लेख करना ही पड़ेगा और तब उसे 'स्ववचनविरोध' दोष का भागी होना ही पड़ेगा' इस संभाव्य आक्षेप का उत्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। नैयायिक कहते हैं कि जल्प वितण्डा में वह केवल विपक्षी के कथन के सम्बन्ध में प्रमाण का प्रश्न मात्र ही उपस्थित करेगा। कोई बात 'प्रमाणिक' या 'अप्रामाणिक' है ऐसा प्रतिपादन करने की उसे आवश्यकता ही नहीं होगी। किन्तु बौद्ध को इस प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रमाणसम्मत बात ही करनी होगी। अप्रामाणिक बात का उत्तर में प्रयोग करना 'मेरा कथन प्रामाणिक नहीं है' इस स्वीकृति के समकक्ष होगा। प्रामाणिक बातों का ही उत्तर में प्रयोग करने का मतलब होगा कि बौद्धमतानुसार अक्षणिक जैसे जो अलीक हैं उनकी भी सत्ता प्रमाणसिद्ध है। यदि बौद्ध कोई उत्तर ही न दे तो 'अप्रतिभा' या अज्ञान रूप निग्रहस्थान का वह दोषी बनेगा और उसे अपनी हार माननी पड़ेगी।

मू. यदि च व्यवहारस्वीकारे विरोधपरिहार: स्यात् असौ स्वीक्रियेतापि, नत्वेवम्—न खलु सकलव्यवहारभाजनं च तन्निषेधव्यवहारभाजनं चेति वचनं परस्परमविरोधि।

पुनः नैयायिक—स्पष्टीकरण करते हुए—कहते हैं कि अलीक-शशशृंग, अक्षणिक आदि-के सम्बन्ध में कोई न कोई व्यवहार (तथा उस पर आधारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दप्रयोग) संभव मानने पर वचनविरोध का परिहार हो सके तो यह बात स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु अलीक के विषय में कोई भी व्यवहार संभव नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि जिसे सब प्रकार के विधिरूप या निषेधरूप व्यवहार का अविषय होने से ही 'अलीक' समझा जाता है उसके सम्बन्ध में 'अलीकता' का व्यवहार भी वचनविरोध (या वदतो व्याघात) का ही कारण होगा।

मू. "विधिव्यवहारमात्राभिप्रायेणाभाजनत्ववादे कुतो विरोधः इति चेत्" हन्त, सकलविधिनिषेधव्यवहारभाजनत्वेन किञ्चिद्व्यवह्रियते न वा, उभयथापि स्ववचनविरोधः, उभयथाप्यवस्तुनैव तेन भवितव्यम्, वस्तुनः सर्वव्यवहारविरहानुपपत्तेः।

उक्त प्रतिवाद पर बौद्ध यह प्रतिप्रश्न करते हैं कि अलीक के सम्बन्ध में विधि तथा निषेधरूप सभी व्यवहार असंभव मानने पर ही निषेध व्यवहार करने वाले (बौद्ध) को वदतो व्याघात रूप दोष का भागी बनना पड़ेगा। किन्तु यदि विधिव्यवहार मात्र ही अलीक में असम्भव माना जाय तो यह आपत्ति घटित नहीं होगी (और बौद्धों का व्यतिरेकानुमान निर्दोष सिद्ध होगा)। इस प्रतिप्रश्न पर नैयायिक पूछते हैं कि 'सभी विधि निषेध व्यवहार के अपात्र के रूप में निर्देशार्ह कोई वस्तु है या नहीं ?' इस प्रश्न का कोई भी उत्तर बौद्ध को वदतो व्याघात में उलझाये बिना नहीं रह सकता। यदि व्यवहारायोग्य के रूप में कोई व्यवहार्य हो तो वही अलीक होगा। इसके विपरीत यदि ऐसा कोई न ही हो तो अव्यवहार्यता के व्यवहार का निषेध कैसे सम्भव है ? (जो प्रसक्त होता है उसीका निषेध सम्भव है।) अतः सर्वविध व्यवहार का अविषय होते हुए भी इस अविषयता के व्यवहार का विषय अलीक होता है यह कथन वदतो व्याघात में परिणत हुए बिना नहीं रहेगा।

मू. नेतिपक्षे सकलविधिनिषेधव्यवहारविरहीत्यनेनैव व्यवहारेण विरोधात्, अव्यवहृतस्य निषेद्धमशक्यत्वात्। व्यवह्रियत इति पक्षेऽपि विषयस्वरूपपर्यालोचनयैव विरोधात्, नहि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति।

ऊपर विशद की हुई बात को ही ग्रन्थकार स्पष्ट कर प्रस्तुत करते हैं। विधिनिषेध व्यवहाराविषय के रूप में कोई वस्तु व्यवहार्य नहीं होती ऐसा माना जाय तो 'व्यवहाराविषय' का 'व्यवहार्यता' से ही विरोध प्रकट हो जाता है। अप्रसिद्ध या असंभव बात का निषेध नहीं किया जा सकता। 'अव्यवहार्य' के रूप में 'अलीक' की प्रतीति न हो तो उसकी व्यवहार्यता का निषेध सम्भव नहीं है। यदि विधि या व्यवहार्यता पक्ष का पुरस्कार करें तो जो 'सर्वव्यवहाराविषयत्वरूप'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप है उसका परीक्षण करने पर यह तात्पर्य निकलेगा कि जो व्यवहाराविषय है वही व्यवहार-विषयक भी है। यह बात वदतोव्याघात का ही कारण होती है।

मू. यदि चावस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वम्, विधिव्यवहारगोचरत्वापि किं न स्यात् प्रमाणाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति। "वन्ध्यासुतस्यावक्तृत्वेऽचेतनत्वादिकमेव प्रमाणं वक्तृत्वे न तु किञ्चिदिति चेत्" न, तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्, नहि वन्ध्यायाः सुतो न सुतः, तथासति स्ववचनविरोधात्। "वचनमात्रमेवैतत् न तु परमार्थतः सुत एवासाविति चेत्" न, अचैतन्यस्याप्येवंरूपत्वात्, चेतनादन्यत् स्वभावान्तरमेव ह्यचेतनमित्युच्यते। "चैतन्यनिवृत्तिमात्रमेवेह विवक्षितम्, तच्च सम्भवत्येवेति चेत्", न तत्राप्यसुतत्वनिवृत्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्।

अवस्तुभूत अलीक के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं इस तथ्य को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नैयायिक एक नयी बात को प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वे पूछते हैं कि अलीक में निषेधव्यवहार-बौद्धों के मतानुसार सम्भव हो तो विधिव्यवहार घटित होने में भी क्या हर्ज है? प्रमाणाभाव दोनों बातों के लिये समान है। अतः अप्रामाणिकता विधिव्यवहार में बाधक नहीं कही जा सकती। इस पर बौद्ध 'वन्ध्यासुत' जैसे अलीक का उदाहरण ले कर प्रतिवाद करते हैं कि वन्ध्यासुत अवक्ता है याने वक्ता नहीं है इस बात के लिये प्रमाण वन्ध्यासुत का अचेतनत्व या चेतन न होना यही है किन्तु उसे वक्ता सिद्ध करना हो तो उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता क्यों कि वन्ध्यासुत में कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है। किन्तु क्या यह बात सच है? वन्ध्यासुत कम से कम सुत तो है! वन्ध्यासुत को सुत न कहा जाय तो यह वदतो व्याघात हो जायगा। यदि कहें कि यह केवल शब्द है, वास्तव में वन्ध्यासुत सुत हो ही नहीं सकता तो अचैतन्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। वन्ध्यासुत परमार्थतः अचेतन है ही नहीं। चैतन्य से भिन्न अचैतन्यरूप विध्यात्मक स्वभाव-विशेष ही अचैतन्य है। अतः वन्ध्यासुत में ऐसे विध्यात्मक स्वभाव के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन अचैतन्य को चैतन्यनिवृत्तिरूप मान लिया जाय तो वन्ध्यासुत में चैतन्य का पर्युदास या निषेध ही उसे अचेतन कहने का अर्थ होगा और उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। किंतु तब सुतत्व का अर्थ असुतत्व-निवृत्ति या निषेध ही किया जाय तो वन्ध्यासुत को वक्ता सिद्ध करने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

मू. "असुतत्वनिवृत्तिमात्रस्य स्वरूपेण कृतिज्ञप्त्योरसामर्थ्ये समर्थमर्थान्तरमध्यवसेयमनन्तर्भाव्य कुतो हेतुत्वमिति चेत्" न, अचैतन्येऽप्यस्य न्यायस्य समानत्वात्। "व्यावृत्तिरूपमपि तदेव गमकं यदतस्मादेव, यथा शिंशपात्वम्, वन्ध्यासुत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वसुतादिव घटादेः सुतादपि देवदत्तादेर्व्यावर्तते, अतो न हेतुरिति चेत्" नन्वचैतन्यमेवरूपं एव, नहि वन्ध्यासुतश्चेतनादिव देवदत्तादेरचेतनादपि काष्ठादेर्न व्यावर्तते।

उपरोक्त तर्क का प्रतिवाद करते हुए बौद्ध कहते हैं कि सुतत्व असुतत्व निवृत्तिरूप ही हो तो वह अभावरूप होने के कारण न किसी कृति के लिये न ज्ञान के लिये ही अपेक्षित होगा। अतः ऐसे अवस्तुभूत अभाव की हेतुता से कुछ सिद्ध नहीं होगा। किसी भी साध्य की सिद्धि के लिये वस्तुभूत धर्म की साधनता आवश्यक है। नैयायिक का इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अचैतन्य भी (जिसके द्वारा वन्ध्यासुत को अवक्ता सिद्ध किया जा रहा है) अभावरूप होने के कारण असाधक ही होगा। इसपर बौद्ध पुनः प्रतिवाद करते हैं कि व्यावृत्तिरूप धर्म भी साधक हो सकता है यदि वह साध्य-विपक्ष मात्र से व्यावृत्त हो। बौद्ध-मत में सभी धर्म अन्यव्यावृत्तिरूप ही होते हैं। अतः शिशपात्व जैसे धर्म अशिशपा-व्यावृत्ति रूप ही हैं। किन्तु ये धर्म विपक्ष से ही व्यावृत्त होते हैं, सपक्ष से नहीं। वन्ध्यासुतत्वरूप धर्म ऐसा नहीं है। वह सुत से जैसे व्यावृत्त है वैसे ही असुत से भी व्यावृत्त है क्यों कि देवदत्तादि व्यक्ति सुत होते हुए भी वन्ध्यासुत नहीं हैं। नैयायिक का इस प्रतिवाद पर प्रत्याक्षेप सरल है। जैसे वन्ध्यासुत का सुतत्व साधक नहीं हो सकता वैसे ही उसका अचैतन्य भी साधक नहीं हो सकता। यह अचैतन्य जैसे चेतन देवदत्तादि व्यक्तियों से व्यावृत्त है वैसे ही अचेतन काष्ठादि से भी व्यावृत्त है। (अतः वह अवस्तुभूत है)।

मू. "वक्तृत्वं वस्त्वैकनियतो धर्मः स कथमवस्तुनि साध्यो विरोधादिति चेत्" स पुनरयं विरोधः कुतः प्रमाणात् सिद्धः—किं वक्तृत्वविविक्तस्यावस्तुनो नियमेनोपलम्भात् आहोस्विद्वस्तुविविक्तस्य वक्तृत्वस्यानुपलम्भादिति। तावदवस्तु केनापि प्रमाणेनोपलम्भगोचरः, तथात्वे वा नावस्तु। नाप्युत्तरः, समानत्वात्, नहि वक्तृत्वमिव अवक्तृत्वमपि वस्तुविविक्तं कस्यचित्प्रमाणस्य विषयः।

अलीक वन्ध्यासुत में 'अवक्तृत्व' सिद्ध किया जा सकता है, वक्तृत्व नहीं इस विचार के समर्थनार्थ बौद्ध एक नया तर्क अब प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं 'वक्तृत्व' एक वस्तुमात्रनिष्ठ धर्म है, वह अवस्तु में यदि रह ही नहीं सकता तो उसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है? उत्तर देते हुए नैयायिक प्रतिप्रश्न करते हैं कि वक्तृत्व को अवस्तु सिद्ध करने के प्रयास में जो विरोध प्रकट होता माना जाता है उसके लिये प्रमाण क्या है? क्या वक्तृत्व-रहित अवस्तु नियमतः उपलब्ध होते रहना या वस्तुविरहित वक्तृत्व कभी उपलब्ध न होना यह उक्त प्रमाण है? इनमें से प्रथम विकल्प इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि अवस्तु का किसी भी परिस्थिति में उपलम्भ सम्भव नहीं। और यदि सम्भव हुआ तो अवस्तु को वस्तु ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानना पड़ जायगा। दूसरा विकल्प भी अग्राह्य है क्योंकि केवल अनुपलम्भ से कोई बात सिद्ध नहीं होती। जो बात वक्तृत्व को लागू होती है वही अवक्तृत्व को भी लागू की जा सकती है। जैसे वस्तुविरहित वक्तृत्व कहीं उपलब्ध न होने से अवस्तु में उसकी सिद्धि सम्भव नहीं वैसे ही वस्तुविरहित अवक्तृत्व भी कभी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वन्ध्यासुत में वक्तृत्व-साधन जिस तर्क से असंभव सिद्ध होता है उसी प्रकार के तर्क से वन्ध्यासुत में अवक्तृसाधन भी असंभव सिद्ध हो जाता है।

मू. "तद्विविक्तविकल्पमात्रं तावदस्तीति चेत्"। तत्संसृष्टविकल्पनेऽपि को वारयिता? "ननु वक्तृत्वं वचनं प्रति कर्तृत्वम्, तत्कथमवस्तुनि, तस्य सर्वसामर्थ्य-विरहलक्षणत्वादिति चेत्"। अवक्तृत्वमपि कथन्तत्र तस्य वचेनतरकर्तृत्वलक्षणत्वा-दिति। "सर्वसामर्थ्यविरहो वचनसामर्थ्यविरहो न विरुद्ध इति चेत्"। अथ सर्वसामर्थ्यविरहो वन्ध्यासुतस्य कुतः प्रमाणात् सिद्धः। "अवस्तुत्वादेवेति चेत्" नन्वेतदपि कुतः सिद्धम्। "सर्वसामर्थ्यविरहादिति चेत्" सोऽयमितस्ततः केवलैर्वचनैर्नीर्धनाधमर्णिक इव साधून् भ्रामयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति।

ऊपर अवक्तृत्व साधन भी असम्भव है यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया। उसके सम्बन्ध में बौद्ध प्रत्याक्षेप करते हैं कि 'वन्ध्यासुत वक्ता नहीं है' ऐसा अवस्तु सम्बन्धी वस्तु विविक्त अवक्तृत्वग्रहण या विकल्प सम्भव क्यों न माना जाय? उसपर प्रतिबन्दी के रूप में नैयायिक कहते हैं कि 'वन्ध्यासुत वक्ता है' ऐसा अवस्तु-संसृष्ट वक्तृत्व विकल्प भी सम्भव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि कहा जाय कि वक्तृत्व का अर्थ वचन सम्बन्धी कर्तृत्व है और यह सर्वसामर्थ्यविरहित वन्ध्यासुत जैसे अवस्तु में नहीं रह सकता तो प्रतिबन्दी के रूप में 'अवक्तृत्व भी—जो वचनेतर कर्तृत्व रूप है—अवस्तु में कैसे सम्भव है?' यह प्रश्न किया जा सकता है। कोई यदि इसपर प्रत्याक्षेप करे कि 'जिस (अवस्तु) में कोई सामर्थ्य नहीं उसमें वचनसामर्थ्य भी कैसे होगा' अतः उसे अवक्ता मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये तो यह पूछा जा सकता है कि अवस्तु में सर्व सामर्थ्याभाव किस प्रमाण से सिद्ध होगा? यदि कहें कि अवस्तु होने से ही यह बात सिद्ध है तो उसपर प्रश्न होगा कि यही बात कैसे सिद्ध हुई? 'सर्वसामर्थ्य-विरहित होने से वन्ध्यासुत की अवस्तुता सिद्ध हुई' ऐसा इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है। अतः अवस्तु में अवक्तृत्व सिद्ध करना उतना ही कठिन है जितना वक्तृत्व सिद्ध करना। किन्तु निर्धन कर्ज-दार के समान बौद्ध अन्योन्याश्रय दोष की उपेक्षा कर जानकार लोगों को सम्भ्रम में डालते रहते हैं।

मू. "क्रमयौगपद्यविरहादिति चेत्" न तद्विरहसिद्धावपि प्रमाणानुयोगस्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...तः सुतत्वे च परामृष्यमाणे तदविनाभूतसकलवक्तृत्वादिधर्मप्रसक्तौ कुतः ...यौगपद्यविरहसाधनस्यावकाशः, कुतस्तरां चावस्तुत्वसाधनस्य, कुतस्तमां ...वक्तृत्वादिसाधनाम् । तस्मात् प्रमाणमेव सीमा व्यवहारसाधनस्य, तदतिक्रमे ...नियम एवेति ।

अवस्तु का अवस्तुत्व क्रमयौगपद्याभाव के द्वारा सिद्ध हो सकता है ऐसा बौद्ध ...ः प्रतिवाद कर रहे हैं । क्रमशः अथवा युगपद् कार्योत्पाद न करने के कारण ...ध्यासुत सर्वसामर्थ्य रहित है ऐसा बौद्ध का तर्क है । इस पर नैयायिक कहते हैं ... क्रमयौगपद्याभाव सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण की आवश्यकता है क्योंकि ...यौगपद्याभाव के द्वारा सर्वसामर्थ्याभाव, सर्वसामर्थ्यभाव के द्वारा वस्तुत्वाभाव ... वस्तुत्वाभाव के द्वारा पुनः क्रमयौगपद्याभाव इस क्रम से साध्यसाधन चलेगा तो ...अनवस्थादोष अनुमान में उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा । यही नहीं, क्रमयौग...ाभाव अवस्तु में सिद्ध करने का अवसर ही नहीं आ पायेगा । कारण यह है कि ...ध्यासुत में सुतत्व का परामर्श कर उसके द्वारा वक्तृत्व, क्रमयौगपद्य तथा वस्तुत्व ...दि धर्मों को एक बारगी ही सिद्ध कर लिया जाय तो क्रमयौगपद्याभाव, वस्तु...ाभाव या वक्तृत्वाभाव वन्ध्यासुत में सिद्ध करने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं ...गा । पहले क्रमयौगपद्याभाव सिद्ध हो तभी बाद में क्रमशः ये बातें सिद्ध हो ...येंगी । अतः विधिव्यवहार हो या निषेधव्यवहार, वह प्रामाणिक वस्तु के सम्बन्ध ...ही घटित होता है ऐसा मानना होगा । प्रमाण की सीमा का व्यवहार अतिक्रमण ... तो कोई व्यवस्था ही नहीं रह पायेगी यह बात स्वीकार करना आवश्यक है ।

मू. नह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो चेति वैयात्यं विना प्रश्नः । ...पि यद्येकोऽप्रतीतपरामर्शविषय एवोत्तरं ददाति 'गौर' इति, अपरोऽपि किं न ...र 'कृष्ण' इति । न चैवंसति कदाचिदर्थसिद्धिः, प्रमाणाभावविरोधयोरुभयत्रापि ...त्वादिति ।

अप्रामाणिक बात के सम्बन्ध में प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही अप्रामाणिक होते ...ह तथ्य एक उदाहरण के द्वारा अब स्पष्ट किया जा रहा है । जैसे देवदत्त ...क किसी व्यक्ति का पता ही न हो तो 'वह गोरा है या काला' ऐसा प्रश्न ... करे तो वह उस व्यक्ति की धृष्टता का ही द्योतक होगा । यदि एक व्यक्ति ...प्रश्न सुनकर किस के बारे में प्रश्न है यह न जानते हुए उत्तर दे कि 'वह ...ा नहीं' तो दूसरा यह भी उत्तर दे सकता है कि 'वह काला नहीं ।' इस ...र से प्रश्नोत्तरों से कोई बात प्रस्थापित नहीं हो सकती । प्रमाणाभाव तथा ...वचनविरोध ये दोष दोनों ही उत्तरों में समान रूप से विद्यमान हैं ।

मू. 'नन्वप्रतीते व्यवहाराभाव इति युक्तम्, कूर्मरोमादयस्तु प्रतीयन्ते एव, ...े विकल्पाः कञ्चिदर्थभेदमनुल्लिख्यन्त एवोत्पद्यन्ते, नच प्रमाणास्पदमेव व्यव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हारास्तदपिति।' तन्न युक्तम्, तथाहि शशविषाणमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिर्वा स्यात्, असत्ख्यातिर्वा ? न तावदाद्यस्ते रोचते, तथा सति किञ्चिदारोप्यं किञ्चिदारोपविषय इति स्यात्, तथाचारोपविषयस्तत्रैवास्ति आरोपणीयस्त्वन्यत्रेति जितं नैयायिकैः। नापि द्वितीयः, कारणानुपपत्तेः, इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैव व्यापारात् लिङ्गशब्दाभासयोरप्यन्यथाख्यातिमात्रजनकत्वात्, अपहस्तितस्वार्थयोश्चामत्ख्यातिजनकत्वे शशविषाणादिशब्दात् कूर्मरोमादिविकल्पानामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् नियामकाभावात्।

बौद्ध पुनः प्रश्न करते हैं कि प्रमाणविषय ही व्यवहार्य होता है ऐसा क्यों समझा जाय ? व्यवहार के लिए व्यवहारविषय की प्रतीति (प्रामाणिक या अप्रामाणिक) ही पर्याप्त क्यों न मानी जाय ? कूर्मरोमादि सत् न होने पर भी प्रतीतिविषय तो है ही। शशशृंग, कूर्मरोम आदि विषयक विकल्प किसी अर्थ का आकलन किये बिना ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः अप्रामाणिक को भी व्यवहार्य मानना पड़ता है। नैयायिक इस प्रश्न का एक प्रतिप्रश्न के द्वारा इस प्रकार उत्तर देते हैं। वे पूछते हैं कि 'शशशृंग' शब्द सुनने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अन्यथाख्याति रूप है या असत्ख्यति रूप ? इनमें प्रथम पक्ष बौद्धों को स्वीकार्य नहीं होगा। अन्यथाख्याति में आरोप्य और आरोप विषय ये दोनों सत्य और विभिन्न स्थानीय होते हैं। शृङ्ग में शशीयत्व का आरोप शशशृंग विषयक अन्ययाख्याति में अभिप्रेत हो तो शृंग और शशीयत्व इन दोनों को विभिन्न स्थानों में विद्यमान और सत्य मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में अलीक की सत्ता या व्यवहार्यता मानने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। यदि उक्त ज्ञान को असत्ख्याति रूप मानें तो उसका कारण प्रस्तुत प्रसंग में उपस्थित न होने से वह उत्पन्न ही नहीं हो पायेगा। ज्ञान के कारण इन्द्रियविषय सन्निकर्ष, हेतु तथा शब्द हैं। इनमें पहला असत्ख्याति का उत्पादक नहीं हो सकता। इन्द्रिय विद्यमान विषय के साहचर्य से ही उसके ज्ञान को उत्पन्न करता है। यदि विषय ही असत् हो तो ज्ञान किनका होगा ? हेतु और शब्द के द्वारा जो ज्ञान होता है वह भ्रांत होने पर भी अन्यथाख्याति रूप ही होगा। अतः इन प्रमाणों का भी विषय असत् नहीं हो सकता। यदि ये प्रमाण अपने अपने विषय का परित्याग कर असत् विषय का भी ज्ञापन करने लग जायें तो 'शशशृंग' जैसे शब्द से 'कूर्मरोम' का भी बोध हो सकना चाहिए (क्योंकि शब्द और अर्थ तथा हेतु और साध्य का सम्बन्ध ज्ञान के लिए तब आवश्यक नहीं रह जाएगा)।

—नारायणशास्त्री द्राविड
आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

‘सर्जन’ का अभिप्राय

संगीत की धुन, कविता, चित्र, मूर्ति, भवन– और यहाँ तक कि फिल्म– के प्रसंग में ‘बनाने’ और ‘निर्माण करने’ जैसे क्रियापदों का प्रयोग व्यापक रूप से होने के कारण इस प्रयोग की सार्थकता पर विचार करने की कोई आवश्यकता अब तक शायद अनुभव नहीं की गई है। विभिन्न कलाओं के सन्दर्भ में ‘बनाने’ या ‘निर्माण करने’ का आशय एक ही नहीं है– संगीत की धुन से लेकर स्थापत्य और फिल्म-निर्माण तक इन शब्दों से अलग-अलग तरह के कर्मों का बोध होता है; फिर भी उन सब के लिए एक ही क्रियापद का प्रयोग यह संकेत अवश्य करता है कि ऊपर से भिन्न प्रतीत होनेवाले ये क्रिया-व्यापार किसी सूक्ष्म धरातल पर अभिन्न हैं।

परस्पर भिन्न प्रतीत होनेवाले इन क्रिया-व्यापारों की आधारभूत एकता का भाव पूर्व से लेकर पश्चिम तक के मनीषियों को हुआ है। ११०० ई. के लगभग मम्मट ने कवि-भारती के साथ ‘निर्मितिमादधती’ का प्रयोग किया था।[१] इधर सी. एस. लीविस ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि ‘पोइम’ की व्युत्पत्ति जिस ‘पोइमा’ (POIEMA) शब्द से हुई है और उसका अर्थ ही ‘निर्मित वस्तु’ होता है।[२] काव्य-हेतुओं पर विचार करते समय अभिनव गुप्त ने प्रतिभा को ‘अपूर्ववस्तु **निर्माणक्षमा प्रज्ञा**’ कह कर परिभाषित किया था।

जिस-जिस माध्यम का प्रयोग कला की सृष्टि के लिए होता है, उसी का उपयोग कला-सर्जन से भिन्न कार्य के लिए भी होता है, लेकिन उस स्थिति में ‘निर्माण’ शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं होता। भाषा का प्रयोग साहित्य-रचना के लिए कम, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों के प्रेषण और दैनिक व्यवहार के लिए अधिक होता है, फिर भी साहित्य में भाषा ‘निर्माण’ के काम आती है जब कि अन्य क्षेत्रों में उससे कोई ‘निर्माण’ नहीं किया जाता। शायद इसीलिए कुछ कला-चिन्तक साहित्य को ज्ञान-विज्ञान–विद्या–से अलग रखना चाहते हैं। आर्कि-बाल्ड मैक्लीश की प्रसिद्ध उक्ति– ‘कविता का होना प्रयोजनीय है, उसका अर्थ नहीं’[३]— के आशय की व्याख्या करते हुए सी. एस. लीविस ने कहा है कि संस्कारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठक साहित्य को ज्ञान-वाहक रूप में नहीं, एक निर्मिति, एक रचना, एक सृष्टि के रूप में लेता है। उसके लिए साहित्यिक कृतियाँ '**कौशलपूर्वक बनाई गई संश्लिष्ट वस्तुएँ हैं।**[४]

यह अकारण नहीं है कि वाग्देवी सरस्वती के विग्रह की कल्पना करते समय उसके एक हाथ में वीणा और दूसरे में पुस्तक रखी गई है। वीणा कला की प्रतीक है और पुस्तक ज्ञान की। पुस्तक वीणा का स्थान नहीं ले सकती। इसी प्रकार वीणा पुस्तक की स्थानापन्न नहीं हो सकती। जो लोग कला को ज्ञान के साधन के रूप में देखते हैं वे वीणा से पुस्तक का काम लेने का प्रयत्न करते हैं। यह स्थिति 'निर्माण' की अवमानना की सूचक है। लेकिन, मूल्य-विपर्यय की यही स्थिति निर्माण की मूल्य प्रतिष्ठा की आवश्यकता भी उत्पन्न करती है।

: १ :

फिर भी सही बात यह है कि कलाओं के स्वधर्म की पहिचान के लिए 'निर्माण' शब्द बहुत काम का नहीं है। ज्ञान के साधन-रूप में कलाओं का 'उपयोग' करने के विरुद्ध कलाओं की अपनी विशिष्टता तो इस शब्द से प्रकट होती है, किन्तु उनके उत्कर्ष का भान यह शब्द नहीं करा सकता। यह शब्द 'कौशल' और 'उत्पादन' के अनुषंगों से इतना अधिक जुड़ा हुआ है कि कलाकृति-विशेष में रचनाकार की प्रतिमा के उन्मेषक की अपूर्वता उससे प्रकट नहीं हो सकती। यह शब्द इतना बहिर्मुखी और समूहधर्मी है कि कलाकृति की आंतरिक उद्भावना और नितांत निजी उत्कर्ष प्रकट नहीं हो सकता। यह शब्द छन्द-रचना और डॉक्यु-मेण्टरी फिल्मों से काव्य-रचना और कला-फिल्मों की भिन्नता को सामने नहीं ला सकता। फिर कला के क्षेत्र में 'निर्माण' की प्रतिष्ठा का रहस्य क्या है ? इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण, शायद यह है कि प्रकृति-सौन्दर्य से कला-सौन्दर्य की अलग पहिचान 'निर्माण' के सम्बन्ध से की गई है। डेविट एच. पार्कर के कथन से यही प्रकट होता है. 'कलाकृति मानवनिर्मित होती है, तारों या वृक्षों के समान 'दी हुई वस्तु' नहीं होती।'[५] निर्माण का प्राथमिक सम्बन्ध माध्यम के प्रयोग से होता है, जिसकी अंतिम परिणति शिल्प पर अधिकार के रूप में होती है। ऊपरी तल पर 'कला-वस्तु' की प्रतीति शिल्प में होती है। ऐसी स्थिति में 'कला' केवल निर्माण में दिखलाई देती है। शायद इसीलिए प्राचीन यूनानियों को 'कला' और 'कारीगरी' में भेद दिखलाई नहीं दिया। दोनों को वे 'टेक्नी' कहते थे।[६] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उपलब्ध कला-सूचियों में भी यह भेद नहीं किया गया है– उनमें 'कला' और 'कारीगरी' दोनों तरह की चीजें सम्मिलित हैं।[७] जैसा कि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, भारत के सांस्कृतिक इतिहास में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ऐसा भी समय आया था जब 'कला' का अर्थ कौशल हो गया था।[८] कला और कारीगरी के बीच की रेखा इस प्रकार धुँधला जाने से कला के क्षेत्र में निर्माण की प्रतिष्ठा का रहस्य खुल जाता है।

लेकिन, 'कला' और 'कारीगरी' का भेद दृष्टिपथ में न रह जाने से कला-मूल्यों की समझ में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति-सौन्दर्य से कला-सौन्दर्य के अलगाने में जिस प्रकार 'निर्माण' की भूमिका महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार 'कारीगरी' से कला को अलग करके पहिचानने में 'सर्जन' की भूमिका निर्णायक है। 'कला' में 'निर्माण' या 'निर्मिति' अंतर्भूत है और इस दृष्टि से 'शिल्प' 'कला' का अपना एक अविभाज्य अंग है, लेकिन 'कला' 'शिल्प' में निहित नहीं है।— इसीलिए मात्र 'निर्माण' कला के लिए पर्याप्त नहीं है। 'निर्माण' कोई भी सिद्धहस्त व्यक्ति कर सकता है, जब कि 'सर्जन' के लिए हाथ के सधाव के साथ उद्भावना- शक्ति भी अपेक्षित है। वह केवल अभ्यास से अर्जित नहीं की जा सकती। कलाकार केवल गढ़ता नहीं, उगजाता है। इसीलिए वह विधाता—स्रष्टा—है; अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। कलाकार और विधाता की समान भूमिका पर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **कालिदास की लालित्य योजना** में अच्छी तरह प्रकाश डाला है। विधाता के साथ कलाकार की तुलना द्विवेदीजी ने कलाकार को सम्मान देने के लिए नहीं, कला-सर्जना की व्याख्या के लिए की है। कालिदास ने अपने पात्रों के रूप-सौन्दर्य की चर्चा विधाता के कर्तृत्व के रूप में की है और द्विवेदीजी को उसमें कलाकार के कर्तृत्व के बखान की गुंजाइश दिखलाई दे गई है। विधाता के कर्तृत्व में कलाकार की कार्यप्रणाली के दर्शन करते हुए द्विवेदीजी ने बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, लेकिन कहीं-कहीं उनकी पकड़, कुछ शिथिल हो गई है। **अभिज्ञान शाकुंतलम्** में शकुन्तला की रूप-सृष्टि के प्रसंग में कालिदास ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है : "चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगादोच्चयेन मनसा विधिना कलासु।" इस उक्ति में मानस-सृष्टि के साथ 'परिकल्पित' शब्द आया है, जिसे लक्ष्य कर द्विवेदीजी ने लिखा है : "वस्तुतः कल्प पहले होता है, सृष्टि बाद में"।[९] कालिदास के शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना और सर्जन को कल्प और सृष्टि की पूर्वापरता का रूप द्विवेदीजी ने अपनी ओर से दिया है; कालिदास का मंतव्य यह नहीं है। कल्पना और सर्जन में पूर्वापरता हो ही नहीं सकती क्योंकि कल्पना सर्जना का एक अंतरंग अंग है। कालिदास की इस उक्ति का महत्व इस बात में निहित है कि इसमें 'परिकल्पित' शब्द में कल्पना-व्यापार का जो स्पष्ट उल्लेख किया गया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य-चर्चा में विरल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कल्पना' शब्द का प्रयोग भले ही विरल रहा हो, कल्पना-व्यापार से भारतीय मनीषा के परिचय के अनेक प्रमाण प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। समाधिस्थ वाल्मीकि द्वारा रामकथा के हस्तामलकवत् दर्शन का वर्णन रामायण के उपक्रम में उपलब्ध है। इस प्रसंग में 'सम्प्रपश्यति', 'अन्ववैक्षत', 'पश्यति' जैसे क्रियापदों के साथ 'दृष्ट्वा' जैसी पूर्वकालिक क्रिया का भी प्रयोग हुआ है। मानस-साक्षात्कार की इस क्रिया के साथ एकाग्र चित्त की निर्विकारता सूचित करने के लिए रामायण में 'धर्मेण', 'धर्मवीर्येण', 'तत्त्वतो', 'योगमास्थितो' जैसे पदों का प्रयोग हुआ है। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए आगे चल कर कालिदास ने 'सत्त्वयोगात्' पद का प्रयोग किया है। तुलसीदास ने यही बात विस्तार से कही है। उनकी उक्ति में मन की निर्मलता और कल्पनाशक्ति के प्रयोग का उल्लेख परस्पर सम्पृक्त है :

जथा सुअंजन अंजि दृग-साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैलबन भूतल भूरि निधान।।
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिज दृग्दोष-बिभंजन।
तेहिंकरि बिमल बिबेक बिलोचन। बखउँ रामचरित भव मोचन।।

वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक ने निर्मल चित्त के साक्षात्कारों के रूप में सर्जन की बात कही है, लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मानस-साक्षात्कार अथवा कल्पनाशीलता सर्जन का पर्याय है अथवा मानस-साक्षात्कार हो चुकने के बाद उनके शरीरण या देहापन का कार्य सम्पन्न होता है।

: २ :

सही बात यह है कि मानस-साक्षात्कारों का सिलसिला आरम्भ होते ही उनके देहापन की स्थिति आ जाती है। देहापन के साथ-साथ जैसे-जैसे रचना आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे साक्षात्कार आगे बढ़ते हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा है कि आरम्भ में कलाकार को साक्षात्कारों का बहुत सीमित प्रकाश उपलब्ध होता है। वह रचनापथ पर उसी प्रकार आगे बढ़ता है जैसे कोई व्यक्ति अँधेरी रात में हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन लेकर चलता हो। उसके बढ़ते जाने के साथ ही प्रकाश भी आगे बढ़ता है। उसे पूरा रास्ता पहलेसे दिखलाई नहीं देता। इसलिए "कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना बढ़ते जाने के मार्ग का नक्शा रचना के पूर्व नहीं बनाया जा सकता और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नहीं हो सकता।"[१०] फिर भी साक्षात्कारों के एक क्रम के रूप में रचना आगे बढ़ती है, इस नाते कवि को द्रष्टा कहा गया है।

कवि के साक्षात्कार अनेक बार एक विस्फोट अथवा अप्रतिहत प्रवाह के रूप में प्रकट होते हैं। इस स्थिति में कलाकार उन्हीं के वश में होकर रह जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस आविष्ट मनःस्थिति को लक्ष्य कर वह पागलों की कोटि में भी रख दिया जाता है। शेक्सपियर जैसे महान् रचनाकार और फ्रायड जैसे महान् मनोविश्लेषक ने निस्संकोच भाव से ऐसा माना है। शेक्सपियर के विचारानुसार पागल, प्रेमी और कवि तीनों कोटियों के प्राणी कल्पनाजीवी होते हैं। फ्रायड का कहना है कि पागल और कवि के बीच थोड़ा सा फ़र्क रह जाता है। वास्तविकता यह है कि जिस सर्जनात्मक अंतःप्रेरणा के फलस्वरूप कवि द्रष्टा और ऋषि कहा जाता है, उसी के नाते वह पागल के निकट भी पहुँचा दिया गया है।

यह सही है कि कलाकार अनेक बार सर्जनात्मक अंतःप्रेरणा के क्षणों में रचना करता है, लेकिन रचना के लिए वह अपने आप में पर्याप्त नहीं होती। फ्रायड ने अचेतन मन के साक्षात्कारों अथवा दिवास्वप्नों के नाते कवि को पागल के निकट रखते हुए भी यह स्वीकार किया है कि 'विशदन' की प्रक्रिया कवि की रचना को पागल के दिवास्वप्नों से अलग कर उन्हें रसनीय बनाती है। फ्रायड के अपने प्रयोजन के लिए 'विशदन' की व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी—इसलिए इस सम्बन्ध में हमें उनसे अधिक प्रकाश नहीं मिलता; लेकिन कला-चिंतकों ने इस समस्या पर विचार अवश्य किया है। विन्सेण्ट टॉमस ने बतलाया है कि "सर्जनात्मक कला के लिए अंतःप्रेरणा (इन्स्पिरेशन) की आवश्यकता है। यह चीज़ कौशल या विचारशीलता की देन नहीं होती; लेकिन इसका मतलब यह यह नहीं है कि अंतःप्रेरणा या सर्जनात्मक आवेश को रचना में परिणत करते समय वह अपने कौशल या विचारशीलता का उपयोग करने की स्थिति में नहीं रह जाता। यह कहना ग़लत होगा कि 'प्रेरित' या आविष्ट रचनाकार में आलोचनात्मक नियंत्रण रह ही नहीं जाता और वह अभिधार्थ में पागल होता है।"[११] 'प्रेरित' अथवा आविष्ट अवस्था में रचना अप्रतिहत वेग के साथ होती है, लेकिन उस अवस्था में भी समीक्षात्मक नियंत्रण भीतर-ही-भीतर अपना कार्य करता है। होता यह है कि उस स्थिति में अंतःप्रेरणा और विशदन के क्षण एक-दूसरे में समा जाते हैं।[१२] यही कारण है कि कलाकार अपनी रचना में स्वप्नों को अंकित करते हुए भी स्वप्नाविष्ट नहीं होता। जैसा कि चार्ल्स लैम्ब ने लिखा है, सच्चा कवि सजगतापूर्वक स्वप्न देखता है।[१३] रचना में रचयिता के अवचेतन की अभिव्यक्ति अनेक बार होती है, लेकिन विवशभाव से नहीं। कलाकार अवचेतन से प्राप्त सामग्री का उपयोग सजगतापूर्वक करता है और इस सजगता में उसके संस्कारी रचनाशील मन की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है इसलिए रचना में व्यक्त अचेतन आवेग, मानसिक रोगी की बहक, विभ्रम, सन्निपात, छायाभास और अरंबरं नहीं हुआ करते। इसीलिए वे संदृष्टि या विज़न की कोटि में रखे जा सकते है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है कि रचना के क्षणों में साक्षात्कारों का वेग इतना प्र[illegible] जाए कि कलाकार उसे सम्हाल ही न पाए। ऐसी स्थिति में रचना में बिख[illegible] सकता है; लेकिन सधा हुआ कलाकार साक्षात्कारों के वेग से जूझ कर उन्हें [illegible] काबू में रखने का प्रयत्न करता है। साक्षात्कारों को अनभीष्ट दिशा में [illegible] रोककर उनके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा में ले चलने के लिए वह सचेष्ट रह[illegible] रचना-प्रक्रिया का यह अंग 'आलोचनात्मक नियंत्रण' कहा जाता है।

इसीलिए कला-सर्जना को मानसिक रोग का लक्षण मानना आपत्ति[illegible] है। फ्रायड ने जब ऐसा किया तो युंग ने उनका विरोध करते हुए लिखा: "[illegible] और पद्य, दोनों में ऐसी रचनाएँ भी होती हैं जो पूर्णतया लेखक के मंतव्य [illegible] लेकर कुछ-न-कुछ प्रभाव डालने की दिशा में अग्रसर होती हैं। ऐसी अवस्[illegible] किसी प्रभाव पर बल देते हुए और किसी प्रभाव में संशोधन करते हुए, [illegible] कुछ जोड़ते हुए और उसमें से कुछ घटाते हुए, यहाँ एक रंग और वहाँ [illegible] भरते हुए, उनके सम्भवित प्रभावों को बड़ी सावधानी से तौलते हुए और [illegible] रूप तथा शैली के नियमों का सतत ध्यान रखते हुए साहित्यकार अव्यवहित [illegible] **सोद्देश्य योजना के अनुसार** सामग्री का प्रयोग करता है।" १४

३

कलाकृति चेतन मन की सृष्टि हो या अचेतन मन की अभिव्यक्ति, [illegible] हर हालत में सूझों का एक अनुक्रम होता है। इस अनुक्रम को सँवारने में पा[illegible] रिक संगति और अन्विति के बोध की भूमिका निर्णायक होती है जब कला[illegible] पहले से तय प्रतिपाद्य को ध्यान में रखकर रचना करता है तब उसकी सूझों [illegible] अनुक्रम की संगति और अन्विति का बोध उसीसे अनुशासित होता है। जब [illegible] सीधे किसी सूझ से प्रेरित होकर रचना आरम्भ करता है, तब उसकी [illegible] सूझ उसे दूसरी की ओर और दूसरी तीसरी की ओर ले चलती [illegible] ऐसा होने पर रचना की यात्रा अनेक बार अनुषंगों के पथ पर होती है। कला[illegible] अपनी कृति में इन अनुषंगों को प्रायः एक व्यवस्था प्रदान करके प्रस्तुत करता [illegible] किन्तु ऐसी भी कृतियाँ हैं जिनमें अनुषंगों का सिलसिला चेतना के मुक्त प्रवा[illegible] रूप में रचनाशील मन की स्वच्छन्द गति को अपने भीतर धारण किये हुए [illegible] होता है। फिर भी सच्चाई यह है कि अनुषंगों की निश्रृंखल निरन्तरता रचना[illegible] के चेतन प्रयोजन और प्रेषणीयता के लक्ष्य से निर्दिष्ट होकर ही रचना में [illegible] पाती है। रचना में अनुषंगों की निर्बन्धता एकदम नहीं होती हो, ऐसा नहीं [illegible] लेकिन उसकी एक सीमा अवश्य है। जिस सीमा तक मुक्त अनुषंग रचना की [illegible] यविक गमग्रता में खप सकते हैं, उसी सीमा तक वे सर्जन के लिए उपयो[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं। रचना की दिशा निर्दिष्ट करने का कार्य— और इस प्रकार उसकी आवयविक समग्रता का भान– स्वयं सूफों के अनुक्रम में संगति की चेतना से उत्पन्न होता है और उसका बीज रचना को आरम्भ करनेवाली सूफ में ही निहित रहता है।[१५]

स्पष्ट है कि कलाकार सूफों में खो नहीं जाता, वह उनको निरुपादित करता है। इसीलिए सर्जन निष्क्रिय दिवास्वप्न दर्शन के विपरीत एक सक्रिय कर्म होता है। कलाकार की सूझों की शृंखला अंतःप्रेरित और सुविचारित दोनों प्रकार की हो सकती है, यहाँ तक कि वह किसी विचारधारा से निर्दिष्ट और उसकी पोषक भी हो सकती है। हर हालत में कलाकार की सूफ **एक साथ दो काम** करती है: एक ओर वह कलाकार को अंतर्दृष्टि— प्रत्यक्ष के मर्म में पैठने की क्षमता— प्रदान करती है तो दूसरी ओर उसे उन साक्षात्कारों में रमाती है जो अंतर्दृष्टि की देन बनकर उसे प्रत्यक्षीकरण विषय बनाती हैं। इस प्रकार **आलोकन और प्रत्यक्षीकरण की सम्मिलित प्रक्रिया** सर्जन का अपरिहार्य अंग है। यही कलाकार की कल्पनाशीलता कहलाती है।

: ४ :

अपनी इसी शक्ति के बल पर रचनाकार यथार्थ में पैठता है, लेकिन सर्जन सदैव यथार्थाभिमुख नहीं होता। यथार्थाभिमुखता कला का स्वधर्म भी नहीं है। इसके अतिरिक्त, यथार्थ के साथ सब कलाओं का सम्बन्ध भी एक ही तरह का नहीं होता। कलाकार जब यथार्थ के प्रति निष्ठावान् होता है तब भी यथार्थ का प्रत्यंकन उसे संतुष्ट नहीं कर सकता। यथार्थ कलाकार की कल्पना से उद्भासित होकर ही सर्जन के किसी काम का होता है। तभी उसे अर्थवत्ता प्राप्त होती है। इसी अर्थ में कलाकार यथार्थ को **अर्जित** और **अर्थापित** करता है। यही कारण है कि रचनागत यथार्थ वस्तु-जगत् की तुलना में अतिरंजित होनेपर भी कृति 'यथार्थवादी' मान ली जाती है। प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' हो या राही मासूम रज़ा का उपन्यास **कटरा बी आरज़ू**, रचना प्रत्यंकन से बँधी नहीं रही है। रचनाकार ने अपनी यथार्थ को अपनी कल्पना में ढालकर उसे एक ऐसी दीप्ति दी है जो उसके अपने भीतर नहीं थी। जहाँ यथार्थ कलाकार की कल्पनाशीलता से वंचित रह जाता है, वहाँ यथार्थवाद अकारथ हो जाता है।

ऐसी भी कृतियाँ होती हैं जो रचना-बाह्य यथार्थ की कसौटी पर परखे जाने पर झूठी सिद्ध होती हैं। 'प्रसाद' की 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' जैसी कहानियाँ तथा जैनेन्द्रकुमार के **त्यागपत्र** जैसे उपन्यास में यथार्थ को अंकित करने का कोई मोह दिखलाई नहीं देता। फिर भी, इन रचनाओं में जीवन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षात्कार होता है, उसकी अपनी एक रचनागत संगति है, जो रचनाकार की अपनी कल्पनाशीलता -सूझ-की देन, उसके अपने मन की उपज है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध भी लेखक की कल्पनाशीलता के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। जब तक सामाजिक समस्याएँ कलाकार की कल्पना में समा नहीं जातीं, जीवन-जगत् सम्बन्धी उसके विचार जब तक उसकी कल्पना में ढल नहीं जाते, तब तक उनकी कलात्मक परिणति नहीं हो सकती। यही कारण है कि **रामचरितमानस** में कलियुग-वर्णन के बहाने समसामयिक सामाजिक स्थिति का जो वर्णन किया गया है, वह **कवितावली** में किए गए वर्णन की तुलना में बहुत हल्का –अकलात्मक–लगता है। विचारों की कलात्मक परिणति की दृष्टि से **रामचरितमानस** और **विनयपत्रिका** की तुलना अर्थपूर्ण हो सकती है। पहली कृति में अधिकांश स्थलों पर विचार सर्जनात्मक कल्पना में घुल नहीं पाए हैं– रचना में उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रही है; जब कि दूसरी कृति में विचार प्रायः कवि के भावोद्गार में समा गए हैं। सूरदास और मीराँ की कला तो इस दृष्टि से और भी उत्कर्ष पर दिखलाई देती है। इस कवियों के विचार कल्पना में इस तरह रमे हुए हैं कि समझने के लिए उन्हें खींचकर रचना से बाहर निकालना पड़ता है। प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएं तो प्रायः विचारनिरपेक्ष होती हैं; लेकिन मानव-विषयक रचनाओं की कलात्मक मूल्यवत्ता भी विचारों की मूल्यवत्ता पर निर्भर नहीं होती। संस्कृति भी कला में तभी महत्त्वपूर्ण हो सकती है जब वह रचनाकार की सर्जनात्मक कल्पना में रम जाए, अन्यथा नहीं। शायद इसी अभिप्राय से मॉल्कम ब्रेडबरी ने लिखा है कि साहित्यकार की 'कल्पनात्मक अंतर्दृष्टि उन विषयों का **जीवन्त निरूपण करती है** जिनकी व्याख्या एवं खोज समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा दूसरी विद्याएँ अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, किन्तु **अल्पसर्जनात्मक ढंग से** करती **हैं**। यह वस्तुतः एक **परोक्ष साक्ष्य** होता है; साहित्य फोटोग्राफ के अर्थ में जीवन की प्रतिच्छवि नहीं हुआ करता– वह **स्वयं संघटित जीवन** होता है...।[१६] सर्जनात्मक परिणति से वंचित रह जाने पर विचार रचना के कलात्मक उत्कर्ष का मार्ग किस तरह अवरुद्ध कर देते हैं, यह देखने के लिए सुमित्रानंदन पंत के **लोकायतन** का उदाहरण पर्याप्त है। सर्जन के इस मर्म को जो नहीं समझते वे ही कालिदास के काव्य-वैभव से संतुष्ट होने के स्थान पर उनकी रचनाओं में विचारों की खोज की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

: ५ :

इसमें संदेह नहीं कि कला अनेक बार विषयाभिमुख होती है। विशेष रूप से साहित्य, चित्रकला और मूर्तिकला विषयाभिमुख कलाएँ हैं। फिर भी कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय की वशवर्ती कभी नहीं होती। वर्ण्य विषय जब रचनाकार के मानस में उतरता है तो उसकी अपनी सत्ता बहुत-कुछ तिरोहित हो जाती है। एरिक न्यूटन ने अपनी पुस्तक **सौन्दर्य का तात्पर्य** [१७] में सर्जन के दौरान विषय से रचना की क्रमिक मुक्ति की प्रक्रिया पर प्याज की परतों के सादृश्य से प्रकाश डाला है। न्यूटन के अनुसार पहली परत वर्ण्य की अपनी वस्तुसत्ता है; दूसरी परत कलाकार द्वारा उसके पक्ष-विशेष का चयन; तीसरी परत उस पक्ष-विशेष में कलाकार की चेतना का इस प्रकार रम जाना है कि वर्ण्य की वस्तु-सत्ता कलाकार की रीझ में तिरोहित हो जाए- वर्ण्य के पक्ष-विशेष के प्रति कलाकार की अनुरक्ति में वर्ण्य का अपना स्वरूप खो जाता है और कलाकार की चेतना— जिसने वर्ण्य को छा लिया है— सर्जन का प्रमुख उपादान बन जाती है; चौथी परत वर्ण्य की सत्ता से कलाकार की चेतना का सर्वथा मुक्त हो जाना है— यह परत अपनी रुचि के अनुसार कुछ ऐसा गढ़ना है जिसमें 'दृश्य जगत् के निरूपण' की चिंता अप्रासंगिक हो जाती है; पाँचवी तथा अंतिम परत माध्यम के साथ कलाकार की रचनाशील चेतना— जो उसकी कल्पना का ही पर्याय है— की अंतःक्रिया है।[१८]

मुक्तिबोध ने भी यह माना है कि कल्पना— उनके अपने शब्दों में 'फेंटेसी' -अनुभव की कन्या होते हुए भी उससे स्वतंत्र होती है और उसकी बदौलत अनुभव अपने कसकते दुखते हुए मूलों से अलग" हो जाता है।[१९] जहाँ एरिक न्यूटन ने कल्पना को प्याज की तीन मध्यवर्ती परतों के सादृश्य में उपस्थित किया है, वहाँ मुक्तिबोध ने कल्पना के उक्त तीनों चरणों को सम्मिलित रूप से रचना का 'दूसरा क्षण' कहा है। पहला क्षण संवेदनाघात का है, जो दूसरे क्षण में बहुत संशोधित-परिवर्तित हो जाता है। तीसरा क्षण माध्यम में कल्पना के ढलने का है। जिस प्रकार संवेदनाघात-प्रेरित कल्पना मूल संवेदना में बहुत अंशों में फेरबदल कर देती है, उसी प्रकार माध्यम में उसे उतारने के लिए कलाकार को जो संघर्ष करना पड़ता है, उसके कारण माध्यम में उतरते उतरते कल्पना-चित्रों में भारी परिवर्तन हो जाता है।[२०]

कल्पना और माध्यम के मध्य सहकार की साधना अनेक बार दोनों के मध्य तनावों का सामना करती है, लेकिन अंततः तनावों के परिहार के साथ दोनों के परस्पर विलय में सर्जन सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से सर्जन एक गतिशील संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें 'यथार्थ,' 'अनुभव,' 'जीवन' या प्रतिपाद्य विषय केवल कच्चा माल होता है। कलाकार जिस विषय को लेकर रचना आरम्भ करता है, कृति रची जाने के दौरान उसमें कितने ही अवांतर अनुषंग घुस आते हैं और उनमें से कुछ इतने प्रबल होते हैं कि रचना के मूल विषय को एक ओर करके रचना में केंद्रीय स्थान स्वयं हथिया लेते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार का अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य अवांतर अनुषंगों से पराभूत होकर रह जाता है और रचनाकार जो कु[illegible] चाहता था, रचना उससे भिन्न बात कह जाती है। शायद ऐसे ही किसी अ[illegible] को लक्ष्य कर तुलसीदासने लिखा था : "लिखत सुधाकर गा लिखि राहू"। [illegible] राकेश आधे अधूरे में चले थे 'हर आदमी जैसे एक आदमी' के अधूरेपन [illegible] उधाड़ने, लेकिन नाटक पूरा होते-होते लिख गए एक खास तरह के '[illegible] की कहानी।

इससे यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि रचनाकार भले [illegible] अपने अचेतन आवेगों का दास न हो; उसकी रचना जिस रास्ते आगे बढ़ती [illegible] वह उसके अनुषंगों की आंतरिक संगति से निर्धारित होता है। कलाकार रचना [illegible] साथ मनमानी नहीं कर सकता है तो रचना भ्रष्ट हो जाएगी। कथा-साहित्य [illegible] नाटक में जब कोई चरित्र उदित होता है तो उसे उसी दिशा में विकसित हो[illegible] पड़ता है जो उसके उदय के साथ न्याय कर सके। जब कोई पात्र लेखक के [illegible] की कठपुतली बन कर रह जाता है तो रचना की कलात्मकता बाधित होती है।

: ६ :

कलाकार की चेतना में विषय के घुलने की पराकाष्ठा अमूर्तन के रू[illegible] सामने आती है। अमूर्तन केवल चित्रकला में नहीं, अन्य कलाओं में भी होता है, यहाँ तक कि साहित्य में भी, जहाँ माध्यम की अर्थमयता के कारण अमूर्तता [illegible] प्रक्रिया बहुत कठिन है, अमूर्त कला के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। शमशेर [illegible] 'टूटी हुई बिखरी हुई' जैसी कविता और विपिनकुमार अग्रवाल का लोटन [illegible] नाटक साहित्यिक कर्तृत्व की अमूर्तता के उदाहरण हैं।

वस्तु-बोध से इस प्रकार का विचलन एक नया अनुभव है, फिर भी यह [illegible] ऐसी घटना नहीं है जिसकी थोड़ी बहुत जानकारी पुराने साहित्यकारों को न [illegible] हो। वर्ण्य विषय की अपनी सत्ता से छूट लेने की प्रवृत्ति को हजारीप्रसाद द्विवेदी [illegible] कालिदास का सहारा लेकर, 'अन्यथाकरण' कहा है। उन्होंने लिखा है : "म[illegible] जो-कुछ भी रचता है, उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मस[illegible] संग्रह करता है। पर इसे ज्यों का त्यों वह ले नहीं सकता। उसे चार आयामों [illegible] जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है। वह कुछ न कुछ छोड़ने [illegible] बाह्य सत्ता को बदलता है, 'अन्यथा' बनता है। इसीलिए उसके इस प्रयत्न [illegible] 'अन्यथाकरण' कहते हैं।'[२१] द्विवेदीजी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है [illegible] सर्जन के लिए कलाकार को अन्यथाकरण को सायास साधना होता है; [illegible] अन्यथाकरण, जैसा कि एरिक न्यूटन ने बतलाया है, विषय से कलाकार की [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त होने की प्रक्रिया में स्वतः घटित होता है। भिन्न-भिन्न कलाओं और कलाकृतियों में, माध्यम की प्रकृति और रचनाकार की प्रवृत्ति के अनुसार, 'अन्यथाकरण' की मात्रा और प्रकृति अलग-अलग होती है।

कलाओं में अर्थ-सम्बद्धता बहुत-कुछ उनकी अन्यथाकरण-सम्बन्धी क्षमता और प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है। साहित्य में रचना की अर्थ-निरपेक्षता, शायद, अकल्पनीय है क्योंकि उसका माध्यम ही शब्दार्थ की अविच्छेद्यता लिए हुए होता है। अन्यथाकरण और अमूर्तन के बावजूद साहित्य-कृति अपने भीतर अर्थ लिए रहती है। शमशेर की 'सींग और नाखून' तथा 'शिला का खून पीती थी' जैसी रचनाएं इसका प्रमाण हैं, लेकिन चित्र, मूर्ति और संगीत अपनी संरचना के अतिरिक्त किसी अभिप्राय के वाहक हों, यह आवश्यक नहीं है। कला जितने अंशों में अर्थ-सम्बद्धता से मुक्त हो सकती है, उतने ही अंशों में वह बाह्य-संदर्भों से भी निरपेक्ष रह सकती है। संगीत चूंकि मात्र ध्वनि-संरचना है, इसलिए उसके लिए बाह्यार्थ-बोध अप्रासंगिक है। इसलिए, अर्थमुक्ति की दृष्टि से, वह शुद्ध कला का उदाहरण होने के नाते अन्य कलाओं के लिए आदर्श है। चूंकि साहित्य में प्रत्यंकन और अमूर्त अंकन दोनों तरह की कृतियाँ होती हैं, इसलिए बाह्य संदर्भों से उसका सम्बन्ध सदा एकही तरह का नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती की कनुप्रिया में राधाकृष्ण की प्रणय-कथा बाह्यापरक रूप में प्रस्तुत की गई है, इसलिए उसमें बाह्य संदर्भों की अवमानता उस समय खटकती है जब राधाकृष्ण की केलि समुद्र के किनारे बतलाई जाती है। इसके विपरीत लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक **सब रंग मोहभंग** में कृष्ण द्वारा कॉलबेल बजाई जाना और दुर्योधन द्वारा उन्हें 'कम इन' कहकर बुलाया जाना नहीं अखरता तो इसका कारण इस नाटक की प्रत्यंकन-विमुखता है। इससे स्पष्ट है कि बाह्य संदर्भों का महत्त्व रचना के अपने स्वरूप की समग्रता– उसकी आंतरिक संरचना-से जुड़ा हुआ है।

चित्र-रचना में प्रतिनिधान से लेकर प्रभावांकन और बिम्बसृष्टि तक की विभिन्न कोटियाँ इसीलिए समान सम्मान की अधिकारिणी हैं। कल्पना की अपनी प्रकृति से किसी चित्र की कोटि निर्धारित होती है। इसलिए चित्रकला के क्षेत्र में तथा उसके प्रभाव से अन्य कलाओं के क्षेत्र में भी– समय-समय पर जिन कला-आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है, वे सभी कल्पना की अलग-अलग भूमिकाओं के प्रति आग्रह से उत्पन्न हुए हैं।

हिन्दी कविता में मैथिलीशरण गुप्त की बहिर्मुखी इतिवृत्तात्मकता से लेकर प्रसाद की भावप्रवण लाक्षणिकतामूलक विचारपुष्ट अंतर्मुखता और मुक्तिबोध की फंतासी स्वप्नाविष्ट-जैसी बहिर्मुखता-संश्लेषी अन्तर्मुख आलोचनशील रचना-रूचि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अज्ञेय की मंद मंथर-संयत संवदना-संस्पृष्ट सुकोमल अभिव्यक्ति तक सर्जन के जो विभिन्न रूप दिखलाई देते हैं, वे वस्तुतः कल्पना के विभिन्न प्रकारों की देन हैं।

सर्जनात्मक कल्पना के कुछ मोटे-मोटे प्रकार गिनाए जा सकते हैं, लेकिन कल्पना का अपना वैशिष्टच रचनाकार के अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता पर रहता है। आवश्यक नहीं है कि किसी रचनाकार के सम्पूर्ण कृतित्व में आरम्भ से अंत तक कल्पना की एक ही प्रकार की भूमिका रहे। इसके विपरीत अधिक सम्भव यह है कि कलाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के उदयकाल में कल्पना की जो भंगिमा रही हो, वह अंत तक बहुत-कुछ बदल जाए; फिर भी उस विकासक्रम में एक सूत्रबद्धता रहती है और वही कलाकार का सर्जनात्मक व्यक्तित्व निर्धारित करती है।

कलाकार के रचनाशील जीवन में कल्पना की तरह माध्यम के साथ बरताव का भी विकास हो सकता है। अवश्यक नहीं है कि उसकी सर्जनात्मक कल्पना और माध्यम के बीच का रिश्ता सदा एक ही तरह का रहे। 'रचनाशील अंतः-प्रकृति का विकास' एक व्यापक अवधारणा है, जिसमें कल्पना, माध्यम के साथ बर्ताव, इन दोनों के आपसी सम्बन्ध और इन तीनों पक्षों की अंतस्सम्बद्धता का विकास सम्मिलित है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। अज्ञेय ने पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह के आवेश में वर्ण्य की भद्रता का उल्लंघन करते हुए 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त......' जैसी पंक्ति की रचना की। यह पंक्ति सुरुचि की प्रचलित धारणा के प्रति विद्रोह के साथ संवेदना के आभिजात्य से मुक्ति की ओर उनकी कल्पना के प्रमाण की द्योतक है; फिर भी उनकी भाषा में आभिजात्य जमा हुआ है। इस प्रकार कल्पना और माध्यम के साथ बरताव की गति परस्पर विरोधी दिशाओं में है। आगे चल कर अज्ञेय की सर्जनात्मक कल्पना ने रूढ़ि-भंजन के आवेश से मुक्त होकर जब अपनी एक पहिचान कायम की तो उसमें संयम के साथ उनकी भाषा में लोकोन्मुखता का समावेश हुआ जो अंततः सहज प्रसन्न अभिव्यक्ति में परिणत हो गया। इससे कल्पना तथा भाषा के मध्य, आगे चलकर, एक ऐसी अनुकूलता उत्पन्न हुई जिसमें द्वैध का अवसान हो गया। अज्ञेय के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का विकास उक्त तीनों पक्षों के विकास को अपने भीतर समेटे हुए है।

: ७ :

इस प्रकार 'सर्जन' अंततः कल्पना और माध्यम की अंतःक्रिया रह जाता है। ऐसी स्थिति में कलाकृति रचनाकार की उस साधना को सामने लाती है जो उसने कल्पना और माध्यम के तनावों में से रास्ता बनाकर दोनों के पारस्परिक विलय के लिए की थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की प्रकृति निर्धारित करने और कल्पना-साक्षात्कारों के उद्‌गम के सम्बन्ध से भावबोध का स्थान कला में महत्वपूर्ण है। इस उद्‌गम की समझ और व्याख्या अपने-आप में रोचक, और महत्वपूर्ण भी हो सकती है। लेकिन, रचनागत भावबोध के परे जाकर अनुभव के स्रोतों और उसकी प्रमाणिकता को कला-चर्चा में सम्मिलित करने से रचना के उत्कर्ष या अपकर्ष की समझ में कोई सहायता नहीं मिलती। कारण यह है कि कलात्मकता अनुभव में नहीं, उद्‌भावना में रहती है। कल्पना और माध्यम की अंतःक्रिया में व्यक्त होकर वही 'सर्जन' कहलाती है।

अनुभव के स्थान पर उद्‌भावना का प्रासंगिक मानने का अर्थ है कच्चे माल के स्थान पर रचना के महत्व की प्रतिष्ठा। उद्‌भावना में अनुभव ढलता है, इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है; लेकिन उसका विचार उसी सीमा तक उचित है, जिस सीमा तक वह **रचना में** 'भावबोध' बनकर व्यक्त होता है। इसी प्रकार समाज-दृष्टि, मनोविज्ञान आदि उसी सीमा तक कलाकृति के मूल्यांकन के लिए प्रासंगिक हो सकते हैं जिस सीमा तक वे सर्जनात्मक कल्पना में रमकर उसके पोषक बने हों। रचना के बाहर से 'अनुभव' या 'ज्ञान' की कसौटी लेकर कलाकृति के मूल्यांकन का प्रयत्न करना कला-विषयक समझ का अभाव ही प्रकट करता है।

हिन्दी-विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर

–जगदीश शर्मा

टिप्पणियाँ

१. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्रताम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। –काव्य प्रकाश ।। १।१

२. एन एक्सपेरिमेण्ट इन क्रिटिसिज्म पृ. ८२, (१९६१)।

३. ए पोइम शुड नॉट मीन, बट बी

४. एन एक्सपेरिमेण्ट इन क्रिटिसिज़्म, पृ. ८२

५. द्रष्टव्य– मारिस वाईत्ज– सम्पादित पुस्तक **प्रॉब्लम्स इन एस्थेटिक्स** में डेविड एच. पार्कर का लेख– 'द नेचर आफ आर्ट' पृ. ६५

६. वही, पृ. ६२

७. द्रष्टव्य– डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत **प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद** पृ. १८.

८. वही पृ. १८.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. **कालिदास की लालित्य–योजना**, पृष्ठ ७०
१०. **नई कविता का आत्मसंघर्ष**, पृ. २७.
११. मारिस वाइत्ज़ द्वारा सम्पादित **प्रॉब्लम्स इन एस्थेस्टिक्स** में विन्सेन्ट टॉमस का लेख 'क्रिएटिविटी इन आर्ट, पृष्ठ ३८३
१२. वहीं, पृ. ३८२
१३. वहीं, पृ. ३८१
१४. सी. जी. युंग, **कन्ट्रीब्युशंस टु अनेलेटिक साइकॉलॉजी**, पृ. २३४–३५
१५. द्रष्टव्य– मॉरिस वाइत्ज़ द्वारा सम्पादित **प्रॉब्लम्स इन एस्थेटिक्स** में एम. सी. बीअर्डस्ले का लेख 'ऑन क्रिएशन ऑफ आर्ट'
१६. **आलोचना**, नवाङ्क २५
१७. सार-संक्षेप के साथ अनुवाद : रामकीर्ति शुक्ल
१८. **सौन्दर्य का तात्पर्य**, पृ, २१ से २४
१९. **एक साहित्यिक की डायरी**, पृ. १९
२०. वहीं, 'तीसरा क्षण', पूरा निबन्ध पठनीय है।
२१. कालिदास की लालित्य-योजना, पृ. ८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षा

Viyappa, I., ' G. W. F. Hegel's Concept of Indian Philosophy, Gregorian University Press, Rome, 1980. pp. xi + 295. Obtainable from Gujarat Sahitya Prakash, Anand, Keda Dt Rs. 50.

प्रस्तुत शोध-प्रबंध भारतीय दर्शन से सीधा संबंध नहीं रखता है, वरन्-लेखक के शब्दों में-उसका विषय है " हेगल द्वारा प्रतिपादित हिंदू धर्म की व्याख्या और उसका मूल्यांकन" (पृ० ५) । अतः निबंध वास्तव में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास से संबंध रखता है । शोध-प्रबंध में प्रयुक्त प्रणाली इस प्रकार है : लेखक हेगल की रचनाओं में से अधिक उपयुक्त पाठों को चुनकर उनकी व्याख्या विविध संदर्भ में करते हैं, अर्थात् पहले हेगल के अपने दर्शन का संदर्भ, और दूसरे हेगल को उपलब्ध भारत विषयक स्रोतों की दृष्टि से ।

प्रथम अध्याय इन्हीं स्रोतों का विवेचन करता है। " प्राचीन " एवं "अर्वाचीन " स्रोतों का जो विभाजन यहाँ मिलता है, उसे स्वयं हेगल ने पहले किया था । तथा-कथित " अर्वाचीन स्रोतों " से तात्पर्य है वे लेख जिनकी रचना हिंदू दर्शन के वैज्ञानिक अनुसंधान के युग से लेकर ही होने लगीं, अर्थात् विलियम जोन्स (मृत १७६ ई०) के काल से लेकर । इन "अर्वाचीन" लेखों के फलस्वरूप " प्राचीन " लेखों से उत्पन्न एक मिथ्या धारणा दूर की है : जबकि प्राचीन काल से भारतीय प्रथा की प्रशंसा की गयी थी, अब से हेगल के अनुसार उसकी यह ख्याति निराधार दिखाई पड़ी। जो भी हो, वर्तमान अनुसंधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगल को भारतीय दर्शन विषयक विस्तृत जानकारी प्राप्त थी । उन्हें परिचित विद्वानों में से अधिक प्रसिद्ध नाम निम्नलिखित हैं : अंकेतिल दुपेरीन, अब्बे दुबायस, कोलब्रुक, दोनों श्लेगल नामक विद्वान् भाई, इत्यादि । यह स्पष्ट है कि हम आज हेगल पर इसलिए दोष नहीं लगा सकते हैं क्योंकि वह बाद में प्रकाशित अध्ययनों से परिचित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। शोध-प्रबंध की ग्रंथ-सूची से यह प्रतीत होता है कि हेगल को कितनी भारत-विषयक रचनाएं-या तो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से-मालूम थीं : सूची में उनका अनुक्रम ३४ नंबर से २०६ तक फैल जाता है।

अगले दो अध्यायों में लेखक हेगल के भारतीय दर्शन विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण पाठों का विश्लेषण करते हैं। अध्याय २ में इस प्रकार के निम्न-लिखित दो पाठ मिलते हैं: पहला, ५७३ नंबर की " बाह्य टिप्पणी " (esoteric note) जो " Encyclopaedia of Philosophical Sciences" दूसरे प्रकाशन से लेकर) में पाया जा सकता है; दूसरा, वोन हुम्बोल्द, (von Humboldt) के भगद्गीता विषयक निबंध के विषय में हेगल की समीक्षा। उपर्युक्त टिप्पणी का विषय है दर्शन एवं धर्म का संबंध एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना और विशेष रूपसे एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करना जिसकी सहायता से सर्वेश्वरवादी दर्शन को पहचाना जा सकता है। इस उद्देश्य से हेगल भगवद्गीता के अनुसार श्रीकृष्ण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने " गीता के अनेक महत्त्वपूर्ण अध्यायों को ध्यानपूर्वक पढ़ा था " (पृ० ९३)। हेगल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गीता का दृष्टिकोण सर्वेश्वरवादी नहीं है। कारण, जो गीता में दो " समष्टियाँ " मिलती हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की और विश्व की, वे परस्पर विभिन्न ही हैं। किंतु, हेगल के अनुसार 'गीता के भगवान् में' " निरपेक्ष आत्मा का दार्शनिक रूप ' नहीं दिखाई देता है (पृ० ९३)। ब्रम्ह-प्रत्यय की भी यही अपूर्णता है। यह सच है कि ब्रम्ह-प्रत्यय श्रीकृष्ण की काव्यमय धारणा की अपेक्षा अधिक विकसित है, लेकिन ब्रम्ह को इसलिए निरपेक्ष आत्मा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि हेगल के अनुसार उनमें मानव और विश्व के मूर्त मूल्यों का समावेश नहीं किया गया है।

अध्याय ३ में हेगल की मरणोत्तर रचनाओंमें से लिये हुए कुछ पाठों का विश्लेषण किया गया है। यह सर्वज्ञात बात है कि इन रचनाओं में हेगल का कला-दर्शन, धर्म-दर्शन और इतिहास-दर्शन प्रतिपादित किया गया है। अपने धर्म-दर्शन के संदर्भ में हेगल भारतीय धर्म को " कल्पना के धर्म " (Religion of Fantasy) के गौण स्तर पर रखते हैं। वहाँ भी हेगल हिंदू धार्मिक भावना की प्रशंसा करते हैं और इसे उच्च भी मानते हैं। हेगल इसलिए हिंदू धर्म की कुछ उपेक्षा करने को बाध्य थे क्योंकि वह किसी भी संस्कृति के धर्म और दर्शन को उसके ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध मानते हैं। हेगल के युग में, अर्थात् १९ वीं शताब्दी में, भारत स्वाधी न राष्ट्र नहीं रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने अनुसंधान से लेखक इस मुख्य निष्कर्ष को निकालते हैं, अर्थात् कि हेगल भारतीय दर्शन पर 'परम प्रत्यय' (Absolute Idea) की अपनी धारणा आरोपित करते हैं। लेखक यह भी स्वीकार करते हैं कि हेगल द्वारा प्रस्तुत भारतीय दर्शन की व्याख्या सामान्य रूप से संगत ही है। भूमिका में लेखक ने इस बात के विषय में संदेह उठाया था कि हेगल का भारतीय दर्शन पर दृष्टिकोण तो असंगत नहीं है (पृ. २)। उसकी आलोचना करने पर भी स्वयं हेगल पर भारतीय दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा, विशेषकर कला, धर्म और दर्शन विषयक उनके चिंतन पर।

प्रस्तुत अध्ययन की एक उत्कृष्टता यह है कि लेखक बिलकुल वैज्ञानिक रीति से हेगल-पाठों का विश्लेषण करते हैं, अर्थात् इन्हें हेगल-दर्शन एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखते हैं। यद्यपि भारतीय दर्शन के प्रति हेगल का दृष्टिकोण काफी आलोचनात्मक है, लेखक हेगल के प्रति सदा निष्पक्ष रहते हैं। आज हमें हेगल की अपेक्षा भारतीय दर्शन विषयक बहुत अधिक जानकारी प्राप्त है; तो भारतीय दार्शनिकों का यह कर्तव्य है कि वे हेगल की अपेक्षा उसकी अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रतिपादित करें। यह सच है कि इस व्याख्या का अनिवार्य दृष्टिकोण हेगल-दर्शन का सन्दर्भ नहीं है; दूसरी ओर हेगल-दर्शन आज तक मूल्यवान् और अंतर्दृष्टि-सम्पन्न भी बना रहा है। हमारी इस भावी व्याख्या की पृष्ठभूमि को डॉ. वियागप्पा का शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करता है।

रांची

—योहान फाइस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

श्री ज्ञानेश्वरी (हिन्दी काव्यानुवाद) – रच. डॉ. सौ. उर्मिला जामदार; प्रका० – डॉ. सौ. उर्मिला जामदार, त्रिवेणी मॅटर्निटी होम, गोल बाजार, जबलपुर ४८२००२; पृ. २०+९०८; अजिल्द; मूल्य– १० रु.

श्री ज्ञानेश्वरी अथवा 'भावार्थ दीपिका' महाराष्ट्र के महान् संत श्री ज्ञानेश्वर महाराज (१३ वीं शती वि०) के द्वारा 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर लिखा गया ओवीबद्ध काव्यानुवाद मात्र नहीं है उस पर सुविस्तृत मौलिक काव्यरूप व्याख्या है। महाराज श्री ने अपने जीवन के २१ वर्ष के अल्पकाल में ही जो चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे उनमें 'भावार्थ दीपिका' अपने चिंतन, गहन अनुभव की अभिव्यक्ति और काव्यसौन्दर्य के कारण सन्तों, दार्शनिक तत्त्वज्ञों और काव्य-रसिकों, सभी के बीच समान रूप से समादृत रही है। इसकी इसी गरिमा के कारण इसका नाम 'ज्ञानेश्वरी' ही अधिक प्रसिद्ध हुआ। संत ज्ञानेश्वर जी की प्रतिभा का यह चरम विकास है, शिखर है। उनके अन्य ग्रन्थ हैं– अनुभवामृत, चांगदेव पासष्टि तथा हरिपाठ, जो भक्तों और ज्ञानियों के बीच आज तक आदर पाते आ रहे हैं। ज्ञानेश्वरी में एक साथ कर्म, ज्ञान, भक्ति और क्रियायोग का विशद व्याख्यानपूर्वक समाहार हुआ है। ऐसे महान् और अद्भुत ग्रन्थ का देश-विदेश की समस्त भाषाओं में अनुवाद होना उपयोगी होगा। डॉ. सौ. उर्मिला जामदार स्वयं एक तत्पर समाज-सेविका हैं और बहुमुखी सेवा-कार्य तथा सांस्कृतिक योजनाओं में व्यस्त हैं। प्रस्तुत अनुवाद उनके उसी कार्यकलाप का सहज परिणाम है। हिन्दी में उनके इस काव्यानुसाद के पूर्व १९७३ ई. में सन्त साहित्य सदन, मसूरी (उ. प्र.) से लगभग रायल आकार में १२०० पृष्ठों में श्री बाबुराव कुमठेकर कृत सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी का ओवीबद्ध काव्यानुवाद प्रकाशित हो चुका है। उसके पूर्व कुछ अन्य अनुवाद भी हिन्दी भाषा में हुए हैं।

निश्चय ही इतने बृहदाकार, तत्त्वज्ञान-विवेचन से पूर्ण और काव्यमय ग्रन्थ का किसी अन्य भाषा में काव्यानुवाद करना बड़ा ही निष्ठा और साहस का काम है। एक प्रकार से दुस्साध्य भी है। विशेषतः यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है जब मूल ग्रन्थ प्राचीन भाषा में हो और अनुवाद एक ऐसे छंद में किया जाय जिससे अनुवाद की भाषा का साहित्य और उसका साहित्यकार परिचित नहीं है। ऐसे समय उस छन्द के स्वास्थ्य के विषय में भी शंका बनी रहती है। इस बात को ध्यान में रखा जाय तो इन अनुवादों का सच्चा महत्त्व आँकने में सहायता मिल सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौ. जामदार ने उक्त अनुवाद में अभी मूल मराठी ज्ञानेश्वरी के मंगलाचरण, श्री सरस्वती तथा गुरुवन्दना, गीता महात्म्य और ६, ९ तथा १२ वें अध्याय एवं पसायदान अंश का ही अनुवाद किया है। भविष्य में सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी के अनुवाद को प्रस्तुत करने का उनका प्रयास है। प्रस्तुत अनुवाद महाराज साखरे द्वारा प्रणीत 'सार्थ सटीक ज्ञानेश्वरी' को आधार मानकर किया गया है। अनुवाद की शब्दावली को मूल का अनुगामी रखते हुए अनुवादिका ने बहुत से स्थानों पर मूल मराठी शब्दों का ही प्रयोग कर दिया है। ऐसे प्रयोगों का हिन्दी में प्रचलन न होने के कारण पाठक को अर्थ ग्रहण और सहज आस्वाद में कठिनाई का अनुभव होता है। अर्थबोध के लिए, इसीलिए, आवश्यक टिप्पणियाँ दी गयी हैं। मराठी के मूल शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अनुवादिका की एक कठिनाई हिन्दी भाषाधिकार की भी है। खड़ी बोली का स्वभाव ओवी जैसे बन्धे हुए छन्द में अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त नहीं हो पाता; अतएव अनेक बार अनुवाद में ब्रजभाषा जैसे रूपों को ग्रहण करने की आवश्यकता हुई है। एक ही वाक्य में खड़ी और ब्रजी का मेल अटपटा-सा लगता है। कहत, भजिजे, होइजे, सन्तोषत, अलंकारत, तहाँ जैसे प्रयोग इसी स्थिति के सूचक हैं और मूल शब्दों के रूप जिव्हार, सखोल, राणीव, कोंम जैसे शब्द प्रयोगों में दिखायी देते हैं। इनमें से बहुत-सों को हिन्दी शब्दों में व्यक्त करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी। अनुवाद में सीधे-सादे अकारांत शब्दों का ऊकारांत रूप में प्रस्तुत कर देने से भी भाषा की सहजता को हानि पहुँची है। यथा, सागरू, अत्यादरू, आधारू साधारु आदि। लाघव के अनुरोध से 'वन्दी' (वन्दना की) और देखा (देखें) जैसे प्रयोग भी आ गये हैं। यद्यपि मूल के अर्थ की स्पष्टता में अनुवाद सहायक है और कई बार मूल हिन्दी के प्रयोग बड़े अर्थ-व्यंजक रूप में प्रस्तुत हुए हैं, तथापि कुछ ऐसे स्थल भी रह गये हैं या तो मूल के अर्थ या भाव से हट गये हैं या अधिक स्पष्टता की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरण के लिए मंगलाचरण के छन्द सं. ४ में 'स्मृति-रूपी' के स्थान पर 'स्मृति एवं,' 'लावण्य की खान' के स्थान पर 'लावण्य लाघव' पद का प्रयोग यथार्थ को वहन नहीं करता। मिलाइये,

स्मृति एवं अवयव। देखो आंगिक भाव। पूर्ण लावण्य लाघव। अर्थ शोभा ॥४॥ (हिन्दी)

० ० ०

स्मृती तेचि अवयव। देखा आंगीक भाव। तेथ लावण्याची ठेव। अर्थ शोभा॥ (मराठी) इसी प्रकार छन्द सं. ६ में मराठी से सीधे 'पदबंध नागर' पद का प्रयोग कर दिया गया है। 'नागर' शब्द सुन्दरार्थक मानकर प्रयुक्त है जब कि हिन्दी में उसका यह अर्थ गृहीत नहीं है। अस्तु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. जामदार के इस अनुवाद के द्वारा हिन्दी पाठकों को ज्ञानेश्वरी के ज्ञान का एक अलभ्य लाभ प्राप्त होगा और वे मूल मराठी ज्ञानेश्वरी के समीप पहुंचने का आनंद लाभ भी करेंगे। इस दुहरे लाभ और, अनुवाद की कठिनाई होनेपर भी, यथासम्भव अर्थ पर अनुवाद करने के लिए सौ. जामदार बधाई की पात्र हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में वे सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी का अनुवाद और अच्छे रूप में प्रस्तुत कर सकेंगी।

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

–आनन्दप्रकाश दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

डॉ. सीताराम झा, **भारतीय समाज का स्वरूप**, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, १९७४, पृष्ठ २०४, मूल्य ८-०० रुपये.

देश में स्वातन्त्र्योत्तर काल से जहाँ शिक्षा के व्यापक प्रसार की आयोजनाऐं क्रियान्वित की गई हैं, वहीं राष्ट्रीय पुनर्जागरण के सन्दर्भ में विश्वविद्यालयों सहित शिक्षा के सभी स्तरों पर भारतीय भाषाओं के प्रति आग्रह बढ़ा है। सहजता और सुगमता के साथ २ अभिव्यक्ति की प्रभावपूर्णता व स्वत:स्फूर्तता से माध्यम के रूप में मातृभाषाओं का प्रचलन दिन-प्रतिदिन विकसित हो रहा है। किन्तु स्वभाविक है कि उत्क्रांति के वर्तमान प्रथम चरण में भारतीय भाषाओं में लिखे गये मौलिक साहित्य का कोष बहुत कम है। विश्वविद्यालयों के स्तर पर और विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार का अभाव विशेष है। भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ. झा की एक ऐसी ही कृति है जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ का महत्व विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए है।

प्रस्तुत पुस्तक का केन्द्र संस्कृति, भाषा और कला के साथ भारतीय समाज व्यवस्था की गवेषणात्मक विवेचना है। समाज व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण, जाति, आश्रम, पारिवारिक, सामाजिक, राज्य और आर्थिक संगठन तथा धर्म सम्मिलित हैं। विस्तृत शोध के माध्यम से लेखक ने भारतीय संस्थाओं के मूल, विकास तथा स्वरूप को प्रदर्शित किया है। मूल को प्राप्त करने के निमित्त लेखक ने यत्र-तत्र भाषा वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। इस प्रकार से साहित्य और समाज-विज्ञान को जोड़नेवाला लेखक का प्रयास, हिन्दी भाषा में समाज-विज्ञान के मौलिक लेखन में एक महत्वपूर्ण योगदान है। यह ग्रन्थ साहित्य तथा समाज-विज्ञान के अध्येताओं और अनुसंधाताओं के लिए एक उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है।

लेखक के अनुसार भारतीय सामाजिक विचारधारा का विश्लेषण तीन रूपों में किया जा सकता है-

१. भारतीयतावादी
२. भारतीयता-विरोधवादी और
३. सामंजस्यवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ओर जहाँ भारतीयतावाद पारम्परिक शुद्धतावादी दृष्टिकोण के पूर्ण-रूपेण अनुसरण के प्रति आग्रही है, भारतीयताविरोधवाद वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास के परिप्रेक्ष्य में परम्पराओं को पूर्णतः विच्छिन्न कर देता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, गांधी और अरविन्द के आन्दोलन समन्वयवादी हैं जो प्राचीन और नवीन में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास हैं।

हिन्दी के मौलिक लेखन के रूप में 'भारतीय समाज का स्वरूप' एक उत्कृष्ट रचना है जो लेखक के विशाल अध्ययन और परिश्रम का प्रयास है। ग्रन्थ की भाषा विशेष रूप से सराहनीय है। भाषा संस्कृतनिष्ठ, सुन्दर और प्रवाहपूर्ण है। समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के प्रस्तुतीकरण में भी भाषा ताजी, सहज और स्वभाविक रूप से आती है। लेखक ने अपने सामाजिक दर्शन की रचना में पुरातन भारतीय साहित्य, वेद, पुराण, मनुस्मृति आदि तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य दोनों से लाभ उठाया है। इससे वेदों, पुराणों, रामचरितमानस......और आधुनिक समाजशास्त्रियों, दुर्खीम, मार्क्स, घुर्ये, कर्वे .. .. आदि के सन्दर्भ साथ-२ चलते दीखते हैं।

तदापि सामाजिक परिवर्तन प्रस्तुत पुस्तक का एक कमजोर पक्ष है। वेद-कालीन भारतीय समाज से आधुनिक भारतीय समाज तक के परिवर्तन के कारणों और स्वरूप पर लेखक कोई प्रकाश नहीं डाल पाता। साथ ही ऐतिहासिक सन्दर्भ में विदेशियों के आक्रमणों, आगमन, मिश्रण से जनित सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख भी पुस्तक में नहीं है। भारत में रहनेवाले गैर हिन्दू समाज के वर्णन को अधूरा छोड़ देती है। वर्तमान भारत की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए 'वेस्टर्नाइजेसन' तथा 'संस्कृताइजेसन' दो महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रियायें हैं। लेखक ने इसका कहीं भी जिक्र नहीं किया है। अनेक स्थानों पर लेखक का रवैया पक्षपातपूर्ण और प्रतिक्रियावादी है। उदाहरणार्थ 'वर्ण' के सम्बन्ध में लिखते हुए लेखक का कथन है–

...वैसे आधुनिक काल में अध्ययन सभी वर्णों के लोगों द्वारा होने लगा है, पर इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मण जिस तीव्रता और शुद्धता से विद्या पढ़ाता है और उसमें निपुणता प्राप्त करता है, वह अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो पाता। यही कारण है कि आज विद्या के बदले अविद्या का ही अधिक प्रचार-प्रसार हो रहा है। फिर भी अपनी साधना और योग्यता के आधार पर ब्राह्मण का स्थान तो आज भी सर्वोपरि है ही (पृ० ११)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र-तत्र पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण जो मूल अंग्रेजी में, बिना उनके अनुवाद के, दिये गये हैं, खटकते हैं। हिन्दी माध्यम के विद्यार्थी के लिए उनका अनुवाद तो अपेक्षित है ही।

पुस्तक का मूल्य (८–०० रु.) काफी कम है जिससे विश्वविद्यालय के छात्र खरीद सकते है।

– ए. के. शर्मा

आई. आई. टी.
कानपुर (उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२४) **डॉ. मीना केळकर**
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-७.

२५) **श्री. शारदाप्रसाद द्विवेदी**
हिन्दी साहित्य संसद्
मिमानी स्ट्रीट, बम्बई-४०००१९.

२६) **डॉ. शारदाप्रसाद शर्मा**
शर्मा सदन
लक्ष्मीनारायण लेन, माटुँगा (पूर्व)
बम्बई-४०४०१९

२७) **डॉ. कामिल बुल्के**
मनरेसा हाऊस
पो. बॉक्स् २, रांची-८३४००१

२८) **डॉ. नितीन जे. व्यास**
पेन्टर तानाजी लेन
सिद्धनाथ रोड, मार्केट के पीछे
वडोदरा-३९०००१

२९) **डॉ. नन्दकिशोर आचार्य**
सुथारों की बड़ी गुवाड
बीकानेर (राजस्थान)

साभार अभिस्वीकृति

युवाचार्य महाप्रज्ञ; **सम्बोधि**; जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज.) १९८१; पृ. ३०+४६०; सजिल्द,वरुपये ६०-००

अमरसिंह सपट 'अमर'; **मंजु**; गोपाल पोहेकर, मानव मन्दिर रोड, बम्बई, १९८१; पृ. ६५

हसमुख पारेख; **हीरा के प्रति**; वोरा अैण्ड कंपनी पब्लिशर्स, बम्बई, ४००००२; १९८१; पृ. १४+२१८; सजिल्द, रुपये २५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'परामर्श' (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण

फॉर्म 4 (नियम 8 देखिए)

१. प्रकाशन स्थान	: दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७
२. प्रकाशन अवधि	: त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे : दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७ भारतीय
६. उन व्यक्तियों। संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों।	: दर्शन और हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

–सुरेन्द्र बारलिंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

538
26-6-01
DAV College
Dehradun

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ३ अंक ३
जून १९८२

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका ❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बार्लिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त सिनारी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा जैन संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के. जे. शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानंद मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फाईस ❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

❋ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रक़म में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान केन्द्र,
सिक पत्रिका
त
शारदा जैन
कर ॐ के. जे.
. सी. नायक
सुमन गुप्ता
संपर्क करें :
श्वविद्यालय,
ी-४११००७
भर के भीतर
गा।
में दिया

न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शनों की दृष्टि में 'प्रवृत्ति'

(१)

भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता की उपलब्धि तथा परिपुष्टि साधन में नैतिकता की गुरुत्वपूर्ण भूमिका है। सत्यानुसन्धान की अन्तर्दृष्टि एवं नैतिक जीवन एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दार्शनिक तत्त्वानुसन्धान तथा नैतिक साधना में कोई विरोध नहीं है। नैतिक जीवन के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है। और चित्तशुद्धि के लिए विषयगत कर्तव्य कर्म के साथ विषयीगत (व्यक्तिगत) मनस्तात्त्विक-नैतिकता की भी आवश्यकता है। कर्तव्य में 'प्रवृत्ति' विषयक आलोचना से नीतिशास्त्र का मनस्तात्त्विक प्रयोजन स्पष्ट होता है।

(२)

न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रवृत्ति का मनस्तात्त्विक विश्लेषण सूक्ष्मरूप से किया गया है। नैयायिकों ने अपनी सुविधा और असुविधा का विचार करके आत्मकेन्द्रित दृष्टि से कर्तव्य कर्म का विवेचन किया है। इसलिए उनकी दृष्टि विषयीगत है। आत्मधर्म प्रयत्न को उन्होंने प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवनयोनि प्रयत्न के भेद से तीन वर्गों में विभक्त किया है। इष्टसाधनता के ज्ञान से प्रवृत्ति और अनिष्टसाधनता के ज्ञान से निवृत्ति होती है। इसलिए प्रवृत्ति क्रियात्मक इच्छा है, जिसके अनुसार इष्ट का चुनाव किया जाता है। निवृत्ति निषेधात्मक क्रिया है, जिसके द्वारा अनिष्ट का परित्याग किया जाता है। जीवनयोनि प्रयत्न स्वतः प्रत्येक जीव में जीवन पर्यन्त चलता रहता है। यह प्रयत्न जीवन के स्वाभाविक प्राणसंचार का जनक होने से केवल इन्द्रिय घटित साधारण कर्म से सम्बन्ध रखता है।[1] अतः यह स्वेच्छाधीन प्रयत्न नहीं है। मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के इसमें काम न करने से ऐसी क्रिया में नैतिक दायित्व भी कम हो जाता है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायमत के अनुसार इच्छा-द्वेष से प्रेरित प्रवृत्ति और निवृत्ति ही स्वेच्छाधीन प्रयत्न है। क्योंकि शरीर विधारण के साथ इनमें हितप्राप्ति और अहितपरिहार जैसे निश्चित लक्ष्य के प्रकट होने से इनका सम्बन्ध मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं से है, जिन्हें वह जानबूझ कर निर्णय करके करता है। इच्छा में स्वातंत्र्य का बोध नैतिक दायित्व की दृष्टि से सब से अधिक महत्व का है। न्यायमत में इष्ट साधनता ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति होती है और इच्छा से प्रवृत्ति होती है। इसलिए, इच्छा मानसिक शक्ति है। प्रवृत्ति की उत्पत्ति में पहले सुखादि फल के ज्ञान से फल की इच्छा होती है। तब उसके उपाय में इष्ट साधनता का ज्ञान होता है। उसके बाद उपाय में इच्छा या 'चिकीर्षा' होते हुए उसमें प्रवृत्ति या 'कृति' आ जाती है। चिकीर्षा किसी कार्य सम्पन्न करने की वह इच्छा है जिसके बारे में यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है कि उसे किया जा सकता है। न्याय की परिभाषा में इसको 'कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिनीच्छा' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि चिकीर्षा वह इच्छा है जिसका प्रकार (रूप) स्वेच्छा से किया जानेवाले कार्य द्वारा स्थिर होता है। प्रवृत्ति से शारीरिक चेष्टा होने के कारण न्यायदर्शन में प्रवृत्ति धर्माधर्म की जननी, शरीर-इन्द्रिय और मन की शुभाशुभचेष्टा जैसी है ?[२] अपने हित-अहित से युक्त होने से वह कर्तव्य कर्म है और इसलिए वह नैतिक कर्म भी होता है।

नैयायिकों ने वेदविहितकर्म को नैतिक कर्म माना है। नैतिक कर्म होने के कारण वह भी स्वेच्छाधीन है। इसलिए विधिवाक्य सुनने पर तुरंत प्रवृत्ति नहीं होती। पहले हित-अहित प्राप्ति परिहार आदि फल का विचार आता है। और तब प्रवृत्ति होती है। नहीं तो धर्माधर्म का विवेक निश्चय करना कठिन हो जाता है।[3] भले और बुरे के ग्रहण और त्याग की चेष्टा से कर्तव्य निर्णय होने के कारण परप्रेरणाजन्य प्रवृत्ति में भी अपनी प्रीति की तरह स्वार्थ सम्भावना प्रकट होती है।[४] न्यायमतानुसार, विफल कर्म के अनुष्ठान में कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए यह कहना यथार्थ है कि न्यायमत में फल का ही प्रेरकत्व है, आदेश या विधी का नहीं[५]। वेद मेरे इष्ट के साधन हैं इस युक्ति से नैयायिकों ने वेद विधि को स्वीकार किया और स्वर्गादि फल का ज्ञापक होने से विधिवाक्य की प्रयोजनीयता मानी है।

न्यायमत के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि नैयायिकों ने 'चिकीर्षा' (करने की इच्छा) कृतिसाध्यताज्ञान (यह मेरे द्वारा सम्पादन करने योग्य है इसका ज्ञान) इष्टसाधनताज्ञान (यह मेरे अभिमत लक्ष्य पर पहुँचाने वाला है इसका ज्ञान) और उपादान के प्रत्यक्ष को प्रवृत्ति के चार हेतु माने हैं[६]। ये सब ही प्रवृत्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अपरिहार्य हैं। इसलिए जहाँ 'कृतिसाध्यताज्ञान' नहीं रहता है वहाँ चिकीर्षा और इष्टसाधनता ज्ञान रहते हुए भी प्रवृत्ति का बोध होता है। और विफल कर्म में चिकीर्षा और कृतिसाध्यताज्ञान होने पर भी इष्टसाधनताज्ञान के अभाव से प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि इष्टसाधनताज्ञान को नैयायिकों ने बलवदनिष्ट की अननुबन्धि बताया है। इसका अर्थ यह है कि इष्टसाधनताज्ञान से प्रबलतर बुराई या विपत्ति का जनक कोई ज्ञान न रहे।

प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार साध्यता और साधनता का एक साथ एक वस्तु में रहना असंभव होने के कारण इष्टसाधनताज्ञान से उत्पन्न 'कार्यताज्ञान' या 'कृतिसाध्यताज्ञान' प्रवृत्ति का हेतु होता है। यहाँ कालभेद होने से दोनों की साध्यता और साधनता सम्भव है। लेकिन न्यायमत में इसका समर्थन नहीं है। उनके मत से साध्यत्व और साधनत्व के एक ही काल में एक ही वस्तु में रहने में कठिनाई होते हुए यद्यपि कालभेद को स्वीकार करना है, फिर भिन्न भिन्न काल में उनका रहना सम्भव होने से उनका ज्ञान एक ही समय में हो सकता है। इसलिए प्रबलतरविपत्ति का अजनक इष्टसाधनता विषयक कृतिसाध्यताज्ञान को नैयायिकों ने प्रवृत्ति का हेतु माना है, जो लाघव ही है।[7] प्रकृतस्थल में, चिकीर्षा आदि सब हेतु के मूल में ही इष्टसाधनताज्ञान पाया जाता है। जिसका अर्थ 'इदानीन्तन' या इस काल की सापेक्षता में समझना है। क्योंकि जहाँ उस समय की इष्टसाधनता नहीं है वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं होती।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि हर काम में इष्टसाधनता बुद्धि रहने से जिसका करना नैतिकदृष्टि से अपराध माना गया है, उसमें कैसे प्रवृत्ति होती है? न्यायमतानुसार अनैतिक कर्म में भी स्वाभाविक अनिष्टसाधनताज्ञान अन्तर्हित हो कर समयानुकूल इष्टसाधनता प्रकट होती है।

न्यायमत में, इष्टसाधनताज्ञान को प्रवर्तक मानने से, वेदविधि में भी इष्टसाधनताज्ञान से प्रवृत्ति होती है।[8] इसलिए वहाँ फल का उल्लेख नहीं हुआ, वहाँ भी 'विश्वजित न्याय' से स्वर्गादि फल की कल्पना की गयी है। नित्य कर्म में भी फल की कामना को स्वीकार करना है, नहीं तो इष्टसाधनताज्ञान के अभाव से प्रवृत्ति की उत्पत्ति बाधित होती है। इसलिए नित्यकर्म में अर्थवाद-वाक्य के फल को रात्रिसत्र न्याय से फल समझना है। 'न कलंजे भक्षयेत्' आदि निषेध स्थलों में इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यता की विध्यर्थता बाधित होती है। क्योंकि, कलंज-भक्षण तृप्ति रूप्र में इष्ट का साधन होने से उसका निषेध बाधित होता है। प्राचीन न्यायमत में, इसलिए इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व और बलवदनिष्ट के अननुबन्धित्व में अलग अलग शक्ति स्वीकार की गयी है। और आवश्यकतानुसार उनमें से किसी को विध्यर्थ माना गया है।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदयनाचार्य के मत में आप्त का अभिप्राय विध्यर्थ है।[१०] यद्यपि 'आद्य प्रवृत्तिरिच्छैव' इस नियम के अनुसार इच्छा ही आदि प्रवृत्ति है, लेकिन विध्यर्थ निर्णय में विधिजन्य ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और यह प्रवृत्ति कृति रूप है। कृति इच्छा (चिकीर्षा) से होती है और जिससे वह इच्छा होती है वह ज्ञान है। क्योंकि 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह मेरा इष्टसाधन है और 'इदंमत्कृतिसाध्यम्' यह मेरी कृति से साध्य है – इस प्रकार का ज्ञान चिकीर्षा को उत्पन्न करता है। इस ज्ञान का विषय इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व ही प्राचीन मत में विध्यर्थ है। और उदयनाचार्य के मतानुसार इष्टसाधनता का अनुमापक आप्ताभिप्राय विध्यर्थ है (न्या. कु. ५/६)। प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में वक्ता का अभिप्राय लिंगादि विधि प्रत्ययों से अभिधेय होता है। आप्ताभिप्राय से यागादि प्रवृत्ति विषय में याग करने वाले की इष्टसाधनता अनुमेय है।

वस्तुत: इच्छा और अभिप्राय समानार्थक है। इच्छा के मूल में इष्टसाधनता ज्ञान है और आप्ताभिप्राय इष्टसाधनता का अनुमापक है। इसलिए आप्त के अभिप्राय को विध्यर्थ कहना और इष्टसाधनता को विध्यर्थ कहना सम्पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। केवल विशेषता यही है कि इष्टसाधनताज्ञान अन्वय और व्यतिरेक से प्रवृत्ति के प्रति साक्षात् कारण है और आप्ताभिप्राय परंपरा संबंध से कारण है। फिर, आप्ताभिप्राय को विध्यर्थ मानने से कुछ विपत्तियां प्रकट होती हैं। संसार में जितने कार्य होते हैं वे सब ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं, इसलिए ईश्वर की इच्छा के सर्व विषय होने से निषेधस्थलों में आप्ताभिप्रायरूप ईश्वरेच्छा की विध्यर्थता का बाध हो जाता है। और बलवदनिष्ट की अननुबंधित इच्छा को वाच्यार्थ मानने में गौरव होगा। इसलिए इष्टसाधनता को विध्यर्थ मानना ही अधिक अच्छा है।[११]

न्यायमत की पर्यालोचना से यह स्पष्ट है आत्मकेन्द्रित दृष्टि से कर्तव्य का विचार होने से प्रवृत्ति में फल की ही कारणता है। केवल श्रेय:साधन होने से किसी को प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई विषय श्रेय का साधन होते हुए भी जब प्रार्थित नहीं होता तब उसमें प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। मीमांसा में प्रार्थित होने पर भी अनिश्चित विषय में प्रवृत्ति बाधित होते हुए श्रेय:साधनत्व का ज्ञान प्रवर्तक होता है। न्यायमत में जहां श्रेय:साधनता का ज्ञान और फल की इच्छा एक साथ होती है वहां इच्छा को ही प्रवर्तक मानना है। कारण इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस इच्छा का कार्य प्रत्यय या प्रवृत्ति है। अत: विषय के ग्रहण में श्रेय:साधनता कारण होने पर भी प्रवृत्ति में कारण नहीं होती। न्यायमत में विधि अपनी महिमा से प्रेरक नहीं बनती और साध्य साधन संबंध के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवबोध से उसके प्रवर्तकत्व किया जाने से वस्तुतः फल को ही प्रवर्तक माना जा सकता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन का यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद से मिलता जुलता है, जिसके अनुसार कर्तव्य को कर्ता के स्वार्थ (इष्ट) से अलग नहीं किया जा सकता है। और यह स्वार्थ मानव जीवन के परमार्थ के समकक्ष हो सकता है।

(३)

पूर्वमीमांसा दर्शन में कर्तव्यकर्म का विवेचन विधिकेन्द्रित है। यहां अपनी सुविधा या असुविधा का कोई भी प्रसंग नहीं है, इसलिए मीमांसा मत विषयगत है। कर्तव्य कर्म पर सर्वाधिक गुरुत्व देते हुए उन्होंने प्रवृत्ति का विचार किया है। भाट्टमत में भी प्रतिपादित हुआ है कि मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, कभी स्वेच्छा से और कभी परप्रेरणा से।[12] स्वेच्छाजन्या प्रवृत्ति में इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का जनक होता है। इसको नैतिक कर्म नहीं कहा जा सकता। मीमांसा की दृष्टि में केवल वैदिक कर्म ही नैतिक कर्म है, जिसमें परप्रेरणाजन्या प्रवृत्ति होते हुए प्रवर्तना ज्ञान प्रवर्तक होती है। वैदिक कर्म को उन्होंने इष्ट का साधन जैसे करणीय नहीं माना, परन्तु उसको अवश्य कर्तव्य रूप में निर्देशित किया है।

'प्रवर्तना' प्रवृत्त करनेवाले पुरुष में स्थित व्यापार विशेष को कहते हैं। इसलिए वह प्रवृत्ति का विषय है। इसका दूसरा नाम है 'शाब्दीभावना'। अभिधायकत्व संबंध से वह शब्दनिष्ठ है और उसका शक्तिग्रह विधि-नियंत्रण आदि अनुशासन से होता है। जहां चेतन पुरुष प्रवर्तक होता है वहां उसमें स्थित इच्छा प्रवर्तना के रूप मे दिखाई पड़ती है। अपौरुषेय वैदिक वाक्य में कोई वक्ता न होने से ही अचेतन शब्दनिष्ठ 'अभिधा' के रूप में प्रवर्तना रहती है। इसलिए, आचार्य के अनुशासन से जैसे शिष्य की प्रवृत्ति होती है, उस तरह 'अभिधा' के ज्ञान से वेदविधि में प्रवृत्ति होती है। मीमांसा परिभाषा में इसको 'भावना' कहा जाता है। भाट्टमत में विधि से उसी भावना की सूचना होने से भावनात्मक विधि प्रवर्तक है।

'भावना' का अर्थ जो उत्पन्न होनेवाला है उसकी उत्पत्ति के लिए उत्पादन करनेवाले पुरुष का व्यापार या प्रयत्न है।[13] इसलिए पुरुष की क्रिया मात्र 'भावना' नहीं। परन्तु प्रत्ययों से प्रतीयमान समयानुसार आगे और पीछे अनुष्ठित यागादिकर्म से भिन्न पुरुष का प्रयत्न ही केवल 'भावना' है। कुमारिल भट्ट ने भावना के दो भेद माने हैं, जिसको 'शब्दभावना' और 'अर्थभावना' नाम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं। शब्दभावना पुरुष को प्रेरणा देनेवाला विधि होते हुए शब्दनिष्ठ प्रयोजक व्यापार है, जिसमें प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार में शक्ति है। 'अर्थभावना' पुरुष की प्रवृत्ति है, जिसको शब्दभावना का साध्य माना गया है। यागादि कर्म से स्वर्गादि फल प्राप्त होता है। यागकर्ता याग से उस फल की उत्पत्ति का अनुकूल व्यापार करता है, नहीं तो फल की उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिए फल की उत्पत्ति के अनुकूल पुरुष-व्यापार को अर्थभावना कहते हैं। विधि वाक्य सुनने पर 'यागादि कर्म का अनुष्ठान करना कर्तव्य है' इस बोध के साथ यागादि कर्म में 'मै प्रेरित हुआ हूं' यह बोध भी होता है।

दोनों भावना में एक है पुरुष का बाहर का व्यापार, दूसरा अन्तर का। शब्द व्यापार पुरुष व्यापार को प्रेरित करता है। अतः विधिवाक्य सुनने के बाद यज्ञादि कर्म का अनुष्ठाता, अनुष्ठान करनेवाला, कर्म की प्रशस्तता जानकर लिंगादि प्रत्यय के ज्ञान से यागादि कर्म को कर्तव्य रूप से ग्रहण कर के यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है और उनसे प्रयाज आदि अंगयाग को उपाय कर के यागादि करण से फल के उत्पादन में कोशिश की जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि भाट्टमीमांसक ने अभीष्ट फल के लिए भावनातत्त्व को स्वीकार किया है। भावना से जो फल सम्पादित होता है वह यागकर्ता के इष्ट का सहायक होता है। इस मत की विशेषता यह है कि फल से अभिप्राय का निर्धारण होने से विधि के प्रेरकत्व का फल नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। कर्म का ज्ञान कर्ता के इष्ट का साधन होते हुए कर्म का प्रेरक बनता है। इसलिए जो इष्ट के अनुकूल होता है उसका ही अनुष्ठान करना है। फल कर्म का प्रवर्तक होते हुए भी विधेय न होने से विधि फलशून्य होता है। फल को छोड़ कर विधि अपने ही प्रेरणात्मक होता है।

न्यायमत के साथ भाट्टमत का भेद यह है कि न्यायमत में फल की धारणा के विना विधि प्रवर्तित नहीं हो सकता है। और इष्ट अनिष्ट का भेद अर्थहीन हो जाता है। फिर भाट्टमत में फल की धारणा होने से भी फल-विधि के साथ नैतिक भाव से युक्त नहीं रहता है। अधिक तो न्याय मत में इष्ट के रूप में फल विधि का विषयगत सामर्थ्य निर्दिष्ट किया जाता है, लेकिन कर्ता की कामना के बारे में कुछ नहीं बताया। भाट्टमत में कर्म के मनस्तात्त्विक अभिप्राय के रूप में फल रहता है। कर्ता में उसकी कर्तव्यविधायकता तथा क्षमता के बारे में कुछ नहीं बताया। कर्ता की कामना पर निर्भर करते हुए विधि पुरुष को अपने अधिकार में ले जाता है। क्योंकि स्वर्गादि फ़ल की कामना करने से ही विधि का प्रयोजन सिद्ध होता है। विशेष यह है कि यहां भी विधि की कर्तव्य-विधायकता फल पर निर्भर नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। नित्य-नैमित्तिक कर्म में प्रत्यवाय (पाप) के अभाव के रूप में फलकामना की जाती है। इस कर्म में मनुष्य सारी जिन्दगी भर नियुक्त होते हुए भी फल के लिए नहीं रहता है। परन्तु, नियुक्त पुरुष होने के कारण वह कर्म कर जाता है। इसलिए नित्य-नैमित्तिक कर्म में फल कर्तव्यविधायक न होकर अनुष्ठान करने वाले का अभिप्राय बन कर रहता है। अतः भाट्टसिद्धान्त के अनुसार फल के विना विधि के नहीं रहने से भी फल से वह प्रेरकत्व तथा अनुज्ञाबोधकत्व नहीं पाया जाता है। विधि की प्रेरणा फलनिरपेक्ष होने से उसकी क्षमता स्वतः और स्वनिर्भर होती है। फल विधि में अनुषंगिक विषय है। विधि का मुख्य व्यापार कर्तव्यविधायकता ही है।[१४]

भाट्टमत की तरह प्रभाकर मीमांसा में फलकल्पना नहीं है। कोई भी उद्देश्य तथा फल के विना 'कार्यताज्ञान' 'प्रेरणा' अथवा 'नियोग' से ही प्रवृत्ति होती है।

प्रभाकरमत में कार्यताज्ञान (इस बात की चेतना कि कुछ करना है) चिकीर्षा के साथ सहकारी कारण बन कर मनुष्य में प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। प्रवृत्ति से चेष्टा (कार्य के लिए प्रयास) और चेष्टा से क्रिया (वास्तविक कार्य) की उत्पत्ति होती है। अतः प्रवृत्ति के धारावाहिक क्रम में पहले कार्यता-ज्ञान होता है। उसके बाद 'कृतिसाध्यताज्ञान' होता है। यह मेरी कृति (प्रयत्न) से साध्य है इसको जानने से कार्य करने की इच्छा (चिकीर्षा) होती है। उसके बाद प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से शारीरिक चेष्टा होने के बाद वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति होती है।[१५]

विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रभाकर कथित 'कार्यताज्ञान' और 'कृतिसाध्यताज्ञान' समानार्थक है। कृतिसाध्यताज्ञान से चिकीर्षा की उत्पत्ति होती है। याग करनेवाला जब तक कार्य की धारणा के साथ अपने को अभिन्न नहीं समझता है तबतक कर्मानुष्ठान की इच्छा भी नहीं हो सकती। इसलिए कृतिसाध्यताज्ञान चिकीर्षा में और चिकीर्षा के द्वारा प्रवृत्ति में हेतु बन जाता है। प्रभाकर के मत में सब प्रवृत्ति में कार्यताज्ञान अनुगत रहता है, लेकिन इष्टसाधनता ज्ञान कभी भी नहीं रहता। इसलिए कार्यताज्ञान को प्रवृत्ति का हेतु समझना लाघव है।[१६] इष्टसाधनताज्ञान को हेतु मानने से कृति की असाध्य कर्म में भी इष्टसाधनता रहने से प्रवृत्ति हो जायगी।

प्रभाकर के मत में कृतिसाध्य जो कोई कर्म होता है उसमें ही प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए जहाँ तक कार्यताज्ञान का संबंध है, वहाँ 'यह कुछ करना है' केवल चेतना नहीं है, किन्तु कार्य के प्रतिसन्धान और कर्ता के तादात्म्य (स्व-विशेषण)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उत्पन्न चेतना है। केवल चेतना सूचना मात्र है। इससे यह आवश्यक नहीं कि सूचना प्राप्त मनुष्य ही कार्य में प्रवृत्त हो जाय। जब साध्य कार्य के साथ कर्ता का तादात्म्य होता है, तब कार्यताज्ञान प्रेरक हो जाता है। जिससे इच्छा और चुनाव उत्पन्न होते हैं। कर्म करनेवाला पुरुष जब कर्म, चेतना तथा धारणा का अपने व्यवहार में प्रयोग करता है तब काम्यकर्म में कामना और नित्य-नैमित्तिक कर्म में शौचादि पुरुष का स्वाभिमत धर्म (स्वविशेषण) बन जाते हैं। इन कामना और शौचादि के संबंधज्ञान से उत्पन्न निश्चित कार्यताज्ञान को प्रभाकर ने 'स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धानजन्य कार्यताज्ञान' कह कर प्रवृत्ति का हेतु बताया है। १७

न्यायमत में यद्यपि बलवदनिष्ट का अननुबन्धि इष्टसाधन विषयक कार्यता-ज्ञान की कल्पना हुई है, परन्तु प्रभाकर ने केवल स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धान जन्य कार्यताज्ञान को हेतु माना है। पुरुष का विशेषण होनेवाली कामना से ही बलवदनिष्ट की अननुबन्धि इष्टसाधनता ज्ञान के द्वारा कार्यताज्ञान का अनुमान हो कर प्रवृत्ति हो जाती है।

कार्यता-ज्ञान दो प्रकार का होता है। (मया इदं कर्तुं शक्यते) मुझसे यह किया जा सकता है, यह एक रूप का ज्ञान है। (मया इदं अवश्यं कर्तव्यम्) यह मुझसे अवश्य किया जाना चाहिए, यह कार्य का दूसरा रूप है। १८ भाट्टमत में पहला ज्ञान 'पदार्थनिष्ठ योग्यता' का ज्ञान है, प्रवृत्ति के लिए कारण नहीं। दूसरा ज्ञान अपने इष्टसाधनत्व और बलवदनिष्ट का अननुबन्धित्व के ज्ञान से उत्पन्न होने से चिकीर्षा के द्वारा प्रवृत्ति का कारण है। प्रभाकर के मत में पहला ज्ञान कृति-साध्यता ज्ञान से अभिन्न है और कृतिसाध्यताज्ञान चिकीर्षा के अन्तर्गत होने से प्रवृत्ति का हेतु बन सकता है। प्रभाकर जब द्वितीय ज्ञान का ग्रहण करता है तब इष्टसाधनता आदि ज्ञान के बिना ही अवश्य कर्तव्य अर्थ प्रकट होता है। चिकीर्षा से प्रवृत्ति होने से इष्टसाधनता की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ पुरुष विशेषण रूप में कार्यता ज्ञान को हेतु मानने से यह स्पष्ट है कि प्रवृत्ति का यथार्थ अभिप्राय तथा उद्देश्य सुख जैसे बाहर का कुछ नहीं है, लेकिन कुछ करने से सम्पर्कित पुरुष के लिए ही प्रवृत्ति होती है और तब नित्यनैमित्तिक तथा काम्य कर्म से भी श्रेयः की प्राप्ति होती है। नित्यनैमित्तिक कर्म में यद्यपि करनेवाले का सुख तथा फलेच्छा की आवश्यकता नहीं परन्तु काम्य कर्म में वह अत्यावश्यक कारण होता है। प्रभाकर के सिद्धान्त में काम्यकर्म का भी असली उद्देश बाहर के सुख के लिए द्रष्टार्थविषयक कामना नहीं परन्तु इच्छा से अभिन्न या विशेषित स्वयं पुरुष को प्रतिपादन करना ही मुख्य उद्देश्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्ति का उत्पादन करना विधि का कार्य है। प्रभाकर के अनुसार जिस विषय में मनुष्य की स्वतः प्रवृत्ति है वहां विधि निष्प्रयोजन है। क्योंकि जिसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है वह अप्राप्त नहीं होता। इसलिए वह फल विधेय नहीं। वैदिक प्रयोग सुनकर जब प्रवृत्ति होती है, तब 'यह कर्म अवश्य करणीय है', इस तरह साध्य के रूप में कर्म का ज्ञान होता है। लौकिक प्रयोग में वक्ता का आदेश और वैदिक प्रयोग में वैदिक शब्द आदेश के जैसे प्रवर्तक होने से यह स्पष्ट है कि आवश्यकता का भाव सर्वत्र हो सकता है। इच्छा जैसा ईप्सित कर्म में प्रतिष्ठित होता है। विधिवाक्य की प्रेरणात्मक शक्ति भी उस तरह चेतना में नियुक्त होती है।

वैदिक शब्द की प्रेरणात्मक शक्ति को पारिभाषिक शब्द में 'प्रेरणा' भी कहते हैं। यह प्रेरणा दैहिक तथा मानसिक शक्ति की तरह नहीं है। इसको विधि के रूप में नियम का प्रकाशक कोई असाधारण अनुभव समझना है। वैदिक आदेश में यह प्रेरणा कर्तृत्वविधायक एक 'आत्माकूतविशेष' होने से आत्मा की तरह स्वप्रकाश और 'स्वसंवेद्य' होती है।[१९] भाट्ट सम्मत भावना से यह भिन्न है। प्रभाकर ने इसलिए दो प्रकार की भावना को स्वीकार नहीं किया। उसके मत में विधिवाक्य को सुनने से विधि की अनुगत अर्थभावना तथा पुरुषप्रवृत्ति का ही केवल ज्ञान होता है। अर्थभावना का उपादान इस विधि को प्रभाकर ने नियोगात्मक कहा है। जो नहीं है उसको उत्पादन करने से भावना प्रवृत्ति के कारण को निश्चित करती है। 'नियोग' ऐसा नहीं। वह प्रतिष्ठित सत्य है। इसलिए नियोग का उत्पादन नहीं हो सकता। नियोग प्रवृत्ति में केवल प्रेरणा स्वरूप होते हुए कर्तव्यविधायक हो कर नियम का प्रकाश करता है। नियोग में इसलिए भावना की तरह क्रिया-कर्तृसम्बन्ध न होकर प्रेष्य-प्रेष-सम्बन्ध होता है। प्रेरक और प्रेरित में, आदेश और आदिष्ट में जो संबंध होता है वह क्रिया-कर्तृसम्बन्ध से अलग है। 'मैं इस क्रिया में प्रेरित हूँ' इस से प्रेरणा तथा प्रवर्तना को जान कर क्रिया में प्रवृत्ति होती है। अतः विधिवाक्य से प्राप्त पहले अर्थ को 'प्रैष' 'प्रेरणा' अथवा 'नियोग' ही कहना है।

प्रभाकर के सिद्धान्त में नियोगात्मक होने से विधि स्वतः प्रवर्तना रूप होती है। इसलिए विधि स्वयं ही अनुष्ठेय है। कोई बाह्यफल को लक्ष्य न कर के विधि अपने में ही फल बन जाता है। इसलिए प्रभाकर के अनुसार आज्ञा (प्रेरणा) और अनुष्ठेय एक ही वस्तु हैं। विधि का प्रवर्तकत्व अनुष्ठान करनेवाले की शक्यता को निर्दिष्ट करता है। इसलिए कहा है:-

"प्रवर्तना रूपो हि विधिः। अर्थात् समवहित साधनशक्ति बोधयति। प्रवर्तना च अशक्य विषये न सम्भवति।"[२०]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण विचार में यह प्रेरणा आती नहीं। विधि की प्रेरणा मनुष्य को ऐसे उद्बोधित कर सकती है कि मनुष्य अपने को किसी भी लौकिक प्रयोजन पर ध्यान न देकर वैदिक कर्म कर जाता है। इसलिए वैदिक कर्म बाध्यतामूलक होता है। जो करना होगा, अर्थात् जिसमें बाध्यता का भाव होता है उसमें ही शक्यता तथा कर सकने का भाव निहित रहता है। वैदिक कर्म करना होगा इसलिए उसको करना सम्भव है। क्योंकि मनुष्य का असाध्य कर्म में बाध्यता का भाव ही नहीं सकता। जहाँ घटना का वर्णन (statement of fact) होता है, वहाँ भूतार्थ वाक्य होता है। इसमें बाध्यताका भाव नहीं, लेकिन जहाँ मूल्य निर्धारण के लिए सिद्धान्त का वर्णन (statement of judgement of value) है, वहाँ ही बाध्यता का भाव होता है। और इस भाव में सत्य मिथ्या की तरह भला और बुरा का बोध भी होता है।

प्रभाकर के मतानुसार, फल की आकांक्षा के बिना कार्यसम्पादन करना इसलिए सम्भव है कि वहाँ कार्य सम्पादन का अभ्यास व संस्कार रहता है। संस्कार से कर्म करने से जागतिक विषय में अनासक्ति प्रगाढ होती है। और तब परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[२१]

मीमांसा दर्शन में विधि जिसलिए फल का प्रयोजक न होकर कर्म का प्रवंतक होता है उसलिए फलाकांक्षा कहँा भी नहीं होती और प्रवर्तना का उत्पादन करना विधि का व्यापार होता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि विधि में अगर फलाकांक्षा न हों तो जिस जिस स्थल में फल का उल्लेख नहीं उस स्थल में 'विश्वजित् न्याय' से स्वर्गादि फल की कल्पना होती है। और अधिकारानुबन्ध का उल्लेख न होने पर भी उसकी कल्पना होती है, नहीं तो विधि का विधित्व नष्ट हो जाता है। मीमांसा सिद्धान्त में अधिकारानुबन्ध की कल्पना यागोपयोगी प्रासंगिक व्यापार है। फल-कल्पना उसके साथ अभिन्न नहीं है। विधिवाक्य वस्तुतः अधिकारानुबन्ध और फल के द्वारा अवछिन्न 'नियोग' का ज्ञापक है।

(४)

न्याय-वैशेषिक और मीमांसा मत की इस आलोचना से स्पष्ट है कि न्याय-मत में प्रयोजन या फल को अधिकार कर के प्रवृत्ति होने से अभीष्ट फल को ही प्रवंतक मानना है। मीमांसा मत में प्रवृत्ति में फलसाधनता ज्ञान की कारणता नहीं है। विधि साक्षात् सम्बन्ध में प्रवर्तक होते हुए कर्तव्यविधायकता विधि का व्यापार है।

वस्तुतः न्यायमत में प्रेरणा के मूल में युक्तिवाद ही है। वहाँ कोई नैतिक दृष्टि नहीं रहती। परिणामदर्शी होने के कारण न्यायवैशेषिक दर्शन में केवल वैदिक कर्म को अवश्यकरणीय जैसे नहीं माना गया। परन्तु जो कुछ कर्म करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, उस सब को स्वाभाविक बुद्धि से युक्ति के द्वारा करणीय जैसे माना गया है।

पूर्वमीमांसा दर्शन सम्पूर्ण रूप से वेदानुगत है। युक्तिवाद पर निर्भर न कर यह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। इसलिए अदृष्टार्थक वैदिककर्म को ही मीमांसक ने नैतिक-कर्तव्य कर्म माने हैं। इस दर्शन में वेदविहित कर्तव्य कर्म का जिस तरह समर्थन हुआ है, उससे प्रकृत नैतिक जीवन के साथ साधारण लौकिक जीवन का विच्छेद हो चुका है। मीमांसा मत में लौकिक कर्म में केवल अनिश्चित या आपेक्षिक वैधता रहती है। और वैदिक कर्म की वैधता संशय के अतीत और निरपेक्ष होती है। इसलिए उससे गठित हुई नैतिकता स्वतंत्र गुरुत्व की होती है। वेद विहित कर्तव्यकर्म के अनुष्ठान पर मीमांसक ने असाधारण बल देने का कारण वह हो सकता है कि इस दर्शन में प्रधान प्रतिपाद्य विषय है धर्म। इसको उन्होंने विषयगत कहा है। वेद निर्व्यतिरेक चिरन्तन नियम का प्रकाशक होते हुए वेद विहित कर्म कर्तव्य रूप है और इसके अनुष्ठान को धर्म माना गया है। इसलिए वेदविहित कर्म ही केवल नैतिक कर्म है।

न्यायमत में ज्ञान से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। जिस मिथ्याज्ञान से संसार में दुःख आदि होता है, तत्त्वज्ञान से उसका नाश करना न्यायदर्शन का लक्ष्य है। मिथ्या ज्ञान से दोष (राग-द्वेष-मोह) की उत्पत्ति होते हुए उससे फिर प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य कर्म करता है। अतः मीमांसक की तरह नैयायिक ने प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न अथवा कर्म को श्रेष्ठ नहीं माना। ज्ञान को श्रेष्ठ मानने से न्याय दर्शन की नैतिकता बुद्धिवृत्ति संक्रान्त होती है।

प्रवृत्ति-विषयक इस आलोचना से यह स्पष्ट है कि कर्तव्य कर्म के निर्धारण में कर्तृगत मनस्तात्त्विक नैतिकता कभी युक्तिवाद के आकार में कभी नीतिवाद के आकार में अपरिहार्य होती है।

– माया दास

दर्शन विभाग
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन (प. बंगाल)

टिप्पणियाँ

१) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५६
वैशेषिक सूत्र में प्रयत्न को जीवनपूर्वक और इच्छाद्वेष पूर्वक कहा गया है।
२) न्यायसूत्र १/१/१७
३) न्यायमंजरी, पृ. ३२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४) न्यायमंजरी, पृ. ३३१
५) न्यायमंजरी पृ. ३२६
६) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५७, ५७५
७) भाषापरिच्छेद, पृ. ५६०-६१
८) भाषापरिच्छेद, पृ. ५६४
९) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तवक, पृ. २०७
१०) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तबक, पृ. १८४-१८५
११) न्यायकुसुमांजलि, ५ । १४ टीका, पृ. २०७
१२) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तबक, पृ. २०२
१३) अर्थसंग्रह
१४) S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus, pp. 126-128, 135-136
१५) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५७
१६) भाट्टचिन्तामणि; S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus p. 36
१७) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५८
१८) भाट्टचिन्तामणि; S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus p. 36
१९) न्यायमंजरी, पृ. ३२०
२०) शास्त्रदीपिका
२१) न्यायमंजरी, पृ. ३०३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (७)

मू. स हि सङ्केतो वा स्यात् शब्दस्वाभाव्यं वा। आद्यस्तावत्संकेतविषया प्रतीतेरेव पराहतः। तत एव तत्प्रतीतावितरेतराश्रयत्वम्। पदसङ्केतबलेनैव प्रतीतौ स्वार्थपरित्यागात्, तथा चानन्विताः पदार्थाः एवान्विततया परिस्फुरन्तीति विपरीताख्यातिरेवानुवर्तते, स्वार्थपरित्यागे तु पुनरप्यनियमः, असामयिकार्थ-प्रत्यायनात्। शब्दस्वाभाव्यात्तु नियमे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि तथाविधप्रसङ्गोदया-दिति।

पिछले परिच्छेद में, कोई नियामक न होने से, 'कूर्म-रोम' शब्द से शश-विषाण के बोध की आपत्ति संभव पायी गई। अब इस आपत्ति के निवारणार्थ शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का नियामक जो संकेत उसकी चर्चा की जा रही है। शब्दार्थ संबंध का नियमन दो तरह से हो सकता है। एक संकेत के द्वारा। दूसरा, शब्द के स्वाभाविक धर्म के द्वारा। इनमें से प्रथम पक्ष स्वीकारार्ह नहीं क्यों कि 'कूर्मरोम' जैसे शब्दों में उनके सङ्केत का विषय अर्थ 'कूर्मरोम' असत् है। अतः वहाँ सङ्केत निर्माण की संभावना ही नहीं रह जाती। यदि कहा जाय कि प्रथम शब्द से अर्थ का ज्ञान या प्रतीति होती है, तदनंतर उसके संबंध में संकेतग्रह होता है तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। क्यों कि पद से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है इस बात के स्पष्टीकरण के लिए भी संकेत की ही शरण लेनी पडती है। पद-संकेतों द्वारा ही पदसमुदाय के अर्थ का निश्चय किया जाय तो एकेक पद अलग अलग प्रथम उपस्थित हो कर तदनंतर उनमें अन्वय या संबंध की प्रतीति होगी। 'शशशृंग' जैसे शब्द में शशीयत्व और शृंग इनकी अलग अलग उपस्थिति हो कर बाद में इनमें अविद्यमान संबंध का भान होगा। यह 'अन्यथाख्याति' ही होगी। यदि प्रत्येक पद का अर्थ उपस्थित हुए बिना ही समस्त पद का अर्थ प्रतीत होता है ऐसा समझा जाय तो असंकेतित अर्थ का भी पद से ग्रहण होने लगेगा। उस परिस्थिती में शब्दार्थ-निर्धारण के लिए कोई नियम नहीं रह जायगा। संकेत के बिना ही 'शशशृंगा'दि शब्दों से उनके विशेष स्वभाव या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप के कारण ही 'शशशृंग' जैसे असदर्थ की प्रतीति मानी जाय तो शब्दार्थ न जाननेवाला व्यक्ति भी ये शब्द सुनकर उनके अर्थ अपने आप समझ लेगा।

मू. "वासनाविशेषादिति चेत्"। अथासदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणम्, उत वासनापि । न तावदाद्यः शशविषाणादिप्रत्ययानां सदातनत्वप्रसङ्गात् । "कदाचित्प्रबोधात् कदाचिदिति चेत्" । न प्रबोधोऽपि सहकार्यन्तरं वा अतिशयपरम्परापरिपाको वा । आद्ये वासनैवेति पक्षानुपपत्तिः ।

द्वितीयेऽपि यद्यर्थान्तरप्रत्यासत्तेः, तदा पूर्ववत् स्वसन्ततिमात्राधीनत्वे तु बाह्यवादव्याघातः, नीलादिबुद्धीनामपि वासनापरिपाकादेवोत्पादात् । वासनापीति पक्षे तु तदन्योपि हेतुः कश्चिद्वक्तव्यः, स च विचार्यमाणः पूर्वन्यायं नातिवर्तत इति ।

किसी अनादि वासना के कारण 'शशशृंग' जैसे शब्दों के अलीकार्थ का नियमन होता है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि अलीकार्थ-प्रत्यय जो होता है उसका कारण वासना ही है या वासना भी ? केवल वासना को कारण कहें तो यह प्रत्यय सदैव घटित होना चाहिए । इसपर यदि प्रतिवाद किया जाय कि वासना का उब्दोध यदा-कदाचित् ही होता है अतः असदर्थबोध भी सार्वकालिक नहीं होगा तो यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वासना का उब्दोध वासना से भिन्न कारण से है या वासना-विशेष की परंपरा का परिपाक मात्र है; इनमें पहला विकल्प केवल वासना से अलीक-प्रत्यय होता है इस उक्त पक्ष से संगत नहीं है (वासना से भिन्न उसके उब्दोध को इस विकल्प में कारण मान लिया गया है।) दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर भी, वासना-विशेष का परिपाक किसी अन्य कारण के उपस्थित होने से ही घटित होता है ऐसा मानने पर (केवल वासना से अलीक प्रत्यय होने की बात करनेवाला) उपरोक्त पक्ष पुनः असंगत हो जायगा । अपने ही जैसी पूर्वपूर्ववत् वासनाओं से उत्तरोत्तार वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वासनाओं के बाहर उनका कोई कारण नहीं ऐसा कहें तो बाह्यार्थवाद का ही परित्याग कर देना पड़ेगा । नील पीतादि ज्ञान वासना-विशेष के परिपाक से अपने आप उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त उनका कोई विषय नहीं होता ऐसा मानने से भी काम चल सकता है। केवल वासना कारण न हो कर वासना भी कारण है इस उपरोक्त द्वितीय विकल्प का पुरस्कार किया जाय तो वासना से भिन्न कोई कारण अलीकानुभव के लिए बतलाना पडेगा । किन्तु पीछे बतला ही दिया गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि के द्वारा अलीकानुभव असंभव है।

मू. न च शशविषाणादिशब्दानामसदर्थैः सह सम्बन्धावगमोऽपि । तथाहि - परबुद्धीनामनुल्लेखात् तद्विषयस्याप्यनुल्लेख एव । न चार्थक्रियाविशेषोऽप्यस्ति, यतो विषयविशेषमुन्नीय तत्र सङ्केतो गृह्यताम् । न च सङ्केतयितुरेव वचनात् तदवगतिः, तद्विषयाणां सर्वेषां वचनानामप्रतीतविषयत्वेनागृहीतसमयतया अप्रतिपादकत्वात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त तथ्य को ही पुनः अधिक कारणों के साथ प्रस्थापित किया जा रहा है। 'शशशृंगा 'दि शब्दों का सुननेवालों को भले ही संकेतज्ञान न हो लेकिन उनके प्रयोगकर्ताओं को तो वह होगा ही। अतः उसी की सहायता से इन शब्दों का प्रयोग चल पड़ेगा ऐसा माननें में क्या आपत्ति है? उत्तर के रूप में नैयायिक कहते हैं कि प्रयोक्ता की बुद्धि का श्रोता को पता नहीं रह सकता जिससे उसके संकेत-ग्रह का आधार ले कर वह भी शब्दप्रयोग यथावत् कर पाये। इतर शब्दों के संकेत्य का ज्ञान जैसे उनके प्रयोक्ताओं के व्यवहार को देखकर हुआ करता है वैसे 'शशशृंग' जैसे शब्दों के बारे में घटित नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा कोई व्यवहार ही नहीं है जिसे इन शब्दों के प्रयोग से संचालित समझा जाय। यदि कहें कि संकेतयिता व्यक्ति 'ऐसे ऐसे वस्तु का इस पद से निर्देश होता है' इस प्रकार के वाक्यों से शशशृंग शब्द का संकेत निर्धारण करेगा जिसका श्रोता आकलन करेगा तो उसमें कठिनाई यह है कि ऐसे शब्द जिनके द्वारा संकेतग्रहण संभाव्य है उनका भी अर्थ अज्ञात ही रहेगा। उन सभी का संबंध अलीक से होने के कारण उनके विषय अज्ञात ही रहेंगे।

मू. "न च शशविषाणादिशब्दमुच्चारयतः कश्चिदभिप्रायो वृत्त इति तद्विषयोऽस्य वाच्य इति सुग्रहः समय इति वाच्यम्"। न ह्येवमाकारः समयग्रहः, 'गां बधाने 'त्युक्ते अप्रीतशब्दार्थस्याप्याभिप्रायमात्रप्रतीतौ समयग्रहप्रसङ्गात्। "न च विशेषान्तरविनाकृतः कल्पनामात्रविषयोऽस्य वाच्य इति साम्प्रतम्"। घटकूर्मरोमादीनामपि तदर्थत्वप्रसङ्गात्।

पुनः पूर्व परिच्छेद में बतायी बात को ही अन्य सदृश तर्कों से विशद कर प्रतिपादन करते हैं। 'शशशृंग' जैसे शब्दों के प्रयोक्ता का कोई अभिप्राय या तात्पर्य होगा ही जिसे जान कर श्रोता उनके संकेत्य का आकलन कर सकता है ऐसा यदि प्रतिवाद किया जाय तो उस पर प्रत्युत्तर सीधा है। तात्पर्य-ज्ञान के आधार पर संकेतज्ञान नहीं हुआ करता। यदि यह सम्भव होता तो 'गाय बांधो' ऐसे वाक्य के उच्चारण का तात्पर्य मात्र जान कर और इस वाक्य-घटक प्रत्येक शब्द के अर्थ की उपस्थिति के बिना प्रत्येक शब्द के संकेत्य का ज्ञान असम्भव है। यदि कहें कि 'शशशृंगा 'दि शब्दों का वाच्य कोई निरुपाख्य तथा कल्पनामात्र विषय वस्तु होती है ऐसा जानकर संकेत-ग्रह संभव है तो उसमें कठिनाई यह है कि तब 'शशशृंग' शब्द का कूर्मरोम या कोई भी अलीक (जैसे बौद्धमतानुसार स्थिर वस्तु) अर्थ हो सकेगा। ऐसा मान लेने से 'शशशृंग' और 'कूर्मरोम' इन अर्थों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

मू. "न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनयाऽसदर्थशब्दसम्बन्धप्रतिपत्तिभाज इति साम्प्रतम्"। परस्परवार्तानभिज्ञतया अपरार्थत्वप्रसगङ्गात्, न हि स्वयंकृतं समय-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्राहयित्वा परो व्यवहारयितुं शक्यते । न च व्यवहारोपदेशांवन्तरेण ग्राहयितुमपि। न च 'गां बधाने'तिवत् शशविषाणपदार्थे व्यवहारः, न चायमसावश्य इतिवदुपदेशः, न च यथा गौस्तथा गवय इतिवदुपलक्षणातिदेशः, न चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीतिवत्प्रसिद्धपदसामान्याधिकरण्यम् ।

कह सकते हैं कि 'शशशृंग' शब्द के सभी प्रयोक्ता लोग अपनी अलग अलग वासना से उसके अर्थ की उपस्थिति के द्वारा संकेत का आकलन शायद कर लें। लेकिन इससे केवल प्रयोक्ताओं का काम चल सकता है, श्रोताओं को- जिन्हें संकेत ज्ञान नहीं है- कोई लाभ नहीं होगा । उन्हें प्रयोक्ता ही संकेत-ग्रहण करा सकेंगे । एक व्यक्ति अपने लिये संकेत निर्माण कर उसे दूसरे को समझाये बिना उस शब्द का सर्वसाधारण प्रयोग नहीं चला सकता । और शब्द-व्यवहार या उसके उपदेश के बिना शब्द-संकेत को दूसरे को समझाना भी संभव नहीं है। 'गाय-बांधो' ऐसा कोई व्यवहार 'शशशृंग' शब्द को प्रयोग में ला कर किया जाना संभव नहीं। 'शशशृंग' के संबंध में किसी भी प्रकार की क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती। 'यह घोडा है' ऐसा संमुख उपस्थित वस्तु के संबंध में जैसे उपदेश किया जाता है वैसा उपदेश भी शशशृंग के बारे में संभव नहीं। उपमान को काम में ला कर 'जैसे गाय होती है वैसे ही गवा होता है' इस सादृश्य-मूलक ज्ञान में एक वस्तु के सादृश्य का दूसरी वस्तु के ज्ञापन के लिये उपदेश किया जाता है वैसा उपदेश भी शशशृंग के संबंध में संभव नहीं। शशशृंग का किसी के साथ सादृश्य नहीं है । अनुमान से भी कुछ शब्दों में संकेत-ग्रहण होता है, जैसे 'इस विकसित कमलपुष्प के भीतर संचित मकरन्द का मधुकर पान करता है' इस वाक्य में 'मधुकर' शब्द का अर्थबोध वाक्यगत अन्य प्रसिद्धार्थक शब्दों के साहचर्य से हुआ करता है। इस प्रकार से भी अर्थबोध शशशृंग शब्द के संबंध में कल्पनार्ह नहीं है ।

मू. तदमूः शशविषाणादिकल्पनाः नासत्ख्यातिरूपाः, तथात्वे कारणाभावात्, मूकस्वप्नवदसांव्यावहारिकत्वप्रसङ्गात् च । तस्मादन्यथाख्यातिरूपा एवेति तदनुरोधेनाप्यवस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वमिति । भवतु वाऽसत्ख्यातिः, तथापि न ततो व्यतिरेकः प्रामाणिकः,

अबतक के वादविवाद का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि शशशृंग जैसे विकल्प असत्-ख्यातिरूप नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है । यदि वे असत्ख्यातिरूप होते तो गूंगे के सपनों जैसा इनका स्वरूप होता। जैसे गूंगा अपने सपनों का वर्णन नहीं कर सकता वैसे ही अपनी अपनी वासना से प्रेरित हो कर 'शशशृंग' जैसे शब्दों का प्रयोग करनेवाले दूसरों को अपना प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं समझा पा सकते। अतः इन विकल्पों को अन्यथाख्यातिरूप ही मानना पडेगा। इस कारण, अलीक को निषेध-व्यवहार का विषय भी मानना उचित नहीं है।

इस पर बौद्धों के अनुसार यह प्रत्याक्षेप सम्भव है कि जैसे नैयायिक मत में भी भ्रान्ति में आरोप्य तथा आरोपणीय ये दोनों सत् होने पर भी इनका सम्बन्ध असत् होता है (यह 'अभ्युपगमवाद' है। वस्तुस्थिति बिलकुल ऐसी ही नहीं।) वैसे ही अलीक आश्रय में सत्वाभाव तथा क्षणिकत्वाभाव की व्याप्ति का ज्ञान संभाव्य माना जा सकता है।

मू. तथाहि– कोऽयं व्यतिरेको नाम ? यद्यतो व्यतिरिच्यते तस्य तत्राभावो वा, तदभावस्वभावत्वं वा ? तत्र न तावत् क्रमयौगपद्ययोः शशविषाणे अभावः प्रमाणगोचरः, वृक्षरहितभूभृत्कटकवत् क्रमयौगपद्यरहितस्य शशविषाणस्य प्रमाणगोचरत्वात्।

उक्त प्रत्याक्षेप का उत्तर देने के उद्देश्य से संभाव्य दो विकल्पों को प्रस्तुत करते हैं। क्रमयौगपद्यव्यतिरेक के द्वारा सत्वविरहितत्व स्थिर में बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उन्हें क्रमयौगपद्य के व्यतिरेक का स्वरूप स्पष्ट करना चाहिए। यह व्यतिरेक 'जो जहाँ नहीं वहाँ उसका अभाव विद्यमान होना' इस स्वरूप का होगा या उस (अधिकरण) वस्तु का ही अभावरूपत्व होगा। इनमें से प्रथम विकल्प अस्वीकार्य है क्योंकि शशशृंग में क्रमयौगपद्य का अभाव किसी प्रमाण से ज्ञेय नहीं। जैसे वृक्षरहित पर्वतादि का ज्ञान देखते ही हो जाता है वैसे क्रमयौगपद्यरहित शशशृंग का ज्ञान किसी तरह नहीं हो सकता।

मू. नापि क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं शशविषाणस्य प्रमाणिकम्, घटाभाववच्छशविषाणस्य प्रमाणेनानुपलम्भत्वात्। "घटाभावोऽपि न प्रमाणगोचर इति चेत्" न, तस्य तद्विविक्तेतरस्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः, असिद्धौ वा तत्रापि अव्यवहार एव।

दूसरा विकल्प भी स्वीकारार्ह नहीं। कारण शशशृंग का क्रमयौगपद्याभावरूपत्व घटाभाव की तरह शशशृंग प्रमाण के आधार पर अनुपलब्ध होने की वजह से प्रमाणाधारित है ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस पर बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हैं कि घटाभाव भी किसी भी प्रमाण के आधार पर उपलब्ध नहीं है ऐसा मानने में क्या कठिनाई है ? उत्तर देते हुए नैयायिक कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा उपस्थित किया गया प्रतिप्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि घटाभाव उसके विविक्तेतर-स्वभावस्वरूप है यह प्रमाणतः सिद्ध बात है; अगर ऐसा न होता तो वहाँ भी अव्यवहार ही हो जाता, व्यवहार नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. "घटस्तावत् स्वाभावविरहस्वभावः प्रमाणसिद्धः, ताद्रूप्येण क्वचिदप्यनुपलम्भात्, एतावतैव तदभावोऽपि घटविरहस्वभावः सिद्ध इति चेत्"। न, घटाभावस्य तदभावविरहस्वभावत्वानभ्युपगमात्। न चान्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे तदन्योऽपि सिद्धः स्यादतिप्रसङ्गात्।

इसपर बौद्ध प्रतिवाद करते हैं कि किसी आश्रय–विशेष में ही, व्यतिरेक-ग्रहण होने से ही व्यतिरेक सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बिना भी व्यतिरेक-ज्ञान संभव है। जैसे घट का स्वाभाव–विरहात्मक होना प्रमाणसिद्ध है क्योंकि घट घटाभावरूप से कभी ज्ञात नहीं होता। इसी बात पर से घटाभावरूप का भी घट-विरहात्मक होना भी सिद्ध हो जाता है। किन्तु यह बात नैयायिकों को मान्य नहीं। वे घट या किसी वस्तु के स्वभाव को स्वाभावविरहरूप नहीं मानते। घट का अपना स्वभाव इस विरह से भिन्न विध्यात्मक धर्म है। अतः घट के उदाहरण पर से घटाभाव का स्वभाव निर्धारण करना उचित नहीं। वैसे भी यह बात ठीक नहीं। घट और घटाभाव अलग-अलग हैं। इनमें से घट का कोई स्वभाव प्रमाणसिद्ध है इसलिए घटाभाव का भी कोई स्वभाव प्रमाणसिद्ध नहीं माना जा सकता।

मू. "एवम्भूतावेव घटतद्भावौ यदेकस्य परिच्छित्तिरपरस्य व्यवच्छित्तिरिति चेत्"। न, घटवद्घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वानभ्युपगमे स्वभाववादानवकाशात्। प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभावावलम्बनम्, न तु स्वभाववादावलम्बनेनैव वस्तुव्यवस्थितिरिति हि भवतामेव तत्र तत्र जयदुन्दुभिः।

पुनः बौद्ध स्वमतसमर्थनार्थ प्रतिवाद करते हैं कि घट और घटाभाव (उदाहरण के रूप में इनका उल्लेख किया जा रहा है।) ऐसे ही हैं कि घट का निर्धारण करने मात्र से (अर्थात् घटस्वभाव ही) घटाभाव-व्यवच्छेद (रूप) हो जाता है। घट-स्वभाव के लिए जो प्रमाण है वही घटाभाव-स्वभाव का (प्रस्थापनार्थ) भी प्रमाण हो सकता है। अतः अन्यत्र भी अभाव के प्रस्थापनार्थ प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर नैयायिक का प्रत्युत्तर यह है कि जैसे घट प्रमाणसिद्ध वस्तु है वैसे ही घटाभाव भी एक प्रमाणसिद्ध वस्तु होने पर ही उक्त बात सम्भव मानी जा सकती है। प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही स्वभाव होना स्वीकार किया जा सकता है। पहले एक काल्पनिक वस्तु का वास्तविक स्वभाव स्वीकार कर तदनन्तर उसकी सत्ता का प्रमाण नहीं ढूंढा जाता। अभाव निःस्वभाव होता है यह तो बौद्धों का ही मत है। अतः जब तक वे क्रमयौगपद्याभाव के लिए स्वतन्त्र प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते तब तक उसकी सत्ता स्वीकार्य नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. "तत्किमिदानीं स्वाभावविरहस्वभावो घटः प्रमाणान्नैव सिद्धः ?" तव दृष्ट्या एवमेतत्, घटो हि यादृक्तादृक्स्वभावस्तावत्प्रमाणपथमवतीर्णः, तस्य तु यदि परमार्थतोऽभावोऽपि कश्चित्स्यात्, स्यात्परमार्थतस्सोऽपि तद्विरहस्वभाव इति तथैव प्रमाणेनावेदितः स्यात् । न चैतदप्यभ्युपगम्यते भवता । तस्माद्घटवत्तदभावस्यापि प्रामाणिकत्वेनैवानयोः परस्परविरहलक्षणव्यतिरेकसिद्धिः अप्रामाणिकत्वे त्वनयोरपि न तथाभाव इति । शशविषाणादिष्वपीयमेव गतिः ।

उक्त प्रत्युत्तर पर प्रतिबन्दि रूप से बौद्ध पूछते हैं कि यदि एक का परिच्छेद तदन्य अभावादि का परिच्छेद न हो तो क्या घट स्वविरहाभावात्मक न होकर स्वविरहात्मक ही हो जाएगा ? नैयायिक उत्तर देते हैं कि उनके अपने मन में यह बात नहीं है । वे वस्तु को स्वाभावाभावात्मक मानते हैं । किन्तु बौद्धों को यह बात स्वीकार्य नहीं हो सकती । घट जैसी वस्तु का, जो भी– अवयविरूप या परमाणुरूप– स्वभाव मात्र बन जाय, घट का अभाव यदि बौद्ध-मत में परमार्थतः कोई वस्तु हो तभी घट वस्तुतः स्वाभावाभावात्मक होगा । और यही बात प्रमाण से भी सिद्ध होगी । किन्तु बौद्ध अभाव को ही वस्तुसत् नहीं मानते । अतः घट के समान घटाभाव की सत्ता के लिए भी स्वतन्त्र प्रमाण होना आवश्यक है । तभी ये दोनों परस्पर-विरहरूप सिद्ध हो सकते हैं । अन्यथा ये न परस्परविरहरूप न सत् ही हो सकते हैं । शशशृंग जैसे अलीक को भी यही बात लागू होती है । यदि वह प्रमाणसिद्ध हो तभी उसमें क्रमयौगपद्याभाव का साधन अनुमान से सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

मू. "ननु काल्पनिकरूपसम्पत्तिरेवास्त्वनुमानाङ्गम्" । तन्न, तस्याः सर्वत्र सुलभत्वात् । "ननु पक्षसपक्षविपक्षास्तावद्वस्त्ववस्तुभेदेन द्विरूपाः, तत्र ये कल्पनोपनीतास्तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकाः, प्रमाणोपनीतेषु तु प्रामाणिका एवेति विभागः । तदिह काल्पनिकान्निरग्नेर्यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्यावृत्तिः काल्पनिकी सिद्धा, तथापि प्रामाणिकाज्जलन्हदादेः प्रामाणिक्येवैषितव्या, सा च न सिद्धेति कुतस्तस्य हेतुत्वम् । एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः, न चासौ चाक्षुषत्वस्यास्तीति सोऽपि कथं हेतुः ? एवं कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः, वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः, न च तस्य तौ स्तः, तत्कथमसावपि हेतुरिति ।"

अब एक अन्य प्रकार से बौद्ध व्यतिरेकानुमान को प्रस्थापनार्ह बताते हैं । वे कहते हैं कि सत्वाभाव और क्षणिकत्वाभाव सत् न होने पर भी इनकी कल्पना तो की जा सकती ही है । तो ऐसे काल्पनिक वस्तुओं की सहायता से ही अनुमान क्यों न सम्भव माना जाय ? इसका खण्डन यह है कि काल्पनिक साध्य, हेतु आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। इनको अनुमान के लिए उपादेय माना जाय तो 'पर्वत में वन्हि है, क्योंकि वह प्रमेय है', 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रियवेद्य है' ऐसे अनुमानों को सव्यभिचार, असिद्ध, विरोधरूप हेत्वाभास के दोषी मानना उचित नहीं होगा। इन्हें और इनके जैसे सभी अनुमानों को सदनुमान मान लेना पड़ेगा। इस पर बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हुए कहते हैं कि अनुमान के लिए अपेक्षित पक्ष, सपक्ष, विपक्ष दो प्रकार के माने जा सकते हैं। एक वस्तुरूप और दूसरे अलीक या काल्पनिक। इनमें जो काल्पनिक पक्ष, सपक्षादि हैं उनके संबंध में काल्पनिक ही पक्षसत्व तथा विपक्षव्यावृत्तत्व आवश्यक मानना उचित होगा। केवल वस्तुसत् पक्ष, सपक्षादि के लिए प्रामाणिक सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्तत्व आदि की अपेक्षा होनी चाहिए। अब उक्त अनुमान के उदाहरणों में से 'पर्वत वन्हियुक्त है, क्योंकि वह प्रमेय है' इस अनुमान में प्रमेयत्व रूप हेतु यद्यपि काल्पनिक निरग्निस्थानों से व्यावृत्त है और यह व्यावृत्ति भी काल्पनिक है तो भी इस अनुमान के पक्ष, सपक्ष, विपक्ष प्रामाणिक होने से प्रामाणिक विपक्ष जो जलन्हदादि उनसे प्रमेयत्व का व्यावृत्त होना आवश्यक है। किन्तु वह असिद्ध है; अतः प्रमेयत्व उक्त अनुमान में सद्धेतु नहीं होगा। इसी प्रकार वस्तुसत् शब्द को पक्ष कर जो उक्त अनुमान प्रस्तुत किया गया है उसमें भी वस्तुसत् जो चाक्षुषत्वरूप हेतु उसका विद्यमान होना आवश्यक है। वह न होने पर चाक्षुषत्व हेतु हो ही नहीं सकता। अन्तिम अनुमान में, वस्तुसत् में ही विद्यमान जो कृतकत्व रूप हेतु उसकी शब्द में वास्तविक सत्ता और विपक्ष में वास्तविक असत्ता ही उपादेय है। ऐसा इन अनुमानों में उपलब्ध न होने के कारण ही ये हेत्वाभासग्रस्त माने जाते हैं। काल्पनिक पक्षसत्वादि की सहायता से इन अनुमानों के हेतुओं को सद्धेतु नहीं सिद्ध किया जा सकता।

मू. प्रलपितमेतत्। नहि नियामकमन्तरेण सम्पदं प्रति कल्पना त्वरते, विपदं प्रति (तु) विलम्बत इति शक्यं वक्तुम्, तथाच निरग्निकमपि कूर्मरोम सधूमिति कल्पनामात्रेण विपक्षवृत्तित्वात् धूमोऽपि नाग्निं गमयेत्। "वास्तव्यां रूपसम्पत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेणेति चेत्"। तर्हि वास्तव्यामसम्पत्तौ किं काल्पनिक्या तयेति समानम्। "विरोधाविरोधौ विशेष इति चेत्" कुत एषः? "उभयोरेकत्र वस्त्ववस्तुत्वात्, अन्यत्रावस्तुत्वादिति चेत्"। तत् किं काल्पनिकोऽपि धूमो वस्तुभूतो येन कूर्मरोम्णस्तेन सह विरोधः स्यात्?

नैयायिक उक्त समर्थन का तिरस्कार कर कहते हैं कि यह केवल अनर्गल प्रलाप है। बिना किसी नियम के अलीक में व्यतिरेक-सिद्धि के लिए काल्पनिक व्यतिरेकों को उपयुक्त मानना और असदनुमान में काल्पनिक बातों को अनुपयुक्त ठहरा देना यह बिलकुल अतार्किक है। दोनों प्रकार के अनुमानों का समानतया ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करना चाहिए। अन्यथा 'पर्वत में वन्हि है, क्योंकि वहाँ धूम है' इस अनुमान में धूम का वन्हिरहित कूर्मरोम पर काल्पनिक वृत्तित्व होने से काल्पनिक विपक्षसत्वयुक्त यदि हो जाए तो वह अग्नि का गमक नहीं हो पायेगा। यदि कहें कि 'वास्तविक सपक्षसत्वादि धूम में होने पर काल्पनिक रूप (सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्तत्वादि) उनमें न हो तो क्या बिगड़ता है? तो प्रतिबंदि के रूप में यह भी कह सकते हैं कि व्यतिरेकानुमान में वास्तविक रूप न होने पर काल्पनिक रूपों की सत्ता निरर्थक हैं। इस पर यह प्रत्युत्तर सम्भव है कि असत् कूर्मरोम में सत् धूम की सत्ता-विरोध का कारण होगी, किन्तु असत् शशशृंग में असत् क्रमयौगपद्याभाव की सत्ता विरोध का कारण नहीं होगी और यही उक्त दो बातों में विभेद है। इस उत्तर पर प्रश्न होगा कि उक्त विभेद का भी आधार क्या है? यदि कहा जाए कि धूमानुमान में धूम सत् है और कूर्मरोम असत् है किन्तु क्षणिकत्वानुमान में व्यतिरेक और उसका आश्रय ये दोनों असत् हैं तो नैयायिक यह प्रतिवाद कर सकते हैं कि काल्पनिक धूम की काल्पनिक कूर्मरोम में सत्ता मान कर उसकी विपक्षसत्ता दिखलायी जाय तो विरोध कहाँ आता है?

—नारायणशास्त्री द्राविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया

इहलौकिक प्रक्रिया (Process of Secularisation) के उद्‌भव के परिणाम स्वरूप आधुनिक मानव के धार्मिक जीवन में एक नवीन अनुस्थापन देखा जाता है और फलतः धार्मिक आस्था के प्रति एक बौद्धिक इहलौकिक दृष्टिकोण की संभावना व्यक्त की जाती है। साधारणतया यह स्वीकार कर लिया गया है कि बौद्धिक इहलौकिक प्रवृत्ति या दृष्टिकोण धार्मिक आस्था का विरोधी है। परन्तु सूक्ष्म और गहन चिंतन ही इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि यह विरोध स्वाभाविक एवं आवश्यक नहीं है। चिन्तन के प्रथम चरण में ही विरोध दीख पड़ता है, परन्तु चिंतन की विकसित अवस्था में विरोध की स्थिति समाप्त हो जाती है। इस निष्कर्ष की स्थापना इहलौकिकता एवं धार्मिक आस्था (Raligious faith) के अर्थ एवं विस्तार की व्याख्या द्वारा दोनों के बीच की समानता एवं भिन्नता के मुख्य तत्त्वों के विश्लेषणाद्वारा एवं दोनों दृष्टिकोणों के बीच परस्पर सहयोग दिखाकर ही की जा सकती है।

'सेक्युलर' शब्द का शाब्दिक अर्थ यह दुनिया या कालिक जगत् होता है। फिर सेक्युलर शब्द, लैटिन शब्द 'सैक्युलम' से निकला है जिसका अर्थ भी यह दुनिया, कालिक जगत्, यह युग है और इस प्रकार यह दूसरी दुनिया, दिव्य जगत्, अलौकिक एवं पवित्र जगत् का ठीक प्रतिकूल है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिकता एक प्रक्रिया है जिसमें जीवन के पवित्र पहलू जिसकी भूत में अलौकिकता के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की जाती थी, आज इसे ऐसी शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है और इसकी व्याख्या की जाती है जो शक्तियाँ इसी जगत् में निहित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इहलौकिक प्रक्रिया अपने उद्देश्य एवं विषय के परिप्रेक्ष्य में अलौकिकता एवं धार्मिकता का विरोधी है। विल्सन कहते हैं: "इहलौकिक प्रक्रिया में यान्त्रिक मूल्यों, बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों की प्रधानता है।"[1] वे पुनः कहते हैं कि इहलौकिक समाज वह है जहाँ "पवित्रता की भावना; जीवन की पवित्रता एवं गहन धार्मिकता अनुपस्थित है।"[2] और इहलौकिकता "एक प्रक्रिया है जिसमें धार्मिक चिन्तन, व्यवहार एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्थाएँ सामाजिक महत्व को खो देती हैं।"[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धिक तत्त्व इहलौकिक प्रक्रिया का सार है।

इहलौकिक प्रक्रिया के अर्थ एवं विस्तार से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो दृष्टिकोण– इहलौकिक एवं धार्मिक– एक दूसरे के विरोधी है। जब कि इहलौकिक प्रक्रिया में बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों पर अधिक बल दिया जाता है वहाँ पर धार्मिक दृष्टिकोण आस्था, दृढ़धारणा एवं पवित्र अवधारणाओं पर अधिक बल देता है। फिर जहाँपर धार्मिक अनुष्ठान, प्रार्थना, प्रभुत्व एवं कर्मकांड धार्मिक निवेश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं वहाँ पर इहलौकिक दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु को परिप्रश्न एवं समीक्षात्मक परीक्षा के धरातल पर रखता है। इस प्रकार, जहाँ पर धार्मिक जीवन परंपरा से प्रभावित होता है वहाँ पर इहलौकिक जीवन आधुनिकता से प्रभावित है। पुनः इहलौकिक और धार्मिक दृष्टिकोणों में मूल्य की भिन्नता देखी जाती है। इसीलिए इहलौकिक और धार्मिक मूल्यों के बीच लक्ष्य की भी भिन्नता देखी जाती है। उदाहरणास्वरूप, एक आदर्शभूत धार्मिक समाज में अनेक क्रियाएँ अलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। अर्थात् शाश्वत जीवन की प्राप्ति ही लक्ष्य बनता है। परन्तु एक इहलौकिक मनुष्ये के लिए इस प्रकार के शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति संभव नहीं है क्यों कि एक इहलौकिक मनुष्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों को अपनाता है और इसीलिए उसके मूल्यों को यान्त्रिक मूल्य कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपने लक्ष्य और विषय के परिप्रेक्ष्य में इहलौकिक प्रक्रिया धार्मिकता विरोधी एवं अलौकिकता विरोधी है जब कि धार्मिक दृष्टिकोण अपने प्रयास में अलौकिकता पर अधिक बल देता है।

परन्तु इहलौकिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण की वास्तविक व्याख्या एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि दोनों दृष्टिकोणों के बीच का भेद वस्तुओं को मात्र दो प्रकार से देखने का भेद है। परन्तु, वास्तवमें, अगर वस्तुओं को दो प्रकार से देखा जाता है तो इससे वस्तुओं के बीच विरोध स्पष्ट नहीं होता बल्कि भिन्नता स्पष्ट होती है। इसी प्रकार, इहलौकिकता और धार्मिकता को एक ही व्यक्ति दो प्रकारसे देखने का हमेशा प्रयास करता आ रहा है। यही कारण है कि दोनों की प्रक्रिया विरोधी दीख पड़ती है। परन्तु, अगर दोनों संप्रत्ययों के सार को एक ही दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाय तो दोनों के बीच विरोध नहीं दिखेगा। कारण, दोनों संप्रत्ययों का संबंध मानव जीवन से है जहाँ पर दोनों के परिप्रेक्ष्य में ही मनुष्यका जीवन विकसित होकर पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है।

'सेक्युलर' शब्द का अर्थ पवित्रता, अलौकिकता एवं अन्य धार्मिक आस्थाओं का विरोधी है। परन्तु आवश्यक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इहलौकिक प्रक्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णत: पवित्रता, अलौकिकता एवं अन्य धार्मिक आस्थाओं का बहिष्कार करती है। इहलौकिक प्रक्रिया का एकमात्र कार्य सिर्फ यही माना जाता है कि यह धार्मिक आस्था, पवित्रता एवं अलौकिकता को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है और फिर इन्हें समीक्षात्मक परीक्षा के लिए तैयार करती है और इस प्रकार यह इनका परिमार्जन करती है। यह पवित्रता के संप्रत्यय की व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट होता है।

पवित्रता द्वारा दो प्रकार की सत्यता की अभिव्यक्ति देखी जाती है। प्रथमत: पवित्रता का संबंध जीवन के उस पहलू से होता है जो स्वभावत: अलौकिक होता है तथा जिसके अन्दर परम्परागत रूढ़ाचार एवं मूल्य, जैसे ब्राह्मणों के प्रति सम्मान, ब्राह्मणों की हत्या न करना, आदि आते हैं। इन मूल्यों को बिना किसी परिप्रश्न के अंगीकार कर लिया जाता है। द्वितीयत:, इन रूढ़ाचारों एवं मूल्यों का व्यापक अर्थ कभी-कभी बड़ों, श्रेष्ठों एवं नेताओं के प्रति आदर, राष्ट्रीय ध्वजा एवं राष्ट्रीय गान के प्रति सम्मान, औरतों के उपर मर्दों की श्रेष्ठता, लड़कियों के उपर लड़कों की श्रेष्ठता, आदि भी होते हैं। कभी-कभी जोश में आकर ' इहलौकिक प्रक्रिया दोनों प्रकार की पवित्रता को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है तथा समीक्षात्मक परीक्षा के अनुरूप बनाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इहलौकिक प्रक्रिया पवित्रता को धार्मिक आस्था से बहिष्कार नहीं करती बल्कि यह सिर्फ उस तौर-तरीके पर प्रश्नचिन्ह अंकित करती है जिन तौर-तरीकों को परम्परागत मनुष्य बिना किसी परिप्रश्न एव समीक्षा के स्वीकार कर बैठे हैं। इसका यह अर्थ होता है कि धार्मिक आस्था के अन्दर के पवित्र तत्व का महत्व आधुनिक मानव के जीवन के लिए भी है। ऐसा इसलिए कि मानवता को किसी न किसी प्रकार की पवित्रता की आवश्यकता होती है। मानवता को पवित्र-परम्परा, मूल्य एवं रूढ़ाचार की आवश्यकता होती है जो हमारे व्यवहार एवं सुरक्षा के लिए आदर्शसूचक बनते हैं तथा जो साधारणतया आत्म-सुरक्षा के लिए प्रामाणिक रूप में स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ये पवित्र मूल्य न केवल वृद्धों के जीवन के लिए आवश्यक हैं बल्कि युवकों के लिए भी आवश्यक है। यह संभव है कि इहलौकिक प्रक्रिया के प्रति अधिक जागरूक होने के कारण युवक पवित्र आदर्श एवं प्रतिमान के एक भाग की समाप्ति करने में सक्षम हो सकते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात यत है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए ही दूसरे पवित्र आदर्श एवं प्रतिमान का सर्जन कर लेता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था के पवित्र तत्व इहलौकिक प्रक्रिया के प्रभाव द्वारा बहिष्कृत नहीं होते। बहिष्करण की प्रक्रिया में इहलौकिक प्रक्रिया की सफलता मात्र इतनी ही मानी जा सकती है कि यह धार्मिक आस्था के अन्दर के अंध-पवित्रता को बहिष्कृत कर पाती है, जैसे, औरतों के उपर मर्दों की प्रभुता, लड़कियों के उपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़कों की श्रेष्ठता, ब्राह्मणों के प्रति आदर, आदि। परन्तु बहिष्करण की प्रक्रिया में इहलौकिक प्रक्रिया पवित्रता के आवश्यक प्रतिमान जैसे बड़ों के प्रति आदर तथा राष्ट्रीय ध्वजा एवं राष्ट्रीय गान के प्रति सम्मान को बहिष्कृत करने में सर्वथा असफल है। क्योंकि इस प्रकार के पवित्र मूल्य की आवश्यकता इहलौकिक मानव के लिए भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी धार्मिक मानव के लिए। कारण, इस प्रकार के पवित्र मूल्यों के अन्दर जितना धार्मिक मानव अपने को सुरक्षित महसूस करता है उतना ही इहलौकिक मानव भी अपने को सुरक्षित महसूस करता है। अतः आवश्यकता सिर्फ इसी बात की है कि जब भी हम पवित्र मूल्यों के संबंध में बात करें तो इसे एक व्यक्ति की मानवता एवं एक व्यक्ति की स्वतंत्रता से बाहर रखें तथा इन्हें मूल्यांकन एवं समीक्षा के अनुकूल बनायें। इसका यह अर्थ होता है कि हमें पवित्र मूल्यों का न अनुयायी होना चाहिए और न इन्हें अन्ध रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए जैसा कि भूत में स्वीकार कर लिया गया था, बल्कि हमें पवित्र मूल्यों का नायक बनना चाहिए। जिस प्रकार एक नायक अपने साथ के लोगों का दास नहीं होता बल्कि वह अपने साथियों पर नियंत्रण रखता है उसी प्रकार एक धार्मिक व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह पवित्र मूल्यों का दास न होकर नियंत्रक बने। अगर धार्मिक आस्था के पवित्र मूल्यों की व्याख्या इस रूप में की जाती है तो फिर एक इहलौकिक व्यक्ति का पवित्र मूल्यों के प्रति दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह समाप्त हो जाते हैं और यहाँ पर मानव का इहलौकिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण एक हो जाते हैं।

इसे दूसरे रूप में भी स्पष्ट किया जा सकता है। इहलौकिक प्रक्रिया परम्परागत प्रभुता एवं नेतृत्व को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है, कारण, प्रायः यह समझा जाता है कि प्रभुता एवं नेतृत्व निरपेक्ष होते हैं। यहाँ पर एक व्यक्ति को बिना किसी प्रश्न के अपने नेता के नेतृत्व को स्वीकार करना पड़ता है और जब भी वह अपने नेता के नेतृत्व पर प्रश्न-चिन्ह अंकित करता है तो नेता इस प्रश्न-चिन्ह को अपनी प्रभुता का अपमान समझता है। परन्तु ऐसा समझना प्रभुता एवं नेतृत्व के लिये एक भूल है। ऐसा इसलिए कि एक व्यक्ति अपने नेता के नेतृत्व पर जो प्रश्न-चिन्ह लगाता है वह प्रश्न-चिन्ह उसके नेतृत्व के अपमान का द्योतक नहीं है या वह प्रश्न-चिन्ह उसके लिए चुनौती नहीं है बल्कि वह प्रश्न-चिन्ह एक नये प्रकार का 'प्रभुता-शिष्य संबंध' या 'नेता-अनुयायी संबंध' का द्योतक है। यह संबंध नेता और अनुयायी के बीच एक व्यवहार-प्रतिमान को जन्म देता है। इस प्रकार इहलौकिक प्रक्रिया का उद्देश प्रभुता एवं नेता के व्यवहार-प्रतिमान में परिवर्तन लाना माना जा सकता है न कि प्रभुता और नेतृत्व का बहिष्करण माना जा सकता है। यह प्रभुता और नेतृत्व चाहे राजनैतिक हो या सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या धार्मिक या इहलौकिक। आज के आधुनिक मानव को भी अच्छी तरह से रहने और कार्य करने के लिए एक प्रभुता एवं नेतृत्व की आवश्यकता होती है। क्योंकि प्रभुता ही आधुनिक मानव के प्रतिदिन के जीवन और व्यवहार में प्रेरक एवं निदेशक बनती है। हम प्रायः यह कहा करते हैं कि आज नेतृत्व का अभाव है या नेतृत्व-संकट है। यह नेतृत्व-संकट चाहे गिरजाधर का हो या राष्ट्र का हो या किसी शैक्षणिक संस्था के विभाग का हो। एक विभाग के सभी सदस्य शैक्षणिक कार्य करने को इच्छुक हैं, परन्तु एक प्रभुता या एक नेता के अभाव में वे कुछ भी नहीं कर पाते। परन्तु जब विभाग में एक सुयोग्य प्रभुता या नेता उपलब्ध हो जाता है तो उस विभाग के सभी सदस्य सक्रिय हो जाते हैं। यह प्रभुता ऐसी होती है कि इसके समक्ष प्रश्न रखने पर वह प्रसन्न होता है। कभी-कभी तो वह प्रभुता अपने सदस्यों को प्रश्न करने के लिए प्रेरित भी करता है। अतः प्रेरणा एवं निदेशन के लिए एक नेता या प्रभुता की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक पहलू के लिए है चाहे वह राजनैतिक जीवन हो या सामाजिक जीवन या धार्मिक जीवन या इहलौकिक जीवन।

अब, अगर इहलौकिक प्रक्रिया धार्मिक आस्था के मौन नियमों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखती है तो इससे धार्मिक आस्था के मौन नियम समाप्त नहीं होते। वास्तविकता तो यह है कि धार्मिक आस्था के मौन नियमों के लिए इहलौकिक प्रश्न आवश्यक हो जाते हैं क्यों कि भूत में ये नियम अपने आप में साध्य माने जाते थे या स्वयंभू माने जाते थे। अतः जब इहलौकिक प्रक्रिया इन मौन नियमों के संबंध में प्रश्न करती है तो यह यही करती है कि क्या मौन नियम अपने आप में शुभ है या वे किसी लक्ष्य का साधन मात्र हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है क्यों कि वास्तविकता यही है कि मौन नियम अपने आप में शुभ नहीं है बल्कि वे किसी लक्ष्य का साधन मात्र हैं। ये नियम साधनमात्र हैं क्यों कि ये शक्ति एवं समुदाय दोनों की प्रार्थना के लिए एक वातावरण का निर्माण करते हैं। फिर मौन नियमों का हमेशा एक उद्देश्य हुआ करता है और वह उद्देश्य एक धार्मिक समाज के लिए होता है। उदाहरण स्वरूप, गिरिजाघर का उद्देश्य मानवता की सेवा है। गिरिजाघर के भी कुछ मौन नियम होते हैं जिनके द्वारा गिरिजाघर के अन्दर प्रार्थना का एक वातावरण तैयार होता है। अतः मौन नियम को अपने आप में एक साध्य नहीं स्वीकारा जा सकता जैसा कि मध्ययुग में स्वीकार किया गया था। परन्तु अगर इहलौकिक प्रक्रिया मौन नियम की व्याख्या इस रूप में करती है तो आज इस व्याख्या से एक धार्मिक व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं होगी।

अंत में, इहलौकिक प्रक्रिया परम्परागत धार्मिक अनुष्ठान को भी परिप्रश्न की कसौटी पर रखता है क्यों कि मध्ययुग में ये धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते थे तथा प्रश्न की सीमा से परे समझे जाते थे। धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने जाते थे क्यों कि ये संस्थापकों द्वारा सर्जित माने जाते थे। फिर, धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने जाते थे क्यों कि इन्हें पोप का ही वचन माना जाता था। परिणाम स्वरूप, इन धार्मिक अनुष्ठानों के परिप्रेक्ष्य में अन्याय को भी उचित ठहराया जाता था क्यों कि ऐसी मान्यता थी कि 'श्रेष्ठों की इच्छा ईश्वर की इच्छा होती है'। इहलौकिक प्रक्रिया के लिए इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का बहिष्कार करना आवश्यक एवं स्वाभाविक हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का बहिष्कार इहलौकिक प्रक्रिया के लिए एक नई बात नहीं कही जा सकती है क्यों कि इन अनुष्ठानों को इहलौकिक प्रक्रिया के बहिष्कार करने के पूर्व ही ईसाई धर्म के नवीन ईश्वरवादियों ने भी परिमार्जित किया था। नवीन ईश्वरवाद के ईसाई विद्वानों ने धार्मिक अनुष्ठानों की व्याख्या के क्रम में एक वैकल्पिक विश्व-दृष्टिकोण ढूंढ़ने का प्रयास किया है जो वैकल्पिक विश्व-दृष्टिकोण इहलौकिक प्रक्रिया के अनुकूल है। धर्म विशेष के अनुष्ठानों द्वारा ही इस प्रयास की व्याख्या की जा सकती है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म का सामूहिक स्वाध्याय लिया जा सकता है। पादचारियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था कि ये ही लोग सामूहिक स्वाध्याय के समय धर्मपत्र एवं दिव्यवार्ता पढ़ने के अधिकारी हैं। परन्तु इहलौकिक प्रक्रिया के उद्भव के साथ ही रोम से एक विधि परिपालन की रचना हुई जिसके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि एक साधारण मनुष्य या यहाँ तक कि एक औरत भी सामूहिक स्वाध्याय के समय धर्मपत्र एवं दिव्यवार्ता का पठन कर सकती है। इस प्रकार इन ईश्वरवादियों के लिए यह आदर्श बिना कि 'हमें समय के अनुसार चलना चाहिए या परिवर्तित होना चाहिए'। इसका यह अर्थ होता है कि धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया के बीच अभियोजन का स्थान सुरक्षित है। इसका यह भी अर्थ होता है कि धर्म इहलौकिकता के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है तथा उसका स्वागत करता है। फिर नवीन ईश्वरवाद में यह भी कहा गया है कि स्वयं ईश्वर ने यहुदी धर्म के अनेक धार्मिक अनुष्ठान एवं शिक्षा को ढूंढ़ा था जो बौद्धिक या या इहलौकिक मूल्यांकन के लिए खुले थे। ईश्वर ने यहुदी नेताओं को स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'विश्रान्तिवार मनुष्य के लिए बना है न कि मनुष्य विश्रान्तिवार के लिए बना है'। उन्होंने इस बात को तब कहा जब विश्रान्तिवार के अवसर पर गेहूँ को दलने के कारण ईसाई धर्म प्रचारकों की यहुदी नेताओं ने आलोचना की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वयं ईसा ने भी परम्परागत धार्मिक अनुष्ठानों की आलोचना की है जैसा कि उन्होंने यहुदी धर्म के कुछ धार्मिक अनुष्ठानों का विरोध किया है, उदाहरण के लिए भोजन के पहले स्नान करना या बर्तनों को साफ करना, आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठान समय और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता के अनुसार लचीले बनते रहे हैं और इस रूप में इनका इहलौकिक प्रक्रिया के साथ विरोध नहीं दिखाया जा सकता बल्कि धार्मिक अनुष्ठानों का यह लचीला पन इहलौकिकता के साथ समानता को स्पष्ट करता है।

धार्मिक अनुष्ठानों की इहलौकिक व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठानों को इहलौकिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है परन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठान मुख्यतः धार्मिक आस्था के ही अंग है। ऐसा इसलिए कि धर्म के समकालीन चिन्तक यह महसुस करते हैं कि अधिकांश धार्मिक अनुष्ठान मध्ययुग के लिए आवश्यक माने गए थे क्योंकि मनुष्य को उस समय मानसिक तन्द्रा से जगाने की आवश्यकता थी और आज भी ये धार्मिक अनुष्ठान प्रतिदिन के काम की अधिकता के कारण आवश्यक दिखते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमें धार्मिक अनुष्ठान की आवश्यकता एक प्रकार का विश्राम पाने के लिए है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमें धार्मिक अनुष्ठानों का पालन अंध रूप से करना चाहिए। यहाँ आवश्यकता इस बात की है कि हम उन धार्मिक अनुष्ठानों को स्वीकार करें जो इहलौकिक प्रक्रिया के अनुकूल हों या जिसका इहलौकिक रूप में मूल्यांकन किया जा सके।

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि जीवन के धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण के बीच जितना विरोध दिखाया जाता है वह बहुत कुछ अत्ययुक्ति है। अत्ययुक्ति इसलिए कि धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों दृष्टिकोणों की व्याख्या से ही यह स्पष्ट होता है। फिर दोनों दृष्टिकोणों के बीच परस्पर सहयोग दिखाकर भी दोनों के विरोध को समाप्त किया जा सकता है। अगर किसी प्रकार की कमी दिखती है तो वह कभी दोनों दृष्टिकोणों में वर्तमान है और अगर दोनों के बीच कुछ गुण पाए जाते हैं तो वे गुण परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कहा जाता है कि अगर मनुष्य के जीवन और व्यवहार से संबंधित धार्मिक दृष्टिकोण में किसी प्रकार की ज्यादती देखी जाती है तो मनुष्य के जीवन और व्यवहार से संबंधित इहलौकिक दृष्टिकोण में भी ज्यादती देखी जाती है। उदाहरण स्वरूप, इहलौकिक विचार-धारा द्वारा भी जीवन के लिए एक खतरा स्पष्ट दिखता है कि बौद्धिकता पर अधिक बल देने के कारण मानव जीवन उदासीन, यान्त्रिक एवं नीरस हो जाता है क्योंकि जीवन और अनुभूति मानव अनुभूति के दृश्य पहलू तक ही सीमित रहते हैं और इस प्रकार अनुभूति के अबौद्धिक पहलू उपेक्षित हो जाते हैं, इनका निषेध हो जाता है तथा इनका रूप निम्नतर हो जाता है। इसी प्रकार, धार्मिक व्यक्ति की भी यह एक भारी भूल है कि वह इहलौकिकता को मात्र एक विचारधारा या सिद्धान्त या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन के रूप में देखता है। वास्तव में, अगर वे इहलौकिकता को इस रूप में समझते हैं तो वे इहलौकिकता की नींदा करते हैं और इस प्रकार वे परम्परा में सीमट जाते हैं। परन्तु वे यह समझ नहीं पाते कि जिस आधार पर वे परम्परा का सहारा लेकर आधुनिकता की नींदा करते हैं, उनकी परम्परा की नींदा भी आधुनिकता का सहारा लेकर की जा सकती है। अतः यहाँ पर मध्यममार्ग यही हो सकता है कि परम्परा और आधुनिकता दोनों को अंगीकार किया जाए। क्योंकि कहा जाता हैं कि शुभ का संचय अच्छा है, परन्तु साथ-ही साथ शुभ की खोज भी अच्छी है। परम्परा शुभ का संचय करती हैं तथा आधुनिकता शुभ की खोज करती है। फिर कहा जाता हैं कि पराकोटि का संचय अशुभ है तथा पराकोटि की नवीनता की सनक भी अशुभ है क्योंकि दोनों प्रकार के दृष्टिकोण मनुष्य को मानवताशून्य बनाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया की पराकाष्ठा ही खराब है और इसी पराकाष्ठा के कारण दोनों के बीच विरोध दिखता है। शुद्ध स्वभाव में धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया परस्पर सहयोग के द्योतक हैं।

फिर भूत की वस्तु की सिर्फ यह कह कर नींदा नहीं की जा सकती कि वह भूत की वस्तु है। ऐसा इसलिए कि जो वस्तु भूत की है वह आज भी इहलौकिकतावादी विश्व के किसी-न-किसी भाग में वर्तमान है। इससे यह भी अर्थ नहीं निकलता कि भूत की वस्तु का महत्व दिखा कर इहलौकिकतावादी की बौद्धिकता का हम निरादर करें बल्कि हमें इनकी बौद्धिकता का आदर करना होगा क्योंकि इहलौकिकतावादी और धार्मिक दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है और अपने-अपने क्षेत्र में उनका अपना एक विशेष अधिकार है। परन्तु इस अधिकार से भी इहलौकिक प्रक्रिया और धर्म के बीच विरोध स्पष्ट नहीं होता क्योंकि मानव जीवन और उसके व्यवहार का पूर्ण विकास सिर्फ धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण के परस्पर सहयोग द्वारा ही सम्भव है। फिर यह विश्व एक अनेकतावादी विश्व है और यहाँ पर एकमात्र सहारा तर्क, परिप्रश्न और आस्था एवं अभिव्यक्ति द्वारा मूल्यांकन बनते हैं।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि 'ईश्वर-प्रदत्' या 'पूर्वज-प्रदत्' के रूप में परम्परागत रूढ़ाचारों एवं मूल्यों की अन्ध स्वीकृति द्वारा उतना मानवीय ह्रास नहीं होता जितना अज्ञानतावश उन रूढ़ाचारों एवं मूल्यों का अन्ध बहिष्कार द्वारा होता है। इसलिए, जीवन और अनुभूति का प्रतिक्षेपण इस बात को स्पष्ट करता है कि जीवन के लिए जितने अनुभूति और सत्यता के अबौद्धिक आयाम सत्य और महत्वपूर्ण हैं उतना ही बौद्धिक एवं इहलौकिक आयाम सत्य और महत्वपूर्ण है। उदाहरण स्वरूप, पवित्रता दोनों रूपों में– निवेश की अनुभूति, दोष या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्धुत्व की अनुभूति, पृथक्करण– पूर्ण मानव जीवन में आवश्यक तत्त्व हैं। क्योंकि दोनों रूपों में पवित्रता मानवता के आयाम को ग्रहण करती है। इस प्रकार इन्हें अस्वीकार करने का अर्थ मनुष्य को मानवता से दूर ले जाना है तथा उसके लिए समन्वयात्मक आत्म-दर्शन की प्राप्ति भी कठिन हो जाती है।

फिर इहलौकिक प्रक्रिया के प्रभाव में आकर आधुनिक मानव यह कहते हुए परम्परागत प्रतीकवाद को तजता है कि हमें किसी भी पवित्रता, प्रतीकवाद, प्रतीकात्मक वस्त्र एवं जीवन-पद्धति की आवश्यकता नहीं है। यह सत्य है कि अधिकांश परम्परागत पवित्रता हमारे धार्मिक जीवन के लिए अनावश्यक दीखती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उन्हें पूर्णतया तज दें। इसलिए यहाँ पर एकमात्र समाधान यही रखा जा सकता है कि धार्मिक आस्था को तजने में समय बरबाद न करें बल्कि उनकी पूर्णव्याख्या अधिकाधिक शक्ति एवं उत्साह से करें तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य के लिए नई संगति की खोज करें।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिक दृष्टिकोण के स्वभाव में धर्म-विरोधी, चर्च-विरोधी एवं परम्परा-विरोधी गुण सन्निहित नहीं हैं। ऐसा इसलिए कि इहलौकिकता मानव को अपनी स्वतन्त्रता के सबसे ऊँचे स्तर पर रहने का आवाहन करती है और इस रूप में इहलौकिक प्रवृत्ति 'जीवन के पवित्र पहलू' के अस्तित्व का आवश्यक रूप से निषेध नहीं करती क्योंकि इहलौकिक प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता, इमानदारी, सत्यनिष्ठा, न्याय एवं मनुष्य का सम्मान निहित हैं। परन्तु, साथ-ही-साथ इहलौकिक प्रवृत्ति जीवन के पवित्र पहलू को मात्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं करती है बल्कि इसे समीक्षात्मक परीक्षा की कसौटी पर रखती है। फिर, इहलौकिक दृष्टिकोण मानव जीवन के ऐसे तत्त्वों का निषेध नहीं कर सकता जिसका सम्बन्ध इहलौकिकता से न हो परन्तु साथ-ही-साथ पवित्रता को विशेषाधिकार भी नहीं दिया जा सकता है। प्रत्येक अवस्था में धार्मिक आस्थाएँ इहलौकिक प्रक्रिया के लिए मूल्यांकन का विषय हैं।

इससे यह स्पष्ट होता हैं कि हमारे जीवन के लिए इहलौकिक प्रवृत्तियाँ आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हैं क्योंकि हमने चेतन रूप में एवं स्वतः अनेकानेक इहलौकिक प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया है जो हमारे जीवन के अधिकांश पहलुओं– यहाँ तक कि धार्मिक सामुदायिक जीवन– को भी प्रभावित करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम ने अपने को पूर्णतः इहलौकिकवाद में खो दिया है। यह सत्य है कि हम आधुनिक इहलौकिक विश्व का एक अंग हैं परन्तु यह भी सत्य है कि हम इहलौकिक विश्व से ऊपर भी रहने की इच्छा रखते हैं। ऐसा इसलिए कि विश्व में जो शक्तियाँ कार्य करती हैं वे शक्तियाँ **हमारे ऊपर** और **हमारे** द्वारा कार्य करती हैं। अब, धार्मिक व्यक्ति होने के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन शक्तियों का निषेध न करें बल्कि हम इन शक्तियों के सम्बन्ध में पारस्परिक जागरूकता विकसित करें ताकि हम सत्यता को वस्तुपरक एवं बौद्धिक रूप में स्वीकार कर सकें। फिर हमें मात्र इन शक्तियों का कठपुतली बनना नहीं है बल्कि हमें इन शक्तियों का नायक बनना है।

धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया की व्याख्या तथा विश्लेषण से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं।

सर्व प्रथम धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया एक दूसरे के विरोधी दिखते हैं परन्तु इस विरोध का कोई ठोस स्थायित्व नहीं देखा जाता जब उनके संबंध में हमारा चिन्तन गहन होता है। धार्मिक आस्था इहलौकिक दृष्टिकोण का विरोधी तभी दिखता है जब धार्मिक आस्था अंध एवं रूढ़िबद्ध ,होती है। एक नवीन विचार की संभावना को समाप्त नहीं किया जा सकता जिसे 'बौद्धिक इहलौकिक आस्था' कहा जा सकता है। अगर एक धार्मिक आस्था इहलौकिक धरातल पर आधारित होती है तो यहाँ पर यह सतर्कता दिखानी होगी कि धार्मिक आस्था के तत्त्व पूर्णतः अलौकिक न हो और तब धार्मिक आस्था इहलौकिकता का विरोधी नहीं है। इस प्रकार की सतर्कता नवीन ईश्वरवादियों द्वारा दिखायी गयी है। इन्होंने धार्मिक आस्था को रूढ़िबद्ध आस्था के स्तर पर जाने से रोकने का प्रयास किया है।

फिर नवीन ईश्वरवादियों ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि इहलौकिक अनुशीलन भी एक प्रकार से धार्मिक आस्था पर आधारित है। कारण, इनकी दृष्टि में इहलौकिक प्रक्रिया एक गौण प्रक्रिया है, इसके पहलू तभी स्पष्ट होते हैं जब प्रक्रिया का कुछ विकास होता है। अतः प्रारम्भ में, यह भी एक प्रकार की दृढ़धारणा पर ही आधारित रहती है। जब तक इहलौकिक प्रक्रिया में दृढ़धारणा नहीं होती तबतक हम इहलौकिक रूप में नहीं सोच पाते हैं। यही कारण है कि नवीन ईश्वरवादियों ने पवित्र तत्त्वों में आस्था के प्रारम्भिक महत्व को स्वीकार किया है, जैसे, बड़ों, नेता, प्रभुता, आदि के प्रति सम्मान दिखाना। फिर, नवीन ईश्वरवादियों की यह दृढ़धारणा है कि कालान्तर में पवित्रता संबंधी संप्रत्यय की इहलौकिकता भी स्पष्ट हो जाएगी। परन्तु, इस संम्प्रत्यय की इहलौकिकता ढूंढने में प्रारम्भिक आस्था आवश्यक है। इसलिए, यदि धार्मिक आस्था को सही रूप में समझा जाय तो यह इहलौकिकता विरोधी नहीं दिखती है क्योंकि यह इहलौकिकता पर पूर्णतः आधारित नहीं है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिकता धार्मिक आस्था का निषेध नहीं है बल्कि यह धार्मिक आस्था को सन्धिबद्ध प्रणाली में विकसित होने में सहायता प्रदान करती है। प्रत्येक कार्य मौलिक रूप से धार्मिक आस्था का कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, परन्तु यह तबतक धार्मिक आस्था का पूर्ण कार्य नहीं बनता जबतक यह इहलौकिक एवं विचार के आत्म-व्याख्यात प्रणाली में विकसित नहीं होता है। इसलिए, धार्मिक आस्था, जो मात्र धार्मिक आस्था है तथा इहलौकिकता से दूर रहती है, एक भूल है। यहाँ पर धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया का परस्पर सहयोग स्पष्ट होता है। धार्मिक आस्था पवित्रता के रूढ़िबद्ध सत्यों पर नियंत्रण रखने के लिए इहलौकिक प्रक्रिया की सहायता की आकांक्षा रखती है तथा इहलौकिकता को अपने साहसी कार्य करने के लिए धार्मिक दृढ़धारणा की आवश्यकता होती है।

धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया के परस्पर सहयोग को दूसरे रूप में भी स्पष्ट किया जा सकता है। यह कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण कुछ मूल्यों को अपने अन्दर समाविष्ट करते हैं। उपर यह दिखाया गया कि दोनों दृष्टिकोणों से संबंधित मूल्य एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु दोनों की वास्तविक व्याख्या से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों दृष्टिकोणों की भिन्नता दोनों प्रकार के मूल्यों को पूर्णत: असमान नहीं बनाती। वास्तव में, जिस रूपमें ये मूल्य दोनों दृष्टिकोणों के बीच देखे जाते हैं वे एक समान हैं। मूल्यों को धार्मिक एवं इहलौकिक दोनों दृष्टिकोणों में अनिगृहीत किया जाना आवश्यक है क्यों कि इसके अभाव में प्रत्येक कार्य अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित एवं जीवन के लिए हानिकारक हो जायगा। मूल्यों के प्रति सजगता जीवन एवं व्यवहार में व्याख्या लाती है। इसी जागरूकता में धार्मिक आस्था कुछ धार्मिक मूल्यों की पूर्णता की बात करती है और फिर इसी जागरूकता में इहलौकिक मूल्य इहलौकिक जीवन के आदर्श बनते हैं। इसप्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिक एवं धार्मिक दोनों मूल्यों की उत्पत्ति समान प्रतिफल में निहित है।

अन्त में, धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया दोनोंका उद्देश्य जीवन में व्यवस्था स्थापित करना है। इहलौकिक प्रक्रिया कार्यों को नियोजित करती है, यह जीवन में किसी भी अव्यवस्था की अनुमति नहीं प्रदान करती। वास्तव में, जो व्यक्ति इमानदारी से इहलौकिक जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा रखता है उसे अव्यवस्था से घृणा हो जाती है। ऐसे व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन व्यवस्थित रूप में कार्य करने के लिए एक व्यवस्था एवं एक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। इसी प्रकार, एक वास्तविक धार्मिक व्यक्ति अपने जीवन मे एक व्यवस्था एवं एक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। इसी प्रकार, एक वास्तविक धार्मिक व्यक्ति अपने जीवन में एक व्यवस्था को अपनाता है तथा असंगति एवं विशीर्णता की शक्तियों के प्रति विमुख हो जाता है। वास्तव में, मानव जाति के इहलौकिक एवं धार्मिक जीवन के सर्वेक्षण से यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था हमेशा इहलौकिक जीवन की व्यवस्था में सहायक रही है तथा व्यक्ति के जीवन को एकता प्रदान करने में सफल रही है। इसने कुछ ऐसी हालातों को जन्म दिया है जिनमें व्यक्ति सुरक्षा महसुस करता है तथा अपने को प्रसन्न पाता है। इस रूप में यह कहा जाता है कि धार्मिक आस्था ने मनुष्य के इहलौकिक जीवन में सहायता प्रदान की है। अतः यह कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया के बीच का विरोध वाह्य धरातल पर है, दोनों को दो प्रकार से देखने में है, वास्तविकता में दोनों मानव जीवन के विकास में एक दूसरे के सहायक है।

दर्शन विभाग
किसान कॉलेज, सोहसराय,
नालन्दा (मगध विश्वविद्यालय)

– संजीवन प्रसाद

टिप्पणियाँ

१. बी. विल्सन; रेलिजन इन सेक्युलर सोसाईटी, पृष्ठ ११२.
२. वहीं
३. वहीं, पृष्ठ–१४.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद

काश्मीर शैव दर्शन[1] में शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है तथा सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य नहीं है। शिव पर सृष्टि करने के लिए न तो बाह्य बाध्यता आरोपित की जा सकती है और न आन्तरिक बाध्यता ही शिव में हो सकती है। आन्तरिक बाध्यता इसलिए नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है[2] जिसकी पूर्ति के लिए वह सृष्टि करे। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि शिव अपने आनन्द के लिए सृष्टि करता है जो शिव का स्पन्द है। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाह्य बाध्यता भी नहीं हो सकती क्योंकि शिव का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है जो शिव को सृष्टि करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करे। इस प्रकार बाह्य अथवा आन्तरिक बाध्यता का नितान्त अभाव होने से यही कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहें तो सृष्टि नहीं होगी। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।

सृष्टि–प्रक्रिया शिव का स्वरूप–लक्षण नहीं है।

किन्तु काश्मीर शैवशास्त्र में ऐसे कथन मिलते हैं जिनके कारण स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों के कारण सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मान लिया जाता है जिससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिए आवश्यक है।[3] सृष्टि करने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप-लक्षण नहीं है बल्कि अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो तटस्थ-लक्षण है। शिव सृष्टि स्वेच्छा से करता है तथा इसे न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मानने के कुछ आधार हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। काश्मीर शैव-शास्त्र में शिव को पंचकृत्यकारी[4] कहा गया है तथा पंचकृत्यों की व्याख्या में यह कहा गया है कि पंचकृत्य शिव द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वभावतः होते हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है जो सदैव पंचकृत्य करता रहता है। इस कथन से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है[५] तथा इसके होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसका संपादित होना आवश्यक है (क्योंकि यह कहा ही गया है कि वह सदैव पंचकृत्य करता रहता है)।

किन्तु पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पंचकृत्य स्वरूप में ही अनूस्यूत हैं वरन् यह है कि पंचकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता; ये कृत्य शिव द्वारा अनायास (effortlessly) संपादित होते हैं। पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पंचकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द है जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहंविमर्शात्मक क्रिया का अनुस्यूत होना मानते हैं जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पंचकृत्य अहंविमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम्विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

पंचकृत्यों को स्वभाव इसलिए भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जा सकता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप-लक्षण नहीं है किन्तु खेलना किसी उद्देश्य से नहीं है इसलिए स्वभाव कहा जाता है; वैसे ही शिव की सृष्टि शिव का स्वभाव है। अद्वैत-वेदान्त में जहाँ स्पष्ट रूप से सृष्टि को ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण कहा गया है वहाँ गौड़पादाचार्य ने उपर्युक्त अर्थ में ही भगवान् का स्वभाव कहा है।[६]

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मानने का आधार एक यह भी है कि सृष्टि को शक्तिरूप अथवा शक्ति का विकास[७] माना जाता है तथा शक्ति शिव रूप ही है अथवा शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता।[८] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूप-लक्षण मान लेना स्वाभाविक[९] है किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों का सृष्टि को शक्ति का विकास मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शक्ति के दो स्तर करते हैं। वे चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति को शिव की स्वरूप-शक्ति मानते हैं किन्तु इच्छा, ज्ञान, और क्रिया को शिव की स्वरूप-शक्ति नहीं मानते। इन शक्तियों को केवल शिव की शक्ति कहा गया है। सृष्टि आदि पंचकृत्यों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान, क्रिया के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मेष और निमेष से है न कि चित् और आनन्द से। चित् और आनंद अहंविमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अहंमिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य नहीं है। यह शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार सृष्टि को शक्ति का विकास मानने का तात्पर्य यही है कि सृष्टि शिव की इच्छा-शक्ति का विकास है जो क्रमशः ज्ञान और क्रिया-शक्तियों के रूप में विकसित हो कर प्रकाशित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का जो स्वभाव कहा गया है और जिसके आधार पर सृष्टि को शिव का स्वभाव मान लेना स्वाभाविक है उसका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है या शिव के लिए सृष्टि करना आवश्यक है अथवा वह नित्य सृष्टि करते रहने के लिए बाध्य हैं। सृष्टि को शिव का स्वभाविक कार्य कहने का अर्थ इतना ही है कि सृष्टि करने के लिये शिव में कोई कारण अथवा उद्देश्य (motive) नहीं है, वरन् उसका स्वतन्त्र स्पन्द है। यदि शिव नित्य सृष्टि-लीला करता भी हो तब भी यह आवश्यक नहीं कि सृष्टि को शिव की आवश्यक प्रक्रिया (necessary process) माना जाय। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिव सृष्टि को हमेशा करता रहता है या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य है या नहीं अथवा दूसरे शब्दों में, सृष्टि-क्रिया भी चिदानन्द की ही भांति शिव का स्वरूप ही है या नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र के समग्र सिद्धान्त को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि शिव सृष्टि-विषयक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र है, सृष्टि करने के लिए वह बाध्य नहीं है और न सृष्टि-प्रक्रिया उसी प्रकार स्वरूप में है जिस प्रकार चिदानन्द है।

सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार

काश्मीर शैव-शास्त्र के दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के भेद का विवेचन नहीं किया है, इसी कारण सृष्टि-प्रक्रिया के विषय में भिन्न व्याख्याएँ (Interpretations) संभव हैं। यहाँ जो यह पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप-लक्षण नहीं है वरन् स्वातन्त्र्य है, इसे मानने के लिए शैव शास्त्र में कुछ ठोस आधार हैं, जो निम्नलिखित हैं।

शिव को काश्मीर शैव-शास्त्र में स्पष्ट रूप से बार-बार अनुत्तर कहा गया है।[१०] यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जाएगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से विश्व इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो इसका मूल्य जागतिक पदार्थों से अधिक नहीं होगा। किन्तु शिव को विश्वोत्तीर्ण मानना आवश्यक है तथा आगमों एवं काश्मीर शैव-शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है अतः सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही माना जाना चाहिए। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई भी उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र [११] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को बार-बार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है।[१२] साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी भंग नहीं होता। [१३] किन्तु यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो काश्मीर शैव-शास्त्र के इन कथनों का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। अतः यही मान्य होना चाहिए कि सृष्टि-प्रलय शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है और स्वातन्त्र्य में यह अर्थ निहित है कि शिव सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि करना न करना पूरी तरह से शिव की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर है। किन्तु यदि सृष्टि-कार्य को शिव का स्वरूप-लक्षण माना जाय तो सृष्टि-विषयक स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

शक्ति का स्तर भेद भी सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार है। चित् आनन्द को स्वरूप-शक्ति कहा गया है किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वरूप-शक्ति नहीं कहा गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को केवल शक्ति कहा गया है। सृष्टि को इच्छा-शक्ति का ही विकास कहा गया है न कि चित् या आनन्द-शक्ति का।

इसका भी यही अर्थ हुआ कि चिदानन्द शिव के नित्य स्वरूप में है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया उसकी स्वातन्त्र्य-क्रिया है। चिदानन्द के स्तर पर जो शक्ति या क्रिया होती है वह केवल अहंविमर्शरूप (self-consciousness, 'I am') है, यह उसका स्वरूप-लक्षण होने से शिव में नित्य ही रहेगा; दूसरे शब्दों में, शिव सृष्टि करे अथवा न करे अहंविमर्श उसमें नित्य रहेगा। अहंविमर्श स्वरूप-वाली क्रिया या शक्ति शिव के विरहित होने का कोई प्रश्न नहीं होता, किन्तु इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाली शक्ति का स्वरूप अहंमिदम्विमर्श (I am this) रूप है जो तभी होता है जब कि शिव सृष्टि करता है। इसी का प्रतीक शिव का नटराज रूप है। शिव जब सृष्टि-प्रक्रिया से रहित हो कर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है (जिसका प्रतीक शाम्भवी मुद्रा है) तो उस समय अहंमिदम्विमर्श नहीं रहता, वरन् केवल अहंविमर्श रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि शक्ति अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श के दो स्तर मानना परमावश्यक है। शक्ति के इस स्तर-भेद को न मानने से भ्रांति (confusion) हो सकती है।

स्वातन्त्र्य के भेद

सामान्यतया स्वातन्त्र्य के दो भेद किए जाते हैं। एक सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to)। काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य का होना माना गया है। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में केवल सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) मानता है; क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) नहीं मानता। यह सम्भवतः इसलिए नहीं माना गया है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) दोनों ही माने गये हैं क्योंकि काश्मीर शैव-शास्त्र के अनुसार दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है बल्कि क्रिया से है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से विरोध हो सकता है, जैसा कि सम्भवतः अद्वैत-वेदान्त मानता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ कर्म-स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है अतः इसका सत्ता स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है। यदि शिव में सृष्टचादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के संदर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र ही होगी।

स्पन्द-सिद्धान्त

काश्मीर शैव दर्शन में शिव का यह क्रिया-स्वातन्त्र्य काश्मीर शैव शास्त्र का स्पन्द-सिद्धान्त [१४] है। सामान्यतः समस्त मानवीय क्रियाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वह जो ऐच्छिक (Voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता है। दूसरा वह जिसमें कर्ता को आयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं जैसे स्वसन् क्रिया या सहज-क्रिया (Reflex action) आदि। दूसरे वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते वरन् उसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है जैसे आनन्द में उत्थित क्रिया। काश्मीर शैव दर्शन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी को शिव का क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) कहा गया है जिसका पारिभाषिक नाम स्पन्द (Spontaneity or spontaneous activity) है।

इस स्पन्द की तीन-चार विशेषताएँ हैं जो शिव के क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करती हैं। स्पन्द में इच्छा-शक्ति (will) को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे, उसमें कर्ता की बाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसलिए स्पन्द को स्वातन्त्र्य कहा जाता है। तीसरे, कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक-क्रिया जैसा अज्ञान नहीं रहती। चौथे, स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (Overflowing or emanation) है।

स्पन्द को आनन्द का सहज उच्छलन माना जाता है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[१५] यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है। क्योंकि शिव का स्वरूप ही आनन्द है तथा आनन्द का सहज उच्छलन ही सृष्टि है। किन्तु सृष्टि शिव के स्वरूप में नहीं है क्योंकि आनन्द के इस उच्छलन में शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। सृष्टि को आनन्द का सहज उच्छलन कहने का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिए ही सृष्टि करता है; उसमें शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। आनन्द का यह उच्छलन शिव के स्वरूपानन्द से ही होता है किन्तु उसमें शिव का स्वातन्त्र्य है।

शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है।[१६] काश्मीर शैव-शास्त्र के इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है।[१७] किन्तु शिव में सृष्टि का नित्य होना (पूर्वस्थिति) नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिती में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अतः शिव की इच्छा के ही सृष्टिरूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है; यह शिवेच्छा से ही निर्मित है।

शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से अनुस्यूत नहीं है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है। इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि शिव में जो सृष्टिविषयक इच्छा है, वह यद्यपि अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होने वाले ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) जैसा प्रतीत होती है किन्तु यह अंग्रेजी वाला ऐच्छिक कर्म नहीं है क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिव को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् इच्छा स्वाभाविक रूप से अनायास शिव में उत्थित होती है। अतः यह शिव की स्पन्दात्मक इच्छा या संकल्प (spontaneous willing) है न कि ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) है। स्पन्दात्मक इच्छा (Spontaneous willing) कहने में विरोधाभास (paradox) दीख सकता है किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शिव में सृष्टि की इच्छा उठती है इसलिए इसे इच्छा या संकल्प नाम दिया जाता है। किन्तु चूंकि यह संकल्प स्वाभाविक रूप से अनायास उठता है, इसलिए इसको स्पन्द कहा जाता है। तार्किक दृष्टि से ऐसा मानना संगत है कि मन में संकल्प अपने आप रूप में उठता है। अतः "स्पन्दात्मक संकल्प" (Spontaneous willing) कहने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि को शिव का स्वभाव कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दृष्टि से तो सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप भी कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह स्वरूप में ही तो हो रहा है, स्वरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। हाँ, स्वरूप-शक्ति और शक्ति का स्तर-भेद करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब हम इस प्रश्न को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य (necessary action) है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य नहीं है और इस अर्थ में सृष्टि उसका स्वरूप नहीं है।

— कैलासपती मिश्र

शोध-छात्र,
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.)

टिप्पणियां

१) काश्मीर शैव दर्शन से हमारा तात्पर्य "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" से है।
२) स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो। शि. दृ. वृ. पृ. ६.
३) यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम् ॥ क्षेमराज (पराप्रा.)
४) एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टि संहारान्विधत्ते युगपद् विभुः ॥
—बोधपंचदशिका, श्लोक ६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५) अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टि संहारादिना प्रपंचयति ।

—ई. प्र. वि. भा. । प्र. १९५.

६) देवस्यैष स्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।

—माण्डूक्य कारिका । १/९

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

—तंत्रालोक भा. ३, आ. ५/४०

८) तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एवं तथा तथा । —शि. दृ. आ. ४/५

९) यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्त रूपथं तत्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते । महेश्वरानन्द, महार्थमंजरी.

१०) न सन्न चासत्सदन्न च नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम् ।। —तंत्रालोक, २/२८.

११) ई. प्र. वि भा. १०, पृ. १४.

१२) तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् । —तंत्रालोक १/१३६

१३) नहि तस्य स्वतंत्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।

—तंत्रालोक, २/४७.

१४) श्री भगवतः स्वातन्त्र्यं शक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधा त्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।

—स्पन्द निर्णय, पृ. ३.

१५) स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशतिरूपमामृशन् यत्स्वयंनिजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् । —शिवस्तो. १३—१५.

१६) यदेतदाभासनं यासाविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवतोनिर्मातृत्वम ।

— भास्करी, भा. २ । ४ श्लोक १.

१७) परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेद कल्पे नास्ते ।

— ई. प्र. वि. भा. २, पृ. १८१.

१८) स्पन्द निर्णय, पृ. ३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारधारा और सामाजिक संघर्ष

मंदिरों में मूर्तियाँ होती हैं और उनका मानव-समाज के एक बड़े भू-भाग पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु सच्चाई तो यह है कि ये मूर्तियां विचारों के प्रतीक होते हैं, जो भले ही अदृश्य हों लेकिन हमारे जीवन को भयानक रूप से प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। हम भी इन विचारों के आगे समर्पित हो जाते हैं। असल में, भाव ही दुर्गा है, दियार ही परमेश्वर है। विचार विश्व का नियामक और नियंत्रक है। विचार ही सभ्यता और संस्कृति के उन्नायक और सामाजिक क्रान्ति के जनक होते है। इसलिए कहा गया है कि विचारों की आवाज तोपों से अधिक भयानक होती है और उसमें परमाणु बम से भी प्रबलतर शक्ति होती है। विचार-शक्ति सैन्य-शक्ति से अधिक महान् है। विचार का विजय-रथ अश्वारोहियों या आधुनिक टैंको से भी अधिक द्रुतगामी और स्थायी होता है। जिस युद्ध के पीछे किसी विचारधारा का बल नहीं रहता है, वह अंततोगत्वा पराजय को प्राप्त होता ही है साथ-साथ वह केवल नृशंसता का पर्यायवाची रहता है। हमें जो विचार प्राप्त होते हैं उसी के आचार पर हम अपना जीवन और समाज का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार कठोर पाषाण को हृदय विदीर्ण कर जल की धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार विचारधारा भी बिना किसी कोलाहल के समाज के गहन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों को छेद कर समाज में नया प्रकाश एवं नयी प्रेरणा देते हैं। इस मानी में विचारधारा समाज का दर्पण होता है।

मनुष्य विचारशील प्राणी है और विचार ही उसकी सर्वश्रेष्ठ धरोहर है। हाँ, यह अक्सर कहा जाता है कि विचारशील हो कर भी यथार्थ में मानव विवेक और तर्क से सप्ताह के केवल एक दिन ही काम लेता है। शेष दिनों में वह अपने भाव, संवेग, उद्वेग, पूर्वाग्रह आदि से ही प्रभावित हो कर कार्य करता है। लेकिन फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि व्यक्ति के अपने जीवन और विचारधारा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसीलिए सामाजिक संगठन या विघटन, समाज-परिवर्तन या समाज-संघर्ष

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सामाजिक-आर्थिक राजनैतिक कारणों के अलावा मनोवैज्ञानिक और वैचारिक तत्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। मानव की क्रियाओं और व्यवहारों के पीछे हमारी मूल्य प्रवृत्तियाँ और स्वाभाविक वृत्तियाँ भी रहती हैं। मानव-समाज के निर्माण, संरक्षण और विकास में झुंड में रहने की मूल प्रवृत्ति का महत्व मान्य ही है। यह कहना शायद आधिक सही होगा कि मानव-समाज किसी कृत्रिम सामाजिक-प्रसंविदा पर नहीं अपितु मानव की स्वाभाविक सामान्य वृत्ति पर आचारीत रहता है। इसके अतिरिक्त नेतृत्व एवं समर्पण और अनुसरण या दूसरे शब्दों में प्रभुत्व की आकांक्षा और आज्ञापालन की भावना भी सामाजिक जोवन का आधार बनता है। हाब्स ने भय को सामाजिक जीवन का आधार मान कर भरसक गलती की है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए ही लोग स्वाभाविक रूप से मिलजुल कर रहते हैं। अतः समाज एक प्रकार के मुक्त-अनुशासन (Free discipline) से चलता है। इसके अतिरिक्त सामाजिकता प्रदान करनेवाली अन्य मूल्य प्रवृत्तियाँ भी हैं, जैसे- सुरक्षात्मक प्रवृत्ति, सृजनवृत्ति, आक्रामकता, प्रभाव डालने की आकांक्षा आदि। ये सभी वृत्तियाँ किसी न किसी रूप में मानवीय व्यवहार को नियंत्रित एवं मर्यादित करते हैं। लेकिन जहाँ सहज सहानुभूति की भावना सामाजिकता के मूल्य में है, वहाँ "**अहं**" की भावना पृथकत्व और "**क्रोध**" असामाजिकता पैदा करते हैं।

मूल प्रवृत्तियों के समाजीकरण में **शिक्षा** और **वातावरण** का प्रमुख योगदान है। जापान- जर्मनी में शिक्षा का सैन्यीकरण (militarisation of education) किया गया जिसके गर्भ से ही फासिस्टवाद एवं नात्सीवाद का जन्म हुआ। इसलिए हमें यह मानना होगा कि शिक्षा वातावरण को भी निमंत्रित करती है। (Education is directed and controlled environment.) ब्रिटिश शासन में पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन से यह लगता था कि 'भारतीय धर्मनिष्ठ एवं अंध विश्वासी होते हैं,' 'हिन्दु-मुसलमानों का बैर शाश्वत रहेगा,' और 'अंगरेजी शासन की बदौलत ही समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था है।' यह ठीक है कि वातावरण के माध्यम से ही सामाजिक वृत्तियों का उदात्तीकरण सम्भव है। उसी तरह सामाजिक संस्कार, धार्मिक पर्व और समारोह एवं नैतिकता के नियमों का भी पुनर्गठन किया जा सकता है।

समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपने सामान्य सामाजिक स्तर से ऊँचा उठने की क्षमता रखते हैं जिससे महात्मा या मुसोलिनी, लिंकन या हिटलर का आविर्भाव होता है। किन्तु हर महात्मा या मुसोलिनी के लिए सैकड़ों-हजारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों को सामाजिक शोषण और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। असल में समाज अपने सामान्य निर्जीव धरातल से उठनेवाले व्यक्तियों के मार्ग में भयानक अवरोध उपस्थित करता ही है।

यहीं पर व्यक्तिगत और सामाजिक विचारधारा का संघर्ष शुरू होता है। जब समष्टि की विचारधारा युगानुकूल नहीं होती तो व्यक्तियों में भयंकर असंतोष उत्पन्न होते हैं एवं अपसमायोजना की समस्या उत्पन्न होती है। फिर सामाजिक संघर्ष समूह की उन वृत्तियों के कारण भी पैदा होता है जो समष्टि की विचारधारा के विरुद्ध होती हैं। कभी-कभी समष्टि की विचारधारा उनके सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर या उनके नैतिक-बौद्धिक स्तर से काफी उँची होती है और समूह उस विचारधारा को अंगीकार करने की स्थिति में नहीं रहता है। उदाहरण स्वरूप, चीनी यात्री फाहियान द्वारा वर्णित तत्कालीन भारतीय समाज की कल्पना कीजिए जहाँ चोरी का नाम नहीं था और लोग अपना घर-द्वार खुला छोड़ देते थे। यदि तत्कालीन समाज में **'अस्तेय'** की भावना दृढ़ नहीं होती तो यह असंभव था।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक-संघर्ष के मूल में ओडिपस कम्प्लेक्स की अभिव्यक्ति मानी जाती है जिसके कारण बच्चे के अचेतन में अपने पिता के प्रति घृणा का भाव, समाज, शासन, जाति एवं संस्था सब के लिए आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है। असल में पिता पिता के रूप में नहीं बल्कि तत्कालीन संस्था, समाज-व्यवस्था एवं शासन का प्रतीक होता है, जिसके प्रति विद्रोह की भावना जागृत होती ही है। राष्ट्र के स्तर पर दीर्घकालीन हीनता की भावना से भय का उद्रेक होता है जिसके कारण सामाजिक सुरक्षा एवं शान्ति को खतरा हो जाता है।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिक कारणों के सिवाय बहुत सारे समाजशास्त्रीय कारण भी होते हैं जिनके कारण विचारधाराओं का संघर्ष होता है। सामाजिक संगठन के आधारभूत तत्त्वों में "**सहयोग**" और "**भय का अभाव**" माना जा सकता है। जिनसे हमारे जान-माल-इज्जत को खतरा हो सकता है, उनके साथ हमारा मैत्री या सहयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार अत्यधिक स्वार्थपरता से भी सामाजिक संगठन को मदद नहीं मिल सकती। सहानुभूति, उदारता, त्याग आदि के बिना सामाजिकता संरक्षित नहीं रह सकती। जब व्यक्तिगत भोग और छोटे-छोटे क्षुद्र अनुमात्रिक स्वार्थ का आधिक्य हो जाता है तो विभेद, विघटन और संघर्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। राजनीति में दुश्मन का दुश्मन दोस्त कहा जाता है लेकिन सामान्य नियम है कि प्रेम हमें एक करता है और घृणा सामाजिक जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जोड़नेवाली प्रक्रिया को कमजोर करती है। इसलिए तटस्थता या उदासीनता तथा विरोध या घृणा की वृत्तियाँ सामाजिकता के लिए बाधक हैं।

विदेशी संस्कृतियाँ जब मैत्री के भाव से आती हैं तो फिर परस्पर आदान-प्रदान चलता है लेकिन जब वे विजेता बन कर अमैत्रीभाव से आती हैं तो सामाजिक संघर्ष अवश्यम्भावी ही हो जाता है। जो समाज अत्यधिक अनुदार एवं परम्परावादी होता है, वह नये आदर्शों, मूल्यों और व्यवस्थाओं के साथ अपने को अभियोजित नहीं कर पाता, फलस्वरूप नयी समस्याओं और नयी प्रतीतियों का सामना नहीं कर पाने के कारण समाज में संघर्ष पैदा होता है। इसीलिये परम्परा और प्रगति के बीच समन्वय नहीं करनेवाला समाज विघटन की ओर अग्रसर होता है। किसी भी समाज पर अपनी प्राचीन वंश-परम्परा का अधिक प्रभाव रहता ही है और वह परदेशी संस्कृति की आक्रमता का विरोध करता है। मानसिक जड़ता तथा नवीन और अज्ञात के प्रति भय एवं आशंका के कारण अपनी ही परम्पराओं और विश्वासों से जुड़ा रहना पसन्द करता है। हाँ, जिनको विदेशी संस्कृति से किसी प्रकार का भौतिक लाभ या कोई पद या प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह अवश्य उसकी तरफदारी करता है। लेकिन जो सामाजिक रूप से दबा हुआ रहता है या वर्ग-जाति आदि के भेदभाव से ग्रासित रहता है, वह अपनी परम्परा को भी आसानी से छोड़ देता है। उँच-नीच के अनेकानेक भेदभाव से परिपूर्ण शोषित और दलित हिन्दू समाज का धर्मान्तरण भी इस तरह समझा जा सकता है। धर्म परिवर्तन भी सामाजिक संघर्ष का कारण बनता है क्योंकि एक ओर तो धर्मान्तरण धर्म के स्वाभिमान पर चोट है, दूसरी ओर नये धर्मावलम्बी अपने नये धर्म के प्रति आवश्यकता से अधिक वफादारी दिखाने के मोह में अपने परित्यक्त धर्म के प्रति आक्रामक एवं घृणात्मक रवैया अपना कर सामाजिक संतुलन को चोट पहुँचाते हैं। जहाँ धर्म परिवर्तन लोभ, लालच, चोखा-घड़ी या बल-प्रयोग से होता है, वहाँ प्रतिशोध की भावना जन्म लेती है और यह सामाजिक संघर्ष को प्रचय देता है।

जैसा हम पूर्व विवेचन कर आये हैं, सामाजिक संघर्ष में शिक्षा का भी निर्णायक स्थान है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से हम अपने समाज की प्रचलित विचार-धारा एवं व्यवस्था की खामियों को जानते हैं तथा कभी-कभी हमें यह भी भान हो जाता है कि उन्हें दूर करने का कोई शान्तिमय साधन नहीं है। निहित स्वार्थ की पकड़ इतनी मजबूत दिखायी देती है कि उसके लिये हमें कठोर संघर्ष ही एक मात्र रास्ता दिखायी देता है।

किसी भी समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि यहाँ के सामाजिक जीवन के प्रति असंतोष कम से कम हो। किसी भी समाज-संगठन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतिशीलता ही उसको जीवन्त रख सकती है। जो समाज परीवर्तनशील विश्व-व्यवस्था के अनुरूप समुचित गति से अपने को अभियोजित नहीं कर सकेगा, फिर वहाँ विनाशकारी सामाजिक संघर्ष एवं विघटन पैदा होंगे ही।

सामाजिक संघर्ष के मुख्यतः तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं-

क) सामाजिक जीवन पर विचारधारा का प्रभाव एवं प्रतिक्रिया
ख) शोषण
ग) वर्ग-संघर्ष

विचारधारा की प्रतिक्रिया के अनेक रूप होते हैं। विचारधारा के पीछे कोई निश्चित दार्शनिक दृष्टि भी हो सकती है। जैसे, विश्व के प्रति भौतिकवादी दृष्टि शाश्वत मूल्यों का निषेध करती है। शायद इसीलिये जे. पी. ने एक विचार उछाला था– कि 'भौतिकवाद से साधुता को प्रश्रय नहीं मिल सकता।' भौतिक-वादी विचारधारा माननेवालों के लिए समाज विभिन्न अवयवों का एक यांत्रिक योग है अतः उसमें 'दायित्व', 'कर्तव्य', या 'आदर्श' आदि निरर्थक है। इसी-लिये यदि भौतिकवादी विचारधारा का समाज के मानस पर प्रभाव होगा तो पूर्ण सामाजिक एवं नैतिक अराजकता होगी।

उसी तरह यदि फ्रायड के अखिल काम-मनोविज्ञान या भगवान रजनीश के 'काम-अध्यात्म' या 'संभोग से समाधि' की विचारधारा का समाज के मन पर आधिपत्य होगा तो निश्चय ही ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, आदि नैतिक मूल्यों को जलांजलि दे कर एक नैतिक अराजकता की स्थिति पैदा हो जायेगी। इतिहास की आर्थिक व्याख्या की विचारधारा यदि समाज के मानस पर हावी हो जायगी तो जीवन के उदात्त मूल्यों की शृंखला बिखर जाएगी। लेकिन यदि मान लीजिए इतिहास को आर्थिक व्याख्या के साथ फ्रायड-रजनीश का सर्वकामवाद जुड़ जाएगा तो सर्व-नाश ही मानिये। हम दूसरे क्षेत्र से भी उदाहरण ले सकते हैं। दहेज की कुत्सित प्रणाली को लें। जिस विचारधारा में विवाह एक आर्थिक व्यवसाय हो जाय या विवाह को एक वैज्ञानिक वेश्यावृत्ति तथा मातृत्व को एक दुखद परम्परा मान लिया जाय वहाँ की स्थिति का हम स्वतः अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति के मूल में हमारा व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ एवं कुछ पूर्वाग्रह ही रहते हैं।

यही असामाजिकता और अपराध-कर्म को भी जन्म देते हैं। यदि देखा जाय तो असामाजिक व्यक्ति एवं अपराध-कर्मी के बीच की विभाजन रेखा अत्यन्त क्षीण होती है। असामाजिक व्यक्ति नवीन विचारों को समाज के समक्ष उघालता है जबकि अपराध-कर्मी उन दुष्प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारता है। उसी प्रकार समाज-सुधारक और असामाजिक कहे जानेवाले व्यक्तियों में भी एक समानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। समाज-सुधारक भी समाज की स्थापित परम्पराओं, रीति-रिवाजों के प्रति विद्रोह करता है, अतः प्रारम्भ में वे भी असामाजिक, यहाँ तक कि अपराध-कर्मी की तरह माने जाते हैं। इतिहास साक्षी है कि सुकरात, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गांधी आदि महान् नैतिक प्रतिमाओं को नये विचारों को लाने के लिए कितना उपहास, उपेक्षा, उत्पीड़न और दंड सहना पड़ा। असल में मानव स्वभाव से कुछ अनुदार ही होता है, इसलिए वह अपनी जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं से चिपका रहने में ही सुरक्षा अनुभव करता है और नये विचारों के प्रति प्रतिरोधात्मक भाव बना लेता है। अपराध-कर्मी एवं समाज-सुधारक में यही अन्तर है कि जहाँ अपराध-कर्मी सदा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ की सीमाओं में कैद रहता है, समाज सुधारक के सामने व्यापक आदर्श एवं लोकसंग्रह की भावना रहती है।

कभी-कभी ऐसी विचारधारा भी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जिसके कारण सामाजिकता का ह्रास होता है। भगवान बुद्ध ने "संघ" की स्थापना कर "भिक्षु" परम्परा का निर्माण किया। प्रभु ईसा मसीह ने भी "भिक्षु" "भिक्षुणियों" का विधान किया जो आजन्म अविवाहित रहने का व्रत लेते थे। इससे गार्हस्थ्य पर अवस्थित सामाजिकता की उपेक्षा हुई एवं धार्मिकता-आध्यात्मिकता के साथ सामाजिक-जीवन का विरोध-भाव सामने आया। लेकिन ऐसी विचारधारा को हिन्दू धर्म में अस्वस्थ माना गया है। इसलिए सन्यास की व्यवस्था चतुर्थ आश्रम में दी गयी है। कर्म का परित्याग कर मोक्ष भी नहीं मिल सकता है— "न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति।" यही लोक-संग्रह की भावना है। उपनिषद् भी "कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविशेत् शतं समा" की बात करती है।

सामजिक संघर्ष का दूसरा कारण शोषण की विचारधारा है जिसके अनेक रूप हैं– आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि। यह भूल है कि केवल मालिक ही मजदूर का शोषण करता है, अवसर आनेपर मजदूर भी मालिक का शोषण करने से नहीं चूकता। जो हो, शोषण के क्रम में शोषक शोषित के व्यक्तित्व के साथ खिलवाड़ करता है। व्यक्ति साध्य नहीं, साधन बन जाता है। यही कारण है कि शोषण के कारण समाज-संघर्ष को गति मिलती है। शोषक-शोषित के बीच ऐसा कटु सम्बन्ध बन जाता है कि वे दोनों भूल जाते है कि दोनों एक ही समाज-व्यवस्था के अंग हैं और दोनों का लक्ष्य एक ही है, जो दोनों के परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति से ही समृद्ध हो सकती है।

शोषण वर्ग-संघर्ष और जाति-संघर्ष को जन्म देता है। प्रत्येक समाज का एक समान हित होता है। इसलिए यदि वर्ग-संघर्ष होता है तो उसके समानहित सिद्धि में बाधा होगी। यदि समाज का हर वर्ग एक दूसरे से संघर्ष की स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाय तो सामाजिक-जीवन का हर तन्तु टूट जायगा। हाल के साम्प्रदायिक एवं जातिगत दंगों में हम यह देख चुके हैं। इस प्रकार के सामजिक संघर्ष में किसी वर्ग या जाति का लाभ नहीं होता है। सभी कष्ट, भय एवं अविश्वास का जीवन जीते हैं। जाति एवं सम्प्रदाय भी वर्ग के रूप हैं, केवल वे पूर्णत: व्यावर्तक होती हैं। इसलिए उनका प्रेम, सहानुभूति, उदारता जाति या सम्प्रदाय विशेष की मर्यादाओं से सीमित रहता है। जातिवाद या सम्प्रदायवाद से केवल सम्बद्ध जाति या सम्प्रदाय का ही अहित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन पीछे चला जाता है। इन दोनों के निवारण के लिए रोटी-बेटी का सम्बन्ध ही आवश्यक है। वरना राष्ट्र का विखंडन हो सकता है।

वर्ग-संघर्ष की विचारधारा भी अनेक दृष्ट संभावनाओं से भरी हुई है। वर्ग-संघर्ष से वर्ग-निराकरण तक पहुँचने का रास्ता तार्किक रूप से असंगत एवं व्यावहारिक रूप से खतरनाक है। संघर्ष से संघर्ष ही उत्पन्न होगा। यही कारण है कि हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र समाप्त नहीं होता। अत: वर्ग-निराकरण के लिए भी कोई दूसरा विकल्प ढूंढ़ना होगा। कम से कम प्रचलित हिंसा की मान्यता तो काल बाह्य हो चुकी है। गांधी ने इसलिए सत्याग्रह के रूप में युद्ध का नैतिक विकल्प सामने रखा और जयप्रकाशजी ने अहिंसक वर्ग-संघर्ष का विचार हमारे सामने रखा था। आण्विक युग में हमारे सामने "अणु" का एक ही विकल्प है- "अहिंसा"।

– रामजी सिंह

दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्तामूलक तर्क और धार्मिक विश्वास

प्रस्तावना

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य सत्तामूलक तर्क और उसमें अन्तर्निहित धार्मिक विश्वास का समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। ईश्वर-विज्ञान का इतिहास बौद्धिक तर्क के द्वारा ईश्वरीय आस्तित्व को स्थापित करने के असंख्य प्रयासों से भरा हुआ है। सत्तामूलक तर्क इसी प्रयास का एक विशिष्ट उदाहरण है। मध्य-युगीन दार्शनिक सन्त एन्सेल्म ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक **प्रोसोलोजियम** में इस तर्क को इसके शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया। मध्य-युग धार्मिक अन्वेषण का युग माना गया है। यहूदी-ईसाई परम्परा ही इस युग का मुख्य धर्म है। एन्सेल्म अपने युग विशेष की धार्मिक विचारधारा से प्रभावित हैं। इसीलिए सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में भी उनका दृष्टिकोण यहूदी-ईसाई परम्परा की धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित है। पर, ईश्वरीय अस्तित्व के लिए तर्क और धार्मिक विश्वास में स्पष्ट विरोधाभास परिलक्षित होता है। एक ओर तो तर्क के माध्यम से ईश्वरीय अस्तित्व की चर्चा को तार्किक रूप देने का प्रयास किया जा रहा है तो दूसरी ओर धार्मिक विश्वास इसी ईश्वर में पूर्ण आस्था को प्रकट करता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या एन्सेल्म उपर्युक्त विरोधाभास के संदर्भ में अपने मत-विशेष की संरक्षा कर सकते हैं?

स्वरूप

सत्तामूलक तर्क प्रागनुभविक तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें मात्र ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ईश्वरी अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। यह तर्क अपने आधार वाक्य के रूप में किसी ऐसे प्रकथन को स्वीकार नहीं करता जो वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभवमूलक (इम्पेरीकल) सूचना देता हो। सत्तामूलक तर्क कुछ संप्रत्ययों के अर्थ विश्लेषण पर ही पूर्णतः आश्रित है। इस विशेष संप्रत्यय के बोध के लिए कुछ विशिष्ट निरीक्षित तथ्यों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षा रखना अनिवार्य नहीं। इसके लिए मात्र इसके आधारवाक्यों में अन्तरग्रसित विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ का पूर्वाभास ही अनिवार्य है। सार-रूप में सत्तामूलक तर्क का मुख्य मन्तव्य यही है कि यदि किसी व्यक्ति को इस तर्क के आधारवाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न वैध संप्रत्ययों का स्पष्ट बोध है, तो 'ईश्वर अस्तित्ववान् है' प्रकथन निष्कर्ष के रूप में अनिवार्यतः अनुगमित होगा। संक्षेप में सत्तामूलक तर्क का रूप यही है कि एक पूर्ण सत्ता का अस्तित्व है, क्योंकि पूर्ण सत्ता के संप्रत्यय में ही उसका अस्तित्व भी सन्निहित है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वरीय अस्तित्व के बारे में पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है तो उसके लिए इस प्रकार का अभिकथन विश्वसनीय नहीं होगा। स्पष्टतः सत्तामूलक तर्क के मूल स्वरूप को तभी समझा जा सकता है जबकि हम उसके आधार वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ से पूर्व परिचित हों।

एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क

प्रोसोलीजियम में सत्तामूलक तर्क का निरूपण करते हुए एन्सेल्म ने कहा है कि "ईश्वर का विचार ही ईश्वर की सिद्धी करता है। हम ईश्वर को पूर्ण रूप से जानते हैं। इस पूर्ण विचार का कारण अपूर्ण मनुष्य नहीं हो सकता। अतः पूर्ण विचार का कारण पूर्ण ईश्वर ही है। ईश्वर विचार से ही ईश्वर की सिद्धि होती है।"[1] एन्सेल्म के उपर्युक्त विचार को निम्नलिखित रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

बृहत् वाक्य

ईश्वर वह है जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है।

लघु वाक्य

जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है, वह अवश्य विचार और वास्तविकता दोनों में सत् होगा।

निष्कर्ष

इसलिए ईश्वर मात्र विचार में नहीं वरन् वस्तुजगत् में भी सत् है। उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर-विचार से ही ईश्वरीय सत्ता सिद्ध की गयी है। एन्सेल्म का अपने विचार को 'ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता का विचार अकल्पनीय है' के रूप में सूत्रित किया गया है। एन्सेल्म इसी सूत्र के द्वारा पूर्ण सत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं। इस मूल सूत्र में बृहत्तर पद महत्वपूर्ण है। 'बृहत्तर' पद को गुणात्मक और मात्रात्मक इन दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। गुणात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक बुद्धिमान है या 'क' 'ख' से अधिक सुन्दर है। इसी प्रकार मात्रात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक घन है या 'क' 'ख' से अधिक घनी है। गुणात्मक और मात्रात्मक दृष्टान्तों में एक महत्व-पूर्ण अन्तर यह है कि मात्रा कि चर्चा जब की जाती है तो यह जरूरी नहीं कि गुण की चर्चा उसके समतुल्य हो। उदाहरणार्थ, यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस चीज को 'क' ने 'ख' से अधिक पैसे में बेचा हो वह 'ख' की चीज से सुन्दर हो ही।

इस संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य कल्पनीय नहीं है' का अर्थ निरूपण भी वांछनीय है। इस स्थल पर भी 'बृहत्तर' पद का अर्थ मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में लिया जा सकता है। हम मान लें कि सभी वास्तव और संभाव्य सत्ताएँ किसी न किसी बढ़ती हुई मात्रा या बढ़ते हुए मूल्य क्रम में व्यवस्थित किए गए हैं। उदाहरणार्थ, यदि 'अ' को सेकेण्ड माना जाय, 'ब' को मिनट, 'स' को घंटा, आदि तो स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि अनुवर्ती श्रृंखला के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती श्रृंखला के सदस्यों की अपेक्षा दीर्घकाल तक उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार हम वस्तु, व्यक्ति और क्रियाओं को बढ़ते हुए सौन्दर्य, न्यायप्रियता, दयालुता, निष्ठा इत्यादि जैसे गुणों और मूल्यों के क्रमिक व्यवस्था के रूप में श्रृंखलाबद्ध कर सकते हैं। इस दृष्टान्त में भी अनुवर्ती क्रम के सभी सदस्य अपने पूर्ववर्ती सदस्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यपूर्ण माने जायेंगे। सामान्य रूप में यह कहा जाता है कि 'एक विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं है' तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उस व्यवस्थित श्रृंखला में एक ऐसा सदस्य है जिससे अन्य कोई सदस्य पूर्व-वर्ती नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम सबसे वैभवशाली व्यक्ति का विचार करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि इस व्यक्ति से अधिक वैभवशाली व्यक्ति और कोई नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति इस व्यक्ति की तुलना में कम वैभवशाली ही मानें जायेंगे। इसी प्रकार यदि हम सबसे अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय व्यक्ति की कल्पना करते हैं, तो इसका अर्थ होगा कि कोई भी वास्तव या संभाव्य सत्ता इस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय नहीं होगा।

एन्सेल्म ने स्वयं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन दो व्यापक अर्थों-गुणात्मक अथवा मात्रात्मक-में से 'बृहत्तर' पद के लिए किस अर्थ को प्रयुक्त करना चाहते है। एक स्थल पर उन्होंने यह संकेत अवश्य दिया है कि जब वे पूर्ण सत्ता (ईश्वर) के संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता से बृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं' पद का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य गुणात्मक अर्थ से है।[२] ऐसी सत्ता 'जिससे बृहत्तर कोई अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं है' का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जिसमें मूल्य की मात्रा सर्वोच्च विचारणीय रूप में है। एन्सेल्म के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय अस्तित्व संबंधि सत्तामूलक तर्क को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान करती है।

धार्मिक अभिवृत्ति

ईश्वर को परिभाषित करते हुए एन्सेल्म ने कहा है 'यह एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।' यह उनकी धार्मिक अभिवृत्ति की वैध अभिव्यक्ति है। फिर, इस तर्क के आलोचक एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा में अन्तरग्रसित धार्मिक अभिवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। इनकी मान्यता है कि एन्सेल्म की ईश्वर-परिभाषा में शुभत्व एवं ज्ञान का अभाव है। यह परिभाषा अमूर्त है। इस प्रकार एन्सेल्म की ईश्वर-परिभाषा यहूदी-ईसाई धर्म परम्परा में चर्चित वैयक्तिक ईश्वर के लिए कुछ अपेक्षित विशेषताओं की पूर्ति नहीं कर पाती।

आलोचकों का मत उपयुक्त नहीं। एसेल्म ईश्वर पर गुणों के आरोपन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आत्म-बद्धता (सेल्फ कमिटमेंट) से बचना चाहते हैं। ईश्वर की परिभाषा द्वारा एन्सेल्म यह निर्देशित करना चाहते हैं कि जो भी उपस्थित या संभाव्य गुण हैं, ईश्वर में वे सभी इस मात्रा में अन्तर्निहित है कि किसी दूसरी सत्ता द्वारा इन्हें दमित नहीं किया जा सकता।[३] यदि ज्ञान को स्वाधीन माना जाय तो एन्सेल्म की परिभाषा के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है। यदि ईश्वर पर अनुक्रियाशीलता (रिसपौन्सिवनेस) का गुण संगत रूप से आरोपित किया जाय तो एन्सेल्म की परिभाषा के संदर्भ में ईश्वर की अनुक्रिया (रिसपौंस) नित्य होगी। दूसरे शब्दों में यह कह जा सकता है कि ईश्वर में प्रत्येक विचारणीय पूर्णता (थीन्केबुल परफेक्शन) अपने महत्तम (ग्रेटेस्ट) संभाव्य मात्रा में है। पुनश्च धार्मिक विचारकों ने परम्परागत रूप से ईश्वर के गुण के रूप में पूर्णता की चर्चा की है। इसलिए एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा वैध धार्मिक आधार पर अवलम्बित है।

सत्तामूलक तर्क का वास्तविक स्वरूप

उपर्युक्त विमर्श के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सत्तामूलक तर्क में ईश्वर-प्रत्यय मात्र से ईश्वरीय अस्तित्व अनुमित नहीं होता। इस तर्क में धार्मिक अभिवृत्ति क्रमबद्ध रूप से ईश्वर-प्रत्यय से सम्बद्ध है। अब, स्पष्टतः कहा जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि ईश्वर-प्रत्यय के अस्तित्व में विश्वास को तार्किक प्रामाणिकता (लाजिकल जस्टीफिकेशन) प्रदान करने के लिए धार्मिक अभिवृत्ति का तार्किक औचित्य भी है क्योंकि पर्याप्त ईश्वर-प्रत्यय के सम्बन्ध में यही एक मात्र संभावित अभिवृत्ति है। ईश्वर में विश्वास करने की क्रिया में संवेगात्मक और ज्ञानात्मक दोनों पक्ष क्रिया-शील रहते हैं। ज्ञानात्मक पक्ष 'ईश्वर में विश्वसनीयता' को मात्र स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि ईश्वरीय अस्तित्व में विश्वास को प्रामाणिकता प्रदान करता है।

ईश्वर में विश्वास को आस्था (फेथ) या आत्मबद्धता (सेल्फ कमिटमेंट) कहा जा सकता है। ईश्वर अस्तित्व सम्बन्धी परम्परागत प्रमाण सामान्य रूप से और सत्तामूलक तर्क विशेष रूप से, ईश्वरीय अस्तित्व में अपने-अपने विश्वास को तार्किक प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए तर्कणा का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की तर्कणा का निर्धारण इस तथ्य के आधार पर किया जाता है कि तार्किक रूप से विश्वास आत्म-पर्याप्त और आत्म-वैध नहीं है।[४]

विश्वास और तर्कणा

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ईश्वर में विश्वास करने की क्रिया में ज्ञानात्मक पक्ष महत्वपूर्ण है। वास्तव में, ज्ञानात्मक पक्ष का मुख्य कार्य ईश्वरीय अस्तित्व में युक्तिसंगतता प्रदान करना है। एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में तर्कणा का कार्य मात्र इसमें सन्निहित विश्वास को बुद्धिगमता प्रदान करना है। इस तर्क में तर्कणा का महत्व अत्यन्त गौण है, क्योंकि इस तर्क का मूल स्वरूप ही विश्वासमूलक है। जो लोग एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में तर्कणा पक्ष पर अधिक बल देते हुए इसकी वैधता का प्रश्न उठाते हैं, उनका दृष्टिकोण समकालीन तर्कशास्त्रीय भाषा में प्रयुक्त तर्क से अधिक प्रभावित है। सत्तामूलक तर्क के अधिकांश प्रतिपादकों ने अपने मत विशेष को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। यह आत्म-बद्धता उनके विचार को विश्वासमूलक बना देती है। हार्टसन[५] और माल्कम[६] जैसे समकालीन विचारकों ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। उपर्युक्त प्रसंग को ध्यान में रखते हुए सत्तामूलक तर्क की संगति का निर्धारण आधुनिक तर्कशास्त्रीय भाषा के रूप में नहीं किया जा सकता। 'अनिवार्यसत्ता' के प्रागनुभविक विश्लेषण के आधार पर ही मात्र तथ्यात्मकता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस पद्धति का अनु-सरण करते हुए हम किसी वास्तविक वस्तुस्थिति की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। एक दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक गोलवर्ग (राउन्ड स्कायर) के प्रत्यय के आधार पर यह अनुमित करना संभव नहीं है कि वास्तव में एक गोलवर्ग है। पर, इस दृष्टान्त की तरह सत्तामूलक तर्क के सामर्थ्य को आधुनिक तर्कशास्त्रीय भाषा के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। सत्तामूलक तर्क के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समर्थकों का उद्देश्य ईश्वरीय अस्तित्व में अनन्त विश्वास को व्यक्त करना है। अपने इसी प्रयास में इन्होंने तर्क का आश्रय लिया है। इस प्रवृत्ति को निम्न-लिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :-

"धार्मिक विचारक दैवी अस्तित्व में अपने को पूर्णतः आश्वस्त पाते हैं। ईश्वर की विश्वदृष्टि उनकी कल्पना को इतने प्रभावशाली ढंग से व्यस्त रखती है कि ईश्वरीय अनस्तित्व को सत्य संभावना के रूप में ये स्वीकार नहीं कर सकते।" ७

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क तर्कणा के माध्यम से एक अतीन्द्रिय सत्यता (ट्रानसेनडैंटल आथेन्टिसिटी) में धार्मिक विश्वास को प्रकट करता है। इस सन्दर्भ में एन्सेल्म को इस मत की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी, "हे प्रभू ! मैं तुम्हारे अपार स्वरूप की इस उप-लब्धि के लिए बुद्धि का सहारा लेने का साहस नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि हमारी बुद्धि इस कार्य के लिए समर्थ नहीं। परन्तु मेरा हृदय जिसमें अनुरक्त है उसे मैं (बुद्धि से) समझना चाहता हूँ। इसी से चाहता हूँ कि समझ सकूं। मैं अपने 'विश्वास' को भी विश्वास के बिना नहीं समझ सकता।"८ एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में बुद्धि विश्वास को और प्रबलता प्रदान करती है। ईश्वर विश्वास का विषय है, बुद्धि का नहीं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि एन्सेल्म ने अपने मत विशेष के सन्दर्भ में विश्वास और तर्क के बीच विरोधाभास को बचाया है।

१४३, अनुग्रहपूरी कोलनी, गया। — विजयकुमार सिन्हा

टिप्पणियाँ

१. जान हिक, '**फिलासफी आफ रिलिजन**' (प्रेन्टिस हाल, आई. एन. सी. इंगलवुड़ क्लिफ, न्यू जर्सी, १९६३) पृष्ठ १६-१७
२. एस. एन डीन., '**प्रोसोलिजियम**' (ला सेले, १६४८ अध्याय १४.)
३. डेविड़ एच. कीलसे, '**द फेबरीक आफ पॅलि टीलिव थीयोलाजी**' (न्यूयार्क, १९६७) पृष्ठ ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. ए. डी. वुजले, **इन्टरनेशनल फिलासफिकल क्वाटरर्ली** सन्त एन्ड्रूज युनिवरसिटी, खण्ड ३, १९७३) पृष्ठ संख्या ३३५ और ३३७

५. चार्लस् हार्टसन, **लाजिक आफ परफेक्शन** (ला सेले, ओपन कोर्ट १९६८)

६. (सं.) अल्वीन प्लानटिंगा, **'आनटोलजिकल आर्गुमेंन्ट'** (मेंकमिलन, न्यूयार्क, १९६८)

७. ए. मेकन्टायर– **डिफीकल्टीज इन क्रिश्चन रिलीजियन** (एस्. सी. एम्. प्रेस, १९५६) पृष्ठ ६३

८. एस. एफ. जे. काप्लस्टन, **हिस्ट्री आफ फिलासफी** (इमेज बुक, एन. डी. खण्ड ६) पृष्ट १७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान की अपूर्णता

इस लेख में (मानवी) ज्ञान[1] की अपूर्णता को समझने के दो प्रधान प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

(१)

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान कभी न कभी पूर्ण हो ऐसी अपेक्षा रखी तो भी वह सफल नहीं होती और ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता है। इस प्रकार ज्ञान में आनेवाली अपूर्णता क्यों पैदा होती है यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। ज्ञान की अपूर्णता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से कई प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए हैं। एक ओर कहा गया है कि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अगणित है। किसी एक वस्तु को ही पूर्णतः समझ पाने में कितनी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पडता है। तो ऐसी अवस्था में हम अगणित वस्तुओं को जानना भी चाहें और वह भी पूर्णतः तो वह कैसे संभव हो सकता है? इसलिए हमारा ज्ञान अपूर्ण रहता है। दूसरी ओर ऐसा कहा जाता है कि हमारे पास जानने के लिए समय ही बहुत कम है और इतने कम समय में इतनी अगणित वस्तुओं को पूर्णतः जानना चाहा भी तो वह असंभव होने के कारण ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। हम ज्ञान की अपूर्णता इन में से किसी भी दृष्टि से प्रस्तुत करना नहीं चाहते। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, हम यह विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं कि पूरी दुनिया में सिर्फ एक ही वस्तु क्यों न हो, उसे पूर्णतः जानना असंभव है। अतः दुनिया में वस्तु अनंत हैं इसके कारण ज्ञान की अपूर्णता पैदा होती है ऐसा निरपवादतया नहीं कहा जा सकता। उसी तरह हम यह भी विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं कि हमारे पास समय कम रहता है इसलिए हमारे ज्ञान में दिखायी देनेवाली अपूर्णता पैदा नहीं होती, क्योंकि हमारे पास काफी लंबा समय भी उपलब्ध होता तो भी हमारा ज्ञान पूर्ण हो जाता ऐसा अनिवार्यतः नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति होने की वजह से ज्ञान की अपूर्णता को अगर ठीक तरह से समझना हो तो ऊपर

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनका निर्देश किया है उन प्रस्तावों से किसी भिन्न प्रस्ताव का विचार करना पड़ेगा। ऐसे ही दो प्रस्ताव का प्रस्तुत करना इस लेख का उद्देश्य है।

(२)

यह समझ लेना जरूरी है कि किसी भी वस्तु के बारे में हमारे सामने प्रस्तुत होनेवाले कुल तथ्यों की संख्या अगणित होती है, चाहे वह कौनसी भी चीज हो। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के बारे में होनेवाले तथ्य अनंत होते हैं। इसे ठीक तरह से समझ पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम सत्य और तथ्य में होनेवाले भेद को ध्यान में लें। सत्य हमेशा भाषिक होता है क्योंकि सत्य माने तथ्य का एक या दूसरी भाषा में किया गया निरूपण है। किसी **वास्तविक भाषा** में होनेवाला यथार्थ कथन सत्य का सूत्रीकरण करता है। लेकिन दूसरी ओर से यह कहना भी उतना ही तथ्यपरक है कि सत्य को कथन ही देहधारी बनाता है और जैसा देह के विना भूत पाया जा सकता है वैसा कथन के बिना सत्य नहीं पाया जा सकता। इसके विपरीत, कोई भी तथ्य कदापि भाषिक वस्तु नहीं होता, वह तो दुनिया में पायी जानेवाली कोई वास्तविक परिस्थिति होता है या कोई वास्तविक स्थिति। जिसे किसी न किसी **संभाव्य** भाषा में यथार्थतः प्रस्तुत किया जा सकता है ऐसी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति या स्थिति को तथ्य कहा जाता है। ऐसी स्थिति होने के कारण यह मानना पड़ता है कि सत्यों की तुलना में तथ्यों की संख्या काफी अधिक है। हरेक सत्य किसी तथ्य का कथन अवश्य करता है। लेकिन यह निःसंशय संभव है कि ऐसे तथ्य हैं और होंगे भी कि जो हमारे पास होनेवाली किसी वास्तविक भाषा में कथनीय ही न हों। ऐसा होने का प्रधान कारण यह है कि तथ्य संभाव्य सत्य के साथ सहसंबद्ध होते हैं और इस प्रकार के सत्यों का वास्तविकीकरण जिस प्रकार का समुचित भाषिक उपकरण उनके सूत्रीकरण के लिए हमारे पास उपलब्ध होता चाहिये उसकी उपस्थिति पर निर्भर करता है। सत्य का कथन किया जाने के बारे में एक ही परिमापक महत्वपूर्ण होता है और वह यह कि सत्य किसी वास्तविक भाषा में कथन किया जानेवाला होना चाहिए। इसके विपरीत तथ्य का कथन किया जा सके इसके दो परिमापक महत्वपूर्ण होते हैं: एक, वह कथनीय हो और दूसरा वह किसी संभाव्य भाषा में कथन किया जा सकने वाला हो। मतलब यह हुआ कि कोई तथ्य कथनीय होते हुए भी हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में कथनीय नहीं भी हो सकता है, इसके बावजूद कि वास्तविक भाषा एक संभाव्य भाषा है। कारण वास्तविक भाषा एक संभाव्य भाषा जरूर है लेकिन वह एकमात्र संभाव्य भाषा भी नहीं है या कौनसी भी संभाव्य भाषा भी। यहाँ यह समझना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयुक्त होगा कि तथ्य हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में कथनीय होना ही चाहिये ऐसी व्याप्ति स्वीकार करना कष्टसाध्य है। इसके बारे में बाद में थोडी अधिक गहराई से सोचेंगे।

सत्य और तथ्य में ऊपर दिखाया उस प्रकार का महत्वपूर्ण भेद होने के कारण सत्य वह होगा जो किसी वास्तविक भाषा से यथार्थतया प्रस्तुत किया जा सके और तथ्य वह होगा जो किसी न किसी संभाव्य भाषा में यथार्थतया प्रस्तुत किया जा सके। ऐसा होने की वजह से सत्य और तथ्य दोनों का भी भाषा से संबंध होते हुए भी उनके संबंध में महत्वपूर्ण भेद है और उसे कई बार अनदेखा किया जाता है। वह भेद यह है कि सत्य **वास्तविकतया** भाषा से सम्बद्ध है तो तथ्य **संभाव्यतया** भाषा से सम्बद्ध है। अतः यह मानना पडता है कि तथ्य उपस्थित होते हुए भी उसे सत्य के रूप में प्रस्तुत न भी किया जा सकता हो, क्यों कि हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा ऐसी हो सकती है कि उसमें उक्त तथ्य का कथन ही न किया जा सकता हो। ऐसा क्यों होता है यह आगे स्पष्ट होगा।

किसी भी समय किसी भी एक वस्तु के बारे में जितने सत्य कथनों का उद्घाटन किया जाता या किया जा सकता है उनकी संख्या हमेशा सीमित ही रहती है और ऐसी स्थिति इतिहास में किसी भी विशिष्ट काल के बारे में हमें महसूस करनी पड़ेगी। तथापि वास्तविक जगत् की हमारी संकल्पना इस प्रकार की होती है कि उसके अनुसार किसी एक वस्तु के बारे में अगणित तथ्यों का हम अनुभव करते या कर सकते हैं। ऐसा होने के कारण किसी भी चीज को पूर्णतः समझ लेने का काम हम हाथ में भी नहीं ले सकते और अगर हाथ में लिया भी तो उसमें हमें वास्तविक सफलता भी नहीं मिल सकती। ऐसा होने का कारण यह है कि ज्ञान, या कम-से-कम भाषा में सूत्रीकृत किया हुआ ज्ञान, याने हमने पहचाने हुए सत्य। अतः यह निष्पन्न होता है कि तथ्यों का संख्यात्मक विस्तार उनके बारे में हमें संभवतः होनेवाले ज्ञान के विस्तार से जादा होना अनिवार्य है। याने, तथ्यों का क्षेत्र उन्हें भाषा में अभिव्यक्त करने की हमारी क्षमता की सीमा का ही सिर्फ उल्लंघन नहीं करता बल्कि हमारी उन्हें जानने की क्षमता की सीमा का भी।

इसका मतलब यह हुआ कि हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में जो सीमित भाषिक तथा संकल्पनात्मक सामग्री उपलब्ध हुआ करती है या किसी भी समय हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में जो संकल्पनात्मक आधार उपस्थित रहता है उसके आधार पर हमें प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान हमेशा ही सीमित रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की वजह से हमारे ज्ञान में अपूर्णता आयी तो आश्चर्य नहीं। उसी तरह जो वास्तविक भाषा हमारे पास किसी भी समय उपस्थित हुआ करती है उसमें सीमित सत्यों का ही कथन किया जा सकता है। किसी भी तथ्य का कथन हमारे पास उपलब्ध वास्तविक भाषा में हम करना चाहें भी तो उसमें हमें सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार हरेक सत्य किसी न किसी तथ्य का यथार्थ कथन होते हुए भी हरेक तथ्य सत्य का रूप धारण नहीं कर सकता क्योंकि तथ्य और सत्य में होने वाले भेद को हम बुझा नहीं दे सकते। और जहाँ तक इस प्रकार का भेद बना रहेगा हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। इस प्रकार हमारे ज्ञान में दिखायी देनेवाली अपूर्णता का एक दृष्टि से स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(३)

ऊपर हमने यह कहा कि सत्य का कथन किया जा सके इसके लिए हमारे पास वास्तविक भाषा के स्तर पर कुछ (स्थिर) आधार उपलब्ध होना चाहिए और इस प्रकार का आधार भाषिक और सांकल्पनिक होना चाहिए। लेकिन वास्तविक जीवन में भाषिक या सांकल्पनिक आधार स्थिर नहीं रहता। हमारी वस्तुओं के संबंध में होनेवाली संकल्पनाएं अध्ययन और संशोधन का कोई स्थिर विषय नहीं हुआ करती। वे तो स्थिर होने के बजाय विश्लेषण के परिवर्तनीय या परिवर्तनशील बिन्दु हुआ करती हैं। उदाहरणार्थ, यह बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि हम हमारी सूर्य की संकल्पना उस प्रकार नहीं बनाते जिस प्रकार अरस्तु के समय लोग बनाया करते थे। या हमारी हृदय की संकल्पना गैलेन प्रणीत हृदय की संकल्पना से बहुत ही भिन्न है। उसी तरह यह भी समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि महाराणा प्रताप के पास तलवार थी और उसके बारे में कई तथ्यों की भी उन्हें जानकारी थी। तथापि उन्हें यह निःसंशय मालूम नहीं था कि उनकी तलवार में कार्बन है या उसमें से बिजली का प्रवाह प्रवाहित हो सकता है। ऐसा होने का कारण यह है कि 'कार्बन', 'बिजली का धातु में से होनेवाला वहन' ये ऐसी संकल्पनाए हैं जो उनके आकलन के क्षेत्र के बाहर थीं। इस प्रकार के तथ्य हम जिन वस्तुओं से सामान्यतः परिचित हुआ करते हैं– जैसे वृक्ष, प्राणी, ईंटें, पत्थर आदि– उनके संबंध में भी मौजूद हैं– ऐसे तथ्य कि जो सौ वर्ष पहले किसी को भी मालूम हुआ नहीं करते। और ऐसा होता है इसका कारण यह नहीं कि हमें या अन्य किसी को इस प्रकार की चीजों की पूरी जानकारी नहीं हुआ करती। उक्त प्रकार की स्थिति इसलिए पैदा होती है कि जिन संकल्पनाओं के आधार पर उक्त ज्ञान का सूत्रीकरण किया जा सके उन संकल्पनाओं का ही हमारे पास अभाव होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि महाराणा प्रताप ने आकाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बिजली का चमकना कभी देखा ही नहीं था । उसे देखने के बावजूद भी उनको अगर किसी ने बताया होता कि वे जिस तलवार का उपयोग करते थे उसमें से बिजली के प्रवाह का वहन हो सकता है तो उसे वे समझ ही न पाते ।

वस्तु के स्वरूप के बारे में कौनसा भी समुचित सत्ताशास्त्रीय एवं ज्ञान-शास्त्रीय दृष्टिकोन हमने अपनाया तो उसके आधार पर यही प्रतीत होगा कि हमने जो बात उठायी है वह हमेशा सही होती है । (वि)ज्ञान की नित्य वर्धिष्णु प्रक्रिया ऐसी संकल्पनात्मक परिवर्तन की भी प्रक्रिया होती है कि कुछ सिद्धान्त उसे विशिष्ट काल में अपनानेवाले संशोधकों की आकलन–कक्षा के सदा ही बाहर रहते हैं । और इसका मतलब यह होता है कि किसी भी परिस्थिति में किसी भी वस्तु के बारे में ऐसे तथ्य होंगे जिन्हें हम जान नहीं पायेंगे क्योंकि जिन संकल्पनाओं के आधार पर उनका कथन किया जा सके उनकी ही हमारे पास अनुपस्थिति होने के कारण उन्हें हम संकल्पना के धरातल पर भी नहीं अपना सकेंगे। उक्त तथ्य उस प्रकार के होंगे कि जिन्हें अगर हमारी वास्तविक भाषा में यथार्थ रूप से प्रस्तुत करना हो तो ऐसे दृष्टिकोन को अपनाना पड़ेगा जो हमारे पास उक्त परिस्थिति में उपस्थित ही नहीं हुआ करता, कारण हमारे ज्ञान की अवस्था उतनी विकसित नहीं रहती जितनी कि उनके भाषा में यथार्थ सूत्रीकरण के लिए आवश्यक हो ।

(४)

यहाँ जिस बात का जिक्र हम कर रहे हैं वह यह नहीं कि किसी वस्तु के विशिष्ट धर्म उस वस्तु में पैदा ही न होने के कारण हम उन्हें जान नहीं पाते। ऐसा तो सुस्पष्टतया हो सकता है । जो हमारे सामने प्रस्तुत ही नहीं हुआ उसे हम जानें भी कैसे ? लेकिन हम इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि वस्तुतः तथ्य हमारे सामने उपस्थित होने के बावजूद भी हम उसे जान नहीं पाते हैं और ऐसी स्थिति पैदा होती है इसका कारण हमारे उक्त वस्तु के ज्ञान में ही उक्त तथ्य या उक्त धर्म पैदा हुआ नहीं रहता । उदाहरणार्थ, विल्यम हार्वे के समय के पहले भी मानवी शरीर में रुधिर का परिवहन कराने के लिए हृदय का स्पंदन हुआ करता था, या गैलिलिओ के पहले भी एक भारी वस्तु और एक हल्की वस्तु समान ऊँचाई से एक साथ छोड़ दी जाती तो वे दोनों एक ही समय जमीन पर गिर पड़ती । इस प्रकार की घटनाएँ उनका हमें जभी से ज्ञान होने लगा तभी से ही निसर्ग में घटित होने की शुरूआत नहीं हुई। अतः हम जिस प्रकार की स्थिति पैदा होने की बात कर रहे हैं वह जिनका हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकल्पनीकरण करना चाहते हैं उन वस्तुओं या तथ्यों से संबंधित न होकर संकल्पनीकरण के लिये आवश्यक आकलन-रूप सामग्री के उपलब्धि से संबद्ध है ।

वस्तुओं के धर्म शब्दश: सीमा-मुक्त हुआ करते हैं और जितने किसी वस्तु के धर्म हमने अभी तक खोज निकाले हैं उनसे कई अधिक हम खोज सकते हैं । लेकिन किसी भी वस्तु के इस प्रकार होनेवाले सारे के सारे धर्म एक ही साथ हमारी आकलन-कक्षा में आ ही नहीं पाते और परिणामत: किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी सर्वांगपरिपूर्ण होने की संभावना ही नहीं है । जहाँ तक इस प्रकार हमारी वस्तुओं के संबंध में होनेवाली आकलनात्मक अक्षयशीलता को स्वीकार करने में उक्त प्रकार की बाधा उपस्थित होने की संभावना है वहाँ तक आकलनात्मक एकाधिकार या पूर्णता को हम कदापि नहीं अपना सकते । वस्तुत: किसी भी यथार्थ वस्तु की हमारी संकल्पना में ही आकलनात्मक अक्षयशीलता का अभाव निहित ही है इस प्रकार का दृष्टिकोण हम प्रस्तुत कर रहे हैं। किसी भी वस्तु के बारे में आज हम जिस प्रकार सोचते हैं उससे भिन्न प्रकार से भी हमें शायद सोचना पडेगा इस संभाव्यता को हम अनदेखा नहीं कर सकते । जिस दृष्टिकोण को हम प्रस्तुत कर रहे हैं उसके अनुसार वास्तविक जगत् ऐसा है कि उसका हरेक घटक इस प्रकार से हमारे सामने प्रस्तुत होता है कि उसके बारे में कोई न कोई ऐसा तथ्य हमेशा ही रहेगा जो हमारी आकलनक्षमता के बाहर रहेगा और जिस हद तक यह संभव है उस हद तक किसी भी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी के बारे में पूर्णता की बात करना अस्वीकारार्ह ही नहीं गलत भी है।

यह भी स्वीकार करना उतना ही महत्वपूर्ण है कि किसी भी वस्तु के स्वरूप के बारे में हमें होनेवाली जानकारी गलत भी हो सकती है- गलत केवल वस्तु के स्वरूप-कथन के संदर्भ में ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक गहराई के स्तर पर। वस्तुओं का हमारा आकलन मूलत: ही गलत होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता । कोपर्निकस के पूर्व सूर्योदय के बारे में मनुष्य को जो जानकारी थी उसके पूर्णत: विरोधी जानकारी हमें कोपर्निकस के बाद उपलब्ध होने लगी । या किसी ज्वलनशील वस्तु का ज्वलन फ्लाजिस्टन से वह वस्तु संसर्गित होने की वजह से होता है इस जानकारी को हमें वह गलत होने के कारण छोड़ देना पड़ा । परिणामत: किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी स्थिर और अपरिवर्तनशील रहेगी ऐसा भी हम स्वीकार नहीं कर सकते । साथ साथ हमने यह भी देख लिया कि किसी भी समय किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी संपूर्ण जानकारी है ऐसा भी हम कह नहीं सकते । वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी में परिवर्तन की संभाव्यता को भी नकारा नहीं जा सकता । हमें निसर्ग और नैसर्गिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाओं के बारे में होनेवाली जानकारी हमेशा इस प्रकार अपूर्ण और परिवर्तनशील ही रहेगी और इस दृष्टि से भी ज्ञान की अपूर्णता का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(५)

इसी दिशा में सोचते हुए और भी एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। जिनके आधार पर या जिनकी मदद से जानकारी प्राप्त की जा सके उस प्रकार के साधन हमारे पास हमेशा सीमित मात्रा में उपलब्ध हुआ करते हैं। लेकिन उनकी सीमितता के कारण वास्तविक जगत् की जानकारी प्राप्त करने के हमारे प्रयास में काफी मात्रा में कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। अगर हम निसर्ग को ठीक तरह से समझना चाहें तो ऊर्जा, दाब, उष्णता आदि प्रकार के साधन उपलब्ध कराने के लिए इतने परिमाण में हमारे पास सामग्री होनी चाहिए कि जिसे उतने पैमाने में उपलब्ध करने का कोई रास्ता ही हमारे सामने मौजूद न हो। इसकी वजह से मानव और निसर्ग के बीच जिस प्रकार की अन्योन्यक्रिया संभव होनी चाहिए उसे संभव करने के किसी मार्ग का दरवाजा हमारे लिए खुला ही न हो। ऐसी स्थिति में ऐसी घटनाएँ हो सकती हैं जिनका हमें कोई अन्वयार्थ ही नहीं समझा है। इस प्रकार की अपेक्षा करना गलत है कि निसर्ग हमारे सामने इसी प्रकार की घटनाएँ प्रस्तुत करेगा कि जिनकी आकलनात्मक अर्थवत्ता उतनी सीमा तक ही सीमित रहेगी कि जो हमारी दृष्टि की कक्षा के बाहर न जानेवाली हो। इस तरह से सोचते हुए यह प्रतीत होता है कि जहाँ तक अगम्य घटनाएँ हैं या जहाँ तक अनाकलनीय तथ्य हैं वहाँ तक अपूर्णता के सिवा अन्य कोई स्थिति हमारी जानकारी के बार में हो ही नहीं सकती। जैसे अगर कुछ घटनाओं की हमने जानकारी करा लेने की कोशिश ही न की हो तो हमारा उक्त घटनाओं के संबंध में होनेवाला ज्ञान अपूर्ण रहने की निःसंदिग्ध संभाव्यता होती है उसी तरह अगर कुछ घटनाएँ ऐसी हैं कि जिनकी हम जानकारी ही नहीं पा सकते तो निःसंशय हमारा निसर्गविषयक ज्ञान अपूर्ण ही रहा तो कोई आश्चर्य नहीं। इस तरह से मनुष्य के जगत् के संबंधी ज्ञान प्राप्त करने की जाँच की रचना में ही कुछ निहित धर्म ऐसे हैं कि उनकी वजह से हमें होनेवाला ज्ञान अपूर्ण के बिना और कुछ नहीं हो सकता।

(६)

हमने ऊपर कहा कि ज्ञान अपूर्ण है यह हम ज्ञेय वस्तुओं की अगणितता के आधार पर नहीं प्रस्थापित करना चाहते। किसी एक वस्तु के बारे में होनेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा ज्ञान भी अगर हमने ऊपर दिखाया उस तरह अपूर्ण ही रहता हो तो अनंत प्रकार की वस्तुओं के बारे में हमें होनेवाला ज्ञान अपूर्ण ही होगा। लेकिन महत्व-पूर्ण बात यह है कि ज्ञान की अपूर्णता को सिद्ध करने के लिये या उसे स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार ज्ञेय वस्तुओं की अनंतता की ओर निर्देश करने की कोई आव-श्यकता नहीं प्रतीत होती। अगर पूरे विश्व में सिर्फ एक वस्तु भी होती तो भी उसके बारे में हमें होनेवाली जानकारी पूर्ण जानकारी हो सकती ऐसा भी हम कह नहीं सकते। उसी तरह अगर हमें जाँच-संशोधन के लिए अधिक समय मिलता तो हमें वस्तु के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध हुई होती यह कहना भी उतना ही विवादास्पद है। क्योंकि अरस्तू के समय से लेकर गैलिलिओ के समय तक लगातार लोग यही मानते चले कि भारी वस्तु और हल्की वस्तु एकसाथ एक ही ऊँचाई से नीचे छोड़ दी तो भारी वस्तु जमीन पर पहले गिरेगी। संशोधन के लिए अधिक समय मिला इस आधार पर हमारा किसी वस्तु या घटना के बारे में होनेवाला ज्ञान पूर्ण हो पाएगा इसकी भी कोई अनिवार्य गुंजाइश नहीं दिखाई देती। इस-लिए यह कहना भी उतना ही गलत है कि अधिक समय उपलब्ध होने पर हमारे संशोधन की पूर्ववर्ती अवस्था में दिखाई देनेवाली अपूर्णता कभी न कभी नष्ट हो पायेगी और हमें वस्तु का संपूर्ण ज्ञान हो पायेगा।

हमने देखा कि ज्ञान की अपूर्णता को किसी भी हालत में नकारा नहीं जा सकता और किसी भी वस्तु के बारे में हमें होनेवाला ज्ञान किसी समय पूर्ण हो पायेगा यह पक्ष भी विवादास्पद है और इसलिए उसे अपनाना उतना ही ग़लत है जितना कि हमें आज किसी वस्तु के बारे में होनेवाला ज्ञान पूर्ण ज्ञान है और किसी भी हालत में उस वस्तु के बारे में कोई भी नई जानकारी हमें नहीं प्राप्त हो सकेगी इस प्रकार के दुराग्रह को स्वीकार करना। इस संदर्भ में इस प्रकार सोचते हुए यह भी एक तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है कि सभी वस्तुओं के बारे में ही नहीं, किसी एक वस्तु के बारे में भी सर्वज्ञता का स्वीकार करना गलत भी है और अस्वीकारार्ह भी।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

—मो. प्र. मराठे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणी

१. पाश्चात्य दर्शन में 'मानवी ज्ञान' इस प्रकार का शब्दप्रयोग वारंवार उपयोग में लाया जाता है। उसका उद्देश यह है कि ईश्वरीय ज्ञान से अन्य प्रकार का ज्ञान इस प्रकार का मानवी ज्ञान का आकलन हो। लेकिन जहाँ तक हमारे मन्तव्य का सवाल है वहाँ तक 'मानवी ज्ञान' इस प्रकार के शब्दप्रयोग की कोई आवश्यकता हम महसूस नहीं करते। ज्ञानशास्त्रीय क्षेत्र में हमारा विचार मानवी ज्ञान के बारे में ही होना चाहिए और हुआ भी करता है, और किसी प्रकार के ज्ञान के लिए नहीं। ऐसी अवस्था में केवल ज्ञान शब्द का ही प्रयोग उचित है, तथा मानवी ज्ञान इस प्रकार का प्रयोग अनावश्यक और अनुपयोगी भी है। अतः इसके आगे इस लेख में हम केवल ज्ञान शब्द का ही प्रयोग करेंगे। उसे मानवी ज्ञान के अर्थ में उपयोग में लाया है। एक दृष्टि से ज्ञान और मानवी ज्ञान ये दोनों शब्दप्रयोग एक ही अर्थ के वाचक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन किस दिशा की ओर ?

भारतीय दर्शन स्वाधीन चेतना की रचना हो सके– यही सम्भवत: हमारा ध्येय हो सकता है । प्रत्येक देश के दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि उसका एक समाज हो । यह समाज दार्शनिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ पुनः निर्मित होता जाता है । दार्शनिक अपने समाज को निरन्तर ऐसे मूल्य तथा विचार देता रहता है जिससे नए आदर्श बनते जाते हैं तथा नए आदर्शों व लक्ष्यों के साथ साथ समाज तथा संस्कृति भी परिवर्तित होती जाती है । किन्तु क्या समकालीन भारतीय दर्शन इस स्वाधीन चेतना की रचना में अथवा समाज व संस्कृति के पुनः निर्माण में समर्थ हो सका है ?

मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा से संघर्ष करता आया है । कभी मानव का संघर्ष प्रकृति से होता है, कभी अन्य मानवों से और कभी स्वयं से ।[1] प्रकृति से संघर्ष करने के फल स्वरूप विज्ञान का विकास होता है किन्तु विज्ञान का ज्ञान प्रयोजन के अभाव में अपूर्ण रह जाता है । मानव तथा मानव के संघर्ष के फलस्वरूप राजनीति का विकास होता है; इस संघर्ष का परिणाम शक्ति की उपलब्धि है जहाँ ज्ञान का अभाव है । शक्ति कितनी ही प्रबल हो किन्तु ज्ञान के अभाव में अपूर्ण ही रहेगी । मानव के आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप धर्म का विकास होता है जिससे जीवन के प्रयोजन के प्रति आस्था अवश्य हो जाती है, किन्तु इस आस्था में तर्क का अभाव रहता है । तर्क के अभाव में आस्था तथा प्रयोजन भी निरर्थक व अपूर्ण रह जाते हैं । प्रकृति, अन्य मानव तथा स्वयं से संघर्ष के साथ साथ एक स्वस्थ वैचारिक संघर्ष भी आवश्यक है । दर्शन का कार्य इस वैचारिक संघर्ष द्वारा ज्ञान का तार्किक प्रयोजन निर्धारित कर के, समाज में उस प्रयोजन के प्रति आस्था उत्पन्न करना है । यदि सही अर्थों में शासक दार्शनिक हो सके (अथवा दार्शनिक शासक हो सके) तभी ज्ञान शक्ति और प्रयोजन का समन्वय हो कर समाज व देश को दिशा मिल सकती है ।

हमारे देश के सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों ने दर्शन के सम्मुख एक नई चुनौती प्रस्तुत की है । दर्शन तथा दार्शनिकों के प्रति साधारण मनुष्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदासीनता का कारण स्वयं दार्शनिक तथा दर्शन के शिक्षक हैं क्यों कि हमारे आधुनिक देशवासी को इसका किंचित् मात्र भी ज्ञान नहीं है कि समाज तथा मानव जीवन में सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक, दोनों ही दृष्टिकोणों से दर्शन की कितनी अधिक सार्थकता है। दर्शन, साहित्य, कला तथा अन्य सामाजिक विज्ञान– सभी समाज व मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण हैं, किन्तु दर्शन की महत्ता इन सबसे इसलिए अधिक है क्यों कि केवल दर्शन ही मनुष्य की मूल्य-सम्बन्धी चेतना व आदर्श को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित तथा निर्देशित करता है। दार्शनिक चिन्तन के अभाव में मानवीय चेतना तथा समाज का विकास असंभव है। अतः समकालीन भारतीय दर्शन के प्रति जन साधारण की उदासीनता का प्रथम कारण यही है कि हमारा दर्शन मनुष्य को उसके जीवन में दर्शन की सार्थकता से परिचित कराने तथा उसमें जीवन के मूल्यों तथा आदर्शों का बोध कराने में असफल रहा है।

दार्शनिकों ने सदा ही प्रत्ययों का स्पष्टीकरण किया है। अब उन प्रत्ययों को समकालीन जीवन के संदर्भों में देखना है। हमारे दर्शन के प्रति जन-साधारण की उदासीनता का दूसरा कारण यह है कि कितने ही वर्षों से भारतीय दर्शन ने अपने कदम आगे नहीं बढ़ाए हैं; तथा आगे न बढ़ना, पीछे जाना ही है। रुका हुआ जल भी सड़ने लगता है। उपनिषदों ने आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य किया तथा बन्धन व मोक्ष की समस्या को भी सामान्य जीवन की चर्चा का विषय माना। वेदान्तियों ने उपनिषदों की ही व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोण से इन्ही समस्याओं पर केन्द्रित की। सांख्य तथा योग दर्शन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से परम तत्त्व की व्याख्या तथा ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रवृत्त हुए। न्याय दर्शन ने प्रमाण को तथा वैशेषिक दर्शन ने प्रमेय को अपने सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु माना। यद्यपि बौद्ध तथा जैन दर्शन नीतिप्रधान थे, तथापि उन्हें धर्म-प्रधान माना गया। किन्तु ये सब अब इतिहास के पृष्ठ हो गए हैं। वर्तमान परिस्थितियों में, रचनात्मक दृष्टिकोण से आधुनिक दर्शन में इनका स्थान गौण ही माना जायगा, चाहे हम इनमें किसी आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त की झलक देखने को कितना ही प्रयत्न करें। इस तथ्य को हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते कि पारम्परिक भारतीय दर्शन सदा से नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहा है। समीक्षात्मक दर्शन का तो पूर्ण अभाव ही है। आज के युग में हम अपने पारंपरिक दर्शन को नई भाषा में प्रस्तुत कर के अथवा नए नाम देकर स्वाधीन विचारधारा का निर्माण नहीं कर सकते। चाहे पारंपरिक भारतीय दर्शन अपने आप में कितना ही विकसित हो तथा उसके महत्व की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भले ही सार्थक हो किन्तु वे आज के संदर्भों से टूट चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार विमर्ष की प्रक्रिया ही दर्शन की प्रक्रिया है। मानव विचारशील प्राणी है, अतः दर्शन मानव स्वभाव का एक आवश्यक अंग है। किन्तु मानव स्वभाव का आवश्यक अंग होते हुए भी हम उसे जीवन की परिधि से परे एक रहस्यमय ज्ञान मान बैठे हैं। आज के दार्शनिक को आज के मानव की विचार-धारा को निर्देशित कर के आज के आदर्शों और लक्ष्यों का मूल्यांकन कर के, उनकी स्थापना करना है। दार्शनिक चिन्तन, यहाँ तक कि अमूर्त चिन्तन का आरंभ भी होता है उससे जो विशिष्ट रूप से मानवीय है। मानवता से दर्शन विमुख नहीं रह सकता। यदि आज का हमारा मानव दर्शन तक नहीं पहुँच सका है तब दार्शनिकों का यह उत्तरदायित्व है कि वे दर्शन को मानव तक पहुँचावे क्यों कि जिन प्रत्ययों का दर्शन विश्लेषण करता है वे आवश्यक रूप से साधारण से साधारण मनुष्य के जीवन से जुड़े हैं। वर्तमान युग की नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं ने मानव को जो चुनौती दी है उसका समाधान दर्शन द्वारा ही हो सकता है। समस्याओं के स्पष्टीकरण के अन्तर्गत मुख्यरूप से जो प्रत्यय आएंगे वे हैं :-

१) मानव की स्वतंत्रता तथा उसका गौरव
२) मानव तथा भौतिक जगत्
३) मानव का राजनैतिक व्यवहार
४) मानव का सामाजिक व्यवहार तथा ५) मानव की धार्मिक प्रतिश्रुतियाँ।

इनके विश्लेषण के लिए दार्शनिकों को कुछ प्रमुख लक्ष्य अपने सम्मुख रखने होंगे। उनमें इतना नैतिक बल होना चाहिए कि वे अपने विचारों को पारंपरिक दर्शन की छाया में व्यक्त न करके, नए सिद्धान्तों की रचना करे। आज के भारतीय दार्शनिकों में वर्तमान समाज के प्रति एकत्व की भावना होनी चाहिए जिससे वे समाज और संस्कृति को एक नया मोड़ दे सकें। उनमें इतना आत्मविश्वास होना चाहिए कि पाश्चात्य दर्शनों की छाप अपने सिद्धान्तों पर न देकर स्वाधीन विचारधारा का निर्माण करें। हमारे दार्शनिकों को ऐसे सिद्धान्तों की रचना करनी है, दार्शनिक समस्याओं की इस प्रकार व्याख्या करनी है कि दर्शन केवल एक अमूर्त, अनुभवातीत तथा अज्ञेय सत्ता का बोध बन कर ही न रह जाय। अतः एक ऐसे समीक्षात्मक दर्शन का विकास करना है जो समकालीन चिन्तन का अंग बन कर आज के जीवन के ढ़ाँचे में ढाला जा सके, जिससे वह विज्ञान के ज्ञान को प्रयोजन, राजनीति की शक्ति को ज्ञान तथा धर्म के प्रयोजन को तार्किक दिशा दे सके। इसके परिणाम स्वरूप ही दर्शन हमारे सामाजिक परिवेश का अंग बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर मानव को प्रकृति, अन्य मानवों तथा अपने से संघर्ष के योग्य बना कर एक स्वस्थ वैचारिक संघर्ष की परंपरा का निर्माण करके स्वाधीन चेतना की रचना कर सकेगा।

– प्रेम मिश्र

अजीत भवन
राइका बाग
जोधपुर

टिप्पणी

१) Russell, B.; New Hopes for the Changing World, p. 18.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रियाएँ

(१)

श्री यशदेव शल्य ने अपने लेख 'कला-सर्जन'[१] में दर्शन की अवधारणाओं के माध्यम से सर्जन-प्रक्रिया का जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। उससे रस-विवेचन की गुंजलक में सुलझाव आता है और मुद्दों को ब्यौरेवार समझने में सहायता मिलती है। 'विमर्श चित् का बुद्धिमूलक प्रस्फुटन है'[२] कहना अपने में सर्वथा नवीनता का द्योतक है। उन्होंने चित् के उन्मीलन-स्रोतों में बाह्योद्दीपन के साथ स्वतोद्भव को भी उपादान के बिना असम्भव बताकर स्फुरण की अस्वाभाविकता सिद्ध कर दी है। सर्जन में सत् और चित् के द्वैतभाव की अनिवार्यता घोषित करने में भी हमें सर्वथा नवीनता दिखायी देती है। किन्तु इसमें असंगति वहाँ पैदा होती है जब वे यह स्थापित करते हैं कि 'चित् ही विषय-पक्ष के स्थगन द्वारा विषयी रूप में आत्म-विमर्श करता है'[३] और 'व्यक्ति-मुक्त विषयिगत-भावना के रूप में उपभोग और उस भोगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है"।[४] ऐसा कहने में वे कलावाद की जड़ों को ही पानी देते हैं। यह रचना-प्रक्रिया की वास्तविक स्थिति से दूर की चीज हो जाती है।

प्रश्न यह है कि यह चित् है क्या वस्तु? क्या वस्तु के प्रति अपनी प्रत्येक अनुक्रिया में हम उसे प्राप्त करते हैं? हमारा विचार है, नहीं। वस्तु-साक्षात्कार के समय हमारे संवेग स्नायुविकार से ग्रसित रहते हैं। दूसरे, भावावेश शायद अपने में कोई सुखद अनुभव भी नहीं है। अतः ऐसे विषयोन्मुख प्रवर्तन में चित् की तलाश करना वृथा है। यदि अनुक्रिया में बोध का समावेश करें और चित् को चेतना का पर्याय मानते हुए उसे आवेगों का आवेश कहे तो स्थिति कुछ बदलती हुई नज़र आती है। किन्तु विषय में चित् का प्रवर्तन मात्र इतना भौंडा और कुरूप होता है कि उसे किसी को कह नहीं सकते हैं। वह व्यक्ति का अत्यन्त निजी होता है, फिर प्रत्यक्ष अनुभूति का क्षण रचना का क्षण कैसे हो सकता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अनुभव कितना ही निजी या विषयिगत क्यों न हो, उसकी कोई निरपेक्ष सत्ता भी नहीं होती है। वह तो स्वयं कार्य और कारण-रूप बाह्य परिवेश पर निर्भर करता है (चूँकि उससे प्रकाशित भी होता है) और सतत परिवर्तनशील तथा मात्रक से गुणात्मक परिवर्तन की ओर सक्रिय रहता है। उसमें सदा कुछ मरता और पैदा होता रहता है। हम कारण के बिना कार्य को बता ही नहीं सकते हैं। अतः चित् की ऐसी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जो अपने होने की अलग से पहचान करा सके।

एक और स्थिति की हम कल्पना कर सकते हैं। जब मैं यह कहता हूँ कि मैं राम से प्रेम अथवा घृणा करता हूँ तो सचमुच मैं ऐसा नहीं कर रहा होता हूँ। वरन् राम के प्रति मुझ में प्रेम या घृणा की प्रवृत्ति घर कर गयी है। यह मेरा संवेगात्मक स्वभाव बन गया है। ऐसे ही अनेकानेक सुप्त-संवेग बाह्य वस्तुओं, विचारों, प्रभावों, मूल्यों, अनुरोधों, आग्रहों एवं सिद्धान्तों आदि के प्रति बन जाते हैं। यह हमारी भावमयता है। मुक्तिबोध ने इसे 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना' की दशा कहा है। यही हमारा अंतर्जगत् है। दूसरे शब्दों में, यह हमारा बाह्य प्रभावों से संशोधित, सम्पादित एवं सुसंस्कृत अंतर्जगत् है। व्यक्ति-संस्कार भी यही है। इस अंतर्जगत् का निर्माण सतत होता रहता है। यह हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। और चेतना के स्तर से नीचे रहता है। कभी कभी हमारा यह संवेगात्मक स्वभाव उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया में प्रस्फुटित भी हो जाया करता है, और कभी नहीं भी होता है। जैसे राम के सामने होने पर प्रेम या घृणा 'मैं' कभी प्रगट कर देता है, कभी नहीं। परन्तु यह दुविधाभोगी अंतर्जगत् रचना का कच्चा माल तो प्रस्तुत करता है किन्तु रचना का क्षण नहीं जुटाता है। क्योंकि राम अभी भी केवल मेरी ही घृणा या प्रेम का विषय बना रहता है। सर्वसाधारण की सम्पत्ति नहीं बनता है। फिर यह अंतर्जगत् वस्तुगत यथार्थ पर निर्भर करता और सतत परिवर्तनशील रहता है। अतः इस अवस्था में भी चित् की कोई एक सुव्यवस्थित मूर्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

बाह्य प्रभाव रचनाकार के अंतर्जजगत् में निरन्तर फेरबदल करते रहते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है जब राम, जो 'मैं' की घृणा या प्रेम का पात्र बना हुआ था, वह 'मैं' का प्रेरक न रहकर एक अभिनेता की स्थिति में आ जाता है। वह 'मैं' के मन में ही संवेग उत्पन्न करनेवाला नहीं रहता, बल्कि औरों के मन में भी संवेग जगानेवाला हो जाता है। राम का यह अभिनेता में रूपान्तरण उसके समाजीकरण का ही द्योतक है। राम का सामाजीकरण होना ही हमारे संवेग-स्वभाव का समाजीकृत रूप है। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदना चित् का पर्याय है ? हम देखते हैं कि राम की स्थिति बदलती है तो संवेदना का रूप भी बदल जाता है। अतः कह सकते हैं कि चित् अपने में कोई स्वयं-सिद्ध सत्ता नहीं है। वह तो स्वयं राम पर निर्भर है। राम की सामाजिक स्थिति बदलती है तो रचनाकार की संवेदना में भी बदलाव आ जाता है। दरअसल चित् को ले कर यह कठिनाई होती है कि अक्सर व्यक्ति के निजी अनुभव अथवा 'राम' के प्रति व्यक्तिगत संवेगों की स्थिति को ही चित् का पर्याय मान लिया जाता है और उसकी निरपेक्ष स्थिति की कल्पना कर ली जाती है। जबकि वास्तविकता बिलकुल इसके विपरीत है। विषय या परिवेश के अनुरूप ही संवेदना आकार प्रकार ग्रहण करती है, उसका अपना कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं होता है।

संवेग-स्वभाव का संवेदना में रूपान्तरण कभी भी निष्प्रयोजन नहीं रहता है। 'राम' के समाजीकृत रूप का अंकन एक प्रयोजन बन कर रचनाकार के सामने होता है। वह उसे दूसरों से कहता है। उससे काम नहीं चलता तो किसी अन्य माध्यम की तलाश करता है। रचनाकार ने जिस अद्भुत, रूपवान् एवं शुभ का साक्षात्कार किया होता है, उससे वह संतुष्ट होकर नहीं रह जाता है। इसमें अनुभव के सम्प्रेषण की भावना ही विद्यमान नहीं रहती वरन् दायित्व-बोध भी उससे जुड़ा रहता है। इसी से सर्जन अपने में एक नैतिक कृत्य भी हो जाता है। रचनाकार का दायित्व-बोध जो एक प्रकार से समूह-बोध ही है उसे अपने संवेदना-उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मानस-साक्षात्कारों को आकार-प्रकार देने की स्थिति में लाता है। इसके लिए उसकी कल्पना आवश्यक उपादानों को जुटाती ही नहीं उनके संयोजन एवं संघटन में सहायक होती है। और यह कार्य विशेष कारीगरी की अपेक्षा रखता है। इसके अतिरिक्त कारीगरी के अपने नियम होते हैं। श्री जगदीश शर्मा ने अपने लेख "सर्जन का अभिप्राय" ५ में इसका बड़े विस्तार से ब्यौरेवार जो व्यावहारिक, तर्कसम्मत एवं शोधपरक विवेचन प्रस्तुत किया है वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। इसपर भी कला संबंधी जिन आदर्शों की स्थापना वे करते दिखायी देते हैं सर्वथा मान्य नहीं हो सकते हैं। उनका कहना है कि, "संगीत, चूंकि मात्र ध्वनि-संरचना है इसलिए उसके लिए बाह्यार्थ-बोध अप्रासंगिक है। इसलिए, अर्थ-मुक्ति की दृष्टि से वह शुद्ध कला का उदाहरण होने के नाते अन्य कलाओं के लिए आदर्श है।" ६ साहित्य भाषा का माध्यम रखने से अर्थ से सर्वथा मुक्त नहीं है। फिर भी उन्होंने शमशेर की 'टूटी हुई बिखरी हुई' और विपनकुमार अग्रवाल की 'लोटन' कविताओं में अमूर्तता के उदाहरण ढूंढ निकाले हैं। और समशेर की 'सींग और नाखून' तथा 'शिला का खून पीती थी' कविताओं से यह भी स्पष्ट किया है कि अमूर्तता के बावजूद वह अर्थ से मुक्त नहीं रह सकती है। इसलिए संगीत सर्वश्रेष्ठ कला है। दरअसल कलावाद की यही अंतिम परिणति है कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा वस्तु-जगत् का निषेध करता है और रचना को रचना से जाँचना चाहता है। इसका अभिप्राय यह है कि वे रूप को वस्तु से ठीक वैसे ही अलग करके देखते हैं जैसे यशदेव शल्य सत् को चित् से अलग करना चाहते हैं। दोनों के लिए वस्तु-जगत् का कोई अर्थ नहीं है। एक के लिए रूप का आस्वाद है तो दूसरे के लिए चित् का। यह नितान्त व्यक्तिवादी मान्यता है। उसके लिए हर वस्तु उपभोग की सामग्री बनती है। वह सदा तत्त्व की निरपेक्षता में विश्वास रखती है, चाहे रूप-तत्त्व हो या चित्। इस प्रकार का व्यक्तिवाद उसे उस समुदाय से काटता है जिस पर वह निर्भर रहता है क्योंकि वह उस वस्तु का ही निषेध करता है जो चित् और रूप दोनों का कारण है। कार्य पर उसकी दृष्टि रहती है जब कि कारण के बिना कार्य होता नहीं है। लगता है अभी भी हम उस सामंती व्यवस्था के शिकार हैं जहाँ, "सहज विकास के अभाव ने मानव-जीवन को अतृप्त और दमित कर दिया था जिससे सामाजिक जीवन अस्वाभाविक और क्रत्रिम उपायों से अपनी रागात्मक प्रवृत्ति को तृप्त करने के साधन खोजने में लीन हुआ। उसी की पूर्ति के लिए वैष्णव भक्ति की रागात्मकवृत्ति का जन्म हुआ और वैष्णव भक्त उसे अलौकिक कह कर वास्तविकता पर पर्दा डालते रहे।"[७] अब भी साहित्य यदि रसवाद की महिमा सिद्ध करने के व्यायाम में लगा रहेगा तो अपनी मूल प्रकृति 'संहितस्थ' की भावना का ही तिरस्कार करता जायेगा। अन्यथा अन्य कलाओं के लिए आदर्श-कला संगीत के मूल में हम जाएँ तो वहाँ भी हमें रसतत्त्व से ऊपर समाजतत्त्व की ही प्रधानता मिलेगी। वास्तविकता यह है कि संगीत के स्वर, ताल और लय के पीछे (गेल में भी) वह समस्त घटना-जगत् काम करता है जो संगीत में केन्द्रित हो कर आया है। इसलिये गाने बजाने में संवेदनात्मक उद्देश्य सदा साथ रहा है। धारणा यह रही की नाच-गा कर देवता खुश होते हैं, शिकार मिलता है और खेती उर्वरा होती है। गायन-समारोह के विभिन्न अवसर तथा राग-रागनियों के गाने के निश्चित घड़ी-पहर यही इंगित करते हैं। संगीत के उस उद्गम की आज हम अवहेलना करते दिखाई देते हैं, लेकिन स्वर या भाव की विशुद्ध की तलाश के पीछे न तो हम इतिहास को झुठला सकते हैं और न वस्तु-जगत् को। इसलिए चाहे संगीत में खोजें चाहे कृति की विषयिगत भावना में; वस्तु-सत्य से उसे अलग कर के नहीं देख सकते हैं। वह तो यथार्थ को उजागर करनेवाला एक साधन मात्र है।

निष्कर्ष रूप में इससे 'भोगित्व-मूलक विषयिगत भावना' के आस्वादन का स्वतः निराकरण हो जाता है और वस्तु-जगत् की प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होते लगती है। यदि हम उर्वशी की कथा पर तनिक विचार करें तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो कर हमारे सामने आता है। उर्वशी की कथा ऋग्वेद में भी आयी है और दिनकर की 'उर्वशी' में भी। किन्तु दोनों के रूप और कथ्य में जमीन-आसमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अंतर है। यह बाह्य यथार्थ के प्रभाव के कारण है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में रचनाकार की चेतना को चिरकाल से गढ़ता आया है, अतः चेतना की निरपेक्षता की बात करना बेमानी है ।

११८/२, बलदेव पार्क
कृष्णनगर, दिल्ली-- ११००५१

–गोविन्द प्रसाद

टिप्पणियाँ

१. परामर्श (हिन्दी); खण्ड ३, अंक २ (मार्च १९८२)
२. वहीं
३. वहीं
४. वहीं
५. परामर्श (हिन्दी). खण्ड ३, अंक २ (मार्च, १९८२)
६. वहीं
७. वार्ष्णेय, (डॉ.) रघुवरदयाल; **हिन्दी रंगमंच की भूमिका**, पृ. १४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

परामर्श, वर्ष ३, अंक २ (मार्च १९८२) में सुश्री छाया राय ने अपने निबंध " 'शुभ' तथा 'गुड' : तुलनात्मक अर्थ विवेचन " में इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि ''शुभ' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'गुड' समीचीन नहीं है, और 'गुड' का 'शुभ' की अपेक्षा अधिक अच्छा अनुवाद 'अच्छा' है। वे यह भी आग्रह करती हैं कि 'शुभ' के लिए 'हमें आंग्ल भाषा में किसी अन्य सम्यक् शब्द की खोज करना चाहिए अथवा आंग्लभाषियों को अन्य किसी पर्याय-वाची शब्द के निर्माण के लिए बाध्य करना चाहिए।'

उपर्युक्त संदर्भ में, मैं समझता हूँ, निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :-

१. एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद का कार्य सचमुच बहुत कष्ट-साध्य होता है और विशेषकर किसी भाषा के मूल्यसंबंधी शब्दों के लिए किसी अन्य भाषा में पूर्णतः समानार्थक शब्द ढूंढ़ पाना और भी कठिन है– मैं तो कहूँगा लग-भग असंभव है। अतः 'शुभ' के लिए यदि कोई सम्यक् शब्द अंग्रेज़ी में नहीं मिलता तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिलहाल 'शुभ' के लिए अंग्रेजी में 'गुड' का प्रयोग होता है और यही अपनी तमाम कमियों के बावजूद, मुझे ऐसा लगता है, जारी रहना चाहिए क्योंकि एक पूर्णत. समानार्थक शब्द की खोज एक बेमानी खोज है और दूसरे पारिभाषिक पर्यायवाची शब्दों का गढ़ना समस्या का हल नहीं है। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म' शब्द के लिए अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। फिर क्या इसके लिए हम कोई पर्यायवाची शब्द का 'निर्माण' करना चाहेंगे ? इससे तो मूल शब्द ही प्रयुक्त किया जाए तो बेहतर होगा।

२. लेकिन 'शुभ' के संदर्भ में स्थिति इतनी खराब नहीं है कि उसके लिए अंग्रेज़ी में कोई शब्द ही न मिले जिससे आशय स्पष्ट हो सके। 'गुड', 'शुभ' का एक अच्छा अनुवाद है। लेखिका को यह अनुवाद इसलिए पसंद नहीं है कि 'शुभ' का प्रयोग सदैव नैतिक संदर्भ में किया जाता है जब कि 'गुड' का प्रयोग अन्य (निर्नैतिक) संदर्भों में भी होता है। मुझे लगता है ऐसा सोचना भ्रामक है। साधारण भाषा में 'शुभ' के अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें नैतिक नहीं कहा जा सकता और जिनसे सदैव 'कल्याणकारी' का अर्थ भी नहीं निकलता। निम्न-लिखित पर विचार करें–

किसी इमारत की आधार शिला रखने के लिए किसी मंत्री महोदय को आमंत्रित किया जाता है। इन्ही महोदय को इमारत बना जाने के बाद उसके उद्घाटन के लिए भी बुलाया जाता है; और स्वागत-भाषण में कहा जाता है "यह आपके ही शुभ-प्रयत्नों का परिणाम है कि आज यह इमारत खड़ी हो सकी।" यहाँ स्पष्ट ही 'शुभ प्रयत्नों' के अर्थ में कोई नैतिक संदर्भ नहीं ढूंढ़ा जा सकता। इसी प्रकार 'शुभ परिणाम' भी आवश्यकरूप से 'नैतिक' नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते। 'प्रयत्न' और 'परिणाम' (फल) के रूप में 'शुभ' का संदर्भ निर्नैतिक (अ-मोरल) भी हो सकता है।

इसी प्रकार 'शुभ-दर्शन' सुन्दर या मनोहर अर्थवाची है। इसमें भी अनिवार्यतः नैतिक संदर्भ नहीं है।

शुभ-दिन, शुभ-घड़ी, आदि में भी शुभ का संदर्भ नैतिक न होकर 'शकुन-विचार' है। अंग्रेज़ी में कहें तो ये उपयोग 'एथिकल' न होकर 'ऑस्पिशस' हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अंग्रेज़ी शब्द, 'गुड' भी कभी कभी इसी, ऑस्पिशस के, अर्थ में प्रयुक्त होता है।

३. लेखिका का मन्तव्य है कि " '**गुड' के नैतिक अर्थ को छोड़ दिया जाय** (रेखांकन मेरा है) तो हिन्दी में इसका सर्वाधिक उपयुक्त पर्यायवाची शब्द 'अच्छा' है।" इस वाक्य में यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है तथापि यह ध्वनित अवश्य होता है कि 'अच्छा' का संदर्भ सदैव निर्नैतिक है, कि 'गुड' के नैतिक अर्थ से यह वंचित है। किन्तु ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए जब हम किसी आदमी को अच्छा कहते हैं (उसके व्यावसायिक या अन्य किसी पक्ष के संदर्भ में नहीं बल्कि केवल आदमी के रूप में) तो स्पष्ट ही यहाँ 'अच्छा' का नैतिक संदर्भ के अतिरिक्त और कोई संदर्भ नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'अच्छा कार्य' भी नैतिक कार्य ही होता है जब तक कि कार्य के किसी विशिष्ट पक्ष को संकेत न किया जा रहा हो कि वह कार्य-कुशलता या कौशल रूप में अच्छा है।

४. मैं यह मानता हूँ कि 'गुड' के अनेक ऐसे निर्नैतिक प्रयोग हैं जो शुभ के नहीं हो सकते किन्तु फिर भी नीतिशास्त्रीय साहित्य में 'शुभ' का सर्वोत्तम अंग्रेज़ी पर्याय 'गुड' ही है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि 'शुभ' और 'गुड' दोनों ही शब्दों में मूलतः एक प्रकार की प्रयोजनवादिता है। प्लेटो जब विज्ञानों के विज्ञान (आइडिया ऑफ आइडियाज़) को एक अंतिम सत्ता के रूप में निरूपित करते हैं और उसे 'आइडिया ऑफ गुड' कहते हैं तो इसके पीछे यही आशय है। उच्चतम विज्ञान केवल विज्ञान ही नहीं एक 'आदर्श' (आइडियल) भी है जिसकी ओर समस्त विज्ञान अग्रसर है और इसीलिए इस उच्चतम विज्ञान को उसने 'गुड' की संज्ञा दी है। सुकरात के दर्शन में इस प्रकार जो 'गुड' केवल नैतिक प्रयोजन था, प्लेटो में वही विश्व प्रयोजन बन जाता है। 'शुभ' के मूल में भी यही प्रयोजनवादिता स्पष्ट परिलक्षित है। 'शुभ' 'गुड' की तरह 'उत्तम' है जिसे प्राप्त करना वाञ्छनीय है। जिस प्रयोजनवादिता को हम 'शुभ' और 'गुड' के अर्थों में पाते हैं, 'अच्छा' शब्द में कदाचित् नहीं पाते। हो सकता है यहाँ 'शिव' शब्द 'शुभ' से भी अधिक सार्थक हो। वस्तुतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त में अंतिम सत्ता को जहाँ 'सत्य' और सुन्दर स्वरूप माना गया है, वहीं उसे 'शिव' स्वरूप भी घोषित किया गया है। किन्तु यदि लेखिका 'गुड' को 'शुभ' का ही एक उपयुक्त अनुवाद नहीं मानती तो 'गुड', 'शिव' के लिए तो, उनके अनुसार, नितांत अनुपयुक्त ही होगा। किन्तु यह स्मरणीय है कि 'शिव' का अंग्रेजी अनुवाद भी-इसी प्रयोजनशीलता के कारण -'गुड़' ही किया गया है।

५. लेखिका ने अपने निबंध में 'गुड' के जो अनेक अर्थों का विवेचन किया है, वह अवश्य ही श्लाघ्य है किन्तु मैं समझता हूँ, कि 'शुभ', 'अच्छा', 'शिव' आदि हिंदी शब्दों की भी अर्थमीमांसा आवश्यक है ताकि इनके विभिन्न प्रयोगों की अर्थछटाएँ देखी जा सकें। यह कार्य फिलवक्त स्थगित करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि इस दिशा में दर्शन और हिन्दी में समानरूप से अधिकार रखनेवाला कोई विद्वान आकर्षित हो सकेगा।

१९ रामटेकड़ी एक्सटेंशन,
तेलिया तालाब,
मंदसौर (म. प्र.)

– सुरेन्द्र वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

(१)

कनाल, सत्यवान परशुराम; **निरीश्वरवाद : एक अध्ययन**; देव समाज प्रकाशन, मोगा (पंजाब), १९७३; मूल्य रुपये : १५-००

यह श्री सत्यवान परशुराम कनाल (रीडर, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) प्रणित एक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक रचना है। यह देव समाज, मोगा (पंजाब) द्वारा वर्ष १९६३ ई में प्रकाशित हुई है और इसे राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स दिल्ली ने मुद्रित किया है। यह पुस्तक ४ भागों और २२ निबन्धों में विभक्त तथा २२९ पृष्ठों में विस्तृत है। इसके प्रथम भाग में ५, द्वितीय भाग में ७, तृतीय भाग में ६ और चतुर्थ भाग में ४ निबन्ध हैं। पुस्तक के अन्त में 'शब्दावली' और 'अनुक्रमणिका' भी संलग्न है, जो अध्येताओं के लिए बेशक बड़े महत्त्व की है। अपने कर्म के प्रति लेखक की निष्ठा एवं जागरूकता ने विषय से सम्बद्ध समस्त उपलब्धियों को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए उत्साहित किया है। इसमें वैज्ञानिक विश्लेषण, दार्शनिक विवेचन, साहित्यिक सच्चाई, ऐतिहासिक तटस्थता और दुराग्रहरहित अन्तरदृष्टि पर बल दिया गया है। लेखक तथ्यों के वैज्ञानिक परीक्षण और मूल्यों के ध्रुवीकरण में सर्वथा सफल हुआ है। एक सच्चे और सफल शोधित्सु का दायित्व भी यही होता है। निस्सन्देह श्री कनाल अपने दायित्व-निर्वाह में कहीं भी शिथिल और सुस्त नहीं हैं। वे सर्वत्र चौकस और चौकन्ना रहे हैं। बिस और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक के माध्यम से आधुनिक प्रबुद्ध समाज में तीव्रता से बढ़ रही मानवतावादी मनोवृत्ति के जयघोष से संपूर्ण मानव वंश को अवगत कराने की कोशिश की है। सचमुच यह अपने विषय पर एक सफल और बेहतरीन अध्ययन है।

परामर्श (हिन्दी) वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक के पहले भाग में विद्वान लेखक ने निरीश्वरवाद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डाली है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में निरीश्वरवाद को लेखक ने मूल्यांकित किया है और इसे विश्व चिंतन का मूल विश्वास ठहराया है। इसके लिए उसने अनेक तर्कों, तथ्यों और आंकड़ों का सहारा भी लिया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि :

किसी विश्वास की सत्यता की कसौटी संख्या नहीं, अपितु, तर्क और घटनाएँ हुआ करती हैं। निरीश्वरवाद तर्क और तथ्य दोनों दृष्टियों से एक दुरुस्त विश्वास हैं। निरीश्वरवाद और जड़वाद एकही नहीं है। जड़वाद निरीश्वरवाद अवश्य है, किन्तु निरीश्वरवाद जड़वाद कदापि नहीं। भारतीय दर्शन की अन्त प्रकृति निरीश्वरवादी है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का भी मूल स्वर निरीश्वरवादी है। निरीश्वरवाद उत्तमोत्तम आध्यात्मिक और नैतिक जीवन के साथ संगत है। यह गुणों की दृष्टि से ही नहीं, अपितु, संख्या की दृष्टि से भी महार्ध है। आधुनिक विश्व में निरीश्वरवादियों की संख्या विपुल है। अस्तु, निरीश्वरवाद नगाधिराज हिमालय की तरह वजनी है।

इस पुस्तक के दूसरे भाग में विद्वान लेखकने ईश्वरवाद की युक्तियों की मीमांसा की है और अनेक तर्कों एवं प्रमाणों का संग्रह कर उसने साबित कर दिया है कि ईश्वर की सत्ता साबित करने में उनमें से कोई भी सक्षम नहीं है। और इस प्रकार उनके खंडन द्वारा वह पाठकों को अपने अभीष्ट की ओर मोड़ने में समर्थ हो गया है, उसका निष्कर्ष है :

ईश्वर और प्रकृति परस्पर विरोधी गुण-धर्मवाले हैं, अतः कदापि एक नहीं हैं। ईश्वरवादियों की भी ईश्वर सम्बन्धी अवधारणाएँ अलग-अलग और परस्पर विरोधी हैं और वे एक दूसरे के मत को खुद मिथ्या साबित कर देती हैं। ईश्वर का अस्तित्व ईश्वरवादियों के किसी भी युक्ति (जगत्कारण युक्ति, आयोजन युक्ति, प्रत्यय सत्ता युक्ति, नीति परक युक्ति और धर्म तथा रहस्यानुभव) से सिद्ध नहीं किया जा सकता। जगत् के आदि कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसे ठीक मान लेने पर भी इससे चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मानव निर्मित वस्तुओं से विश्व के अस्तित्वों की तुलना द्वारा विश्व के निर्माता-ईश्वर- को प्रमाणित करना तर्क संगत नहीं है, अतः सादृश्य पर आधारित आयोजन युक्ति भी व्यर्थ है। प्रत्यय सत्तायुक्ति के बलबूते भी ईश्वर के अस्तित्व कों बौद्धिक समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता। हम केवल कल्पना से किसी वस्तु का होना नहीं सिद्ध कर सकते। नीति नियम मनुष्यों के आत्मिक और नैतिक स्वास्थ्य के नियम हैं। ये ईश्वर के बिना भी वर्णित हो सकते हैं। इनके वर्णन में ईश्वर तार्किक दृष्टि से जरूरी नहीं है। धर्मानुभव भी परस्पर विरोधी हैं। ईश्वर के बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी उच्चकोटि के धर्मानुभव हो सकते हैं। ऐसे अनुभव, जिनमें ईश्वर की अनुभूति समझी जाती है, बच्चे के 'हौवे' विषयक अनुभव की तरह मिथ्या है। अत: इनसे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना व्यर्थ है।

इस पुस्तक के तीसरे भाग में अनुभवी लेखक ने अपने अभीष्ट विषय 'निरीश्वरवाद' की स्थापना में विज्ञान की महती भूमिका का उद्घाटन किया है और विज्ञान द्वारा उसकी स्थापना कराई हैं। लेखक ने अनेक वैज्ञानिक साक्ष्यों और सिद्धान्तों को अपने विषय के समर्थन में सर्व संगत एवं प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखक का निष्कर्ष है :

विश्व के संबंध में सत्यज्ञान का आधार वैज्ञानिक विधि है। विश्व घटनाओं के विषय में कहा गया कोई वाक्य यदि वैज्ञानिक विधि की कसौटी परा खरा नहीं उतरता अथवा इसकी परख की संभावना से परे जाता है, तो वह मिथ्या है। 'ईश्वर है' एक ऐसा ही मिथ्या वाक्य है, प्रकृति के सम्बन्ध में विज्ञान के माध्यम से प्राप्त सत्य ज्ञान भी ईश्वर विश्वास का खंडन करता है। भौतिक विज्ञान के 'द्रव्य-संरक्षण' और 'ऊर्जा संरक्षण नियम' इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि द्रव्य सदा और समान रूप से आकाश में विद्यमान है। अत: किसी स्रष्टाद्वारा किसी खास समय में उनके सृजित होने का विचार मिथ्या है। प्राकृतिक विश्व स्वयं पूर्ण है। स्वयं में अपनी घटनाओं के वर्णन की योग्यता रखता है। घटनाएँ एक दूसरे से कार्य-कारण श्रृंखला में बँधी होती हैं। अत: देशकाल परिच्छिन्न इस विश्व में पूर्ण और परिवर्तन रहित ईश्वर का असंभव है। वैज्ञानिक विधि में अशरीरी चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तु; ईश्वर, जो शरीर रहित चेतना है, एक अवैज्ञानिक अवधारणा है। लाखों-करोड़ो वर्ष का जागतिक जीवन शरीर रहित चेतना का खंडन करता है। विश्व में बुराइयाँ हैं। ईश्वर गुणसंपन्न स्रष्टा है। अत: उसके रहते इस विश्व में बुराइयाँ होनी ही नहीं चाहिए। किन्तु, बावजूद इसके, बुएइयाँ हैं।-अस्तु, ईश्वरवादियों के लिए एक मात्र यही निरापद है कि वे मान लें कि ईश्वर नहीं है।

इस पुस्तक के चौथे भाग में श्री कनाल ने ईश्वरवादी आस्था का मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया है और इसे एक आदिम विश्वास ठहराते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सफलता पाई है कि :

इस विश्वास की स्थिरता का कारण मनुष्य की मानसिक दुर्बलताएँ हैं। इस सिद्धान्त के समाज में अब भी बने रहने में कोई गुप्त सच्चाई निहित नहीं है। ईश्वर विश्वास के समान ही ब्रह्म की अवधारणा भी अलीक है। इसके खिलाफ प्रबल ऐतिहासिक, तार्किक और वैज्ञानिक साक्ष्य हैं। ईश्वर का विचार एक ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति है। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक मनस का होता जाएगा, त्यों त्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

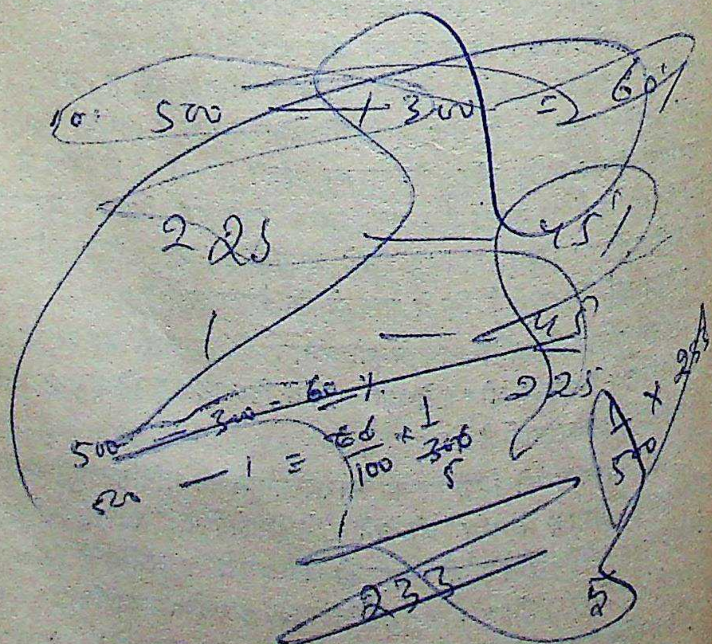
ईश्वर विश्वास उखड़ता जाएगा। अतः निरीश्वरवाद का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

ईश्वर की कल्पना और मान्यता दर्शन की दृष्टि से कल्पना-गौरव के दूषण से दूषित है। ईश्वर न तो तथ्य जगत् की व्याख्या के लिए आवश्यक है। अतः सर्वथा अपदार्थ है।

इस पुस्तक का मूल्य १५ रुपये हैं जो सर्वथा उचित है। यद्यपि भाषा में यत्र-तत्र कुछ दोष और अशुद्धियाँ भी हैं किन्तु गुणों की तुलना में वे नगण्य हैं। विषय के समर्थन में जुटाए गए प्रमाण और तर्क बड़े दुरुस्त और साबित हैं। लेखन ने उनका उपयोग और विवेचन वैज्ञानिक विधि से किया है। भाषा सम्बधी दोष संभवतः दिल्ली की खड़ी बोली और पंजाबी सिंधी प्रभाव के कारण आ गए हैं। रचना, बावजूद इनके, अपने अभीष्ट को पाठकों तक पहुँचाने में में सफल है। मैं लेखक के सत्साहस एवं विद्वत्ता का प्रशंसक हूँ। यह रचना अवश्य पढ़ी जानी जाहिए।

– जयंश्री प्रसाद

हिन्दी विभाग
नेशनल डिग्री कालेज, बड़हलगंज, गोरखपुर।
(उत्तर प्रदेश)



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

नंदकिशोर आचार्य, *जल है जहाँ*, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, १९८०, पृष्ठ : ८०, मूल्य : २० रु. ।

जल है जहाँ में संगृहीत कविताएँ रचना-कर्म की कठिनाइयों और रचनाकार के दायित्व, दोनों के प्रति कवि की सचेतता की द्योतक हैं । 'घरौंदा' और 'वह क्या है' जैसी कविताओं में जहां कवि के रचना-संघर्ष को वाणी मिली है, वहाँ 'सुलगते रहे शब्द' कविता में रचना के उपादान की शक्ति का साक्षात्कार किया गया है; फिर भी कवि आत्मगौरव के प्रयत्न में लिप्त कहीं दिखलाई नहीं देता । कारण यह है कि अपने दायित्व का भान उसे बहुत अच्छी तरह है । सामाजिक समस्याओं और मूल्यों तथा आदर्शों का ढोल पीटे बिना उसने अपने परिवेश को आत्मसात् किया है । उसने उसे तात्कालिक दृष्टि से न देखकर व्यापकतर मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में मानवीय गरिमा के सम्बन्ध से प्रस्तुत किया है । यही कारण है कि आपत् काल संबंधी जो दो कविताएँ— 'वह रंग' और 'तो तुम्हें क्या ?'— इस संकलन में हैं, उनमें भी गर्जन-तर्जन नहीं है । यद्यपि उक्त दोनों कविताएँ आपत् काल के दौरान लिखी गई थीं और उसी समय पहली बार प्रकाशित भी हुई थीं, फिर भी किसी तात्कालिक प्रतिक्रिया के स्थान पर दमन के विरोध में मानव-स्वातंत्र्य की आकांक्षा कवि की जागती आंखों का सपना बन कर इन कविताओं में व्यक्त हुई है ।

मानव-अस्तित्व के प्रति एक प्रकार के गौरव का भाव संग्रह की अधिकांश कविताओं में अंतर्ध्वनित है । सीधे मानव-महिमा के गीत न गाकर कवि ने ईश्वर और मृत्यु के सामने मनुष्य को तन कर खड़े होते देखा है । आचार्य की कल्पना में मनुष्य का तनना ऐंट का पर्याय न रहकर स्वाभिमान का वाचक बना है, इसलिए उसके तनने में कहीं-कहीं हद की विनम्रता भी सम्मिलित है । उदाहरण के लिए, 'साँपिन' कविता में मृत्यु को काल-व्याली के रूप में सम्बोधित करते हुए उन्होंने मानवीय दर्प को समर्पण की भावना के भीतर व्यंजित किया है :

तो लो माँ
ग्रस लो मुझे जब चाहो
तनिक भी इच्छुक नहीं हूँ मैं
तुम्हारी कुण्डली से निकल पाने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– यदि सम्भव हो भी तो–
क्योंकि मैं अपनी ही संतति को
खाना नहीं चाहता ।

इस समर्पण से दर्प व्यंजित होने कारण यह है कि वह कविता के आरंभ की इन पंक्तियों से संदर्भित है :

साँपिन अंडे देती है
और कुण्डली में घेर लेती उन्हें
और खाती रहती है
अपने ही बच्चों को

मानव-स्वातंत्र्य के लिए सबसे बड़ी चुनौतियां मृत्यु और ईश्वर ही हैं। ईश्वर का आतंक मनुष्य दयनीय बना देता है, लेकिन इस सचाई को सामने रखते हुए भी नंदकिशोर आचार्य ने मनुष्य को हीन नहीं होने दिया है। यदि मनुष्य डरा हुआ है तो इसके लिए उत्तरदायी वह नहीं, ईश्वर ही है :

जब मेरा सिर
तुम्हारे चरणों पर टिका
तुम समझ नहीं पाये
कि यह मैं नहीं,
भय है –तुम्हारा ही दिया–

कवि को ईश्वर की प्रासंगिकता मानव-अस्तित्व में दिखलाई दी है। उसे वह मानव के आविर्भाव से भरा हुआ शून्य नज़र आया है :

मैं हुआ
                    वह बजी
इसलिए यह मान भी लें यदि
कि वह गूँज़
        काँसे की थाली से नहीं,
            मुझ से निसरती है
तो जिसमें गूँजता हूँ मैं
जिसे   भरता हूँ
वह आकाश क्या तुम नहीं हो ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-अस्तित्व को काल-मर्यादित मानते हुए नंदकिशोर आचार्य ने उससे मुक्त हो सकने की आकांक्षा से मृत्यु और ईश्वर-जैसी सत्ताओं को मिटते देखना चाहा है। इस कल्पना की निरर्थकता का उन्हें पता है, शायद इसीलिए उसमें अधिक न रमकर उन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण विवशता और निरीहता को सामने रखकर मानवीय स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है। 'उपकरण' कविता में कवि ने स्रष्टा के स्वप्न से आकार-प्राप्त पाषाणमूर्ति की तुलना में पत्थर के अपने सपने को अधिक मान दिया है।

ईश्वर को दी गई चुनौती कहीं-कहीं गम्भीरता से वंचित रह गई है। यों, इस संग्रह की कविताओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे दार्शनिकता जैसी भारी-भरकम चीज़ से दबी नहीं हैं; लेकिन जब कवि ईश्वर को ललकारते हुए याराना बेतकल्लुफी पर उतर आया है तब जीवन-बोध लड़लड़ाने लगा है। अच्छी बात यह है कि पूरे संग्रह में ऐसी कविताएँ इनी-गिनी ही हैं।

नंदकिशोर आचार्य की रुचि अलंकरण में नहीं है। अपनी कल्पना को उन्होंने सीधे साक्षात्कार का उपादान बनाया है इसीलिए उनकी कविताओं में आत्म-प्रस्तुति नाटकीय विधान में ढल गई है और प्रस्तुत-अप्रस्तुत का पार्थक्य तिरोहित हो गया है। 'मैं गुफा में हूँ' की स्वप्न-कथा में रूपकात्मकता और प्रतीकात्मकता का भान न होने का यही कारण है।

संग्रह की अधिकांश कविताएँ जीवन-बोध से उद्भूत होने के कारण प्रायः तर्क की विलक्षणता से सम्पन्न हैं। विशेषता यह है कि तर्क कहीं भी तर्क नहीं जान पड़ता; फिर भी कवि जब निष्कर्ष पर पहुँचता है तो यह अनुभव होता है कि जिन स्थितियों के साक्षात्कार से होकर कवि वहाँ तक पहुँचा है, वे वस्तुतः उपपत्ति का उपकरण थीं। तर्क से उपपत्ति तक का संचरण रचना में भाव का उठान बन कर पाठक की चेतना फनफना जाता है। उदाहरण के लिए, 'मैं ही हो गया होता हूँ शब्द' में कवि अपने रचना-कर्म का स्वरूप उद्घाटित कर जब उसके समानांतर ईश्वर से उसके रचना-कर्म के सम्बंध में प्रश्न करता है तो उसके अपने रचना-कर्म का स्वरूप मानव-सृष्टि से ईश्वर के उद्गम का तर्क बन जाता है:

मैं ही हो गया होता हूँ शब्द
फुफकारते हुए समुद्र में झील लिया जाकर भी
सुबह के फूल-सा खिल आता हुआ
फूल में फूटकर
अपने को ही तो रच रहा होता है पेड़ !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरे !
क्या तुम भी
मुझे रचकर ही
खुद को रच पाते हो ।

यह तर्क-व्यंजना अनुषंगों के मध्य सम्बंध-विधान से निष्पन्न है; लेकिन यह कौशल नहीं है– यह तो रचनाकार की अपनी सर्जनात्मक कल्पना की भंगिमा है।

हिन्दी कविता में इस भंगिमा के दर्शन पहलीबार, शायद, इस कविता-संग्रह में हुए हैं।

– जगदीश शर्मा

हिन्दी-विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

दिगे, (डॉ.) अर्हत्दास बण्डोबा; **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन**; सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९८१; पृष्ठ : २+१४+४+४ २५६+१६; सजिल्द; मूल्य : ३० रुपये.

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न और विशाल परम्परा में विभिन्न मतवादों या विचारों का अद्भुत समन्वय' (प्रास्ताविक–पृ. क) स्वीकार करता है और यह दिखाने का प्रयास करता है कि यद्यपि 'भारतीय योग-परम्परा में भारत की प्रमुख तीन धाराएँ अन्तर्भूत हैं– वैदिक, बौद्ध और जैन–' तथापि 'कुछ सन्दर्भों में साम्य होते हुए भी तीनों का अपना वैशिष्ट्य है, जिन पर अपनी संस्कृति की छाप स्पष्ट है' (तत्रैव)। शोधकर्ता का प्रमुख उद्देश्य है कि 'जैन योग का एक स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या, सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन यथाशक्य प्रस्तुत किया जाय' (तत्रैव), जिससे प्रस्तुत शोध-निबन्ध के अध्ययन के आधार पर 'भारतीय योग के अध्येताओं को एक सुलझी दृष्टि प्राप्त हो सके, क्योंकि बिना जैन योग का अध्ययन, चिन्तन किये सम्पूर्ण भारतीय योग परम्परा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा' (तत्रैव)। जहाँ तक जैन योग का इस प्रकार का परिचय प्रस्तुत करने का सीमित उद्देश्य है वहाँतक ग्रन्थकर्ता उसमें पर्याप्त मात्रा में सफल हुए हैं ऐसा कहा जा सकता है। ऐसा करते समय 'लेखक ने यह भी ध्यान रखा है कि जैन योग के विभिन्न सन्दर्भों में भारतीय अन्य योग परम्पराओं का भी यथाशक्य तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो' (तत्रैव)।

लेखक के शब्दों में इतने विस्तार से प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य इसलिए पाठकों के सामने रखा कि ग्रन्थ के सम्बन्ध में जिन दो-तीन बिन्दुओं की ओर हम सुविज्ञ पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं उनके बारे में ग्रन्थ का शीर्षक या उससे जनित प्रत्याशा अवरोधक न बने। ग्रन्थ के शीर्षक से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्ता जैन योग का केवल परिचय या तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं करना चाहते। उनका उद्देश्य है **आलोचनात्मक अध्ययन** प्रस्तुत करना। लेकिन पूरे ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये विचार एक तो परिचय या तो तुलना की सीमा का जैन योग के सम्बन्ध में उल्लंघन नहीं करने। जैन योग का 'स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या या सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन' करते समय हमें यह नहीं बताया जाता कि 'भारतीय योग के अध्येताओं' की दृष्टि जैन योग के अध्ययन के अभाव में किस प्रकार उलझी हुई थी और उसके अध्ययन के साथ कैसे सुलझा जाती है? भारतीय योग-परम्परा की अन्य दो धाराओं में कौनसी त्रुटियाँ थी और उन्हें निरस्त किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना योग के अध्ययन के बारे में हमारे विचार में कौनसी बाधाकारक अपूर्णता रह जाती है इस रहस्य का उद्घाटन अगर हो जाता तो ग्रन्थ के शीर्षक में आनेवाला 'आलोचनात्मक अध्ययन' यह शब्दप्रयोग अधिक सार्थक हो जाता। संक्षेप में कहना हो तो यहाँ वहाँ जैन योग का 'यथाशक्य' तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना माने उसका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना यह रवैया ग्रन्थकर्ता ने बड़ी सामान्यता से अपनाया है। यह रवैया पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से विवादास्पद है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले अध्याय में 'योग-परम्परा की पृष्ठभूमि, योगशब्द एवं उसका अर्थ, योग का स्रोत एवं उसके **क्रमिक–विकास** पर प्रकाश डालने का प्रयास' (प्रास्ताविक पृ. क) किया गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, स्मृति-ग्रन्थ, भागवत पुराण, योगवसिष्ठ आदि में प्रस्तुत योग(-स्रोत) की चर्चा आयी है। साथ-साथ हठयोग, नाथयोग, शैवागम में योग, पातंजलयोग, अद्वैतवेदान्त में योग, तथा बौद्धयोग का भी परिचय कराया गया है। लेकिन इस चर्चा में क्रमिक विकास का अभिप्राय क्या है? क्या हम यह कह सकते हैं कि जो बात कालौघ में बाद में प्रस्तुत होती है वह उसकी पूर्ववर्ती स्थापना का विकसित रूप होता है? विकास में क्रम अवश्य होता है, किन्तु जहाँ क्रम होता है वहाँ वह विकासशील होना चाहिए इस प्रकार का अविनाभावित्व नहीं दिखायी देता। नहीं तो युवावस्था के बाद वृद्धावस्था आती है इसलिये वृद्धावस्था को युवावस्था का विकसित रूप मानना पड़ेगा। उसी तरह जैन योग कालौघ में पातंजल योग के बाद प्रस्तुत हुआ इस आधार पर उसे पातंजल योग का विकसित रूप मानना विचार की दृष्टि से कष्ट-साध्य है।

जैन योग– यह सचमुच क्या चीज़ है? हमें ग्रन्थ में बताया गया है कि योग-विद्या के प्रवर्तकों में महर्षि पतंजलि अग्रगण्य एवं प्रधान आचार्य हैं, और उन्होंने 'योगदर्शन' ग्रन्थ का प्रणयन किया (पृ. ३७)। (पतंजलि का 'योगदर्शन' यह कौनसा ग्रन्थ है?) आगे चलकर हमें यह भी बताया गया है कि 'योग' शब्द के समानार्थक संवर, ध्यान, तप आदि शब्द आगमों में मिलते हैं' (पृ. ३७)। अन्यत्र हमें बताया गया है कि 'महर्षि पतजलि ने जैसे 'योग' शब्द का प्रयोग 'आत्मसाधना' के अर्थ में किया है वैसे 'योग' शब्द का प्रयोग जैनधर्म में आत्म-साधना के लिये नहीं हुआ है। जैन परम्परा में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। यह आस्रवरूप है।' (पृ. ५५)... 'योगसूत्रानुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है। संवर शब्द का प्रयो। इसी अर्थ में जैन-परम्परा में हुआ है।' (तत्रैव) यह सभी मतप्रणाली असंगत है। कारण जैन परम्परा में आस्रव और संवर ये दो भिन्न तत्त्व या पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। अगर 'योग' एक ओर आस्रव से और दूसरी ओर संवर से समानार्थक होगा तो क्या आस्रव और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवर एक दूसरे से समानार्थक नहीं होते ? क्या यह विचार जैन परम्परा को मंजूर है ? अगर है तो आस्रव और संवर ये दो भिन्न तत्त्व के रूप में स्वीकार ही क्यों किये ? ग्रन्थ के चौथे और पाँचवे अध्यायों में क्रमशः अलग अलग प्रकार के व्रतों तथा ध्यानों की बड़ी विस्तृत चर्चा की गयी है । लेकिन जबतक जैन-योग क्या है ? इस प्रश्न का संगत रूप से उत्तर हमारे सामने प्रस्तुत नहीं होता तब तक इस प्रकार के व्रत या ध्यान माने ही जैन योग यह स्वीकार करना असंभव है ।

ग्रन्थ में कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें स्वीकार करना कष्ट-साध्य भी है और विवादास्पद भी– उदाहरणार्थ, 'भारतीय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिये योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन में क्रमशः कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही हैं।' (पृ. २)। बताया गया है कि गीता में अठारह प्रकार के योग प्रस्तुत किये गये हैं। (पृ. ६) लेकिन उनमें से कतिपय को गीता ने भी योग के रूप में स्वीकार नहीं किया है– उदाहरणार्थ, दैवयोग (गीता– ४/२५), यज्ञयोग (गीता- ४/२८), ब्रह्मयोग (गीता–५/२१), नित्याभियोग (गीता– ९/२२) (तत्रैव) आदि । इस प्रकार आधार ग्रन्थ को भी मंजूर न होनेवाले विचार शोध-ग्रन्थ में प्रस्तुत करना युक्तिसंगत नहीं है । कई जगह पर जो विचार प्रस्तुत किये है वे असंगत हैं– उदाहरणार्थ, '...आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास-क्रम में ही वैराग्य तथा समताभाव का उदय होता है, जो योग का अंग है।' (पृ. १९०) दूसरी जगह बताया गया है– 'जैन योग की आधारशिला आत्मवाद है और आत्मविकास की पूर्णता मोक्ष है।' आत्मशक्ति का विकास ही जैन-साधना पद्धति (योग) का फलित है।' (पृ. १९७) तथा आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मविकास की वह परमस्थिति ही मोक्ष है।' (पृ. २२८)। यहाँ सवाल उठता है: कौन किसका साधन है ? आत्मिक विकास योग का या योग आत्मिक विकास का ? शोध-प्रबन्ध में इस प्रकार की असंगतियाँ उसका अवमूल्यन करती हैं ।

इस प्रकार की त्रुटियाँ होते हुए भी जैन-योग का परिचय स्वयं को कराने के हेतु ग्रन्थ एक बार अवश्य पठनीय है ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

–मो. प्र. मराठे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

53
30-9-82
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ३ अंक ४

सितम्बर १९८२

संपादक

राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त सिनारी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा जैन संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के. जे. शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानद मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फाईस ❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें: कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

❋ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

परामर्श (हिन्दी) त्रैमासिक पत्रिका के तीसरे खण्ड का यह अन्तिम अंक है। चतुर्थ वर्ष का प्रथमांक दिसंबर, १९८२ में प्रकाशित होगा। पत्रिका के आगामी खण्डों में उस का वही स्वरूप बनाये रखने की उम्मीद है जो सुविज्ञ पाठकों के सामने गत तीन वर्षों से प्रस्तुत किया गया है। आशा है पत्रिका को व्यक्ति और संस्थाओं के स्तर पर उसी प्रकार का सहयोग मिलता रहेगा जिस प्रकार के सहयोग से पत्रिका अब तक लाभान्वित होती रही है। पत्रिका के स्वरूप के बारे में पाठकों की ओर से कुछ सुझाव प्रस्ताव होंगे तो उनका स्वागत होगा।

इस संपादकीय माध्यम से दो-तीन बिन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं। पहला, पत्रिका के गत आठ अंकों में 'आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण' प्रकाशित होता रहा। इस प्रकार हर एक अंक में उदयनाचार्य के **आत्मतत्त्वविवेक** के पांच-सात पृष्ठों का भाषान्तर प्रस्तुत करने के बजाय पूरे ग्रंथ का ही भाषान्तर एक अलग ग्रंथ के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का विचार है। पूरे ग्रंथ का भाषान्तर दिसंबर, १९८२ तक प्रकाशित करने की उम्मीद है। सुविज्ञ पाठकों की शुभेच्छाओं से निश्चय ही ईप्सित कार्य में सफलता मिलेगी ऐसा विश्वास है। अतः पत्रिका में **आत्मतत्त्वविवेक** के भाषान्तर के अग्रिम अंश चतुर्थ खण्ड के प्रथमांक से प्रकाशित नहीं होंगे। आशा है पाठक हमारे इस प्रस्ताव का स्वागत करेंगे।

दूसरा, पत्रिका के अंक कई व्यक्तियों तथा संस्थाओं के पास गत दो-तीन वर्षों से लगातार भेजे जा रहे हैं। व्यक्ति तथा संस्था पत्रिका की सदस्यता ग्रहण कर पत्रिका चलाने के हमारे प्रयास में सहयोग दें ऐसी फिर से एक बार विनम्र प्रार्थना है। लेकिन जो व्यक्ति तथा संस्था पत्रिका की सदस्यता नवंबर, १९८२ तक ग्रहण नहीं करेंगे उनके पास पत्रिका के चतुर्थ खण्ड के प्रथमांक से अंक न भेजना हमारी विवशता होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरा, कई बार कई लेखक अपने लेख, प्रतिक्रियाएं या ग्रंथ-समीक्षा हस्तलिखित रूप में भेजते हैं। अगर टाइप की हुई प्रति भेजते हैं तो वह भी इतनी अस्पष्ट होती है कि उसे पढने काफी कठिनाई होती है। लेखकों से विनम्र प्रार्थना है कि टाईप की हुई प्रतियां भेजते समय इस ओर ध्यान दें कि उन्हें आसानी से पढा जा सके। अगर हस्तलिखित लेख, प्रतिक्रिया आदि भेजनी हो तो उसका सुवाच्य और सुस्पष्ट होना अनिवार्य है। आशा है लेखक हमारी इस प्रार्थना को उचित रूप में समझेंगे और अपना हार्दिक सहयोग देंगे।

अन्त में सहयोग की पुनश्च एक बार विनम्र प्रार्थना।

—कार्यकारी सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रहस्यवाद' से 'नवरहस्यवाद' तक : हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में

"रहस्यवाद" शब्द Mysticism का रूपान्तर है, अतः इस मूल शब्द के आशय को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्द का ठीक ठीक रूपान्तर है- रहस्यदर्शिता-रहस्यदर्शन-रहस्यानुभूति। "अनुभूति" शब्द "वाद" से बड़ा है और रहस्यदर्शी को "वाद" नहीं, अनुभूति प्रिय है। वैसे भारतीय परंपरा में "वाद" तत्त्वबोध के इच्छुकों का विचार-विनिमय कहा जाता है, जो "जल्प" और "वितण्डा" से भिन्न होता है। कुछ भी हो, "वाद" बोध पक्ष से, चिंतन पक्ष से जुड़ा हुआ एक बौद्धिक और तात्त्विक निष्कर्ष है। "अनुभूति" उसका अतिक्रमण करती है। सच पूछा जाये तो "रहस्यानुभूति" रहस्य की अनुभूति या रहस्यमयी अनुभूति है। परमार्थतः "अनुभूति" स्वयम् "रहस्य" है। उपनिषद् के ऋषियों का अनुभव है- "यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म"[1] - ब्रह्म या बृहत् तत्त्व साक्षात् अपरोक्ष है- अपरोक्षानुभूति है। अपरोक्ष अनुभूति अन्य सापेक्ष होने के कारण असाक्षात् भी होती है- जैसे आत्म-भिन्न वस्तुओं का अनुभव अन्य अर्थात् इन्द्रिय या मन से होता है- पर बृहत् तत्त्व, ब्रह्म या आत्मा की अनुभूति स्वतः होती है- वह स्वयं प्रकाश है- अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न की अपेक्षा नहीं करता। वस्तुतः अपरोक्ष (बृहत् तत्त्व) और अनुभूति तात्त्विक स्तर पर एक ही हैं- बृहत् तत्त्व अनुभूति ही है और इसीलिए वह अपने होने में स्वयं प्रमाण है। वह मन और बुद्धि का विषय नहीं है- वह अपना विषय स्वयं है- या कि वह विषय है ही नहीं— विषयी-अनुभूति ही है। रहस्यदर्शियों के अनुभव में आनेवाला अन्य निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मतत्त्व बुद्धि के परे होने से मुख्यतः "रहस्य" है- "गुह्य" है। "रहस्य" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य एक अर्थ है- रहसि भवम्-रहस्यम्-अर्थात् एकांत में सम्पन्न होनेवाला- प्रायवेसी। निष्कर्ष यह कि "रहस्य" शब्द का मुख्य अर्थ में बोधातीत किन्तु अनुभव साक्षिक बृहद् आत्मतत्त्व के लिए और गौण अर्थ में एकान्त साध्य कर्म या भाव के लिए प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। दूसरे अर्थ में रहस्य बोधगम्य होकर भी रहस्य रखा जाता है। रहस्यवाद शब्द इन दोनों ही अर्थों को आत्मसात् करता है।

"रहस्यवाद" पर जब हम हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं, तब अनेक प्रकार के मतभेद सामने आते हैं। इन मतभेदों के सन्दर्भ में यही नहीं स्पष्ट होता कि रहस्यवाद भारतीय प्रकृति का है या नहीं। इसीलिए रचनाओं को रहस्यवादी कहने में भी एक हिचक पैदा होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मंतव्य है कि भारतीय अध्यात्म और काव्य– दोनों ही क्षेत्रों में रहस्यवाद नहीं है। वस्तुतः शुक्लजी दर्शन के मर्मज्ञ होते हुए भी काव्य को "अध्यात्म" से मुक्त देखना चाहते हैं और बुद्धिवादी बन जाते हैं। बुद्धिवादी चिन्तक होने के कारण वे प्राकृत अंतःकरण के ऊपर किसी अति प्राकृत शक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि भारतीय अध्यात्म में – विशेषकर भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में– सामान्यतः रहस्यवाद का कोई स्थान नहीं है। भक्तिमार्ग प्राकृत अंतःकरण की भावशक्ति को माध्यम बनाता है और चरमसत्ता के "ज्ञान" या "व्यक्त" पक्ष से जुड़ता है। इस ज्ञात या व्यक्त पक्ष के लक्षणों का निर्देश आचार्यगण अन्तःकरण की दूसरी प्राकृत शक्ति बुद्धि के माध्यम से करता है। भारत में अद्वैतवाद चिन्तन की ही परिणति है। शुक्लजी यह भी मानते हैं कि तत्त्व-चिन्तन से द्वैतवाद तक ही पहुँचा जा सकता है, ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के "साक्षात्कार" तक नहीं, जहाँ अन्तःकरण की रहस्यात्मक पद्धति से योगमार्ग जाता है। अर्थात् योगमार्ग साधनात्मक रहस्यमार्ग तो यहाँ है, पर "ज्ञानमार्ग" या "भक्तिमार्ग" नहीं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्य का समावेश उस धारा में होता है जहाँ अध्यात्म में बुद्धि या चिन्तन की दखलंदाजी निषिद्ध है। फलतः इस धारा में "भाव" से ही "ज्ञान" का काम चलाना पड़ता है– जो अस्वाभाविक और रहस्यमय है। यहाँ चिन्तन से प्राप्त होनेवाले "अद्वैत" की तर्क-दर-तर्क नहीं, प्रत्युत भावातिरेक की स्थिति में सहसा उपलब्धि होती है। पैगंबर या मुरशिद भी इसी रहस्यमय तरीके से उन लक्षणों को प्राप्त करते हैं, जिन्हें भारतीय आचार्य चिन्तन के स्पष्ट पथ से प्राप्त करते हैं। इसीलिए शुक्लजी कहते हैं कि जब चिन्तन का क्षेत्र अद्वैत भाव के क्षेत्र में संचरित होता है– तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद का जन्म होता है। सामान्यतः भारतीय अध्यात्म में "ज्ञान" का काम "ज्ञान" से ही लिया जाता है और भाव का प्रसार इसी ज्ञान के भीतर होता है– अतः यहाँ रहस्यवाद की गुँजाइश ही नहीं है। शुक्लजी को गीता के "भक्त्या मामभिजानाति" का बोध है। वे इसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि इसका तात्पर्य "भक्ति" से मुझे "जानता" है– यह है ही नहीं। इसका तात्पर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल इतना है कि भक्ति से "जानने" में सौन्दर्य आ जाता है। ज्ञान का काम ज्ञान ही करता है- भक्ति उसमें सुन्दरता ला देती है।

शुक्लजी ने कहा भारत में सामान्यतः भावात्मक-रहस्यवाद या रहस्यवाद नहीं है। "सामान्यतः" कहने का आशय स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि जब वैष्णव भक्ति धारा में सूफियों के सम्पर्क से "माधुर्य" भाव का समुन्मेष हुआ, तब उसके साथ रहस्यमयता भी अनिवार्य और स्वाभाविक रूप से संक्रान्त हुई। अन्य- "दास्यादि" -भावों में वह "प्राइवेसी" नहीं है, एकान्तिकता नहीं है- जो "माधुर्य" में है। इसमें नाता जग या लोक से हटकर एक से ही हो जाता है।

शुक्ल जी इस बात का भी उत्तर देते हैं कि ये भारतीय परम्परा के सगुण-भक्त निर्गुण या अव्यक्त के रूप में राम की चर्चा क्यों करते हैं? वे कहते हैं कि कभी-कभी दास्यादि भाव की भक्ति में भी ब्रह्म के उभयात्मक-सगुण निर्गुण- रूप का उल्लेख होता है, वहाँ अव्यक्त पक्ष का उल्लेख "भाव" के उत्कर्ष के लिए ही होता है- वहाँ आराध्य में इयत्ता के परिहार से जो रहस्यमयता ध्वनित होती है- वह केवल भाव को तीव्र करने के लिए। निष्कर्ष यह कि शुक्लजी सामान्यतः भारतीय भक्ति साधना में रहस्यवाद मुख्य अर्थ में मानते ही नहीं हैं- यदि गौण अर्थ (प्राइवेसी) में लक्षित होता भी है तो वह सूफियों के सम्पर्क से आरोपित है- स्वाभाविक नहीं। अभिप्राय यह कि हिन्दी की मध्यकालीन सगुणधारा में तो रहस्यवाद है ही नहीं, निर्गुणधारा में लक्षित होनेवाला रहस्यवाद विदेशी प्रवृत्ति है। अज्ञात के प्रति भावसंचार अस्वाभाविक ही है।

जहाँ एक ओर एक ख्यातनामा समीक्षक की यह धारणा है, वहाँ लब्धप्रतिष्ठ सर्जक और चिन्तक जयशंकर प्रसाद की उनसे सर्वथा भिन्न। जहाँ शुक्लजी काव्य का अध्यात्म और रहस्य से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते और उसे मनोमय कोश की वस्तु मानते हैं, वहाँ प्रसाद जी की धारणा है कि काव्य का मूल उत्स रहस्यमय है। उनकी दृष्टि में काव्य आत्मा की संकलपात्मक अनुभूति है और संकल्पात्मक अनुभूति रहस्यवाद की मुख्य धारा है। काव्य में विकल्प और विश्लेषण के माध्यम से नहीं, प्रत्युत सहसा और समग्र चारुता में सत्य गृहीत होता है।

इस बात पर पदार्थवादी, भाववादी और आत्मवादी- तीनों एकमत हैं कि कविता एक विशेष मूड या मनःस्थिति की उपज है- जो कब और कैसे बन जाती है- कहना कठिन है। इस स्वतः समुच्छ्वसित मनःस्थिति या मूड में स्रष्टा की सजगता की दखलंदाजी कलाकार को अभिमत नहीं है। परंपरा भी इस सत्य की साक्षी है। आनंदवर्धन ने महाकवि का महाकवित्व क्या है- इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा- "प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेनमेषां सुकविनां प्रवृत्तिः तेषां परोपर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तार्थपरिग्रहनि:स्पृहाणां स्वव्यापार: कर्तुं न मुच्यते। भगवती स्वयमेवाभिमतमर्थमवतारयति। एतदेव महाकवित्वं महाकवीनाम्।"– अर्थात जिन सुकविजनों की अर्जित पुण्यपरिपाकवश काव्य में प्रवृत्ति होती है, उन्हें चाहिए कि वे दूसरों द्वारा रची हुई बासी सामग्री न लें और स्वयं भी व्यापारशील न हों। भगवती सरस्वती स्वयम् ही अभिमत अर्थ घटित करने लगती है। यही है महाकवि का महाकवित्व। इस उद्धरण से एक तो यह स्पष्ट होता है कि कविता एक पवित्र परिणति है– कृति है। कविवर घनानंद ने इस पवित्रता को ही लक्षित करते हुए कहा-

उर-भौन मैं मौन को घूंघट कै दुरि बैठि बिराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सौं सुलसै हुलसै रस-रूप-मनी।
रसना-अली कान-गली मधिव्है पधरावति लै चित सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।

इस कविता में स्पष्ट कहा है कि कविता देवी को (रचयिता की) रसना रूपी सखी सहृदय की चित्तशय्या पर " पधरावती " है। इस क्रिया का प्रयोग देव– प्रतिमा को स्थानांतरित करने के लिए- एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रखने के लिए किया जाता है। इससे कविता के प्रति उनकी क्या निष्ठा है– स्पष्ट है। ऐसी कविता के करने में प्राक्तन पुण्य का परिपाक आवश्यक है। आपाततः एक अंतर्विरोध लगता है कि काव्यक्रिया में प्रवृत्त होकर स्वकीय व्यापार से विरत हो जाय– और परम्परागत अर्थ का उदाहरण भी न करे। प्रश्न है कि करे क्या? भगवती सरस्वती किस प्रकार अभिमत अर्थ का उद्भवन करती है?

वस्तुत: चाहे व्यापार जगत् हो, काव्य की रचना हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो– सर्वत्र " विसर्जन " ही विशिष्ट सर्जन का मार्ग है। विसर्जन अर्थात् आत्म-समर्पण– समष्टि सत्ता में व्यष्टि सत्ता का विलयन। व्यवहार में व्यक्ति अपनी सत्ता का विस्तार परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में विलीन करके ही कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी अज्ञात कारण से एक विशिष्ट या असाधारण मनोदशा बन जाय, तब सर्जक को चाहिए कि वह अपनी सीमित चेतना को स्थगित या विसर्जित रखे। असीम शक्ति सीमित शक्ति को पचाकर ही सक्रिय होती है। इस शक्ति के जागरण से न जाने क्या-क्या सूझने लगता है और कविता अपरिमेय संभावनाओं की सृष्टि बन जाती है। निष्कर्ष यह है कि कविता इस अज्ञात प्रक्रिया से होती है– ज्ञात स्तर से नहीं की जाती। इसीलिए प्रसाद जी काव्य का सम्बन्ध रहस्यमय मानते हैं परम्परा हस्तावलम्ब देती है।

दूसरी बात यह कि प्रसाद जी का अतिप्राकृत प्रातिभ शक्ति में विश्वास है, जब कि शुक्लजी उसे अस्वीकार करते हैं। ऊपर के विवेचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से स्पष्ट है कि प्रसादजी प्राकृत अंतःकरण से ऊपर अतिप्राकृत शक्ति मानते हैं और उसे काव्य का मूल उत्स निरूपित करते हैं। यही वह शक्ति है जिससे सत्य का सहसा साक्षात्कार होता है। इनका अभिप्राय यह है कि इस अतिप्राकृत स्तर पर वैसा क्षेत्र-भेद नहीं है, जैसा प्राकृत अंतःकरण की भावशक्ति और ज्ञानशक्ति में भेद है- एक का काम दूसरी नहीं कर सकती। काव्य या अध्यात्म के क्षेत्र में विसर्जन और तदाधारित रहस्यमयता का प्रवेश श्रीमती महादेवी वर्मा भी मानती हैं- कहती हैं

सुनाई किसने ? पल में तान,
कान में मधुमय मोहक तान,
तरी को ले जाओ मझधार
डूबकर ही जाओगे पार।
विसर्जन ही है कर्णाधार।
वही पहुँचा देगा उस पार।

मंझिल तक पहुँचने के लिए जिसे तुम "तरी" समझते हो, उसे "प्रवाह" में विसर्जित कर दो- प्रवाह ही मंझिल तक पहुँचा देगा। स्रोत में, धार में पड़ जाओ- गंतव्य स्वयं गोद में ले लेगा। निष्कर्ष यह कि इस प्रक्रिया का स्वीकार काव्य और अध्यात्म- उभयत्र निर्बाध रहस्यमयता को प्रवेश देता है।

तीसरी बात यह कि प्रसादजी रहस्यवाद को भारतीय प्रकृति का मानते हैं और तदर्थ अपरोक्षानुभूति, समरसता तथा अहम् से इदम् के समन्वय की साधना आवश्यक समझते हैं। वे मानते हैं कि यह शक्ति का रहस्यवाद भारतीय परंपरा में निर्धारित समय से चलता चला जा रहा है। द्वैतवादी प्रवाह में कहीं यह प्रच्छन्न रहस्य संप्रदाय विच्छिन्न न हो जाय- अतः उसका पुनः प्राकट्य हुआ। उनके अनुसार भारत में दो धाराएँ प्रचलित थीं- विवेकवादी और आनंदवादी। पहले का प्रवर्तक वरुण और दूसरे का इन्द्र। विवेकवाद में दुःखवाद का अस्तित्व था, आनंदवाद में नहीं। पहले में "पर" का और दूसरे में "स्व" का प्राधान्य था। यह "स्व" समरस पर्यवसायी था। यह "समरस" लीला के लिए अपनी "शक्ति" को अपने से पृथक् कर अणुभावापन्न होता है- "बोध" को "स्वातन्त्र्य" से और "स्वातन्त्र्य" को "बोध" से पृथक् करता है। बोध ही प्रकाश है और स्वातन्त्र्य ही विमर्श। स्वरूपपरामर्श करती हुई विमर्श शक्ति ही आनंद है- चाहे व्यवहार हो काव्य हो या अध्यात्म। आगमों में इसीलिए कहा गया कि आनन्दोच्छ्वसित शक्ति ही अपने से अपनी सृष्टि करती है, विश्वात्मना रूपान्तरित होती है। शक्ति ही आनंद का स्रोत है- यह द्वैतविरोधी अद्वैत को नहीं, द्वैतग्राही अद्वैत का पक्षधर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसीलिये शक्ति धारा से भिन्न है। वह शक्तिधारा विवेकवादियों के दुःखवाद से असहमत है। चिंतन के इस आलोक में प्रसाद जी की कुछ विलक्षण मान्यताएं हैं। वे मानते हैं कि सगुणवादी रामधारा तो स्पष्ट ही विवेकवादी है। कृष्णाश्रयी काव्यधारा के संबंध में उनका खयाल है कि द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है। प्रसाद जी बौद्ध सिद्धों को हिन्दी का आदि रहस्यवादी कवि मानते हैं और मानते हैं कि ये आनंदवादी धारा के सहजोपासक थे। साधना और कवित्व – दोनों ही दृष्टियों से कबीर आनंदवादी सिद्धों की परंपरा में आते हैं। सगुण राम विशुद्ध विवेकवादी धारा, सगुण कृष्ण विवेकवाद–आनंदवाद की मिश्र धारा और विवेकवादी धारा का अवलंब ले कर भी कबीर विशुद्ध आनंदवादी सिद्धों की धारा के अधिक समीप थे। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद के इस प्रभाव से तुलसी भी आक्रांत थे, अन्यथा "अस मानस मानस चख चाही" न कहते। रहा सुफी मत-सो उसके संबंध में प्रसादजी का विचार है कि यह वह विचारधारा है जो अरब और सिंध का परस्पर संघर्ष होने के बाद उत्पन्न हुई।

इस प्रकार जहाँ शुक्लजी भारतीय प्रकृति में रहस्यवाद नहीं मानते, वहाँ प्रसादजी उसका अस्तित्व अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं और उसे आगम सम्मत शक्तिवाद से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दी का आदि रहस्यवाद सिद्धों में है और वहाँ आनंद का जो समुच्छ्वसित स्तर है– मध्यकाल की भक्तिधारा की चारों शाखाओं में वह उस स्तर पर अनुपलब्ध है। प्रसादजी निर्गुणधारा के रहस्यवाद को न तो विदेशी मानते हैं और न ही सगुणधारा में उसके प्रभाव का अस्वीकार। हाँ, आनंदवाद का वह समुज्ज्वल नहीं– जो सिद्धों में है।

जहाँ तक मेरा विचार है– मेरी धारणा का संबंध है, मैं मानता हूँ कि भागवत धारा ने "भक्ति" को पंचम पुरुषार्थ के रूप में जब "साध्य" घोषित किया, तब वह अंतःकरण ही नहीं, माया और महामाया की भी वृत्ति नहीं है, वह आगम प्रतिपाद्य "समरस" तत्त्व की "शक्ति का ही नामांतर है और तब "भक्त्या मामभिजानाति"– शब्दशः सत्य है। उसकी शुक्ल–सम्मत अन्यथा व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। रसमय शक्तिमान अपनी स्वरूपभूता अंतरंगा निजाशक्ति से ही स्वरूप परामर्श करता है– और यह स्वरूप– परामर्श ही आनंद है। आगम की धारणा है कि जब तक अविद्यामूलक अहंकार तदाधृत कर्तृत्वबोध है तब तक "कर्म" ही होता है। कर्तृत्वबोध सापेक्ष समस्त क्रिया "कर्म" है, "भाव" नहीं। "कर्म" किया जाता है, "भाव" हो जाता है– होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले में कर्ता की अपेक्षा है और दूसरी में अनपेक्षा। भाव ही पुष्ट होकर महा-भाव होता है और वही ल्हादिनीवृत्ति है– भक्ति है–शक्ति है। इस प्रकार जो भक्ति-साहित्य है– वह शक्ति-साहित्य और इसकी स्रोत-शक्ति वाङमनोगोचर नहीं है- उससे परे है। शुक्ल-सम्मत प्राकृत अंतःकरण की वृत्ति भक्तिधारा के साहित्य का उत्स नहीं है– है तो भी तो उस अवाङमनोगोचर भक्तिरूपा शक्ति के व्यंजक रूप में उपचारतः। अतः उस उत्स से प्रस्फुटित साहित्य रहस्यमयी अनुभूति का ही समुच्छलन कहा जायेगा। फलतः यह सब रहस्यवाद की परिधि में आएगा।

(क) रामधारा के गोस्वामी तुलसीदास जी स्पष्ट कहते हैं–

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जाने सोइ जेहि पै बनि आई॥

"भक्ति" शक्ति की अभिव्यक्ति है– उसका संबंध करने से नहीं, स्वभाव से है। स्वभाव में ही बीज निक्षिप्त होता है तब तो "बन" गई, "हो" गई, अन्यथा प्रयत्न से अर्जित नहीं की जा सकती। इसीलिए भक्ति को उन्होंने स्वतंत्र माना है और ज्ञान–विज्ञान को उसके अधीन। शुक्लजी काव्यरस और भक्तिरस की एक ही प्रक्रिया मानते हैं और कहते हैं कि शब्द से ज्ञात अर्थ का कल्पना से बिंबन होता है और बिंबात्मक अर्थ भाव को स्पंदित कर आस्वाद-गोचर करा देता है। गोस्वामीजी कहते हैं- "अस मानस मानस चख चाही"– जिससे "रसविशेष" का आस्वाद संभव है। अविरल प्रेम भगति में मगन "रसमय राम" का साक्षात्कार कल्पना से नहीं, समाधि से करता है और घट के भीतर करता है– हृदयव्योम में। क्या यह भक्ति की वही स्वाभाविक क्रिया है, जिसकी चर्चा शुक्लजी करते हैं? क्या यह अंतःकरण की प्राकृत शक्ति से संभव है? राम जनकपुरी तथा वनपथ पर अनूढा और परोढा नारियों के जब दृष्टि-भाजन बनते हैं और मुखारविंद के सौंदर्य में मग्न करते हैं– तब वहाँ कौन-सा भाव माना जाय? दास्य? नहीं, माधुर्य ही संभव है, दास तो चरणारविंद का उपासक होता है। इस प्रसंग में यह कहना कि "विलोकहू री सखि! मोहिं सी ह्वै" कोई अर्थ नहीं रखता? राम का रसमय रूप तुलसी की आँख से ही देखा जा सकता है- यह आँख कोई और ही आँख है, खंभे को फाड़कर प्रकट होने वाले नरसिंह को देखने वाली आँख नहीं है। इस धारा की रसिक शाखा की रहस्यमयता तो प्रश्नातीत है ही। काव्यरस या प्राकृतरस से पार्थक्य बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा है कि भक्तिरस रसविशेष है– जहाँ विषयसंपर्कजन्य कोई कड़वाहट नहीं है, जबकि काव्यरस में विषय संपर्क है। कहा गया है–

"बिनु हरि भजन इंदारुन के फल तजत नहीं करु आई।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) कृष्णाश्रयी धारा के सूरदास ने अपने भक्तिरस के विषय में भी स्पष्ट घोषणा की है और सामान्य काव्यास्वाद से उसका दर्जा बढ़ाकर बताया है साथ ही अवाङ्मनोगोचर होने से रहस्यमय भी ।

" परम स्वाद सबहीं जु निरंतर अमित तोष उपजावे ।
मन बानी को परम अगोचर जो जाने सो पावै ।। "

स्पष्ट ही काव्यरस यदि आस्वाद है– अनुभूत (वासना) की अनुभूति है, तो भक्तिरस "परमास्वाद" है । पहला वाङ्मनोगोचर है, दूसरा अवाङ्मनोगोचर । अतः इसकी रहस्यमयता और काव्यरस से भिन्नता स्पष्ट है । शुक्लजी का यह कहना भी साम्प्रदायिक दृष्टि से असंगत है कि इनमें प्रतिफलित "माधुर्य-भाव" सामी या सूफी मत का संपर्कज प्रभाव है, यहाँ की सगुणधारा में माधुर्य-भाव स्वाभाविक नहीं आरोपित है ।

प्रसंग है इसलिए यह भी बता दूँ कि "भाव" शब्द का प्रयोग तीन स्तरों पर होता है– व्यवहार, काव्य तथा अध्यात्म । तीनों स्तरों पर प्रयुक्त होने वाले "भाव" शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न है । व्यवहार स्तर पर प्रयुक्त "भाव" का मनोविज्ञान सम्मत स्वरूप है— प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्ति प्रवृत्ति-- तीनों का गूढ़ संश्लेष । काव्यास्वाद के संदर्भ में भरत-सम्मत "भावन" या "वासन" भाव का लक्षण है । वहाँ वह "भाव" इसलिए कहा जाता है कि सहृदय के हृदय को भक्ति या रचयिता के भाव से वासित करता है । अध्यात्म के स्तर पर "भाव" वह प्रकृतिनिक्षिप्त बीजभाव है जिसका उल्लेख अविद्याति-वृत्ति के बाद होता है जो विकसित होकर रसरूप में परिणत होता है ।

कृष्णाश्रयी धारा में लीला रूप से तीन ही रस संभव हैं– सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य । कारण, लीला में तीन ही वर्ग हैं– सखा, गोपी तथा नंदादि गुरुजन । एक ही सत्ता इन रूपों में विभक्त होकर विभिन्न भावभूमियों की रसमयी लीला करती है– भक्त इन्हीं से तद्भावापन्न होकर परमास्वाद लेते हैं । सूर नंदभावापन्न होकर भक्ति करते थे– यह कहीं से भी प्रमाणित नहीं । उन्मद श्रृंगार का वर्णन कर लेते हैं, अतः "असंकोच" मूलक "सख्य" भाव की उपासना है– यह तर्क भी कमजोर है । कारण, फिर तो उन्मद श्रृंगार–वर्णन के कारण कालिदास में भी शिव के प्रति सख्य भाव मान लिया जाय ? वल्लभाचार्य का सिद्धांत है कि कृष्णरस का पान "गोपी-भाव" की आन्तर चक्षु उन्मीलित होने पर ही संभव है । प्रसिद्धि भी है कि सूर की अंतिम चेतना राधाभावापन्न हो गई थी । ये सब बातें माधुर्य भाव की उपासना सिद्ध करती हैं– इसे सूफी संपर्क का परिणाम मानना अयुक्तिसंगत है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णाश्रयी धारा में अप्राकृत स्तर पर होने वाली रसानुभूति की गहरी विवेचना उपलब्ध होती है। प्राकृत स्तर के आस्वाद से उसका अंतर तीन बिंदुओं पर विचारा जा सकता है– मूलभाव (स्थायी), प्रक्रिया तथा परिणति। भक्ति-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र– उभयत्र बताया गया है कि स्थायी भाव ही पुष्ट होकर रस बनता है। काव्यशास्त्र में आस्वाद की व्याख्या आत्मवाद और तन्निरपेक्ष-उभयविध भूमियों पर हुई है। पहली भूमि पर कभी स्थायी को और कभी चित् को प्रमुखता दी गई है। आत्मवाद निरपेक्ष भूमि पर "वासना" ही अ-व्यक्तिगत रूप में अनुभूतिगोचर होकर आस्वाद्य मानी गई है। पर आत्मवादियों की भाँति अनिवार्यतः आनंदमय नहीं। जहाँ तक भक्तिशास्त्र का संबंध है– वह निर्विवाद आत्मभूमि ही है। यहाँ "स्थायी" और "रस" के संबंध में अनेकविध मत मिलते हैं– (क) संप्रदाय मानता है कि वीजभाव परमात्मा सृष्टिकाल में ही जीव में विस्फुल्लिंग में रूप में निषिक्त कर देता है। जिसमें यह भाव से ही विद्यमान है– उसे ही एक विशिष्ट प्रक्रिया से अवाङमनोगोचर रसानुभूति हो सकती है। (ख) भागवतगुणगानश्रवण से अंतःकरण की वृत्ति भगवदाकार होती है– अंतश्चेतना की तदाकार परिणति होती है, पश्चात् संस्कारशेष अप्राकृत आलंबन ही स्थायीभाव बन जाता है। (ग) तीसरा पक्ष यह कि "शक्ति" ही "भक्ति" है जिसकी अभिव्यक्ति स्वरूपबोध के बाद वृत्ति द्वारा होती है। श्रवण-मनन आदि के द्वारा "दासोऽहम्" यह शुद्ध बोध (शुद्ध अहंता-ममता संवलित) निवृत्त हो जाता है। तदनंतर अक्षर ब्रह्म नामक इष्ट धाम में उसका प्रवेश होता है– "भाव" (स्त्रीभाव) दृष्टि का उन्मेष होता है। इस दृष्टि की प्रगाढ़ता से और भगवान के असाधारण अनुग्रह-शुद्ध पुष्टि-से लीला रस प्रकट होने लगता है। भाव का ही सान्द्ररूप महाभाव– ल्हादिनीवृत्ति रूप राधाभाव– है। रसरूप ब्रह्म का आस्वाद इसी शक्ति-समुन्मेष से संभव है। लीला राज्य का प्राकट्य होने पर भगवान भक्त के वासनाधीन होकर इयत्ताहीन आस्वाद वैविध्य प्रदान करते हैं। इसी क्रम को यों कहा गया है–

प्रथम ज्ञान, विज्ञान दुतिय मति, तृतिय भक्ति को भाव।
सूरदास सोई समष्टि करि व्यष्टि चित्त मन लाव॥

श्रवणादि द्वारा "ज्ञान" अनुरूप मनन तथा निदिध्यासन द्वारा स्वरूपबोध का "विज्ञान", तदनंतर "भाव" का उदय होता है। भाव के सान्द्र होने से लीला का प्राकट्य– अर्थात् समष्टिरूप कृष्ण में व्यष्टि आराधक की चेतना का लय हो जाता है– लीलारस का आस्वाद होने लगता है। ऊपर जो "स्थायी" के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है– उनको देखकर ऐसा लगता है कि जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थायीभाव और रस के स्वरूप निर्धारण में कोई अराजकता है। पर विचार करने पर ऐसा कुछ नहीं लगता। भागवतगुणगानश्रवण से निर्मित वृत्ति या तत्प्रतिष्ठित भगवदाकार की व्यंजक होने के कारण और "भाव" या "शक्ति" तो अभिधा में स्थायी है। लीला के स्तर पर "शक्ति" का "रसमयकृष्ण" से स्वेच्छया विभाजन है– तत्त्वतः दोनों एक ही हैं– अतः भक्ति ओर रस– दो कैसे ?

निष्कर्ष यह कि आचार्य शुक्ल सम्मत प्राकृत स्तर की भावभूमि से संप्रदाय-संम्मत अप्राकृत स्तर की भावभूमि सर्वथा भिन्न है। प्राकृत स्तर पर आस्वाद के लिए साधारणीकरण आवश्यक है, अप्राकृत भूमि पर अनावश्यक है। वहाँ तो गुणगानश्रवणकाल में ही समाधि लग जाती है। प्राकृत स्तर पर अशुद्ध वासना है, अप्राकृत स्तर पर शुद्ध और स्वारसिकी। प्राकृत स्तर का रस लौकिक वासना का पुनरास्वाद है। अप्राकृत स्तर पर चिदानंदमय रस का अपरोक्षीकरण है। प्राकृत स्तर पर भोक्ता की परिमित-प्रमातृता विगलित हो जाती है– स्त्री-पुरुष का भेद भी विगलित हो जाता है, पर भक्ति के परमस्वाद में पुरुष में भी स्त्री-भाव का समुन्मेष आवश्वक है। भक्तिरस में भक्त गोपीभाव से भोक्ता है ओर चिदानंदमय लीलामय पुरुषोत्तम भोग्य। भक्त द्रष्टा रहकर भोक्ता है– इसलिए इस काल में भी कृष्ण का समष्टि रूप और जीव का व्यष्टि-रूप अक्षत रहता है। प्राकृत रस में यह सब नहीं रहता। एक संयोग का रहस्यमय चित्र है–

प्यारी उठि प्रिय के डर लागी।
अलस अंग, लटक लट छूटी, देखि स्याम बड़भागी।
सुरत मौन निसि बीती मानौ हसनि प्रस्त भयौ जागी।
अति सुख कंठ लगाइ लई हरि अरस परस अनुरागी॥

स्पष्ट है कि यहाँ काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्राकृत स्तर पर होनेवाली प्रतीति अपनी ही लौकिक वासना का जागरणात्मक आस्वाद है। रहस्यशास्त्र में कहा गया है– "क्रिया सर्वापि सैवान्न परं कामो न विद्यते।" प्राकृत तथा अप्राकृत-उभयविध स्तरों पर क्रिया एक ही होती है– अंतर केवल इतना है कि एक जगह अदिव्य और दूसरी जगह दिव्य काम होता है। "ज्ञान" से "भक्ति" का यही तो वैशिष्टय है कि भक्ति में चिदानंदमयलीलासहित श्रीकृष्ण भक्त के सर्वेन्द्रिय का भोग्य होता है– इन्द्रियवर्ग का भोग्य होता है– जो कल्पित द्वैत की भूमि पर संपन्न होता है। म. म. कविराज गोपीनाथ का कहना है– "पुष्टि भक्त 'सायुज्य' की आकांक्षा नहीं करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मानंद में प्रविष्ट होने पर भक्ति का विलास संभव नहीं होता। सायुज्य ब्रह्मानंद का ही नामांतर है। भिन्न रूप में स्थिति के बिना अनुभव रस स्फुरित नहीं होता, इस कारण पुष्टि भक्त सायुज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं चाहते । सायुज्य प्राप्त भक्तों को भी परमानंद का अनुभव होता ही है– इसमें संदेह नहीं। किन्तु उन्हें यह अनुभव अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है, इन्द्रियवर्ग के भोग्य रूप में नहीं । दूसरी ओर नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त इस एक परमानंद का अपने स्वरूप या आत्म स्वरूप में तो अनुभव करते ही हैं- इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा भी उन-उनके भोग्य रूप में अनुभव करते हैं। इसलिए पुष्टि भक्त स्वरूपान्तः पान रूपी सायुज्य नहीं चाहते । उन्हें नित्यलीला में प्रयास करना ही एकमात्र प्रार्थनीय जान पड़ता है।" (श्रीकृष्ण प्रसंग– पृष्ठ ३४३)

इस धारा में "वियोग" संभोग श्रृंगार का लौकिक वियोग की भाँति प्रतिपक्षी नहीं है- इसीलिए "ऊधौ, विरहौ प्रेम करे"– कहा गया है । विरह भी प्रेम का पक्षधर है– विपक्षी नहीं । दासभाव से लीलाराज्य में प्रवेश और स्त्रीभाव से योग प्राप्त कर चिरवियोग के प्रति जागरूक हो उठता है और संभोग की पीठिका में दबा हुआ यह चिरवियोगभाव आनंद को अगणित कर देता है । इसीलिए परमविरहासक्ति को गोपीभाव की चरमनिष्पत्ति माना जाता है। इस चिरविरह का तिरोभाव तब होता है– जब भक्त ब्रह्म का आश्रय पा लेता है।

कृष्णाश्रयी धारा में यह रहस्यमयता (प्राइवेसी) माधुर्य के उत्कर्ष के साथ उत्तरोत्तर और गहरी और प्रगाढ़ होती गई है । भावना के धरातल पर भक्तों में यह विचार आया कि "आस्वाद" "स्वसुख" में है "तत्सुख" में– अपने सुख में सुख उत्कृष्ट है या उनके सुख में । भावुक भक्तों ने तय किया "उनके सुख में" "तत्सुख सुखित्व"– बड़ी बात है । अतः उस लीलाराज्य में "रसरूप राधाकृष्ण" के सुख में योग देकर भक्त का सुखी होना बड़ी बात है । इस भूमि पर "सखीभाव" की साधना का प्रवेश हुआ । डा. गोवर्धननाथ शुक्ल का विचार है कि साधना का यह पक्ष स्वामी हरिदास के संपर्क का प्रभाव। स्वामी हरिदास सूरदास के समय में वर्तमान थे । अष्टछाप अष्टसखा के अवतार माने जाते हैं । परंपरा में माना जाता है कि ये दिन में सखा और रात्रि में सखीभाव का अभिमान रखते हैं और स्वामी तथा स्वामिनी के सुख में योग देकर "तत्सुख सुखी" होते हैं । यह सखी भाव उत्तरोत्तर गहरा होता गया और अनन्य नृपति स्वामी हरिदास जी के प्रति विहारिनदासजी के शब्दों में यह स्थिति हो गई कि जहां एक चना में दो दाल के रूप राधा तथा कृष्ण की कल्पना थी– वहाँ एक चना में तीन दाल की भावना हो गई और उन तीन में स्वामीजी की भी गणना होने लगी । अप्राकृत रस जहां पहले "ब्रज-रस के नाम से स्मरण किया जाता था, वहाँ वह निम्बार्क मतानुसार "वृंदावन रस" तक सिमटकर प्रगाढ़ हो गया और स्वामी हरिदासजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि में "नित्यविहाररस" तक सिमट कर और भी प्रगाढ़ हो गया। इसीलिए स्वामीजी को अनन्यरसिकनृपतिशिरोमणि कहा गया। रस की रहस्यमयता का यह चरम स्वरूप माना गया।

"प्रसाद" जी की यह धारणा वजन रखती है कि पूर्वांचल की शाक्त-भक्ति-धारा के "राधाकृष्ण" "स्व" हैं और मध्यदेशीय वैष्णवधारा के "राधा-कृष्ण" "पर" हैं। इसीलिए, कविराज गोपीनाथ का मत है– "भक्ति तत्त्व के रहस्य का वैष्णव सहजिया जनों ने जितना विश्लेषण किया है, उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता। बौद्ध वज्रयान एवम् सहजयान किस प्रकार परवर्ती युग में वैष्णव सहज सिद्धान्त के रूप में आविर्भूत हुए– इसका विवरण ऐतिहासिक आलोचना का विषय है।" (श्रीकृष्ण प्रसंग, पृष्ठ- ३७६) इस मत में परमार्थ तत्त्व का नाम "सहज मनुष्य" है– इसीलिए चण्डीदास ने "सबार ऊपर" कहा है। स्वतः सिद्ध या नित्य मनुष्य के रूप में भी यह जाना जाता है। यह अप्राकृत नराकार-राधाकृष्णमय युगबद्ध रूप है। ये शरीर से दो पर आत्मा से एक हैं। इस सहज मनुष्य की साधना अत्यंत जटिल और गुह्य है। यह साधना सांप्रदायिक वैष्णवों में नहीं है– है भी तो अत्यंत गुप्त। यहाँ साधक अपने "रूप" पर राधाकृष्ण के "स्वरूप" का "आरोप" कर साधना में प्रवृत्त होता है और "सहज मनुष्य" का रसमय संधस्त पाता है। गौडीय मत वालों का सहजियों से संपर्क था और संभव है बहुत से प्रभाव भी हों। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मथुरा में केवल "कृष्ण" थे– "शक्ति" रूप में "राधा" का प्रवेश चैतन्यमतानुयायियों ने वृंदावन में कराया। आज भी मथुरा में कृष्ण और वृंदावन में राधा का महत्त्व है। निष्कर्ष यह कि मध्यदेशीय वैष्णवसाधना में "पर" का प्राधान्य होने से दुःखवाद और विरह का अनुप्रवेश हुआ। पर पूर्वांचल में "स्व" को केन्द्र में रखकर जो अद्वैतीशाक्त धारा है- उसमें प्राप्य को पाने की तड़प नहीं है। सहजिया कहते हैं "रूप" हो "स्वरूप" है, पर कर्म-जन्य आवरण "रूप" का अन्यभावभास कराता है– आसक्ति की डोर कट जाय– तो "रूप" का "स्वरूप" अपरोक्ष हो जाय। अप्राप्ति तक तड़प होना संभव है, पर प्राप्ति के बाद भी पीठिका में विरह बना रहता है और संयोग सुख को बढ़ाता है– यह भावना मध्यदेशीय वैष्णवों में ज्यादा दृष्टिगोचर होती है। इस धारा से जुड़े हुए कबीर कहते हैं– "तन पाया तन वीसरां, जब मन धरिया ध्यान।

तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान॥"

इसलिए कबीर की रहस्यमयी प्रेमसाधना में शाक्त आनंद धारा का सिद्धों से होता हुआ विशुद्ध प्रवाह और कृष्ण भक्तों में शक्तिवाद के प्रवेश से मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवाह- की बात प्रसादजी भी कहते हैं।

(ग) शुक्लजी निर्गुणधारा में प्रवाहित रहस्यमयता का स्रोत अभारतीय बताते हैं- प्रसादजी भारतीय। कबीर को तो उन्होंने स्पष्ट ही सिद्धों से होती हुई चली आती शक्तिवादी "स्व" केन्द्रक आनंदधारा का स्नातक माना है। विरह की बात कबीर में भी है- उन्होंने स्पष्ट ही कहा-

यह तन जालौं मसि करूं ज्यू धुआं जाइ सररिग।
मति वै राम दया करैं बरसि बुझावै अग्गि॥

लेकिन स्वरूपोपलब्धि के बाद भी विरह की व्यंजना हो- ऐसी नहीं।

(घ) सूफियों में प्राप्त तत्त्वों का स्रोत भारत ही है- प्रसादजी ने "रहस्यवाद" शीर्षक निबंध में स्पष्ट किया है। उनका विचार है कि सूफीमत में प्राप्त अद्वैततत्त्व का संक्रमण अरबों का सिंध से संपर्क होने के बाद हुआ। सामीमतों में "अद्वैत" का स्वर है कहाँ ? वह हो भी तो अपराध माना जाता है। यह तो मुहम्मद साहब के शतकों बाद चिंतन ने प्रवेश किया और "तौहीद" की अद्वैती व्याख्या की गई। क्रिश्चियन रहस्यवाद में यूनान की अद्वैती चिंता धारा व्याप्त है। कविराज जी की धारणा है कि चैतन्यमत, त्रिपुरामत तथा प्रत्यभिज्ञा का सूफीमत से अद्भुत साम्य है। जायसी जब कहते हैं-

"आपुहिं आपु जो देखन चहा।
... .
आपुहिं घट घट मंह मुख चाहै।"

तो अद्वैतपरक आगमसम्मत चरम सत्ता के विश्वात्मक और विश्वातीत रूपों का स्मरण हो आता है और स्मरण हो आता हैं- आत्मप्रसार के माध्यम से आत्मरमण की लीला का। रहा यह कि कबीर और जायसी में "भावना" ज्ञात के परे "अज्ञात" (हाल में) तक रहस्यमय तरीके से जाती है- यह भी ठीक नहीं। सूफी तो स्पष्ट ही मानते हैं कि जब उस "अलजात" ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य को देखना चाहा- तो "अलसिफत" के सहयोग से अभावात्मक विश्व दर्पण तैयार किया- जिसमें उसकी छाया पड़ी। यह छाया भावमय है। अभाव में लक्षित होने वाला भाव का प्रतिबिंब मुरीद को खींचता है- हाँ, यह अवश्य है कि यह आकर्षण जिस सौंदर्य-संसारीसौंदर्य में होता है- तत्त्वतः वह उस परम सुन्दर तत्त्व का है। निर्गुणिए संत भी आध्यात्मिक आकर्षण से परिपूर्ण गुरु का सहारा लेता है। इस प्रेम साधना से किसी अतिप्राकृत शक्ति की उपलब्धि होती है- और रहस्यमय सौंदर्यानंद की उपलब्धि होती है। कबीर कहते हैं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

" कबीर तेज अनंत का ऊभी सूरज सेणि ।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा वेणि ॥ "

निष्कर्ष यह कि आध्यात्मिक अनुभूति मात्र अवाङमनोगोचर है- यदि किसी सांप्रदायिक साधना के फलस्वरूप व्यक्त हुई है ।

आधुनिककाल- रहस्यवाद-

प्रसादजी कहते हैं कि छायावादियों की रचनाओं में जो रहस्यवादिता लक्षित होती है वह शक्तिमूलक भारतीय अद्वैती रहस्यवाद का सहज विकास है। नव जागरण का अभिप्राय है कि आत्मोत्थान के प्रति सामूहिक जागरण । विशेषज्ञों की धारणा है कि इस्लाम के आक्रमण के बाद होने वाला सामूहिक जागरण अंतर्मुखी था- उसमें समाज के बहिरंग और अंतरंग- दोनों पक्षों के जागरण का स्वर होते हुए भी प्रमुखता अंतरंग जागरण का ही रहा आध्यात्मिक चेतना का ही रहा । यद्यपि जनसामान्य-गत भावशक्ति की संभावनाओं और भावप्रसार के आलंबन भूत जगत् की पारमार्थिकता की स्थापना भागवतवैष्णवधारा ने जमकर की और आचार्य शंकर की ज्ञान पद्धति तथा जगत् की मिथ्यात्व धारणा का विरोध किया- यह बताया कि भाव का आलंबन यह सारा जगत् आराध्य का ही रूपान्तरण है- अतः मन जहाँ भी जाय- जाने दो- " सर्वं शिवमयं यतः "- एकनिष्ठता आवश्यक है- तथापि बहिरंग सामूहिक विकास की जगह चेतना व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास की ही ओर ज्यादा उन्मुख रही । परिणाम यह हुआ कि बहिरंग पक्ष उपेक्षित हो गया- समाज की स्नायविक चेतना मृतप्राय हो गई- विकास अवरुद्ध हो गया- रूढ़ियों की सड़ांध फैलने लगी, समाज की वह आँख और उसका स्नायुतंत्र- दोनों निष्क्रिय और अंधे हो गये । लगता है प्रेमचंद का सूरदास इसी भारतीय ऐतिहासिक चेतना की परिणति है- जो " अपनी जमीन " की रक्षा कर उसकी संभावनाओं का प्रसार तो चाहता है- पर उसकी बहिरंग चेतना ही अंधी है । फलतः समदिक् प्रसारी चेतना का अभाव होने से वह ऊपर-ऊपर असफल रहा और भावी पीढ़ी को और सोचकर आगे बढ़ने को प्रोत्साहित कर गया । अतः बीसवीं शती के आसपास जो नवजागरण हुआ उसमें मध्यकाल की " शक्ति " भावना पुनः बहिरंग और अंतरंग के समन्वय की दिशा में सक्रिय हुई। मध्यकाल की " भक्ति " शक्ति का पर्याय थी और आधुनिक काल में भी आगमसम्मत " शक्ति " के आह्वान का स्वर मुखर होता श्रुतिगोचर होता है । इस स्वर को " दर्शन " का हस्तावलम्ब और काव्यात्मक परिणति छायावादी काव्यचेतना देती है । इसलिए प्रसादजी का यह कहना कि आधुनिक रहस्य क्रमागत अद्वैती रहस्यवाद की स्वाभाविक परिणति है- संगत है । अवश्य है कि इन लोगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने इसे बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण किया । संप्रदाय सम्मत साधना की भूमि (मध्यकाल की) नहीं थी । इसकी पुष्टि इन लोगों के वक्तव्यों से भी होती है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिज्ञासा के स्तर के रहस्यवाद को इसीलिए वास्तविक, काव्यात्मक संभावनाओं से संचालित और रमणीय निरूपित किया । पर जहाँ-जहाँ संयोग और वियोग की सांप्रदायिक अभिव्यक्तियाँ देखीं– वहाँ उन्हें संदेह ही रहा । काव्य का स्रोत रहस्यमय हो– यह अलग बात है, पर "रहस्य" मयी सत्ता का साधना के बल पर अपरोक्षीकरणपूर्वक उद्गार हो– यह दूसरी बात है । शुक्लजी ने इसीलिए जिज्ञासा के स्तर की रहस्यमयी उक्तियों की दाद दी है– पर दूसरे को संदिग्ध बताया है । शुक्लजी अपरिचित के प्रति "राग" नहीं मानते– इसीलिए संयोग-वियोग की अनुभूति भी नहीं मानते । उनकी दृष्टि में "अज्ञात" की जिज्ञासा ही हो सकती है, अभिलाषा नहीं ।

प्रत्येक भावुक विचारक को सृष्टि की रहस्यमयता कुछ कहने को प्रेरित करती है–

"हे अनंत रमणीय कौन तुम
  यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
  भार विचार न सह सकता ?
महानील इस गगन व्योम में
  अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान्
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
  किसका करते हैं संधान ?

अनुभव में गहराई से जो आता है, बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती– वह रहस्य ही रह जाता है । संसार की संसरणशीलता किसी गंतव्य को लक्ष्य कर है या यों ही ? क्या संभव है इतनी व्यवस्थित गति निष्प्रयोजन या अपने गंतव्य में अव्यवस्थित हो ? ये सब बातें चिंतक को "रहस्य" की ओर ले जाती हैं ।

आचार्य शुक्ल पंतजी के तो पक्षधर हैं, पर शेष तीनों के विपक्षधर । प्रसादजी के विपक्ष में कहा– "मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं । मैं इसे भी कविता की एक शाखाविशेष मानता हूँ, पर जो इसे काव्य का स्वरूप समझते हैं– उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ ।" (चिंता, भाग–२, पृष्ठ–२७) प्रसादजी भारतीय परंपरा के अनुसार कहते हैं कि काव्य के लिए अपेक्षित मनोदशा रहस्यमय है– क्योंकि वह सहसा अ-कस्मात् (जिसका कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञात है) उभरती है। शुक्लजी "प्रतीक" की रहस्यमयता के खंडन के माध्यम से मानों इसी रहस्यमयता की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हों। उनके हिसाब से इसके मूल में वर्तमान और वंशानुगत वासना का दीर्घ प्रभाव सक्रिय रहता है। (वहीं- पृष्ठ-९९)। ज्ञानपरक चिंतन की एकतानता इन सबसे सर्जक को जोड़ती है। प्रसादजी मानते भी हैं कि इतिहास के मनन से यह असाधारण दशा आती है। निरालाजी पर स्पष्ट आक्षेप करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि- "जो यह भी नहीं जानता कि "ब्रह्मवाद" और "कविता" किन चिड़ियों के नाम है, जो अंग्रेजी की अंधी नकल पर बनी बंगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना बनाकर कहने लगे 'जब मैं ब्रह्मवाद' की कोई कविता देखता हूँ, तब हर्ष से नाच उठता हूँ, तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा ?" (चिंता, भाग-२, पृष्ठ–६७)। निराला जी ने अपने एक निबंध में यही पंक्ति लिखी है। महादेवी को लक्ष्य कर कहा है- "जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य योजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ष है ? तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता है और पाखण्ड का द्वार खुलता है।" (वहीं- पृ. ६७) अंत में तो झुझला भी उठते हैं- "जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय का स्पंदन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडंबर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो यह कहें कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकालकर "मत-वालों" (सांप्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" (वहीं–पृष्ठ ५१)

प्रसादजी का तर्क रहस्यवाद के पक्ष में हम देख चुके हैं, संप्रति महादेवी जी के तर्क क्या हैं- यह देखना है। महादेवीजी कहती हैं रहस्यवाद भावावेश की आंधी नहीं है और विदेशी भी नहीं। शुक्लजी जिसे अंत:करण की वृत्तिविशेष-ज्ञान कहते हैं- वह चिन्मय ज्ञान के व्यंजक होने के कारण उपचारतः ज्ञान कहा जाता है- तत्त्वतः वह ज्ञान है ही नहीं। इसीलिए "अद्वैततत्त्व" के लिए श्रुति "जानतामविज्ञातम्" कहती है। तुलसीदाजी ने उसी का अनुवाद करते हुए "जिन जाना तिन जाना नाहीं" कहा है। भारतीय परंपरा "अनुभूति" साक्षिक "सत्य" की सिद्धि में चिंतन का महत्व मानती है- निरपेक्ष चिंतन को वह अप्रतिष्ठ मानती है। ब्रह्मसूत्र है- "तर्काप्रतिष्ठानात्"। आचार्यों का चिंतन अनुभूति साक्षिक है- इसीलिए यहाँ दर्शन (फिलासफी) और साधना (थियालाजी) पश्चिम की तरह कटे हुए नहीं है। शुक्लजी पश्चिम की ओर ज्यादा मुड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रहस्यवाद" को परख रहे हैं। जब वे मध्यकालीन संतो की अनुभूतिमूलक उक्तियों के बावजूद उन्हें प्रकाशवादी (रहस्यवाह के विपरीत) कहते हैं– तब उनकी हठवादिता प्रतीत होती है। शुक्लजी मानते हैं "यहाँ रहस्य और गुप्त योग तंत्र आदि के भीतर ही रहे।" (वहीं– पृष्ठ १००) और यही तंत्र मध्यकालीन भक्ति का स्रोत है। छायावादान्तर्गत रहस्यवाद पर झूंझलाते हैं– तो उतना असंगत नहीं लगता। जब महादेवीजी उस "अज्ञात" से "परिचय" का प्रमाण देती हुई कहती हैं–

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत् सी तरल बन
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन
किसलिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?

और इसी संदर्भ में घनानंद की उक्ति स्मरण आती है–

अंतर हौ किधौ अंत रहौ, दृग् फारि फिरौ कि अभागिनी भीरों
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरों
जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं
पाऊं कहाँ हरि हाय तुम्हें धरती मैं धंसौं कि अकासहि चीरौं।

दोनों में "अप्राप्त" के प्रति अभिलाषा है। महादेवी अपनी तड़प या अभिलाषा "ज्ञात" के प्रति कह रही हैं– वे अपनी तड़प के औचित्य का समाधान दे रही हैं। महादेवी में कलात्मक उद्गार हैं, घनानंद में निरावरण तड़प हैं। इसीलिए जैनेन्द्र की यह टिप्पणी सार्थक लगती है कि महादेवी के हृदय को उनकी बुद्धि सम्हाले हुए है– घनानंद बेसुध हैं, मीरा बेसुध हैं।

संप्रति महादेवीजी की धारणा और पोषक तर्क द्रष्टव्य हैं। महादेवीजी कहती हैं कि प्रकृति की अनेकरूपता पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्मनिवेदन "रहस्यवाद" का सोपान है। छायावादी केवल आरोप तक जाता है और रहस्यवादी आत्मनिवेदन तक। छायावादी कवि प्रकृति में व्याप्त अखण्ड असीम चेतना के साथ अपने ससीम हृदय का तादात्म्य अनुभव करता है और रहस्यवादी उस अखण्ड सत्ता के प्रति आत्मनिवेदन भी करता है। हृदय के अभाव को दूर करने के लिए माधुर्य भावात्मक संबंध चाहिए और वह भी असीम से उनके अनुसार मानवीय संबंधों में जब तक अनुराग जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, जब तक वे सरस नहीं हो पाते और तब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, जब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। वे यह भी कहती हैं कि हमारी अंतःशक्ति भी रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी– अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं, जिनमें हम ऐसे रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और ऐसी अपूर्णता के प्रति जागरूक भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य का या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। उनके अनुसार अखण्ड चेतन से तादात्म्य संबंध केवल बौद्धिक भी हो सकता सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का क्षेत्र ही हृदय का प्रेम हो जाता है। जब चिंतन ने "जानतामविज्ञातम्" कहा था, तभी हृदय "तत्वमसि" कह उठा था। इसप्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की विविध प्रत्यक्षता तक फैल जाने की क्षमता रखता है। हृदय की सीमा एक असीमता में अभिव्यक्ति चाहती है और हृदय के अनेक रागात्मक संबंधों में माधुर्य भावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। कवि व्यापक सौंदर्य की विविधता में अरूप को रूप में अभिव्यक्त करता है। उनके अनुसार रहस्यवाद में द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।

इन सबसे स्पष्ट है कि इन लोगों का "रहस्यवाद" कल्पना, भावना और चिंतन की प्रकृत भूमि पर ही अवस्थित है– मध्यकाल की अवाङ्मनोगोचर स्थिति नहीं है। यह तो मानता हूँ कि जागरण काल में राष्ट्रीय प्रतिभाएँ सुप्त आत्म-शक्ति का उद्बोधन करती हैं- और इस छायावाद काल में भी यह है। सारा छायावाद "शक्ति" और उसके रचनात्मक रूप प्रेम तथा सौंदर्य के गान से आपूरित है। "कामायनी" और "रत्नावली" शक्ति के ही प्रतीक हैं।

नव रहस्यवाद :–

छायावादोत्तर व्यक्तिवादी प्रस्थान में विशेषकर "अज्ञेय" की रचनाओं केन्द्र में रखकर रहस्यवाद के नव्य रूप की चर्चा आलोचक गण कर रहे हैं और उस नवोन्मेष को "नव रहस्यवाद" की संज्ञा भी दी है। यह नव्य (NEW) विशेषण जिसके आगे लगता है, उसकी नये बौद्धिक परिवेश में नई व्याख्या उसमें निहित संभावना के कारण होती है। रहस्यवाद से उस अनुभूति को पकड़ा जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, जिस का साक्षी प्रमाता का हृदय तो होता ही है, परंतु बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती। वह बुद्धि के लिए अव्याख्येय होती है।'

अज्ञेय के काव्य विकास के सोपान से जो लोग परिचित हैं, वे जानते हैं कि वे छायावादी संस्कार से घटित साहित्यिक व्यक्तित्व का विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आलोक में परिमार्जन-परिशोधन करते हुए आगे बढ़ते हैं। उनका व्यक्तिवादी चिंतक व्यक्तित्व क्रमागत "दर्शनों" की अपेक्षा "विज्ञान" की ओर अधिक झुका हुआ है– फलतः "बुद्धि" को सर्वोपरि महत्व देता है। आज विज्ञान विश्व विकास की व्याख्या भूतविज्ञान, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान की विविध शाखाओं का सहारा लेता है, पर इस गुत्थी को सुलझाने में कहीं पारस्परिक अंतर्विरोध उभर आता है और कहीं रहस्य का सहारा लेना पड़ता है। आइन्स्टाइन और युंग ने इस ओर अनेक बार इंगित किया है। कभी कभी ये वैज्ञानिक ऐसे बिंदु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ एक ओर तो उनकी सीमाएँ जवाब देने लगती हैं और दूसरे उनके औजार जवाब देने लगते हैं। अज्ञेय यद्यपि सचेत होकर घोषणा करते हैं कि उनका रहस्यवाद "ईश्वर" की ओर नहीं जाता– अर्थात् जो कुछ चिंतन के दरम्यान अनुभव की ग्रंथियाँ उलझी रह जाती हैं– उन्हें वे "ईश्वर" नाम नहीं देना चाहते– तथापि रहस्यवाद की मूल चेतना से कोई फर्क नहीं पड़ता। "ईश्वर" संज्ञा देने से उन्हें लगता है– पुरानी जोती हुई जमीन की गंध आ जाएगी– उनकी मनःस्थिति से न्याय नहीं होगा। रहस्यवाद की मूल भावना यही है कि प्रतीत बुद्धि की पकड़ में नहीं आता, सीमा को असीम से जोड़ता है। उन्हीं की एक रचना लें–

शक्ति असीम है
मैं शक्ति का एक अणु हूँ
मैं भी असीम हूँ
है–है–से आगे और–पार
एक असीम बूंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिंबित करती है
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है

ऐसी ही उनकी अनेक रचनाएँ हैं। वे क्षण में अखण्ड काल की सत्ता वैसे ही देखते हैं, जैसे वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की सत्ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है
गोचर में एक अगोचर अप्रमेय
अनुभव में एक अतीन्द्रिय
पुरुषों के एक हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

जिस प्रकार एक में अनेक और अनेक में एक को एक साथ देखने दिखाने में समर्थ संचित्-रूपा भारतीय प्रज्ञान तत्त्व और उसके अनुभव के **निगम** रूप में साध्य-प्रवण तथा **आगम** रूप में साधन-प्रवण व्याख्यान दिये हैं– सत्य की खोज की उसी दिशा में "विज्ञान" भी यत्नशील है और जगत्विकास के नियमों के उद्घाटन में ही अभी उलझा हुआ है। भारतीय धारा की आगमिक चेतना "शक्ति" वादिनी है और विज्ञान भी "शक्ति" में आस्था रखता है – पर जहां पहला उसे "चेतन" मानता है, वहां विज्ञान "जड़"। गत्यात्मक दोनों मानते हैं। आगम "गति" को समझने के लिये "स्थिति" की बात करता है और विज्ञान स्थिति-रूप बिंदुओं की अविच्छिन्न श्रृंखला को ही गति कहता है। आगम चरम तत्त्व को धनात्मक तथा ऋणात्मक (शक्ति एवं शून्य – शक्तिमान) समरस-रूप कहता है, विज्ञान न्यूट्रान और प्रोटान को परमाणु का समरस केन्द्र कहता है, जीव विज्ञानी जिन्स के घटक डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. को बताता है। युंग का मनोविज्ञान संकेत भर देता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विज्ञान भारतीय मेधा की उपलब्धि का ही पुनराख्यान कर रहा है। आज का जागरूक कवि इन उपलब्धियों से परिचित होता है और जीता है "तथ्य" को अपना "सत्य" बनाता है और "सुन्दर" ढंग से संप्रेषित करता है– अज्ञेय ने यह रास्ता पकड़ा है। उनकी अनेक ऐसी रचनाएं हैं जो क्षण में अखण्ड काल की और वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की असीमता को ध्वनित करती हैं।

डा. रामविलास शर्मा ने तो उन कवियों की रचनाओं में भी इस रहस्यवादी (नव्य) चेतना का प्रसार देखा है, जो अपने को प्रगतिवादी घोषित करते हैं। ये हैं मुक्तिबोध और शमशेरबहादुरसिंह। दोनों ही शर्माजी की इस धारणा से अपने को असहमत मानते हैं। यह तो स्पष्ट है कि सामाजिक चेतना के स्तर पर मुक्तिबोध प्रगतिवादी हैं–पर उनके अन्तस् में ऐसे बहुत से ज्ञात–अज्ञात संस्कार हैं जो उन्हें व्यक्तिवादी, रोमेन्टिक तथा मन की अतल गहराइयों में झांकने वाला बनाते हैं। विश्वचेतस् से एकरस उनका आत्मचेतस् जब अपने समाज की विद्रूप स्थिती में आकण्ठ मग्न होता है, तो "मार्क्सवाद" से उन्हें आशा बंधती है और उसके प्रति समर्पित होते हैं–लेकिन अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति की जो "फेंटेसी"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली पद्धति पकड़ती है – वह कुछ और ही आभास देती है। क्या बात है जो भारतीय अभिजात अभिव्यक्ति पद्धति के मर्मज्ञ नागार्जुन की जनवादी भावधारा को जन की भाषा में उतरने को बाध्य करती है और उससे अपरिचित मुक्तिबोध को गैर जनवादी माध्यम की ओर मोड़ती है। समाजवादी धारा की कविता व्यक्ति-वादी धारा की कविता से अभिव्यक्ति पद्धति में होड़ ले – केवल इस भावना से इस ओर मुड़ना क्या मूल लक्ष्य से पृथक् होना नहीं है ? श्री शमशेर जी भी यह तो मानते हैं की समाज को यदि वर्तमानवद्रूप आर्थिक वैषम्य पूरित ढ़ांचे से मुक्ति दिलानी है, तो एक मार्क्स का जीवन दर्शन ही ग्राहच है, पर संपन्न मनुष्य को मानसिक विकृतियों (रागद्वेष) से मुक्ति दिलाकर चिराकांक्षित सुख – शान्ति पानी हो तो यह अध्यात्मवाद ही कर सकता है। पंडित नेहरू ने भी " संस्कृति के चार अध्याय " की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि मार्क्सवाद हमें अपने वर्तमान और उसकी समस्याओं को समझने में काफी दूर तक मदद करता है, पर अन्ततः आर्थिक विकास ही हमारा लक्ष्य नहीं है – जिंदगी इससे **कुछ और** भी है। ज्ञात भाव से रहस्यवाद से चिढ़ने वाले पं. नेहरू जब " कुछ और " शब्द का प्रयोग करते हैं तब वे अज्ञात भाव से Mystic Touch देते दिखाई पड़ते हैं। यह भारत का जातीय संस्कार है जो मन की अतल गहराइयों से ज्ञात मन की प्रतिरोधक रेखाओं को लांघकर ऊपर छलक ही पडता है। डा. शर्मा ने ही शमशेर की एक रचना उद्धृत की है --

नक्षत्र वहां कभी हमारा पार नहीं पायेगें
उनसे मुक्त जहाँ हम घुल मिलकर
अपना ही स्वत्व है
और वही है जो कुछ है
है – है – से आगे और – पार
जो कि है का है का है का है ....
.... है।

स्पष्ट ही यहां कवि कह रहा है कि उसकी अनुभवात्मक चेतना जिस भूमि पर स्थित है उसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते। यों सामान्य धारणा है कि नक्षत्र लोग में ऐसे भी नक्षत्र हैं जिनकी रश्मियां प्रकाश गति से चलकर अभी तक भूलोक पर नहीं पहुंची। अंदाज किया जा सकता है कि नक्षत्र का पार पाना जब असंभव समझा जा रहा है तब जिसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते – वह कम रहस्यमय है ? उन्हें जो भी अनुभव होता है, वह अनुभवातीत से जुड़ा हुआ - इसीलिए उनका " है " (अनुभवात्मक सत्ता) किसी अनुभवातीत किन्तु विद्य–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान "हूँ" का अंश जान पड़ता है। क्या इसमें रहस्यमयता की चेतना अविद्यमान है? पं. नेहरू भी The Discovery of India[२] में विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आलोक में बौद्धिक यात्रा करते हुए कभी कभी इस प्रश्न पर पहुंच जाते हैं कि जिन "आंखों" से हम सब कुछ जानने का प्रयास कर रहे हैं उन आंखों को कैसा देखा जाये? जिज्ञासा क्या यह नहीं हो सकती? प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य कहते हैं कि–

स्वपदा स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथैवेयं वेदवी कला॥

जैसे अपने पैर से अपनी छाया का लंघन असंभव है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से आत्मा का आकलन असंभव है।

देखने में तो यह भी आ रहा है कि स्वामी मुक्तानंद के संपर्क में आकर सूर्योदयी कविता के प्रवर्तक श्री वीरेन्द्रकुमार जैन रचना की नई ऊर्जा लेकर रहस्यवाद के स्तर पर अपनी कविताओं में कुछ संकेत दे रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी की रहस्यवादी कविता साधनाजन्य सांप्रदायिक अनुभूतियों से लेकर विशुद्ध "दर्शन' और 'विज्ञान' के प्रभाव में बौद्धिक और काल्पनिक स्तरों तक प्रवाहित हो रही है। जहां तक ग्राहक की दृष्टि से इन कविताओं के आस्वाद का संबंध है – निःसंदेह वह समान संस्कार संपन्न संवादी हृदयों को ही हो सकता है – तथापि लौकिक (पारिवारिक) रागात्मक संबंधों के आवरण में व्यक्त भावनाओं का एक सीमा में अप्राकृत के अतिरिक प्राकृत मानस द्वारा भी आस्वाद लिया जा सकता है। संतो की राग-विराग-सिक्त अभिव्यक्तियों में प्राकृत मानस को भी आस्वादमग्न करने की क्षमता है। 'दर्शन' और 'विज्ञान' के आलोक में कल्पना और भावना के स्तर पर होनेवाली रहस्यमय अभिव्यक्तियाँ भी अपनी काव्यात्मक उपादानों की रमणीयता से आकर्षक बन जाती है। महादेवी की रचनाओं में निहित् भावधारा पर संदिग्ध रह कर भी रामचन्द्र शुक्ल आकृष्ट हुए हैं और प्रशंसा की है। जैनेन्द्र तर्क देते हैं कि महादेवी की चेतना में शत प्रतिशत मीरा की तरह घुल जाने का भाव नहीं है – बुद्धि सदा उनके भाव को हस्तावलंब दिये रहती है – इसीलिये उनमें बुद्धिसाध्य कलात्मक प्रौढ़ि उभर आती है –– तब भी वे काव्यात्मक का विरोध नहीं करते। जिज्ञासा के स्तर की रहस्यपरक अभिव्यक्तियां तो किसी भी भावप्रवर ग्राहक को रसमग्न कर देती है। अन्त में शुक्लजी की इस धारणा से मैं सहमत हूं कि काव्य की धारा एकमात्र रहस्यवाद नहीं है – वह उसकी एक प्रवृत्ति विशेष है। काव्य निर्माण की प्रक्रिया चेतना के ज्ञान स्तर का अतिक्रमण कर सकती है ––

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह सदा आध्यात्मिक अनुभव कि ही अभिव्यक्ति करती रहेगी – मन के अतल में निहित लौकिक अनुभूतियों का भी गांभीर्य और वैविध्य हो सकता है।

हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म. प्र.)

– राममूर्ति त्रिपाठी

टिप्पणियाँ

१. "वेदान्त परिभाषा" से उद्धृत, पृष्ठ–३६
मणिप्रभा, शिखामणि टीका सहित।

2. Our five senses and what they can perceive obviously do not exhaust the universe. During the past twenty-five years there has been a profound change in the scientists' picture of the physical world. Science used to look at nature as something at most apart from man. But now, Sir James Jeans tells us that the essence of science is that man no longer secs nature as something distinct from himself And then the old question arises which troubled the thinkers of the Upenisads : how can knower be known ? How can the eyes that can see external objects see themselves ? And if the external is part and parcel of the intetrnal, what we perceive or conceive is but a projection of our minds, and the universe and nature and the soul and mind and body, the transcendent and the immanent are the essentially one, how then are we, within the limited framework of our mind, to understand this mighty scheme of things objectively ? Science has begun to touch these problems and thongh they may elude it, still the earnest scientist of today is the prototype of the philosopher and the man of religion of earlier ages. 'In the materialistic age of ours', says Professor Albert Einstein, 'the serious scientific workers are the only profoundly religious people.'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक भारतीय सन्दर्भ में

रंगमंच और यथार्थवाद

'यथार्थवाद' की चर्चा रंगमंच के प्रसंग में विशेष कठिन प्रतीत होती है क्योंकि 'रंगमंच' अपने-आप में एक संश्लिष्ट अवधारणा है। जब एक कला के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र या भाषा से जोड़कर किया जाता है तो यह एक साथ ही उस क्षेत्र या भाषा के नाटक-साहित्य और मंचन की परम्परा का बोध कराता है। किसी क्षेत्र या भाषा का रंगमंच वास्तव में उसकी रंग परम्परा का ही दूसरा नाम है और यह परम्परा नाट्यालेख तथा रंग-व्यवहार दोनों में सम्मिलित रूप से निहित रहती है; लेकिन नाटककार और नाटक-निर्देशक का द्वैत रंगमंच की संश्लिष्ट अवधारणा को सदैव अक्षुण्ण नहीं रहने देता। घोर यथार्थवादी नाटक अनेक बार यथार्थाभास-भंजक शैली में प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और यथार्थाभासी प्रस्तुति में अनेक बार अयथार्थवादी नाटक मंचित होते देखे जा सकते हैं। इससे रंगमंच को इसके सश्लिष्ट रूपमें देखना कठिन हो जाता है और इस अवधारणा को कभी नाटक-लेखन की परम्परा के अर्थ में ग्रहण किया जाने लगता है तो कभी रंग-व्यवहार की परम्परा के अर्थ में। यही कारण है कि यथार्थवादी रंगमंच के सम्बन्ध में विचार,करते समय इस विषय के नामी-गिरामी पंडित भी दुविधा में पड़ गए हैं। अपनी **रंगमंच** शीर्षक पुस्तक में रंगमंच की यथार्थवादी प्रवृत्ति की चर्चा करते समय शेल्डन चेनी ने उस पर कभी यथार्थवादी भावबोध के सम्बन्ध से विचार किया है तो कभी यथार्थाभासी प्रस्तुति के सम्बन्ध से। इसका परिणाम यह हुआ है कि रंगमंच की संश्लिष्ट अवधारणा उक्त पुस्तक में नाटक-साहित्य और प्रस्तुति के स्वरूप में बँट गई है।

रंगमंच को नाटक-साहित्य और रंग-व्यवहार के मध्य विभाजित कर देखे जाने से बचाने का एक ही उपाय है और वह है नाट्य-लेखन और मंचन का परस्पर सहकार। जब नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक लिखता है तो उसकी रचना में प्रस्तुति-परिकल्पना के रूप में रंग-व्यवहार समाहित रहता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जब निर्देशक नाटककार की प्रस्तुति-परिकल्पना को हृदयंगम कर नाटक को रंगस्थल पर उतारता है तो रंगमंच की क्रियात्मकता में नाटककार का भावबोध साकार हो जाता है। ऐसा हो तो नाटककार और निर्देशक के मध्य समय और स्थान की दूरी होने पर भी संश्लिष्टता बनी रह सकती है। इसलिए रंगमंच के यथार्थवाद पर विचार करने का युक्तिसंगत और निरापद मार्ग यही हो सकता है कि नाटकों की प्रस्तुति में निर्देशकों द्वारा लेली जानेवाली छूट को एक ओर छोड़कर नाटक के आलेख में अन्तर्निहित प्रस्तुति-परिकल्पना को उसके आकलन का आधार बनाया जाए।

लेकिन यह पथ भी सर्वथा निर्विघ्न नहीं है। नाटक के आलेख में लेखक के भावबोध और प्रस्तुति-परिकल्पना के मध्य सदा अनुरूपता नहीं होती। कई बार यथार्थवादी भावबोध का नाटक यथार्थाभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना में रूप ग्रहण करता है तो कई बार रूमानी भावबोध का नाटक यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना में अवतार लेता है। ऐसी स्थिति में समीक्षक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह रंगमंच के यथार्थवाद का निर्णय नाटक के भावबोध के आधार पर करे या प्रस्तुति-परिकल्पना के आधार पर।

आधुनिक भारतीय रंग-लेखन से कुछ उदाहरण सामने रखकर इस प्रश्न की गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। सबसे पहले बादल सरकार के दो ऐसे नाटक लिए जा सकते हैं जो भावबोध की दृष्टि से समान प्रकृति के होते हुए भी प्रस्तुति-परिकल्पना में परस्पर विपरीत हैं। उनके ये दोनों नाटक– **पगला घोड़ा** और **एवं इन्द्रजित**– आधुनिक भारतीय रंगमंच की चर्चित कृतियाँ हैं। जहाँ **पगला घोड़ा** में यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना की परिणति मूर्त प्रतिनिधान के आयोजन में हुई है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** में बादल सरकार ने यथार्थाभास को रह-रहकर खंडित करते हुए अभिव्यक्ति के अमूर्तन के माध्यम से अपने कथ्य को प्रेक्षकों तक प्रेषित करने का विधान किया है। दोनों नाटकों में लेखक की तीव्र संवेदनशीलता एवं भाव प्रवण अन्तर्मुख जीवन-दृष्टि व्यक्त हुई है; लेकिन जहाँ **पगला घोड़ा** की यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना इस नाटक में वस्तु-बोध या विषयोन्मुखता का भान उत्पन्न करती है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** में यथार्थाभास को बार-बार खंडित करने से वस्तु-बोध का निरन्तर तिरस्कार हुआ है। ऐसा होने से इस नाटक में गीतात्मक तरलता का भान प्रबल हो गया है। बीच-बीच में कविताओं के समावेश से वह अधिकाधिक पुष्ट होता गया है। नाटक में अंकित स्थितियों की वस्तुपरकता संवेदनातिरेक के प्रवाह में डूब गई है। इसलिए यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना के नाते जहाँ **पगला घोड़ा** को कोई यथार्थवादी रंगमंच की कृति कह सकता है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ में यथार्थवादी रंगमंच का नाटक नहीं माना जा सकता। लेकिन, यथार्थवादी भावबोध की दृष्टि से दोनों में से कोई कृति यथार्थवादी रंगमंच की नहीं है। दोनों में विश्वबोध के स्थान पर लेखकीय संवेदना प्रबल है। तब, क्या मात्र यथार्थभासी प्रस्तुति-परिकल्पना को विभाजन-रेखा बनाकर **पगला घोड़ा** को यथार्थवादी रंगमंच का नाटक मानना उचित ठहराया जा सकता है?

इस प्रकार के किसी भी प्रयास को यह तथ्य चुनौती देता है कि यथार्थभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना में अनेक बार अत्यन्त प्रखर यथार्थवादी भावबोध के नाटक आकार ग्रहण करते हैं। मोहित चटर्जी का **गिनीपिग** इस कोटि के नाटकों का एक अत्यन्त सशक्त उदाहरण है। इस नाटक में राजसत्ता की क्रूर शक्ति यथार्थ के भ्रम को तोड़ने वाले खेल के रूप में उपस्थित की गई है और स्थितियों तथा पात्रों की वस्तु-सत्ता अमूर्तन में घुला दी गई है; फिर भी रंगस्थल से प्रेक्षागृह को जो प्रेषित होता है वह है एक तीखे यथार्थ की अनुभूति, जिसका साक्षात्कार प्रेक्षक रंगस्थल पर प्रच्छन्न रूप में करता है। जहाँ **पगला घोड़ा** अपनी प्रस्तुति-परिकल्पना में यथार्थभासी होते हुए भी यथार्थवादी नाटक नहीं है, वहाँ **गिनीपिग** प्रस्तुति-परिकल्पना में यथार्थ-भंजक एवं अमूर्तन-निष्पन्न होने पर भी यथार्थवादी नाटक है। तो, यथार्थवादी रंगमंच कहाँ उपलब्ध है— **पगला घोड़ा** में या **गिनीपिग** में?

इस उलझन की पृष्ठभूमि भाषावैज्ञानिक है। 'यथार्थवादी रंगमंच' अँगरेजी 'रियलिस्टिक थ्येटर' का शाब्दिक अनुवाद है। अँगरेजी में इस पद का प्रयोग यथार्थभासी प्रस्तुति और यथार्थवादी भावबोध के नाटच-लेखन, दोनों के लिए होता है। रंगस्थल पर दृश्य को ठीक उस रूप में प्रस्तुत कर देना जैसा कि वह वास्तविक जगत् में दिखलाई देता है, अँगरेजी में 'रियलिस्टिक' कहलाता है। इसके साथ ही लेखक का वह भावबोध भी 'रियलिस्टिक' कहा जाता है जो हवाई कल्पना की उड़ान के विपरीत जीवन-जगत् की कठोर और कड़वी वास्तविकताओं का सामना करने का आग्रह उत्पन्न करता है। भारतीय भाषाओं में इन दो भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए दो भिन्न शब्द उपलब्ध हैं। तद्वत् प्रस्तुति के लिए 'यथार्थभास' शब्द बहुत उपयुक्त है जब कि जीवन की अपरूप, अप्रिय एवं क्रूर सचाइयों के प्रति आग्रह के लिए 'यथार्थवाद' का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि अँगरेजी से सीधे-सीधे और बिना विचारे अनुवाद कर देने के स्थान पर अभिप्राय की सुनिश्चितता को लक्ष्य कर शब्द की समीचीनता का विचार किया जाय तो 'यथार्थवाद' के उचित प्रयोग की सीमाएँ स्वतः स्पष्ट हो जाएँगी। अँगरेजी में, और शायद अन्य युरोपीय भाषाओं में भी, 'यथार्थवाद' और 'यथार्थभास' के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रचलन नहीं है। इसीलिए दोनों की भिन्नता की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुवादकों का ध्यान नहीं जा पाया। ऐसा होने से 'रियलिस्टिक थ्येटर' अनुकरणमूलक या यथार्थाभासी प्रस्तुति का अर्थ भी देने लगा। 'यथार्थवादी रंगमंच' इस पद का अनुवाद होने के कारण 'यथार्थाभासी प्रस्तुति' के अर्थ में भी प्रचलित हो गया, जैसा कि शेल्डन चेनी की पुस्तक के अनुवाद से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है;

"आखिर वह यथार्थवाद क्या है जिससे नाटक उतने ही **स्वाभाविक** लगने लगते हैं जैसे हमारे घर की घटनाएँ उतने ही **जाने-पहिचाने** जितनी पत्र-पत्रिकाओं की कहानियाँ ? वह एक कला है, कला का धर्म है। इससे इस बात को बल मिलता है कि **कला का ध्येय अनुकरण है**, नाटकों को खेले जाने का लक्ष्य यथार्थ का आभास है।"[1]

यह मत निर्विवाद नहीं है कि कला अनुकरण है या किसी कला का लक्ष्य केवल अनुकरण हो सकता है। शेल्डन चेनी ने अनुकरण की कला की जो बात कही है, वह केवल यथार्थाभासी प्रस्तुति को परिभाषित करती है। प्राचीन भारतीय नाट्य चिन्तन में **दशरूपक** के लेखक ने भी कुछ ऐसी ही बात नाटक के यथार्थाभासी स्वरूप को लक्ष्य कर कही थी : 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'। इससे पहले भरतमुनि ने नाट्य की जो परिभाषा की थी वह कहीं अधिक संगत है। उस परिभाषा में 'अनुकरण' को नहीं 'अभिनय' को नाट्य माना गया है;

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते॥

यद्यपि भरत मुनि ने 'लोकधर्मी' प्रवृत्ति के रूप में 'अनुकरण' का अन्तर्भाव नाट्य या रंगमंच में स्वीकार किया है, फिर भी 'नाट्यधर्मी' प्रवृत्ति का प्रतिपादन कर नाट्य को 'अनुकरण' में सीमित नहीं माना है। उन्होंने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' और 'लोकप्रमाण' कहा है, फिर भी इनका बल नाट्यधर्मी पद्धति पर रहा है, जैसा कि उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट होता है:

नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
नाट्यांगाभिनयादृते किंचित् रागः प्रवर्तते॥

यही बात आज रंगयुक्तियों के प्रयोग को लेकर कही जा सकती है। मोहन राकेश के नाटक **आधे अधूरे** में एक अभिनेता से पाँच पात्रों का अभिनय कराने की परिकल्पना अनुकरण की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। यदि रंगमंच के यथार्थवाद का अर्थ यथावत् अनुकरण है तो यह नाटक यथार्थवाद की सीमाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भंग करता है। इस नाटक की तुलना में राकेश के ही अन्य दो नाटकों :– **आषाढ़ का एक दिन** और **लहरों के राजहंस**– में अनुकरण का पक्ष कहीं अधिक प्रबल है। यदि अनुकरण ही रंगमंच के यथार्थवाद की पहिचान है तो उक्त दोनों नाटकों को **आधे अधूरे** से अधिक यथार्थवादी रंगमंच की कृतियाँ मानना पड़ेगा। यही समस्या सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के सम्बन्ध में भी उत्पन्न होती है। **द्रौपदी** में नकाबवालों की कल्पना और **सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक** में रंगस्थल पर एक ही शयनकक्ष के दृश्यबन्ध से राजा और नियोग-पुरुष के भिन्न शयनकक्षों की प्रतीति अनुकरण-विरुद्ध है। यदि अनुकरण ही यथार्थवाद है तो ये दोनों बातें यथार्थ का निषेध करती हैं; फिर भी इन दोनों नाटकों को अयथार्थवादी कहना दुस्साहस मात्र होगा। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक **शुतुरमुर्ग** में विरोधीलाल को मंत्रिपद की शपथ जाल में लपेटकर दिलाई जाती है। यह दृश्य अनुकरणमूलक नहीं है और इसलिए अनुकरण के पर्याय-रूप में यथार्थवादी नहीं माना जा सकता, लेकिन यथार्थ की तीखी व्यंजना की दृष्टि से यह दृश्य अपूर्व है– इसमें कोई संदेह नहीं। शंकर शेष के **फंदी** में अनेक भूमिकाएँ एक अभिनेता द्वारा निभाई जाने की परिकल्पना अन्तर्भूत है। यह पद्धति स्पष्टतः अनुकरण-विरोधी है, फिर भी इस नाटक में जो समस्या उपस्थित की गई है उसमें यथार्थ का सीधे साक्षात्कार होता है। उन्हीं के एक अन्य नाटक– **एक और द्रोणाचार्य**– में महाभारतकालीन आचार्य और आधुनिक अध्यापक की बिम्ब-प्रतिबिम्बात्मकता अनुकरण का उल्लंघन है, लेकिन इस उल्लंघन ने यथार्थ को कलात्मक सार्थकता प्रदान की है।

ऊपर दिए गए सब उदाहरण उन नाटकों के हैं जिनमें यथार्थ का साक्षात्कार यथार्थभासी प्रस्तुति के अतिक्रमण द्वारा कराया गया है। भरत मुनि की शब्दावली के प्रयोग की छूट ली जाए तो ये सब नाटक 'लोकस्वभावज' और 'लोकप्रमाण' हैं, लेकिन लोकधर्मी अभिनय की परिकल्पना में बँधे नहीं हैं। 'अवस्थानुकृति' की सीमाओं को लाँघकर सुखदुःख-समन्वित 'लोकस्वभाव' अभिनयोपेत हैं। आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि इन नाटकों में अनुकरण से विचलन यथार्थवाद-विमुखता का द्योतक नहीं बन सका है। इससे इस मत का स्वतः निराकरण हो जाता है कि यथार्थवादी रंगमंच अनुकरण की कला है या ऐसी कला है जिसका लक्ष्य अनुकरण है।

यथार्थभासी प्रस्तुति-परिकल्पना का उपयोग सदैव यथार्थवादी नाटकों की रचना के लिए किया जाता हो– ऐसा भी नहीं है। चि. त्र्यं खानोलकर के **कालाम तस्मै नमः**, विष्णु प्रभाकर के **डॉक्टर**, मधुराय के **किसी एक फूल का नाम लो**, जैसे नाटकों में यथार्थभासी प्रस्तुति-परिकल्पना में मनोवैज्ञानिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलक्षणताएँ अंकित की गई हैं। ये विलक्षणताएँ इतनी अपूर्व हैं कि इनकी सत्ता केवल इन कृतियों में मिलती है, 'लोकप्रमाण' का बल उन्हें प्राप्त नहीं है। ये लेखक की अपनी दिमागी उपज हैं, इसलिए मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कृतियाँ नहीं कहला सकतीं। इसी प्रकार जयवन्त दलवी के नाटक **संध्याछाया** और वि. वा. शिरवाडकर के **नट सम्राट** में पारिवारिक-सामाजिक सम्बंधों का भावरंजित अंकन होने से ये नाटक असंदिग्ध रूप से यथार्थवादी नहीं कहे जा सकते। गोविन्दवल्लभ पंत के **कठघर**– जैसे सोद्देश्य, प्रचारात्मक और मनोरंजन प्रधान नाटक तथा जगदीशचन्द्र माथुर के **कोणार्क** और **शारदीया** जैसे भावसिक्त एवं कल्पनारम्य नाटकों ने भी यथार्थाभासी प्रस्तुति–परिकल्पना में आकार ग्रहण किया है; लेकिन इस नाते इन्हें यथार्थवादी रंगमंच की कृतियाँ मानना 'यथार्थवाद' के अर्थ को रबड़ की तरह खींचकर क्षीण कर देना होगा।

यथार्थवादी रंगमंच की पूरी सम्भावना यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना के साथ लिखे गए यथार्थवादी भावबोध के नाटकों में निहित रहती है और इस कोटि के नाटकों को लेखक के रंगबोध के अनुरूप मंचित करने में यथार्थवादी रंगमंच प्रत्यक्ष हो उठता है। भीष्म साहनी का **हानूश**, मधुराय का **कुमार की छत पर** तथा विजय तेंदुलकर के **खामोश ! अदालत जारी है**, **गिद्ध** और **बेबी** इसी प्रकार के नाटक हैं। यदि 'यथार्थवादी रंगमंच' का प्रयोग बहुत कठोरतापूर्वक किया जाए तो इन जैसे नाटकों में ही वह सार्थक हो सकेगा।

लेकिन, रंग-लेखन की सर्जनात्मकता को 'अनुकरण' में बाँध रखने में अब बहुत कम नाटककारों की रुचि रह गई है। बहुत ही थोड़े नाटक मिलेंगे जिन में यथार्थाभास के सभी पक्ष– तद्वत् दृश्य-सज्जा, देशकालानुरूप वस्त्र-विन्यास एवं रूप-सज्जा, सहज भावमुद्राएँ एवं आंगिक चेष्टाएँ, प्रकृत रंग-भाषण और प्रेक्षागृह से रंगस्थल के बिलगाव की या प्रेक्षागृह की सत्ता के अभाव की धारणा के साथ प्रेक्षकों की उपस्थिति से निरपेक्ष घटनाक्रम की प्रत्यक्षता–विद्यमान हों। इसके विपरीत ऐसे नाटकों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है जिनमें यथार्थाभासी प्रस्तुति के उपर्युक्त पक्षों में से किसी-न-किसी की स्पष्ट अवमानता की गई है। गिरिराज किशोर के **प्रजा ही रहने दो** में अन्त्यानुप्रासयुक्त संवादों में अनुकरणमूलक रंगभाषण की खुली उपेक्षा देखी जा सकती है। लक्ष्मीनारायण लाल के **यक्षप्रश्न** में रंगभाषण तो लोकस्वभावानुरूप है, लेकिन दृश्यसज्जा यथार्थाभासी नहीं है। गिरीश कारनाड के नाटक **तुग़लक** में बहुदृश्यी विधान होने पर भी प्रत्येक दृश्य का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नाटक के मंचन में दिल्ली से दौलताबाद तक फैले दृश्यों का संकेत एक ही दृश्यबंध के विभिन्न भागों में कर दिया गया। मुद्राराक्षस के **योअर्स फेथफुली** में दृश्यसज्जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और संवाद अनुकरणमूलक हैं, लेकिन घटनाक्रम यथार्थ की व्यंजना तद्वत्ता के के अतिक्रमण के माध्यम से करता है।

यथार्थाभासी प्रस्तुति की अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि रंगस्थल पर यथार्थ का भ्रम बहुत कम अंशों में उत्पन्न किया जा सकता है। सिनेमा के अविष्कार से यह बात बहुत साफ़ हो गई है कि यथार्थ के प्रत्यंकन के लिए विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है, लेकिन नाटक उसका बहुत सीमित उपयोग कर सकता है। नाटक में यथार्थाभास न तो उतना गतिमय हो सकता है न उतना वैविध्यमय और व्यापक, न उतना यथावत् जितना सिनेमा में सम्भव है। यही कारण है कि विजय तेंदुलकर जैसे यथार्थवादी नाटककार की प्रस्तुति-परिकल्पना या तो एक ही दृश्यबन्ध में समय के अन्तराल से अनेक दृश्यों की सृष्टि करती है या फिर नाटक के आरम्भ से अन्ततक एक ही दृश्य चालू रहता है। पहली विधि का विनियोग **सखाराम बाइंडर** और **गिद्ध** में हुआ है जब कि दूसरी विधि **खामोश! अदालत जारी है** में दिखलाई देती है। यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने के मामले में रंगमंच सिनेमा की तुलना में अपने-आपको बहुत हीन पाता है, इसलिए यथार्थ की प्रस्तुति के नए रास्ते खोजकर अपनी अस्मिता का पुनराविष्कार उसके लिए अपरिहार्य हो गया है। यथार्थ की प्रतीति कराने के लिए वह तद्वत् प्रदर्शन के भरोसे अब नहीं रह सकता। आधुनिक भारतीय नाटकों में अपनी पहिचान के लिए रंगमंच की सचेष्टता स्पष्ट दिखलाई देने लगी है और उसी में यथार्थवादी रंग-सर्जन की विलक्षण भंगिमाएँ भी सामने आई हैं।

यथार्थवादी भावबोध के प्रेषण की नई विधियों की खोज में आधुनिक भारतीय रंगमंच यथार्थाभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना तक पहुँच गया है और यहाँ तक पहुँचने के लिए उसने ब्रेख्त के रंगमंच से लेकर भारतीय लोकरंग और संस्कृत रंगमंच की प्रकृति के परिज्ञान तक से पाथेय ग्रहण किया है। आधुनिक भारतीय रंगमंच के, संभवतः, सबसे प्रखर यथार्थवादी सर्जक विजय तेंदुलकर का कृतित्व ही इसका सबसे समर्थ प्रमाण है। जहाँ अपने अन्य यथार्थवादी नाटकों में उन्होंने यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना का सहारा लिया है, वहीं **घाशीराम कोतवाल** में उन्होंने यथार्थाभास-भंजन द्वारा यथार्थ को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रेषित किया है। इस नाटक में रंग-भाषण से लेकर दृश्यविधान और रंग-व्यापार तक में अनुकरण का निषेध स्पष्ट दिखलाई देता है। इसी निषेध के बल पर तेंदुलकर ने भ्रष्टाचार-व्यभिचार-अनाचार-अत्याचार-अन्याय की घृणास्पदता उभारी है। समय और समाज की विकृतियों की व्यंजना के लिए नाटककार ने इन्सानी पर्दे का प्रयोग किया है। ऐसा करके वह विकृतियों की व्यापकता का भान कराने में बहुत सफल रहा है। रंगस्थल पर पात्रों की असामान्य गतिविधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने विकृति-बोध को प्रखरता प्रदान की है। यथार्थ का यह विस्फारित अंकन मर्म-प्रहार की अपूर्व क्षमता से सम्पन्न है। विकृति को उभार कर सामने लाने की जो क्षमता कार्टून में होती है वह यथावत् चित्रांकन में नहीं होती। **घासीराम कोतवाल** की प्रभाव-क्षमता का रहस्य इसी बात में निहित है।

उक्त नाटक में यथार्थाभास-भंजन से यथार्थ का सम्प्रेषण बाधित नहीं हुआ। तो इसका कारण यह है कि अनुकरण का निषेध होते हुए भी उसमें प्रतिविधान अक्षुण्ण रहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यथार्थ की अभिव्यक्ति अनुकरण पर नहीं, प्रतिनिधान पर निर्भर रहती है। गिरीश कारनाड के **हयवदन** में भी, इसलिए, यथार्थाभास को जानबूझकर बार-बार खंडित किए जाने के बावजूद मनोवैज्ञानिक यथार्थ का सम्प्रेषण अक्षुण्ण रहा है।

प्रतिनिधान अनुकरण-निर्भर नहीं है, फिर भी अनुकरण उसका सबसे लोक-प्रिय रूप अवश्य है। **आधे-अधूरे, द्रौपदी, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, शुतुरमुर्ग, फंदी, एक और द्रौणाचार्य** आदि नाटकों में रंगयुक्तियों के प्रयोग से अनुकरण अक्षुण्ण न रहने पर भी गेस्टाल्ट या समग्र स्वरूप की दृष्टि से प्रतिनिधान अनुकरणपरक ही रहा है — कम-से-कम अनुकरणप्रधान अवश्य रहा है; लेकिन **घासीराम कोतवाल** में अतिरंजना और विद्रूपण द्वारा अनुकरण से जो छूट ली गई है, उसके कारण इस नाटक में प्रतिनिधान का स्वरूप अनुकरणात्मक नहीं रह गया है। इससे भी आगे की स्थिति गिरीश कारनाड के **हयवदन** में देखने को मिलती है जिसमें अनुकरण को अपनाते हुए भी उसे रंगयुक्तियों एवं संकेतधर्मी अभिनय की परिकल्पना से रह-रह कर बाधा पहुँचाई जाती रही है और प्रेक्षकों को सीधे सम्बोधित करते हुए उन्हें बार-बार यह याद दिलाकर कि वे जो देख रहे हैं वह नाटक है, यथार्थ नहीं, अनुकरण की अनुभूति या यथार्थ के भ्रम को निरस्त कर दिया गया है। फिर भी नाटक की कथानक-निर्भरता में प्रतिनिधान विद्यमान है। इस प्रकार के प्रतिनिधान को अनुकरणभंजक या यथार्थाभास-भंजक कह सकते हैं। यथार्थवादी रंगमंच अपनी प्रतिनिधानपरकता में अनुकरण का पथ ग्रहण कर सकता है तो उसकी अवमानना करने की क्षमता भी उसमें है।

यथार्थवादी रंगमंच के लिए प्रतिनिधान आवश्यक है, पर्याप्त नहीं। यथार्थ-वादी भावबोध को रंगस्थल पर आकार देने का निमित्त बनकर ही प्रतिनिधान रंगमंच को यथार्थवादी बना सकता है। यथार्थवादी भावबोध के अभाव में न तो अनुकरणपरक प्रतिनिधान रंगमंच को यथार्थवादी बना सकता है न अनुकरणभंजक प्रतिनिधान। इस दृष्टि से तेंदुलकर के नाटक **पंछी ऐसे आते हैं** की चर्चा बहुत प्रासंगिक जान पड़ती है। इस नाटक में लेखक ने प्रतिनिधान के अनुकरणपरक और अनुकरणभंजक रूपों को एक-दूसरे से टकरा दिया है। तेंदुलकर ने अपनी इस रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में 'कट आउट' के दिखाई देने, सरककर भीतर चले जाने और फिर-फिर काम में लिए जाने का क्रम आरम्भ से अन्त तक बनाये रखकर यथार्थाभासी दृश्य-सज्जा का जो निधान किया है, वह नाटककार की अनुकरणपरक प्रस्तुति-परिकल्पना का द्योतक है। इसके साथ ही रंगभाषण तथा पात्रों की चेष्टाओं का अंकन भी अनुकरणपरक प्रतिनिधान के अनुरूप है; लेकिन घटनाक्रम जिस रूप में उन्मीलित है, वह यथार्थाभास को बहुत ज़ोर का धक्का देता है। नायक अरुण एक स्मृत प्रसंग के रूप में यह नाटक रंगस्थल पर उपस्थित करता है और अन्य पात्रों के साथ स्वयं भी नाटक के भीतर का व्यक्ति बन जाता है। इस प्रकार वह पूर्वप्रसंग की याद करनेवाला होने के साथ ही अपनी याद की दृश्यात्मक परिणति का अंग बनकर भी दर्शकों के सामने आता है, लेकिन नाटक के बीच रहकर वह चाहे जब उससे बाहर निकल आता है और नाटक के घटनाक्रम तथा पात्रों पर इस प्रकार चुटकियाँ लेने लगता है मानो वह दर्शकों में है, पात्रों में नहीं। जब वह दर्शकों को सम्बोधित करता है तो यह आभास देता है कि वह जो-कुछ कह रहा है, उसे केवल दर्शक सुन रहे हैं; उस समय रंगस्थल पर पात्रों की सत्ता मानो उसके लिए है ही नहीं। रंगस्थल पर जो दृश्य दिखलाई दे रहा है वह रंगस्थल पर नहीं, नायक की स्मृति में है। इससे ऐसा लगता है कि रंगस्थल पर का दृश्य केवल **मानली गई सचाई है**। उसकी दृष्टिगोचरता प्रतीति या आभास भर है– इसका भान नायक दर्शकों को निरन्तर कराकर आभास की शक्ति को क्षीण करता है। इस प्रकार इस नाटक की प्रस्तुति-परिकल्पना में तेंदुलकर ने प्रतिनिधान के परस्पर विपरीत रूपों का जो द्वन्द्व उपस्थित किया है, उसने नाटक को रोचक बनाने में ही योग दिया है, उससे नाटक की प्रतिनिधानमूलकता पर कोई आँच नहीं आई है; फिर भी यह नाटक यथार्थवादी रंगमंच का नहीं रह गया तो इसलिए कि यह एक मनोरंजक स्थिति का प्रतिनिधान है, यथार्थबोध-सम्पन्न स्थिति का नहीं।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यथार्थवादी भावबोध से सम्पन्न होने के नाते ही कोई नाटक यथार्थवादी रंगमंच की कृति कहला सकता है। यदि किसी नाटक की रंग-संरचना इस सीमा तक यथार्थ-निवारक हो कि अंतर्निहित यथार्थ प्रस्फुटित ही न हो सके, तो उसमें यथार्थवादी रंगमंच की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में यथार्थबोध या तो बिखर जाता है या रंग-कौतुक में खो जाता है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक **सबरंग मोहभंग** में यथार्थबोध की उपस्थिति अस्वीकार नहीं की जा सकती, किन्तु देशकाल के बोध का अतिक्रमण होने के साथ तार्किक व्यतिक्रम के फल स्वरूप यह नाटक रोचक एवं कौतुकपूर्ण दृश्यों की श्रृंखला बन गया है, जिसमें यथार्थ की गंधभर शेष रह गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्तिवादी नाटकों में रंगमंच का यथार्थवाद प्रायः दो कारणों से कुंठित हो जाता है। एक तो ऐसे नाटकों में अभिव्यक्ति की विशृंखलता में यथार्थ छिन्न-भिन्न हो जाता है, दूसरे प्रतीकात्मकता उसे आच्छादित कर देती है। परिणाम यह होता है कि यथार्थ विच्छिन्न और प्रच्छन्न होकर रह जाता है और रंगमंच कौतुक की सृष्टि का उपादान बन जाता है। इसीलिए मणि मधुकर के **रसगन्धर्व** में यथार्थ के अग्निकण होते हुए भी यथार्थवाद उभर नहीं पाया है।

मुख्य बात नाटक की रंग-संरचना और उसके मूल में नाटककार के रंगबोध की है। यथार्थवादी रंग-संरचना कौतुकधर्मी रंग-संरचना से इस नाते भिन्न होती है कि जहाँ कौतुकधर्मी रंग-संरचना में कुतूहलपूर्ण, रोचक एवं मनोरंजक दृश्य-शृंखला की **उद्भावना** अभीष्ट होती है, वहाँ यथार्थवादी रंग-संरचना यथार्थबोध के **सम्प्रेषण** की ओर अभिमुख होती है। इसलिए प्रतिनिधान का कोई-न-कोई रूप उसमें अनिवार्यतः रहता है। सार-रूप में कहा जा सकता है कि **रंगस्थल पर यथार्थवादी भावबोध के प्रतिनिधान** में यथार्थवादी रंगमंच की पहिचान निहित है। जब कोई नाटक इस प्रकार की रंग-संरचना को अंगीकार करता है तभी उसके भीतर यथार्थवादी रंगमंच रूपग्रहण करता है।

हिन्दी-विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

—जगदीश शर्मा

टिप्पणी

१. शेल्डन चेनी, **रंगमंच**, पृ. ५४५ (अनुवाद : श्रीकृष्णदास), हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर

बौद्ध चिन्तन-धारा में माध्यमिक-दर्शन और वेदान्त-सिद्धान्त में अद्वैत-वेदान्त अपनी चरम परिणति में प्रफुल्ल-कुसुम के समान सुशोभित है। यद्यपि इनकी चिन्तन-प्रक्रिया और शब्द-विन्यास में विषमता दिखाई देती है, फिर भी पुष्प में पराग के समान उनकी ज्ञानगरिमा की गंध दोनों रूपों में हृदयग्राही है। यही कारण है की कुछ विद्वानों ने इन मतों के प्रतिपादक आचार्यों को एक-दूसरे की चिन्तन धारा से प्रभावित माना है।

दोनों सिद्धान्तों में मायावाद का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सम्प्रत्यय को लेकर यहाँ हम उनके चिन्तन सौष्ठव पर प्रकाश डालते हुए वैषम्य में साम्य का सूत्र खोजने का प्रयास करेंगे।

माध्यमिक-दर्शन में माया की समस्या जिस विशाल वृक्ष के रूप में दिखाई देती है उसके बीज बौद्ध दर्शन में प्रारम्भ से ही विद्यमान् थे। बुद्ध के वचनों में वह अविद्या के रूप में अंकुरित हुआ और नागार्जुन-दर्शन में नाना शाखाओं-प्रशाखाओं के साथ दूर तक छा गया। गौतम बुद्ध ने दुःखों के हेतुओं की खोज करते हुए अविद्या को उसका मूलकारण निर्धारित किया था। अविद्या से संस्कारों आदि की उत्पत्ति होती है और प्राणी दुःखों के चक्र में पड़ जाता है। धम्मपद में हम ये जब वचन देखते हैं कि " व्यक्ति इस संसार को जल बद्बुद या मृग मरीचिका के समान देखता है तो उस पर यमराज अपनी दृष्टि डालने का साहस नहीं करते।" तो हमें संसार की नश्वरता और मिथ्यात्व का संकेत मिलने लगता है।[1] वे आगे कहते हैं कि बाल बुद्धि के मनुष्य ही इस संसार में आसक्ति रखते हैं, ज्ञानी जन इस में लिप्त नहीं होते।[2]

धम्मपद के इन वचनों में यह निहितार्थ स्पष्ट है कि यद्यपि यह जगत् नश्वर और मिथ्या है, किन्तु अविद्या के कारण मनुष्य को नित्य और सत्य प्रतीत होता है और वह उसमें आसक्त हो जाता है। विद्या का उदय होने पर जगत् का यथार्थ मिथ्या रूप दिखाई देने लगता है और उसमें मोह नहीं रह जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध के उपरान्त बौद्ध दर्शन के वैभाषिक आदि मत विकसित हुए और उन के वस्तुवाद से प्रत्ययवाद की ओर बढ़ने के साथ ही माया की प्राक्कल्पना उमड़ कर सामने आई और उसने तत्त्वमीमांसीय रूप धारण कर लिया।

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में कहा गया है कि समस्त धर्म, जीवजगन्मय सम्पूर्ण बुद्धि-ग्राह्य पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे माया और स्वप्न के समान मिथ्या, कदली-स्तम्भ की भांति निःसार, प्रतिध्वनि के समान अलीक हैं। अज्ञान के कारण वे सत्य प्रतीत होते हैं और उनमें मोह उत्पन्न होता है जो बंधन और दुःख का कारण है। जिस में पारमार्थिक दृष्टि उत्पन्न हो गयी है वह सर्वत्र सम देखता है, सब निश्चित रूप में सर्वदा सम है और केवल "समत्व" का ही सार्वभौम साम्राज्य है—ऐसा समझने वाला ही निर्वाण भी जानता है।[३]

अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र में इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि बुद्धिगम्य सभी पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे परस्परसंभवन से अस्तित्ववान् प्रतीत होते हैं। प्रज्ञापारमिता बुद्ध और निर्वाण भी अन्ततः मिथ्या है। यदि निर्वाण के बाद भी कोई अन्य धर्म बुद्धिग्राह्य हो तो उसे हम मायोपम या स्वनो-पम ही कहेंगे।[४]

शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र में बुद्ध दर्शन माया की अवधारणा की ओर एक पग और आगे बढ़ जाता है। अभी तक सभी बुद्धिगम्य धर्म माया के समान मिथ्या कहे जाते थे, किन्तु अब उन्हीं को माया घोषित कर दिया गया। यहाँ कहा गया है कि सब धर्म नामरूपमय हैं और नामरूपमय होने से मायामय हैं क्योंकि नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।[५] माया का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि माया न सत् है, न असत्, न सदसत्। माया का यही लक्षण है। वह विचार सहन नहीं कर सकती, विचार करते ही वह विलीन हो जाती है। उसका अपना कोई स्वभाव नहीं है।

माध्यमिक सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले विचारक नागार्जुन ने जगत् को मायिक ही सिद्ध किया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ मध्यमकशास्त्र का आद्योपान्त यही प्रयोजन है। जितने भी इंद्रियगोचर या बुद्धिगम्य धर्म हैं उन सब को नागार्जुन ने एक-एक कर के अपने चतुष्कोटि न्याय द्वारा स्वभावशून्य सिद्ध किया है। उनके मतानुसार विचार करने से ज्ञात होता है कि धर्मों का न निरोध है, न उत्पत्ति; वे न अनित्य हैं, न नित्य; वे न एक हैं और न अनेक; उनका न आना होता है और न जाना। हमारी ज्ञानदृष्टि में यह प्रतीत्यसमुत्पाद है, और तत्त्वतः यही प्रपंचशून्यता है।[६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले हम देखेंगे कि नागार्जुन जगत् का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए किन दृष्टान्तों को प्रयोग में लाते हैं। इससे स्पष्ट हो जायगा कि जगत् के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है। वे कहते हैं कि जैसे माया हो अथवा गंधर्वनगर हो, अथवा स्वप्न हो वैसे ही समस्त धर्मों की उत्पत्ति होती है, वे स्थित रहते हैं और भंग हो जाते हैं।[७] रागादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, शरीर, आत्मा और कर्म के फल ये सभी गंधर्वनगर जैसे हैं, मृगमरीचिका के समान है। अथवा स्वप्न सदृश हैं।[८]

इन प्रसंगों की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति जगत् को मायामय मानने का कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जैसे माया आदि स्वभाव से अनुत्पन्न और अविद्यमान है वैसे ही सभी धर्म स्वभाव से अविद्यमान हैं। नागार्जुन अपने शिष्यों को अनुग्रहपूर्वक यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं।[९] चन्द्रकीर्ति पुनः स्पष्ट करते हैं कि जैसे मायाहस्ति को देखकर बालक उसे सत्य मान लेते हैं वैसे समस्त लौकिक पदार्थ मायामय होते हुए भी बाल बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य उसे सत्य मानते हैं। अविद्या तिमिर से उपहत मतिनयन में मिथ्या संसार भी सत् भासित होता है।[१०]

गंधर्वनगर का दृष्टान्त भी धर्मों के मिथ्यात्व का बोधक है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं–क्लेशादि अर्थों को गंधर्वनगर के समान निःस्वभाव समझना चाहिए।[११]

चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या के समर्थन में अन्य बौद्धग्रन्थों का उद्धरण देते हैं जिनमें इन दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है और निर्णय रूप में सभी धर्मों को स्वभावशून्य या मिथ्या कहा गया है।[१२] चतुःशतक में अलातचक्र, जल में चन्द्रबिम्ब, प्रतिध्वनि आदि दृष्टान्त भी दिए गये है। चन्द्रकीर्ति ने समाधिराजसूत्र का वह श्लोक कई बार उद्धृत किया है जिसमें उस कुमारी का दृष्टान्त दिया गया है जो स्वप्न में देखती है कि उसने एक पुत्र को जन्म दिया है और फिर वह मर भी जाता है। पुत्र पाकर कुमारी प्रसन्न होती है और उसके मर जाने पर रोने लगती है।[१३] यह स्वप्न के दृष्टान्त को विस्तृत और स्पष्ट कर देता है। समाधिराज सूत्र में ही यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार गंधर्वनगर, मृगमरीचिका, माया या स्वप्न स्वभावशून्य हैं वैसे ही सभी धर्मों को स्वभावशून्य जानना चाहिए।[१४]

नागार्जुन माया और जगत् के धर्मों को समान लक्षण वाला पाते हैं। दोनों स्वभावशून्य हैं, दोनों मिथ्या हैं, दोनों कृतक (बनावटी) हैं और दोनों अविद्याजन्य हैं।

यदि किसी वस्तु का स्वभाव है तो वह अकृतक ही होगी – "अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च।" किन्तु सभी वस्तुयें उत्पन्न और नष्ट होनेवाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई देती हैं अर्थात् वे कृतक हैं। कृतक और स्वभावशून्य होना एक ही बात है। इसे चन्द्रकीर्ति लंकावतार सूत्र का एक श्लोक उद्धृत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसी के नेत्रों में तिमिर हो जाने पर जिस प्रकार हवा में उड़ते हुए बात दिखायी देते हैं यद्यपि वे मिथ्या हैं, हवा में उड़ते नहीं है उसी प्रकार संसार के सभी धर्म मिथ्या होते हुए भी अज्ञानी को सत्य प्रतीत होते हैं।[१५]

इस मायिक प्रपंच को यथार्थ मान लेने का कारण बताते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि "अयोनिशो हि रूपादिकं विकल्पयतो बालपृथग्जनस्य क्लेश उपजायते"। अर्थात् गंभीरता से विचार न कर सकनेवाले सामान्य मनुष्य रूपादि को सत् मान कर राग द्वेष आदि क्लेशों से पीड़ित हो जाते हैं।[१६]

नागार्जुन कहते हैं कि विचार करने से इस माया का बोध हो सकता है। विचार किस प्रकार करना चाहिए उसकी विधि का विवेचन वह मध्यमकशास्त्र में आद्योपान्त करते हैं। चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या में मध्यमकशास्त्र की रचना का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि इस की रचना संशय और मिथ्या ज्ञान नष्ट करने के लिए की गयी है।[१७]

नागार्जुन के मतानुसार संसार का मूल संस्कार है और संस्कार अविद्वान् में में ही उत्पन्न होते हैं। यदि अविद्या निरुद्ध हो जाय तो फिर संस्कार संभव नहीं है।[१८] चन्द्रकीर्ति के शब्दों में "प्रहीण अविद्यस्य संस्कारा निरुध्यन्ते" अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर संस्कार अवरुद्ध हो जाते हैं। अविद्या को नष्ट करने के लिए नागार्जुन चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करते हैं। यही उनकी विचार पद्धति है।

वेदान्त में भी माया की अवधारणा क्रमशः विकसित हुई है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में हुआ है। उपनिषदों में वही माया जगत् की रचना करनेवाली ईश्वरी शक्ति बन गई। शंकर के अद्वैतवेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

ऋग्वेद संसार का सब से प्राचीन साहित्य है। उसमें माया शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। उसका सब से प्रसिद्ध वाक्य है–

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"[१९] अर्थात् इन्द्र माया-शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है किन्तु मित्र और वरुण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः यह कल्याणकारी भी है।[२०] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदित होते हैं। दोनों ही भावों में माया शब्द प्रयोग किसी रहस्यमय शक्ति का सूचक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया उत्पन्न होती है।[२१] यहाँ माया शब्द का प्रयोग करनेवाला ऋषि माया को एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली रचना (कार्य) को भी माया ही स्वीकार करता है। माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग भी किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि यजुर्वेद का एक अंश है फिर भी उसका ऋषि ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र "इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते" को नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग करता है। वह कहता है कि ब्रह्म नाम-रूप धारण कर नानाविधि से हो गया। ईश्वर माया से अनेकरूप प्रतीत होता है। ये रूप कहीं दस, कहीं हजार, कहीं अनन्त हैं।[२२]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं– "वेद, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं वह सब मायावी माया से ही उत्पन्न करता है और उस में ही माया से अन्य-सा होकर बाँधा रहता है।[२३] इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो मायिक शक्ति का धारणकर्ता है; और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं– "प्रवृत्ति को जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।"[२४] यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया (प्रकृति) अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत सत्व, रज और तम तीन गुण ही हों।

प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि जिनमें न कुटिलता है, न अनृत है और न माया है उन्हीं को वह निर्विकार ब्रह्मलोक मिलता है।[२५] यहाँ माया से तात्पर्य जगत् या जगत् कर्तृ-शक्ति नहीं है। यह माया या तो मनुष्य का छल प्रपंच-कपट जैसा कोई मानसिक दोष है या अविद्या है। पहला अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं है कि उनके पर्यायवाची शब्द "जिह्मम्" और "अनृतम्" का प्रयोग स्वयं ऋषि करते हैं। अतः माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए जिससे मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञानस्वरूप परम सत् को जान लेता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में चार-पांच बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में कर के अपनी माया के द्वारा अवतरित होता हूँ।[२६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका तात्पर्य है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण है। इस माया का परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं– "मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है; जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार जा पाते हैं।[२७] गीता के अनुसार गुणमयी प्रकृति ही है[२८] और गुण सत्व, रज और तम हैं जिनसे जगत्-रूप इन्द्र-जाल उत्पन्न हुआ है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है– १ जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति और २. जीव को बंधन में डालनेवाली मोहिनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं कि माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[२९] यह भी कहा गया है कि "अज्ञान से ज्ञान आवृत" है। दोनों की एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान ही मानना पड़ता है।[३०]

इस प्रकार श्रीमद्भगद्गीता के अनुसार माया सृष्टिकर्ता की शक्ति है और मनुष्य का अज्ञान भी। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता।

शङ्कर के दादा गुरु गौड़पादाचार्य माया के द्वारा ही जगत् की रचना और जीव का बंधन मान कर इस शब्द का व्यापक प्रयोग करते हैं। वे अपनी माण्डूक्य कारिकाओं में माया को स्वप्न और गंधर्वनगर के तुल्य मानते हैं– "जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्वनगर जाना गया है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों ने वेदान्त में इस जगत् को देखा है।[३१] इससे स्पष्ट है कि गौडपाद माया को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो प्रतीत तो सत् होती है, किन्तु तत्त्वतः उसका अस्तित्व नहीं है। यह जगत् भी ऐसा ही है। उनके मन में यह माया आत्मा की ही एक शक्ति है जो अभेद में भेद की प्रतीति उत्पन्न करती है। वे कहते हैं– "स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है– यही वेदान्त का निश्चय है।[३२] इस प्रकार आत्मा माया से नानात्व की कल्पना नहीं करता वरन् अपने स्वरूप को भूलकर जीव भाव धारण कर लेता है। वे कहते हैं– "जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है, उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध होता है।[३३] इसका तात्पर्य है कि माया अनादि है और वह जीव को सुप्तावस्था में डाले रहती है।

इस प्रकार गौडपाद के अनुसार माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उससे एक ओर जगत् का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझकर परम सत् को भूल जाता है या उसीसे पृथक् सा हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकर को माया विषयक अपनी अवधारणा निर्मित करने में उपनिषद्, गीता और गौडपाद-कारिका की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। वे अपने पूर्ववर्ती इन वेदान्त ग्रन्थों से अवश्य प्रभावित हुए हैं। उन्होंने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार "माया परमेश्वर की शक्ति है जिसका नाम है अव्यक्त। वह अनादि है, अविद्यारूप है, त्रिगुणात्मक है और परा है। बुद्धिमान मनुष्य उसके कार्य को देखकर कारणरूपा माया का अनुमान लगा सकते हैं। यह माया बड़ी अद्भुत और अनिर्वचनीय है। इसे किसी परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता है क्यों कि यह न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक ही; यह परम तत्त्व से न भिन्न है, न अभिन्न और न उभयात्मक; यह न अंगों वाली है, न अंगरहित अखण्ड एक है और न उभयात्मिका ही।[३४]

शंकर के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे 'माया को परमेश्वर की शक्ति मानते हैं, जैसे शक्तिवान् से शक्ति पृथक् अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही माया का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह शक्ति परमेश्वर पर आश्रित है।[३५] माया से ही जगत् का विस्तार होता है। निष्क्रिय, अचिन्त्य, स्थाणु ब्रह्म स्वतः संसार की रचना नहीं करता, माया ही इसके लिए उत्तरदायी है। इसीलिए वे माया को परा कहते हैं। कार्य से कारण "पर" होता है। तीसरे यह माया ही जीव की अविद्या है। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकर माया की अवधारणा स्पष्ट करते हुए कहते हैं— "यह अविद्यात्मक बीजशक्ति अव्यक्त नाम से निर्दिष्ट है। वह परमेश्वर के आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है जिसमें स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं।... यह माया अव्यक्त ही है क्योंकि यह सद्रूप अथवा असद्रूप है, ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है। इस प्रकार इस का निरूपण नहीं किया जा सकता।"[३६] उपनिषदों में जो अव्यक्त शब्द आया है वह अविद्या या माया ही है। शंकर कठोपनिषद् का मंत्र "महतः परमव्यक्तम्" उद्धृत कर स्पष्ट करते हैं कि "अविद्या ह्यव्यक्तम्"[३७] अर्थात् यह अविद्या ही अव्यक्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माया का सम्प्रत्यय नागार्जुन और शंकर दोनों के दर्शनों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है और दोनों में बहुत कुछ समानता भी है फिर भी ये दोनों दार्शनिक माया के विषय में अपने स्वतन्त्र विचार रखते हैं।

माया का स्वरूप दोनों में एक समान है, उसका कार्य भी एक समान है, किन्तु दोनों की तात्त्विक स्थिति या आधार में भेद है। स्वरूपतः, नागार्जुन माया को स्वप्न, इन्द्रजाल या गन्धर्वनगर के समतुल्य मानते हैं "यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगरं यथा"[३८] अर्थात् जैसे माया या स्वप्न या गंधर्वनगर हो वैसे ही यह जगत् भी है। गौडपादाचार्य की एक कारिका भी इसी के समतुल्य इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है-- " स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा, तथा विश्वमिदं " [३९] अर्थात् जैसे स्वप्न माया, गंधर्वनगर दिखाई देतीं हैं वैसे ही यह विश्व भी है। शंकर भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कहते हैं – – – " क्षेत्रं च मायानिर्मित-हस्ति स्वप्नदृष्टवस्तु गंधर्वनगरादिवद् असद् " अर्थात् क्षेत्र जगत् माया से रचे हुए हाथी, स्वप्न में देखी हुई वस्तु या गंधर्वनगर आदि की भांति असत् है। [४०]

इससे स्पष्ट है कि माया स्वप्न या गंधर्वनगर की भाँति देखने में सत्यवत् प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः वह असत् होती है। इस जगत् की प्रकृति या स्वरूप भी ऐसा ही है, इसलिये यह सब माया है। इस दृष्टि से दोनों दार्शनिक एक मत हैं।

इसके अतिरिक्त माया में अज्ञान की अवधारणा भी सम्मिलित है। उस के प्रति भी इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद नहीं है। हम मायिक जगत् को अविद्या के कारण जैसा है वैसा न समझ कर अन्यथा मान बैठते हैं अर्थात् उस असत् को हम सत् समझते हैं। हमारी यह भ्रांति अविद्या-जन्य है। यह अविद्या भी माया ही है या माया का ही रूप है।

नागार्जुन के मतानुसार अविद्या के नष्ट होने से माया नष्ट हो जाती है। हमारी अविद्या नष्ट करने के लिए ही वह चतुष्कोटि न्याय या प्रसंगापत्ति [४१] का प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा भ्रान्त धारणायें नष्ट हो जाती हैं। भ्राँन्ति-निवृत्त ज्ञान के स्वच्छ प्रकाश में मायिक जगत् की सीमा विलुप्त हो जाती है। नागार्जुन इसी को निर्वाण या बुद्धत्व मानते हैं। [४२]

शंकर भी कहते हैं कि, " असद् एव सद् इव अवभासते इति एवं निश्चित विज्ञानो यः तस्य मिथ्या ज्ञानं अपगच्छति " अर्थात् जो व्यक्ति " यह वास्तव में नहीं है तो भी सत् की भांति प्रतीत होता है ऐसा निश्चय पूर्वक जान लेता है उस का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। [४३]

यह अविद्यात्मक माया दोनों आचार्यों के मत से अनादि है। दोनों ही जीव का पुनर्जन्म मानते हैं। इसलिये इस जन्म के पहले भी अनेक जन्म हो चुके हैं और उन सब जन्मों में अविद्या का बंधन रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रारम्भ कब हुआ। नागार्जुन इस प्रश्न पर सीधे विचार नहीं करते कि अविद्या का प्रारम्भ कब हुआ किन्तु बौद्ध दर्शन में सर्वमान्य द्वादश निदान पर विचार करते हैं जिसमें संसार का कारण अविद्या माना गया है। अविद्या की उत्पत्ति इसी जन्म के साथ नहीं हुई है, वह तो पूर्व जन्मों से चली आ रही है। इसलिये उसे अनादि ही माना जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकर अविद्या को स्पष्ट रूप से अनादि मानते हैं। " अनादि अविद्या " ४४ अविद्या अनादि है। जगत् की उत्पत्ति करने वाली माया भी अनादि है, किन्तु वह अव्यक्त और व्यक्त दो रूपों में देखी जाती है। अव्यक्त माया परमेश्वर की शक्ति है। वह प्रलय और सृष्टि काल में सदा विद्यमान है। व्यक्त माया सृष्टि काल में ही उपलब्ध होती है। व्यक्त माया अव्यक्त माया का कार्य है।

शंकर और नागार्जुन में माया के संप्रत्यय पर उस समय बिल्कुल भेद हो जाता है, जब हम देखते हैं कि शंकर माया को ईश्वराश्रित मानते हैं और नागार्जुन ऐसे किसी आश्रय पर न विश्वास करते हैं और न उसका उल्लेख ही। यदि माया के पीछे किसी नित्य, स्थिर, अचल वस्तु की कल्पना की जाय तो वह भी माया ही होगी। उसका शून्यवाद न किसी नित्य वस्तु को टिकने देता है और न नितान्त अभाव ही स्वीकार करता है। जैसे तिमिर रोग होने पर नेत्रों के सामने रोये से उड़ते दिखाई देते है और उनका आधार कुछ भी नहीं होता है वैसे ही यह सभी सृष्टि जिस में अपना व्यक्तित्व भी सम्मिलित है, निराश्रित मायिक सृष्टि है।

शंकर अविद्या के निवृत्त होने पर अपने नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप को पाते हैं। उसे आत्मा, सर्वात्मा या ब्रह्म कहते हैं। नागार्जुन अविद्या निवृत्त हो कर किसी नित्य का दर्शन नहीं करते हैं। वह समस्त दृष्टियों या धारणाओं से मुक्त होकर ही निर्वाण प्राप्त कर लेते है। उनके निर्वाण का अर्थ किसी नित्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं है, वरन् सर्व प्रकार के आत्मभाव से निवृत्त होना ही निर्वाण है।

नागार्जुन विद्या से अविद्या की निवृत्ति और उससे समस्त दृष्टियों का निषेध मान कर माया मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अज्ञानी व्यक्तियों के लिए विषयगत जगत् अनन्त काल तक चला करता है। वे व्यक्ति से स्वतंत्र मायिक जगत् के आदि अन्त पर विचार करना आवश्यक नहीं मानते हैं। वे इस प्रश्न पर चुप रहते हैं कि यह जगत् कभी लय होगा या नहीं। यदि वे संसार का लय मानें तो उन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि वह किस नित्य वस्तु में लय होता है और यदि पुनः उत्पन्न होता है तो क्यों और कैसे ? इन सब प्रश्नों से बचने के लिए वे जगत् की उत्पत्ति आदि प्रश्नों में नहीं पड़ते हैं।

दोनों आचार्यों की माया विषयक अवधारणाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करने पर हम देखेंगे कि वे अपनी सम्प्रदाय परम्परा से विमुक्त नहीं होना चाहते हैं। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों में प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त रहने का उपदेश दिया जा रहा था। वे विरक्त रहने के लिए संसार को नश्वर, क्षणिक और भ्रान्तिरूप बता रहे थे। नागार्जुन और शंकर ने भी उनके कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए तर्क की युक्तियाँ खोज ली और अपने चिन्तन की अंतिम अवस्था में इस जगत् को मायामय देखने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों में जो अन्तर दिखाई देता है वह उनकी चिन्तन प्रक्रिया के कारण है। नागार्जुन का चिन्तन निषेधात्मक है और शंकर का विधेयात्मक। नागार्जुन की निषेधात्मकता उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब वे कह देते हैं कि "मेरी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है।" यदि वे जगत् या परम तत्त्व के विषय में कुछ अस्तिनास्ति कहते हों तब तो उसकी आलोचना या खण्डन किया जा सकता है। वे "सर्व दृष्टि प्रहाणाय" माध्यमिक दर्शन की उद्भावना करते हैं। परिणामस्वरूप यह नहीं कहा जा सकता कि मायिक जगत् के मूल में कोई सत् वस्तु है। कदाचित् हो भी तो नागार्जुन उसके अस्ति-नास्ति के अथवा लौकिक पारमार्थिक स्वरूप के विषय में कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वे निर्वाण की भी कोई विधेयात्मक अवस्था नहीं मानते हैं। वैसा करने पर एक निश्चित दृष्टि बन जाती है और वह उनके भूत सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ती है।

इसके विपरीत शङ्कर की दृष्टि विधेयात्मक है। वे एक अखण्ड अद्वितीय सत् तत्त्व (ब्रह्म) का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उसका ज्ञाता उससे पृथक् या भिन्न नहीं है। यदि कहीं कोई नानात्व दिखाई देता है तो वह इन्द्रियादि उपकरणों के माध्यम से प्रतीत होने वाला आभास मात्र है। उसे शङ्कर मायिक रचना मानते हैं। विधेयात्मक दृष्टि से यदि कुछ सत् माना जाता है तो वह अद्वितीय होना ही चाहिए। समान स्तर के दो सत् हो ही नहीं सकते, क्योंकि उस स्थिति में वे सीमित, परिछिन्न और नश्वर होंगे। नश्वर वस्तु सत् नहीं हो सकती है। इसलिए शंकर का विधेयात्मक तर्क ब्रह्म से पृथक् जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता है। जगत् नामरूप मात्र मायिक प्रतीति है जो परम सत् पर अध्यारोपित है। यह मत हमारी बुद्धि की इस स्वाभाविक माँग की पूर्ति करता है कि कोई भी नश्वर या परिवर्तनशील वस्तु का एक स्थिर आधार होना चाहिए।

शङ्कर के मत में यह एक दोष हो सकता है कि परम सत् उस के कार्य रूप बुद्धि के द्वारा ग्राह्य या अनुमान में आनेवाला न होने पर भी बुद्धि उसके विषय में कुछ परिकल्पना करके एक मिथ्या धारणा बना सकती है। यह अनुचित है। इसे शंकर भी स्वीकार करते हैं और उसके लिए बुद्धि के परे जाने का आग्रह करते हैं। नागार्जुन इस कठिनाई से बचने के लिए बुद्धि में किसी प्रतिज्ञा करने या किसी दृष्टि को निर्धारित करने की स्वीकृति नहीं देते। समस्त दृष्टि विहीन होकर तथता प्राप्त की जा सकती है। भले ही शङ्कर के ब्रह्मज्ञान से नागार्जुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तथता अधिक यथार्थ हो किन्तु इतना तो हर प्रकार से निश्चित है कि जगत् का नानात्व मायिक आभास मात्र है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

– हृदयनारायण मिश्र

टिप्पणियाँ

१. यथा बुद्बुदकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं ।
एवं लोक अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ।। (धम्मपद–१७०)
२. वहीं १७१
३. सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमाः सदा ।
एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम् ।। (सद्धर्म. पृ. १४३)
४. यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात् ।
तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम् ।। अष्ट. पृ. ४०
५. नामरूपमेव मायैव नामरूपम् । शत सा. पृ. ८९८
६. मध्यमकशास्त्र, कारिका १ व २
७. यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगरं यथा ।
तथोत्पादस्तथा स्थानं भङ्ग उदीरितः ।। म. शा. ७.३४
८. क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च ।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसंनिभाः ।। म. शा. १७. ३३
९. प्रसन्नपदा, पृष्ठ ७४
१०. वही पृ. ७२
११. वही पृ. १४३
१२. चतुःशतक–१३. २५
१३. समाधिराजसूत्र ९. १७
१४. वही. ९. ११
१५. केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरिकैर्जनैः
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बलैर्विकल्प्यते ।। लंकावतारसूत्र ३:५१
१६. म. शा. पृ. १४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७. म. शा. पृ. १३
१८. वही, पृष्ठ, २४४
१९. ऋग्वेद ६.४७.१८
२०. वही ५–६३.३
२१. अथर्ववेद ८.९.५
२२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति... । बृह २.५.१९
२३. छन्दांसि यज्ञाः ऋतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धा श्वे. ॥ ४.९
२४. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ (श्वे. ४.१०)
२५. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति । (प्रश्न. १.१६)
२६. संभवाम्यात्ममायया (गीता ४.६)
२७. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (गीता ७. १४)
२८. गीता १४-५
२९. गीता ७.१५
३०. गीता ५.१५
३१. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरे यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (गौ. का. २.३१)
३२. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ॥ (गौ. का. २.१२)
३३. गौ. का १.१६
३४. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥ (वि. चू. १०८)
३५. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गा ह्युभयात्मिका नो
महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा ॥ वि. चू. १०९
३६. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः । ...अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्, ब्र. सू. १.४.३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३७. ब्र. सू. १. ४. ३
३८. म. शा. ७.३४
३९. गौडपादकारिका
४०. गीता १३.२९
४१. चन्द्रकीर्ति लिखते हैं– "आचार्यो भूयसा प्रसंगापत्तिमुखनैक परपक्ष निराकरोति स्म" अर्थात् नागार्जुन बार-बार प्रसंगापत्ति के द्वारा पर-पक्ष का निराकरण करते है। म. शा. १–३ (पृष्ठ ८)
४२. संसारमूलान्संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः। म. शा. २९.१०
अविद्या निरुद्धा संस्काराणामसंभवः। म. शा. २९–११
४३. गीता, १३, २६
४४. विवेक चूडामणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या 'युक्तियां' क्रिया की 'कारण' कही जा सकती हैं ?

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य समकालीन किया-दर्शन (फिलासफी ऑफ एक्शन) की एक महत्वपूर्ण समस्या : 'क्या युक्तियां (रीजन्स) क्रिया की कारण है ?'* पर पक्ष और विपक्ष द्वारा दिये गये तर्कों को प्रस्तुत करना एवं यह इंगित करना है कि इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्क कितने सबल एवं कमजोर हैं।

स्पष्टता के लिए समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ; मान लीजिए कि एक मनुष्य (म) ने एक क्रिया (क) की। 'क' को करने के लिए 'म' की युक्ति 'य' कारण थी या 'म' द्वारा 'क' को करने के 'कारण' का एक अंश मात्र थी ? कोई मनुष्य जब अपनी किसी क्रिया (क) की व्याख्या के रूप में युक्तियाँ देता है तब दार्शनिक प्रश्न यह उठता है कि युक्तियों के वर्णन में क्या किसी प्रकार की कारणात्मक शक्ति है ? 'कारण सिद्धान्त', तब और अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है जब युक्तियों के रूप में वह अपनी इच्छाओं, चाहों एवं पसंदों को व्यक्त करता है। लेकिन दूसरी ओर 'अभिप्राय-वादी सिद्धान्त' को मानने वाले विचारकों की समस्या यह है कि जब किसी प्रकार की कारणता कार्य नहीं कर रही है तो युक्तियाँ एवं इच्छाएँ कैसे प्रभावकारी हो सकती हैं ? इन दार्शनिकों का यह मानना है कि युक्तियों को क्रिया का कारण नहीं माना जा सकता। 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' की पुष्टि के लिए इन दार्शनिकों द्वारा दिये तर्कों में 'कारण सिद्धान्त' को मानने वाले दार्शनिकों ने त्रुटियाँ दर्शाई हैं। 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' में त्रुटियाँ दर्शाने के साथ-साथ ये दार्शनिक कुछ और अधिक कहना चाहते हैं। 'यह और अधिक है' कि 'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं।

डॉनाल्ड डेविड्सन[1] द्वारा प्रतिपादित 'कारण सिद्धान्त'–'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं–के विरुद्ध 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' को मानने वाले दार्शनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(एन्सकॉम्ब, हार्ट, मेल्डन आदि) युक्तियों एवं क्रिया के बीच सम्बन्ध को कार्य-कारण के बीच के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न मानते हैं । युक्तियां-क्रिया तथा कारण-कार्य के बीच निम्न तीन प्रमुख भेद हैं –

अ – कारण एवं कार्य एक दूसरे से तार्किक रूप से स्वतंत्र हैं जब कि युक्तियां एवं क्रियाएँ नहीं हैं ।

ब – कारण तथा कार्य-सम्बन्ध सामान्यीकरण के उदाहरण हो सकते हैं जब कि युक्तियाँ—क्रिया सम्बन्ध नहीं हो सकते ।

स – कारणात्मक सम्बन्धों को आगमनिक साक्ष्यों के आधार पर जाना जा सकता है जब कि कोई व्यक्ति अपनी स्वयं की क्रिया के लिए दी गई युक्तियों को उपरोक्त प्रकार के साक्ष्यों के बिना ही जान सकता है ।[2]

डॉनाल्ड गस्टेपसन्[3] ने इन भेदों को क्रमशः 'प्रत्यात्मक तर्क,' 'सामान्य अनुलग्नता तर्क' तथा 'अन्तःस्थज्ञान के आधार पर दिया गया तर्क' कहा है ।

उपरोक्त आलोचनाओं का विश्लेषण एवं डेविड्सन द्वारा उनका समाधान अब हम क्रमशः प्रस्तुत करेंगे ।

(अ) 'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं इस मत के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि ऐसा माना जाता है कि कारण उसके परिणाम (या कार्य) से तार्किक रूप से जुडा नहीं है अर्थात् यह तार्किक रूप से सम्भव है कि कारण उत्पन्न हो तथा इसका कल्पित कार्य उत्पन्न न हो । 'आकस्मिक कारणता' की जड़ें ह्यूम के दर्शन में देखी जा सकती है । कारण के बारे में इस मत को वर्तमान परम्परावादी मत के रूप में लिया जा सकता है । लेकिन युक्ति (अर्थात् इच्छा या प्रेरणा या घटना आदि) तार्किक रूप से इसके परिणाम अर्थात् क्रिया से सम्बन्धित है । क्योंकि युक्तियों को, उन से उत्पन्न होनेवाले व्यवहार के सन्दर्भ बिना पहचाना नहीं जा सकता या उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । उदाहरण के लिए 'किसी के हाथ उठाने' के लिए युक्ति को उस के परिणाम या क्रिया को निर्दिष्ट करके ही पहचाना जा सकता है तथा इस 'संकल्प' को वर्णित करने का एकमात्र तरीका है कि इसे 'हाथ उठाना संकल्प' कहा जाय । दूसरे शब्दों में, अभिकथित कारण का वर्णन अभिकथित कार्य के स्वरूप द्वारा ही होता है । चूंकि युक्तियां अपने से उत्पन्न होने वाले व्यवहार से तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं अतः वे कारणात्मक रूप से सम्बन्धित नहीं हो सकती ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉनाल्ड डैविड्सन इस मत का खण्डन यह कहकर करते हैं कि कारण एवं कार्य आकस्मित रूप से सम्बन्धित नहीं हैं। उनके अनुसार यह कथन कि 'प्रत्येक सत्य कारणात्मक कथन आनुभविक है,' गलत है। डैविड्सन के लिए 'कारणात्मक कथन' आभासी रूप से किसी भी कथन, जिसमें 'कारण' या 'कार्य' शब्द हों को निर्दिष्ट करता है। अतः उनका यह दावा कि युक्तियाँ क्रिया की कारण हैं- स्पष्ट रूप से सही है। स्पष्टता के लिए इस तर्क पर विचार कीजिए: अ, ब को उत्पन्न करता है सत्य है तब ब का कारण 'अ' होगा। इसको स्थानापन्न करने पर हमें प्राप्त होगा 'ब' के कारण ने 'ब' को उत्पन्न किया। लेकिन 'ब' के कारण ने 'ब' को उत्पन्न किया सचमुच ही अन्-आनुभविक सत्य कारणात्मक कथन है। डैविड्सन के अनुसार किसी कारणात्मक कथन की सत्यता इस बात पर आधारित है कि कौनसी (व्हाट) घटनाओं का वर्णन किया जाता है तथा वह कथन विश्लेषणात्मक या संश्लेषणात्मक है इस बात पर आधारित है कि घटनाएँ कैसे वर्णित की जाती हैं।

डैविड्सन यह स्वीकार करते हैं कि कारण कार्य आकस्मिक रूप से सम्बन्धित हैं या नहीं यह इस पर निर्भर करता है कि हमने घटनाओं का वर्णन किस प्रकार किया है। लेकिन डैविड्सन का यह दावा उपरोक्त तर्क का खण्डन नहीं करता। प्रथम प्रतिज्ञप्ति यह कहती है कि यह तार्किक रूप से सम्भव है कि घटना, जिसे 'कारण' नाम दिया जाता है, उत्पन्न होती है तथा घटना, जिसे 'कार्य' नाम दिया जायेगा, उत्पन्न नहीं होती। उदाहरण के रूप में यह तार्किक रूप से संभव है कि एक विलियार्ड गेंद दूसरी गेंद पर चोट करे और दूसरी गेंद में गति न हो। डैविड्सन यह नहीं बताते कि यह या इसी प्रकार के कारणात्मक कथन गलत हैं। ४

प्रथम आपत्ति (युक्तियाँ एवं क्रियाएँ एक दूसरे से कारण और कार्य की भाँति तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं होती) के विरुद्ध और एक तर्क यह भी दिया जाता है कि कार्य-कारण के ऐसे बहुत से सामान्य उदाहरण मिल जाएँगे जहाँ उनका वर्णन तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं है। 'चेहरे पर धूप से हुए काले धब्बों का कारण सूर्य है'– यह एक ऐसा उदाहरण है कि जिसमें कारण के द्वारा कार्य का वर्णन किया जा रहा है। 'क्षय रोग क्षय कीटाणुओं से उत्पन्न होता है'– इस उदाहरण में कारण का वर्णन उसके परिणाम द्वारा किया जा रहा है। फिर भी, उपरोक्त दोनों उदाहरण कारणात्मक सम्बन्ध के वास्तविक उदाहरण हैं। जब दो घटनाएँ कारणात्मक रूप से सम्बन्धित होती हैं तो हम उनका कुछ कुछ वर्णन जान सकते हैं जो कारणात्मक सम्बन्ध पर प्रकाश डालता हो तथा ऐसा करने से हमें किसी प्रश्न की अभ्यर्थना भी नहीं करनी पड़ती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तथ्य के बावजूद भी कि हम क्रिया के वर्णन के बिना युक्तियों को इंगित नहीं कर सकते, उपरोक्त आपत्ति ठीक नहीं है क्योंकि जब युक्ति को वर्णित करने के लिए क्रिया के बारे में कहा जाता है तो इससे यह आपादित नहीं होता कि क्रिया घटित होगी। इतना ही नहीं अगर क्रिया घटित हो भी जाय तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह उन कारणों की वजह से हुई है। इस युक्ति के पक्ष में व्यापार के क्षेत्र में शेयरों के भाव बढ़ने का उदाहरण ले सकते हैं। शेयर भावों के बढ़ने की प्रत्याशा के बढ़ने से शेयरों के भाव का बढ़ना दोनों तार्किक रूप से स्वतन्त्र हैं। इन दोनों के बीच कारणात्मक सम्बन्ध है, यह बात सर्वथा ठीक है।

किसी व्यक्ति की युक्तियाँ उसके विश्वास एवं इच्छाएँ होती हैं और ये क्रियाओं से तार्किक रूप से स्वतन्त्र होती हैं। उदाहरण के तौर पर मैं यह विश्वास करता हूँ कि मुझे गश (चक्कर) आने वाला है और अगर मैं अपने घुटनों के बीच अपने सिर को दबालूँ तो मैं अपने आपको मूर्छित होने से रोक सकता हूँ। लेकिन इसके विपरीत बात भी इसे सिद्ध नहीं करती। अतः क्रिया विश्वास और इच्छा दोनों का अनिवार्य परिणाम नहीं है। उदाहरण के लिए युक्ति एवं अवसर होने पर भी मैं अपनी आत्म-हत्या करने की इच्छा को पूरी नहीं करता।

(ब) आम तौर पर जब हम किसी घटना की व्याख्या पूर्व परिस्थितियों के आधार पर करते हैं तो हम स्पष्ट रूप से या छुपे हुए रूप से सामान्यीकरण की बात करते हैं। सामान्यीकरण (जब कभी भी पूर्व अवस्थाएँ होंगी घटना घटित होगी) कार्य-कारण को जोड़ता है। यह स्पष्ट है कि युक्तियाँ एवं क्रिया इस माँग को पूरा नहीं करते (जैसे कि चक्कर आने पर घुटनों के बीच सिर को दबाना– क्रिया)। अतः कुछ दार्शनिक ५ यह मानते हैं कि यहाँ कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। इस द्वितीय आपत्ति का उत्तर निम्नप्रकार दिया जा सकता है–

प्रथम बात यह है कि हम कुछ ऐसे उदाहरणों, जो निर्विवाद रूप से कारणात्मक सम्बन्धों के उदाहरण हैं, को बता सकते हैं जिनके आधार पर किसी उपयुक्त सामान्यीकरण की बात नहीं की जा सकती। उदाहरण के रूप में 'पत्थर की चोट से खिड़की के शीशे का टूटना' को लें। यहाँ हम सदैव यह कहने की स्थिति में हैं कि 'जब कभी भी इस प्रकार का खिड़की का शीशा होगा तथा उससे इस आकार एवं वेग से आता हुआ पत्थर चोट करेगा तो शीशा टूट जायेगा।' यद्यपि हम कोई विशिष्ट सामान्यीकरण की बात यहाँ नहीं कर रहे हैं तो भी हमें इस बात में बिल्कुल सन्देह नहीं है कि पत्थर का टकराना खिड़की के शीशे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूटने का कारण है। इस उदाहरण में सामान्यीकरण के बिना हम कारणात्मक सम्बन्ध की बात कर सकते हैं तो हमें युक्तियों एवं क्रिया के बीच सम्बन्ध को सिर्फ इस तर्क के आधार पर कि इनके बीच सामान्यीकरण की बात नहीं कही जा सकती- अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अगर युक्ति एवं क्रिया को जोड़ने वाला कोई सरल नियम नहीं है तो कोई ऐसा जटिल नियम होगा जिसमें ये सम्मिलित होंगे। मेरे द्वारा दोनों घूटनों के बीच सिर देने का आंशिक कारण यह भी है कि मैं यह काम सार्वजनिक स्थान पर नहीं कर रहा हूँ। सार्वजनिक स्थान पर अगर मैं यह काम करता हूँ तो लोग-बाग इसे अच्छा नहीं कहेंगे या मज़ाक उडायेंगें। अतः जब मैं अपनी क्रिया (घुटनों के बीच सिर देना) के लिए युक्ति देता हूँ तो यह आंशिक ही होती है। अगर में पूर्ण युक्ति दूँ तो सामान्यीकरण भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सामान्यीकरण का स्वरूप इस प्रकार होगा- जब कभी भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ होंगी तब वह इन-इन तरीकों से क्रिया करेगा। इस प्रकार का सामान्यीकरण सभी व्यक्तियों एवं सभी कालों के लिए सत्य न हो। यह बात सम्भवतः बौद्धिक व्यक्ति के बारे में या व्यक्ति, जब बौद्धिक होता है, पर लागू हो। अतः युक्ति एवं कारण के बीच में कोई ऐसी बात नहीं है जो सामान्य कारणात्मक सम्बन्धों से कम हो।

(स) सामान्य कारणात्मक सम्बन्धों की एक अन्य एवं महत्वपूर्ण विशेषता, जो कि युक्ति- क्रिया में दिखाई नहीं देती, यह है कि अ, ब का कारण है न कि मात्र 'ब' से पहले घटित होता है, ऐसा कहने के लिए साक्ष्य होना चाहिए। यह साक्ष्य उसी प्रकार के उदाहरणों के रूप में होना चाहिए अथवा जटिल उदाहरणों में अथवा विस्तृत प्रकारों की अनुमानात्मक तर्कणा के रूप में होना चाहिए। युक्ति-क्रिया के क्षेत्र में जब हम इस बात पर ध्यान रखते हुए विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि बहुत से उदाहरणों में कर्ता एक विशिष्ट युक्ति के लिए क्रिया करता है। वह कर्ता सामान्य प्रकार के उदाहरणों को जानने की आवश्यकता के बिना अथवा अन्य प्रकार की अनुमानात्मक तर्कणा को जाने बिना भी अपनी क्रिया के लिए उत्तरदायी युक्ति को जान सकता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति सर्वप्रथम आकाशीय विद्युत् देखता है और (बादलों की) घड़-घड़ाहट सुनता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आकाशीय विद्युत् ने घड़-घड़ाहट उत्पन्न की, क्योंकि घड़-घड़ाहट से पूर्व ऐसी बहुत सी घटनाएँ घटित होती हैं जो कि घड़-घड़ाहट का कारण कही जा सकती हैं। जब हम बार-बार यह अनुभव करते हैं कि विद्युत् प्रकाश के बाद घड़-घड़ाहट होती है तथा कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य भौतिकीय सैद्धान्तिक सूचना का ज्ञान होता है तब यह कहा जा सकता है कि विद्युत् प्रकाश ने घड़घड़ाहट उत्पन्न की। लेकिन युक्ति एवं क्रिया के बार में यह बात सही नहीं हैं। समान उदाहरणों अथवा अतिरिक्त सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना कर्ता अपनी क्रिया की युक्ति को जानता है। उदाहरण के लिए 'चक्कर खाकर गिरने से बचने के लिये मैं अपना सिर टांगो के बीच दबा लेता हूँ,' ऐसा करने के लिए मुझे इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों अथवा सैद्धान्तिक सूचनाओं की आवश्यकता नहीं है।

जब मैं टांगों के बीच मेरे सिर को झुकाता हूँ तो उस समय तथा उससे पूर्व मेरे अन्दर अन्य बहुत सी इच्छाएँ एवं विश्वास हो सकते हैं लेकिन मैं उनका किसी प्रकार का अनुभव किये बिना यह जानता हूँ कि मेरा उस प्रकार की क्रिया (टांगों के बीच सिर झुकाना) का हेतु (या युक्ति) चक्कर आने से बचना था। मेरे चक्कर आने और सिर झुकाने के कारणात्मक सम्बन्ध का अनुमान मैं अन्य लोगों के व्यवहार एवं सामान्य ज्ञान के आधार पर नहीं करता। हाँ यह हो सकता है कि कोई मेरे व्यवहार को देख कर इन प्रकार के ज्ञान (जब चक्कर आए तो सिर को टांगों के बीच झुकाना चाहिए) की वैधता को सिद्ध करने के लिए विभिन्न स्रोतों से सूचना एकत्रित करे।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। प्रथम, युक्तियों एवं क्रियाओं के बीच कारणात्मक सम्बन्ध नहीं होता। द्वितीय, युक्ति एवं क्रियाओं के बीच एक अनोखा (जो ह्यूम के प्रकार का नहीं है) कारणात्मक सम्बन्ध होता है। अर्थात् जहाँ एक घटना के आधार पर कार्य एवं कारण के बीच अनिवार्य संबंध की बात कही जा सकती है अतः अन्य उदाहरणों को जानने की आवश्यकता नहीं।

युक्तियों एवं क्रिया के बीच कारणात्मक सम्बन्ध साधारण प्रकार का होता है। लेकिन यह बात भी सही है कि जब कोई व्यक्ति अपनी किसी क्रिया के लिए कोई युक्ति देता है तो उसे बाह्य या अन्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा कहने का आधार यह है कि व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियां व्यक्तिगत होती हैं। अतः उसका उनके बारे में कथन ही साक्ष्य है। अगर कोई अन्य व्यक्ति उस व्यक्ति की इच्छाओं, विश्वासों, प्रेरणाओं आदि को जानना चाहता है तो उसे उनके व्यवहार का निरीक्षण करना पड़ेगा तथा निरीक्षण के आधार पर वह उनका अनुमान करेगा। लेकिन स्वयं वह व्यक्ति बिना निरीक्षण के क्रिया करने से पूर्व अपनी इच्छाओं एवं विश्वासों की तीव्रता एवं उनकी मात्रा को जान सकता है। अतः अन्य व्यक्तियों की तुलना में वह व्यक्ति अपनी क्रिया के लिए युक्तियाँ देने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अधिक सुविधाजन्य स्थिति में है। इतना ही नहीं अगर कोई व्यक्ति कर्ता की मानसिक स्थिति को जानता हो तो अनुमान लगाये बिना उसकी इच्छाओं, विश्वासों एवं प्रेरणाओं के बारे में कह सकता है। दूसरे शब्दों में, अगर किसी व्यक्ति की मानसिक वृत्ति सार्वजनिक रूप से ज्ञात है, तो 'विशेष पहुँच' की आवश्यकता ही नहीं होगी।

यहाँ एक अहम् प्रश्न है जिस पर ध्यान देना अनिवार्य है। वह प्रश्न है किसी कथन की वैधता कैसे स्थापित की जाय ? क्योंकि ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपनी क्रिया के लिए युक्ति दे रहा है और वह ईमानदारी से यह विश्वास करता है कि यही युक्ति उसकी क्रिया का कारण है लेकिन वह फिर भी पहचानने में त्रुटी कर सकता सकता है। यह एक तथ्य है कि व्यक्ति क्रिया कि युक्ति के बारे में स्वयं को धोका देते हैं। टांगो के बीच सिर देने का कारण चक्कर आना होते हुए भी व्यक्ति के मन में (अवचेतन रूप से) यह बात भी हो सकती है कि वह अन्य लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हो या खेल को बिगाड़ना चाहता हो, आदि।

क्रिया करने के लिए दी गई युक्ति या हेतु या कोई विशिष्ट विश्वास त्रुटीपूर्ण है यह हम कैसे प्रदर्शित कर सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि समान प्रकार के उदाहरणों के आधार पर ऐसा किया जा सकता है। हम कह सकते है कि ऐसे अवसरों पर यह व्यक्ति अजीबो-गरीब व्यवहार करके लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। लेकिन अन्य उदाहरणों का सहारा लेकर हम उसके दावे पर संदेह नहीं करते लेकिन इस दावे पर कि 'उसने सिर झुकाया क्योंकि उसने चक्कर अनुभव किया,' पर संदेह किया जा सकता है। इस दृष्टि से अगर हम समस्या का विश्लेषण करें तो कारणों एवं युक्तियों के बीच का भेद समाप्त हो जाता है।

यद्यपि यह बात सही है कि युक्ति एवं क्रिया तथा कारण एवं कार्य के बीच किसी विशिष्ट भेद की ओर इंगित करना कठीन है फिर भी ऐसा लगता है कि ये दोनों (युक्ति एवं कारण) एक दूसरे से अलग हैं। इस प्रकार लगने के कई कारण हैं। अगर हम क्रिया के 'कर्ता' [६] सिद्धान्त की दृष्टि से इस समस्या को देखें तो युक्ति के कारण मानने पर कर्ता क्रिया नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि अगर क्रियाएँ किसी चीज की परिणाम हैं तो वे किसी व्यक्ति पर घटित होती हैं, ऐसी स्थिति में व्यक्ति निष्क्रिय एवं असहाय मात्र है। [७] लेकिन अगर मेरी क्रियाएँ मेरे व्यक्तिपूर्ण विचारों का परिणाम हैं तो व्यक्ति को असहाय कहना ठीक नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त में एक बात यह कही जा सकती है कि इस अस्पष्टता का आधार है 'कारणता' के बारे में सीमित दृष्टिकोन का होना। युक्तियाँ बिना यांत्रिक हुए कारण हो सकती हैं।[८] यह आवश्यक नहीं हैं कि युक्तियां हमारे अन्दर उसी प्रकार गति उत्पन्न करें जिस प्रकार एक विलियार्ड गेंद दूसरी विलियार्ड गेंद में गति करती है।

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

— के. एल. शर्मा

टिप्पणियाँ

*. युक्तियों को क्रिया के कारण के रूप में मानने वाले दार्शनिकों के मत को हम आगे 'कारण सिद्धान्त' (का. सिद्धान्त) कहेंगे और विरोधी दार्शनिकों के मत के लिए 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' पद का प्रयोग करेंगे। 'का. सिद्धान्त' एवं 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' के आधार पर प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाज विज्ञानों में भेद करने का प्रयत्न किया गया है। अत: इस दृष्टि से यह समस्या एक महत्वपूर्ण समकालीन दार्शनिक समस्या है।

१. डॉनाल्ड डेविड्सन : "एक्शनस्, रीजन्स एण्ड कॉजेज;" **जरनल आफ फिलासफी**, जिल्द ६०, सं. २३, नवम्बर ७, (१९६३) पृ. ६८५–७००

२. डेविड पीअर्स; "आर रीजन्स फॉर एक्शन्स कॉजेज ?" **एपिस्टेमालॉजी : न्यू एसेज इन दि थ्योरी आफ नालेज** (सम्पादित) ए. स्ट्रोल, हारपर एण्ड रो, न्यूयार्क, १९६३. पृ. २०४–२२८

३. डॉनाल्ड गस्टेफ्सन : "ए क्रिटिकल सर्वे आफ दि रीजन्स : कॉजेज आरग्यूमेन्टस इन रीसेन्ट फिलासफी आफ एक्शन्स" **मैटाफिलासफी** जि. ४ सं. ४, अक्तूबर १९७३, पृ. २६९–२९७

४. एबेल्सन, आर : "डुइंग कॉजिंग एण्ड कॉजिंग टू डु;" **जरनल आफ फिलासफी**, जि. ६६ (१९६९) पृ. सं. १७८–१९२

इस समस्या– युक्ति और क्रिया के वर्णन परस्पर स्वतंत्र हो सकते हैं या नहीं– को देखने की दो दिशाएँ हो सकती हैं : १. क्रिया के वर्णन युक्ति के वर्णन से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र हो सकते हैं तथा २. युक्ति के वर्णन क्रिया के वर्णन से स्वतन्त्र हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में किसी क्रिया को यदि 'घंटी बजाना' 'बिजली का बटन दबाना' आदि रूपों में वर्णित किया जाता है तो इस प्रकार के वर्णन युक्ति के वर्णन से स्वतंत्र हो सकते हैं क्योंकि युक्ति के वर्णन होंगे 'अमुक को बुलाने के लिए,' 'कमरे में प्रकाश करने के लिए' आदि।

५. हार्ट, एच. एल. ए. एण्ड हॉनेरे, ए. एम.; **काजेसन् इन ला**; ऑक्स-फोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयोर्क (१९५९) पृ. ५२

६. रिचार्ड टेलर; **मेटाफिजिक्स**, प्रिन्टिस हॉल, पृ. ५०-५३। रिचार्ड टेलर ने इस सिद्धान्त को अपनी एक अन्य पुस्तक **एक्शन एण्ड परपज** (प्रिन्टिस हॉल) के अध्याय ८ में विकसित किया है और उस की पुष्टि की है।

७. आई. ए. मैल्डन; **फरी एक्शन** (१९६१) अध्याय १३

८. आई. ए. मैल्डन: 'डिजायर्स एज काजेज ऑफ एक्शनस' **करेंट फिलासफी-कल इस्यूज** (सं.) एफ् डायमेअर (१९६६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैधता और सत्यता-सारिणी

तर्कशास्त्र का यह एक प्रतिपादित सिद्धान्त है कि कोई युक्ति वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें युक्ति के आकार से होता है विषय वस्तु से नहीं। दो युक्तियों का विषय वस्तु अलग अलग होते हुए भी उन का आकार एक है तो वे या तो वैध होती हैं या अवैध। किन्तु उस में से किसी एक का वैध और दूसरे का अवैध होना तर्कतः असम्भव है। कारण है कि वैधता और अवैधता युक्ति का एक विशुद्ध आकारिक लक्षण है। वैधता का युक्ति के विषय वस्तु से सम्बन्ध न होने के कारण वाक्यों के तथ्यगत सत्यता मूल्यों से भी उनका कोई सम्बन्ध कभी ही नहीं होता है।

पर जब यह कहा जाता है कि किसी युक्ति के वैध अथवा अवैध का होना युक्ति के आधार पर निर्भर करता है तो प्रश्न उठता है कि कोई युक्ति-आकार वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें कैसे होता है? क्योंकि जब तक हमें युक्ति आकार की वैधता और अवैधता का ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक हम कोई युक्ति वैध है अथवा नहीं, इस का परीक्षण ही नहीं कर सकते हैं। अत एव युक्ति आकार की वैधता का ज्ञान युक्ति परीक्षण के लिये अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में तर्कशास्त्रीयों का मत है कि कोई युक्ति आकार वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें युक्ति आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों (Substitution Instances) के सत्यता मूल्यों के क्रमों के द्वारा हो जाता है। यदि किसी युक्ति आकार का कोई भी स्थानापन्न उदाहरण सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं होता है तो वह वैध होती है, अन्यथा अवैध। प्रत्येक युक्ति-आकार का स्थानापन्न उदाहरण सदैव एक युक्ति होती है जो युक्ति-आकार में आये हुए वाक्य चरों (Sentence Variables) की जगह वाक्य अचरों (Sentence Constants) को रखने से फलित होता है।

पुनः समस्या उठ खड़ी होती है कि किसी युक्ति आकार का कोई भी स्थानापन्न उदाहरण सत्य आधार वाक्यों और असत्य निष्कर्ष वाला है अथवा नहीं, इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ज्ञान हमें कैसे होता है ? क्योंकि जब तक हमें युक्ति आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक हम किसी भी युक्ति आकार की वैधता का परीक्षण ही नहीं कर सकते हैं। अत: स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान युक्ति-आकार की वैधता के परिक्षण के लिए अनिवार्य है। किन्तु हमें युक्ति-आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि इसके अनन्त उदाहरण हो सकते है। इसके सम्बन्ध में तर्कशास्त्रियों का कथन है कि कोई युक्ति आकार वैध है अथवा नहीं, इस का परीक्षण स्थानापन्न उदाहरणों के सम्भावित सत्यता मूल्यों के क्रमों के द्वारा हो जाता है। इस के लिए स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों को यथार्थ रूप में जानना आवश्यक नहीं है। यदि किसी युक्ति आकार के किसी भी स्थानापन्न उदाहरण का सम्भावित सत्यता मूल्य सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं होता है तो वह वैध होती है, अन्यथा अवैध। परीक्षण की इस प्रणाली को सत्यता-सारिणी की प्रणाली कहा जाता है। उदाहरण के लिये निम्न युक्ति आकार लीजिये —

प ⊃ फ
प/ ∴ फ

यह एक वैध युक्ति आकार है क्योंकि इस के एक भी स्थानापन्न उदाहरण का सम्भावित सत्यता मूल्य सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं है जिस का औचित्य प्रदर्शन सत्यता – सारिणी के द्वारा इस प्रकार किया जाता है।

प	फ	प ⊃ फ
स	स	स
स	अ	अ
अ	स	स
अ	अ	स

(पतले अक्षर प, फ वाक्य चरों के प्रतीक है)

चूंकि प ⊃ फ, प/ ∴ फ युक्ति-आकार एक वैध युक्ति-आकार है इसलिए इस आकार की सभी युक्तियां वैध हैं जैसे :—

क ⊃ ख
क/ ∴ ख

(मोटे अक्षर **क**, **ख** वाक्य अचरों के प्रतीक है)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर क्या वैधता सम्बन्धी विवेचन को दोष-युक्त विवेचन कह सकते हैं ? कदापि नहीं । क्योंकि इस में एक तरफ तो युक्ति आकार से युक्ति की वैधता को सिद्ध किया जाता है और दूसरी तरफ स्थानापन्न उदाहरणों (जो सदैव एक युक्ति होती हैं) के सत्यता मूल्यों के क्रमों द्वारा युक्ति आकार की वैधता को सिद्ध किया जाता है । वैधता को युक्ति का एक विशुद्ध आकारिक लक्षण कहा जाता है । यदि यह सत्य है तो फिर उसे वाक्यों के सत्यता मूल्यों में पारिभाषित करना एक न्याय असंगत बात होगी क्योंकि (१) वाक्य-आकार और वाक्य सत्यता मूल्य में अन्तर है । वाक्य आकार-वाक्य चरों का एक समूह होता है जिसके फलस्वरूप न तो सत्य होता है और न ही असत्य यानी इसका कोई सत्यता मूल्य नहीं होता है। जबकि वाक्यों के ऊपर यह बात लागू नहीं होती है । वाक्यों में वाक्य – अचर होते हैं । वाक्य–अचर होने से वे या तो सत्य होते हैं या असत्य, यानी इनका एक सत्यता मूल्य होता है । (२) वाक्यों का आकार एक होते हुए भी उनके सत्यता मूल्यों में भेद हो सकता है । जैसे " सभी भारतीय मनुष्य हैं " और " सभी कुत्ते बिल्लियाँ हैं " दोनों वाक्यों का आकार एक है । दोनों वाक्य सर्वव्यापी स्वीकारात्मक वाक्य हैं । किन्तु जहां तक इन के सत्यता-मूल्यों का प्रश्न है उन में भेद है। पहले वाक्य का सत्यता मूल्य सत्य है जब कि दूसरे वाक्य का सत्यता-मूल्य असत्य। युक्तियों के ऊपर भी यही बात चारितार्थ है । दो युक्तियों का आकार एक हो सकता है किन्तु उनके सत्यता-मूल्यों में अन्तर पाया जा सकता है । जैसे :--

(क)

सभी ग्रीक मनुष्य हैं
सभी मनुष्य मरणशील हैं
अतः सभी ग्रीक मरणशील हैं

(ख)

सभी कुत्ते बिल्लियां हैं
सभी बिल्लियां मनुष्य हैं
अतः सभी कुत्ते मनुष्य हैं

परम्मपरागत तर्कशास्त्र के अनुसार इन दोनों युक्तियों का आकार आ, आ, आ है किन्तु उनके सत्यता मूल्यों में अन्तर है । पहली युक्ति के सभी वाक्य वस्तुतः सत्य हैं जब कि दूसरी युक्ति के सभी वाक्य असत्य हैं । (३) वाक्यों के आकार को देखकर सत्यता - मूल्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता है । जैसे संश्लेषणात्मक वाक्य । इस प्रकार के वाक्यों का सत्यता मूल्य आकार निर्भर न हो कर संवादित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्यों के ऊपर निर्भर करता है। यदि इन के अनुरूप तथ्य होता है तो वे सत्य होते हैं अन्यथा असत्य। अतः आकार और सत्यता-मूल्यों में अन्तर है। जब आकार और सत्यता मूल्य में अन्तर है और वैधता एक विशुद्ध आकारिक लक्षण है तो फिर युक्ति आकार की वैधता को सत्यता मूल्य में पारिभाषित करना न्याय असंगत बात है।

कहा जाता है कि युक्ति की वैधता आपादन सम्बन्ध ('⊃') पर निर्भर करती है। आपादन सम्बन्ध एक सत्यता फलन सम्बन्ध है। पर क्या इस अर्थ में '⊃' का प्रयोग युक्ति आकार में किया जा सकता है ? कदापि नहीं। क्योंकि युक्ति आकार वाक्य आकारों का एक विन्यास हैं। वाक्य-आकार में वाक्य-चर होते हैं। वाक्य - चर होने से वाक्य आकारों का कोई सत्यता मूल्य नहीं होता है। वाक्य आकारों का सत्यता मूल्य न होने से '⊃' का प्रयोग 'सत्यता फलन सम्बन्ध' (Truth Functional Connective) के अर्थ में इन में होना अप्रयोज्य हो जाता है। यह कठिनाई युक्ति में नहीं उठती है क्योंकि इस में वाक्य होते हैं। वाक्य का एक सत्यता मूल्य होता है। वाक्यों का सत्यता मूल्य होने से '⊃' का प्रयोग 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में इन में होना तर्कतः प्रयोज्य है। उदाहरण के लिए निम्न युक्तिआकार और युक्ति को लीजिये :—

(१)	(२)
युक्ति आकार	युक्ति
य ⊃ र	**च ⊃ छ**
य / ∴ र	**च / ∴ छ**
(पतले अक्षर य, र वाक्य चरों के प्रतीक हैं)	(मोटे अक्षर **च, छ** वाक्य अचरों के प्रतीक हैं)

उदाहरण (१) में '⊃' का प्रयोग 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में होना तर्कतः असम्भव है क्योंकि इस में वाक्य चर हैं। य, र वाक्य चरों के संकेत हैं। वाक्य-चर होने से य, र का कोई सत्यता मूल्य नहीं है अर्थात् वे न तो सत्य हैं और न ही असत्य। य, र का सत्यता मूल्य न होने से '⊃' का प्रयोग उदाहरण (१) में 'सत्यता फलन सम्बन्ध' के अर्थ में होना तर्कतः असम्भव है जब कि यह समस्या उदाहरण (२) में नहीं पैदा होती है क्योंकि इस में वाक्य हैं। **च, छ** वाक्य अचरों के प्रतीक हैं। **च, छ** का सत्यता मूल्य होने से उदाहरण (३) में '⊃' का प्रयोग 'सत्यता-फलन सम्बन्ध' के अर्थ में होना नियमतः सम्भव है। उदाहरण (१) में '⊃' का प्रयोग आकारिक-सम्बन्ध (Formal Implication) के अर्थ में हुआ है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि '⊃' का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग प्रत्येक 'वस्तुगत-आपादन' (Material Implication) के अर्थ में किया जाता है। वस्तुगत और आकारिक आपादन में अन्तर है। यद्यपि '⊃' संकेत आकारिक आपादन के आंशिक अर्थ को व्यक्त करता है किन्तु यह एक अन्य बात है। तर्कवाक्यात्मक तर्कशास्त्र में तर्कशास्त्री '⊃' का प्रयोग युक्ति-आकार और युक्ति दोनों में 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में करते हैं जो तर्क असंगत है। जब '⊃' का प्रयोग 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में युक्ति-आकार में असम्भव है तो सत्यता-सारिणी की प्रणाली युक्ति आकार में अपने आप अप्रयोज्य हो जाती जाती है।

जब उदाहरण (१) से उदाहरण (२) को उदाहरण (१) में आए हुए वाक्य चरों की जगह वाक्य अचरों को रख कर प्राप्त किया जा सकता है तो उस समय '⊃' के मान में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। '⊃' का मान ज्यों का त्यों बना रहता है। परिवर्तन वाक्य चरों और वाक्य अचरों में होता है। य, र वाक्य चरों की जगह प, फ वाक्य चर हो सकते हैं। जैसे प ⊃ फ। इसी प्रकार च छ वाक्य अचरों की जगह क, ख वाक्य अचर हो सकते हैं जैसे क ⊃ ख। किन्तु इनके परिवर्तन से '⊃' के मान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस से यह सिद्ध होता है कि उदाहरण (१) से जब उदाहरण (२) को प्राप्त किया जाता है तो ⊃ का सम्बन्ध उदाहरण (२) में आये हुए वाक्यों के सत्यता-मूल्यों से नहीं होता है जिस के फलस्वरूप ⊃ का प्रयोग उदाहरण (२) में भी सत्यता-फलन-सम्बन्ध के अर्थ में स्वीकार करना असम्भव हो जाता है। उदाहरण (२) में ⊃ का प्रयोग सत्यता-फलन-सम्बन्ध के अर्थ में अप्रयोज्य होने से सत्यता सारिणी की प्रणाली जिस के द्वारा ⊃ को पारिभाषित किया जाता है और वैधता का परीक्षण किया जाता है, अपने आप अप्रयोज्य हो जाती है।

तर्क के लिये यदि यह मान भी लिया जाता है कि वैध- युक्ति में आपादन आधार-वाक्यों और निष्कर्ष के सत्यता मूल्यों में होता है तो फिर हमें यह मानना पड़ेगा कि (क) एक असत्य वाक्य किसी वाक्य को आपादित करता है और (ख) एक सत्य-वाक्य किसी वाक्य द्वारा आपादित होता है। जैसे –

(१)

सभी पत्थर मरणशील हैं – असत्य
सुकरात एक पत्थर है – असत्य
अतः सुकरात मरणशील है – सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

सभी कुत्ते बिल्लियां हैं — असत्य
सभी बिल्लियां मनुष्य हैं – असत्य
अतः सभी कुत्ते मनुष्य हैं — असत्य

(३)

सभी जानवर मरणशील हैं – सत्य
सभी मनुष्य जानवर हैं — सत्य
अतः सभी मनुष्य मरणशील हैं – सत्य

किन्तु ऐसा मानना एक न्याय असंगत बात होगी। इस के अतिरिक्त आपादन को सत्यतामूल्यों में मानने से तर्कशास्त्र के अन्य सिद्धान्त का भी खण्डन होता है। तर्कशास्त्र का यह एक सिद्धान्त है कि सत् से सत् और असत् से असत् का प्रादुर्भाव होता है किन्तु सत् से असत् अथवा असत् से सत् का प्रादुर्भाव होना बिलकुल असम्भव है (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः)। सत् से सत् और असत् से असत् का सम्बन्ध कल्पनीय है। किन्तु सत् से असत् अथवा असत् से सत् का सम्बन्ध अकल्पनीय है। उल्लिखित उदाहरण वैध युक्तियों के उदाहरण हैं। इस बात का खण्डन कोई भी तर्कशास्त्री नहीं करता है। यदि आपादन उनके वाक्यों के सत्यता मूल्यों में होता तो आपादन और आपादित वाक्यों के सत्यता-मूल्यों में कोई भी अन्तर न होता। किन्तु उन के सत्यता-मूल्यों में अन्तर है। उदाहरण (१) का आधार वाक्य असत्य और निष्कर्ष सत्य है। सत्यता-मूल्यों में अन्तर होते हुए भी युक्ति वैध है। इस से यह सिद्ध होता है वैधता का वाक्यों के न तो सम्भावित और न ही यथार्थ सत्यता मूल्यों से कोई लेन देन है। यदि यह कथन सत्य है तो फिर आपादन को एक सत्यता-फलन-सम्बन्ध कहना और सत्यता-सारिणी द्वारा पारिभाषित करना दोनों बाते गलत हैं।

वास्तव में किसी युक्ति परीक्षण में हमारा विचार जो होता है वह वाक्यों के सत्यता मूल्यों से बिलकुल स्वन्त्र होता है। हमारा जो विचार होता है वह इस प्रश्न पर होता है कि क्या आधार वाक्यों को स्वीकार करके निष्कर्ष को अस्वीकार किया जा सकता है अथवा नहीं ? यदि आधार वाक्यों को स्वीकार कर के निष्कर्ष को अस्वीकार करना असम्भव होता है तो हम मानते है कि उनमें तार्किक सम्बन्ध है और युक्ति वैध है, अन्यथा अवैध। इस प्रकार का विचार वाक्यों के सत्यता मूल्यों से बिलकुल भिन्न विचार है। वाक्यों के सत्यता-मूल्यों में अन्तर होते हुए भी उन में तार्किक सम्बन्ध पाया जा सकता है जो उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। सत्यता-सारिणी पद्धति भ्रमोत्पादक पद्धति है क्योंकि इसमें उन्हीं उदाहरणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के क्रमों को लिया जाता है जिस में आधार वाक्यों और निष्कर्ष दोनों सत्य होते हैं। यदि सम्भावित सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष के क्रम का कोई भी उदाहरण नहीं है तो माना जाता है कि युक्ति वैध है, अन्यथा अवैध। अन्य बाकी क्रमों (जैसे असत्य आधार-वाक्य और असत्य निष्कर्ष, असत्य आधार-वाक्य और सत्य निष्कर्ष) के उदाहरणों की अवहेलना की जाती है जब कि यह सत्य है कि इस प्रकार के क्रमों की युक्तियां भी वैध होती हैं। वैधता में केवल सत्य सत्यता-मूल्य के क्रमों को लेने का अभिप्राय यह है कि वैधता का सम्बन्ध वाक्यों के अन्य सत्यता-मूल्यों से नहीं होता है-जैसे-असत्य सत्यता मूल्य। किन्तु कोई तर्कशास्त्री इस बात का अनुमोदन नहीं करता है। इस प्रकार वैधता का सत्य-मूल्य में परिभाषित करना दोष मुक्त नहीं है।

— जगत पाल

दर्शन-विभाग
उत्तर-पूर्वीय पर्वतीय
विश्वविद्यालय
शिलांग (मेघालय)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृतिकार मनु और राजा का देवत्व

राजा के देवत्व का प्रारम्भ अथवा राजा को देवता का अंश मानना राजा की दैवी उत्पत्ति का ही परिणाम है। प्राचीन भारतीय आचार्यों में संभवतः मनु ही दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के सबसे सशक्त प्रतिपादक आचार्य हैं। उन्होंने बालक राजा को भी 'महती देवता' माना है। मनुस्मृति में राजपद को अत्यंत पुनीत माना गया है। इस पद पर जो भी व्यक्ति आसीन होता है वह देवत्व को प्राप्त माना जाता है। राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, उसे मनुष्य समझ कर तिरस्कृत नहीं करना चाहिए। क्योंकि बालक के रूप में वह पृथ्वी-तल पर विचरण करने वाला महान् देवता है।[1] राजा की क्रोधाग्नि की समता अग्नि से की है। राजा की क्रोधाग्नि अग्नि के ताप से भी अधिक शक्तिशाली होती है, क्योंकि अग्नि सिर्फ उसी व्यक्ति को जलाती है जो उस के पास जाता है, परन्तु राजा की क्रोधाग्नि क्रोध-पात्र के कुल तथा सम्पत्ति को भी जला देती है।[2] अक्षत्रिय राजा को क्षत्रिय राजा से संभवः हीन माना है इसी से मनु ने अक्षत्रिय राजा को देवत्व प्रदान नहीं किया है।[3] मनुस्मृति में राजा की वृत्तियों की तुलना चारों युगों (सत् त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) से की है। राजा को ही युग कहते हैं। राजा सो जाय तो कलियुग है, जागता रहे, तो द्वापर है। कर्मानुष्ठान में लगा रहे तो त्रेता, विचार से कर्म करे तो सतयुग है।[४] इसी से राजा के कर्मों कीतुलना इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि ओर पृथ्वी से की है।[५]

यह स्पष्ट है कि राजा के देवत्व की जो भावना ईसा की पहली शताब्दी में व्याप्त थी, वह वैदिक काल में वर्तमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हित के लिए अथवा राष्ट्र व जन का अनिष्ट दूर करने के लिए होनेवाले किसी यज्ञादि का संचालन राजा के कार्यों में निहित न था। ऋग्वेद ने पुरुकुत्स को अर्धदेव का विशेषण दिया है।[६] पुरुकुत्स को अर्धदेव संभवतः इसलिए कहा गया है कि उसकी विधवा माँ ने उन्हें इन्द्र और वरुण के विशेष प्रसाद से प्राप्त किया था। अथर्ववेद में परीक्षित को मर्त्यों का देवता कहा है।[७]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अड्क ४, सितम्बर, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस ऋचा में परीक्षित को मर्त्यों का देवता कहा गया है वह उनकी प्रशंसा में लिखी गयी थी। वैदिक साहित्य में अन्य किसी राजा को देवत्व प्रदान नहीं किया गया है। इसके संबंध में अल्तेकर का अनुमान है कि राजा के देवत्व की कल्पना राजा द्वारा उपकृत कुछ दरबारियों के मस्तिष्क तक ही सीमित थी।[८] परन्तु अल्तेकर का मत एकांगी सा प्रतीत होता है। हालांकि स्पष्ट रूप से वैदिक साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति या उसके देवत्व का उल्लेख नहीं है, फिर भी जैसे हमने दिखाने का प्रयास किया है, वैदिक साहित्य में राजा की तुलना एवं उसकी विभिन्न देवताओं से समानता की जा रही थी। चूंकि इस तुलना के आधार पर ही कालान्तर में राजा की दैवी उत्पत्ति एवं उसके देवत्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ, इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि राजा का वैदिक देवत्व सीमित था। वैदिक युग हर दृष्टि से विकासोन्मुख है। फलस्वरूप उस में राजा का देवत्व बीज-रूप में अनुमेय है।

परवर्ती काल में बौद्ध लोग भी राजा को सम्युतिदेव कहते थे।[९] इस विरुद्ध का संकेत है कि राजा का देवत्व प्रजा सम्मत है। दीर्घ निकाय के अनुसार स्वर्णयुग के उपरान्त की अराजक अव्यवस्था के अन्त के लिए जनता ने जिन महाजन सम्मत को अपना राजा बनाया वे स्वतः उत्पन्न दिव्य और अयोनिज शरीर वाले व्यक्ति थे। इस से बौद्धों द्वारा विश्वस्त एक प्रकार का नृप देवत्व अनुमित है।[१०]

उत्तर वैदिक युग में इस भावना का थोड़ा और विकास हुआ। धार्मिक विधि और विचारों के उत्तरोत्तर बढ़ने से ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण बनने लगा जिस में देवत्व की भावना पनप सकती थी। एतरेय ब्राह्मण में युद्ध में विजय इन्द्रदेव की कृपा के फलस्वरूप मानी जा रही थी और शनैः शनैः इन्द्र की उपाधियाँ भी राजा के लिए प्रयुक्त होने लगीं।[११] राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित कहते थे कि भगवान् सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है, एवं यह अभिषेक मनुष्यों के हाथों द्वारा नहीं वरन् पूजन और अश्विनी कुमार द्वारा होता था। ऐसा माना जाता है कि अभिषेक के अवसर पर अग्नि सविता और बृहस्पति आदि राजा में प्रवेश करते हैं।[१२] इस प्रकार इतने देवता राजा में प्रवेश कर जाते थे। अतः इससे उन्हें देवत्व प्राप्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक था। संभवतः इसी कारण प्रजा एक ही राजा का पालन करती थी।[१३] इस काल में ब्राह्मण अपने को भूदेव कहकर देवत्व का दावा करते हैं। संभवतः ब्राह्मणों ने अपने देवत्व को स्थिर एवं मान बनाये रखने की दृष्टि से राजाओं में भी दैवी अंश खुलकर स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना शुरु कर दिया। क्षत्रियों (राजाओं) के हाथ में वास्तविक शक्ति थी। उन्हें प्रसन्न किये वगैर ब्राह्मण शायद अपने उद्देश्य में सफल न होते। मनु ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को परस्पर सौहार्द से अपने कार्य करने चाहिए।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा भी राजा के देवत्व का ज्ञान होता है। उन के अनुसार राजा का पद इन्द्र और यम का पद है। वही प्रत्यक्ष रूप से लोगों को दंड एवं पुरस्कार देता है। जो लोग उसकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें स्वयं देव की ओर से दंड मिलता है। अतः राजाओं का कभी अपमान नहीं होना चाहिए।[१४]

रामायण में कहा गया है की राजा देवता है। वह मनुष्य शरीर में इस पृथ्वी पर विचरण करता है। अतः किसी भी व्यक्ति को राजा की हिंसा अथवा निंदा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक देवता है।[१५] अयोध्याकाण्ड में कहा गया है कि राजा से यम, कुबेर तथा इन्द्र, अग्नि आदि देव भी छोटे हैं।[१६] महाभारत में राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों के अंश से हुई बताई गयी है।[१७] मनुस्मृति के समान ही महाभारत में राजा को मनुष्य समझकर उसका तिरस्कार किये जाने का निषेध किया गया है क्योंकि वह मनुष्य के शरीर में देवता स्वरूप है।[१८] विष्णु पुराण में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।[१९]

विश्वरूपाचार्य ने एक लम्बे वैदिक अंश (आगम) को उद्धृत कर ऐसा लिखा – " देवों ने प्रजापती से कहा – कि हम लोग सोम, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, वैश्रवण (कुबेर) एवं यम से क्रमानुसार महत्ता, दीप्ति, शक्ति, विषय औदार्य, एवं नियंत्रण लेकर मानव रूप में राजा के लिए व्यवस्था करेंगे।[२०] जब इस प्रकार राजा बन गया तो उसने देवों से अपने मित्र के रूप में धर्म की याचना की जिस से कि वह लोगों की रक्षा कर सके और तब देवों ने धर्म (अर्थात् दण्ड) को मित्र के रूप में उसे दिया।[२१] नारदस्मृति भी राजा के दैवी स्वरूप को मान्यता प्रदान करती है। नारद कहते हैं कि राजा अतुल शक्ति सम्पन्न होने पर पाँच प्रकार के स्वरूप ग्रहण करता है– वह अग्नि, इन्द्र, सोम, यम तथा कुबेर के स्वरूप को ग्रहण करता है।[२२] नारद राजा के देवत्व संबंधी पाँच स्वरूप की पूर्ण विवेचना करते हैं। उनके अनुसार राजा के अकारण अथवा किसी कारण से क्रोधित होने पर क्रोध से, दूसरे को जलाने अर्थात उत्पीडित करने के कारण वह अग्नि के समान होता है, अपनी शक्ति के ऊपर निर्भर करता हुआ जब वह शस्त्र उठाकर शत्रुओं पर विजय की आकांक्षा से आक्रमण करता है तब वह इन्द्र का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप ग्रहण करता है। जब राजा तेज से लोगों को जलाने वाले स्वरूप को हटाकर सौम्य भाव से जनता के सामने उपस्थित होता है तब वह सोम का स्वरूप ग्रहण करता है। अपने न्यायासन पर बैठकर न्याय करते समय वह यम का स्वरूप ग्रहण करता है। सम्मानित व्यक्तियों को अथवा जिन को किसी वस्तु का अभाव हो उन्हें उपहार प्रदान करने पर कुबेर कहा जाता है।[२३]

कुछ स्मृतियों और पुराणों में राजा को देवत्व प्रदान किया गया है। मनु के अनुसार राजा नर रूप में महान् देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है।[२४] विष्णु पुराण तथा वायु पुराण से यह सूचना मिलती है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।[२५] भागवत पुराण से यह भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम राजा वेण के शरीर में विष्णु के शरीर के नाना लांछन भी विद्यमान थे।[२६] यद्यपि अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का उल्लेख किया गया है।[२७] अस्तु अधिकांश ग्रन्थों में राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही बल दिया गया है। वे अनेक बार राजा के कार्यों की देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है।[२८]

कुशाण राजा अपने को देवपुत्र कहते थे।[२९] अपने सिक्कों में अपने कंधों से अग्नि की लपटें निकलते हुए दिखाते थे। गुप्त राजाओं ने भी इस प्रकार की अपनी उपाधियां अपने अभिलेखों और सिक्कों में खुदवायी।[३०] यही नहीं उन्होंने अपने सिक्कों पर कुशाण राजाओं की तरह अपने सिर के इर्द-गिर्द प्रभामंडल भी अंकित कराया।[३१] शिलालेखों से यह भी सूचना मिलती है कि यही गाहड़वाल वंश के चन्द्र व गोविन्दचन्द्र राजा क्रमशः ब्रह्मा और हरि के अवतार थे।[३२] पृथ्वी-राजा विजय में कवि ने राजा को रामचन्द्र के अवतार के रूप में माना है। इस प्रकार राजा के देवत्व की परिकल्पना स्वीकार की गई।

प्राचीन समय में मिश्र में राजा या 'फारओ' 'रा' (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता था। सार्वजनिक यज्ञ का संचालन और देवता में किसी बात की याचना करने का अधिकार केवल उसे ही था। प्राचीन वेबिलोनिया और असीरिया में भी राजा ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते थे और देवताओं की भांति पूजा के भाजन होते थे। प्राचीन ग्रीस में भी राजा देवाधिदेव मयूख के वंशज माने जाते थे। देवताओं की इच्छा जानने की भी शक्ति केवल उन्हीं में ही थी। १० ई. के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन रोम के सम्राट करने के बाद देवता घोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजा के लिए मन्दिर भी बनाये जाते थे।

शोध-छात्र
दर्शन विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५

– **राजदेव दुबे**

टिप्पणियाँ

१. बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ – मनुस्मृति, ७।८; मिलाइये महा. शांति., ६८।४०; पराशर माधव व्यवहार मयूख, पृ. ५
२. एकमेव दहत्याग्निर्नरं दुरूपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ – मनुस्मृति, ७।६
३. न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्य प्रसूतितः।
सूना चक्रध्वजवतां वेशनैव चजीवताम् ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेवः च ॥ – मनु; ४।८४,९२
४. मनु. ६।३०१,३०२
५. इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपूचरेत् ॥ मनु; ६।३०३
५. देखिए, ए. एस. अल्तेकर, **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पृ. ५६
७. यो देवो मर्त्यान्। अथर्ववेद, २०, १२७, ७
८. देखिए, ए. एस अल्तेकर; **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पृ. ५६
९. देखिए, ए. ए अल्तेकर; **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पाद टिप्पणी, पृ. ११
१०. देखिए वही, पृ. १३
११. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।२
१२. शतपथ ब्राह्मण, १२, ४, ३ मिलाइए तैत्तिरीय ब्राह्मण, १८।१०
१३. शतपथ ब्राह्मण, ५ १५, १४
१४. अर्थशास्त्र, १।१३।१०–१३
१५. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, ४२।१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६. रामायण, अयोध्याकाण्ड, ३५।६७
१७. महाभारत, शांतिपर्व, ६८।४१
१८. वहीं, ६८।४०
१९. विष्णुपुराण, १।१३–१४
२०. विश्वरूपाचार्य, याज्ञ; १।३५०
२१. **धर्मशास्त्र का इतिहास**, भाग २, हिन्दी अनुवाद, पृ. ५६२
२२ नारदस्मृति, पृ. १३३ श्लोक सं. २६, जोली का अनुवाद
२३. नारद स्मृति, जोली का अनुवाद, पृ. ११३–११४, श्लोक २७-३२
२४. मनु., ८।५
२५. विष्णुपुराण, १।१३–१४, वायुपुराण, ५७।५६–५८
२६. भागवत, ४।१३, २३
२७. महाभारत, १२–६७।४०, नारदस्मृति, १७।२६, शुक्रसृष्टि ७२ मत्स्य पुराण, २२।६, मार; २७।२१ ।, अग्नि पु; २२५।१६, पद्म पु; सृष्टि ३०।४५
२८. ए. एस. अल्तेकर, **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति** पृ. ६१
२९. डी. सी. सरकार, **सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स** पृ. १३५, १४०, १४१, १४४
३०. पंजाब म्यूजियम कैटलाग, पृ. १४३ ।
३१. डी. सी. सरकार, **सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स**, पृ. २६३, २६५, २७५, २७८ २८३, २८५, ३१३, ३१८, ३१९, ३२१, ३२८
३२. **गुप्तकालीन मुद्रायें** ४२, ४३, ४४, ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (८)

मू. " क्वचिद्वस्तुभूत इति चेत् । " निर्धूमत्वमपि क्वचिद्वस्तुभूतमिति तेनापि विरोध एव । तस्माद्यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय, तथा काल्पनिकी सम्पत्तिरपि न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः ।

काल्पनिक धूम काल्पनिक कूर्मरोम में विद्यमान हो सकने के कारण धूम हेतुक वन्ह्यनुमान में व्यभिचार दोष की संभावना का पीछे उद्भावन किया गया । उस पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि वन्ह्यनुमान में हेतु होनेवाला धूम वास्तविक है काल्पनिक नहीं और वह कूर्मरोम जैसे अवस्तु या अलीक में विद्यमान नहीं होता जिस से उक्त अनुमान व्यभिचारित हो । विचार कर देखने पर यह उत्तर ठीक प्रतीत नहीं होता । निर्धूमत्व भी जलाशयादि में जो हुआ करता है वह वास्तविक ही है, वह अग्निरहित अलीक में (जो विपक्ष है) नहीं रह सकता । इसलिये विपक्ष जलन्हद (अलीक या काल्पनिक) में अविद्यमानता धूम में नहीं होगी । यह बात धूम के सद्हेतु होने में बाधक होगी । यदि इसपर कोई कहे कि वास्तविक धूम कूर्मरोम में–जो वास्तविक वन्हि रहित है—रह सकता ही है तब उस में विपक्षवृत्तिता होने के कारण सद्धेतुता नहीं रहेगी तो उस पर यह भी कह सकते हैं कि ऐसे काल्पनिक पदार्थ में काल्पनिक वन्हि की विद्यमानता में भी कोई आपत्ति नहीं होगी । उस परिस्थिति में कूर्मरोम विपक्ष ही नहीं होगा जिससे धूम विपक्ष-वृत्ति होने की नौबत उपस्थित हो । इतना ही नहीं, तब्र शशशृंग जैसे अलीक में सत्व और क्षणिकत्व इन दोनों का साहचर्य भी (काल्पनिक) संभव हो जायेगा। इस कारण सत्व एवं क्षणिकत्व की व्यतिरेक व्याप्ति ही उस हालत में नहीं सिद्ध हो पायेगी । इन सब बातों को देखते हुए यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि वास्तविक हेतु की काल्पनिक विपक्षवृत्तिता जैसे हेत्वाभास का कारण नहीं हो सकती वैसे ही सत्व तथा क्षणिकत्व की काल्पनिक विपक्षावृत्तिता भी सत्व की सद्धेतुता में सहायक नहीं हो सकती । अतः अनुमान के लिये आवश्यक व्याप्ति-ज्ञान ही असंभव हो जायेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. " अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वसिद्धेः क्षणभङ्गः । " न, विकल्पानुपपत्तेः । तद्धि तादात्म्यं वा, निरुपाख्यत्वं वा, तत्कार्यत्वं वा, अभावत्वमेव वेति । न पूर्वः, निषेध्यनिषेधयोरेकत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा विश्वस्य वैश्वरूप्यानुपपत्तेः ।

सत्ता और क्षणिकता इनके व्याप्तिसंबंध के आधार पर क्षणिकता का अनुमान किसी भी प्रकार संभव नहीं यह बात विस्तार के साथ अब तक स्पष्ट की गयी। अब दूसरे प्रकार से वस्तुमात्र की क्षणिकता सिद्ध की जा रही है । बौद्ध कहते हैं कि वस्तुमात्र का विनाश अवश्यंभावी होने के कारण विनाश स्वयं अकारण सिद्ध होता है । जिस बात का घटित होना हर हालत में अनिवार्य है वह बात किसी कारण पर निर्भर नहीं रह सकती । अतः उत्पन्न वस्तु का उत्पत्ति-क्षण के अव्यवहित्तोतर क्षण में विनष्ट होना अनिवार्य होना चाहिये । इसके लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । इसी बात पर से वस्तुमात्र की क्षणिकता सिद्ध हो जाती है । विनाश की अवश्यंभाविता के स्वरूप के संबंध में पांच विकल्प संभव हैं। ये क्रमशः वस्तुतादात्म्य, वस्तुनिरुपाख्यत्व, वस्तुकार्यत्व, वस्तुव्यापकत्व तथा वस्त्वभावस्वरूपत्व ये हैं । इनमें पहला विकल्प ' विनश्यमान वस्तुतादात्म्य ' यह ग्राह्य नहीं हो सकता । विनाश और विनाश्य वस्तु इन दोनों में तादात्म्य का स्वीकार करना विनाश्य को अपने ही विनाश के स्वरूप मानना होगा । किन्तु वस्तुमात्र ही विनाश्य होने से (बौद्धमतानुसार) विनाश ही वस्तुमात्र का स्वरूप बन जायेगा। यह बात मान ली जाये तो वस्तुओं की विविधता समाप्त हो जायेगी ।

मू. " ननु कालान्तरेऽर्थक्रियां प्रत्यशक्तिरेवास्य नास्तिता, सा चाकालान्तरे समर्थेतरस्वभावत्वमेवेति चेत् " । नन्वयमेव क्षणभङ्गः, तथाचासिद्धमसिद्धेन साधयतः कस्ते प्रतिमल्लः ?

तादात्म्य के एक दूसरे संभाव्य अर्थ को लेकर अब पहले ही विकल्प का समर्थन किया जा रहा है । वस्तुमात्र का विनाश तादात्म्य, जिस काल में कोई वस्तु अपना कार्य संपन्न नहीं करती उस काल में उसका अर्थक्रिया के प्रति असामर्थ्य ही है । अपने काल में अपना कार्य करने में समर्थ होते हुए भी कालान्तर में प्रत्येक वस्तु कार्यकरणासमर्थ ही होगी । यही उस की नास्तिता मानी जा सकती है । इस कथन पर आपत्ति यह है कि पीछे स्पष्ट किये मुताबिक क्षणभङ्ग का अर्थ भी यही है । किन्तु यह असामर्थ्य प्रसङ्ग विपर्ययानुमान से ही सिद्ध हो सकता है । अतः स्वयं असिद्ध असामर्थ्य के द्वारा क्षणभङ्ग सिद्ध करने में कौनसी समझदारी है ? अबतक सामर्थ्याभाव (कालान्तर में) सिद्ध करने के लिए ही बौद्धों ने अत्यल्प प्रयास किये किन्तु वे सब निष्फल सिद्ध हुए । ऐसे असिद्ध सामर्थ्याभाव के द्वारा क्षणभङ्ग कैसे सिध्द किया जा सकता है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मू. अपि च देशान्तरकालान्तरानुषङ्गिण्यस्थ नास्तिता यद्ययमेव, नूनमनक्षरमिदमुक्तं 'यदयमेव देशान्तरकालान्तरानुषङ्गी'ति। यदि वा स्वदेशकालवत् कालान्तरदेशान्तरयोरपि नास्तितानुषङ्गेऽस्तित्वप्रसङ्गः। "अशक्तेः कथमस्तु शक्तेः सत्तालक्षणत्वादिति चेत्"। अथ कालान्तरकार्यं प्रति स्वकालेऽशक्तिरसत्त्वम्, किंवा स्वकार्यमपि प्रति कालान्तरेऽशक्तिरसत्त्वम्। आद्ये स्वकालेऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तदानीमपि तस्य ताद्रूप्यात्। "कालान्तरकार्यंप्रति एवमेतदिती चेत्" किमयं मन्त्रपाठः, नहि यो यत्राशक्तः स तदपेक्षया नास्तीति व्यवह्रियते, नहि रासभापेक्षया धूमो जगति नास्ति, तत्कस्य हेतोः ? न ह्यशक्तस्य स्वरूपं निवर्तत इति।

विनाश या नास्तित्व को विनाश्य वस्तुस्वरूप मानने में एक अन्य आपत्ति भी है जिसको अब प्रस्तुत किया जा रहा है। अन्य देश या काल में (समर्थ) वस्तु का जो विनाश या अभाव हुआ करता है वह वस्तुस्वरूप ही होने से देशान्तर कालान्तर में भी वस्तु विद्यमान ही होती है ऐसा उक्त कथन से निष्कर्ष निकलता है। वस्तु की नास्तिता अन्य देशकाल में होती है यह कहने का मतलब ही यह है कि वस्तु भी अन्य देश-काल में बनी रहती है। इस पर यदि कहा जाय कि अपने देश-काल में तो वस्तु रहती है अतः तब उसकी नास्तिता नहीं होती और इसी प्रकार अन्य देश-काल में भी उसको नास्तिता विद्यमान नहीं होती तो इसका भी मतलब यह होगा कि अन्य देश-काल में वस्तु (उसकी नास्तिता तब न होने से) बनी ही रहती है। इस पर कह सकते हैं कि अन्य देश-काल में वस्तु यदि अर्थक्रिया समर्थ ही नहीं हुआ करती तो कैसे उसका अस्तित्व तब संभव होगा ? शक्ति और सत्ता दोनों जब एक ही हैं तब, जब वस्तु अशक्त होगी तब वह असत् या अविद्यमान ही होगी ? इस प्रत्याख्यान का प्रतिवाद 'अशक्ति' के अर्थों के संबंध में जो संभाव्य विकल्प हैं उनका खण्डन कर अब किया जा रहा है। वस्तु की अशक्तिरूप जो असत्ता है वह या तो कालान्तर में घटित होनेवाले कार्य के प्रति अपने (देश) काल में सपन्न करने का असामर्थ्य होगा या वह अपने ही कार्य को कालान्तर में संपन्न करने का असामर्थ्य होगा। इनमें प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि अपने (अस्तित्व) काल में ही, कालान्तरभावि कार्य के संबंध में असामर्थ्य वस्तु में होने के कारण वह असत् हो जाएगो। 'कालान्तरभावि कार्य के संबंध में (उसकी अनुत्पादक) वस्तु 'असत्' ही होती है ऐसा समझने में क्या आपत्ति है ?' ऐसा यदि कोई पूछे तो उसका उत्तर यह होगा कि इस तरह के असंगत कथन से विरोध-परिहार की अपेक्षा करना उसे मन्त्रपाठ जैसा चमत्कार कारक मानने जैसा होगा। कारण यह है कि जो वस्तु जिसके उत्पादन में असमर्थ है उसके संबंध में वह असत् होती है ऐसा कोई नहीं समझता। रासभ धूम को उत्पन्न नहीं करता। क्या इस कारण उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रासभ के संबंध में असत् कहा जाता है ? यदि नहीं तो इसका कारण यही होगा कि वस्तुविशेष के संबंध में किसी वस्तु में (उत्पादन) सामर्थ्य न भी हो तो भी उसकी सत्ता भङ्ग नहीं होती।

मू. द्वितीये तु यदि कालान्तराधाराऽशक्तिः, कथं तदात्मिका ? तदाधारा चेत्, तदैवासत्त्वप्रसङ्गः, कालान्तरे तु विपर्ययः । तस्मात्

विधिरात्माऽस्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः ।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते ॥

'अशक्ति' के अर्थ संबंधी दूसरे विकल्प का खण्डन अब प्रस्तुत करते हैं। अपने ही कार्य के प्रति कालान्तर में करण का असामर्थ्य (यदि यह 'अशक्ति' का अर्थ हो) तो कालान्तर में ही विद्यमान होगा। उस समय यह वस्तु क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गयी होगी। ऐसी (कालान्तराधारित) अशक्ति अविद्यमान वस्तुरूप होगी ही कैसे ? यदि यह अशक्ति वस्तु के स्वकाल में ही विद्यमान मानी जाय तो स्वकाल में ही अपने कार्य का कोई वस्तु संपादन नहीं कर पायेगी और अन्य काल में यह अशक्ति उसमें न होने के कारण अपना (स्वकाल) कार्य अन्य काल में संपन्न करना उसके लिए संभव हो जायेगा। अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि किसी भी वस्तु का स्वरूप विध्यात्मक ही होता है। निषेध या अभाव इस स्वरूप से नितान्त भिन्न है। ऐसा निषेध-वस्तु का स्वरूप है यह बात सुनने पर भी जिसे लज्जा का अनुभव न हो ऐसा कौन अभिज्ञ व्यक्ति होगा ?

मू. "अस्तु तर्हि भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्तीति वाक्यस्य सोपाख्येति शेषः" । नन्वयमपि क्षणभङ्गस्योद्गारः, स च कफोणिगुडायितो वर्तते। भवतु वा निवृत्तिसमर्था, तथाप्यहेतुकत्वे तस्याः किमायातम् ? "तुच्छस्य कीदृशं जन्मेति चेत् ?" यादृशः कालदेशनियमः । "सोऽपि तस्य कीदृश इति चेत् ?" एवन्तर्हि न घटनिवृत्तिः क्वापि कदापि वा सर्वत्रैव सदैव वेति स्यात् ।

उक्त दोष के कारण पहला विकल्प परित्याज्य है। अब 'निरुपाख्यत्व'-रूप दूसरे विकल्प को, धर्मकीर्ति के व्याख्याकार प्रज्ञाकर गुप्त के एक वाक्य के द्वारा, प्रस्तुत किया जा रहा है। उस वाक्य में प्रज्ञाकर कहते हैं कि वस्तुस्वरूप से अतिरिक्त सोपाख्य याने वर्णनार्ह निवृत्ति या विनाश नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि विनाश निरुपाख्य अर्थात् वर्णनातीत या अलीकवत् है। विनाश निरुपाख्य होने से वह अहेतुक भी हो तो उत्पन्न होते ही वस्तुओं का विनाश घटित होना चाहिए। लेकिन विनाश तब अलीक सिद्ध होगा जब सत् पदार्थ सब क्षणिक सिद्ध होंगे। किन्तु यही बात जब असिद्ध है तब विनाश को अलीक या निरुपाख्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? कुहनी पर लगे हुए गुड का चाटना जैसे असंभव है वैसे ही क्षणभङ्ग-साधन का प्रयास भी व्यर्थ है। मान भी लें कि विनाश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमर्थ या अलीक है तो भी इससे उसकी अहेतुकता कैसे प्रस्थापित होगी ? कह सकते हैं कि जो सर्वधर्म-शून्य एक तुच्छ पदार्थ है उसकी उत्पत्ति ही असंभव है किन्तु विनाश देश-विशेष तथा काल-विशेष में ही घटित होता हो (जिससे देश-काल नियमों से नियंत्रित उसकी सत्ता माननी पडती हो) तो उसकी उत्पत्ति मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । इसपर यह पूछ सकते हैं कि देश-काल-नियम भी तुच्छ को लागू कैसे हों ? यदि वस्तु-निवृत्ति के साथ देशकाल–संबंध ही न होने पायें (क्यों कि वह तुच्छ है) तो वस्तु-निवृत्ति कहीं और कभी भी नहीं घटित होगी। यदि एतदर्थ निवृत्ति के साथ देशकाल-संबंध तो मान लिया जाय लेकिन देशकाल का नियम उसके संबंध में न माना जाय तो कहीं भी और किसी भी समय निवृत्ति घटित होने लगेगी ।

मू. "भवतु प्रथम एवेति चेत् ?" सोऽयं भावनास्तितास्वरूपप्रतिषेधो वा, भावप्रतिषेधेन निवृत्तिस्वरूपनिरूक्तिर्वेति । आद्ये भावस्यैव सदातनत्वप्रसङ्गः । द्वितीये तु निवृत्तेरेवेति ।

उक्त बात को ही अधिक विशद रूप से पुनः प्रस्तुत करते हैं। वस्तुनिवृत्ति के साथ देश-काल–संबंध नहीं होता इस कथन का स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें से दो विकल्प प्रकट होते हैं । एक विकल्प देश-काल–संबंध के निषेध का और दूसरा निवृत्ति के निषेध का । इनमें से पहला इसलिये अस्वीकार्य है कि निवृत्ति का किसी देशकाल से संबंध घटित न होने के कारण वह जिसकी निवृत्ति है उसकी भी विरोधक नहीं हो सकेगी जिसके फल-स्वरूप निवर्त्य वस्तु सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक हो जायेगी । दूसरे विकल्प का विचार करने पर उसमें से पुनः दो अन्य विकल्प प्रकट होते प्रतीत होते हैं । प्रथम के अनुसार निवृत्ति का ही निषेध होता है और दूसरे के अनुसार निवर्त्य वस्तु-संबंधी ही यह निषेध हुआ करता है । इनमें पहला विकल्प (निवृत्ति का निषेध) स्वीकारार्ह इसलिए नहीं है कि निवृत्ति का निषेध निवर्त्य वस्तु की सार्वकालिकता में परिणत हो जाता है । यदि निवृत्ति नहीं तो वस्तु की सत्ता सनातन हो जायेगी । दूसरा विकल्प भी अग्राह्य है क्यों कि निवर्त्य के सार्वकालिक (सार्वत्रिक) निरास-द्वारा उसकी निवृत्ति का ही स्वरूप यदि विशद करना अभिप्रेत हो तो ऐसे निरास के कारण वस्तु-निवृत्ति सार्वकालिक हो जाएगी ।

मू "अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वम्"। न, तस्यापि कार्य इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्यं इत्यसिद्धेः । "यत् किञ्चिदुत्पन्नमात्रस्य कार्यम्, स एव तस्य नाश इति चेत् ?" (एवं) तर्हि यस्याः सामग्र्या यत्कार्यं तत् तदतिरिक्तान पेक्षमिति साधनार्थः, तमिमं को नाम नानुमन्यते ? कार्यमेव विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्तव्यम् ? किं तद्विरहवत्त्वात्कार्यस्य, किं वा तद्विरहरूपत्वात् ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्रुवभावित्व या अनिवार्यत्व (विनाश का) के दो अर्थों का विचार कर उनकी सदोषता अब तक विशद की गयी । अब तीसरे अर्थ 'तत्कार्यत्व' की चर्चा प्रस्तुत है । विनाश, विनाश्य वस्तु का कार्य ही होने से अनिवार्य अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति के दूसरे ही क्षण घटित होना आवश्यक है (जिससे क्षणभङ्ग सिद्ध होता है) । इस 'तत्कार्यत्व' का अर्थ 'तस्यापि कार्यं' याने 'उसका भी कार्य जो है वह' ऐसा लें तो तात्पर्य यह होगा कि वस्तु का विनाश वस्तु और तदन्य कारणों से उत्पन्न होता है । यह बात सही हो तो जहाँ वस्तु से भिन्न कारण उपस्थित न हों वहाँ विनाश उत्पन्न नहीं होगा । तब विनाश की ध्रुवभाविता की बात छोड़ देनी पड़ेगी । यदि इस आपत्ति के कारण 'तत्कार्य' का अर्थ 'तस्यैव कार्यं' ऐसा करें जिससे विनाश के लिए विनाश्य वस्तु से अन्य किसी की अपेक्षा नहीं ऐसा अर्थ निकले तो यह बात गलत सिद्ध होगी । अन्य कारणों की विनाश के लिए आवश्यकता सुस्पष्ट है । इसपर यह समाधान किया जा सकता है कि 'तत्कार्य' का अर्थ न 'उसीका कार्य' है न 'उसका भी कार्य' ऐसा ही है । किन्तु 'जो भी वस्तु की उत्पत्ति होते ही उससे उत्पन्न होता है वह विनाश है' ऐसा है । यह अर्थ लेनेपर उक्त आपत्तियाँ नहीं उपस्थित होंगी । बौद्धमतानुसार उत्पन्न होते ही वस्तु का अनन्तर क्षण में विनाश ही घटित होता है । अब 'अहेतुकत्व' का अर्थ 'कारण से भिन्न वस्तु की अपनी उत्पत्ति के लिए अपेक्षा न होना' यह होगा । विनाश विनाश्य वस्तु से अन्य की अपेक्षा नहीं रखता अतः वह 'अहेतुक' या 'ध्रुवभावी' है । उक्त अर्थ में 'कारण' शब्द का अर्थ 'कारणसामग्री' हो तो 'कारणसामग्री से भिन्न की कार्य (विनाश) की उत्पत्ति के लिये आवश्यकता नहीं ऐसा अर्थ 'अहेतुकत्व' का होगा । इस प्रकार का 'अहेतुकत्व' स्वयंसिद्ध है । उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु यदि 'कारण' से मतलब 'सामग्री के एकदेश' से हो, तब विनाश 'अहेतुक' कदापि नहीं हो पायेगा । पूरी कारणसामग्री बिना विनाश क्या, कोई भी बात घटित नहीं हो सकती । इस पर भी बौद्ध पूछ सकते हैं कि 'जो भी कार्य कोई वस्तु उत्पन्न होते ही उत्पन्न होता है वह उस वस्तु का विनाश ही है' इस मन्तव्य में क्या आपत्ति हो सकती है ? उत्तर में नैयायिक पूछते हैं कि किस आधार पर वस्तु का कार्य ही विनाश है यह बात मानी जाय ? क्या कार्य–विनाश कारणाभाव (भेद) मुक्त है इसलिए अथवा वह कारणाभावरूप है इसलिए उसे कारण-वस्तुरूप समझा जाय ?

मू, न तावत्पूर्वः, सहकारिष्वपि तथाप्रसङ्गात्, विरहस्वरुपानिरुक्तेश्च । न द्वितीयः, स हि कार्यकाले कारणस्य योग्यानुपलम्भनियमाद्वा भवेत्, व्यवहारानुरोधाद्वा अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वेति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त दो आधारों में से पहला आधार युक्तिसंगत नहीं। कारण के सहकारी भी (विनाश के सिवा) कारण से भिन्न होते हैं जैसे पट के कारण तंतुओं से भिन्न वेमादि हैं वे तंतु के कार्य नहीं समझे जाते। अभाव अलीक होने से कार्य अभाव युक्त कैसे होगा यह भी इस आधार के संबंध में एक कठिनाई है। यदि कारणाभाव कार्य ही हो तो कार्य कैसे उससे युक्त होगा ? दूसरा आधार भी विचारार्ह नहीं। कार्यविनाश कारणभावरूप होता है यह बात जो आधार के रूप में पीछे कही गयी उसके पीछे तीन में से एक कारण हो सकता है। पहला यह है कि कार्य (विनाश) जब घटित होता है तब कारण उपलंभ-योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता (अतः कार्य कारणाभावरूप है)। दूसरा कारण, कार्य के संबंध में उसका कारणाभावरूप होने का संभाव्य सामान्य व्यवहार होगा। तीसरा कारण, कारण-वस्तु से भिन्न उसका विनाश मानने में किसी बाधा का उपस्थित होना होगा। (ये तीनों कारण स्वीकारार्ह नहीं यह अगले परिच्छेदों में दिखाया जायगा।)

– नारायणशास्त्री द्राविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

(१)

(१) **सम्बोधि :** युवाचार्य (मुनि नथमल); प्रका. तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्वभारती, लाडनूं, चुरु (राज्यस्थान), पृ... डिमाई ३०+४४६; सजिल्द; मूल्य-६० रु.।

२. **मन का कायाकल्प :** ले. तथा प्रका... वही; पृ. डिमाई २२६, सजिल्द; मूल्य-१६ रु.

जैन आचार्य तुलसीजी के शिष्य मुनि नथमलजी, जो अब युवाचार्य महाप्रज्ञ के रूप में ख्यात हैं, के द्वारा लिखित 'सम्बोधि' का यह तीसरा संस्करण है। युवाचार्य महाप्रज्ञ के द्वारा लिखित हिंदी-अंग्रेजी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी रचनाएँ उनके विपुल ज्ञान और उनकी अनुभव-समृद्धि की परीचायिका रही हैं। मृदु-मधुर शब्दावली में जीवन के गहन तत्त्वों को वे जिस मर्मग्राही रीति से प्रस्तुन करते हैं वह सहज ही शील के प्रवर्तन और मनुष्य के मन के मलापनोदन में समर्थ है। जैन धर्म से गृहीत उपदेशों और सिद्धान्तों को धर्म-निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करते हुए वे मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं। सरल भाषा में कही गई गहन और तात्त्विक बातों को भी कथात्मक शैली और आत्मीयतापूर्ण वचन-भंगिमा के कारण पाठक के लिए ग्राह्य बनाने और उसके अन्तरतम में गूढ से गूढ चिन्तन को भी अपनी सरल व्याख्याओं और जीवनानुभूतियों के सहारे उतार पाने में युवाचार्य महाप्रज्ञ की दक्षता अप्रतिम है। 'सम्बोधि' भी उनके इसी कौशल्य का एक प्रमाण है।

जैन धर्म के साथ प्रागैहासिक काल से सम्बन्धित सम्बोधि और कुछ नहीं, वस्तुतः आत्म-मुक्ति का मार्ग है जिसकी प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र-बोधि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम से होती है। इन तीनों के समवाय से ही आत्ममुक्ति संभव है। इसकी संभवनीयता का सीधा सम्बन्ध आत्म-कर्तृत्व से है। 'सम्बोधि' में उसी आत्म-कर्तृत्व को लक्षित कराया गया है। मनोनुशासन के लिए जिस योग-प्रक्रिया की आवश्यकता है उसे श्रीमद्‌भगवदीता की शैली में प्रस्तुत करते हुए 'सम्बोधि' की रचना की गई है। १६ अध्यायों मे संस्कृत में मूल श्लोक देकर उनकी हिन्दी में मार्मिक व्याख्या की गई है। मंत्रासार श्रेणिक का पुत्र मुनि मेघकुमार 'सम्बोधि' में श्रीमद्भगवद्‌गीता के अर्जुन की भुमिका में प्रस्तुत है। संवादात्मक शैली में सरलता और मौलिकता के साथ भगवान् महावीर की वाणी को लेखक ने नये नियोजन के साथ अपनी वाणी में उतार लिया है। साधना की भूमि में क्लीब बने मेघकुमार का उद्‌बोधन किया है भगवान् महावीर ने, जैसे समर-भूमि में भगवान् कृष्ण ने स्रस्तधनु अर्जुन को प्रबोध दिया था। इसी प्रबोधन के लिए युवाचार्य ने १६ अध्यायों में ७०३ श्लोकों में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्म-कथा, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशाश्रुतस्कंध आदि आगमों से सार ग्रहण करके इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। १६ अध्यायों में क्रमशः स्थिरीकरण, सुखबोध, पुरुषार्थ-बोध, सहज-आनंद, साधनबोध, उद्‌बोधन, आज्ञावाद, बंध-मोक्षवाद, मिथ्या-सम्यक्-ज्ञानवाद, संयतचर्चा, पश्यत्ता, हेय-उपादेय-बोध, साध्य-साधन-संज्ञान, कर्म-बोध, अकर्म-बोध तथा मनःप्रसाद का विवेचन किया गया है और अन्त में परिशिष्ट में क्रमशः 'योग : एक मीमंसा' तथा 'संबोधि के आगमिक आधार स्थल' शीर्षक से विस्तृत रूप में योग तथा आधारभूत स्थलों का स्पष्टीकरण दिया गया है। परिशिष्ट भी ग्रंथ के मूल-भाग के समान ही महत्वपूर्ण, ज्ञानवर्धक और पठनीय हैं। संपूर्णतः ग्रंथ जीवन-सत्य की उपलब्धि में सहायक है, अतः उपादेय और मननीय है।

'सम्बोधि' के समान ही उपादेय और महत्वपूर्ण पुस्तक है 'मन का कायाकल्प'। प्रस्तुत पुस्तक में युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रेक्षाध्यान शिबीर में दिये गये १८ प्रवचनों का संग्रह है, जिन्हें क्रमशः 'लोचन' और 'आतमलोचन' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। जयाचार्य द्वारा निर्दिष्ट पद्धति पर इस ग्रंथ में मन का काया-कल्प किया गया है। परम आत्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव और आराधना उसका साध्य है। सहज-सरल भाषा में कथात्मक एवं संवादात्मक प्रश्नोत्तर शैली अपना-कर युवाचार्य ने आधुनिक मनुष्य के विकल मन को स्थिर और दृढ करने के उपायों का निर्देश दिया है। प्रवचन के आरंभ मे 'चौबीसी' तथा 'आराधना' से मूल पाठ देकर संकेतिका दी गई है और प्रवचन के मूल तत्त्व को प्रमुख कथनों में प्रस्तुत किया गया है। युवाचार्य आज की समस्याओं से उत्पन्न मनुष्य की व्यग्रता और विकलता को लक्षित करके चले हैं और अपने विवेचन को उनसे जोंड़कर प्रवचनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रासंगिकता प्रदान करते रहे हैं। उनका विवेचन सूक्ष्म विश्लेषणपरक, जिज्ञासा जागृत करनेवाला और आश्वस्तिकर है। जीवन की छोटी से छोटी घटना को भी वे ज्ञानोपदेश-लाभ के लिए बड़े सहज ढंग से चुन और गुन लेते हैं। साधकों और कवियों के कथन उनकी वाणी से प्रसंगतः स्फुरित होते रहते हैं। परिणामतः पाठक या उनके प्रवचनों का श्रोता गूढ-गंभीर विषयों का भी सरलता से आकलन करता चलता है। वस्तुतः ये प्रवचन मनुष्य को जीवनी-शक्ति प्रदान करते हैं। इनका हार्दिक स्वागत।

— आनंदप्रकाश दीक्षित

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

दमा और मधुमेह में योग का अभ्यास

शोधकर्ता – स्वामी नत्यानंद सरस्वती

प्रस्तुत कर्ता – स्वामी शंकरदेवानन्द सरस्वती, एम. बी. बी. एस. (सिडनी)

अनुवादक – स्वामी योग मुद्रानन्द सरस्वती

प्रकाशक – बिहार स्कूल आफ योग – मुंगेर

पृष्ठ संख्या – १८० : मूल्य रु. २०=००

संपादक ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि 'इस पुस्तक का प्रयोजन रोगी और डाक्टर दोनों के लिए एक सुलभ चिकित्सा पध्दती की स्थापना करना है; आधुनिक प्रचलित प्रणाली की अवहेलना करना अथवा स्थान लेना नहीं है'। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि योग का मार्ग लम्बा है परन्तु रोग पर इस का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है पुस्तक में दो बीमारियों का विवेचन और उपचार बताने का प्रयास किया गया है। इसलिए पुस्तक के दो खण्ड हैं – १ – 'दमा और योग' और २ – 'मधुमेह रोग में योग प्रशिक्षण पाठ्यक्रम।' दमा के संबंध में लेखक ने अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर विवेचन प्रारंभ करते हुए रोग के यौगिक उपचार का सत्यापन किया है। इस खण्ड में दमा के विभिन्न पक्षों-आरंभावस्था, वंशानुगत दमा, स्नायु दुर्बलता, प्रकोपावस्था, निर्बलता, निष्क्रियता, पुनः प्रकोप भय और शारीरिक संगठन में दोष आदि का अधिकृत विवेचन है। इस के साथ ही श्वसन संस्थान, प्रकोप के दुष्परिणाम, सामान्य औषधि; भोजन और उपवास का बहुत ही स्पष्ट और उपयोगी वर्णन है। रोग निवारण में आहार-विहार का महत्त्व सर्वविदित है। इस दृष्टि से भोजन, पचन, कोष्ठबध्दता, अल्पाहार, उपवास तथा पूर्ण भोजन आदि का विवेचन निश्चय ही उपयोगी है।

'यौगिक चिकित्सा प्रणाली' के अंतर्गत षड्कर्म, आसन और प्राणायाम एवं शिथिलीकरण आदि का सरल-सुलभ रीति विवेचन है। साथ ही आश्रम जीवन की चर्या का प्रतिपादन इस बात की पुष्टि करता है कि यौगिक उपचार घर पर रहकर भी संभव है। दमा का तीव्र प्रकोप रोगी में भय उत्पन्न कर देता है। इसलिए प्राकोपावस्था में उपयोगी अभ्यास क्रम का प्रतिपादन (पृ. ४५) रोगी को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भय मुक्त करने में सहायक हो सकता है। अंत में योगोपचार के अतिरिक्त संक्षेप में अन्य उपचार पध्दतियों – वनस्पति उपचार, मालिश, स्नान, आयुर्वेदिक, होमियोपैथी, बायोकेमिक, स्पीलियो थेरॉपी, शिवांबु कल्प आदि का विवेचन भी रोगी को कष्ट मुक्त होने के कुछ दिशा निर्देश कर सकता है।

दूसरे खण्ड में सर्व प्रथम मधुमेह के अनेक प्रकारों और लक्षणों का निर्देश किया गया है (पृ ६२) जो सामान्य व्यक्ति के लिए भी उपयोगी है। लेखक का दावा है की ' योग के पास ९९ % अवसर हैं, परन्तु अधिकांश लोग तभी योग में आते हैं जबकि वे देखते हैं कि अब दवाओं से इसका निदान असंभव है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यदि दवाओं के साथ योग का समन्वय किया जाय तो यह मधुमेह के निदान में एक शक्तिशाली क्रिया होगी।" (पृ. ६३) मधुमेह के लिए योगोपचार पद्धति के अंतर्गत ध्यान, हठयोग प्रक्रिया, आसन, प्राणायाम आदि का वर्णन है। ' हाइपरग्लायसेमिया ' और ' हाइपोग्लाइसेमिया ' का लक्षणों सहित विवेचन भी सामान्य जन के लिए ज्ञान वर्धक है। रोगी के दैनिक कार्यक्रम के अंतर्गत चार सप्ताह के एक कार्यक्रम का आकलन स्पष्टत: रोग मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों का मार्गदर्शन कर सकता है।

पुस्तक के अंत में अभ्यास खण्ड और परिशिष्ट जोड़ कर विषय को नितांत व्यवहारिक तथा अधिक उपादेय बनाने का प्रयास निश्चय ही सराहनीय है। अभ्यास के अंतर्गत षडक्रियाओं तथा आसन, योगनिद्रा ध्यान आदि पध्दतियों का सचित्र रोचक वर्णन है और परिशिष्ट के अंतर्गत शरीर के आंतरिक अंगों, अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा चक्रों आदि के सचित्र सकेत पटल सहित वर्णन किए गए हैं। मेडिकल शब्दावली पर दी गई टिप्पणियाँ भी उपयोगी हैं।

योग विशेषज्ञ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के साथ सहयोगी लेखक स्वामी शंकर देवानन्द सरस्वती (एम. बी. बी. एस्. पदवी प्राप्त) जैसे आधुनिक चिकित्सा विशेषज्ञ का यह सम्मिलित प्रयास एक महत्वपूर्ण बात है। योग साहित्य का यह आयाम समाजोपयोगी सिद्ध होगा और साथ ही चिकित्सा के अन्य क्षेत्रों में भी सहयोगी अनुसंधान करने की प्रेरणा प्रदान करेगा।

– अर्जुनदास बातरा

दर्शन विभाग
हडपसर महाविद्यालय
पुणे – २८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

योग-तरी तीरे-तीरे
ले. - स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
प्रकाशक - बिहार योग विद्यालय, मुंगेर
पृष्ठ संख्या - १८५ ; मूल्य रु. ३०=००

प्रस्तुत पुस्तक 'बिहार योग विद्यालय, मुंगेर' के संस्थापक स्वामी सत्यानन्दजी सरस्वती के सन १९६८ में विश्व भ्रमण करते समय विभिन्न देशों में दिए गए योग संबंधी व्याख्यानों का संकलन है। मूलतः यह संकलन अंग्रेजी में, "Yoga: Shore to Shore" नाम से सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ; जिससे सन् १९७६ में श्री मोहनलाल अवस्थी के द्वारा अनुवादित करके उक्त नाम से हिन्दी में प्रकाशित किया गया है।

योग के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से किए गए विश्व भ्रमण के समय स्वामीजी ने सिंगापूर, हाँगकाँग, आस्ट्रेलिया, जापान, अमेरिका, इंग्लेंड, फ्रांस आदि अनेक देशों कि यात्रा की और इन देशों के अनेक स्थानों पर, योग के विभिन्न पक्षों को लेकर व्याख्यान दिए, रेडियो-टेलीविजन पर कार्यक्रम प्रस्तुत किए; प्रेस सम्मेलनों में प्रश्नों के उत्तर दिए और विभिन्न स्थानों पर योग-प्रशिक्षण कक्षाओं तथा शिविरों में अभ्यासुओं का प्रायोगिक मार्गदर्शन किया। इन्हीं विभिन्न कार्यक्रमों के व्याख्यानों एवं प्रश्नोत्तरों का एक सुंदर संग्रह है, - "योग-तरी तीरे-तीरे"।

संपूर्ण संकलन ३२ शीर्षकों में विभाजित किया गया है। ये शीर्षक हैं - योग क्या है ?, कर्मयोग; सजगता और कर्मयोग; योग की विश्व व्यापकता; आत्म साक्षात्कार और आधुनिक जीवन; योग-नव युग का राजमार्ग; योग-चिद्विलास की एक प्रक्रिया; योग तथा शिथिलीकरण; आध्यात्मिक क्रांति; अंतर्मुखी प्रतिभा का विकास, ध्यान योग, योग; योग और पश्चिम के लोग; एकाग्रता और ध्यान; ध्यान; ध्यान की बाधाएँ; राजयोग, लययोग, मंत्रयोग, क्रिया योग; कुंडलिनी योग; ध्यान द्वारा आमूल परिवर्तन, योग निद्रा और त्राटक, अंतमौन, अंतमौन का अभ्यास; ध्यान का अभ्यास, अजपा जप की उच्च साधना; सहज ध्यान; अंतमौन संबंधी कुछ अन्य सुझाव; सुलभ, सरल-शांतिदायक योग और योग तरी तीरे-तीरे (स्वामीजी के विश्व भ्रमण का प्रतिवेदन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन शीर्षकों के अवलोकन से ही पुस्तक के विषय-योग–के विविध पहलुओं का सहज ही अनुमान हो सकता है। योग के विभिन्न आयामों का यह सारा विवेचन व्याख्यानों के माध्यम से ही प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि योग जैसे गहन विवेचन के लिए सार्वजनिक व्याख्यान पद्धति कोई विशेष उपयुक्त पद्धति नहीं कही जा सकती किंतु फिर भी व्याख्याता यदि अनुभवी और अपने विषय का सुलझा हुआ ज्ञाता हो तो किसी भी विषय को हृदयंगम करने में सफल हो सकता है। ये व्याख्यान इस बात के प्रमाण हैं। यह पुस्तक विषय-विवेचन की आधिकारिकता और शैली की रोचकता को अच्छे ढ़ंग से प्रतिपादित करती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण स्वामीजी ने इन व्याख्यानों में प्रसंगानुकूल, आसन, प्राणायाम, ध्यान, क्रिया, मंत्र, लय, कुंडलिनी, त्राटक, योगनिद्रा, अजपाजप, शिथिलीकरण आदि योग के महत्वपूर्ण घटकों का एक सुलझा हुआ विवेचन प्रस्तुत किया है जो एक सामान्य पाठक को योग की ओर उन्मुख करने, एक जिज्ञासु को योगन्साधना में प्रवृत्त करने और योग- साधक को योग निष्ठा बनाए रखने की क्षमता रखता है।

स्वामीजी की दृष्टि में योग 'चेतना का विज्ञान है' (पृ. ५) यह 'वैचारिक चेतन के पूर्ण विश्राम की प्रक्रिया है' (पृ. २१) 'योग नव युग का राजमार्ग है जिस का उद्देश्य मन को शांत करना और मानसिक सजगता विकसित (पृ. ३३) करना ही नहीं बल्कि अपरिमित आनन्द की प्राप्ति करना है। योग एक सर्वसुलभ सार्वजनिक और सार्वकालिक विज्ञान है, वह धर्म नहीं है। परन्तु धर्म का विरोधी (पृ. ४८) नहीं है। स्वामी जी ने अपने इन व्याख्यानों में योग संबंधी अनेक शंकाओं और गलत धारणाओं का निराकरण भी किया है। उदाहरण के लिए एक प्रसंग में स्वामी जी कहते हैं, " किंतु लोगों का यह आम विश्वास है कि क्रिया योग में बहुत कुछ गोपनीय है, जो गुरुओं तक ही सीमित रहता है तथा हर कोई क्रिया योग के लिए योग्य नहीं होता। यह केवल एक गलत धारणा है। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि क्रियायोग का अभ्यास उन गृहस्थों के लिए नहीं है जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते – – – – मेरा यह विश्वास है कि ब्रह्मचर्य का यौन प्रसंग से कोई संबंध नहीं होता। ब्रह्मचर्य का मस्तिष्क में, न कि जननेंद्रिय में शक्ति के संरक्षण से संबंध होता है। – – – – – इसलिए यौन प्रसंग उतने महत्व का नहीं है जितने मस्तिष्क में उठने वाले तद्विषयक विचार।" (पृ. ११२) स्वामीजी के विचार युवा पिढ़ी के लिए मार्गदर्शक और परम्परा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादियों के लिए एक आव्हान हो सकते हैं। भारत की इस अति प्राचीन योग-विद्या को स्वामीजी ने जीवन जीने के विज्ञान के रूप में प्रतिपादित किया है। सामान्यत: योग जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक उपादेय मानी जा सकती है। लिंग भेद जैसी एकाध व्याकरणिक त्रुटि को नजरंदाज कर दिया जाय तो अनुवादक का परिश्रम भी सराहनीय है। भाषा को सहज रूप प्रदान करने में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है।

दर्शन विभाग
हडपसर महाविद्यालय
पुणे - २८.

– **अर्जुनदास बातरा**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) : खण्ड ३ के योगदाता

अंक १ : दिसम्बर, १९८१

विभूतिसिंह यादव	टेम्पल विश्वविद्यालय, कॉलेज ऑफ लिबरल आर्टस्, डिपार्टमेन्ट ऑफ रिलिजन, फिलाडेल्फिया, पेन्सिलवानिया (यू. एस्. ए.)
सुधाकर दीक्षित	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
हिरेन्द्रप्रसाद साह	शोध छात्र, दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर.
नन्दकिशोर आचार्य	सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर (राज.)
नारायणशास्त्री द्राविड	दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)
मोहनलाल मेहता	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महाराष्ट्र)

अंक २ : मार्च, १९८२

छाया राय	वरिष्ठ व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग केलाबार विश्वविद्यालय, केलाबार, नाइजीरिया
उर्मिला चतुर्वेदी	दर्शन विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
रेनू खन्ना	मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय तकनीकी संस्थान, कानपुर
सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी (उ. प्रदेश)
गोरखनाथ मिश्र	दर्शन विभाग, धेम्पे महाविद्यालय, पणजी (गोवा)
अशोक भाटिया	१८, गोविन्द नगर, अम्बाला छावनी
यशदेव शल्य	पी–११, मधुवन पश्चिम, टोंक फाटक, जयपुर (राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारायणशास्त्री द्राविड	दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)
जगदीश शर्मा	हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर (राजस्थान)

अंक ३ : जून, १९८२

माया दास	दर्शन विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प. बंगाल)
नारायणशास्त्री द्राविड	दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)
संजीवन प्रसाद	दर्शन विभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय, नालन्दा (बिहार)
कैलासपती मिश्र	दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्रदेश)
रामजी सिंह	दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)
विजयकुमार सिन्हा	१४३, अनुग्रह पुरी कोलोनी, गया (बिहार)
मो प्र मराठे	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महाराष्ट्र)
प्रेम मिश्र	अजित भवन, राइका बाग, जोधपुर

अंक ४ : सितंबर १९८२

राममूर्ति त्रिपाठी	हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र)
जगदीश शर्मा	हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय. जोधपुर (राजस्थान)
हृदयनारायण मिश्र	दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)
के. एल. शर्मा	दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
जगत पाल	दर्शन विभाग, उत्तर-पूर्वीय-पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
राजदेव दुबे	दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.)
नारायणशास्त्री द्राविड	दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (संस्था)

३) प्राचार्य,
प्रताप महाविद्यालय
अमलनेर, जि. जलगांव

४) प्राचार्य,
अहमदनगर महाविद्यालय
अहमदनगर

५) प्राचार्य,
संगमनेर नगरपालिका कला,
डी. जे. मालपाणी वाणिज्य एवं
बी. एन्. सारडा विज्ञान महाविद्यालय
संगमनेर, जिला– अहमदनगर

६) प्राचार्य
स. प. महाविद्यालय
पुणे– ४११ ०३०

७) प्राचार्य,
न्यू आर्टस्, साइन्स और कॉमर्स कॉलेज
अहमदनगर

८) प्राचार्य,
नौरोसजी वाडिया महाविद्यालय
पुणे– ४११ ००१

९) प्राचार्य,
चं. ह. चौधरी कला और शं. गो. पटेल
वाणिज्य महाविद्यालय, तळोदे,
जिला–धुलिया (महाराष्ट्र)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

(३०) डॉ. सुरजीतकौर खालसा
दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे– ४११ ००७

(३१) श्रीमती समिता सु. टिल्लू.
गावडे कॉलोनी, जीवननगर
धोका बिल्डिंग, चिंचवड– ४११ ०३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी । लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो । लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा । जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा ।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: बिशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा । यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों । प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा ।



पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

चन्दे से प्राप्त संख्या 53
प्राप्ति दिनांक 30-12-82

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ४ अंक १
दिसम्बर १९८२

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त सिनारी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा जैन संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के. जे. शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानंद मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फाईस ❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

❋ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूह और शक्ति

समूह

हम इतना अधिक किसी से नहीं डरते जितना कि अनजाने व्यक्ति के स्पर्श से। अँधेरे में अगर हमें कोई अचानक अप्रत्याशित ही छू ले तो हम सिहर या चीख उठते हैं। कपड़ों से भी कोई खास बचाव नहीं होता। यह बहुत आसान है कि कोई उन्हें फाड़ दे और हमारे नंगे, चिकने अरक्षित शिकार के जैसे माँस में कुछ भी चुभा दे। प्राचीन युगों में कवच पहने रहने पर भी लोग तीर-तलवार से मारे जाते थे न !

इसी डर से हम अपने चारों ओर एक फासला बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे घर में, जिसमें कोई हमारे अनजाने में ही घुस न सके, हम जानोमाल की थोड़ी ज़्यादा हिफाज़त महसूस करते हैं। चोरों से हमें सिर्फ अपने लुटने का डर ही नहीं होता बल्कि यह भी कि अँधेरे में अचानक से कहीं हम पर "हावी" न हो जायें।

हर जगह जहाँ तक हो सके हम दूसरों की छुअन या स्पर्श से बचने की कोशिश किया करते हैं।... यह बात दूसरी है कि हम यदि किसी के प्रति आकृष्ट हों तो उसे स्वयं ही छूना चाहें। तब तो हम अपने व्यक्तित्व को ही विस्तृत करते हैं, संस्पर्श द्वारा।

किन्तु अनजाने में ही हमें कोई छू ले और फिर वह माफी न माँगे तो उसके प्रति मन में एक तरह की हिंसात्मक प्रतिक्रिया होती है। लगता है जैसे कोई हमारे निजी व्यक्तित्व की सीमा में जबर्दस्ती घुस आया है यहाँ तक कि नींद में, जबकि हम उतने सावधान नहीं रह पाते जितने कि जगे रहने पर, हमें किसी का भी स्पर्श विक्षुब्ध कर सकता है।

सिर्फ समूह या भीड़ में ही हमें अचानक छुअन के इस डर से छुटकारा मिलता है। खासतौर से ऐसी घनी भीड़ में, जहाँ एक शरीर दूसरी देह से सटे बिना आगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही न बढ़ सके । तब हमें यह खयाल नहीं रहता कि कहाँ, किसका, कौन-से देहांश पर कितना दबाव पड़ रहा है । क्योंकि भीड़ की मनोरचना एवं मनःस्थिति बहुत ही घनी और ठोस होती है । ज्यों ही हम भीड़ को समर्पित हुए कि हमने अपना स्पर्श-भय खोया; भीड़ में सभी बराबर होते हैं, उसमें कोई भेद-भाव नहीं बरता जा सकता । भीड़ में तो नर-नारी का भेद भी नहीं चल पाता, नर-नारी सभी 'एक गात्र' हो जाते हों जैसे । तब आदमी अपने को अपनी ही तरह महसूसता है, मानो सब कुछ किसी एक ही शरीर में हो रहा है । शायद यही एक वजह ऐसी है कि भीड़ अपने आप में ही सिमटती चली जाती है और वह हर शख्स को स्पर्श-भय से एकदम मुक्त कर देना चाहती है । लोग जितना ज्यादा एक-दूसरे पर दबाव महसूसते हैं उतने ही ज़्यादा वे आपसी भय से मुक्त हो जाते हैं । भीड़ को जहाँ सबसे ज्यादा पायें वही सबसे ज़्यादा आराम-सा होता है, किसी का डर नहीं रहता ।

भीड़ या समूह कहीं भी खुली या बंद जगह पर इकट्ठी हो सकती है चाहे इसकी शुरूआत ५-१० आदमियों से ही हुई हो । यह स्वतः जुटती और टूटती है। शुरूआत होते ही भीड़ की इच्छा यही होती है कि वह बढ़ती ही जाये । यही इसका पहला और सर्वोच्च गुण है । सहज भीड़ वही होती है जो अपने को और बढ़ने से कभी न रोके । किसी भी दिशा में, किसी भी जगह वह बढ़ती रहना ही चाहती है । भीड़ की बढ़वार रुकते ही वह जल्दी ही खत्म हो जाती है ।

वस्तुतः खुली भीड़ जितनी जल्दी जमती है उतनी ही जल्दी टूटती भी है। यह अपनी स्वतः-स्फूर्तता में बहुत ही भाव-प्रवण होती है । जरा-सा भी कुछ हुआ कि यह तुरंत बिखर जाती है, तितर-बितर हो लेती है क्योंकि वह सबको अपने में बहुत जल्दी समा लेती है । लेकिन बंद भीड़ अपनी बढ़वार रोककर ज्यादातर तो मुकम्मिल ही रहना चाहती है । यह अपनी हदबंदी करते ही अपने को मिली सारी जगह प्रायः भर डालती है । इसमें शामिल होने के प्रवेश-द्वार भी सुनिश्चित से होते हैं, इसकी हदबंदी भी पुख्ता होती है; इसमें अंदर होने की फीस भी लगती है । जगह भर जाने पर फिर किसी और को नहीं घुसने दिया जाता । बाहर चाहे कितने भी शख्स क्यों न खड़े हों, वे अंदर की भीड़ का हिस्सा नहीं बन पाते ।

भीड़ की हदबंदी का मतलब ही यही होता है कि उसकी अपनी अव्यवस्थित बढ़वार पर रोक लगी रहे । लेकिन भीड़ का बिखराना या मिटना भी आसान नहीं रह जाता । इस तरह भीड़ की शक्ति केंद्रित हो जाती है । इस पर बाहरी खतरनाक और विरोधी असर नहीं पड़ते । यह बिखरती भी है तो इस उम्मीद से कि जल्दी ही फिर जुटेगी या जमेगी । इसी से बंद भीड़ के लोग झट से जुटते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जमते हैं। बिल्डिंग भी उनका इन्तजार करती है। वह इसीलिए बनी होती है, लोग उसमें पहले की तरह ही इकट्ठे हो सकते हैं। खाली होने पर भी लोगों को भरी बिल्डिंग की याद आती रहती है।

भीड़ के समय का सर्वश्रेष्ठ क्षण वह होता है जबकि लोग एकात्म हों और वे अपने भेदभाव भूल कर एक जैसे हो जायें। वास्तव में, भेद-भाव तो सब बाहरी होता है, चाहे वह श्रेणी का हो, या पद-मर्यादा का, अथवा जमीन-जायदाद का या धन-संपत्ति का। व्यक्ति के नाते आदमी इन्हें कभी नहीं भूल पाता। ये उसे परस्पर अलग रखते हैं। अगर कोई सुरक्षित और सुपरिसीमित जगह पर खड़ा हो तो वह अपने अधिकार की दशा अपने प्रत्येक इंगित से दूसरों को दूर रखकर ही करना चाहता है। वह किसी के प्रति एकदम उदार और मुक्त चेष्टाएँ कभी नहीं कर पाता। सब जगह वह उच्च-नीच, प्रवर-अवर, छोटे-बड़े का भेद बनाये रहता है। यह भेद बहुत ही मुश्किल से, शायद कभी नहीं, मिट पाता। विभिन्न सामानों में ये फासले विभिन्न तरीकों से आपस में एक तरह का सन्तुलन सा कायम करते रहते हैं। कहीं जन्म से, तो कहीं पेशे और कहीं संपत्ति से, भेदभाव पर ही जोर दिया जाता है।

जाहिर है कि लोग भीड़ में एक-जुट होकर ही अपने सारे भेदभावों का वजन हलका कर सकते हैं। भीड़ में यही बात असानी से हो जाती है। वहाँ सब लोग अपनी खासियतें भूलकर यकसाँ महसूस कर पाते हैं। शायद इसीलिए लोग अक्सर भीड़ लगाना पसंद करते है। पर इसमें उन्हें एक भ्रान्ति भी होती है। वस्तुतः तो वे कभी एकात्म नहीं हो जाते। न वे हमेशा यकसाँ महसूस करते हैं। अपने-अपने घर आकर, अपने-अपने बिस्तरे पर पड़ते ही उन्हें अपनी सारी खासियतें याद आ जाती हैं। वे अपने विशेष नाते-रिश्ते छोड़कर अपने कुनबों से अलग नहीं हो जाते। सच्चा परिवर्तन तो वही होता है जो पुराने संबंध मिटाकर नयी-नयी संगतियाँ बैठा दें। कुछ संस्थाएँ तो इसलिए अपनी सदस्यता के नियम भी बड़े कठोर बना डालती हैं। फिर भी वे पूरी तरह से नियम और अपने उद्देश्य पूरे नहीं कर पातीं। भेदभाव नये रूपों में उभर आते हैं।

भीड़ का और भी एक विशेष गुण है– उसकी ध्वंस-कारिता। ऐसा क्यों है, इसकी कोई व्याख्या नहीं कर सकता ...भीड़, खासतौर से, चीजें और गृह-वाहन आदि तोड़ती-फोड़ती है। तोड़-फोड़ की आवाज से उसे सकून मिलता है। शायद उसे ऐसा लगता है तोड़-फोड़ की आवाज से, कि कुछ नया जनम रहा हो! भीड़ छोटी हो तब तो यह बहुत ही जल्दी और आसानी से हो जाता है; अच्छी से अच्छी मूर्तियाँ इसी तरह टूटती हैं। ईसाइयों ने यूनानी और मुसलमानों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदुओं के देवी-देवताओं के हाथ-पैर तोड़े... लेकिन इससे पहले मुसलमान तो अपने सारे अपने कबीलों के बुत भी खत्म कर चुके थे...क्रांतिकारियों ने संतों की प्रतिमाएँ पहाड़ों के ऊपर से ढ़ाल-ढ़ालकर तोड़ीं फिर भी पूरी तरह नहीं टूटीं...

अपनी ध्वंसात्मक कार्यवाहियों से भीड़ यह जता देती है कि वह कोई ऊँच-नीच की परम्परा नहीं मानती। वह इसी तरह पहले से चले आये और जाने-माने भेदभाव मिटाती, और अपने को स्थापित भी करती है। सारी सीमाएँ मिटाकर वह सबको अपने में एक होने के लिए उकसाती है। भीड़ में व्यक्ति यह भी समझता है कि वह अपने व्यक्तित्व की भी हदबन्दी लांघ रहा है। भीड़ में वह फिर अपने आपमें बन्द नहीं रह पाता। भीड़ इस तरह हमें अपने-अपने संकुचित व्यक्तित्वों की काराओं से भी मुक्त करती रहती है।

भीड़ की हर इकाई यही चाहती है कि इस क्षण जो मुझे महसूस हो रहा है वही दूसरों को भी हो। भीड़ का हर व्यक्ति अपने जाने-अनजाने ही सारे भेदभाव या फरक मिटाकर मुक्ति का मज़ा सबको मुहैया करा देना चाहता है।

भीड़ द्वारा आग लगाना सबसे ज्यादा ध्वंसकारी होता है। वह दूर से ही देखा जा सकता है, तथा और भी ज्यादा भीड़ तुरन्त इकट्ठी करता है। आग में जला तो फिर किसी काम का नहीं रहता। और इस परम ध्वंस के बाद तो न आग रहती है, न भीड़, दोनों ही गायब-से हो जाते हैं।

बन्द भीड़ जब खुली भीड़ बनती है तो वह और भी ज्यादा लोगों को खींच लाती है। असन्तोष तब और भी अधिक व्यापक हो उठता है, सारे लोगों का निश्चय और भी ज्यादा पक्का हो जाता है। क्रान्तियाँ इसी तरह के विस्फोटों की संवाहिका होती हैं। क्रान्ति के दौरान सारी परम्पराएँ अपनी मर्यादाएँ खो देती हैं.. भीड़ को तब कोरे वायदे और नारे नहीं भरमाते, नहीं लुभा पाते। सारे छोटे युद्ध या महायुद्ध भी तो भीड़ें ही लड़ती हैं। वे अपनी पार्श्व-शक्ति और बल को इसी तरह महसूस करके अपनी स्थूल कार्यकारिता की या मूर्त प्रभावों की आज़माइशें किया करती हैं।

भीड़ कभी यह नहीं महसूसती कि बस अब और ज्यादा होने या बढ़ने की जरूरत नहीं। अगर कोई भीड़ बढ़ती ही नहीं जाती तो समझ लें कि वह "उपवास" कर रही है। याद रहे कि उपवास या अनशन करते रहने पर भी लोग काफी वक्त तक जीते रह सकते हैं। धार्मिक सम्प्रदायों ने उन्हें इसमें माहिर बना दिया है.. धर्मांधों की भीड़ न बढ़ने पर भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। धार्मिक सम्प्रदाय धीरे-धीरे ठोस, स्थायी, संस्थानी सम्प्रदाय या संगठित समुदाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन जाते हैं। शत्रुओं के मुकाबले उन्हें अपनी विविध संस्थाएँ खड़ी करनी पड़ती हैं जो कि समय के साथ बहुत जोर पकड़ लेती हैं। धीरे-धीरे धर्मों की मूल अन्तःप्रेरणाएँ लुप्त हो जाती हैं। सिर्फ उनकी लाशें ही पूजती रहती हैं। जिन धार्मिक संस्थाओं पर राजकीय रोक लगायी जाती है वे अपना रूप बदल कर फिर सामने आ जाती हैं, सामाजिक सेवा-प्रतिष्ठानों की तरह और फिर से उनकी कार्यवाहियों की रोक-थाम करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। धार्मिक स्थानों पर जुटी भीड़ों में धीरे-धीरे एकता की भावात्मक घुट्टी पीते-पीते इतना बल आ जाता है कि उनका ऐक्य-भाव सहज ही नष्ट नहीं होता।

आशंका-जनित घबड़ाहट यों ही लगी हुई भीड़ को तितर-बितर करने में बहुत कारगर होती है, जैसा कि आग लगने पर बन्द भीड़ों में होता है। हर भीड़ पहले तो उस खतरे से लड़ने की चेष्टा करती है लेकिन यदि वह अपनी हार होती देखती है तो हर शख्स भीड़ की एकता का भाव खो कर अपनी इकाई (व्यक्तित्व) बचाने की कोशिश में दूसरी इकाइयों की प्राण-हानि की परवाह नहीं करता। आप ही भीड़ का विचित्र प्रतीक है, ऐसा कि भीड़ से अलग भाग कर अपनी जान बचाने वाले लोग दूसरों को कुचलने-रौंदने से भी नहीं हिचकिचाते, मानों वह एक तरह आग को ही कुचल रहे हों .. क्योंकि तब अपना भीड़ लगाना उन्हें अपनी जानलेवा गलती-सा प्रतीत होता है!...

अखाड़ों के चारों ओर जुटी चक्राकार खड़ी या बैठी भीड़ एकदम अलग तरह की होती है। वह बाहरी दुनिया और अपने आपके लिए एक तरह की संकुचित बन्द भीड़ होती है; अगर अखाड़ा खाली हो तो भी, यह भीड़ अपनी एकात्मता हाल ही नहीं खोती।

भीड़ों की किस्में और भी बहुत-सी हैं, जैसे: अपनी गति से बढ़ती भीड़, रुकती और भागती भीड़, वापसी की भीड़, लक्ष्य की ओर रेंगती भीड़, अदृश्य भीड़ (कब्रगाहों में, विशेषतः), तरह-तरह की भावनाओं पर जमी भीड़ें, नुमाइशों में लुभाती और हवाई जहाजों में उड़ती भीड़ें, विरोधी और प्रतिबन्धी भीड़ें (हड़तालों व घटनाओं में विशेषतः), दावत का मजा लेती भीड़ें, नर-नारियों के आधार पर विभाजित भीड़ें, जिन्दा लोगों और मुर्दों की भीड़ें, दुहरी भीड़ें (युद्ध-क्षेत्रों में) इनके केन्द्रीय तबके भी अलग होते हैं, प्रतीक भी अलाहदा रहते हैं और तदनुसार ही शक्ति एवं सामर्थ्य भी। भीड़ और झुण्डों में बहुत भेद होती है, जैसे दलों, वर्गों और जत्थों एवं टुकड़ियों में होता है। कबीलों के झुण्ड तो मशहूर हैं ही, उनके लिए वन-पर्वत ही "सामूहिक प्रतीक" बन जाते हैं!...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति

शक्ति हथिया ने और उसे कायम करने की समूची मानसिकता का अभी अच्छा और गहरा अध्ययन नहीं किया गया। मानव-समाज में इसके जैसी आदिम वस्तु दूसरी ढूंढे नहीं मिलेगी। इससे हम जानवरों की तरह बरतते हैं लेकिन इसकी ओर कभी ठीक ध्यान नहीं देते।

शक्ति का नंगा नाच या खेल हमें शिकार और शिकारी– जानवरों और आदमियों, दोनों में ही दीख पड़ता है। इसमें फरक इतना ही होता है कि आदमी जानवरों से ज्यादा धोखाधड़ी और चालाकी इस्तेमाल कर सकता है। वह खतरों और जोखिमों से अधिक सावधान हो पाता है। वह औजारों व हथियारों से अपनी शक्ति बहुत बढ़ा सकता है। उसकी पकड़ और पहुँच भी बहुत ज्यादा या व्यापक होती है– समय और स्थान– दोनों दृष्टियों से।

हाथ हमारी जैवस्तरीय शक्ति का सर्वप्रथम प्रतीक है, शक्ति के उपयोग का साधन है। वे गौर करें इन मुहावरों पर : "हाथ की बात है, या नहीं", "हाथ में नहीं, या है", "हाथ लगना", "हाथ का चक्का", "हाथों हाथ", "रंगे हाथ, लगे हाथ", "हाथ उठाना", "हाथ के नीचे या हाथतले आना", "हाथ जोड़ना", "हाथ मारना या खाली जाना", "हाथ आना", "हाथ खींचना", "हाथ चलाना", "हाथ छोड़ना, –छूटना, –डालना," "–पकड़ना", "हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना", "हाथ साफ करना", "हाथों-हाथ लेना"... । ऐसे मुहावरे सभी मानवीय भाषाओं में मिलते हैं जो हाथ को शक्ति के प्रयोग-प्रतीक रूप में पेश करते हैं। ('हाथ' की जगह आप चाहे तो 'पंजा' भी रख सकते है...लेकिन किसी के पंजे में न पड़िएगा।)

जर्मन और अँग्रेजी के हैंड (हांट) "हैंडल" आदि भी इस संदर्भ में अध्येय हैं। संस्कृत के हस्त, कर, और "हस्ती" और उससे बननेवाले अनेक सामासिक और योगिक रूप भी...

आदमी के हाथ की अँगुलियों और अँगूठा में जबसे अलगाव या प्रतिपक्ष आया तभी से उसकी शक्ति की पकड़ और सीमा बेहद बढ़ गयीं। हमारे हाथ अपने दबाव और दूसरी कारिस्तानियों से क्या नहीं कर सकते ?... जानवरों के पंजे, दाँत, नाखून हमारे हाथों के सामने मात खाते हैं, पानी भरते हैं। हमारे हाथों का ही यह करिश्मा है कि औजार-हथियार बने, शिल्प एवं कला-संस्कृति, सभ्यता, तकनीकी तरक्की–सभी कुछ संभव हुए हैं– मूर्त, इंद्रियगम्य, एवं ठोस तरीकों और रूपों में नहीं तो वे सब खयाली पुलाव ही बने रह जाते...हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथों की सारी करामातें तो सचमुच वर्णनातीत हैं (इंका या इंदिरा जी ने हाथ का प्रतीक यों ही नहीं चुन लिया साहब !)

हाथों की शुरूआत वानस्पतिक जीवन से मानी जाती है। हाथों से शक्ति का ग्रहण और त्याग आसानी से संध जाते हैं। और वह भी एक साथ छोड़ने की क्रियाओं से। नर-वानर इसीसे प्राणि-जगत् के विशिष्ट जीव हैं। हमारे हाथों की हिंसात्मक और ध्वंसात्मक शक्ति की अपेक्षा इनकी शक्ति के रचनात्मक, सर्जनात्मक, निर्माणात्मक, संयोजनात्मक प्रयोग परीक्षण अनन्त होते हैं। कहाँ तक गिनाये कोई ? हमारे हाथों की सबसे बड़ी शक्ति तो इससे धैर्यपूर्वक काम करते रहने में व्यक्त होती है; देश-काल की सीमाओं को यह भी अनायास ही लाँघ जाती है।

अपने हाथों को धीरज सिखाना सचमुच टेढ़ी खीर होती है। अपनी अंगुलियों से, स्पर्श से, तो हमें सचमुच कमाल कर दिखाते हैं, नर-नारी की तो बात ही क्या, वंदरों के और बनमानुषों के जीवन में भी यही देखा, समझा जा सकता है।

यदि हमारे हाथ और उनसे बने औजार, हथियार, मशीनें आदि चीजें न होतीं तो हमारी सभ्यता में बर्तन, बास्केट, गहने, आवास, वस्त्र कलाकृतियाँ, दवाएँ आदि कुछ भी न होतीं। हाथों की भी मानों अपनी एक जिन्दगी है, अपनी दुनिया है, जिसके करिश्में एवं परिवर्तन सभी कुछ अपने हैं। भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में शब्द और संकेत का साथ तो बहुत पहले से चला आ रहा है। हाथ और चेहरा भी भावाभिव्यक्ति में एक दूसरे के सहायक या पूरक बन जाते हैं– शायद कुछ चीजें नष्ट भी करते हैं ! नर और वानर दोनों की ही हाथ और अंगुलियों का "व्यायाम" होता है। इसीलिए कभी-कभी तो अनचाहें ही हमारे हाथ बहुत-कुछ तोड़ फोड़ डालते हैं ! संसार-भर की सारी तकनीकें भी एक तरह से 'हाथों के मशीनीपन' का विकास हैं, जिन्हें उत्पादन और ध्वंस में समानतया लगाया या बरता जा सकता है।

मारनेवाले हाथों के प्रति भी आदर-सत्कार का प्रदर्शन भी मानव–समाज की एक विचित्रता है ! शक्ति उन्हीं के पास संचित होती है जो प्रायः मारने–काटने में लगे रहते हैं...जो लोग धीरज के साथ अपने दोनों हाथों से सिर्फ काम करते हैं वे तो हमेशा अनुयायी या दास ही बने रहते हैं।

शक्ति और दुरुस्त हाजमे में भी सीधा संबंध है। जो खाकर, अपनाकर हजम या आत्मसात् किया जाता है वह अवश्य ही हमारी शक्ति बढ़ाता है। इसीलिए जो लोग साथ-साथ एक जगह बैठकर खाने में हिस्सा बँटाते है वे एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह की गुट-शक्ति का भी अनुभव करते है। परिवारों में माँ की शक्ति इसीसे "अन्नपूर्णा" जैसी होती है। भरे पेट वाले लोग तो भूखों को कुचलते चले जाने में भी दुविधा नहीं करते। इस तरह "प्रीतिभोज" "शक्तिभोज" बन जाते हैं।

शक्ति के क्षणों का अनुभव बचे रहने या बच जाने में सबसे तीव्र होता है। मृत्यु का संत्रास संतोष बन जाता है, यह देखकर कि हम नहीं, कोई दूसरा ही मरा है। मृत व्यक्ति प्रायः ज़मीन या बिस्तरे पर पड़ा होता है जब कि बचा हुआ व्यक्ति जीता-जागता खड़ा होता है, मानों मरे और बचे हुए में से एक ने दूसरे को हराकर गिरा दिया हो...मानव की अमर होने की अभिलाषा में भी यही भाव उसके अनजाने को छिपा है। बचे हुए को बहुत-से मरे हुए लोगों का पता होता है, जीवित रहकर वह अपने को "खुश–किस्मत" समझता है। युद्धस्थल पर तो यह सर्वाधिक तीव्रता से महसूस होता है पर जीवन–संग्राम में भी प्रायः यही होता रहता है। बचे हुए लोग अपने को प्रायः ज्यादा अच्छा समझते है। "व्यक्ति का बचा रहना" जैसी बात इसीलिए कही जाती है।

आदमी का शरीर नंगा और विजेय होता है। हर वक्त सावधानी और चतुराई बरतने से ही वह अपनी रक्षा कर पाता है। किसी भी नायक या नेता की स्थिति तो प्रायः यही होती है। वह बचा रहकर ही गौरवशाली बनता है। गौरव माने, विजय और अधिकार। इसी से जिजीविषा भी तो मानव–मात्र की शक्ति–प्राप्ति की एक अभिलाषा ही है। चिंगिसखान, सिकंदर, सीजर, आदि तभी तक नायक माने गये जब तक वे युद्ध जीतते रहे और खुद बचे रहे। हारने या मरने पर नायक या नेता की मिट्टी खराब हो जाती है।

शासक गण अपने शासितों के बाद भी, बचे रहना चाहते हैं। उन्हें दूसरे बचे हुओं से आंतरिक घृणा है। अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब बाप बेटे हो कर भी इसी कारण एक दूसरे के दुश्मन बन गये थे क्योंकि ये शहंशाह अपने युवराज बेटों को जल्दी ही राजगद्दी नहीं सौंपना चाहते थे।

बचे रहने की भी बहुत-सी किस्में हैं। जैसे, करोड़ों शुक्राणुओं में कोई एक ही एक डिम्ब को बेधता है और तब एक मानव व्यक्ति माँ के गर्भ में अपना "अस्तित्व" बना पाता है। लाखों सैनिक मरते हैं लेकिन सेनापति अधिकतर बचे ही रहते हैं। उन्हीं की जीत या हार कही जाती है। युवजन वृद्धों की अपेक्षा अधिक संख्या में बचते हैं। यही स्वाभाविक माना जाता है कि बेटा-बेटी बचे रहें माँ–बाप मर जायें। समवयस्कों में तो बचने की होड़-सी लगी रहती है। लेकिन कितने ही समाजों में वृद्धों का इसीलिए अधिक सन्मान होता है कि वे एक लंबी अवधि तक बचे रहते हैं! दीर्घ-जीवन पाने की इच्छा का मतलब भी यही होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि हम अपने समकालीनों की अपेक्षा ज्यादा जिंदा रहना चाहते हैं ताकि शक्ति और अधिकारों का यथेच्छ एवं अधिकाधिक उपयोग कर सकें...हर पीढ़ी में कोई एक व्यक्ति ही हमेशा ऐसा होता है जो दूसरों की बनिस्बत अधिक बचा हुआ (जीवित) रहता है। बहुत-से-कबीले तो अपनी आदि-उत्पत्ति भी उसी व्यक्ति या नर-मादी के जोड़े से मानते हैं, जो हमेशा ही बचा रहता है, चाहे जैसी विपत्ति क्यों न आ जाये, वह मरता नहीं जान पड़ता। "शतं जीवेम, प्रब्रवाम शरदः शतं" वैदिक मंत्र भी आता है।

शक्ति की अपेक्षा बल या ज़ोर अधिक निकट से काम करता लगता है। बल भी समय पाकर शक्ति में परिणत हो लेता है। शक्ति समय एवं स्थान में विस्तारित होती है। जो भगवान् में विश्वास करते हैं वे भी यह चाहते हैं कि उन्हें दिव्य शक्ति का तीव्र अनुभव हो, चाहे वह कोई आदेश हो या फल, अथवा किसी मुसीबत का टलना। खासतौर से इस्लाम और ईसाई धर्म के लोग तो यही चाहते हैं कि उनकी जिंदगी के छोटे-मोटे कामों में भगवान् की शक्ति का करिश्मा ही नहीं ज़ोर भी आजमाया जाए !

पकड़ और पहुँच की गति भी शक्ति की ही क्रीड़ा-सी लगती है। शासकीय शक्ति की तुलना बादलों की बिजली से की जाती है। आदमी अपने शस्त्रास्त्रों द्वारा उन्हीं से होड़ लगाता है। गति और वेग से अश्व-शक्ति का रिश्ता अब एक जग-जानी बात है। हमारी मशीनी सभ्यता में इसी को शक्ति के अन्य स्त्रोतों से जोड़ा गया है, एक तरह से माप या मानक की तरह।

हमारे सारे प्रश्न और उत्तर भी अपने पीछे की शक्ति प्रदर्शित करते है। किसी से बहुत-से प्रश्न पूछिए तो वह प्रायः चिढ़ जाता है। सारे प्रश्नों के समुचित संतोषप्रद उत्तर देकर उसे खुशी भी होती है। पूछने वाला भी सारे प्रश्न करके यही अनुमान करता है कि जैसे उसने उत्तरदाता को भी अपने (प्रश्नकर्ता के) प्रति समर्पित होने को बाध्य कर दिया। लेकिन ऐसे भी सवाल किए जा सकते हैं जो लाजवाब होते हैं, और ऐसे जवाब भी दिये जाते हैं जो फिर और दूसरे सवाल ही नहीं उठने देते।

सारे प्रश्नों का अंतिम लक्ष्य एक तरह से जाँच-पड़ताल ही होती है, जिसका एक निश्चित उद्देश्य भी होता है। बे-मतलब के सवालों को कोई भी टाल देता है। छोटे और सही उत्तर देना बहुत कठिन होता है इसीलिए बचाव का एक सब से भोंडा तरीका यह है कि लोग बहरे या नासमझ बन जायें। लेकिन ऐसा केवल बराबर के लोगों में ही ठीक बैठता है। अदालत में किये गये सवाल-जवाब शक्ति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्टतः दरसाते हैं। गुप्त या गोपनीयता कायम रखना एक तरह का अन्दरूनी बख्तर बन जाता है। सवालों के खिलाफ अपने को अरक्षित समझने वाले लोग प्रायः इसे इस्तेमाल करते हैं। यही बात मौन या खामोशी रखने के बारे में भी सच है। महान् व्यक्ति प्रायः इसका उपयोग करते हैं, और यह उनकी शक्ति को बहुत कागर बना देता है।

वैसे कोई भी उत्तरदाता अपने को एक निश्चित स्थिति में बाँध लेता है जबकि प्रश्नकर्ता उस पर कहीं से भी अपने सवाल दाग सकता है। "आप कौन हैं ?" के जवाब में अगर आपने कहा : "मैं यह या वह हूँ" तब अपनी स्थिति बदल कर आप झूठों के जाल में फँस जाते हैं। अपने को बदल कर बच निकलना तब बहुत मुश्किल होता है। कभी-कभी तो सारे सवाल कहीं कुछ काटते-से लगते हैं। और कभी तो हम किसी के विचारों के बारे में भी कुछ सवालों के बाद ही जान पाते हैं और हमारे उत्तर तो हमें किसी-न-किसी पक्ष में ढकेल ही देते हैं। बहुत-से प्रश्न तो सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से भी जरूरी होते। अब तो वे निश्चित से हो गये हैं। जिरह के सवाल तो हमेशा ही शक-शुबह से भरे होते हैं। उसमें ऐसा लगता है कि जैसे पूछने वाला ही सब कुछ जानता है। और वह अब सही बातों की छानबीन में मशगूल है। इसमें सारी जानकारियों की शक्ति दोनों ओर ही छिपी-सी रहती है।

गोपनीयता शक्ति का हृदय बन जाती है। सबसे बड़ी गोपनीयता तो शरीर में ही छिपी होती है। कोई भी डाक्टर–सर्जन या चिकित्सक यह अच्छी तरह जानता है। शासकों का काम गुप्तचरों के बिना कभी नहीं चलता। जानकार लोग प्रायः अपनी शक्तियाँ ही व्यक्त नहीं करते रहते। शक्तिशाली सदा ही अपने विचार पूर्णतः छिपा लेते हैं। वे यह कभी जाहिर नहीं करते कि वे क्या चाहते हैं। और न यही कि वे अपनी चाहतों को कैसे पूरेंगे... सच पूछिए तो उनका आपा भी अपने से अक्सर छिपा रहता है।

खामोशी में हमेशा बड़ी भारी शक्ति समायी रहती है। खामोश व्यक्ति कभी यों ही क्षुब्ध नहीं होता, वह सबसे अलग-थलग सा रहता है; वह ज्यादा मिल-जुल भी नहीं सकता; वह कुछ भी बकता झकता नहीं; इसीसे उसकी शक्ति सदा ही संचित रहती है... वह स्वयं-सम्पूर्ण-सा होता है मानों वह एक खजाने का मालिक हो, और वह खजाना उसके अन्दर छिपा हो... कभी-कभी वह एक मुखौटा-सा लगा लेता है, जिसे वह हमेशा पकड़े रहता है। वह अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार जल्दी परिवर्तित भी नहीं कर सकता। लोग मौन व्यक्ति के बोलने का इंतजार करते हैं... यद्यपि तब उसके शब्द उन्हें कठोर असंगत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश जैसे भी लगते हैं। यह सब वादशक्ति का ही खेल है। वैसे भी शासक और शासितों की भाषा में स्वतः अंतर ही आ जाता है। अधिनायक-शाही की शक्ति अधिकतर गोपनीयता और मौन की होती है। अधिनायक या तानाशाह के मन्तव्य सहज में ही नहीं जाने जा सकते। वैसे लोग तो कुछ नया, उत्तेजक और अधिकृत रूप में, या अधिकारी-भाव से पेश किया हुआ, कुछ भी सह जाते हैं।

अन्ततोगत्वा, एक ही दल या व्यक्ति तक सीमित रहीं सारी गोपनीयताएँ और शक्ति-प्रयोग मुसीबत ही बरपाते हैं। वे कभी-न-कभी अपने आन्तरिक ताप का विस्फोट करती ही है, क्योंकि उनमें अधिकाधिक शक्ति पुंजित हो जाती है। मसलन पिछले विश्व महायुद्ध में अणुबम का प्रयोग और उसके बाद की घटनाएँ लें। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि आज की तकनीकी गुप्त बातें और चीजें कभी भी कितनी खतरनाक साबित हुई, और हो रही तथा हो सकती हैं, इसलिए कि उनका असर तो सब पर पड़ता है।

लेकिन मुट्ठीभर लोग ही उनको जानते और इस्तेमाल कर सकते हैं। जाहिर है कि उनके निर्णय गलत होने की ही ज्यादा सम्भावना रहती है। इसीलिए अब इनके प्रयोग पर सर्वराष्ट्रीय नियन्त्रण की बात उठायी जा रही है।

हम अपनी-अपनी शक्ति के अनुपात में ही प्रायः सही और गलत निर्णय देते रहते हैं जिनसे दूसरों को हानि या लाभ होता है।

निर्णय करते वक्त हम अपनी क्षमा, दया, ममता, मोह आदि को ताक पर रख देना चाहते हैं। दूसरों की अवमानना में हमें प्रायः सुख मिलता है। पक्ष-प्रतिपक्ष, विधि-निषेध दो विरोधी खेमे हमें स्वाभाविक लगते है। हमें जज या न्यायाधीश की शक्ति हथियाना हमेशा अच्छा लगता है, चाहे हममें उसकी जैसी योग्यता एवं निष्पक्षता हों, या नहीं... अच्छे-बुरे को आमने-सामने रखना मानव मात्र की आदत होती है। और हम एक जज के नाते अपने को अच्छे की तरफ रखते या समझते हैं। जो "जज का रोल" अपनाने से कतराते हैं उनको तो आप उँगलियों पर गिन सकते हैं। सच यह है कि यों ही निर्णय दे डालना एक तरह की आम बीमारी है– एकदम महामारी जैसी ! शायद ही कोई इसकी छूत से बरी होता है, क्योंकि हम इसी तरीके से लोगों और चीजों को अक्सर भली-बुरी– इन दो श्रेणियों में ही बाँटा करते हैं। हम अपने संग-साथ, उपयोग या उपभोग अच्छे-से-अच्छे ही चाहते हैं। कुछ विशेष क्षणों में ही नहीं, शान्ति-काल में भी हम अपने दुश्मनों की हानि या मौत चाहते हैं। अच्छों में बुरा का क्या काम, हम यह दलील भी प्रायः पेश करते रहते है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमा, दया करने की शक्तियाँ भी हम सब में होती है। यह बात दूसरी है कि हम उन्हें जब-तब काम में न लायें। पागलों को छोड़कर हम सभी तो क्षमा-दया करते हैं, यद्यपि ऐसा हम खुद ही करना चाहते हैं, दूसरों द्वारा प्रेरित होकर नहीं, ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं। दूसरों की गलतियाँ माफ न कर सकने वाले ही उन्हें भूल कर भी न भूलने की कसम खाये रहते हैं। और वे इस तरह अपनी एक महान् शक्ति को यों ही व्यर्थ कर डालते हैं। आततायी शासक क्षमा करना नहीं जानते। वे अपने विरोधियों को पूरी तरह अपना दास बनाने को बड़ी-से-बड़ी कीमत चुकाने में भी नहीं हिचकते। दण्ड और माफी देने की शक्ति का मनमाने प्रयोग के लिए ही वे बहुत-सी अनावश्यक रोकथाम लगा कर मौके निकालते हैं। सर्वोच्च शक्ति का प्रदर्शन अन्तिम क्षण माफ करने में ही होता है। फांसी पर चढ़ने वाले को ऐन मौके पर माफ करने से एक नया जीवन गढ़ा जा सकता है, अन्यथा वैसे तो मरे हुए को जिलाने की ताकत आदमी की हाथों में अभी तक नहीं आयी है।

"आदेश तो बस आदेश ही है"– यह सामान्यत: सच मान लिया गया है। सभी आदेश देने वाले यही चाहते हैं कि आज्ञा–पालन तुरंत और जितनी भी अच्छी तरह हो सके, अवश्य होना चाहिए। कारण, वे समझते है कि यही जरूरी है, हमेशा ऐसा ही होता आया है। बचपन से ही हमें आज्ञा–पालन का सबक सीखना पड़ता है। हमारी सारी शिक्षा का भी वह एक अनिवार्य अंग है। यह प्रायः नहीं सोचा जाता है कि जो आज्ञा पालते हैं उनको कैसा और कितना कष्ट हो रहा है... क्षमा इसलिए भी ज़रूरी हो जाती है।

वास्तव में आदेश की शक्ति वाक्-शक्ति से भी पुरानी है। उसे सभी अक्सर आजमाते है। कुत्ते तो इसके श्रेष्ठ प्रतिपालक समझे जाते हैं। अन्य पालतू पशु-पक्षी भी, चाहे वे आदमी की बोली समझें या नहीं, आज्ञा–पालन सीख लेते हैं। आदेश–शक्ति हमारी पलायन प्रवृत्ति से जनमती है। उसकी प्रतिक्रिया प्रतिरोध में फलित होती है। दो भिन्न प्राणियों के सारे संबंध प्रीति, पलायन और प्रतिरोध की मूल प्रवृत्तियों से ही बनते–बिगड़ते रहते है...

पलायन वहीं होता है जहाँ दो भिन्न प्राणियों की शक्ति का अनुपात कम-ज्यादा होता है। कमजोरों को ताकतवरों से हमेशा यह डर होता है कि सामने वाले हमें हज़म न कर जायें...डरावनी आवाज़, आँखें, व्यक्तित्व दूसरों को भागने के लिए मजबूर करते हैं। ऐसी स्थिति में शिकार–शिकारी का भाव आ ही जाता है। मसलन, शेर की आवाज़ सुनी कि शिकार में भागने की प्रवृत्ति जगी...बिल्ली की आँखें दीखीं कि चूहा भागा, रीछ देखा कि खरगोश फुदक कर बिल में छिपा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश यह कि हर शक्तिपूर्ण आदेश में हमें अपने अस्तित्व पर खतरा नजर आता है।

आदेश की शक्ति से हमारी क्रियाएँ स्फुरित होती हैं। इसका संप्रेषण मात्र तानी हुई अंगुलि से भी हो सकता है और कड़ी नज़र या शांत धीर एवं क्रुद्ध आवाज से भी। आदेश हमें दिशा-निर्देश भी कर देता है। वह कोई भी विरोध बर्दाश्त नहीं करना चाहता। न वह कोई बहस पसंद करता है, न व्याख्या करता है। फ़ौजी अनुशासन में यही है। प्रायः नागरिक जीवन में भी उसी की नक़ल की जाती है। लेकिन किसी आदेश पर किया हुआ काम हमें ऐसा लगता है कि यह हमारा अपना नहीं है, हमसे कराया गया है लेकिन उसका कर्तृत्व हम पर थोपा गया है। वह हमारे अपने अंदर से नहीं बाहर से आया लगता है...उसकी कठोर अधिक शक्ति या शक्तिवत्ता का अनुभव हमें पग-पग पर होता चलता है।

नये पुराने धर्मों को प्रथम प्रवर्तन या पुनर्जीवन का सहारा आदेश और आज्ञा-पालन से मिलता है। आदेश देने वालों की शक्ति हमेशा बढ़ती ही जाती है। आज्ञा-पालकों की शक्ति कम हो जाती है। हर आदेश में गति, वेग और डंक छिपे रहते हैं, इनाम या नतीजे तो बाद की बातें हैं। आज्ञापालन का डंक हमेशा ही सालता है, पीड़ा देता है और इसे सबसे ज्यादा भोगते हैं बेचारे बच्चे, या पालतू पशु-पक्षी और पराधीन एवं आश्रित व्यक्ति। ऐसा ही होता रहता है–पीढ़ी-दर-पीढ़ी।

आदेश की महाशक्ति भी अब पालतू हो चली है। मौन, वह हमारी एक आदत बन गयी है। आदेशक "अन्नदाता" बन जाते हैं, आज्ञा-पालक "गुलाम"। मनुष्येतर प्राणियों में कुत्ता और उसको खाने देनेवाला स्वामी इसकी मिसालें हैं। आज्ञाकारी आदेश का प्रतिपालन करता है तो आदेशक आज्ञाकारी का। यही सामान्य प्रणाली है, नियम है। अपवादों की बात दूसरी है। यह प्रतिपालन ही आदेशक और आज्ञाकारी के बीच की कड़ी का काम करता है, उन्हें एक-दूसरे से बाँधता है। आदेशक भले ही भूल जाएँ लेकिन आज्ञाकारी आदेश के डंक की पीड़ा कभी नहीं भूलता। बच्चे जब खुद माँ-बाप बनते हैं तो वे भी अपने बच्चों को उसी तरह का डंक मारते हैं जैसा कि कभी उन पर मारा गया था। आज़ादी का एक मतलब यही है कि ऐसे किसी डंक का कभी अनुभव न होना, या न होने देना। माने, आदेश की पीड़ा से हर तरह हमेशा मुक्ति। आज़ाद वही है, जो इस तरह कभी पीड़ित नहीं होता।

आदेश में तीर या बाण जैसी ताक़त होती है। वह वैसा ही लगता है। आदेशक की कमान से छूटते ही वह आज्ञाकारी को वेधता है। वह दोनों में चिंता पैदा करता है, प्रतिपालन न हो तो दोनों परेशान हो सकते है। वे आदेश के डंक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पीड़ा कभी नहीं भूल या भुलवा सकते। आदेशक यदि उसके ऊपर भी कोई आदेशक न हो तो वह स्वयं ही इतना चिंतातुर हो सकता है कि पागल हो जाय।

एक आदमी को दिये और बहुत-से व्यक्तियों को दिये हुए आदेशों की शक्ति में भी बहुत अंतर होता है। एक और अनेक के पलायन में भी बहुत अंतर है, जैव स्तर पर भी। सबको बचाने की खातिर अनेक लोग प्रायः एक को बलि चढ़ा देते हैं। धर्म के नाम पर जो बलि-प्रथा शुरू हुई उसका मूल यही है। भीड़ में भया-क्रांत होने पर एक प्राणों का स्पंदन महसूस होने की वजह भी यही है कि अनेक एक-साथ भागने पर, या अन्य कोई भी बचाव-कार्य करते वक्त, ऐसी एकात्मता महसूस करते हैं। फिर भी वे अपने समूह की हर इकाई की रक्षा नहीं कर सकते। हिरनों के झुंड पर जब कोई शिकारी जानवर या आदमी हमला करता है या किसी एक दल या देश पर दूसरा दल या देश हमलावर होता है तब ऐसा ही होता है। इसी को "संघ-शक्ति" कहते हैं। यदि यह खूब संगठित होती है तो जमकर मुकाबला करती है, नहीं तो वह पलायन या प्रतिपालन से अपना बचाव करती है। बलि देना प्रतिपालन की ही एक रीति है। धार्मिक बलि उन्हीं देवी-देवताओं को चढ़ायी जाती है जिनसे लोग डरते हैं कि वे हमें नष्ट न कर दें कभी। फौजें कभी भीड़ नहीं बनतीं इसीलिए वे भीड़ों पर मजे से काबू कर लेती हैं। फौजों में आज्ञा का मूल्य ऊपर से नीचे तक एक जैसा होता है। हर आदेशक अपने से ऊपरवाले की आज्ञा पालता है। यह क्रम न रहे तो कोई भी सेना शीघ्र ही अनुशासन-विहीन होकर बिखर जाए। भीड में आदेश की शक्ति ऊपर से नीचे की ओर अपने चारों ओर क्षितिजीय रेखा में फैलती है, खड़ी लकीर की तरह। भीड़ को आदेश का डंक इसीलिए उतना नहीं महसूस होता, जितना कि किसी एक व्यक्ति को...बच्चे स्कूल में शिक्षक की बात जितनी जल्दी मान लेते हैं उतनी जल्दी माँ-बाप, या बड़े भाई, बहन आदि की बात नहीं मानते...भीड़ या दल में आदेश से उतना भय नहीं होता जितना कि अकेले में। सैनिक से समूह में उतना भय नहीं होता जितना कि अकेले में। सैनिक अकेला ही या दूसरों के साथ, जितनी मुस्तैदी से हुक्म की तामील करता है, दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता।

सैन्य-शक्ति का इसीसे कोई मुकाबला नहीं, सिवाय दूसरी वैसी ही सैन्य-शक्ति के। दुनिया में इस्लाम ही ऐसा एक मात्र धर्म है जिसमें आदेश की शक्ति सबसे ज्यादा काम करती है, चूंकि उसकी जड़ें "अल्लाहताला" की "इच्छा" में होती हैं, जिस की तामील करने में हर मुस्लिम अपना भला मानता है... किसी भी हाजी से पूछिए कि उसने अपना "वुकूफ" "अराफ़ात" पर कैसे हासिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, कि वह "इफ़ादा" करके "मौज़दलिफा" कैसे आया और मीना' में उसने कैसे रात बितायी तो आप यह समझ सकेंगे।

अनुशासन भी, जो आदेश की शक्ति से होता है, दो तरह का होता है, एक खुला या प्रकट जो आदेश और आज्ञा पालन से साफ दिखाई देता है। दूसरा, तरक्की से होता है, जो छिपा रहता है। इसे कुछ गिने-चुने लोग ही समझ पाते हैं। सैनिकगण दोनों को जानते हैं। तरक्की होते ही कोई भी खुद "आदेशक" हो जाता है। अनुशासन की आर्थिकी ही अलग है। फौज में इसे शस्त्रास्त्र, रसद, वाहन, जानकारी आदि के नियंत्रण एवं आपूर्ति से समझा जा सकता है। धार्मिक और सांप्रदायिक एवं सांस्थानिक, सरकारी और अन्य अनुशासनों को भी इसी तरह समझा जा सकता है।

आदेश की शक्ति से सिर्फ आदेश को सुनी-अनसुनी वात मानकर ही बचा जा सकता है। नहीं तो दबाव पड़ता ही है। पागलपन में भी आदेश का डंक उतना नहीं व्यापता। पागल के दिमाग में उसके अपने स्नायविक तनावों की ही भीड़ लगी रहती है, इसलिए भी ऐसा ही होता है।

"शतपथ ब्राह्मण" में एक कथा है, जो इस संदर्भ में अवधेय है। अपने पुत्र भृगु ऋषि की सर्वज्ञता का अहंकार तोड़ने के लिए पिता वरुण ने भृगु को चारों दिशाओं की यात्रा करने और लौटकर अपना यात्रावृत्ति सुनाने के लिए कहा। भृगु ने चतुर्दिक्-यात्रा से लौट कर कहा : "कहीं कुछ नहीं है, आपको क्या वताऊँ"।

वाद में बहुत आग्रह करने पर भृगु ने बताया कि पूर्व और दक्षिण मे लोग दूसरों को काट-काट कर खा–चबा रहे थे, और एक दूसरे पर चीख–चिल्ला रहे थे। पूछने पर पता चला कि उनके प्रति भी खाये जाने वालों ने पूर्व-जन्म में ऐसा ही वरताव किया था। पश्चिम में खाये जाने वाले चुप थे, खाने वाले भी चुप थे। उत्तर में खाने वाले चिल्ला रहे थे लेकिन खाये जाने वाले चुप थे। सभी अपने पूर्वजन्म के कृत्यों का बदला ले रहे थे। भृगु यह नहीं समझे कि पूर्व-जन्म में कौन क्या था . तब वरुण ने उन्हें बताया कि वे क्रमशः मनुष्य, पशु, वनस्पति और जल थे... यही कथा जैमिनीय तथा अन्य ब्राह्मणों में कुछ उलट-फेर से वर्णित है। मनुस्मृति में कहा गया है : मांस खाना स्वाभाविक है किंतु शाकाहारी पुण्यार्जन करते हैं। माँस का अर्थ वहाँ "माम्" (मुझे) "सः" (वह) -इन दो शब्दों के आधार पर ही किया गया है ..

उपरोक्त कथा का "सार उपदेश" यह है कि आदमी जिसे इस लोक में खाता है, परलोक में वही उसे खाता है, ठीक उसी तरीके से जैसे कि वह स्वयं, या तो चिल्ल-पों मचाकर, या चुप-चाप ही खाता है। अंततोगत्वा, आदमी अपने डंकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही शासित होता है··· वह यदि उत्पीड़क को डंक न भी मार सके तो भी कोशिश में तो रहता ही है। वे ही उसके भाग्य को बनाते-बिगाड़ते हैं। आदेशक डंक मारता है, आज्ञाकारी उसकी पीड़ा सहता है। पीड़ा की प्रतिक्रिया भी अनिवार्य होती है; हमेशा ही जो पूर्व पर जन्म मानते हैं, वे उसे दूसरे लोगों तक ले जाते हैं।

हर डंक की अपनी याद होती है जो कभी नष्ट नहीं होती... अच्छे वर्ताव लोग प्रायः भूल जाते हैं, बुरे कभी नहीं भूलते। मौका मिलते ही डंक लगा व्यक्ति डंक मार देता है। भीड़ को आदेश का डंक उतना नहीं लगता जितना कि व्यक्ति को। जल्लाद भी जो हुक्म बजाते हैं वह उन्हें अच्छा कभी नहीं लगता। वे बाध्यता से ही वैसा करते हैं। (भुट्टो को फाँसी देनेवाले का वक्तव्य याद करें)

यह सुविदित है कि आज्ञाकारी लोग ऐसा जघन्य काम कर डालते हैं, जिसे स्वीकारते वे बहुत शर्माते हैं, या झूठ बोलते हैं। वे आज्ञा-कार्य को अपने से किया काम नहीं समझते, इसीलिए उसे करने में वे कभी शर्माते नहीं, उससे अघाते भी नहीं। मूल आदेश जितना अजीब होता है उतना ही उसका छोड़ा हुआ डंक भी, जो कि आदेश की आज्ञाकारिता से उपजा हुआ तन-मन में धंसा रहता है। आदेश सामाजिक जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है जिसे मानव अभी तक जीवन से मिटा नहीं पाया। हम आदेश का अत्याचार जिस हद तक मिटा सकें, उसी हद तक समुन्नत कहे जा सकते हैं...

० ० ०

जहाँ अधिकाधिक शक्ति पुँजित होती है उसी को "महान्" कहा जाता है और महान् के प्रति समादर की भावना आसानी से नहीं छोड़ी जाती क्योंकि आदमी को समाज में पूजनीयों की आवश्यकता सदा ही बनी रहती है।

उत्पादन-वृद्धि की सनक आज की दुनिया का एक विशिष्ट लक्षण है। वैसे समृद्धि तो हमेशा ही जीवन का एक लक्ष्य रही है। पर आज उत्पादन के साथ उपभोक्ता वृद्धि का अनुपात भी जुडा रहता है। हर व्यापार का लक्ष्य आखिर तक यही होता है कि दुनिया उसकी ग्राहक हो। यह भी एक तरह की शक्ति-साधना ही है। सतही तौर पर देखें तो प्रत्येक धर्म या संप्रदाय भी यही चाहता है कि प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कल्याण उसकी पद्धति द्वारा हो, वह उसी की शरण आये। युद्ध और शांति के समय भी इसमें कोई अंतर नहीं आता .. वास्तव में तो पूंजीवाद और समाजवाद में भी शक्ति की स्पर्धा का ही खेल चल रहा है। वे एक-दूसरे को नष्ट नहीं करना चाहते बल्कि "राष्ट्रीय पूँजीवाद" और "समाज-कल्याण" की वकालत ही करते हैं, व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति सभी चाहते हैं। सिर्फ तरीकों का फरक़ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे-धीरे लोग यह भी समझने लगेंगे कि युद्ध में शक्ति और समृद्धि व्यर्थ हो जाती है। भीड़ पर तो खेल तमाशे द्वारा भी काबू हो सकता है। अब तो व्यक्ति-शक्ति भी इतनी बढ़ गयी है कि कोई भी एक असीम शक्तिशाली-सा व्यक्ति ही सारे जगत् के बृहदंश को खत्म कर सकता है। लेकिन फिर भी वह शायद ही मरना चाहेगा। वह तो ईसा की तरह सलीब पर लटका हुआ यही चाहता रहेगा कि वह स्वयं और उसकी शहादती कीर्ति "अमर" हो जायें। शासक लोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सारी तकनीकी ईजादों का फायदा उठाते हैं। उन्हें यह परवाह नहीं होती कि उनसे लोग खतरों के कितने नज़दीक पहुँचते जा रहे हैं। इस तरह ध्वंस-शक्ति बढ़ती जा रही है। लोग आज भी मूलत: उतने ही असंरक्षित हैं जितने कि पहले युगों में थे।

अब तो कोई भी सही या गलत निर्णय और उसे लागू करने में भी बहुत कम समय लगता है। अपनी असीम संभावित शक्तियों की दृष्टि से आज के शासक चिंगिस खान और तेमूर लंग तथा हिटलर जैसे संहारकों को बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। वे चाहें तो उनसे भी बड़े संहारक बन सकते हैं। (जैसा कि पिछले विश्वयुद्ध में हुए नागासाकी और हिरोशिमा के नर-संहार एवं आण्विक बमों के प्रयोग से और पीढ़ी दर पीढ़ी तक चलती रुग्ण मानवता की अनंत पीड़ाओं से साबित हो रहा है)

आज के विपर्यस्त जीवन ने हमें यह सोचने को भी बाध्य कर दिया है कि आखिर आज का आदमी बड़े जोश-खरोश से अपने को बचाना चाहता है तो भला किसलिए ?... क्या उसे वे "अमर सृजनशील क्षण" उतनी ही मात्रा में उपलब्ध हैं जितने कि बीते युगों में थे– कम-से-कम लोग तो "परमानंदमय क्षणों का अनुभव" कर पाते थे।

आज तो कोई भी जगह ऐसी बाकी नहीं बची जो परमसंहारक शस्त्रास्त्रों की मारात्मक पकड़ से बाहर हो। अब आदमी वह पहले का "महान् और अजेय" व्यक्ति नहीं रह गया। शासक अब शासितों की बलि देकर अपने को बहुत ज्यादा वक्त तक नहीं बचा सकते। भविष्य में अगर कभी कोइ प्रलयंकर विश्वयुद्ध हुआ तो शायद ही कोई व्यक्ति बाकी बच पायेगा। नहीं तो सभी इसी धरती की गोद में भाई-बहन के सद्भाव से अपनी अपनी उम्र पूरी कर सकते हैं...

मूल बात यही है कि, सभी जगह, चाहे वह कोई भी सैन्य-समूह, या राष्ट्र, अथवा समाज एवं संप्रदाय आदि हो, आदेशकों और शासकों की शक्ति का स्त्रोत सदा ही मृत्यु-भय होता है। सभी इससे अभिभूत या संत्रस्त से रहते हैं। वे जब युद्ध शुरू कराते हैं तो यह जानते हैं कि दोनों पक्षों के लोग मरेंगे। शायद वे स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी रक्षा की खातिर दूसरे लोगों की रक्षा की बढ़ती शक्ति से बहुत डरते हैं। इसीलिए वे अपनी और अपने मातहतों या अधीनों की शक्ति में संतुलन करते रहते हैं। युद्ध होते रहने का यह एक खास राज है। जिसे हमें खूब समझना चाहिए।

हमें अगर आदेशकों और शासकों द्वारा यह मौत बरपा देने की संहारक शक्ति कुंठित करनी है तो उनके डंक मारने की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति का खुलकर सामना करना होगा और इसे खत्म करना होगा। व्यक्ति और समूह की शक्ति में संतुलन कायम करना ही हमारा अन्यतम लक्ष्य होना चाहिए...... *

१६, डॉ. विल्सन पथ, — पृथ्वीनाथ शास्त्री
बम्बई– ४०० ००६

टिप्पणी

* १९८१ के नोबेल पुरस्कार विजेता श्री एलिआब कानेटी की एक अत्यंत प्रसिद्ध पुस्तक से संगृहीत कुछ मनीषी एवं उपयोगी विचारों पर साभार आधारित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन : एक दृष्टिकोण

इस लघु प्रपत्र में दर्शन के बारे में कुछ अलग ढंग से सोचने का प्रयास किया है।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के कुछ निकष हैं। उन निकषों की कसौटी पर जाँच करने पर जो ज्ञान असली तय हो पायेगा वह और सिर्फ वह ही ज्ञान सार्थकतथा ज्ञान सम्बोधित किया जा सकता है। ऐसा भी माना जाता है कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के परिमापक निम्नलिखित हैं : संगति, परिपूर्णता, व्यापकता, ऐक्य, सुगमता, नियमितता आदि। इनके सम्बन्ध में ऐसा भी कहा जाता है कि यद्यपि संगति के व्यतिरिक्त अन्य हरेक परिमापक, थोड़ी-सी मात्रा में भी क्यों न हो, सापेक्ष है तो भी संगति एक ऐसा परिमापक है जो किंचित परिमाण में भी सापेक्ष है, ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता। इतना ही नहीं ऐसा भी कहा जाता है कि ऐसा न मानना वैचारिक आत्मनाश होगा, चाहे ज्ञान के किसी भी सीमित क्षेत्र में हम सोचते हों। ऐसा होने से एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के इतर परिमामक किंचित् परिमाण में भी क्यों न हो सापेक्ष हैं ऐसा अगर माना जा सकता हो और ऐसा मानने से प्रणालीकरण की प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण बाधा न उत्पन्न होती हो तो संगति परिमापक के सम्बन्ध में ही इस प्रकार की अनुचित स्थिति क्यों पैदा होती हो? क्या ऐसा मानना कि संगति, तनिक सी भी क्यों न हो, सापेक्ष है, ज्ञान के प्रणालीकरण में इस प्रकार की बुनियादी बाधा पैदा करेगा कि जिससे ईप्सित प्रणालीकरण ही असम्भव हो जाय?

आपाततः सोचने से ऐसा दिखायी देता है कि किसी भी क्षेत्र में होनेवाला ज्ञान एक तो संगत है या असंगत है ऐसे दो ही परस्पर व्यावर्तक तथा व्यवच्छेदक पर्याय उसके बारे में सम्भव हो सकते हैं। किसी क्षेत्र में होनेवाला या कहें किसी विषय का ज्ञान किंचित् सा भी असंगत है ऐसा स्वीकार करना उतना ही हास्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पद होगा जितना कि सगर्भता की प्राथमिक अवस्था में स्थित किसी गर्भवती स्त्री को देखकर वह तनिक सी (ही) गर्भवती है ऐसा कहना। अतः ऐसा भी कहा जाता है कि ज्ञान, कितना भी कम क्यों न हो, असंगत है ऐसा कहना यह सीधा वदनी व्याघात होगा। सामान्यतः ऐसा माना जाता है तो भी यह विचार युक्ति-संगत नहीं दिखायी देता। यदि किसी विचार-क्षेत्र में किंचित् सी और कितनी भी दूरवर्ती असंगति उत्पन्न हुई तो वह दावानल के समान पूरे विचार-क्षेत्र में फैलकर जिस विचार-क्षेत्र में इस प्रकार की असंगति उत्पन्न हुई हो उसे तुरन्त और समूचा भस्मसात् कर देगी ऐसी स्थिति केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित दिखायी देती है और वह क्षेत्र तार्किक प्रणाली का है।

लेकिन क्या ऐसी कोई प्रणाली हो ही नहीं सकती कि जो किसी आंतरिक असंगति होनेवाले किसी विचार-क्षेत्र का चित्रीकरण हो? कम-से-कम इस प्रकार की प्रणाली, चिन्तन के स्तर पर भी क्यों न हो, स्वीकार करने के विरुद्ध कोई निर्णायक तार्किक या शुद्ध वैचारिक अवरोधक नहीं दिखाई देता। अत्याधुनिक तार्किक सिद्धान्तीकरण तक ही अपने विचार की सीमा मर्यादित की तो भी ऐसा मानने वाले तर्क-पण्डितों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ रही है कि यन्त्रवत् और स्वयंचालिततया विसंगति का सार्वत्रिक तथा निःशेष नामशेषीकरण किया जा सके इसकी सम्भावना नहीं दिखायी देती। ऐसी सम्भाव्यता केवल एक ही क्षेत्र के बारे में सुस्पष्टतया दिखायी देती है और वह क्षेत्र है अभिजात तर्कशास्त्र का। तर्कज्ञ ऐसा भी मानने की ओर अग्रसर हो रहे हैं कि हम असंगति प्रधानतः दो प्रकार की है ऐसा स्वीकार कर सकते हैं। एक, सर्वव्यापी या सर्वस्पर्शी असंगति- कि जो विचारघातक होने से इस प्रकार की असंगति से ग्रस्त विचार से कुछ भी निष्पादित हो सकता है- और दूसरी, अल्पविस्तृत या विशिष्ट स्थानीय असंगति। ऐसा भी स्वीकार किया जाता है कि उपर्युक्त दो प्रकार की असंगतियों में से दूसरे प्रकार की असंगति विशिष्ट स्थानीय व्याधि, छोटे से व्यंग के समान होती है और वह विशिष्ट क्षेत्र तक या विशिष्ट विचार-विषय तक ही सीमित रहती है। ऐसा होने से उससे समूची विचारप्रणाली दूषित हो जाने का धोखा पैदा होने का सम्भव नहीं रहता। उक्त विषय के सम्बन्धी ज्ञान इस प्रकार की असंगति से युक्त रहा तो भी केवल इस कारण की वजह से उसकी विश्वसनीयता इतनी कम नहीं हो जाती कि उसे सर्वतः अस्वीकृत ही किया जाय।

इस प्रकार के स्थानीय-व्यंग-सिद्धान्त के आधार पर ऐसा माना जाता है कि संगति भी, किंचित् परिमाण में भी क्यों न हो, सापेक्ष हो सकती है। इसका मतलब यह नहीं कि निरपवादतया संगति इस प्रकार सापेक्ष ही होनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इसपर से एक बात तो स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है और वह यह कि जिस प्रकार ज्ञान प्रणालीवद्ध करने के अन्य परिमापक–उदाहरणार्थ, सुगमता, व्यापकता आदि– सापेक्ष हो सकते हैं उसी प्रकार संगति भी सापेक्ष हो सकती है। याने किसी विचार-क्षेत्र में संगति एक तो निरपवादतया और निरपेक्षतः हो या निःशेष रूप से नहीं हो इसी प्रकार की होनी चाहिये ऐसा सार्वत्रिक और अपवाद विरोधी नियम हम नहीं अपना सकते। वह कम या अधिक भी हो सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि संगति का परिमापक भी अन्य परिमापकों की तरह न्यूनाधिक्य का समावेशक याने सापेक्ष निर्बंधक है। वह एकपक्षीय तथा निरपवाद निर्बंध नहीं है। किसी प्रणाली के ढाँचे में आनेवाले विषय के सम्बन्ध में किये जाने वाले विचार की ओर देखते हुए प्रणालीकरण के अन्य परिमापकों की तरह संगति का निर्बन्ध भी, स्थानीय मर्यादा तक क्यों न हो, थोडासा शिथिल किया जाना या उसकी उपेक्षा करना सम्भव है और ऐसा करना विचार के लिये लाभ-कारक भी हो सकता है। यह समझना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि असंगति के बारे में दिखायी इस प्रकार की स्थानीय सहिष्णुता हमारे ऊपर ऐसा गंभीर प्रसंग अभिजात तर्कशास्त्र का क्षेत्र छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में निरपवादतया नहीं लायेगी कि उत्पन्न होनेवाली असंगति इतनी घातक और भीषण हो कि जिस प्रणाली में इस प्रकार की असंगति पैदा होने की तनिक भी सम्भावना होगी उस प्रणाली को निर्माण करने का हमारा प्रयास और प्रयोग ही निष्फल तथा अर्थशून्य होने के कारण इस प्रकार की असंगति को टालने के लिये हमें हरकोशिश सतर्क बनने के सिवा और कोई चारा ही न रह जाय। याने स्थानीय असंगति सार्वत्रिक असंगति के समान ही है और वह कर्करोग की तरह हरसम्भव फैल जाने की शक्यता को नकारा नहीं जा सकता इस भयम्मन्यता से ग्रस्त होकर उससे पलायन करने के बजाय उसके प्रति अगर हमने कुछ और कुछ हद तक सहिष्णुता दिखायी तो सामान्यतः जिन प्रश्नों का हम सीधा सामना नहीं कर पाते या जो प्रश्न सुगमता से हल करने का रास्ता भी नहीं देख सकते उनके सम्बन्ध में सोचने का तथा उनका उत्तर खोजने का वैचारिक दृष्टि से अधिक लाभदायक मार्ग हमारे हाथ आ जायगा। उसके आधार पर उन प्रश्नों के प्रति एक नया दृष्टिकोन हम अपना सकेंगे और उसकी सहायता से उन प्रश्नों का कम-से-कम नया तथा उद्बोधक अन्वयार्थ तो लगा सकेंगे। इस प्रकार का लाभ होने की सम्भावना रहने की वजह से इस नये रास्ते से चलने की तैयारी भी हमने दिखायी तो उतना भी कम लाभ-दायक नहीं होगा।

इस सन्दर्भ में बीसवीं सदी के तीसरी और चौथी दशाब्दी में प्रकाश के स्वरूप के बारे में प्रस्तुत की गयी परिकल्पनाओं की ओर दृष्टिक्षेप किया तो उनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जनित एक विचार-प्रक्रिया का उल्लेख अन्वर्थक हो सकता है। जब हम प्रकाश-पुंज कणों तथा तरंगों का बना हुआ है ऐसा स्वीकार करते हैं तो क्या हम हमारे मन की एक विशिष्ट तैयारी नहीं करते? क्या इस प्रकार के उदाहरण हमें यह नहीं बताते कि यद्यपि हमने जितना और जितनी सर्वोत्तम रीति से करना चाहिये उतना और उस हद तक विज्ञान का अध्ययन किया तो भी विज्ञान में से निसर्ग तथा नैसर्गिक घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे सामने आनेवाली जानकारी सदैव और सर्वथा असंगति से निरपवादतया तथा निःशेषतया मुक्त होनी ही चाहिए इस प्रकार की गारंटी हम नहीं दे सकते? किसी देवता ने हमारे साथ या हमने किसी देवता के साथ ऐसा कोई करार नहीं किया है जिसके आधार पर हम ऐसा स्वीकार कर सकें कि हमारे उत्तरोत्तर विकसित होनेवाले शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान में से विश्व का सर्वस्वी संगत और अनिवार्यतः स्वीकारार्ह ऐसा एक ही चित्र हमारे सामने किसी भी हालत में प्रस्तुत होगा। इस प्रकार की स्थिति होने की वजह से हमारे किसी विषय के सम्बन्धी विचार में अगर स्थानीय प्रकार की असंगति पैदा हो भी गयी तो उसकी ओर हमें थोड़ी सहिष्णुता से देखना सीखना चाहिए और इस प्रकार की असंगति समूची नष्ट करने के या उससे दूर भागने के प्रयास में पड़ने के बजाय उसके स्वीकार से होनेवाले वैचारिक लाभ भरसक उठाने की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

एक बार यह दृष्टिकोण सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाय तो उसके साथ यह स्वीकार करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा कि इसमें निहित संश्लेषक प्रेरणा इस तरह से क्रियाशील रहेगी कि जिसके अनुसार विभिन्न मतप्रणालियाँ, विचारधाराएँ, मतभिन्नता आदि की ओर परस्पर व्यवच्छेदकता या व्यावर्तकता की दृष्टि से देखने के बजाय उनका एकत्रित विचार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर किसी विषय के सन्दर्भ में या विचार-क्षेत्र में एक और एकमेव सत्य ही होना चाहिये, सभी स्वीकारात्मक / नकारात्मक प्रश्नों का एक और एकमेव उत्तर होगा, किसी प्रश्न से सम्बन्धित विभिन्न, परस्पर विरुद्ध तथापि एकत्रितरीत्या सर्वसमावेशक पर्यायों में से सत्य हमेशा एकमात्र पर्याय की ओर ही झुका हुआ होगा आदि प्रकार के मतप्रवाहों का हम विरोध कर सकेंगे। इस दृष्टिकोण में निहित संश्लेषक प्रेरणा इस मत का निषेध करती है कि किसी विषय के सम्बन्ध में सुस्पष्ट पर्यायों में से सत्य पूर्णतः एक और एकमेव पर्याय का ही एकाधिकार होना चाहिये और ऐसा स्वीकार किये बिना हम किसी विषय के बारे में गम्भीर चिन्तन ही नहीं कर सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर हमने जो बातें उठायी हैं उनसे हमारा मन्तव्य यह नहीं है कि मानवी जीवन में या विचार-क्षेत्र में ऐसा एक भी प्रश्न नहीं है कि उसने सामने प्रस्तुत किये हुए विभिन्न पर्यायों में से सभी पर्यायों का एकसाथ स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई मार्ग ही नहीं होगा। निःसन्देह ऐसे प्रश्न हैं; इतना ही नहीं बल्कि वैसे अनेक प्रश्न हैं जिनके बारे में ऐसा करना सम्भव भी नहीं होगा या अपेक्षित भी। तथापि यह भी ध्यातव्य है कि ऐसे भी कुछ– काफी– प्रश्न हैं कि जिनके सम्बन्ध में कई बार परस्पर-असंगत भूमिकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं और ऐसा होते हुए भी उनमें से केवल एक ही पक्ष सर्वथैव सत्यदर्शी होना चाहिए, और कोई नहीं, ऐसा हम नहीं स्वीकार कर सकते। जिस प्रकार की स्थिति इस प्रकार के प्रश्नों के बारे में सोचते समय उत्पन्न होती है उसकी एक झलक हमें गीता जैसे गहन ग्रन्थ के विभिन्न और शायद एक दूसरे के विरोधी भी परन्तु सुतर्कित तथा स्वागतार्ह अन्वयार्थों की प्रस्तुती में मिलती है। वहाँ यह कहना कि उनमें से अमुक एक और एकमेव अन्वयार्थ सत्यदर्शी है, हमें बहुत ही कष्टसाध्य लगता है।

किसी भी प्रश्न का हल किसी भी एक और एकमेव तरह से ही होना चाहिए इस बात को स्वीकार करना माने 'ईश्वरदृष्टि' का मिथक स्वीकार करने जैसा है। कहा जाता है कि ईश्वर की दृष्टि में किसी भी बात के बारे में या किसी भी प्रश्न के हल के बारे में एक और एकमेव सत्य तथा सुयोग्य प्रकार का पर्याय प्रस्तुत होता है। ऐसा भी कहा जाता है कि हम–आप जैसे सामान्य लोग जिन मतों या दृष्टिकोणों को अपनाते हैं उनमें परस्पर भिन्नता और असामंजस्य जरूर होता है, कभी-कभी परस्पर विरोध भी होता है। लेकिन उनमें होने वाला इस प्रकार का असामंजस्य या परस्पर विरोध पृष्ठस्थ ही होगा, क्योंकि वह हमारी सीमित तथा अपूर्ण अवधारणा से उत्पन्न होता है। याने, इस प्रकार का मतवैचित्र्य हमारी सीमित अवधारणा की ओर से ही सम्भव है, जिसके बारे में वह अवधारण होगा उसकी जटिलता से नहीं। इस प्रकार हमारी अवधारणाओं से विविधांगी और परस्पर व्यावर्तक दृष्टिकोण तथा मतप्रवाह हमारी ज्ञातृ-निष्ठ अपूर्णता के कारण निर्मित होते हैं। ईश्वर के बारे में दूसरे प्रकार की स्थिति पैदा होगी। एक तो उसके लिए इस प्रकार के विभिन्न मतों या दृष्टिकोणों में सामंजस्य ही रहेगा, या सर्वस्वी वैशिष्ट्यपूर्ण और निःशेषतः सत्य इस प्रकार का एकमेव पर्याय ही उसके सामने प्रस्तुत होगा, जिसके जरिये एकाधिक पर्यायों में से कौनसा अधिक वरणशील है इस तरह का सवाल ही उसके सामने प्रस्तुत न होगा। हम-आप जैसे सामान्य लोगों के लिए इस प्रकार का अधिकार तथा सुविधा हमारी अपूर्णता से ही नकारी गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम जिस दृष्टिकोण के बारे में सोच रहे हैं उसके अनुसार असंगति को ज्ञानशास्त्रीय स्तर पर उठा कर उसको इस प्रकार विध्वस्त नहीं किया जा सकता। सम्भवतः ऐसा भी हो सकता है कि वस्तुतः जगत् इतना विविधांगी, बहुरूपी, पृथगात्म, जटिल एवं पेचीला होगा कि वह ज्ञान की या ज्ञानप्रणाली की विशिष्ट रूपरेखा में निःशेषतया और निश्चयपूर्वक बिठाया जानेवाला ही न हो। अगर इस प्रकार का प्रयास करने वाले विभिन्न प्रयत्न हमारे सामने प्रस्तुत किये गये तो उनमें से एकाधिक पर्याय एकसाथ स्वीकार करने की ओर हमारा झुकाव होना ही नहीं चाहिये इस प्रकार की विचारधारा को हम नहीं अपना सकते।

मध्ययुगीन युरोपीय दर्शन में द्वि-स्तरीय सत्य का एक सिद्धान्त प्रचलित था। वह निश्चित रूप से किसने प्रस्तुत किया था इसका आवश्यक सबूत आज हमारे पास दुर्दैववशात् उपलब्ध नहीं है। तथापि एक दृष्टि से सोचते हुए ऐसा महसूस होता है कि वह सिद्धान्त हम जिस सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं उसका एक अच्छा उदाहरण है। उस सिद्धान्त के अनुसार किसी विचार-प्रणाली में इस प्रकार के दो परस्पर विरोधी सत्यों का स्वीकार किया जाता है कि जिनमें से एक दर्शनशास्त्रीय विचार के सन्दर्भ में तो दूसरा ईश्वरशास्त्रीय विचार के सन्दर्भ में स्वीकारार्ह होता है। ऐसा होते हुए भी उनमें से दोनों प्रकार के सत्य किसी एक विचार-क्षेत्र में समानतया स्वीकारार्ह नहीं होते। यह एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सर्वार्हवाद का आज तक किसीने कृतसंकल्प और निर्णायक मण्डन नहीं किया उसी प्रकार इस सिद्धान्त का भी। यद्यपि ऊपर निर्दिष्ट सिद्धान्त सीमित महत्त्व का है, तो भी वह उतना त्याज्य, असम्बद्ध और तिरस्करणीय निश्चित ही नहीं है जितने परिमाण में सामान्यतः दर्शन के इतिहासकारों के हाथ उसे उपहासास्पद दिखाया गया है।

जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते हैं उसकी चर्चा करने के हेतु जितनी पृष्ठभूमि हमने सामने रखी है उतनी पर्याप्त है। उसके आधार पर ऐसा पूछा जा सकता है कि सम्भवतः ऐसा न हो कि मूलभूततः दर्शन का स्वरूप उपरिनिर्दिष्ट स्थिति के समान ही हो? अगर ऐसा ही हो तो सामान्यतः जो कहा जाता है, कि आज तक इतने सैकडों वर्षों तक तत्त्वचिन्तन किया जाने के बावजूद भी दर्शन के विशिष्ट मौलिक प्रश्न कौनसे हैं या उनमें से कम-से-कम कुछ प्रश्नों का निश्चित उत्तर क्या है इसका कोई निर्णय नहीं हो पाया है और इसलिए ऐसा खेदपूर्वक कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि तत्त्वचिन्तन करनेवाले लोग एक तो अकार्यक्षम हों या तो महामूर्ख– उसका पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। आगे चलकर ऐसा भी कहा जाता है कि तात्त्विक या दार्शनिक चर्चा की इस प्रकार की फल-निष्पत्ति होती है क्योंकि मूलतः विषय चर्चास्पद है ऐसा स्वीकार कर भी लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कम-से-कम जिन प्रश्नों को लेकर चर्चा की जाती है वे प्रश्न ही निरर्थक होने के कारण उनका उत्तर देने के प्रयास में एकवाक्यता पैदा हो ऐसी अपेक्षा करना तो मूर्खता है। कहा जाता है कि किसी भी ओर से इस प्रकार सोचते हुए तात्त्विक चिन्तन का सारा प्रयास ही अर्थशून्य और अपेक्षित फल-रोधक ठहरा तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं।

आपाततः देखने से उपर्युक्त मत कितना भी स्वीकार्य लगता हो तो भी थोड़ा गहराई से सोचते हुए वह युक्तिसंगत नहीं है यह मालूम हो जायगा। जिस प्रकार की स्थिति तात्त्विक चिन्तन में आनेवाले प्रश्नों के सम्बन्ध में पैदा होती है वह विचार करनेवाले व्यक्तियों की अकार्यक्षमता से भी नहीं या पूछे जानेवाले प्रश्न ही अर्थशून्य होने के कारण विचार करने का सारा प्रयास जमीन पर साँप न होते हुए जमीन को ही पीटने जैसा होता है इसके जरिये भी नहीं। इस प्रकार की स्थिति चिन्तन-विषय की अस्वीकार्यता से भी पैदा नहीं होती। शायद ऐसा कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि तात्त्विक चर्चा के क्षेत्र में आने वाले विविध विचार-विषयों का स्वरूप ही मूलतः और आन्तरिकतः इतना पेचीला, जटिल एवं स्थानीय असंगति-सहिष्णु होता हो कि जिसकी वजह से उनमें से किसी एक प्रश्न का उत्तर किसी भी एक और एकमेव पर्याय की भाषा में दिया जाना ही असंभव होगा। और अगर किसीने इस प्रकार का उत्तर देने का प्रयास भी किया तो वह उत्तर सर्वंकष तथा सर्वव्यापी हो ही नहीं सकता। बल्कि, वह दुराग्रही, अपूर्ण और एकमेव-पर्यायी उत्तर होने के कारण अस्वीकार्य भी होता है। इस तरह से सोचते हुए यह प्रतीत होता है कि तात्त्विक चर्चा में सामने प्रस्तुत होनेवाले विभिन्न मत तथा मतांतर परस्पर व्यावर्तक और व्यवच्छेदक होते हैं ऐसा मानने के बजाय वे परस्पर-पूरक, एक दूसरे की त्रुटिपूर्णता को प्रस्तुत करनेवाले होते हैं ऐसा मानना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

अगर दार्शनिक विषय का स्वरूप ही इस प्रकार का होगा कि जिसके कारण उस विषय की चर्चा करने के प्रयास में निरपवाद, सर्वस्वीकृत और एकमेव पर्यायी विचार-प्रणाली उत्पन्न होना ही असंभव होगा, इतना ही नहीं कि उत्पन्न होने वाले विभिन्न मत-मतांतरों में, स्थानीय प्रकार की भी क्यों न हो, असंगति दिखायी देती हो तो तात्त्विक चर्चा के बारे में ऐसे एक परा-तार्किक दृष्टिकोण का स्वीकार करना सम्भव है कि जिसके आधार पर तात्त्विक चर्चा का सामान्यतः जिस प्रकार का अन्वयार्थ लगाया जाता है उससे भिन्न प्रकार का उसका अन्वयार्थ लगाना अधिक सुयोग्य होगा। हम ऐसा कह सकते हैं कि तात्त्विक या दार्शनिक चर्चा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र में आने वाले सभी मूलभूत प्रश्न ही मूलत: इस प्रकार के होते हैं कि उनका एकमेवपर्यायी, एकमार्गी, और विशेषत: संगत उत्तर मिलना ही कष्टप्रद या कहें असंभव होगा; उनके विविधांगी, और कम-से-कम आपातत: परस्पर-असंगत उत्तर मिलते हैं तथा उनमें से कोई भी निश्चित रूप में सत्यदर्शी नहीं होता ऐसा नहीं ! दर्शन विषयक चर्चा में अगर मानव के स्वत: संबंधी या जगत् के संबंधी अनुभव का अन्वयार्थ लगाने का प्रयास किया जाता हो तो ऐसा कहना ही विवादास्पद होगा कि इस प्रकार का प्रयास एकमेव संगत और सर्वमान्य रीति से ही किया जाना चाहिये । कारण, ऐसा कहते समय हम एक तो यह स्वीकार करते हैं कि मानवी अनुभव में परिवर्तन नहीं होता या तो उसके हमारे द्वारा लगाये जाने वाले अन्वयार्थ में । ये दोनों बातें थोड़ी गहराई से सोचते हुए अस्वीकार्य मालूम पड़ती हैं । ऐसा होने की वजह से अगर तात्त्विक विचार किसी गहन ग्रन्थ का अन्वयार्थ विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करने की तरह बहुविध विचारधाराओं में परिणत हुआ तो उसमें आश्चर्य नहीं । ऐसी स्थिति होने के कारण किसी मौलिक दार्शनिक प्रश्न का एकमेव, एकमार्गी, सर्वथा संगत, सर्वंकष एवं सर्वपर्यायसमावेशक उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करना या इस प्रकार का उत्तर कभी-न-कभी हमें मिल पायेगा ऐसी अपेक्षा करना ही मूलत: गलत है । इस प्रकार के प्रयास तथा प्रयत्नों से विविधांगी, बहु-मतप्रवाही, और विभिन्न दृष्टिकोणों को स्थल, काल, परिस्थिति-सापेक्षता से प्रशंसा प्राप्त हो इसी बात में दार्शनिक विचार की बहुप्रसवता निहित है, तथा इस प्रकार की विभिन्न मतप्रणालियों के प्रति, वे आपस में एक दूसरे से थोड़े अधिक परिमाण में असंगत होते हुए भी, हम सहिष्णुता का मार्ग अपनायें इस विचारधारा को संगति की आवश्यकता के एकमेव आधार पर विरोध करने के प्रस्ताव के बारे में थोड़ी अधिक गहराई से सोचने की आवश्यकता है ।

इस दृष्टिकोण से कितने लोग और कितने परिमाण में सहमत हो पाते हैं यह एक गौण प्रश्न है । वैसे वे सहमत होते हैं या नहीं यह भी उतना ही एक गौण प्रश्न है । क्योंकि सभी लोगों की सहमति किसी दार्शनिक प्रणाली की स्वीकार्यता का एकमेव या सब से महत्त्वपूर्ण निकष नहीं है । इसलिये कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ता है कि यह दृष्टिकोण तर्कत: केवल सम्भवनीय है इतना ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं उसे स्वीकार करने में कोई गंभीर आपत्ति भी नहीं दिखायी देती। इसे स्वीकार करने से उसके आधार पर तात्त्विक चर्चा का, दार्शनिक प्रश्नों और उन्हें दिये जानेवाले उत्तरों का एक नवीनतम पद्धति से अन्वयार्थ प्रस्तुत करने का स्वागतयोग्य मार्ग अपने हाथ आ सकता है जिससे उनकी परस्पर असंगति की जगह उनकी परस्पर संपूरकता हमारे सामने प्रस्तुत की जा सके। यही उसका सराहनीय तथा प्रशंसार्ह पक्ष है और इसलिए वह किसी को नहीं अच्छा लगता इस आधार पर खास ही तिरस्करणीय और त्याज्य नहीं रहता। *

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

– मो. प्र. मराठे

टिप्पणी

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २८ वे वार्षिक अधिवेशन में 'तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति' विभाग का अध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काश्मीर शैव दर्शन में अशुभ की समस्या

यह निर्विवाद है कि सृष्टि में अशुभ की उपस्थिति है। यह अशुभ प्रधानतया दो प्रकार का है - एक दुःख (Suffering) और दूसरा नैतिक अशुभ अथवा पाप (Sin)। यह दीखता ही है कि संसार में प्राणी नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं।[1] साथ ही यह भी दीखता है कि मनुष्य अपनी ओर से दूसरे प्राणियों को दुःख देता है अथवा दूसरे शब्दों में पाप करता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि में यह अशुभ कैसे और क्यों है? अशुभ की समुचित व्याख्या (Explanation) क्या है? प्रकृतिवादी या स्वभाववादी (Naturalist) इस विषय में यह कह दे सकता है कि दुःख-सुख, पाप-पुण्य दोनों ही प्राकृतिक स्वभाववश ही होते हैं। दोनों का बीज प्रकृति में ही है। अतः अशुभ क्यों है, इसकी अलग से व्याख्या खोजने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो दर्शन ईश्वरवादी हैं उनमें यह समस्या बहुत ही गम्भीर रूप में सामने आती है। ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है अतः वह सृष्टि में अशुभ की उपस्थिति को अच्छी तरह जानता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर असमर्थ हो, वह सर्वशक्तिमान् है, सृष्टि से अशुभ को हटाना चाहे तो हटा सकता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान् है किन्तु वह दुष्ट (Satanic) है जो अशुभ को सृष्टि में रहने देना चाहता है। ईश्वर को शिव रूप (Good) माना गया है। अतः यह प्रश्न अति गम्भीर रूप में सामने आता है कि ऐसे ईश्वर के होते हुए सृष्टि में अशुभ क्यों है? काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से तो यह समस्या और भी गम्भीर हो जायेगी क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र ईश्वरवादी होने के साथ-साथ लीलावादी भी है। यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और शुभ (शिव) रूप ईश्वर ने लीला के लिए आनन्द से सृष्टि की है तो सृष्टि में अशुभ कहाँ से आया?

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ की समस्या (Problem of Evil) पर कहीं स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है। अशुभ-समस्या की व्याख्या काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिक संरचना के आधार पर ही की जा सकती है। किन्तु इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अर्थ नहीं है कि काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों के मन में इस समस्या की व्याख्या स्पष्ट नहीं थी; सत्य यह है कि काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से अशुभ की पूर्ण व्याख्या सम्भव है और दार्शनिकों के मन में यह स्पष्ट था और साथ ही उन्होंने जगह-जगह इसका संकेत भी किया है। किन्तु कमी यह है कि कहीं भी इस विषय पर अलग से स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है। अतः यहाँ जो अशुभ की समस्या की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है वह काश्मीर शैव शास्त्र की सामान्य दार्शनिक संरचना पर ही आधारित है, यदि इसके लिए स्पष्ट उद्धरण खोजे जाएँ तो उसका अभाव रहेगा।

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण अशुभ की समस्या को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इसकी व्याख्या में कुछ लोग प्रायः यही कहते हैं कि पाप-पुण्य जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि जिसे हम पाप-पुण्य से अभिहित करते हैं, वह भी शिव की लीला है। काश्मीर शैव दर्शन स्पष्टतः जगत् को शिव का लीलाविलास मानता ही है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि पाप-पुण्य, सुख-दुःख नहीं है तो बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी व्यर्थ है तथा मोक्ष के लिए बताये गये उपाय आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। यदि पाप भी शिव की लीला है तो व्यक्ति पुण्य की ओर अभिमुख न होकर पाप ही करेंगे क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें कोई नैतिक बाध्यता (Moral obligation) नहीं होगी।

किन्तु उपर्युक्त अवधारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं। संसार में जो दुःख है उसका कारण मनुष्य का ही किया गया पाप कर्म है जिससे कर्मसिद्धान्त माना गया है जो काश्मीर शैव दर्शन को भी पूरी तरह ग्राह्य है। दूसरे शब्दों में, हम दुःख इसलिए पाते हैं कि हम ने पाप किया है। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि कर्म-नियम के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आवश्यक रूप से लगा है और यह भी काश्मीर शैव शास्त्र को पूरी तरह मान्य है। हम जो इस जन्म में दुःख पाते हैं वह आवश्यक नहीं है कि इसी जन्म के किये गये हमारे कर्मों का फल हो, वरन् वह पिछले जन्मों के भी किये गये कर्मों का फल हो सकता है।

कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कर्म-सिद्धान्त यान्त्रिक (Machanical) नहीं है बल्कि उद्देश्यमूलक (Purposive) है। कर्म का फल उसी तरह यान्त्रिक रूप से नहीं मिलता है जिस प्रकार अग्नि में हाथ डालने से हाथ जलता है; वरन् कर्म का फल एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिलता है, वह है जीव का सुधार या आत्म-शुद्धि। भगवान् ने मनुष्य को सही रास्ते पर लाने के लिए ही कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था की है। इसीसे यह बात भी निकलती है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाय अर्थात् हम पश्चात्ताप करके अपने को सुधार लें और भले बन जाय तो हमारे पुराने कर्म माफ भी हो जा सकते हैं। इसमें कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं है क्योंकि जब हमारा सुधार हो जाता है तो कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाता है और तब दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

काश्मीर शैव दर्शन की ओर से जो अशुभ की समस्या का समाधान दिया जाता है वह वही है जो प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में दिया गया है, वह है कर्मवाद का सिद्धान्त। काश्मीर शैव शास्त्र भी कर्म-सिद्धान्त को पूर्णतया मानता है। यदि इस विषय में इस दर्शन की कोई अपनी विशेषता कही जा सकती है तो वह मनुष्य के इच्छा स्वातन्त्र्य (Freedom of will) पर बिशेष आग्रह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त मानते हैं वे लोग इच्छा-स्वातंत्र्य भी मानते हैं क्योंकि बिना इच्छा-स्वातंत्र्य माने कर्म की जिम्मेदारी जीव पर नहीं होगी। काश्मीर शैव शास्त्र इस इच्छा-स्वातंत्र्य पर विशेष रूप से बल देता है। वह जीव को अणु (Mini Siva) मानता है और यह मानता है कि शिव अपने पूर्ण स्वातंत्र्य में बृहद् रूप से जो करता है वह अणु शिव या जीव भी छोटे दायरे में करता ही है।[२] जीव में भी शिव की तरह इच्छा-स्वातंत्र्य है, अन्तर इतना है कि शिव का इच्छा-स्वातन्त्र्य असीम है जबकि जीव का इच्छा-स्वातन्त्र्य सीमित दायरे में है। सीमित दायरे में ही सही किन्तु इच्छा-स्वातन्त्र्य जीव में तो है ही और इसीलिए वह भला या बुरा कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है एवं अपने कर्म की जिम्मेदारी भी उसीपर है।

कुछ लोग यह मानते हैं और शास्त्र में भी ऐसा कह दिया गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है; जीव अज्ञानवश अपने को कर्ता समझता है, वास्तविक कर्ता भगवान् है। यदि इस कथन को सीधे अर्थ में लिया जाय तो कठिनाई उपस्थित होगी। यदि ईश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है तो पाप के लिए जिम्मेदार भी ईश्वर ही होगा। ऐसी स्थिति में जीव के लिए अशुभ की कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती क्योंकि तब पाप को भी ईश्वर का ही कर्म कहेंगे। कर्म-सिद्धान्त का भी तब कोई अर्थ नहीं रह जाता; यह उपचार मात्र ही रह जायेगा। कर्म-सिद्धान्त का मूल्य तभी रह सकता है जब यह माना जाय कि कर्म के लिए जिम्मेदार ईश्वर नहीं बल्कि जीव है।

किन्तु परमेश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इसका अर्थ यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि व्यक्ति जिस शक्ति से कर्म करता है वह परमेश्वर की ही शक्ति है अथवा परमेश्वर प्रदत्त ही है; अहंकारवश हम उस शक्ति को अपनी शक्ति समझ लेते हैं। जीव तत्त्वत: शिव ही है इसीलिए कहा जाता है कि परमेश्वर ही कर्म करता है। किन्तु परमेश्वर कर्म नहीं करता। यदि कर्म परमेश्वर द्वारा संपादित मान लिया जाय तो शिव में अपूर्णता आ जायेगी। शिव कर्म नहीं करता बल्कि क्रिया करता है जो स्पन्द है। जिस पर पाप-पुण्य निर्भर है वह कर्म शिव का स्पन्द नहीं है। कर्म जीव करता है जो तत्त्वत: शिव है किन्तु अवस्था में शिव नहीं है। कर्म को शिव से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता (क्योंकि कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं) अत: यही मान्य होना चाहिए कि कर्म जीव करता है तथा अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से करता है। जीव शिव की ही क्रियाशक्ति (जो उसे सीमित रूप में प्राप्त है) से कर्म करता है किन्तु जब वह अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य का गलत प्रयोग (Misuse) करता है तो वह पापोन्मुख होता है।

यह जो कहा गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है अथवा वास्तविक कर्ता शिव ही है, इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि सारी कर्म-शक्ति शिव की है जीव की या अहंकार की नहीं। जब शक्ति शिव की ही है तो वास्तविक कर्ता शिव को ही कहा जायेगा, किन्तु कर्म की जिम्मेदारी शिव पर नहीं होगी क्योंकि उस शक्ति को गलत या सही उपयोग करने की जिम्मेदारी जीव पर है। उदाहरण के लिये कोई पुत्र जो भी खर्च करता है वह सारा पैसा पिता देता है अत: यह कहा जा सकता है कि वास्तविक खर्च तो पिता ही कर रहा है किन्तु पिता केवल पैसा देता है, उस पैसे को कैसे खर्च करना है इसकी जिम्मेदारी पुत्र पर है। उसी प्रकार जीव जो कर्म करता है उसकी सारी शक्ति परमात्मा से आती है। अत: इस अर्थ में परमात्मा ही वास्तविक कर्ता हुआ किन्तु उस शक्ति का सदुपयोग (पुण्य) या दुरुपयोग (पाप) करना जीव पर निर्भर है। इसलिये पाप-पुण्य भगवान् नहीं कराता; वह स्वयं जीव करता है।

भगवान् जीव से कर्म कराता है, इसका अर्थ अगर यह समझा जाय कि वह जीव को कर्म करने के लिये प्रेरणा देता है तो इस अर्थ को सीमित क्षेत्र में ही लागू करना उचित होगा। पाप कराने के अर्थ में इस कथन को लागू नहीं करेंगे क्योंकि शिव कभी भी पाप करने की प्रेरणा नहीं देता; पाप स्वयं जीव अपनी मर्जी से करता है। भगवान् कर्म करने की प्रेरणा देता है इसको दो अर्थों में लागू किया जा सकता है। एक तो यह कि जहाँ जीव के पूर्व-कर्म के फल-भोग के लिए परिस्थिति पैदा करना हो वहाँ ईश्वर कर्म करने के लिए प्रेरणा दे सकता है।[३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे, जहाँ ईश्वर को विश्व कल्याण के लिए कार्य कराना हो वहाँ भी वह जीव को निमित्त वना कर कर्म करा देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शिव कर्म कराता है' इसका प्रधान अर्थ यही है कि कर्म-शक्ति शिव की है जीव की नहीं। शिव कर्म कराता है इसका सीधा अर्थ केवल दो परिस्थितियों में लागू करेंगे जहाँ या तो जीव को कर्म फल प्रदान करने के लिए परिस्थिति उत्पन्न करना हो अथवा जहाँ जीव को निमित्त बनाकर विश्व कल्याण कराना हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाप ईश्वर नहीं कराता वरन् जीव ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का अपनी स्वेच्छा से दुरुपयोग करता है, यही पाप है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर जब जानता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है तो जीव में स्वतन्त्र इच्छा क्यों रहने देता है? उदाहरण के लिए किसी बच्चे के हाथ में हथियार दे दिया जाय और यह सम्भावना हो कि वह उसका दुरुपयोग कर सकता है तो ऐसी अवस्था में यही उचित होगा कि या तो बच्चे के हाथ में हथियार ही न दिया जाय अथवा उस हथियार का उपयोग करने की स्वतन्त्र इच्छा को बच्चे में न रहने दिया जाय। इसका उत्तर यह है कि शिव ने जीव को जो अपनी शक्ति दी है वह इसलिए नहीं कि जीव उसका दुरुपयोग करे बल्कि इसलिए कि उसका सदुपयोग कर सृष्टि कार्य में उसका सहयोग करे। शिव यह कभी नहीं चाहता कि जीव उसकी शक्तियों का दुरुपयोग करे अर्थात् पाप करे लेकिन वह यह भी नहीं चाहता कि जीव जबर्दस्ती उसकी मर्जी के अनुसार चले। शिव यदि चाहे तो जीव की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति न रहे और जीव को पूर्णत: ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना पड़े किन्तु ऐसी अवस्था में जीव स्वतन्त्र नहीं रहेगा; वह यन्त्र-मानव (Robot) से अधिक कुछ नहीं होगा। फिर सृष्टि शुद्ध यान्त्रिक हो जायेगी। फिर सृष्टि लीला अथवा आनन्द रूप नहीं रह जायेगी। शिव यह चाहता तो है कि जीव उसके रास्ते पर चले किन्तु वह यह चाहता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से ऐसा करे। यदि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से न चल कर जबर्दस्ती शिवेच्छा के अनुसार चले तो इसमें न तो जीव का ही वास्तविक कल्याण है और न ही शिव के लिए आनन्द है। जीव का वास्तविक कल्याण इसी में है कि वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से भलाई का मार्ग चुने अर्थात् शिवेच्छा को स्वीकार करे। इसी में शिव की भी लीला या आनन्द है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त कारण से ही शिव जीव की स्वतन्त्र-इच्छा में दखल नहीं देता। हां, वह नाना प्रकार के उपाय–शास्त्र, गुरु, अन्तःप्रेरणा आदि द्वारा यह प्रयत्न करता है कि जीव भलाई की ओर स्वतन्त्रता-पूर्वक आये । जीव यदि ऐसा न करके बुराई का मार्ग अपनाता है तो वह उसे दण्ड भी देता है । यह सब इसीलिए करता है कि जीव यह समझ सके कि सत्य मार्ग चलने में ही कल्याण है और उस पर चलने के लिए स्वतन्त्रता से राजी हो । [४]

अशुभ की समस्या के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है वह यह कि भारतीय दर्शनों में प्रायः सब जगह कहा गया है (काश्मीर शैव शास्त्र भी कहता है) कि दुःख का वास्तविक कारण अज्ञान है । अज्ञान ही के कारण मनुष्य गलती भी करता है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया गया है कि मनुष्य जिस अनादि अज्ञान से आवृत्त होकर पाप करता है और दुःख पाता है, वह स्वयं जीव की रचना नहीं है, वह या तो जीव पर अपने आप निर्भर है अथवा उसे परमात्मा ने दिया है । बात यहाँ आई कि बुराई अज्ञान के कारण होती है और अज्ञान के लिए स्वयं जीव जिम्मेदार नहीं होता । अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब जीव अज्ञान के लिए जिम्मेदार नहीं है तो उसे पाप के लिए जिम्मेदार कैसे ठहराया जा सकता है ? यदि अज्ञान शिव ने दिया है तो पाप की जिम्मेदारी भी शिव पर होगी। जीव को तो हम उसी चीज के लिए जिम्मेदार ठहरा सकते हैं जिसका कारण स्वयं जीव हो ।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तो सत्य है कि बिना अज्ञान के कोई पाप नहीं करेगा किन्तु यह भी सत्य है कि अज्ञान पाप का आवश्यक कारण (necessary condition) होते हुए भी वह पाप का पर्याप्त कारण (Sufficient condition) नहीं है । उदाहरण के लिए आग धुयें का आवश्यक कारण है, बिना आग के धुआँ उत्पन्न हो नहीं सकता किन्तु साथ ही यह सत्य है कि आग स्वयं अपने आप में धुआँ पैदा नहीं कर सकती । धुआँ पैदा होने के लिए आग में लकड़ी का गीलापन आवश्यक है । दूसरे शब्दों में, आग धुएँ के लिए आवश्यक कारण होते हुए भी पर्याप्त कारण नहीं है; पर्याप्त कारण तब होगा जब लकड़ी का गीलापन मिल जायेगा अतः धुयें का कारण आग को नहीं कहा जा सकता बल्कि लकड़ी के गीलेपन को ही कहा जायेगा । इसी प्रकार मात्र अज्ञान पाप का कारण नहीं कहा जा सकता । यदि मात्र अज्ञान ही पाप कारण होता तो सभी अज्ञानी व्यक्ति पाप क्यों नहीं करते ? ऐसा क्यों होता कि अज्ञानी व्यक्तियों में कुछ लोग पाप करते हैं तथा कुछ लोग पुण्य करते हैं । इस विभेद का वास्तविक कारण यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि पाप-पुण्य अज्ञान के कारण नहीं बल्कि कर्ता की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के कारण होता है। कर्ता ही यह निर्णय करता है कि हम उचित पथ पर चलें अथवा अनुचित। अतः पाप-पुण्य की जिम्मेदारी कर्ता पर ही है अज्ञान पर नहीं।

शिव ने जो अज्ञान दिया है वह तो लीला अथवा आनन्द के लिए है। हम अपने अनुभव में भी देख सकते हैं कि अज्ञान के साथ यदि स्वतन्त्रेच्छा का दुरुपयोग न मिलाया जाय तो केवल अज्ञान से कोई कष्ट नहीं होता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण बच्चा है। बच्चा में शुद्ध अज्ञान है। स्वतन्त्रेच्छाकृत पाप उसमें अभी नहीं मिला है। इसलिए बच्चा प्रसन्न रहता है। बच्चा अज्ञान में होते हुए भी पापरहित (Innocent) होता है। यदि भगवान् ने अज्ञान लीला लिए बनाया और उसमें गड़बड़ी हम अपनी स्वतन्त्र मर्जी से करते हैं तो इसमें भगवान् का क्या दोष है? दृष्टान्त के लिए विज्ञान में बिजली का आविष्कार है जिससे संसार के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य संचालित होते है किन्तु मानवीय प्रमादवश कहीं बिजली खतरे का कारण बनती है तो इसमें बिजली अथवा बिजली बनाने वाले का क्या दोष है?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अशुभ की समस्या का सन्तोषजनक समाधान है। अशुभ की समस्या देखने में अवश्य ही दुरूह मालूम पड़ती है और यह निर्णय दे देना स्वाभाविक है कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा अशुभ के लिए शिव ही जिम्मेदार है। किन्तु यह उतावलेपन में किया गया निर्णय (Hasty judgement) ही कहा जा सकता है। अशुभ की समस्या पर यदि गम्भीरता एवं सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम शीघ्रता में यह निर्णय नहीं दे देंगे कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा इसके लिए शिव ही जिम्मेदार है। उपर्युक्त विश्लेषण में यह जो दिखाया गया है कि अशुभ जीव की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से आता है, परमात्मा उसके लिए जिम्मेदार नहीं है– इस अवधारणा की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

– कैलासपति मिश्र

२७, दीनदयाल नगर कालोनी
नवाब गंज, दुर्गा कुण्ड
वाराणसी–१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. भगवान् बुद्ध ने दुःख की समस्या को बहुत ठीक से पकड़ा था, उन्होंने अपने चार आर्य सत्यों में दुःख को पहला आर्य सत्य कहा है ।

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

३. इसी अर्थ में दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि भगवती ज्ञानियों के भी चित्त को जबर्दस्ती प्रभावित कर उन्हें मोहित कर देती है ।

महामाया हरेश्चैषा तथा संमोह्यते जगत् ।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ॥

प्रथमोऽध्यायः ५५–५६

४. उपर्युक्त बात शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म की मान्यता से बिल्कुल मिलती है । वहाँ भी यह मान्यता है कि भगवान् जीव की स्वतन्त्र इच्छा में दखल न देते हुए नाना प्रकार के उपाय करता है और प्रतीक्षा करता है कि भटका हुआ जीव अपने रास्ते पर आ जाय । ईसाई धर्म में दुष्ट व्यक्ति के सत्य मार्ग पर लौट आने (Return of the prodigal son) का बहुत ही महत्त्व है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथक का अर्थ

मानव संस्कृति आदि काल से ही स्वयं को अनेक माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त करती आई है और मिथक कदाचित् सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्राचीनतम माध्यम है।

मिथक किसी भी सांस्कृतिक संरचना का एक अभिन्न अंग है और इसीलिए उसका स्वरूप कभी भी संस्कृति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। हम ऐसे किसी भी मिथक की कल्पना नहीं कर सकते जो किसी-न-किसी संस्कृति से जुड़ा हुआ न हो। मिथक के अर्थ को उसकी संस्कृति से अलग करके कभी नहीं समझा जा सकता। मिथक को उसके सांस्कृतिक सन्दर्भ में रखने के बाद ही हम उसके स्वरूप और उसकी संरचना को समझ पाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे कई उदाहरण मिल जावेंगे जब नए सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप पुराने मिथकों की पुनर्सृष्टि की गई है। ऐसे उदाहरणों में हम मौलिक मिथक और संशोधित मिथक में अन्तर कर पाते हैं और तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि मिथक किस प्रकार सर्वंव अपनी सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा रहता है। यदि हम मिथक को उसकी संस्कृति से पृथक् कर दें तो शायद वह एक कपोल-कल्पित कथा मात्र रह जाएगा। तब उसके अर्थ को पकड़ पाने में हम पूर्णतः असफल रहेंगे। यही कारण है कि दो भिन्न संस्कृतियों वाले मिथकों में कदाचित् कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं ढूंढा जा सकता। मिथक का अर्थ मानो उसकी सांस्कृतिक संरचना में ही निहित होता है।

'मिथक' शब्द हिन्दी में अंग्रेजी 'मिथ' का रूपान्तरण है। 'मिथ' शब्द यूनानी पद 'मिथोस' से अंग्रेज़ी में आया है जिसका अर्थ भाषा अथवा कथा से है। सर्वप्रथम यह शब्द यूनानी संस्कृति की प्रागैतिहासिक कथाओं के लिए ही प्रयोग में लाया गया था। 'मिथोलोजी' ऐसी ही कथाओं के संग्रह और अध्ययन का शास्त्र है। मूलतः मिथक, इस प्रकार, एक ऐसी परम्परागत कथा है जिसका मन्तव्य सांस्कृतिक मूल्यों को सम्प्रेषित करना है। इस अर्थ में मिथक नीतिकथाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और किंवदन्तियों दोनों से ही भिन्न है। नीतिकथाएँ मूलतः शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं जो हमें व्यवहारगत सीख देती हैं, और किंवदन्तियाँ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के इर्द-गिर्द बुनी हुई कहानियाँ हैं। मिथक न तो आवश्यक रूप से कोई शिक्षाप्रद कहानी है और न ही ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित कोई आख्यान है। वह अनिवार्यतः एक ऐसी कथा है जो अपने समय के **सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करता है** किन्तु यह अभिव्यक्ति अपरोक्ष न होकर प्रायः **प्रतीकात्मक और लाक्षणिक** होती है। मिथक, इस प्रकार, सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतीकात्मक स्तर पर रूपायित करते हैं।

अपनी प्रतीकात्मक और लाक्षणिक विधा के कारण मिथक का अर्थ प्रायः समझ पाना कठिन हो जाता है और इसीलिए उसकी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ सम्भव हो पाती हैं। कोई विद्वान् उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करता है तो कोई सामाजिक। कोई उसे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखता है तो कोई मनोविश्लेषणात्मक। मिथक बहुत कुछ स्वप्न के समान होता है जिसके व्यक्त और अव्यक्त विषय में भेद करना आवश्यक है। जिस प्रकार व्यक्त रूप से सभी स्वप्न भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु अव्यक्त रूप से वे सभी व्यक्ति की विविध इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार मिथक भी हैं। कथाओं की विविधता होते हुए भी सभी **मिथकों का प्रेरक एक ही है– समय के सांस्कृतिक मूल्य।**

मिथक क्योंकि सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः नहीं करते इसलिए उनका **अतिकाल्पनिक** होना भी आवश्यक है। यहाँ हम पुनः मिथकों की तुलना स्वप्न से कर सकते हैं। स्वप्न और मिथक दोनों का ही सृजन कल्पना द्वारा होता है। अंग्रेज़ी में 'मिथ' का अर्थ 'मिथ्या' से भी है। मिथक इस प्रकार कपोलकल्पित कथाओं के रूप में भी पहिचाने गए हैं। किन्तु मिथकों को एक विशेष अर्थ में ही कपोल-कल्पित कहा जा सकता है। मिथकीय कल्पना मिथ्या न होकर सांस्कृतिक 'सत्य' पर आधारित होती है और सांस्कृतिक सत्य, जैसा कि स्पष्ट है, सांस्कृतिक मूल्यों में ही निहित होता है। स्पष्ट ही मिथक तथ्यात्मक यथार्थ पर आधारित नहीं होते– और केवल इसी अर्थ में वे कपोलकल्पित हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे असत्य हैं। वस्तुतः **सत्यासत्य के पैमाने पर उन्हें नापा ही नहीं जा सकता।** उन्हें सामान्य, साधारण अर्थ में सत्य या मिथ्या नहीं कहा जा सकता। उन्हें, यदि विज्ञान की भाषा का उपयोग करें, सत्यापित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका सन्दर्भ तथ्यात्मक जगत् से न होकर मूल्यगत जगत् से है। और जिस हद तक मिथक मूल्यों से सन्दर्भित हैं, उन्हें मिथ्या की कोटि में नहीं रख सकते। किन्तु सत्य की कोटि भी उनके लिए अनपयुक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य, जिनकी प्रच्छन्न अभिव्यक्ति मिथक करते हैं, केवल मूल्यवान् हो सकते है, माननीय हो सकते हैं, मिथ्या या सत्य नहीं हो सकते ।

मिथकीय कल्पना सुविचारित और तार्किक नहीं होती । वह व्याघात के नियम का उल्लंघन कर सकती है । वहाँ भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों ही, साथ-साथ रह सकते हैं । वहाँ सुख और दुःख की अनुभूतियाँ घुलमिल जाती हैं। वहाँ तर्क का पूर्णतः अभाव है । मिथकीय कल्पना तर्क का संक्रमण कर जाती है और मिथक इस प्रकार **तर्कातीत और कालातीत** हो जाता है। मिथक को इसीलिए प्राक्तन तर्क कहा गया है। मिथकीय तर्क, तर्कबुद्धि से कहीं अधिक पुराना है । यह वह तर्क है जहाँ अभी अवधारणाओं और कोटियों का विकास नहीं हुआ है । जहाँ भौतिक और अभौतिक, मानवी और दैवी, कल्पना और यथार्थ, भूत और भविष्य, व्यावहारिक और पारमार्थिक का सुस्पष्ट भेद नहीं हुआ है ।

मिथक प्रायः **परम्परागत** होते हैं । वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद रखे जाते हैं। उनका उद्गम ऐतिहासिक काल में ढूँढना प्रायः सम्भव नहीं होता । अधिकांशतः वे प्रागैतिहासिक हैं । किन्तु बहुत से मिथक ऐतिहासिकता के अन्तर्गत भी हैं। वस्तुतः उनकी ऐतिहासिकता या प्रागैतिहासिकता इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस संस्कृति से सम्बद्ध हैं । प्रागैतिहासिक संस्कृतियों से सम्बद्ध मिथक स्पष्टतः प्रागैतिहासिक ही होंगे । किन्तु जब हम मिथकों के पुरातनत्व पर बल दे रहे होते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक संस्कृति के अपने अलग मिथक हैं और उन्हें किसी भी दशा में पौराणिक नहीं कहा जा सकता ।

मिथक के बारे में केवल इतना जान लेना कि वह मोटे तौर पर से सांस्कृतिक मूल्यों को प्रच्छन्न रूप से अभिव्यक्ति देने वाली एक काल्पनिक, अतर्कसंगत और प्राचीन कथा है, उसकी वास्तविक अर्थक्रिया को जान पाने के लिए काफी नहीं है । वस्तुतः 'मिथक क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना लगभग असम्भव है क्योंकि यह प्रश्न मिथक के बारे में हमें पीछे मुड़ कर देखने के लिए बाध्य करता है । मिथक एक सांस्कृतिक कथा है; मिथक एक काल्पनिक कथा है; मिथक एक तर्कातीत कथा है; मिथक एक पौराणिक कथा है– आदि सारी बातें मिथक के बारे में हमें केवल इतना ही बताती हैं कि मिथक की सृष्टि किस प्रकार हुई है । ये सभी कथन मिथक के इतिहास से सम्बन्धित हैं और मिथक की बाह्य शरीर-रचना पर प्रकाश डालते हैं । मिथक के अर्थ को उसके इतिहास में ढूंढना अकादमिक दृष्टि से हो सकता है शायद उपयोगी हो, किन्तु प्रासंगिकता की दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मिथक की अर्थक्रिया को जानना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। अतः मिथक क्या है ? इस प्रश्न की अपेक्षा यदि हम यह पूछें, 'मिथक क्या करता है?' तो अधिक सार्थक होगा। यह प्रश्न पश्चगामी न होकर अग्रवर्ती प्रश्न होगा जो मिथक की वर्तमान प्रासंगिकता को रेखांकित कर उसके प्रयोजन पर, उसकी क्रिया और उपयोगिता पर प्रकाश डालेगा। मिथक को उसकी वर्तमान सक्रियता में जानने के लिए यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न मिथक को एक सांस्कृतिक उपकरण की तरह देखता है। मिथक इस दृष्टि से मूलतः एक हथियार, या औज़ार है जिसे एक सांस्कृतिक साधन के रूप में जाना जा सकता है।

मिथक के प्रयोजन को कई परिप्रेक्ष्यों में देखा जा सकता है। इसका सन्दर्भ जहाँ इतिहास और राजनीति से हो सकता है, वहीं कला और साहित्य से भी हो सकता है। किन्तु मिथक की शक्ति और उसके कार्य को सर्वाधिक समग्र रूप से सांस्कृतिक सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है मिथक अनिवार्यतः एक सांस्कृतिक कथा है और इस नाते वह व्यक्त या अव्यक्त रूप से **सांस्कृतिक मूल्यों का वाहक** है। सांस्कृतिक मूल्यों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रमुख रूप से मिथकों द्वारा ही पहुँचाया जाता है। मिथक इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों के सम्प्रेषण का एक माध्यम है। राजनीति शास्त्र में मिथक के अर्थ से, अनेक आधुनिक विचारकों ने, कथा तत्त्व को यद्यपि समाप्त कर दिया है तथापि उसे सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक के रूप में पूर्णतः सुरक्षित रखा है। उदाहरण के लिए जब प्रजातन्त्र को एक मिथ की तरह रूपायित किया जा है तो इसका अर्थ यही है कि प्रजातन्त्र की धारणा किन्हीं विशेष सांस्कृतिक मूल्यों की, जिन्हें तथ्यात्मक रूप से सत्यापित नहीं किया जा सकता, द्योतक, है। मिथक सत्य और मिथ्या के सन्दर्भों से पूर्णतः मुक्त है और प्रजातन्त्र भी एक ऐसी ही धारणा है जिसका सन्दर्भ किन्हीं आदर्शों और मूल्यों से है। इन्हें तथ्यों की तरह सच या झूठ नहीं कहा जा सकता। अतः वे सभी धारणाएँ, जो मूल्यों की वाहक हैं, मिथक हैं।

किन्तु मिथक का उद्देश्य केवल सांस्कृतिक मूल्यों को सम्प्रेषित करना ही नहीं है। मिथक सांस्कृति अस्मिता की पहचान ही नहीं करवाते वरन् उसे सुरक्षित भी रखते हैं। **मिथक सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षक हैं।** युगों-युगों से संस्कृतियों की पहचान उनके मिथकों से होती रही है और इस प्रकार अनेक संस्कृतियाँ मानव स्मृति में सुरक्षित रह सकी हैं। मिथकों के अभाव में कई संस्कृतियाँ न केवल अपने आपमें बल्कि मानव स्मृति में भी पूर्णतः समाप्त हो गई होतीं। वस्तुतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य मिथकों के दुहराने में अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को पुनः पुनः जन्म देता है और उसे नष्ट हो जाने से बार-बार रोकता है।

संस्कृति एक परम्परागत संवृत्ति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सांस्कृतिक परिवर्तन होते ही नहीं। वस्तुतः युगीन आवश्यकताओं के अनुसार सांस्कृतिक मूल्यों में कुछ मूल्य अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और कुछ अन्य मूल्य धुंधले पड़ जाते हैं। इसी प्रक्रिया के समानान्तर मिथक भी युगीन आवश्यकतानुसार महत्त्वपूर्ण और अमहत्त्वपूर्ण होते रहते हैं। वे मूल्य जो किसी विशेष युग में आग्रहशील हो जाते हैं, उनको अभिव्यक्ति देने वाले मिथक भी महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं और वे पुनर्स्थापित हो जाते हैं। मिथक इस प्रकार **सांस्कृतिक निरन्तरता के संरक्षक** भी हैं।

मिथक, जहाँ एक ओर, सांस्कृतिक निरंतरता का संरक्षक है, वहीं दूसरी ओर वह मनुष्य की **सर्जनात्मक चेतना का निर्देशक** भी है। मनुष्य का सर्जनात्मक जीवन सांस्कृतिक अनुभवों के प्रभाव क्षेत्र से बाहर नहीं होता। यही कारण है कि मनुष्य सभी सर्जनात्मक कलाओं में –विशेषकर कविता और साहित्य में– मिथकों को नए अर्थ देकर बार-बार प्रस्तुत करता है और इस प्रकार अपनी संस्कृति के संरक्षण के साथ-साथ उसे अधिक संपन्न और सृजनात्मक बनाता है। रामकथा की प्रत्येक युग में अलग-अलग तरह से सृष्टि की गई है। वाल्मीकी द्वारा प्रस्तुत रामायण ठीक उन्हीं मूल्यों पर बल नहीं देती जिन पर तुलसीकृत रामचरित मानस का आग्रह है। इसी प्रकार मैथिली शरण गुप्त का साकेत और निराला की राम की शक्ति पूजा भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करती हैं। किन्तु सबसे ही मिथक एक ही है और वही सभी उदाहरणों में सर्जनात्मक चेतना का निर्देशक है।

संस्कृति का वाहक, संरक्षक और निर्देशक होने के नाते मिथक **विज्ञान का आलोचक** भी है। विज्ञान का प्रमुख कार्य प्राकृतिक घटनाओं और व्यवहार का तथ्यात्मक अध्ययन है। किंतु मिथक इस बात पर जोर देता है कि वास्तविकता केवल प्राकृतिक और तथ्यात्मक नहीं होती। तथ्यों के संसार से अलग, किंतु उससे आवश्यक रूप से संबंधित, एक संसार मूल्यों और आदर्शों का भी है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवी संदर्भ में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना तथ्यात्मक जगत् है। कल्पना और मूल्यों का यह संसार, जिसकी सृष्टि मिथक करते हैं, व्यक्ति के चिंतन और व्यवहार को एक रहस्यमय किंतु अत्यन्त शक्तिशाली रूप से प्रभावित करता है। इसके प्रभाव को वैज्ञानिक और तर्कीय विद्या से समझा नहीं जा सकता। किन्तु इस कारण मिथकों के महत्त्व का, उनकी शक्ति का, अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। मिथक, मनुष्य की उस परिभाषा को, जो उसे केवल एक विचारवान् प्राणी के रूप में प्रस्तुत करती है, खंडित करता है और उसके स्थान पर मनुष्य को एक सांस्कृतिक प्राणी, जिसकी चिंता तथ्य का संसार न होकर मूल्यों का संसार है, के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

प्रिन्सिपल्स हाउस
गवर्नमेण्ट कोलेज
जोरा– ४५७ २२६

– सुरेन्द्र वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वभाववाद एवं उसका विश्लेषण

अनादि काल से ही भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सिद्धान्त अपने-अपने परिप्रेक्ष्म में सृष्टि का कारण खोजने का प्रयत्न करते रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कुछ मूलभूत प्रश्न उठाए गए हैं एवं स्वभाव को सृष्टि का कारण बतलाया गया है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के निर्माण के समय जितने भी मत सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित थे, उन सभी मतों की ओर यहाँ संकेत किया गया है। ये मत हैं : कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद एवं पुरुषवाद। यहाँ स्वभाववाद पर सभी दार्शनिक दृष्टियों से विचार किया जाएगा।

सर्वप्रथम हम स्वभाववाद पर बौद्ध दृष्टि से विचार करते हैं। यह सर्वविदित है कि बौद्ध-दर्शन में सभी पदार्थों को शून्यता से जोड़ा गया है एवं सभी पदार्थ शून्य में आकर विलीन हो जाते हैं। इसी शून्यता के सिद्धान्त को मानकर बौद्धों का कहना है कि वस्तुओं का अपना कोई स्वभाव नहीं होता। मध्यमकशास्त्र [1] में नागार्जुन का कहना है कि स्वभाव उत्पन्न नहीं होता; हम यदि यह मानें कि प्रत्येक पदार्थ का एक स्वभाव होता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि विभिन्न कारण तत्त्वों से स्वभाव की उत्पत्ति होती है परन्तु स्वभाव वास्तव में प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनुत्पन्न होता है। नागार्जुन [2] स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव का यह कहकर परित्याग करते हैं कि जो लोग बुद्ध के शासन में स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव का दर्शन करते हैं वे तत्त्व को नहीं जानते हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार स्वभाव का प्रयोग बौद्ध-दर्शन में दो अर्थों में किया गया है।

१. प्रथम अर्थ में स्वभाव का प्रयोग किसी वस्तु के सार के रूप में किया गया है, उदाहरण के लिए जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है। इसकी व्याख्या करते हुए उनका कहना है कि यहाँ जो धर्म जिस पदार्थ का व्यभिचार नहीं करता है उसको उसका स्वभाव माना गया है। [3]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. दूसरे अर्थ में परभाव के विपरीत रूप में स्वभाव का प्रयोग अपने भाव के रूप, अर्थात् किसी वस्तु का आत्मीय रूप।[४]

बौद्धदर्शन में सभी वस्तुओं के स्वभावत्व का परित्याग किया गया है और यह कहा गया है कि किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं होती है। चन्द्रकीर्ति का कथन है, "हम किसी ऐसे स्वभाव को नहीं मानते जो कृत्रिम एवं परसापेक्ष है।"[५] यहाँ भौतिक अर्थ में स्वभाव को स्वीकार किया गया है क्योंकि वस्तु का तथाकथित स्वभाव या सार कृत्रिम एवं परसापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए अग्नि का स्वभाव उष्णता, माचिस, शीशा, ईधन या दो लकड़ियों के संघर्षण जैसे अनेक तत्त्वों पर निर्भर करता है। सही अर्थ में यह स्वभाव नहीं है। वास्तविक रूप में स्वभाव परम तत्त्व है जब कि सभी पदार्थ सापेक्ष एवं पराश्रित होने के कारण परभाव हैं। स्वभाव की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं, "जो धर्मों की धर्मता है वही उनका स्वरूप है। धर्मों की यह धर्मता क्या है? धर्मों का स्वभाव। यह स्वभाव क्या है? प्रकृति। यह प्रकृति क्या है? यह जो शून्यता है वही प्रकृति है। यही नैःस्वभाव्य है। नैःस्वभाव्य क्या है? तथता नैःस्वाभाव्य है। तथता क्या है? इस प्रकार (पदार्थों का) अभाव एवं अविकारित्व की स्थापना हो गई है। जो सर्वथा अनुत्पाद ही रहता है, जैसे अग्नि आदि। परनिरपेक्ष एवं अकृत्रिम होने के कारण अग्नि का स्वभाव होता है।"[६]

विग्रहव्यावर्तनी में भी सभी भावों की परिणति नैःस्वाभाव्य में मानी गई है तथा उनको शून्यता के रूप में स्वीकार किया गया है।[७] विग्रहव्यावर्तनी का कथन है कि यदि कोई स्वभाव है भी तो वह धर्मों का नहीं होता इसलिए वह जो बिना धर्मों का स्वभाव है उसका उपदेश देना उपयुक्त है।[८]

आचार्य धर्मकीर्ति नामक एक अन्य बौद्ध दार्शनिक ने स्वभाव को न्याय से जोड़ने का प्रयत्न किया है। निगमनात्मक न्याय के हेतु वे स्वभाव को कारण के साथ जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। न्यायबिन्दु में वे कहते हैं, "जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है, हेतुसत्ता व्यतिरिक्त किसी हेतु की अपेक्षा नहीं करती, उस साध्य में जो हेतु हैं, वह स्वभाव है।

उदाहरण--

यह वृक्ष है (साध्य)।
क्योंकि यह यह शिंशपा है (हेतु)।"[९]

इसका अर्थ यह है कि इसके लिए वृक्ष शब्द का व्यवहार हो सकता है; क्योंकि इसके लिए शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। अब यदि किसी मूढ़ पुरुष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जो शिंशपा का व्यवहार नहीं जानता और ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर शिंशपा है, उसे कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिंशपा दिखलाकर बताए कि यह वृक्ष है तो यह जड़ पुरुष समझेगा कि शिंशपा का उच्चत्व वृक्ष-व्यवहार में निमित्त है। इसलिए एक छोटा शिंशपा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नहीं है। इस मूढ़ को बताना चाहिए कि प्रत्येक शिंशपा के लिए वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष व्यवहार के निमित्त नहीं है। किन्तु केवल शिंशपात्व मात्र निमित्त है।

अब हम स्वभाव पर न्याय-दर्शन की दृष्टि से विचार करेंगे। न्यायकुसुमांजली में उदयनाचार्य का स्वभाव के विषय में कथन है, "जो सभी (वस्तुओं) का भाव है। अतः सभी के स्वभाव के कारण एक होता हुआ सबका स्वभाव नहीं बन सकता।" [10] वर्धमान नामक एक टीकाकार ने इस पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा है, "यदि एक नियत धर्म को स्वभाव कहा जाय, और वह यदि सब में संभव हो तो स्वभावत्व का आसाधारणत्व ही नहीं सिद्ध होगा।" [11] यहां इस प्रसंग में वर्धमान द्वारा की गई व्याख्या इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह एक नियत धर्म को ही स्वभाव के रूप में स्वीकार करती है और यह एक नियत धर्म सभी वस्तुओं या पदार्थों में संभव नहीं हो सकती है। इस संदर्भ में एक अन्य टीकाकार वरदराज का मत है, "कार्य का कारण की अपेक्षा करना, अर्थात् वह उसके रहते हुए ही होता है, क्योंकि अग्नि आदि के रहने पर ही धूएँ आदि भी होते हैं, यदि वह स्वभाव है तो हमें ऐसा स्वभाव इष्ट है।" [12] एक ओर जबकि मध्यमकवादी नैःस्वभाववाद का प्रचार कर रहे थे तो नैयायिक लोग यह उद्घोष कर रहे थे प्रत्येक पदार्थ का एक स्वभाव होता है एवं स्वभाव का दुरतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। [13]

यदि हम स्वभाव पर सांख्य दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो उनका मत है कि किसी भी पदार्थ के स्वभाव को नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु के स्वभाव को हटाया नहीं जा सकता। वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है अपनी आत्मा है। स्वभाव को हटाने से वस्तु के स्वरूप का ही अस्तित्व न रहेगा। [14] उष्णता अग्नि का स्वभाव है। यदि उष्णता न रहे तो व्यवहार में अग्नि का अग्नित्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में यदि बन्धन आत्मा का स्वभाव है तो उसे हटाया नहीं जा सकता। तब उसके लिए जो उपदेश होगा वह अप्रामाणिक होगा, क्योंकि उसका अनुष्ठान करना सर्वथा व्यर्थ होगा। वह उपदेश केवल कथन रहेगा, उसे प्रयोग अथवा व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, उसका कोई भी फल संभव नहीं। इसलिए यदि आत्मा स्वभाव से बद्ध माना जाता है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके मोक्ष के लिए शास्त्र का आरंभ सर्वथा व्यर्थ होगा।[१५] इस संदर्भ में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का मत है कि प्राचीन सांख्य-वादियों को तो स्वभाववाद मान्य था परन्तु परवर्ती सांख्य-वादियों ने स्वभाव का नितान्त परित्याग कर दिया और उन्होंने आगे चलकर इस मत की स्थापना की कि प्रकृति में जो भी परिवर्तन होते हैं उन सबके लिए पुरुष ही जिम्मेदार है।[१६]

जैन दर्शन में भी स्वभाव पर पर्याप्त विचार हुआ है। आचार्य श्री मल्लवादी द्वारा रचित द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ में स्वभाव पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर श्री सिंहसूरि द्वारा रचित न्यायागमानुसारिणी नामक एक बृहद् टीका भी उपलब्ध है। द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इसके लेखक पर व्याकरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यहाँ यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि जो पुरुष आदि होते हैं वही उनका भाव है और वे उसको अपने स्वत्व के रूप में अनुभव करते हैं; अतः स्वभाव वह है जिसमें सब कुछ घटित होता अपने आप में होता है।[१७] साथ-साथ इस पुरुष को व्याकरण के पुरुष के समान किसी भी क्रिया के सम्पादन में स्वतन्त्र रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ पुरुष के स्वतन्त्र स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है। एक अन्य उदाहरण द्वारा पुरुष एवं ओदन आदि में अन्तर दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। पुरुष स्वतन्त्र रूप में कार्य का सम्मादन करता है जैसे ओदन आदि नहीं करते। इनके मत के अनुसार पुरुष का स्वत्व स्वभाव द्वारा उत्पन्न होता है, अन्यथा सभी वस्तुएँ वे नहीं होंगी जो वे हैं, अर्थात् घट पट नहीं हो सकता एवं पट घट नहीं हो सकता।[१८] इस मत के अनन्तर द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ में स्वभाव के विषय में एक अन्य स्थापना भी की गई है। इस मत के अनुसार रूपान्तरण परिवर्तन ही स्वभाव है। इसके अनुसार उत्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम यही स्वभाव की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। सभी वस्तुएँ अपने आप विनष्ट होती हैं एवं उनमें विपरिणाम होता है। स्वत्व ही स्वभाव है जैसे जीव अजीव नहीं हो सकता तथा अजीव जीव नहीं हो सकता। जीव एवं अजीव को स्वतन्त्र सत्ता है। इस मत के अनुसार यदि स्वभाववाद का सिद्धान्त कार्य नहीं करता है तो उत्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम संभव ही नहीं होंगे। इस प्रकार अनादि काल से प्रवृत्त होने वाले स्वभाव में यदि व्यत्यय हो जाए तो हित की प्राप्ति के लिए एवं अहित के परिहार के लिए अस्वभाव के कारण शास्त्र व्यर्थ होगा एवं पुरुष की सभी क्रियाओं के फल भी व्यर्थ होंगे। यदि इस सिद्धान्त में किसी भी प्रकार व्यत्यय हो तो जिस घट के संदर्भ में उप्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम प्रवृत्त होते हैं उसी संदर्भ में पट की उत्पत्ति होगी और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप जीव एवं अजीव के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान होते हैं तथा उसका अपना स्वत्व ही द्विधा विद्यमान रहता है। वही भाव उसकी आत्मा है और वही स्वभाव है। [१९]

अन्य दार्शनिक संप्रदायों के समान महाभारत के शान्तिपर्व में भी स्वभाव पर चर्चा हुई है। दार्शनिक संप्रदायों में और विशेष रूप से न्यायदर्शन में स्वभाव का संबंध कार्यकारण भाव से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ तक महाभारत में स्वभाव की चर्चा का प्रश्न है यहाँ स्वभाव में एक नया आयाम जोड़ा गया है। महाभारत में कहा गया है; "यत्न करने वाले पुरुषों के सन्दर्भ भी अनिष्ट की निवृत्ति एवं प्रिय की प्राप्ति नहीं देखी जाती है, अतः पुरुषार्थ निष्फल है। इसके विपरीत कुछ लोगों के संदर्भ में बिना प्रयत्न के अनिष्ट से मुक्ति एवं इष्ट की संवृत्ति देखी गई है तथा यह सब स्वभाव से ही होता है।" [२०] इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार में सब कुछ स्वभाव से ही घटित होता है एवं पुरुषार्थ बिल्कुल व्यर्थ है।

महाभारत में स्वभाववाद में एक नया आयाम जोड़कर यह सिद्ध कर दिया है कि पुरुषार्थ बिल्कुल निरर्थक है तथा स्वभाव एक प्रकार की बाह्य शक्ति ही है जिसके द्वारा सब कुछ स्वतः संचालित होता रहता है तथा मनुष्य का उस पर कोई भी नियंत्रण नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि महाभारत के इस प्रकार के स्वभाववाद ने ही परवर्ती भौतिकवादियों के नियतिवाद के लिए एक प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार की थी। [२१]

जहाँ तक स्वभाववाद के व्यापक विश्लेषण का प्रश्न है हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिकवादियों ने भी इसमें बड़ा भारी योगदान किया है। इनके अनुसार कोई भी परिवर्तन आध्यात्मिक सिद्धान्त द्वारा घटित नहीं होता है परन्तु इनका कथन है कि स्वभाव के कारण ही परिवर्तन घटित होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि महाभारत में वर्णित पुरुषार्थ की निष्फलता का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसके साथ-साथ इन भौतिकवादियों की आत्मा के सिद्धान्त में भी कोई आस्था नहीं थी और इस भौतिक जगत् में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए इन्होंने स्वभाव का सिद्धान्त निकाल लिया। मक्खलि गोसाल इन भौतिकवादियों के नेता थे, जिन्होंने विकास के लिए स्वभाव के साथ नियति एवं संगति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मक्खलि गोसाल तात्कालिक रूप में प्रचलित परम्परावादी ब्राह्मणवाद से नितान्त असंतुष्ट थे। मक्खलि गोसाल ने स्पष्ट रूप में घोषणा की, "पुरुषार्थ नहीं है, बल नहीं है, सारी सत्ता, सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव, पराधीन एवं बलहीन होकर नियति, संगति एवं भाव द्वारा परिणत होते हैं और अपनी-अपनी जातियों में सुख दुःख का अनुभव करते हैं।" [२२] इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ में आचार्य ए. एल. बाशम का कथन है कि यहाँ भाव शब्द का प्रयोग स्वभाव के पर्याय के रूप में हुआ है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि इन भौतिकवादियों ने स्वभाववाद को नियतिवाद की कोटि में पहुँचा दिया था।[२३] कुछ जैन आचार्यों का भी यही अभिमत है कि यह संसार स्वभाव द्वारा ही संचालित होता है। उनका कथन है– काँटों की तीक्ष्णता को कौन बनाता है, और मृग तथा पक्षियों की विचित्रता का कौन निर्माण करता है ? यह सब स्वभाव द्वारा होता है। स्वेच्छा से कुछ भी नहीं होता है अतः प्रयत्न व्यर्थ है।[२४] इस प्रकार के कथनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभाववादी एवं नियतिवादी कम-से-कम एक सिद्धान्त पर एकमत थे कि पुरुषार्थ व्यर्थ है।

जैसा लेख के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत योनि एवं पुरुष को सृष्टि के कारण के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ हमारा संबंध केवल स्वभाव से ही है। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य पाँच टीकाकारों की टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत संदर्भ में सभी अर्थों पर एक दृष्टिपात करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम शंकराचार्य को ही लें। उनका कहना है कि पदार्थों की जो नियत शक्ति है वही स्वभाव है, जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है।[२५] शंकरानन्द नामक टीकाकार का कथन है कि पदार्थ का अपना असाधारण क्रियाकारित्व ही स्वभाव है जैसे अग्नि का जलाना एवं जल का नीचे की ओर बहना।[२६] नारायण नामक अन्य टीकाकार की मान्यता है कि लोकायत में स्वीकृत वस्तुधर्म ही स्वभाव है। विज्ञान भगवान् एवं श्रीरंग रामानुज नामक अन्य दो टीकाकार भी स्वभाव का अर्थ करते समय लोकायत सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

अब तक हमने स्वभाववाद पर विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों से विचार किया। इस विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभाव के मूलतः दो लक्षण या आयाम रहे हैं। इसका पहला लक्षण इसे कार्यकारणभाव से जोड़ता है। दूसरा लक्षण पदार्थों की सामान्य प्रकृति से संबद्ध है। इस कार्यकारणभाव पर न्याय-सिद्धान्त ने काफी बल दिया है और जहाँ तक पदार्थों की प्रकृति या उनके स्वभाव का प्रश्न है इन दोनों पर सभी दर्शनों में बल दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने स्वभाववाद के सिद्धान्त को शून्यता या तथता के साथ जोड़ दिया। जैन आचार्यों की दृष्टि में उत्पत्ति, विपरिणाम एवं विनाश ही स्वभाव है। इस स्वभाववाद में पुरुषार्थ की निष्फलता की भावना महाभारत द्वारा जोड़ दी गई। परन्तु दार्शनिक मक्खलि गोसाल ने पुरुषार्थ की निष्फलता से प्रभावित होकर स्वभाव को नियति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जोड़ दिया तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में अन्य दर्शनों की भाँति स्वभाव को काल, नियति, यदृच्छा, भूत एवं पुरुष के साथ सृष्टि का का कारण मान लिया।

संस्कृत विभाग — तुलसीराम शर्मा
श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली– ११० ००७

टिप्पणियाँ

१. (i) हेतुप्रत्ययसंभूतः स्वभावो कृतको भवेत्। मध्यमकशास्त्र १५.१।

(ii) अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च ॥ वहीं १५ २।

२. स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने ॥ वहीं १५.६।

३. इह यो धर्मो यं पदार्थं न व्यभिचरति, स तस्य स्वभाव इति व्यपदिश्यति, अपरिबद्धात्। प्रसन्नपदा, पृ. १०५।

४. स्वो भावः स्वभावः इत्यस्य पदार्थस्य यदात्मीयं रूपं तत् यस्य स्वभाव इति। प्रसन्नपदा। पृ. ११५।

५. कृत्रिमस्य परसापेक्षस्य च स्वभावत्वं नेष्टम्।

६. या सा धर्माणां धर्मता नाम, सैव तत्स्वरूपम्। अथ केयं धर्माणां धर्मता? धर्माणां स्वभावः। कोऽयं स्वभावः? प्रकृतिः। का चेयं प्रकृतिः? येयं शून्यता। नैःस्वाभाव्यम्। किमिदं नैःस्वभाव्यम्? तथता। केयं तथता? तथाभावोऽविकारित्वं सदैव स्थापिता। सर्वथानुत्पाद एव ह्यग्न्यादीनां परनिरपेक्षत्वादकृत्रिमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते। मध्यमकशास्त्र १५.२ पर चन्द्रकीर्ति।

७. यस्मादत्र स्वभावो नास्ति तस्मान्निस्वभावोऽङ्कुरः। यस्मान्निःस्वभावः तस्मात् शून्यः। यथा चायमङ्कुरो निःस्वभावो निःस्वभावाच्च शून्यः तथा सर्वभावा निःस्वभावा निस्वभावाच्छून्या इति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. अथ विद्यते स्वभावः स च धर्माणां न विद्यते तस्मात्।
धर्मैर्विना स्वभावः स यस्यास्ति तत् युक्तमुपदेष्टुम्। विग्रहव्यावर्तनी १०।

९. स्वभाव : स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। न्यायबिन्दुः।

१०. सर्वस्य भावतः स्वभावत्वानुपपत्तेः न ह्येकम् अनेकस्वभाव नाम व्याघातः। न्यायकुसुमाञ्जली।

११. एक नियतो धर्मो स्वभाव इत्युच्यते तद् यद् सर्वस्य संभवेत् तदा स्वभावत्वम् असाधारणत्वं नोपपद्यते। न्यायकुसुमाञ्जली, प्रकाश पृ. ५९।

१२. इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षित्वं नाम यत् तस्मिन् सत्येव भवतीति नियमातिरिक्तोपकारो नाङ्गीक्रियते तर्हि स्वभावत्वात् एव सिद्धः स्यात् ………… दहनादिषु सत्स्वैव घूमादयो भवन्तीदृशः स्वभावश्चेत् स अस्माभिरेव इष्ट एव। बोधिनी, न्यायकुसुमाञ्जली पृ. ५७।

१३. स्वभावो दुरतिक्रमः। न्यायकुसुमांजली १.७।

१४. स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणप्रामाण्यम्। सांख्यसूत्र १.८।

१५. न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः। सांख्यसूत्र १.७।

१६. देवीप्रसाद चट्टोपाध्यायः लोकायत ए स्टडी इन् एनशीयण्ट इंडियन् मेटिरिलियज्म, पृ. ४५२, दिल्ली, १९६८

१७. यत् पुरुषादयो भवन्ति स तेषां भावः तैर्भूयते यथा स्वम्। तथा च स्वभावे सर्वस्य भवनात्मनि भवति। द्वादशांग नयचक्रम्। पृ. २१९ भावनगर, १९६६।

१८. तेषामपि हि स्वत्वं स्वभावापादितमेव, अन्यथा च ते त एव न स्युरनात्मत्वात् घटपटवत्। द्वादशांग नयचक्रम्, पृ. २२०।

१९. एवं च तत्रानादिप्रवृत्तस्वभावविपर्ययेण यद्युत्पत्तिर्विनाशो विपरिणामो वा ततोऽनादि प्रवृत्तस्वभावव्यत्यासे हिताहितप्राणिपरिहारार्थशास्त्रव्यर्थता पुरुषस्य क्रियायाः फलस्य च तथाऽस्वभावत्वात्। अन्यथोत्पादविनाशविपरिणामत्रयो घटार्थं प्रवृतेषु तत्पट उत्पद्यते तद्विनाशार्थे प्रवृतेष्वविनाशो विपरिणामार्थं प्रवृत्तेष्वापरिणामश्च। अतः शास्त्रार्थवत्वाय वरमिदं कारणं स्व एव भावः द्विधा प्रतिवस्तु जीवाजीववदवस्थितः, योऽस्ति स भावः य आत्मा स भाव स्वभावः। द्वादशांग नयचक्रम्। पृ. २२८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०. अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिवृत्ति प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थः ततः कुतः ॥
अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषांचित् तत् स्वभावतः । शान्तिपर्व, महाभारत १२.२१५–१९–२०

२१. ए. एल्. बाशम; हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन आफ् दी आजीवकाज्, पृ. २२६, लंदन, १९५१.

२२. नाऽत्थ अत्ताकारे, नाऽत्थ पराकारे, नाऽत्थ पुरिषकारे नाऽत्थ बलं... सवे सत्ता सवे प्राणा सवे भूता सवे जीवा अवसा अबला अविर्या नियति संगति भाव परिणताच्छ स एव अभिजातिषु सुखदुःखं परिसंवेदयन्ति।

२३ ए. एल, बाशम; हिस्ट्री एण्ड ड्रॉक्ट्रीन आफ दी आजीवकाज्, पृ. २२६।

२४. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्णम् विचित्रभावं मृगयक्षिणां च ? स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? षड्दर्शन सम्मुच्चय (तर्करहस्यदीपिका) पृ. १३ ।

२५. स्वभावो नाम पदार्थानां प्रति नियता शान्तिः, अग्नेरौष्ण्यमिव ।

२६. स्वभावः स्वस्य तत्पदार्थस्य भावोऽसाधारणकार्यकारित्वं यथाऽग्नेर्दाहादित्वपां निम्नदेशगमनादि ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्तामूलक तर्क :- एक अस्तित्वपरक मूल्यांकन

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क का अस्तित्ववादी संदर्भ में मूल्यांकन करना है। ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी परम्परागत प्रमाणों में सत्तामूलक तर्क एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस तर्क को सर्वप्रथम मध्ययुगीन विचारक सन्त एन्सेल्म ने इसके शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया। इसीलिए इस लेख का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क ही है। सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में एन्सेल्म अपने युग के विशेष धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं। यहूदी-ईसाई धर्म को ही एन्सेल्म के युग की मुख्य धार्मिक विचारधारा माना गया है। एन्सेल्म की यह धार्मिक मनोवृत्ति सत्तामूलक तर्क के स्थापन के क्रम में स्पष्ट अभिव्यक्ति पाती है।

सत्तामूलक तर्क का सामान्य रूप

सत्तामूलक तर्क ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ही ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। दूसरे अर्थों में कहा जा सकता है कि सत्तामूलक तर्क में प्रत्यय से अस्तित्व की ओर अग्रसारण की क्रिया सन्निहित है। इस तर्क में अनुभवमूलक (इम्पेरिकल) तथ्यों की सहायता नहीं ली जाती है। इसीलिए इस तर्क को प्रागनुभविक (एप्राइरारी) तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस तर्क का मूल स्वरूप प्रत्ययात्मक (कनसेप्चुअल) है। कान्ट जैसे आधुनिकयुगीन समालोचक ने इस तर्क की आलोचना करते हुए कहा है कि यह तर्क अधिक से अधिक ईश्वरीय अस्तित्व के प्रत्यय को सिद्ध करता है। प्रत्यय से अस्तित्व सिद्धि कभी संभव नहीं। यह प्रत्ययात्मकता ही इस तर्क के पूरे स्वरूप को अमूर्त चिन्तन का विषय बना देता है।

आस्तित्वपरक व्याख्या की आवश्यकता- सत्तामूलक तर्क एन्सेल्म की धार्मिक मनोवृत्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। एन्सेल्म अपने सत्तामूलक तर्क के माध्यम से यहूदी-ईसाई धर्म में चर्चित ईश्वरीय विचार को धार्मिक सामर्थ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(रिलीजियस पोटेन्सी) प्रदान करना चाहते हैं। धार्मिक मनोवृत्ति को उपास्य वस्तु (ईश्वर) के प्रति उपासक का आत्म-समर्पण की स्थिति माना जा सकता है। उपासक अपने दुःख, कष्ट, त्रास, निराशा और असम्बोधिता की स्थिति में अपने से महत्तर (ग्रेटर) उपास्यसत्ता (ईश्वर) की आवश्यकता महसूस करता है। उपासक यह मानता है कि उपास्य सत्ता उसे हर संकट से मुक्त करने में सक्षम है। उपासक उपास्य के प्रति अपनी स्तुति, प्रशंसा, प्रार्थना के द्वारा अपनी अनुक्रियाशीलता (रेसपौंसिवनेस) व्यक्त करता है लेकिन यह अनुक्रिया एकपक्षीय नहीं हो सकती। उपासक अपनी स्तुतियों, प्रशंसाओं, प्रार्थनाओं के प्रति ईश्वरीय अनुक्रिया (रेसपौंस) की भी अपेक्षा रखता है। तात्पर्य यह है कि उपासक का ईश्वर वैयक्तिक, करुणामय, पूर्ण, अनंत तथा अनश्वर (इटर्नल) होना चाहिए। ईश्वर पर अधिरोपित (एट्रीब्यूटेट) ये गुण यहूदी–ईसाई धर्म के ईश्वर प्रत्यय के प्रसंग में उपयुक्त लगते हैं। इसी स्थल पर यह प्रश्न उठता है कि क्या एन्सेल्म द्वारा चर्चित सत्तामूलक तर्क का प्रत्ययात्मक ईश्वर उपासक की आकांक्षाओं की पूर्ति करने में समर्थ है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। एक ईश्वर जो अमूर्त चिन्तन का विषय है उपासक की आशाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। उपासक उस ईश्वर से, जिसकी प्रत्ययगत अस्तित्वपूर्णता ही मात्र स्वीकार्य हो, संबंध स्थापित करने में कठिनाई महसूस करता है। प्रत्ययात्मक ईश्वर की अवधारणा एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क के धार्मिकता के परिप्रेक्ष्य में अपनी वैधता खो बैठती है। प्रश्न यह उठता है कि सत्तामूलक तर्क में चर्चित धार्मिक मनोवृत्ति की यह व्याख्या क्या युक्तिसंगत है? एन्सेल्म इस व्याख्या को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। वास्तव में, सत्तामूलक तर्क यह बाह्य व्याख्या है। इसी कारण यह व्याख्या सत्तामूलक तर्क में सन्निहित मुख्य प्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप भी उद्घाटित नहीं कर पाती। यह दृष्टिकोण सत्तामूलक तर्क के प्रति संकीर्णता से प्रभावित है। इसलिए इस स्थल पर हमें एक ऐसे यौक्तिक विकल्प (रेशनल आल्टर्नेटिव) आवश्यकता महसूस होती है जो इस तर्क को इसकी आंतरिकता में संगति प्रदान कर सके।

अस्तित्वपरक व्याख्या का स्वरूप-- सत्तामूलक तर्क की अस्तित्वपरक व्याख्या इसके आंतरिक (इंटरनल) स्वरूप को ही स्पष्ट करती है। अस्तित्वपरक व्याख्या को मूल रूप से ईश्वरीय अनुभूति की उपस्थिति की खोज माना जा सकता है। सत्तामूलक तर्क की यह व्याख्या इसके आकारिक प्रमाण (फार्मल प्रूफ) को तिरस्कृत नहीं करता बल्कि सम्वर्द्धित करता है। यह आकारिक प्रमाण में अन्तर्ग्रंथित कुछ धारणाओं और विचारों को प्रकाश में लाकर इसे स्पष्टता और सरलता प्रदान करने का प्रयास करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्वपरक व्याख्या में स्वतंत्रता (फ्रीडम) तथा पूर्ण निर्भरता (कम्प्लिट डिपेन्डेन्सी) दो महत्त्वपूर्ण पद हैं जिनका प्रयोग निरंतर किया जाता है। स्वतंत्रता का अभिप्रेत अर्थ यहाँ अन्य व्यक्तियों के साथ सह-अस्तित्व का निश्चित रूप लिया गया है। दूसरे अर्थों में इसे अन्य व्यक्तियों के प्रति पारस्परिक (रेसीप्रोकल) अनुक्रिया माना जा सकता है। इस स्थल पर यह प्रश्न उठता है कि इस अनुक्रिया का स्त्रोत क्या है ? यदि विश्व को इसका कारण माना जाय तो स्वतंत्रता की अनुक्रिया भी इसके समान सीमित हो जायगी। इसलिए विश्व को स्वंतत्रता के कारण के रूप में स्वीकार करने का अर्थ होगा स्वतंत्रता की अस्वीकृति। स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता है। स्वतंत्रता एक स्व-उद्भूत (सेल्फ-आरिजिनेटेड) क्रिया है। किन्तु स्वतंत्रता में स्व-उद्भव (सेल्फ-आरिजिनेशन) की शक्ति का अभाव है। मानवीय स्वतंत्रता का स्त्रोत मानव ही नहीं हो सकता। स्वतंत्रता तो निरपेक्ष होती है। फिर इसका कारण कोई क्षणिक (टेम्पोरल) प्राणी कैसे हो सकता है ? मानव स्वतंत्र है, परन्तु आत्म-विशिष्ट नहीं है। मानव की विशिष्टता विश्व द्वारा निरुपाधित एवं सीमित है। इसलिए मानव को स्वतंत्रता का स्त्रोत मानना उचित नहीं है। मानव के उद्भव स्त्रोत के रूप में विश्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस अर्थ में स्वातंत्र्य मानव-अस्तित्व सापेक्षिक रूप में विश्व से परे है। लेकिन एक ऐसी महत्तम सत्ता भी है जो मानव का भी अधिक्रमण करती है। सम्पूर्ण मानवीय अस्तित्व इसी महत्तर सत्ता पर पूर्णरूपेण निर्भर है। इस पूर्ण निर्भरता की अनुभूति के कारण मानव अपने को इस विश्व का एक अंश मान लेता है, हालाँकि सापेक्षिक रूप से मानव इस विश्व से परे है। मानव और विश्व दोनों से परे एक महत्तर सत्ता है जिस पर वे पूर्णरूपेण निर्भर हैं। उपर्युक्त चर्चा से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण निर्भरता का अर्थ है एक अनंत सत्ता पर मानवीय अस्तित्व का आश्रित होना।

एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क और अस्तित्वपरक व्याख्या

पूर्ण निर्भरता की अनुभूति से निर्मित एवं अनुबंधित ईश्वर की स्पष्ट अभिव्यक्ति एन्सेल्म के इस अस्तित्वपरक सूत्र में पायी जा सकती है कि...ईश्वर-एक ऐसी सत्ता है– जिससे-महत्तर-अन्य-सत्ता कल्पनीय नहीं है। ..[1] ऐन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में उपरिर्चाचित सूत्र को केन्द्र बिन्दु माना गया है। यह यहूदी-ईसाई धर्म में निरूपित ईश्वर-प्रत्यय के प्रति असीम आस्था को प्रकट करता है। इस सूत्र के माध्यम से एन्सेल्म "ईश्वर" के संप्रत्ययात्मक सविन्यासन (कनसेप्चुअल फार्मुलेशन) को मूल रूप में अस्तित्वपरक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्न करते हैं। एन्सेल्म सत्तामूलक तर्क का आश्रय लेकर ईश्वरीय अनस्तित्व-पूर्णता की अकल्पनीयता तथा असंभवता निर्दाशित करना चाहते हैं। वास्तव में एन्सेल्म जैसे धर्म सापेक्ष विचारकों के लिए मानव को ईश्वर पर पूर्णरूपेण निर्भर मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है। भक्ति की चरम अवस्था में उपासक अपना हित-अहित, सुख-दुःख, क्लेश, चिन्ता इत्यादि जैसी सांसारिक घटनाओं के प्रति आसक्ति महसूस नहीं करता। वह अपनी सम्पूर्ण नियति को ईश्वर पर ही छोड़ देता है। इसलिए इस बात को स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि "पूर्ण निर्भरता" की अनुभूति एन्सेल्म के इस सूत्र में अन्तर्लीन है। परन्तु एन्सेलम के सूत्र की व्याख्या अभी तक इस दृष्टि से शायद नहीं हो पाई है। इस उपेक्षित पक्ष को अस्तित्वपरक अनुशीलन के द्वारा प्रकाश में लाकर सत्तामूलक तर्क को समकालीन विवाद के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान की जा सकती है।

अस्तित्व का मूल स्त्रोत "पूर्ण निर्भरता" की अनुभूति ही है। इसी अनुभूति से ईश्वर-प्रत्यय उद्भूत है और अपने धार्मिक अर्थ में निर्मित है। इस प्रसंग में एन्सेल्म के इस उक्ति की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी।...मैं विश्वास करने के लिए समझना नहीं चाहता, बल्कि मैं विश्वास करता हूँ इसलिए समझना चाहता हूँ। जो विश्वास नहीं करते उन्हें अनुभूति नहीं होती और जिन्हें अनुभूति नहीं होती और वे समझते नहीं।[२] आस्था दैव-उपस्थिति की अनुभूति की सहवर्ती है। इस दैव-अनुभूति को ही ईश्वर प्रत्यय का स्त्रोत माना जा सकता है। ईश्वर प्रत्यय का, जिसे एन्सेलम ने 'ईश्वर-एक-ऐसी-सत्ता है– जिससे-महत्तर अन्य-सत्ता कल्पनीय नहीं है' के रूप में सूत्रित किया है, उद्भव दृश्यमूलक (फिनोमिनोलोजिकल) है। यह पूर्ण निर्भरता की अनुभूति से निर्मित है। क्योंकि यह ईश्वर की पूर्ववर्णित एवं पूर्ण निर्धारित अर्थ को व्यक्त करता है। 'पूर्ण निर्भरता' की अनुभूति दैव-उपस्थिति का पूर्व ज्ञान है जो कि ईश्वर प्रत्यय में अव्यक्त रूप से वर्तमान है। ईश्वर प्रत्यय हमारे लिए तब तक बोधगम्य नहीं माना जा सकता जब तक कि हमें उस वस्तु का ज्ञान नहीं जिसकी ओर वह संकेत करता है और जिसकी व्याख्या करना चाहता है। ईश्वर प्रत्यय का वह बोध जिसमें पूर्ण निर्भरता की अनुभूति का अभाव है, मात्र प्रत्ययात्मक बोध ही माना जायगा। उपर्युक्त विमर्श के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में अन्तर्निहित इस अस्तित्वपरक अंतर्वस्तु (एक्जिस्टेन्शियल कण्टेण्ट) की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इस तर्क की वास्तविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्ता को वे ही समझ सकते हैं जिन्होंने मानवीय जीवन के इस रूप को समझा है। इस तर्क की अर्थसत्ता का निर्धारण इसकी आंतरिकता में ही किया जाना चाहिए। यदि एन्सेल्म के विचारों में अन्तर्लीन इन तथ्यों की उपेक्षा की जाती है तो उनका सत्तामूलक तर्क मात्र प्रत्ययात्मक बोध ही रह जाता है। प्रत्यय से वास्तविकता की ओर अग्रसारण की क्रिया असंगत है। सत्तामूलक तर्क के प्रति यह दृष्टि संकीर्णता का परिचायक है। यह इस तर्क की संगति का निर्धारण वाह्यनिष्ठता में करता है।

सत्य तो यह है कि इस तर्क की आंतरिकता ईश्वर प्रत्यय के उद्भव-स्रोत के रूप में धार्मिक अनुभूति की स्वीकृति में ही अन्तर्निहित है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यह तर्क के मुख्य रूप से प्रत्ययात्मक स्तर ही कार्य करता है। परन्तु इस प्रत्ययात्मकता को भी समझने के लिए हमें इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि यह एक उदात्त, अस्तित्वपरक अर्थ को अपने गर्भ में छिपाये हुए है। पूर्ण निर्भरता की अनुभूति इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होती है कि कैसे ईश्वर प्रत्यय चेतनता के बोध से संरचित है। यह हमें इस तर्क की महत्ता का निर्धारण मात्र प्रत्ययात्मक स्तर की कसौटी पर ही करने से रोकता है।

इस स्थल पर प्रायः वह आपत्ति की जाती है कि एन्सेल्म ईश्वर के प्रसंग में पूर्ण निर्भरता की अनुभूति को स्वीकार नहीं करते। आलोचकों ने इस मत के समर्थन में एन्सेल्म के इस उक्ति को उद्धृत किया है... यदि आपने अपने ईश्वर को जान नहीं लिया तो वह यह कैसे है जिसे आपने पाया और जिसे आपने इतनी निश्चित सत्यता और सत्य प्रामाणिकता के साथ समझा ? किन्तु अगर आपने उसे पाया है, तो यह कैसे है कि आपने जिसे पाया उसका अनुभव नहीं करते ? हे ईश्वर, मेरी आत्मा ने यदि तुम्हें पाया है तो अनुभव क्यों नहीं करती ?...[३]

अपने इस प्रश्न के उत्तर में एन्सेल्म ने कहा कि...वास्तव में यह अपने आप अंधकारमय है और आपकी चकाचौंध में भी है।[४] वस्तुतः यह अपनी लघुता के अंधकार से घिरा है और आपकी विराटता से अभिभूत है। यह सचमुच अपनी सीमितता से परिबद्ध है और आपकी पूर्णता से अतिक्रमित है। क्योंकि यह प्रकाश कितनी महत् है जिससे प्रत्येक सत्य प्रकाशमान है जिससे बोध को प्रकाश मिलता है। सत्य ही, किसी भी प्राणी द्वारा जितना समझा जा सकता है, उससे यह अधिक है।...[५] यह युक्ति में एन्सेल्म अस्तित्व संबंधी उसी उपभाषा (डायलेक्ट)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग कर रहें है जिसे हमने पूर्ण निर्भरता की अनुभूति में देखा है। इस स्थल पर भी एन्सेल्म का मन्तव्य ईश्वर की अनिरुपाधित प्रभाविता (अनक्वालीफायड डोमिनेन्स) और अधिक्रमित (सरपासिव) शक्ति के समक्ष उपासक की पूर्ण अधीनता को व्यक्त करना है। इस प्रकार साधारण अर्थ में ईश्वर को अनुभूति का विषय नहीं माना जा सकता। इसके बावजूद भी एक अर्थ में ईश्वर को अनुभूति का विषय माना जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाश हमारे बोध को प्रकाशित करता हैं उसी प्रकार ईश्वर हमारी सभी पूर्वकल्पित अनुभूतियों का परम आधार है। ईश्वर हमारी सभी अनुभूतियों के स्रष्टा के रूप में उपस्थित होते हुए भी अनुभूति का विषय नहीं है। स्पष्टतः ईश्वर को मात्र विचार का विषय नहीं माना जा सकता। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि एक महत्तर सत्ता के रूप में ईश्वर स्रष्ट प्राणियों को अधिक्रमित करता है। लेकिन इसके आधार पर यह मानना गलत होगा कि धार्मिक चेतनता का ईश्वर में पूर्ण अभाव है। 'ईश्वर से महत्तर विचरणीय सत्ता नहीं' का अर्थ मूल रूप से पूर्ण निर्भरता की अनुभूति ही लेना चाहिए। दैवी अनुभवातीतता (डिवाइन ट्रान्सेडेंस) और स्वतःस्फूर्त अवबोधन, दैवी अनधिक्रमणता (डिवाइन अनसर्पासेबिलीटी) का समेकित (इनटेगूरल) पक्ष है। दैवी अनुभवातीत ईश्वरीय अनुभूति के मौलिक रूप का अवियोज्य पक्ष है। इस रूप में इसे ईश्वर प्रत्यय का भी समेकित पक्ष कहा जा सकता है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि चूंकि ईश्वर-एक-ऐसी सत्ता है-जिससे महत्तर अन्य सत्ता विचरणीय नहीं है।... अपने अस्तित्वपरक और दृश्यमूलक उद्भव के लिए पूर्ण निर्भरता की अनुभूति पर आधारित है, इसलिए इस सूत्र को मात्र प्रत्यय समझना भ्रामक होगा। इसे वैसा प्रत्यय भी नहीं माना जा सकता है जो अपने द्वारा सांकेतिक वास्तविकता को भी विरमित करता है। यदि सत्तामूलक तर्क में अन्तग्रसित सामाजिक आयाम (सोशल डायमेंशन) दमित कर दिया जाय तो धार्मिक सत्यता के रूप में दैवी अनुभातीतता भी अपनी अर्थवत्ता खो बैठती है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरीय बोध धार्मिक चेतनता और इसके व्यक्त रूपों के माध्यम से होता है। मानव द्वारा प्राप्त ईश्वरीय बोध को पर्याप्त नहीं माना जा सकता। मानव की तरह उसका ईश्वर प्रत्यय संबंधी ज्ञान भी सीमित ही होगा। इस स्थिति में एन्सेलूम की ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिभाषा का आँशिक ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा में ईश्वर को एक ऐसी सत्ता माना गया है जिससे महत्तर अन्य का विचार संभव नहीं। लेकिन उनकी इस परिभाषा में यह बात भी आपादित है कि ईश्वर पूर्ण कल्पनीय सत्ता से भी महत्तर है। वास्तव में किसी वस्तु की अकल्पनीय का विचार असंगत नहीं होता। इसलिए यदि 'ईश्वर-एक-ऐसी-सत्ता है–जिससे महत्तर-अन्य-सत्ता का –विचार-कल्पनीय-नहीं है' की अकल्पनीयता स्वीकार भी कर ली जाय तो भी इस पद द्वारा व्यक्त भाव को बोधगम्य मानने में कोई असंगति नहीं। लेकिन ईश्वर का यह बोध भी आंशिक ही होगा। ईश्वर ऐसा है जिस पर सभी वस्तुएँ पूर्ण निर्भर हैं। इस रूप में ईश्वर मात्र वह सत्ता नहीं जिससे– महत्तर-अन्य-सत्ता-कल्पनीय-नहीं-है .. बल्कि ईश्वर सभी कल्पनीय वस्तुओं से महत्तर है।...[६] ईश्वर के कुछ पक्ष ऐसे हैं जो हमारी अवबोधन को अतिक्रमित करते हैं। यह कथन सत्य प्रतीत होता है क्योंकि यह दैवी अधिक्रमण की व्याख्या करता है जो पूर्ण निर्भरता की अनुभूति में अन्तर्निहित हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि ईश्वर के कुछ पक्ष हमारे लिए बोधगम्य हैं। उपर्युक्त प्रसंग में 'ईश्वर अनस्तित्वपूर्ण है' अकल्पनीय है।[७] क्योंकि यह पूर्ण निर्भरता की चेतनता पर प्रकाश नहीं डाल पाता। इस प्रकार एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर की अनस्तित्वपूर्णता कल्पनीय नहीं लगती। यह ठीक है कि ईश्वर का पूर्ण बोध संभव नहीं। लेकिन ईश्वर का बोध हमारे लिये इतना पर्याप्त तो अवश्य है कि हम यह कह सकें कि ईश्वरीय अनस्तित्व सत्तामूलक तर्क के प्रसंग में असंभव है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सत्तामूलक तर्क में प्रत्यय से वास्तविकता की ओर अग्रसारण की क्रिया ही मात्र सन्निहित नहीं बल्कि इसमें पूर्ण निर्भरता की अनुभूति भी अनिवार्य रूप से अन्तग्रसित है। यह पूर्ण निर्भरता की अनुभूति सत्तामूलक तर्क को मूर्त आधार प्रदान करता है।

– विजयकुमार सिन्हा

द्वारा, डॉ. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा
१४३, अनुग्रहपुरी कालोनी
गया (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. एन्सेलम का **प्रोसोलीजियम मेनी फेसेड आर्गुमेन्ट**, सं. जान हीक और आर्थर मैकगिल। क्वायलर मैक्मीलन, न्यूआर्क, १९६७। पृष्ठ– १४।

२. एस. एफ. जे. काप्लस्टन द्वारा उद्धृत, **ए हिस्ट्री आफ फिलासफी**, (इमेज बुक्स) पृष्ठ– १७७

३. रिसेन्ट डिस्कशन आफ एन्सेल्म आर्गुमेन्ट, **मेनी फेसेड आर्गुमेन्ट**, में. सं. हीक–मैकगिल, पृष्ठ - ७८।

४. अनु. एम. जे. चार्ल्सबर्थ **सन्त एन्सेलम का प्रोसोलीजियम**, अध्याय १४। (आक्सफोर्ड, १९६५) पृष्ठ– १३५।

५. वहीं, पृष्ठ– १३२।

६. सं. रूडौल्फ आडरब्रीच, **फ्रेड्रिक शिलियरमेकर का डायलेक्टिक**, (लीपजीग, हीनरीच १९४२। पृष्ठ २७२।

७. लैंगडौन गिल्को, **द रिन्यूअल आफ गाड लौंग्वेज**। बाब्स-मिरिल, १९६९। पृष्ठ– २४१–२४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराधना का स्वरूप

वैष्णव-धर्म वस्तुतः ईश्वर-संकीर्तन है उसमें सर्वत्र ईश्वर की सर्व-व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा उदारता की चर्चा की गयी है। वैष्णव धर्मों में ईश्वर को विश्व में व्याप्त तथा परे दोनों ही स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वभूतों का पालक, सर्वभूताधिपति तथा अन्तर्यामी माना गया है। ईश्वर प्राणियों का नियामक है, जीवात्मा पूर्णतः परमात्मा के अधीन है तथा केवल परमात्मा ही उसे मुक्ति प्रदान कर सकते हैं।

धार्मिक चिन्तन एवं उपासना के उत्तरकालीन विकास में विशिष्टाद्वैत दर्शन–जिसे धर्म के क्षेत्र में श्री–सम्प्रदाय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है–का सक्रिय योगदान है। इस धार्मिक सम्प्रदाय के उपास्य भगवान् विष्णु है और इस सम्प्रदाय के अनुयायी भागवत कहे जाते हैं। इस धर्म में ईश्वर की भक्ति का अर्थ ईश्वर का सतत अनुचिन्तन है। रामानुज की तो मान्यता ही है कि भक्ति और और प्रपत्ति ही मोक्ष का अनन्य साधन है और इससे प्रसन्न हुए ईश्वर ही मुक्तिदायक हैं–

भक्तिः प्रपत्तिः सुप्रीतः ईश्वरो मुक्तिदायकः।
अतो भक्तिः प्रपत्तिः हि मुक्तोः परमकारणः॥

भक्ति और प्रपत्ति विशिष्टाद्वैत दर्शन में मुक्ति का मुख्य कारण है क्योंकि ये भगवत्-प्रसादन द्वारा मुक्ति का कारण बनती है। श्री-सम्प्रदाय में मुक्ति उपायजन्य स्वीकार की गयी है जो साध्योपाय और सिद्धोपाय के भेद से द्विविध है। भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय हैं क्योंकि उनका पर्यवसान भगवान् को प्रसन्न करने में होता है तथा भगवान् स्वयं सिद्धोपाय हैं क्योंकि वे ही प्रसन्न होकर साधक को मुक्ति प्रदान करते हैं। **अहिर्बुध्न्यसंहिता** में भी भक्ति और प्रपत्ति को मुक्ति का मुख्य साधन माना गया है। रामानुजदर्शन में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग भक्तियोग के अंगरूप हैं। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग साक्षात् रूप से नहीं अपितु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परया अर्थात् भक्ति के अंगभूत होने से ही मोक्ष के साधन स्वीकार किये गये हैं। यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ **गीतार्थ–संग्रह** में भक्तियोग को 'ज्ञानकर्मार्मिनिवर्त्यं' कहा है। कर्मयोग के पालन से जीव के पाप दूर होते हैं तथा ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा कभी साक्षात् रूप से भी भक्ति का उत्पाद्य बनता है। ज्ञानयोग तो साक्षात् रूप से भक्तियोग का साधन है ही।

भक्ति को प्रमुखता प्रदान करने से रामानुज के समक्ष ज्ञान के महत्त्व के प्रतिख्यापक शास्त्रीय वचनों के साथ सामंजस्य का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा। रामानुज ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान बड़ी सूझ-बूझ से किया है। उनका मत है कि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित ज्ञान का तात्पर्य ध्यान, निदिध्यासन अर्थात् एकाग्र समाधि से है। भक्ति की यह साधना इस सत्य पर कि 'ईश्वर ही हमारा अन्तस्तम आत्मतत्त्व है तथा जीव उसी तत्त्व का प्रकार है– के एकाग्रचिन्तन पर निर्भर है। किन्तु जीव को इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं होती जब तक दुष्ट कर्मों का विनाश न हो जाय। इस दिशा में निष्काम कर्म ही हमारा सहायक होता है। निष्कामभाव से कर्म करने से पूर्व संचित दुष्ट कर्म समाप्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में रामानुज का मत है कि शास्त्रों में बताये विहित कर्मों का निःस्वार्थ प्रतिपादन उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का परिणाम अस्थायी है और ईश्वरज्ञान का फल अक्षय है किन्तु यदि हम ईश्वरार्पण भाव से शास्त्र-विहित कर्मों का सम्पादन करें तो इस प्रकार का कर्म मुक्ति का परम्परया साधन होता है। परम्परा के अनुसार शास्त्र-विहित कर्मों के पाँच प्रकार बताये गये हैं– १) स्वाध्याय २) ईश्वरोपासना ३) पूर्वजों के प्रति कर्तव्य ४) मनुष्य के प्रति कर्तव्य तथा ४) पशु-सृष्टि के प्रति कर्तव्य। इस प्रकार के किये गये कर्म सात्त्विक प्रकृति का विकास करते हैं तथा पदार्थों के विषय में सत्यज्ञान को ग्रहण करने में आत्मा के सहायक होते हैं। कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कर्मों विधियों एवं संस्कारों को सम्पादित करना कर्मयोग है। रामानुज ने देवपूजन, तपश्चरण, तीर्थयात्रा दान एवं यज्ञ को विधि माना है। कर्मयोग आत्मा को पवित्र करता है तथा साधक को ज्ञानयोग की ओर उन्मुख करता है। वेदान्त-देशिक के अनुसार ईश्वर स्वयं अपने ही जीव द्वारा अपने ही उपकरणों से अपनी ही आराधना के लिए स्वयं कर्म करवाते हैं। कर्मयोग से जीव का क्लेष दूर होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः कर्मयोग को विशिष्टाद्वैतदर्शन में परम्परया या कभी साक्षात् मोक्ष का साधन माना जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांचरात्रसम्प्रदाय में ईश्वरोपासना अधिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग के भेद से पंचविध स्वीकार की गयी है। देवमंदिर के मार्ग को स्वच्छ करना, लीपना आदि अधिगमन है, गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना उपादान है, देवता की पूजा करना इज्या है, अर्थ पर ध्यान रखते हुए मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों तथा स्तोत्रों का पाठ करना, भगवन्नाम का कीर्तन करना तथा तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय है, देवताओं का ध्यान करना योग है।

रामानुज के अनुसार कर्मयोग द्वारा निर्मल अन्तःकरण पुरुष के आत्मतत्त्व (जीव) को ईश्वर द्वारा नियंत्रित, शासित और प्रकृति से वियुक्त जानकर उसका चिन्तन करना ज्ञानयोग है। यामुनाचार्य के अनुसार परिशुद्ध जीवात्मा की उपासना ही ज्ञानयोग है। यह ज्ञानयोग ही भक्ति की ओर ले जाता है। यम, नियम आदि अष्टांग योग के आचरण द्वारा भगवान् का सतत ध्यान भक्तियोग है। **लिंगपुराण** में– 'स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' भक्ति का लक्षण किया गया है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्नेहपूर्वक भगवान् का तैलधारावत् अविच्छिन्न ध्यान ही भक्ति है। **यतीन्द्रमतदीपिका** का भी मत है कि भक्तियोग भगवान् की यम, नियम आदि अष्टांगयुक्त तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति है।

रामानुज के दर्शन में भक्ति मनुष्य ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौन रूप से एकाग्र समाधिपूर्वक पहुँचाने का नाम है उन्होंने भक्ति की पूर्ण। साधनयुक्त तैयारी पर बल दिया है। उनके अनुसार भक्तियोग की प्राप्ति साधनों से होती है अतः इसे साधनसप्तकजन्य कहा गया है। ये सात साधन क्रमशः विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुधर्ष हैं। विवेक से तात्पर्य पवित्र अन्न द्वारा शरीर का शोधन या रक्षण है। आहार तीन कारणों से दुष्ट होता है– जातिदुष्ट, आश्रयदुष्ट तथा निमित्तदुष्ट। **मांस**, लहसुन, प्याज आदि जातिदुष्ट है। वेश्या का अन्न खाना, पतित स्वामी से अन्नग्रहण करना आश्रय दुष्ट है। किसी कारण से दुष्ट होना जैसे कुत्ते द्वारा जूठा होना निमित्त दुष्ट है। विमोक का तात्पर्य कामनाओं में अनासक्ति है अर्थात् वासनाओं, काम क्रोध आदि का त्याग। जब तक चित्त पापरहित नहीं होगा तब तक उसमें भक्ति का उदय नहीं हो सकता। **अभ्यास** ईश्वर का ध्यान करना, बार-बार चित्त को उसमें लीन करना है। **क्रिया** का अर्थ है अपने साधनों के अनुसार पंचमहायज्ञों एवं संस्कारों का सम्पादन। पाठ, होम, अतिथि-पूजन, तर्पण तथा बलि ये पाँच महायज्ञ हैं। सत्य, अहिंसा, ऋजुता, दया, दान, सच्चरित्रता, दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का अर्जन करना **कल्याण** है। इसके अन्तर्गत गीता के सोलहवे अध्याय में प्रतिपादित छब्बीस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण– जिन्हें दैवी सम्पद् कहा जाता है– का अर्जन करना चाहिए। अनवसाद अर्थात् सदा प्रसन्न रहना, खेद और निराशा के उपस्थित होने पर भी दुःखी न होना है। अनुधर्ष का तात्पर्य अतिसन्तोष का अभाव है। सुख का हेतु उपस्थित होने पर भी उससे अत्यधिक हर्षातिरेक का न होना अनुधर्ष है। रामानुजीय दर्शन में इस भक्तियोग की साधना का विधान जीवन-पर्यन्त करने का आदेश दिया गया है। भक्ति ईश्वर का ज्ञान तो है ही उसकी इच्छा के प्रति वंशवदता भी है। भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इस भक्ति का पर्यवसान अन्तर्दृष्टि से ईश्वर के साक्षात्कार में होता है।

यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक श्री निवासदास के अनुसार वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्द भक्ति के ही पर्याय हैं। **वेदार्थसंग्रह** में रामानुज ने साधन-भक्ति तथा पराभक्ति के भेद से भक्ति को द्विविध माना है। साधनभक्ति में शरीर, मन और वाणी का नियंत्रण, अपने कर्तव्य कर्मों का पालन, स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि का समावेश होता है। यह साधनभक्ति विवेक, विमोक आदि सप्तसाधनजन्य होती है तथा पराभक्ति ईश्वरजन्य होती है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में भक्ति और मुक्ति अंगांगि भाव से परस्पर सम्बद्ध हैं। यहाँ तक कि भक्ति की प्रत्येक अवस्था में हम अपने को पूर्णता प्राप्त करा रहे होते हैं। रामानुजीय दर्शन में भक्ति परिणमनरूप में मुक्ति ही तथा अन्य उपायों से सर्वोत्तम स्वीकार की गयी है क्योंकि यह स्वयं अपना पुरस्कार है (फलरूपत्वात्)। भक्ति के द्वारा आत्मा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति अधिक अभिज्ञा प्राप्त कर लेती है। मुक्ति के साधनरूप भक्ति के दो रूप स्वीकार किये जाते हैं– वैधी (औपचारिक) तथा मुख्या (श्रेष्ठ)। वैधी भक्ति का स्तर निम्न माना गया है जिसमें साधक प्रार्थना, कर्मकाण्ड तथा पूर्तिपूजा में संलग्न रहता है। भक्ति का यह रूप आत्म-शुद्धि में सहायक होता है किन्तु स्वयं मुक्ति का कारण नहीं होता। रामानुज का मत है कि मुक्ति के लिए सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए क्योंकि भक्ति की परमावस्था में अन्य कोई ध्यान का विषय नहीं बन सकता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति में प्रपत्ति का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है। प्रपत्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण है[1] तथा भागवत मत में इसे मुक्ति का सबसे उपयुक्त साधन माना गया है। श्रीनिवासदास प्रपत्ति को भक्ति का ही अंग मानते हैं किन्तु लोकाचार्य तथा शठकोप भक्तियोग और प्रपत्तियोग को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। श्रीनिवासदास के अनुसार भक्ति में त्रैवर्णिकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और देवताओं का ही अधिकार है शूद्रों का नहीं। किन्तु प्रपत्ति का मार्ग सभी के लिए खुला है। कोई भी साधक गुरु से दीक्षा ग्रहण कर अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर सकता है और उनका आश्रय प्राप्त कर सकता है। रामानुज का दृढ़ मत है कि ईश्वर जाति, आकार, स्वभाव, ज्ञान आदि पर ध्यान न देकर प्रपन्न मात्र को शरण देते हैं। विशिष्टाद्वैत का दक्षिणी सम्प्रदाय टेंगलाई– जो आल्वारों की परम्परा का पूर्ण निर्वाह करता है– के अनुसार प्रपत्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है और भक्त को मुक्ति प्राप्ति हेतु और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर उस साधक का तो अवश्य उद्धार करते है जो उनके प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है। उत्तरी सम्प्रदाय वाड़ागलाई के अनुसार प्रपत्ति लक्ष्य की प्राप्ति का अन्यतम उपाय तो है किन्तु एकमात्र उपाय नहीं। इस मत में मोक्ष-प्राप्ति हेतु मानवीय पुरुषार्थ की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। ऐसा साधक जिसने अपने को कर्म, ज्ञान, तथा भक्ति तथा प्रपत्ति से योग्य बना लिया है, प्रभु की दया प्राप्त करता है। उत्तरी सम्प्रदाय मुक्ति की धारणा स्पष्ट करने के लिए मर्कटन्याय का उदाहरण देता है। इस धारणा के अनुसार जिस प्रकार बन्दर का बच्चा इधर-उधर जाने में अपनी माँ के पेट को पकड़े रहता है अर्थात् उसे कुछ पुरुषार्थ भी करना होता है, उसी प्रकार साधक को भी ईश्वर-कृपा के अतिरिक्त स्वयं भी पुरुषार्थ-साधन करना होगा। दक्षिणी सम्प्रदाय मार्जर-न्याय का उदाहरण देता है। उनका मत है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को मुंह में दबाकर इधर-उधर ले जाती है बच्चों को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता उसी प्रकार साधक को भी मोक्ष-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ-साधन की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर स्वयं ही मोक्ष-प्राप्ति हेतु योग्य व्यक्ति का चुनाव करते हैं।

रामानुज का मत है कि इन उपायों से संवर्धित भक्ति से ईश्वर के दर्शनों की प्राप्ति होती है। जब तक ईश्वर की कृपा न हो तब तक व्यक्ति का प्रपन्न होना भी सम्भव नहीं। भक्ति यों तो पुरुष– प्रयत्न साध्य है किन्तु प्रपत्तियोग में ईश्वर के अनुग्रह रूप सहायता की महती अपेक्षा है। इसलिए प्रपत्तियोग में साक्षात् ईश्वर को सिद्धोपाय माना गया है। प्रपत्तियोग की प्राप्ति तो केवल उन्हींको होती है जिन पर ईश्वर स्वयं कृपा करते हैं। इसीलिए रामानुज ने अपने शरणागति पथ में ईश्वर से बार-बार यह प्रार्थना की है कि वे उन्हें परभक्ति, परज्ञान तथा परभक्ति से युक्त करें। ईश्वर में अनुराग परमभक्ति है और तदनन्तर प्राप्त किया जानेवाला ईश्वर के स्वरूप और ऐश्वर्य का विशेष ज्ञान कि 'ईश्वर उपास्य है तथा जीव उपासक या सेवक मात्र है', परज्ञान कहलाता है। इसी ज्ञान के पश्चात् भगवान में होने वाली दृढ़ आस्था परमभक्ति है। इस स्थिति में जीव कैंकर्यभाव से निरन्तर भगवत्-आराधन में लीन रहता है। यह साध्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति या प्रपत्ति साधनभक्ति या भक्तियोग से श्रेयस्कर है क्योंकि जहाँ भक्तियोग से केवल प्रारब्धकर्मों का नाश होता है वहाँ **प्रपत्तियोग** से संचित, प्रारब्ध तथा संचीयमान सभी कर्मों का नाश हो जाता है। प्रपन्न यदि भगवद् भक्तों के साथ दुर्व्यवहार न करे तो उसकी मुक्ति में तो कोई **सन्देह** है ही नहीं अर्थात् उसकी मुक्ति तो निश्चित है। **लक्ष्मीतन्त्र** में प्रपत्ति को न्यास कहा गया है और उसे पंचांगयोगयुक्त बताया गया है—

आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

आनुकूलस्य संकल्प, प्रातिकूलस्य वर्जन, महाविश्वास, गोप्तृत्ववरण तथा कार्पण्य को अंग तथा आत्मनिक्षेप को अंगीमान कर प्रपत्ति के छः अंग भी बताये गये हैं। **अहिर्बध्न्यसंहिता** में शरणागति उपर्युक्त छः प्रकार की ही बतायी गयी है। श्रीनिवासदास ने आत्मनिक्षेप और कार्पण्य का एक में समावेश करके पंचांग-युक्त प्रपत्ति स्वीकार की है। इन षडंगों का अर्थ भगवान् के अनुकुल रहने का संकल्प, भगवान् के प्रतिकूल न जाना, भगवान् हमारी रक्षा करेंगे यह विश्वास जिससे रक्षक के रूप में उनका वरण करना, गोप्तृत्वेवरणं अर्थात् अपने को भगवान् के ऊपर स्वयं को डाल देना, कार्पण्य अर्थात् हीनता का भाव या अपनी कमियों का अनुभव तथा आत्मनिक्षेप अर्थात् आत्मसमर्पण है। शरणागति गद्य में रामानुज ने इस प्रपत्ति को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। **अर्थपंचक** में आचार्याभिमानयोग नामक एक अन्य मार्ग का भी उल्लेख किया गया है। यह मार्ग उन व्यक्तियों के लिए है जो अन्य मार्गों का अनुगमन नहीं कर सकते। इस मार्ग में आचार्य के समक्ष आत्मनिक्षेप एवं प्रत्येक विषय में उनके द्वारा संचालित होने का विधान है। जिस प्रकार माता शिशु की चिकित्सा करने के लिए औषध-ग्रहण करती है, उसी प्रकार आचार्य वह सब करता है जो उसके शिष्य के लिए मुक्ति के हेतु आवश्यक हैं।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराध्य देव विष्णु को स्वीकार किया गया है, तथा जिनकी उपासना के लिए षोडशोपचार का विधान है। इनमें आठ उपचार तो **भागवतपुराण** में वर्णित नवधाभक्ति [२] के अर्चना, वन्दना, दासता, सेवन, स्मरण, कीर्तन, श्रवण तथा आत्मनिवेदन हैं केवल सख्यभाव को छोड़ दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य आठ उपाय ये हैं– शरीर पर शंख, चक्र एवं हरि के अन्य आयुधों के लान्चछन अंकित करना, ललाट पर लम्बी रेखा अंकित करना, समय पर मन्त्रों का जप करना, हरि के चरणामृत का पान करना, हरि को समर्मित किया हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैवेद्य ग्रहण करना, भगवत्-भक्तों की सेवा करना, प्रत्येक मास की कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों की एकादशी को व्रत रखना तथा हरि की प्रतिमा पर तुलसी-पत्र चढ़ाना।

रामानुजीय दर्शन की धार्मिक परम्परा में भक्ति का स्वरूप ईश्वर का निरन्तर चिन्तन है। इस प्रकार रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बादरायण द्वारा वर्णित उपासना के तुल्य है। उन्होंने अपने दर्शन में पारम्परिक भक्ति को पूर्ण ब्राह्मणपरक बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। निश्चय ही रामानुज दार्शनिक होने के साथ ही साथ धार्मिक क्षेत्र की महान् प्रतिमा थे जिसमें दार्शनिक भाव के साथ-साथ धार्मिक आकांक्षाएँ भी उतनी ही प्रबल थीं। इसीलिए वे अपने आप में पूर्ण तथा सुसंगत धार्मिक दर्शन की प्रतिष्ठा का कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक कर सके तथा अपनी इस महत्त्वपूर्ण देन के कारण उन्होंने दर्शन और धर्म दोनों ही क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वैष्णव-दर्शन एवं धार्मिक परम्परा में रामानुज तथा उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है।

के. ३७/५५ जी. डी. लेन
बुलानाला, वाराणसी २२१००१

– उर्मिला चतुर्वेदी

टिप्पणियाँ

१. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तरव्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

२. अर्चनं वन्दनं दास्यं सेवनं स्मरणं तथा।
कीर्तन श्रवणं सख्यं तथैवात्मनिवेदनम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या संवेदनों का अस्तित्व है ?

मेरे इस छोटे से पर्चे की चर्चा का विषय एकदम सीमित है। मेरा उद्देश्य श्री. डी. वाय. देशपांडे जी के लेख 'आर देयर सेन्सेशन्स ?'[१] में रह गई एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि की ओर ध्यान दिलाना और थोड़ा संशोधन करना मात्र है। देशपांडे जी ने संवेदन– भाषा का विश्लेषण और संवेदन-घटना का फिर्नामिनांलांजीकीय वर्णन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों द्वारा जिन 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदनों' (सेन्सेशन्स ऑफ स्पेशल सेन्सेस) का प्रतिपादन किया जाता है, वैसे संवेदनों का कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः देशपांडेजी का उपरोक्त लेख साधारण–भाषा–दर्शन प्रवृत्ति के एक प्रमुख प्रतिनिधि दार्शनिक गिलबर्ट राईल की भूमिका, युक्तियों और निष्कर्ष का ही पिष्टपेषण है।

मुझे यह दर्शाना है कि जिन युक्तियों के आधार पर उन्होंने दृश्य संवेदन के होने का खंडन किया है, वही युक्तियाँ अन्य ऐन्द्रिय-संवेदनों पर लागु नहीं होतीं, जब कि उन्होंने, दृश्य संवेदन के खंडन में दी गई युक्तियाँ, अन्य ऐन्द्रिय-सवेदनों के खंडन में लागू हो सकती हैं, ऐसा मान लिया है।

देशपांडेजी के अनुसार, मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि थकान, ऐठन, दाँत का दर्द और ऊबकाई की संवेदनाअें तथा 'विशेष-विशेष इन्द्रियों के संवेदन' एक ही जाति की दो उपजातियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे थकान, ऐंठन, दाँत का दर्द, ऊबकाई आदि अनुभव हैं अथवा उनकी अनुभूति होती है वैसे ही 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदन' भी अनुभव हैं अथवा उनके घटने की अनुभूति होती है। सुविधा के लिए पहले प्रकार की संवेदनाओं को स१ कह लेते हैं। और दूर से प्रकार की संवेदनाओं यथा 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदन' को स२ कहलेते हैं। वस्तुतः स१ और स२ को एक ही कोटि के नहीं माना जा सकता अर्थात् जैसे स१ अनुभव है या कि उसकी अनुभूति होती है वैसे स२ अनुभव नहीं है या कि उसके घटने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अनुभूति नहीं होती । जब हम कोई नीली वस्तु देखते हैं तो, मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, हमें नीले या नीलेपन की संवेदना अनुभूत होती है, और फिर 'नीले की संवेदना' को 'थकान की संवेदना' के समानान्तर मान लिया जाता है । लेकिन वास्तव में देखा जाय तो, देशपांडेजी के अनुसार, दोंनों अभिव्यक्तियों में 'की' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । 'थकान की संवेदना' अभिव्यक्ति में 'की' शब्द का व्यापार 'ब्राऊन नाम का व्यक्ति' (बाय दी नेम ऑफ ब्राऊन) अभिव्यक्ति में 'का' शब्द के व्यापार के समान है । 'ब्राऊन नाम का व्यक्ति' अभिव्यक्ति में ब्राऊन नाम ही है । वैसे ही 'थकान की संवेदना' में थकान स्वयं संवेदना है । उसी तरह 'थकान की संवेदना' की अभिव्यक्ति 'थकान की अनुभूति' की पर्यायवाची है । लेकिन 'नीले की संवेदना' में 'की' शब्दप्रयोग उपरोक्त अर्थ में नहीं है । 'नीले की संवेदना' में नीला स्वयं संवेदना या अनुभूति नहीं है । 'नीले की संवेदना' अभिव्यक्ति 'नीली वस्तु के प्रति सजगता' या 'नीली वस्तु का ज्ञान' अभिव्यक्ति के समान है, जहाँ 'की' अव्यय वस्तु और उसके ज्ञान के संबंध को व्यक्त करता है ।

भाषा विश्लेषण से प्राप्त नतीजे को, देशपांडे जी के अनुसार, अन्तर्निरीक्षण द्वारा भी जाँचा जा सकता है (यहाँ यह कहना आप्रासंगिक नहीं होगा कि राईल ने अन्तर्निरीक्षण की अवधारणा का सशक्त खंडन **दी कॉनसेप्ट ऑफ मॉइंड** में किया है । अत: जिसे देशपांडे जी अन्तर्निरीक्षणात्मक जाँच कह रहे हैं, उसे फिनॉमिनॉलॉजीकीय वर्णन कहना अधिक उपयुक्त होगा । हमें कोई चीज देखने या सुनने पर कोई अनुभूति नहीं होती । हाँ, तेज रोशनी में आँखें चुंधिया जा सकती हैं, लेकिन आँखों में चौंध की संवेदना या अनुभूति देखने की सहायक घटक नहीं होती । वैसे ही धमाके की आवाज से कान के पर्दे फटने की संवेदना या अनुभूति होती है, लेकिन ऐसी संवेदना या अनुभूति सुनने की सहायक घटक नहीं होती । वस्तुत: सामान्य अवस्था में हमें देखने या सुनने पर किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती । और यही बात, देशपांडे जी के अनुसार अन्य ऐन्द्रिय संवेदनाओं पर लागू होती है । आगे, उन्हीं के अनुसार अन्य विशषताओं से भी सब का वर्णन किया जा सकता है लेकिन $स_2$ का नहीं । थकान, मामूली या अधिक हो सकती है । दर्द, शूल की चुभन सा अथवा ऐंठन सा हो सकता है । लेकिन $स_2$ का ऐसा कोई वर्णन करने का प्रयत्न करने पर उक्त वर्णन संवेदन-विशेष का न होकर उसके विषय (ऑबजेक्ट) का हो हो जाता है । इस तरह रंग-संवेदन या ध्वनि संवेदन के वर्णन रंगों और ध्वनियों के वर्णनों के बिना संभव नहीं होते अत: देशपांडे जी के अनुसार, 'ऐसे संवेदनों को उनके आंतरिक गुणों के संदर्भ में अभिव्यक्त करने के प्रयत्न की पूर्ण असफलता इस संदेह का समर्थन करती है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिक जिन्हें 'विशेष विशेष इन्द्रियों की संवेदनाएँ' कहते हैं, ऐसी किन्हीं संवेदनाओं का अस्तित्व नहीं होता' ('आर देयर सेन्सेशन्स ?' पृष्ठ ४८)

इस तरह देशपांडे जी के साथ यहाँ सहमत हुआ जा सकता है कि प्रत्यक्ष के घटक के रूप में दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन का उनके अपने गुणों के संदर्भ में वर्णन नहीं किया जा सकता और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे 'संवेदन' होते ही नहीं। लेकिन दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन के विश्लेषण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य ऐन्द्रिय संवेदन प्रत्यक्ष के घटक के रूप में अनुभूत नहीं होते या कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। स्पर्श संवेदन का उदाहरण लें। ठंडे की संवेदना या 'नरमी की संवेदना' का विश्लेषण 'थकान की संवेदना' के समानान्तर किया जा सकता है। ठंड़क या नरमाहट को सवेदनाओं को अन्य विशेषताओं से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है यथा ठंड़क या नरमाहट कम या अधिक हो सकती है। ठंड़क सह्य या असह्य हो सकती है। नरमाहट तटस्थ या सुखद हो सकती है।

इस तरह अनुभूति के स्वाभाविक अर्थ में संवेदना न केवल शारीरिक संवेदनों यथा थकान, ऊबकाई आदि से संबंधित होती है बल्कि ऐन्द्रिय संवेदनों में दृश्य और श्रव्य संवेदनों को छोड़कर स्पर्श संवेदना से भी संबंधित होती है, यह स्वयं राईल भी उसी लेख में प्रतिपादित करते हैं जिस लेख[२] के आधार पर देशपांडे जी ने संवेदनों की अवधारणा पर चर्चा की है।

अब यहाँ राईल के उक्त लेख की एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि की ओर ध्यान दिलाना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा। ऐन्द्रिय संवेदनों के विषय में राईल ने भी एक विचित्र बात कही है कि दृश्य संवेदन, श्रव्य संवेदन के साथ-साथ रस संवेदन और गंध संवेदन भी संवेदन नहीं होते, केवल स्पर्श संवेदन ही संवेदन या अनुभूति होते हैं।

वास्तव में स्पर्श संवेदन के साथ-साथ रस संवेदन या गंध संवेदन भी संवेदन या अनुभूति होते हैं। रसानुभूति के खंडन में राईल कहते हैं कि 'मेरी जीभ, कहा जाय तो, दोहरा (डबल) ऐन्द्रिय अवयव है। मैं उससे वस्तुओं को अनुभूत करने (फील) और वस्तुओं का स्वाद लेने के दोनों काम ले सकता हूँ।' स्पष्ट है राईल अनुभूति को स्पर्श से ही संबंधित मानते हैं और स्वाद लेने को अनुभूति नहीं मानते। राईल आगे कहते हैं, 'मैं चम्मच जैसी वस्तुओं के आकार और सतह को बिना स्वाद लिये अनुभूत कर सकता हूँ और मैं प्याज या गोलीमर्च का स्वाद कुछ भी अनुभूत किये बिना ले सकता हूँ।' (वहीं, पृ. ३४१)

यह सही है कि जैसे त्वचा से ठंड़क, गरमाहट, चिकनाहट अनुभूत की जाती है वैसे ही जीभ से ठंड़क, गरमाहट, चिकनाहट अनुभूत की जा सकती है। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्याज या गोलमिर्च का भिन्न-भिन्न तीतापन जीभ से ही अनुभूत किया जा सकता है अन्य ऐन्द्रिय अवयवों से नहीं। उसी तरह स्वाद का गुण और मात्रा के संदर्भ में भी भेद किया जा सकता है। तीतापन या मिठास या कड़ुवाहट भी कम या अधिक, सुखद या दुःखद हो सकती है। इसलिये स्वाद को भी संवेदना या अनुभूति कहना उचित है। अतः राईल का यह कथन गलत है कि मैं प्याज या गोलमिर्च का स्वाद बिना कुछ अनुभूत किये ही ले सकता हूँ। वस्तुतः स्वाद स्वयं अनुभूति है।

अब यहाँ एक मुद्दा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'थकान की संवेदना' तथा 'ठंडक की संवेदना' या 'मिठास की संवेदना' का तार्किक व्यापार एक स्तर पर समान (Parallel) है अर्थात् थकान, ठंड़क, मिठास अनुभूतियाँ ही हैं। लेकिन अन्य स्तर पर 'थकान की सवेदना' तथा 'ठंडक की संवेदना' का तार्किक व्यापार असमान (unparallel) है। थकान की संवेदना प्रत्यक्षगत संवेदना नहीं है जबकि मिठास की संवेदना या ठंड़ा की संवेदना प्रत्यक्षगत संवेदनाएँ हैं। अर्थात् ये संवेदनाएँ बाह्य विषयोंपर निर्भर होती हैं। उसी तरह थकान मालूम करने के लिये चाहे कम हो या अधिक सावधानी या लापरवाही नहीं बरती जाती। लेकिन अपेक्षाकृत मिलती जुलती वस्तुओं के स्पर्शों और स्वादों की भिन्नता मालूम करने के लिये सावधानी बरती जा सकती है।

अतः अनुभूति के स्वाभाविक अर्थ में दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन नहीं होते लेकिन स्पर्श और रस संवेदन होते हैं। लेकिन ऐसे संवेदनों के होने का अर्थ संवेदनों का शुद्ध मानसिक होना नहीं है। संवेदनों की कोई शुद्ध (neat) भाषा नहीं होती। अपनी अभिव्यक्ति के लिये वे साधारण वस्तुओं और घटनाओं पर निर्भर होते हैं।

– सुरेशकुमार थोरात

दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

टिप्पणियाँ

१. मार्गरिट चटर्जी : **कण्टेम्पररी इंडियन फिलाँसफी** : द्वितीय मालिका
२. 'सेन्शेशन्स' : राईल, गिलबर्ट : **कलेक्टेट पेपर्स**, भाग २, पृ. ३४१
३. वहीं, पृ. ३४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव और उद्वेग

इस लेख का उद्देश्य भाव और उद्वेग के बारे में पाश्चात्य तत्त्वज्ञ स्पिनोजा तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन करना है।

– १ –

शुक्लजी ने निम्नलिखित वाक्य में उद्वेग शब्द का प्रयोग किया है–

"उद्वेगशील जातियों में भाव-शबलता की संभावना अधिक होती है।"[१] दो से अधिक भावों के संघात को भाव-शबलता कहते हैं। इस नाते उद्वेगशील जाति का अर्थ हुआ, ऐसी जाति जिनके भावों में संघात होता रहता है। धीर और संयत वृत्ति के पात्र में भाव-शबलता के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे और जहाँ मिलेंगे, वह प्रसंग ऐसा होगा, जिसमें एक ही प्रसंग के सचमुच ऐसे अनेक पक्ष होंगे जो भिन्न-भिन्न भावों के विषय हो सकें। स्पष्ट है कि उद्वेग का अर्थ यहाँ भाव न होकर 'भाव से युक्त' या 'जाग्रत भाव' से है। इसे हम इमोशन (Emotion) कह सकते हैं। उद्वेगशील का अर्थ हुआ 'भावना-प्रधान' या 'भावुक'।

रस-मीमांसा में, परिशिष्ट के अंतर्गत कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं। इन टिप्पणियों में भाव से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली के कुछ शब्द दिये हैं। ये अँग्रेजी और हिन्दी दोनों साथ-साथ में हैं। इससे हमें शुक्लजी के अभिप्रायों को समझने में सहायता मिलती है और विषय के बोध में सुविधा भी होती है। ऐसे शब्द नीचे दिये जा रहे हैं[२]–

"इंपल्सेज (Impulses) जीवन-योग, ऐपिटाइट्स (Appetites) इंद्रिय-वेग, इमोशंस (Emotions) मनोवेग या भाव, सेंटिमेंटस् (Sentiments) स्थायीभाव, इंस्टिंक्ट (Instincts) संस्कार, टेंडेंसी (Tendency) प्रवृत्ति।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान देने की बात है कि भाव के साथ शुक्लजी ने मनोवेग शब्द रखा है और अंग्रेजी में इमोशंस् (Emotions) का वाचक माना है। डॉ. दीवानचन्द्र ने अपनी पुस्तक के अन्त में (स्पिनोजा : **नीति** पुस्तक के अन्त में) पारिभाषिक शब्दावली दी है। उसमें इमोशन्स (Emotions) के लिये उद्वेग शब्द ही उन्होंने दिया है। हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम 'भाव' और 'उद्वेग' दोनों में भेद कैसे करें? कारण यह है कि अँग्रेजी में भाव के लिए इमोशन शब्द है और उद्वेग के लिए भी। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए हमें इन शब्दों के प्रयोग पर विचार करना होगा। सच तो यह है कि भाव और उद्वेग दोनों ही पर्यायवाची प्रतीत होने पर भी पर्यायवाची नहीं हैं। यह अन्तर वैचारिक है और सिद्धान्त रूप में में भी है।

— २ —

स्पिनोजा ने उद्वेग की परिभाषा इस प्रकार की है–

"उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रिया शक्ति बढ़ती या घटती, सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ इन रूप भेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं।" [३]

यह परिभाषा इतनी सटीक, स्पष्ट और वैज्ञानिक है कि इसमें कुछ कहने के लिए अवसर नहीं रह जाता।

स्पिनोजा की **नीति** पुस्तक ज्ञान की परिपूर्ण शाखा 'गणित' की पद्धति से लिखी गई है। और गणित में भी 'रेखागणित' या 'ज्यामितीय' पद्धति से लिखी गई है। स्पिनोजा लिखते हैं–

"जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक किसी ने उद्वेगों की प्रकृति और शक्ति को निश्चित नहीं किया, न यह बताया कि मन उन्हें शासन में रखने के लिए उनके विरोध में क्या कर सकता है? मैं जानता हूँ कि परम प्रतिष्ठित डेकार्ट ने, यह मानते हुए भी कि मनुष्य का मन अपने कर्मों में निरपेक्ष शक्ति रखता है, यत्न किया कि मानव उद्वेगों का समाधान उनके प्रथम कारणों द्वारा करे, और साथ ही यह बताया कि किस तरह मन उद्वेगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है। परन्तु मेरे विचार में वे अपनी बुद्धि की महानता और चतुराई ही दिखा सके, जैसा मैं उचित स्थान में प्रकट करूँगा। क्योंकि अभी मैं उन लोगों की ओर फिरना चाहता हूँ जो उद्वेगों और क्रियाओं को समझने की अपेक्षा उन्हें निन्दा और हँसी का विषय बनाना अधिक पसन्द करते हैं। इन लोगों के लिए यह बहुत अजीब बात होगी कि मैं मनुष्यता की बुराई और त्रुटियों का रेखागणित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विधि के अनुसार वर्णन करने का यत्न करने लगा हूँ, और उन चीजों को यथार्थ युक्ति से सिद्ध करना चाहता हूँ जिन्हें वे बुद्धि के प्रतिकूल असार, अर्थहीन और घृणित समझकर फटकारते हैं, इस पर भी यह मेरा आयोजन है।" ४

स्पिनोजा की इन पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे उद्वेगों का विवेचन 'रेखागणित' की विधि के अनुसार कर रहे हैं। इस पद्धति को अपनाने के कारण स्पिनोजा का लेखन वैज्ञानिक हो गया है।

स्पिनोजा उद्वेगों के अध्ययन को निन्दनीय विषय नहीं मानते और न इस विषय को वे हेय मानते हैं। इस तरह से कहते समय उनके मन में धर्मगुरू रहे हैं, जो उद्वेगों को निन्दनीय रूप में अनुभव करते हैं। प्रश्न है क्या ऐसा कहते समय उद्वेगों को क्या माया समझ लिया गया? हमारे यहाँ माया का विवेचन कुछ-कुछ इसी अर्थ में हुआ है। स्पिनोजा ने उद्वेगों को उक्त जाल से मुक्त किया है और अस्पष्ट को स्पष्ट तथा वैज्ञानिक ढंग से व्यक्त किया।

स्पिनोजा ने उद्वेग की जो परिभाषा दी है, उसके साथ उन्होंने और दो परिभाषाएँ अलग से दी हैं। इसी तरह उक्त परिभाषा के बाद अलग से टीका रूप में दो पंक्तियाँ लिखी हैं। टीका के बाद स्वीकृत पक्ष है। यह सब स्पिनोजा के अनुसार नीचे उद्धृत है ५ –

परिभाषाएँ

१. मैं उसे पर्याप्त कारण कहता हुँ, जिसका परिणाम उसके द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में ज्ञात हो सकता है। मैं उसे अपर्याप्त या आंशिक कारण कहता हूँ जिसका परिणाम उसके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता।

२. मैं कहता हूँ कि हम कुछ करते हैं या सकर्मक हैं, जब हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है जिसके हम पर्याप्त कारण हैं, अर्थात् (पूर्व परिभाषा) हमारी प्रकृति से कोई ऐसी वस्तु हमारे अन्दर या बाहर उद्भूत होती है जो केवल उसी के द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है। दूसरी ओर मैं कहता हूँ कि हम सहते या प्रहारित होते हैं, जब हमारी प्रकृति से कोई घटना हमारे अन्दर या बाहर घटती है, जिसका हम आँशिक कारण ही होते हैं।

३. उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ ही इन रूप-भेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं।

टीका

इस तरह यदि हम इन रूपभेदों के कारण हो सकें, तो मैं उद्वेग को कर्म के अर्थ में लेता हूँ, विपरीत अवस्था में बहिर्जात उद्वेग के अर्थ में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृत पक्ष

१. यह स्वीकृत पक्ष या स्वयंतथ्य स्वीकृत पक्ष १ पर और प्रमेयिका ५ और ७ पर आधारित हैं, जिन्हें देखिए भाग २, साध्य १३ के अन्त में।

२. मनुष्य के शरीर में बहुतेरे परिवर्तन हो सकते हैं और इस पर भी यह पदार्थों के प्रभावों या चिन्हों को सुरक्षित रख सकता है (भाग २ साध्य ५) और इसके परिणामस्वरूप पदार्थों के उन्हीं प्रतिबिम्बों को (भाग २, साध्य १७, टिप्पणि)......... "

ऊपर स्पिनोजा के जो अंश उद्धृत हैं, उनमें उद्वेग की परिभाषा तीसरी है। किन्तु यह परिभाषा यदि हम ऊपर-नीचे के संदर्भों को ध्यान में रखकर नहीं देखेंगे, तो परिभाषा स्पष्ट नहीं होगी। स्वीकृत पक्ष के अंतर्गत दूसरे भाग के संदर्भ दिए हुए हैं। उन सब को ध्यान में रखकर जब हम उक्त परिभाषा पर विचार करेंगे, उस समय उक्त परिभाषा ठीक से समझ में आयेगी।

प्रथम परिभाषा– **पर्याप्त कारण** की है। कारण के साथ परिणाम जुड़ा रहता है। परिणाम यदि विमल और स्पष्ट रूप में ज्ञात है, तो फिर उक्त परिणाम के कारण को **पर्याप्त कारण** कहना चाहिए। यदि परिणाम स्पष्ट और विमल रूप में (ठीक ठीक कह लीजिए) ज्ञात नहीं है, तो उक्त परिणाम के कारण को **अपर्याप्त या आँशिक कारण** कहना चाहिए।

पर्याप्त कारण की इस परिभाषा पर दूसरी परिभाषा आधारित है।

दूसरी परिभाषा '**हमारे सकर्मक होने**' की है। स्पिनोजा मानते हैं कि हम कुछ करते हैं। इस तरह कुछ करते समय या सकर्मक रहते समय हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है जिसके हम पर्याप्त कारण हैं। इस पर्याप्त कारण की परिभाषा ऊपर दे दी गई है। पर्याप्त कारण कहने के बाद यह स्पष्ट है कि उसका परिणाम विमल और स्पष्ट है। हम कुछ करते हैं या सकर्मक हैं, उस समय हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है– इस घटना को हम विमल और स्पष्ट रूप में जाने तो यह परिणाम और हम उक्त परिणाम के पर्याप्त कारण हैं, ऐसा मानना चाहिए। ठीक इसी तरह स्पिनोजा का कहना है कि '**हम सहते या प्रहारित होते हैं**' – इस स्थिति में हम पर्याप्त कारण नहीं होते। इस स्थिति में हमारी प्रकृति में कोई घटना अन्दर या बाहर घटती है, उसका हम आँशिक कारण ही होते हैं।

पर्याप्त कारण को हमारे सकर्मक होने से जोड़ा गया है और अपर्याप्त कारण को हमारे सहने या प्रहारित होने से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्वेग का सम्बन्ध शरीर के रूप भेदों से बतलाया गया है। स्पिनोजा ने शरीर की परिभाषा अलग से दी है। शरीर के सम्बन्ध में लिखा है–

"शरीर से मेरा अभिप्राय ऐसे आकार से है जो एक विशेष निर्णीत रूप में ईश्वर के सार को प्रकट करता है, उस हद तक जहाँ तक ईश्वर का एक विस्तृत अभिव्यक्ति की स्थिति में चिन्तन किया जाता है।"[६]

यह तो शरीर की परिभाषा हुई। शरीर के सम्बन्ध में और भी ठीक निश्चित विधान भाग २, साध्य १३ में दिया है। वह इस प्रकार है–

"जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, या विस्तार का एक विशेष आकार जिसका वास्तविक अस्तित्व है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।"[७]

इस परिभाषा में (यह साध्य है) **प्रत्यय** शब्द है। प्रत्यय की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"प्रत्यय से मेरा अभिप्राय मन के ऐसे विचार से है, जो मन चिन्तक होने के कारण करता है।"[८]

इस तरह हम देखते हैं कि स्पिनोजा की परिभाषाएँ तथा साध्य आपस में एक-दूसरे से इस तरह आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे को स्पष्ट करना कठिन प्रतीत होता है। स्पिनोजा का चिन्तन अद्वैतवादी चिन्तन है। वे शरीर के रूपभेदों में ईश्वर के विद्यमान होने को स्वीकार करते हैं। ऊपर भाग २, साध्य १३ लिखा गया है। उसीको सिद्ध करने के लिए उन्होंने उपपत्ति दी है। उपपत्ति इस प्रकार है–

"**उपपत्ति** : अब यदि शरीर मानुषी मन का विषय नहीं है, तो शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय ईश्वर में विद्यमान नहीं होंगे (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय) इस अंश में कि ईश्वर हमारे मन या किसी अन्य वस्तु के मन का उपादान है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय हमारे मन में नहीं होंगे, परन्तु (भाग २, स्वयं ४) शरीर के रूप भेदों के प्रत्यय हमारे मन में हैं। इसलिए जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, और वह (भाग २, साध्य ११) वास्तविक अस्तित्व रखने वाला। इसके अतिरिक्त यदि मन का कोई अन्य विषय भी होता, तो, चूँकि (भाग १, साध्य ३६) प्रत्येक विद्यमान वस्तु का कुछ परिणाम होता है, इसलिए (भाग २, साध्य ११) अनिवार्य रूप में हमारे मन में ऐसा प्रत्यय होना चाहिए, जो उस विषय का परिणाम है। परन्तु (भाग २, स्वयं ५) इसका कोई प्रत्यय मिलता नहीं। इसलिए हमारे मन का विषय विद्यमान शरीर है, और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इति सिद्धम्।"[९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पिनोजा की पुस्तक में से सम्बन्धित भाग तीसरा भाग है और इस भाग में इससे पूर्व दोनों भागों के सन्दर्भ जगह-जगह पर हैं। इसलिए यदि हम तीसरे भाग मात्र को पढ़ने लगेंगे तो कठिनाई होगी। उद्वेग को शरीर का रूपभेद माना गया है। शरीर को मन का विषय कहा गया है। भाग २, साध्य १३ के अन्तर्गत ही उपप्रमेय में कहा है कि मनुष्य, मन और शरीर दोनों से बना हुआ है। मनुष्य का शरीर उसी स्थिति में विद्यमान है, जिसमें हम इसे अनुभव करते हैं। इस बात को उक्त उपप्रमेय की टिप्पणि में विस्तार के साथ समझाया गया है। मुख्य बात यह है कि उद्वेग का सम्बन्ध शरीर के रूपभेदों से है। ऐसे रूपभेद जिनसे शरीर की क्रियाशक्ति बढ़ती या घटती या सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ इन रूपभेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं। उद्वेग को स्पिनोजा कर्म के अर्थ में भी लेते हैं। परिभाषा की टीका में ही लिखा है कि यदि हम रूपभेदों के कारण हो सकें तो मैं उद्वेग को कर्म के अर्थ में भी लेता हूँ। स्पष्ट है कि यहाँ स्पिनोजा ने पर्याप्त कारण तथा अपर्याप्त कारण के आधार पर उद्वेगों के भेद किये हैं। यदि शरीर के रूपभेदों के हम पर्याप्त कारण हैं, तो उद्वेग को कर्म के अर्थ में लिया जाएगा और अपर्याप्त कारण हैं तो उसे बहिर्जात उद्वेग कहा जाएगा।

शरीर के रूपभेदों पर विचार करते समय हमें प्राकृतिक रूपभेदों पर विचार करना चाहिए। इस तरह का विचार स्पिनोजा ने किया है। प्राकृतिक पदार्थों के विषय में उनका कहना है कि- (१) सभी भौतिक पदार्थ या तो गति में हैं या अचल हैं और (२) प्रत्येक भौतिक पदार्थ कभी मंद गति से और कभी तेज गति से क्रियाशील किया जाता है।"[१०] भौतिक पदार्थ की क्रियाशीलता से मनुष्य के शरीर की क्रियाशीलता को अलग से समझाने के लिए स्पिनोजा ने भौतिक पदार्थों की क्रियाशीलता पर विचार किया है। भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में स्पिनोजा ने भाग २, साध्य १३ के अन्त में सात प्रमेयिकाएँ दी हैं। वे इस प्रकार हैं-[११]

प्रमेयिका १- भौतिक पदार्थों में एक दूसरे से भेद चल या अचल होने में, तीव्रता या मंदता में होता है, द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं होता।

प्रमेयिका २- सभी भौतिक पदार्थ कुछ बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं।

प्रमेयिका ३- जो भौतिक पदार्थ गति में या अचल है, वह अपनी गति या अचलता के लिए अवश्य किसी दूसरे पदार्थ से निर्णित हुआ होगा, जो पदार्थ भी गति वा अचलता के लिए किसी दूसरे पदार्थ से निर्णित हुआ होगा, और यह किसी तीसरे पदार्थ से, और इसी तरह अनन्तता तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमेयिका ४– यदि किसी ऐसी वस्तु में से जो कई वस्तुओं की बनी है, कुछ भाग अलग कर दिये जाए, और उसी समम उसी प्रकृति के उतने ही भाग उनका स्थान ले लें, तो वह वस्तु पहले की तरह अपनी प्रकृति को, अपनी आकृति में किसी परिवर्तन के बिना कायम रहेगी।

प्रमेयिका ५– यदि किसी व्यक्ति के भाग मात्रा में अधिक या कम हो जाएँ, परन्तु ऐसे समानुपात में कि वे गति और अचलता के सम्बन्ध में अपने दरमियान पहले अनुपात कायम रखते हैं, तो व्यक्ति, आकृति के किसी परिवर्तन के बिना, पहले की तरह अपनी प्रकृति कायम रखेगा।

प्रमेयिका ६– यदि कुछ वस्तुएँ जो किसी व्यक्ति का भाग हैं, अपनी गति को जो वे एक दिशा में रखती थीं, भिन्न दिशा में करने पर बाधित हो, परन्तु इस रीति में कि वे अपनी गति को जारी रख सकें और एक दूसरी के सम्बन्ध में गति और अचलता का पहला अनुपात बनाये रखें, तो व्यक्ति आकार में किसी परिवर्तन के बिना अपनी प्रकृति कायम रखेगा।

प्रमेयिका ७– इसके अतिरिक्त, व्यक्ति जो इस तरह मिश्रित हुआ है, अपनी प्रकृति को कायम रखता है, चाहे समग्र स्थिति में इसे गतिमान् किया जाए या यह अचल रहे, चाहे इस दिशा में या उस दिशा में गतिमान् किया जाए, इस शर्त पर कि प्रत्येक भाग पहले की तरह अपनी गति को कायम रखे और प्रदान करे।"

इन प्रमेयिकाओं को ध्यान में रखकर शरीर के रूपभेदों पर विचार करना चाहिए। इस तरह से विचार करने पर ही 'उद्वेग' का स्वरूप ठीक से स्पष्ट हो सकेगा।

– ३ –

नीति पुस्तक के तीसरे भाग में उद्वेगों के स्रोत और उनकी प्रकृति से सम्बन्धित ५९ साध्य हैं। ये सभी साध्य ऐसे हैं, जिनके आधार पर मन और शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट होता है और इन सम्बन्धों के आधार पर उद्वेगों की स्थिति स्पष्ट होती है। मन शरीर से नियंत्रित होता है या शरीर मन से नियंत्रित होता है और दोनों का आपस से नियंत्रण का अनुपात किस रूप में पहचाना जाए? इस बात को स्पिनोजा ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है। उद्वेग के साथ कर्म जुड़ा हुआ है। शुक्लजी ने उद्वेग के लिए मनोवेग शब्द का प्रयोग किया है, जो उचित लगता है। शुक्लजी ने भाव को स्पष्ट करने के लिए मनोवेग तथा मनोविकार के स्तर पर भाव को परखा। शुक्लजी भाव को (चिन्तामणि भाग १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में) मनोविकार के पर्याय के रूप में बतलाते हैं। उनके अनुसार भाव — "प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेश का नाम भाव है।"[१२] शुक्लजी की इस परिभाषा से स्पिनोजा की उद्वेग की परिभाषा एकदम भिन्न है। सब से बड़ा अन्तर दृष्टिकोण का है। प्रथम अन्तर तो यह है कि स्पिनोजा ने साहित्य पर विचार नहीं किया। शुक्लजी साहित्य को आधार मान कर भाव पर विचार करते हैं। ठीक इसके विपरीत कहिए या दृष्टिकोण में भेद मान लीजिए– स्पिनोजा उद्वेगों पर विचार करते समय ईश्वर को भूलते नहीं हैं। उद्वेगों को स्पष्ट करते समय मन और शरीर का जो सम्बन्ध बतलाया गया है, उसमें ईश्वर आ गया है। शुक्लजी ने ईश्वर की कोई चर्चा ही नहीं की। न ही भावों के स्पष्टीकरण में उन्होंने इस चर्चा को आवश्यक माना। स्थूल अन्तर स्पष्ट करना हो तो हम यों कह सकते हैं कि शुक्लजी के भावों के विवेचन के केन्द्र में साहित्य है और स्पिनोजा के उद्वेगों के केन्द्र में अध्यात्म है। साहित्यिक विवेचन और आध्यात्मिक विवेचन दोनों में जो भेद हो सकता है, वह भेद यहाँ दिखलाई देगा।

शुक्लजी भाव के विवेचन में प्रत्यय-बोध को प्रधानता देते हैं। सुख और दुःख तो इन्द्रियज वेदना है और इसका अनुभव तो प्राणी वर्ग करता ही है। ये पहले या आदिम अवस्था में वासना रूप में स्थित रहते हैं। वासना के स्तर पर प्राणी-वर्ग और मनुष्य में राग और द्वेष की दृष्टि से विशेष भेद नहीं मानना चाहिए। शुक्लजी मानते हैं कि उन्नत योनियों में वासनाओं की नींव पर भावों की प्रतिष्ठा होती गई। इन्द्रियज सुख दुःख में प्रत्यय-घोध आवश्यक नहीं माना गया। किन्तु भाव के लिए प्रत्यय-बोध आवश्यक है। सुख दुःख इन्द्रियज है– वासना है, जबकि हर्ष-शोक प्रत्यय-बोध पर आधारित है। शुक्लजी लिखते हैं–

"इन्द्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलम्बन-प्रधान) होता है। वासनात्मक-प्रवृत्ति में लक्ष्य और आलम्बन भावना या प्रत्यय रूप में निर्दिष्ट नहीं होते। बहुत से कोई भारी शब्द या खटका सुनते ही भाग खड़े होते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी ऐसा करता है। इस प्रकार की चेष्टा केवल इन्द्रियज संवेदन पर निर्भर रहती है। प्रत्येक भाव का आदिम वासनात्मक रूप प्रायः इसी प्रकार का होता है और उसका विधान शरीर की भीतरी और बाहरी बनावट के अनुसार होता है।"[१३]

और तो और शुक्लजी ने साफ लिख दिया कि प्रत्यय-बोध की प्रधानता के कारण साहित्यिकों ने भाव शब्द का प्रयोग किया है। लिखा है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

" प्रत्यय-बोध की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने भाव शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा विशेष। रति, क्रोध, भय आदि वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं। वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है, पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरान्त नहीं रह जाता।"१४

स्पष्ट है कि भाव के विवेचन में साहित्य केन्द्र में है।

भाव वेद्य-प्रधान है, आलम्बन-प्रधान है और उसका अर्थ चित्त की चेतन दशा है। भाव को शुक्लजी ने कर्म से भी जोड़ा है। वासना के आधार पर जो क्रिया होती है, उसमें और भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, उसमें शुक्लजी ने स्पष्ट भेद किया है। वे मानते हैं कि भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है। वासना में प्रवृत्ति की झलक रहेगी जब कि भाव में प्रत्यय-बोध का प्रभाव रहेगा। स्पिनोजा के प्रत्यय में और शुक्लजी के प्रत्यय-बोध में अन्तर है। स्पिनोजा के अनुसार प्रत्यय मन का ऐसा विचार है जो मन चिन्तक होने के कारण करता है। इसमें उनका कहना है कि– " मैं प्रत्यक्ष के स्थान पर विचार का प्रयोग करता हूँ, क्योंकि प्रत्यक्ष शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि मन विषय से आकान्त है, जहाँ कि क्रिया मन की क्रिया का सूचक प्रतीत होता है।"१५ स्पिनोजा के प्रत्यय में आलम्बन पर विचार ही नहीं किया गया है। वे तो प्रत्यय को मन का विचार मानते हैं और मन को चिन्तक माना गया है। भाग २, साध्य १ के अन्तर्गत स्पिनोजा ने कहा है कि चिन्तन ईश्वर का एक गुण है। इस नाते जब मन को चिन्तक कह दिया जाता है तो मन को ईश्वर से जोड़ा गया है। इस तरह स्पिनोजा के प्रत्यय में अध्यात्म है। स्पिनोजा वासना तथा भाव इस तरह का कोई अन्तर बतलाते ही नहीं। मुख्य बात यह है कि स्पिनोजा मन को विषय से आक्रान्त न कहकर (ऐसा कहने पर मन का प्रत्यक्ष कहा जाता) मन की क्रिया का सूचक (विचार को) कहा है। शुक्लजी के प्रत्यय-बोध में मन विषय से आक्रान्त है। यह विषय आलम्बन है। स्पिनोजा ने आलम्बन आदि का उल्लेख ही नहीं किया। स्पिनोजा के उद्वेग को हम न वासना कह सकते हैं और न भाव। वासना में सहजात प्रवृत्ति है और भाव में चित्त की चेतन दशा है। भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है, ऐसा शुक्लजी का विचार है। स्पिनोजा तो उद्वेग को सीधे कर्म से जोड़ते हैं। अतः भाव और उद्वेग दोनों में भेद बतलाते समय हमें कर्म को प्रधान रूप से आधार मान कर चलना होगा क्योंकि जिस तरह भाव का सम्बन्ध कर्म से दिखलाया गया है, उसी तरह उद्वेगों का सम्बन्ध भी कर्म से दिखलाया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव को स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी मनोविकारों का विवेचन करते हैं। मनोविकारों को उद्वेगों के निकट मानना चाहिए। इस निकटता की पहचान कम के या क्रिया-शक्ति के आधार पर संभव है। स्पिनोजा मानते हैं कि हम कुछ करते हैं अर्थात् सकर्मक हैं। जिस तरह हम सकर्मक हैं, उस तरह और मनुष्य भी सकर्मक हैं। सकर्मक होने में हमारे अन्दर या बाहर कुछ घटना घटित होती रहती है और इस घटना के हम पर्याप्त कारण रहते हैं; ठीक इसी तरह हम सहते या प्रहारित होते हैं– इस स्थिति में दूसरों के सकर्मक होने का हम पर प्रभाव पड़ता है और इस स्थिति में हमारे अन्दर या बाहर जो घटना घटित होती है उसके हम अपर्याप्त कारण होते है। दोनों ही स्थितियों में हमारे शरीर में रूपभेद होता है। इस रूपभेद के कारण हमारी क्रिया-शक्ति बढ़ती है, घटती है, सहायता पाती है या रुकती है— इस तरह के रूपभेद को–शरीर के रूप-भेद को– हम उद्वेग कहते हैं। पर्याप्त कारण की स्थिति में जो रूपभेद होगा वह कर्म होगा और अपर्याप्त कारण की स्थिति में जो रूपभेद होगा, उसे हम बहिर्जात उद्वेग कहेंगे।

शुक्लजी भी भाव का विवेचन करते समय भाव को कर्म से सीधे जोड़ते हैं। वे रूपभेद की चर्चा भी करते हैं। उनके अनुसार भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक हैं और शील के संस्थापक। शुक्लजी मानते हैं कि भाव के अनुसार जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है। शुक्लजी भाव से कर्म की ओर जाते हैं, जब कि स्पिनोजा कर्म से उद्वेग की ओर जाते हैं। वे उद्वेगों का सीधा सम्बन्ध क्रिया-शक्ति से ही जोड़ते हैं। इस शक्ति के कारण ही शरीर के रूपभेद होते हैं। शरीर के रूपभेद दिखलाने में और क्रिया को बहुरूपिणी दिखलाने में क्रम बदला हुआ है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव को प्रतिष्ठा से क्रिया केवल विषय के सम्पर्क काल में ही नहीं होती बल्कि आगे-पीछे भी होती है। वे लिखते हैं –

"भाव की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्मक्षेत्र का विस्तार बढ़ गया। भाव मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है, वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीरवेगों से भिन्न है।" १६

शुक्लजी ने वैसे शरीर-वेग और मनोवेग दोनों में भेद किया है। वे क्षुत्पिपासा तथा कामपिपासा को शरीर-वेग कहते हैं। भाव को वे मन की वेग-युक्त अवस्था कहते हैं। वैसे डॉ. दीवानचन्द्र ने उद्वेग–शब्द का प्रयोग इमोशन (Emotion) शब्द के लिए किया है। इस उद्वेग के अन्तर्गत शरीर-वेग और मन के वेग दोनों का समाहार हो जाता है। शरीर तथा मन के भेद मानकर रूपभेदों पर स्पिनोजा विचार ही नहीं करते। मन तो मूर्त नहीं है किन्तु शरीर तो मूर्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उद्वेग शरीर में ही मूर्त होते हैं, इसलिए शरीर के रूपभेद को उद्वेग कहना उचित प्रतीत होता है।

भाव और उद्वेग–दोनों के अन्तर को समझने के लिए हम चाहें तो शुक्लजी और स्पिनोजा की कुछ परिभाषाओं को देख सकते हैं। **चिन्तामणि** भाग १, में शुक्लजी ने भावों का विवेचन मनोविकारों के रूप में किया है। वहाँ जो परिभाषाएँ (निबन्धों में) दी गई हैं, वे मनोविकारों की हैं। स्पिनोजा ने भी अपने ग्रन्थ के तीसरे भाग के अन्त में उद्वेगों की परिभाषाएँ दी हैं। शुक्लजी तो निबन्ध लिखते हैं और उनके पास इतनी सुविधा है कि वे सम्बन्धित मनोविकार पर (सम्बन्धित विषय पर) विस्तार के साथ सोदाहरण जानकारी दें। इस तुलना में स्पिनोजा तो निबन्ध लिखते नहीं हैं, उन्हें तो सूत्र रूप में उद्वेग को भाषिक मर्यादा में स्पष्ट करना है। स्पिनोजा का कार्य अधिक कठिन है। शुक्लजी ने जो परिभाषाएँ दी हैं, वे परिभाषाएँ कहकर नहीं दी हैं। निबन्ध पढ़ते समय हमें लगता है कि यह करुणा की परिभाषा है, यह प्रेम की परिभाषा है। अतः हम निबन्ध की कुछ विशेष पंक्तियों को परिभाषा मान लेते है। उक्त परिभाषा में कुछ भाग छूट सकता है जिसे शुक्लजी अगले अनुच्छेद में स्पष्ट करते हैं। फिर वे उक्त मनोविकार का भेद भी करते चलते हैं और समझाने के लिए उदाहरण भी देते हैं। स्पिनोजा तो यह सब करते ही नहीं। इन स्थितियों को ध्यान में रखकर ही दोनों की परिभाषाओं पर विचार करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर केवल प्रेम की परिभाओं की तुलना की जा रही है।

— ४ —

स्पिनोजा के अनुसार प्रेम की परिभाषा

"प्रेम वह सुख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला हो।" १७

स्पिनोजा प्रेम को उद्वेग मानते हैं और प्रेम की यह परिभाषा उद्वेग के रूप में है। इस परिभाषा में सुख शब्द महत्त्वपूर्ण है। सुख की परिभाषा स्पिनोजा ने अलग से दी है। वह इस प्रकार है–

"सुख मनुष्य का वह स्थिति-परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की अधम स्थिति से उत्तम स्थिति को जाता है।" १८

सुख को स्पष्ट करते हुए टीका के अन्तर्गत लिखा है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं स्थिति-परिवर्तन कहता हूँ, क्योंकि सुख स्वयं पूर्णता नहीं, क्योंकि यदि वह पूर्णता जिसे मनुष्य प्राप्त करता है, जन्मजात होती, तो उसकी प्रकृति में सुख का उद्वेग न होता।" १९

अपनी परिभाषा को ठीक मानते हुए स्पिनोजा ने परिभाषा के बाद तुरंत टीका लिखी है। वह इस प्रकार है–

"यह परिभाषा पर्याप्त रूप में प्रेम के सार को प्रकट करती है। जो लेखक इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि प्रेम प्रेमी के प्रिय से युक्त होने की अभिलाषा है, वे प्रेम की परिभाषा नहीं करते, अपितु इसके एक गुण का वर्णन करते हैं, और चूंकि इन लेखकों ने प्रेम के सार को पर्याप्त रूप में नहीं देखा, इसलिए उन्हें इसके गुण का भी स्पष्ट ज्ञान नहीं, और इसलिए उनकी परिभाषा सबको अति अस्पष्ट दीखती है। परन्तु यह कह दूं कि जब मैं कहता हूँ कि प्रेम के सार का यह एक गुण है कि प्रेमी अपने प्रेम विषय से संयुक्त होने की इच्छा करता है, तो संकल्प या इच्छा से मेरा अभिप्राय स्वीकृति, निश्चय या स्वाधीन निर्णय नहीं (क्योंकि हम भाग २, साध्य ४८ में दिखा चुके हैं कि यह कल्पना मात्र है), न प्रिय की अनुपस्थिति में प्रेमी की उससे मिलने की अभिलाषा, न ही उसकी उपस्थिति में उसके साथ टिके रहने की अभिलाषा (क्योंकि इन दोनों अभिलाषाओं में प्रेम की कल्पना ही रुकती है)। अभिलाषा से मेरा अभिप्राय वह तुष्टि है जो प्रिय वस्तु की उपस्थिति के कारण प्रेम में विद्यमान होती है, जिससे प्रेमी की प्रसन्नता कायम रहती है, कम-से-कम अभीष्ट होती है।" २०

शुक्लजी द्वारा प्रेम की दी गई परिभाषा

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।" २१

इस परिभाषा में लोभ शब्द महत्त्वपूर्ण है। शुक्लजी ने लोभ की अलग से परिभाषा दी है–

"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।" २२

प्रेम के सम्बन्ध में दोनों के विधानों को देखें तो स्पिनोजा अधिक परिपूर्ण हैं। इतने संक्षेप में और इतने स्पष्ट रूप में प्रेम की दूसरी परिभाषा नहीं दी जा सकती। शुक्लजी की तरह लोभ और प्रीति ऐसा भेद स्पिनोजा ने नहीं माना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बाहरी कारण का प्रत्यय' कहते समय यह भेद करने की आवश्यकता ही नहीं रही कि वह कारण वस्तु है या व्यक्ति है। वस्तु या व्यक्ति विशेष सामान्य है, इसकी भी आवश्यकता नहीं है। बाहरी कारण के अन्तर्गत सभी का समावेश है। फिर सात्त्विक रूप प्राप्त होगा तभी लोभ प्रेम में परिणत होगा, ऐसा कहने की जरूरत नहीं रही। बात यह है कि स्पिनोजा प्रेम को सुख मानते हैं और सुख के सम्बन्ध में स्पिनोजा का निश्चित विधान है। अतः वे प्रेम को सुख मानते 'बाहरी कारण के प्रत्यय' के मिले होने को स्वीकार करते हैं। प्रत्यय के सम्बन्ध में पीछे लिखा गया है। प्रत्यय मन का विचार है। यहाँ फिर दोहरा दूँ कि स्पिनोजा जानते हैं कि वे परिभाषा लिख रहे हैं। उनके लेखन में सजगता और पूर्वापर सम्बंध के प्रति वे सतर्क हैं। शुक्लजी ने परिभाषाएँ लिखीं हैं किन्तु उन्होंने परिभाषा को भी परिभाषा कहाँ कहा है? वे तो निबन्ध लिख रहे हैं और निबंध में विषय का विश्लेषण और विवेचन दोनों हैं। पहले वे कुछ विधान करते हैं– (किसी विषय के सम्बन्ध में) – और बाद में वे उसे समझाते हैं। समझाने में उन्हें भेद करके चलना पड़ता है। इसलिए वे विषय को खण्ड-खण्ड रूप में बाँटकर सोदाहरण अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। ऊपर जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे बीच में से ही हैं। केवल इन परिभाषाओं के आधार पर बात पूरी नहीं होती। शुक्लजी का पूरा निबन्ध और स्पिनोजा की परिभाषा देखने से ही ठीक तुलना हो सकती है। संक्षेप में यह मान लें कि भाव को मनोविकार के रूप में स्पष्ट करते समय शुक्लजी साहित्य को केन्द्र में रखना नहीं भूलते। इसी तरह उद्वेग की परिभाषा (चाहे प्रेम हो या और कोई) देते समय स्पिनोजा ईश्वर को भूलते नहीं हैं। इस विषय पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ पर उद्वेग के सम्बन्ध में स्पिनोजा की सामान्य धारणा को स्पष्ट किया जा रहा है। तीसरे भाग में उद्वेगों की परिभाषाएँ देने के बाद अन्त में वे उद्वेगों के सम्बन्ध में अपनी सामान्य अवधारणा को फिर स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसके अनुसार उद्वेग की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है–

"उद्वेग, जिसे आत्मा की प्रहारितता कहते हैं, एक अस्पष्ट प्रत्यय है, जिससे मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत प्रतिज्ञा करता है कि पहले की अपेक्षा इसके अस्तित्व की शक्ति बढ़ गई है या घट गई है, और इसकी स्वीकृति पर मन उसके कारण किसी विशेष पदार्थ का चिन्तन करने पर निर्णीत होता है।" २३

उद्वेगों की सामान्य परिभाषा लिखने के बाद तुरंत टीका लिखी है, जिसमें स्पिनोजा ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रथम तो मैं कहता हूँ कि उद्वेग या आत्मा का बहिर्जात वेग एक अस्पष्ट प्रत्यय है। क्योंकि हम दिखा चुके हैं कि जिस हद तक मन के प्रत्यय अपर्याप्त या अस्पष्ट होते हैं, उसी हद तक यह आक्रान्त या निर्धारित होता है। फिर मैं कहता हूँ कि इसके साथ मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व की शक्ति की प्रतिज्ञा करता है। क्योंकि पदार्थों के जितने भी प्रत्यय हम में होते है, वे बाहरी पदार्थ की प्रकृति की अपेक्षा हमारे शरीर की वास्तविक परिस्थिति की बाबत सूचना देते हैं (भाग ३, साध्य १६, उपप्रमेय २)। परन्तु यह आवश्यक है कि यह प्रत्यय, जो उद्वेग की आकृति है, शरीर या उसके किसी भाग की परिस्थिति को प्रकट या सूचित करे, जो परिस्थिति शरीर या इसके भाग ने इस तथ्य के परिणास्वरूप प्राप्त की है कि इसकी क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति बढ़ी या घटी है, पुष्ट हुई या रूकी है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब मैं पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व-शक्ति कहता हूँ, तो मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मन शरीर की वर्तमान स्थिति की तुलना भूतकाल की स्थिति से करता है, अपितु यह कि जो प्रत्यय उद्वेग की आकृति है, शरीर की बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करता है, जिससे पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व वास्तव में निर्दिष्ट है।" २४

भाव के विवेचन में शुक्लजी साहित्य की ओर से मनोविज्ञान की ओर आए और भाव का विवेचन उन्होंने मनोविकार के रूप में विस्तार से किया। यद्यपि ऐसा करते समय साहित्य उनके केन्द्र में रहा है तथापि वे मनोविकारों का विवेचन तथा विश्लेषण विषयपरक करते हैं और इसमें मनोविज्ञान से सहायता लेते हैं। इस नाते भाव का यह स्वतंत्र विवेचन उद्वेग के निकट है, ऐसा मानना चाहिए। इस विवेचन में उन्होंने भाव के स्थान पर मनोविकार शब्द रखना ठीक माना है। भाव शब्द में मनोविकार की व्याप्ति है। भाव को ठीक रूप में जानने के लिए मनोविकार से परिचित होना आवश्यक है क्योंकि हम जिसकी व्याप्ति देखना या या अनुभव करना चाहते हैं प्रथमतः उसे तो समझ लें। जब हम मनोविकार से परिचित हो जाएँगे तो भाव से परिचित होना सरल हो जायगा। इसलिए भाव की मूलदशा, जिसे वे भावदशा कहते हैं, उस पर विस्तार से विचार करते हैं। रसदशा तथा शीलदशा में भाव की व्याप्ति है। इन तीनों दशाओं में उद्वेग का सम्बन्ध विषय की दृष्टि से भावदशा से मानना चाहिए।

भाव और उद्वेग दोनों के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि दृष्टिकोण में भेद होने के कारण तथा लेखन-पद्धति में (गठन में या तकनीक में) भेद होने के कारण ऐसा हुआ है। जहाँ तक उद्वेग की बात है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस लेख में उद्वेग को ही स्पष्ट करना मुख्य प्रयोजन है, वहाँ तक हम यह कह सकते हैं कि उद्वेग को स्पिनोजा ने मनुष्य की क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति के साथ जोड़ा है। उसे आत्मा की प्रहारितता कहा है। और इस तरह कहते समय मनुष्य में ईश्वर के अंश को पहचानने का प्रयत्न किया है। स्पिनोजा के विचारों के केन्द्र में ईश्वर रहा है। इस नाते उद्वेग को स्वयं मानवीय शक्ति के स्त्रोत के रूप में पहचानने का प्रयत्न किया गया है। एक वैज्ञानिक के रूप में उद्वेगों के स्त्रोत और उसकी प्रकृति को स्पिनोजा ने स्पष्ट किया है। यह बात अलग है कि ये उद्वेग भावदशा के निकट हैं। भावदशा से निकट होने पर भी ये अपने आप में भाव की सभी स्थितियों को आत्मसात् किए हुए हैं। शुक्लजी भाव को स्पष्ट करने के लिए मनोविकार या भावदशा की प्रकृति का विवेचन करते हैं जब कि स्पिनोजा मानवीय लक्षण (क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति) के रूप में उद्वेगों का विवेचन करते हैं।

– राजमल बोरा

हिन्दी विभाग
मराठवाडा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

टिप्पणियाँ

१. **रस-मीमाँसा**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०११, पृ. २४४.

२. **रस-मीमाँसा**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ४२६–४२७.

३. **स्पिनोजा** : नीति, अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९६२ ई. पृ. १०६.

४. वहीं– पृ. १०४–१०५.

५. वहीं– पृ. १०५–१०६.

६. वहीं– पृ. ५५

७. वहीं– पृ. ६६

८. वहीं– पृ. ५५

९. वहीं– पृ. ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. वहीं– पृ. ६७.
११. वहीं– पृ. ६७ से ७०.
१२. **रस-मीमांसा,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १६९.
१३. वहीं– पृ. १६२.
१४. वहीं– पृ. १६२–१६३.
१५. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. ५५
१६. **रस-मीमांसा,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १६४.
१७. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. १५७.
१८. वहीं– पृ. १५५.
१९. वहीं– पृ. १५५.
२०. वहीं पृ. १५७.
२१. **चिन्तामणि भाग १,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई. संस्करण, पृ. ६९.
२२. वहीं– पृ. ६९.
२३. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, पृ १६७.
२४. वहीं– पृ. १६७–१६८.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षाएं

(१)

पवनकुमारी (डॉ.); **पातंजल योगसूत्र : एक समालोचनात्मक अध्ययन**, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७९; मूल्य : रु. ६०।– सजिल्द

पातञ्जल योगसूत्र के अनेक अध्ययन हुए हैं, किन्तु डॉ. पवन कुमारी का प्रस्तुत समालोचनात्मक अध्ययन वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी तथा विज्ञानभिक्षु की योगवार्त्तिक नामक टीकाओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। हिन्दी में उपलब्ध योग सम्बन्धी दार्शनिक साहित्य में इस पुस्तक का विशेष स्थान है।

समूची पुस्तक ९ अध्यायों में विभाजित है। साथ ही भूमिका तथा उपसंहार भी दे दिए गए हैं। पहले अध्याय में योग का स्वरूप तथा दूसरे में चित्त के स्वरूप का विवेचन है। तीसरे में क्लेशों का वर्णन है। चौथे अध्याय में द्रष्टा तथा दृश्य में विवेक किया गया है जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पाँचवें अध्याय में ईश्वर की स्वरूप विषयक धारणा स्पष्ट की गयी है। छठे और सातवें अध्यायों में योग-साधना के सोपानों तथा विभूतियों का वर्णन है। आठवे अध्याय में कैवल्य के स्वरूप का विश्लेषण है। अन्तिम अध्याय में (१) कर्मवाद, (२) परिणामवाद, एवं (३) स्फोटवाद के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु के मतों का संक्षिप्त किन्तु सुलझा हुआ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

डॉ. पवन कुमारी की प्रस्तुत कृति शोध-ग्रन्थों के अन्तर्गत आती है। ध्यान से पढ़ने पर पता चलता है कि लेखिका ने बहुत ही परिश्रम तथा उत्तरदायित्व के साथ अपने कार्य को निभाया है, और उसमें सफलता भी प्राप्त की है। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने लगभग प्रत्येक कथन को योगदर्शन वाङ्मय में जहाँ-कहाँ उपलब्ध सन्दर्भों से मौलिक संस्कृत उक्तियों के आधार पर सम्पुष्टित किया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ दार्शनिक गवेषणा के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थों की कमी रही है। डॉ. पवनकुमारी की प्रस्तुत कृति इस दिशा में सराहनीय योगदान है। सामान्य पाठक, विशेषज्ञ तथा विद्यार्थी सभी इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

– विजयकुमार भारद्वाज

दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

Mishra, (Dr.) G N; ONTOLOGY; : Rekha Mishra Mun. Block A-2-1, Tonca, Caranzalem, GOA- 403 002 (1985) Price Rs. 40/-

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने दार्शनिक समस्याओं के समाधानहेतु अपनाये गये विभिन्न दृष्टिकोणों का तार्किक परीक्षण करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। लेखक के अनुसार दार्शनिक समस्याओं का समाधान ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा और सत्तामीसांसा के माध्यम से प्राय: किया जाता है। प्रथम दो उद्देश्य-विधेय के द्वन्द्व पर आधृत तार्किक मार्ग हैं। ये उद्देश्य और विधेय की तार्किक कोटियों के माध्यम से विचारों में स्पष्टता और सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इनकी यही उपादेयता है।

किन्तु प्राय: देखा गया है कि ज्ञानमीमांसक और मूल्यमीमांसक, उदेश्य-विधेय को ज्ञाता और क्षेत्र बनाकर उनमें सत्ता का निवेश कर देते हैं। यह प्रयास दार्शनिक यथार्थवाद और विज्ञानवाद (Idealism) को पैदा करता है। जब विधेय को ज्ञेय बनाकर उसे सत्तात्मक मान लिया जाता है तो यथार्थवाद और जब उदेश्य को ज्ञाता बनाकर उसे सत्तात्मक मान लिया जाता है तब विज्ञानवाद का जन्म होता है। इस तरह लेखक के अनुसार यथार्थवाद और विज्ञानवाद सत्ता शास्त्र को ज्ञानमीसाँसा या मूल्यमीमांसा के अन्दर लाने के प्रयास की दो अवैध जुड़वा सन्तानें हैं।

यथार्थवाद और विज्ञानवाद सत्ताशास्त्र न होकर उसके अभासमात्र हैं। ये सम्पूर्णसत्ता की पकड़ नहीं कर पाते। इनकी प्रथम भूल यह है कि ये उद्देश्य-विधेय की तार्किक या शुद्ध वैचारिक कोटियों को सत्ता की कोटियाँ मान लेते हैं। दूसरी भूल यह है कि ये सत्ता के दो विभिन्न पक्षों को सम्पूर्ण सत्ता मान लेते हैं। अत: ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं का समाधान नहीं होता। दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए ऐसा सत्ताशास्त्र चाहिए जो सम्पूर्ण सत्ता की पकड़ कर सके।

लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे ही सत्ताशास्त्र की संरचना करने का प्रयास किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय में सत्ताशास्त्र के प्रादुर्भाव और द्वितीय अध्याय में उसके विकास पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सत्ताशास्त्र से च्युत होकर किस प्रकार दार्शनिक चिन्तन पथभ्रष्ट होकर यथार्थवाद और विज्ञानवाद के दलदल में फँस गया इसका लेखक ने तर्कसम्मत विवेचन किया है। तीसरे और चौथे अध्यायों में यथार्थवाद और विज्ञानवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गयी है। इन्हें तार्किक कसौटी पर कस कर अवैध सिद्ध किया गया है। पाँचवे अध्याय में उन हेगलोत्तर दर्शन-प्रणालियों का मूल्यांकन किया गया है जो यथार्थवाद और विज्ञानवाद का निरास या निलम्बन करके उनके परे जाने का प्रयास करती हैं। इनमें फ्रांसीसी मूल्यदर्शन, रोमैण्टिसिज्म, प्रैगमेटिज़्म, बर्गसाँ और संघटनावाद का विशद विवेचन है। छठें अध्याय में यह दिखाया गया है कि अस्तित्ववाद ने यथार्थवाद और विज्ञानवाद से ऊपर उठकर शुद्ध सत्ताशास्त्र की संरचना करने का सशक्त प्रयास किया किन्तु सफल न हो सका। अस्तित्ववाद पर लेखक की अच्छी पकड़ दीख पड़ती है। अच्छा होता कि वे थोड़ा और गहराई में उतर गये होते। किन्तु शायद अन्य अस्तित्ववादियों की चर्चा यहाँ संगत व आवश्यक नहीं थी। सातवे अध्याय में लेखक ने सत्ताशास्त्र पर किये जाने वाले प्रहारों व आक्षेपों का क्रमवद्ध जवाब दिया है। अन्तिम दो अध्यायों में सत्ताशास्त्रीय अनेक समस्याओं का तर्क-सम्मत विश्लेषण किया गया है।

लेखक ने विवेच्य विषय को अत्यन्त परिमार्जित भाषा और सुव्यवस्थित शैली में प्रस्तुत किया है। सत्ताशास्त्र की वैधता, अनिवार्यता तथा उपादेयता की प्रतिष्ठापना के लिए दिये गये तर्क बड़े सशक्त और सुसंगत हैं। विभिन्न दार्शनिक समस्याओं के लिये सुझाये गये समाधान दार्शनिक चिन्तन को नई दिशा देते हैं।

दर्शन विभाग
सेण्ट झेविर्स कोलेज
मापसा, गोआ

– सुधा नारवेकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

डा. योहन फ़ाइस, एस. जे.; **ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त;** राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ए–२६–२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर–३०२००४, पृष्ठ २+५+२६४, मूल्य : २५ रुपये

ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त इस विषय पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में संभवतः प्रथम अधिकारिक प्रयास है। लेखक ने एक ईसाई होते हुए भी विषय प्रतिपादन में जिस दार्शनिक वस्तुनिष्ठता का परिचय दिया है, वह दर्शन के अध्येताओं के लिए वंदनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। यों तो लेखक ने पुस्तक को नौ अध्यायों में विभाजित किया है, लेकिन वस्तुतः पुस्तक के दो खंड हैं– १ से ५ अध्याय तक में ईसाई धर्म और दर्शन का प्रामाणिक इतिहास है, एयं ६ से ९ अध्याय में दर्शन के चार केन्द्रीय विषयों– 'मानव', 'ईश' और, 'नैतिकता' एवं 'धर्मदर्शन' की व्याख्या की गयी है। इसलिये यह पुस्तक न तो विशुद्धतः 'इसाई दर्शन का इतिहास' रह सका, न 'ईसाई दर्शन', या यों कहें कि सामान्य अध्ययन के लिये इसमें उन्होंने मणि-कांचन का संयोग बिठाया है। भारत में जहां ईसाई धर्म विश्व के अनेक ईसाई देशों की अपेक्षा अधिक व्यापक है और उसके अनुयायियों की संख्या १ करोड़ से भी अधिक है, वहीं के शिक्षित समुदाय के लिये आवश्यक है कि वे ईसाई-दर्शन के इतिहास के साथ-साथ उसकी दार्शनिक परंपरा का भी ज्ञान प्राप्त करें। इस दृष्टि से इस ग्रंथ की विशेष उपयोगिता है। इतिहास और परम्परा के अभाव में दर्शन को सम्यक रूप से समझा भी नहीं जा सकता, क्योंकि दर्शन शून्य से तो उद्भूत नहीं होता है।

पुस्तक के 'इतिहास खंड' में प्रथम बाइबिल पूर्वार्द्ध की मुख्य धारणाओं का प्रतिपादन दार्शनिक रीति से किया है, जिसमें (१) मूल तत्व : परमेश्वर, मानव और जगत्, (२) परमेश्वर की ओर से प्रकटन, (३) मुक्तिकार्य की व्याख्या है। ईश्वर के सम्बन्ध में लेखक का यह निष्कर्ष कि "व्यावहारिक एकेश्वरवाद से क्रमशः सैद्धान्तिक एकेश्वरवाद उत्पन्न हुआ" (पृ–४) उपयुक्त है। ईश्वर "मुक्तिकार्य एवं सृष्टिकार्य दोनों में प्रभावशील है" (पृ–५), इसी तरह मानव की ईश्वर से अनुरूपता के भी लेखक ने दो अच्छे कारण बताये हैं (पृ–८) तथा 'लिंगप्रभेद सृष्टिकार्य का परिणाम मात्र है, उसका कारण नहीं' (पृ–६) कहकर मौलिकता का परिचय दिया है। जगत् के विषय में बाइबिल की धारणा को लेखक 'वैज्ञानिक नहीं, धार्मिक' बताकर एक सम्प्रदाय– निरपेक्ष चिंतक का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri.

परिचय देते हैं (पृ-११)। 'प्रकाशना' के विषय में 'मानव की ईश्वर से एकता' (पृ-१३) बताकर सचमुच लेखक ईसाई-दर्शन को भारतीय भक्ति के सायुज्य, सामीप्य आदि सिद्धान्तों के पास लाता है। इसी संदर्भ में 'लोकातीतत्व अन्तर्यामिता का अपवर्जन नहीं करता है, उसी प्रकार शाश्वतत्व कालक्रम से असम्बद्ध नहीं है' (पृ. १५) कहकर वह एक बड़ी दार्शनिक गुत्थी को सुझलाता है। 'मुक्तिकार्य को एक सामाजिक कार्य मानना' (पृ. २०) यही एक नयी उद्भावना है। अभी तक लोगों का ख्याल था कि भक्ति एवं मुक्ति व्यक्तिगत होती है। प्रल्हाद, श्री अरविन्द आदि भी सामूहिक–मुक्ति की बात करते हैं। 'बाइबिल के अनुसार अशुभ का मूलस्रोत पाप है' (पृ. २२) और 'परमेश्वर से अभिन्न हो जाने का अभिमान ही पाप की जड़ है' (पृ. २३)। बाइबिल का नवविधान पूर्वविधान का संपूरक है और तदनुसार पूर्वार्द्ध उत्तरार्ध के अभाव में अपूर्ण होता है (पृ. १७)। पूर्वविधान के उपसंहार में लेखक ने मुक्तिकार्य को संकट से उत्पन्न (पृ. २९) मानकर इब्रानी धर्म के सामाजिक एवं अनुभवात्मक पहलू पर जोर दिया है। (पृ. ३०)।

दूसरे अध्याय में उत्तरार्ध की मुख्य धारणाओं (पृ ३१-६१) की व्याख्या करते हुए 'ईसाई धर्म में विश्वास या आस्था के विशेष महत्व' को लेखक ने स्वीकार किया है। इसके अन्दर 'त्रियेक ईश्वर', 'मुक्तिकार्य' एवं 'ईसाई धर्म' पर प्रकाश डाला गया। "जिस प्रकार इब्रानी धर्म का मूल सिद्धान्त एकेश्वरवाद माना जा सकता है, उसी प्रकार ईसाई धर्म का आधारभूत विश्वास है ईसा मसीह का ईश्वरत्व" (पृ. ५६)। इसके लिये लेखक ने कुछ सुंदर उक्तियां भी दी हैं। (पृ ६०)।

'पूर्वाचार्यों के युग' (पृ. ६२-८५) के उपसंहार में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि 'बाइबिल में दर्शनशास्त्र का अभाव है' (पृ, ८४), 'यद्यपि दार्शनिक निहितार्थ उसमें अनुपलब्ध नहीं हैं, तथापि अव्यक्त रूप से ही मिलते हैं' (पृ. ८४)। ईसाई दर्शन शामी और यूनानी विचारधाराओं का संगम है और ईसाई दर्शन का धार्मिक पहलू उसे एक अदार्शनिक परम्परा यानी बाइबिल संस्कृति से मिला है। इस अध्याय में बहुत से संक्षेप में लेखक ने संत युस्तीन, तेरतुल्यन, ओरिजेन, संत ग्रेगरी, अगस्तीन, छद्म-दियोनिसियुस, अरेओपागीता, आदि के विचारों का उल्लेख करते हुए त्रियेक ईश्वर एवं ईश-मानव की व्याख्या की है।

चतुर्थ अध्याय में मध्यकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र (८६-१३) में जान स्कोतुस सरिउजेना (८१०-८७०), संत अंसेलम (१०३३-११०९), संत बोनावेंतूरा (१२२१-१२७८), संत थोमस अक्वीनो (१२२४-१२७४), जान डुंस स्कोतुस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२८५-१३०८), औखैम (१२६०-१३४६) और फ्रान्सिस सुआरेस (१५४-१६१७) के दर्शन की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लेखक ने यह स्वीकार किया है कि 'ईसाई दर्शन के निर्माण में यूनानी दर्शन का बहुत योगदान रहा है' (पृ ११२)। मध्यकाल के ईसाई दर्शन का आधार यूनानी दर्शन एवं बाइबिल परम्परा है। "ईसाई धर्म यूनानी दर्शन को अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है" लेखक का यह निष्कर्ष बहुत अंश में सही ही है, लेकिन पूर्णतः नहीं।

इतिहास खंड के पंचम एवं अंतिम अध्याय 'आधुनिक और समकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र" (पृ. १९४-१३६) में लेखक ने विश्लेषणात्मक ढंग से एक ओर आधुनिक दार्शनिकों जैसे देकार्त (१५६६-१६५०), बर्कले (१६८५-१७५३); कांट (१७२४-१८०४) एवं हीगेल (१७७१से-१८३१) का प्रभाव दिखाया है; दूसरी ओर ईसाई दर्शन के प्रतिनिधि : बुद्धिवादी युग के दो धार्मिक विचारकों अर्थात् पास्कल (१६२३-१६६२) एवं मलब्रांच (१६३८-१७१५), न्यूमैन (१८९१-१८६०), किर्कगार्ड (१८१३-१८५५) तथा ब्लांदेल (१८६१-१९४९), लाबेरथोन्येर (१८६०-१९३२), मून्येर (१९०५-१९५०), मारितें (१८८२-१९७३), जीलसों (१८८४-१९७८), मारेशल (१८७८-१९४४), मार्सेल (१८८४-१९७३), एवं तैयार दि शार्दे (१८८१- ९५५) के दर्शन का दिग्दर्शन कराया है। अच्छा होता यदि लेखक दो पुस्तकें लिखते . एक इतिहास के लिए, दूसरी दर्शन के लिये। असल में लेखक का मानना है कि 'संस्कृति एवं धर्म भी दर्शन पर अपना प्रभाव डालते हैं' (पृ. १३७)। मध्यकाल में सामान्य संस्कृति ईसाई ही थी, लेकिन पुनर्जागरण से संस्कृति में विविधता होने लगी। आधुनिक दर्शन की विशेषता– दृष्टिकोण, शैली या प्रणाली की विविधता से ईसाई दर्शन भी प्रभावित हुआ (पृ. १३८)। वर्तमान युग की धर्मनिरपेक्षता के अलावा धर्म और दर्शन-शास्त्र के प्रभेद को लेखक **ईसाई दर्शन की आभासी कमी** का एक कारण कहते हैं और यह मानते हैं कि वे विचारक धर्मशास्त्री और दार्शनिक दोनों ही थे।

पुस्तक का दूसरा खंड विशुद्ध दर्शन से सम्बन्धित है जिसमें धर्म-दर्शन के अतिरिक्त मानव, ईश एवं नीतिशास्त्र, ये तीन ही अध्याय हैं। मेरी समझ से, ईश जगत् एवं मानव, ये तीन अध्याय जरूरी हैं, फिर नीतिशास्त्र को भी शामिल कर लिया जा सकता था। मानव-दर्शन का सारांश व्यक्ति-प्रत्यय में निहित है (पृ. १६४)। इसमें मानव की व्यक्तित्व की दृष्टि से (पृ. १४१-१४५), मानव की विशिष्ट क्रियाओं (१४५-१५४), अर्थात् ज्ञान एवं संकल्प की और अंत में मानव : स्वभाव, उत्पत्ति और अमरता (१५४-१६४) की व्याख्या हुई है। ईसाई दर्शन के अनुसार मानव का सम्बध परम तत्त्व से है। ससीम ज्ञान असीम का बोध करना चाहता है; संकल्प भी सापेक्ष शुभ से निरपेक्ष शुभ की ओर बढ़ना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता है। मानव की मूलभूत प्रवृत्ति परम तत्त्व की ओर संकेत करती है (पृ. १६५)।

ईश-दर्शन (सप्तम अध्याय, १६६-१९१) में परम तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान, सृष्टिवाद, एवं ईश्वरवाद के प्रतिपादन की सामग्री प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने सृष्टिवाद को ईश्वर-दर्शन का मूलाधार माना है। लेकिन लेखक ने 'शून्य से सृष्टि' के भ्रामक सिद्धान्त की बड़ी ही मनोरम दार्शनिक व्याख्या की है-' सृष्टि के सम्पूर्ण प्रागभाव की स्थिती में सृष्टिकर्ता ने उसकी संपूर्णता की सृष्टि की है' (पृ. १९०)। लेखक के अनुसार 'ईश-दर्शन' 'ईसाई-दर्शन' कहा जा सकता है (पृ. १९१)।

"नीतिशास्त्र" शीर्षक अष्टम अध्याय में सामान्य नीतिशास्त्र, (१९३-२०३) विशेष नीतिशास्त्र (२०३-२०६) एवं ईसाई नीतिशास्त्र की विशेषता (२०६-२१६), का वर्णन किया गया है। लेखक के अनुसार हमारा धर्म मानव केन्द्रित ही है, जिसे उन्होंने 'स्वभावगत धर्म' माना है (पृ. २१६)। मानवकेन्द्रित होते हुए भी ईसाई नीतिशास्त्र निरीश्वरवादी नहीं है। इस आपत्ति का कि 'दार्शनिक नीतिशास्त्र ईसाई नीतिशास्त्र कैसे हो सकता है?' लेखक ने बड़ा ही अच्छा उत्तर दिया है- 'बौद्धिक अनुसंधान का परिणाम होकर दर्शन पर आश्रित नीति किसी एक धर्म की विशेषता नहीं है" (पृ. २१७)। ईसाई नीतिशास्त्र का सब से बड़ा मूल्य लेखक ने 'प्रेम' को माना है, जो ईसाई धर्म के अनुकूल है। (पृ. २१७)।

अंतिम अध्याय में **धर्म-दर्शन** (२१८-२४४) में लेखक ने **कलीसिया** तथा उसका अन्य धर्मों से सम्बन्ध बताते हुए 'साधना और सिद्धि' में आध्यात्मिक जीवन, समाधि एवं सिद्धि की चर्चा की है। 'धर्म-प्रचार और मुक्ति को परस्पर घनिष्ठ' (पृ. २३३) बताया गया है, जो मुझे आत्मविरोधी लगता है। सत्य का दर्शन सब अपने पुरुषार्थ से करें, फिर सत्य पर पहुंचने के अनेक रास्ते हैं, अतः धर्म-प्रचार का आग्रह साम्प्रदायिक साम्राज्यवाद को जन्म दे सकता है। 'सत्य' से तात्पर्य धर्म विशेष के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत धर्म-सिद्धान्तों का सही अर्थ ही है (पृ. २४४), लेखक की यह उक्ति हमारे विचार को समर्थन ही देती है।

जो भी हो, लेखक का परिश्रम और उसकी दार्शनिक तटस्थवृत्ति अपूर्व हैं। 'ग्रंथ-सूची' और 'अनुक्रमणिका' (२५७-२६८) देकर तो लेखक ने इसे शोधकार्य के लिये उपयोगी बना दिया है।

दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर

– रामजी सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साभार अभिस्वीकृति

Mishra, G. N.; ONTOLOGY; 1985, Rekha Mishra, Karangalem, Goa; pp 165 Rs. 40/-

फाइस, योहन; **ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त**; १९८२, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर; पृ. ५+३+२६८ मूल्य रु. २७-७५

आचार्य, नन्दकिशोर; **जल है जहाँ**; १९८०, सूर्यप्रकाश मन्दिर, बीकानेर; पृ. ९०. मूल्य रुपये : २०-००

योगमुद्रानन्द सरस्वती; **दमा और मधुमेह में योग का अभ्यास**; १९८०, बिहार योगविद्यालय, मुंगेर; पृ. १९७; मूल्य रु. २०-००

श्रीवास्तव, प्रकाश (संपा.); **दो कदम और**; १९८२, सन्तुलन साहित्य संस्थान, वाराणसी; पृ. ३२ मूल्य रु. २-००

वर्मा, रवीन्द्र; **नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ**; १९८१, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल; पृ. २६३, मूल्य रु. १५-००

स्मेकल, ओदोलन; **मेरी प्रीत तेरे गीत**; १९८२, श्री शान्तिकुंज प्रकाशन, दिल्ली; पृ. १४८, मूल्य रु. ५०-००

सत्यानन्द परमहंस; **योग तरी तीरे-तीरे**; १९७६, बिहार योगविद्यालय, मुंगेर; पृ. १८५, मूल्य रु. ३०-००

दिगे अ बं.; **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन**; १९८१, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर; पृ. २+१४+४+४+२५६+१६; सजिल्द' मूल्य रु. ३०-००

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

३२. श्रीमती सुमन गुप्ता
१३५।४, आई. ए. टी.
गिरीनगर, पुणे - ४११ ०२५

३३. प्रा. श्रीमती मीनाक्षी देसाई
५, जोग महाल
ठाकुरद्वार, बम्बई- ४०० ००२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्दे से प्राप्त संख्या 53
प्राप्ति दिनांक 21-3-83

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ४ अंक २
मार्च १९८३

संपादक
राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

❋ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

❋ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ❋ राजेन्द्र प्रसाद ❋ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ❋ रमाकान्त सिनारी ❋ विजयकुमार भारद्वाज ❋ शारदा जैन संगमलाल पांडे ❋ आर्. बालसुब्रमणियन् ❋ अशोक रा. केळकर ❋ के. जे. शहा ❋ नारायणशास्त्री द्राविड ❋ के. सच्चिदानद मूर्ति ❋ जी. सी. नायक ❋ ग. ना. जोशी ❋ मोहनलाल मेहता ❋ जे. फाईस ❋ सुमन गुप्ता ❋ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : **मो. प्र. मराठे ❋ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर**

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

❋ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता का स्वरूप

अपने प्रतिदिन के जीवन में हम 'स्वतंत्रता' शब्द का उपयोग अनेक अर्थों में करते हैं। संदर्भ के अनुसार 'स्वतंत्रता' का अर्थ भी बदल जाता है। उदाहरण के लिए रूसो के इस कथन में कि "हर व्यक्ति स्वतंत्र पैदा हुआ है किन्तु वह हर जगह बन्धन में है।", स्वतंत्रता का वही अर्थ नहीं जो हमारे इस उद्गार में है कि "प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्र हो जाना उसके हित में है!" ये केवल दो उदाहरण हैं, किंतु ऐसे अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। निम्न-लिखित परिस्थितियों पर ध्यान दीजिए और देखिए कि स्वतंत्रता की धारणा अपने अर्थ को किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ-छटाओं में अभिव्यक्ति देती है :-

१. आप अपने एक मित्र से कोई गोपनीय बात कहना चाहते हैं किन्तु आपका मित्र एक अत्यंत व्यस्त व्यक्ति है और इसलिए आप उससे (स्वतंत्ररूप से) बात करने का कोई अवसर नहीं ढूंढ़ पाते...

२. एक दिन प्रातःकाल भ्रमण के समय वह आपको अकेला मिल जाता है और तब उससे आप अपनी बात कह पाने में (स्वतंत्र अनुभव करते) हैं...

३. अथवा, कल्पना कीजिए कि आप सूरदास हैं और आपको एक आयोजन में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण पत्र मिला। सामान्यतः वह निमंत्रण पत्र एक ही व्यक्ति के लिए है किन्तु आपको यह स्वतंत्रता दी गई है कि इसी निमंत्रण पत्र पर आप एक व्यक्ति अपने साथ और ला सकते हैं।...

४ अथवा, मान लीजिए आप एक महिला हैं और एक नृत्य (बॉल) आयोजन में गई हैं। एक परिचित, किन्तु ऐसा व्यक्ति जिससे आप घृणा करती हैं, अपने साथ नृत्य करने के लिए आपका साथ माँगता है। शिष्टतावश उसके साथ आप नृत्य तो करती हैं किन्तु (स्वतंत्र) अनुभव नहीं करती...

५. अथवा, इसके विपरीत आपका कोई पुरुष मित्र आपका साथ माँगता है और उसके साथ नृत्य करने में आप पूरी तरह (स्वतंत्र) महसूस करती हैं...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त सभी परिस्थियों में सन्दर्भ के अनुसार 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु क्या हम १, २, ३, ४ और ५ स्थानों पर क्रमश: "अकेले में", "बेझिझक", "सुविधा", "सामान्य" और "आश्वस्त", जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते, और साथ ही स्वतंत्रता के अर्थ को सुरक्षित नहीं रख सकते? किन्तु स्पष्ट ही ये शब्द स्वतंत्रता के पर्यायवाची नहीं कहे जा सकते।

स्वतंत्रता के समानार्थी ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका हम भाषा में शब्द 'स्वतंत्रता' के स्थान पर प्रयोग कर सकते हैं और परस्पर एक-दूसरे के लिए भी जिनका उपयोग किया जा सकता है। निम्नलिखित शब्द समूहों पर गौर करें–

i) स्वतंत्रता, स्वाधीनता, आज़ादी
ii) स्वच्छंदता, स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता
iii) मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण
iv) उन्मुक्तता, खुलापन

स्पष्ट ही इन शब्दों की अर्थछटाओं में अंतर हो सकता है किन्तु मोटे तौर से ये सभी शब्द एक ही परिवार के हैं। जिस तरह एक परिवार के सदस्य एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी किसी-न-किसी बात में एक-दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं; और कोई दो सदस्य, भले ही उनकी कुछ बातें अन्य सदस्यों से मिलती-जुलती हों, एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत भी हो सकते हैं– इसी प्रकार उपर्युक्त शब्दों में भी एक **पारिवारिक सादृश्यता** है। जब हम भारत को एक 'स्वतंत्र' देश कह रहे होते हैं तो स्पष्ट ही हमारा आशय भारत की स्वाधीनता या आज़ादी से है, २, ३, या ४ से नहीं है। इसी प्रकार आकाश में चिड़ियों और जंगलों में वन्य पशुओं का 'स्वतंत्र विचरण' उनकी 'स्वच्छंदता' और 'स्वेच्छाचारिता' को बताया है न कि यह १ या ३ का द्योतक है। मुमुक्षु के लिए जब हम कहते हैं कि उसका एक मात्र प्रयोजन 'स्वतंत्र' होना है तो इसका अर्थ मोक्ष या निर्वाण से है १, २ या ४ से नहीं। उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों में 'स्वतंत्र' वातावरण पर बल दिया जाना 'उन्मुक्तता' और 'खुलेपन' की माँग है, न कि इसका अर्थ १, २ या ३ से है। संक्षेप में, बोलचाल की भाषा में 'स्वतंत्रता' का अर्थ बदलता रहता है और इस शब्द की जगह संदर्भों के अनुसार अन्य शब्दों का उपयोग भी– जो स्वतंत्रता-परिवार के हों– किया जा सकता है।

'स्वतंत्रता' शब्द भाषाशास्त्र के अनुसार 'स्व' + 'तंत्र' (ता) से निर्मित हुआ है। यह तंत्र / व्यवस्था/पद्धति है जिसे मनुष्य (व्यक्ति/समाज/देश) स्वयं ही अपने ऊपर आरोपित करता है। किसी दूसरे के द्वारा आरोपित 'तंत्र' 'स्वतंत्र'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। इसी प्रकार तंत्र के अभाव में भी 'स्वतंत्र' की कल्पना नहीं की जा सकती। 'स्वतंत्र' तंत्र-विहीन नहीं हो सकता। स्वतंत्रता का यह अर्थ 'स्वाधीनता' और 'आज़ादी' का समानार्थक है किन्तु 'स्वच्छंदता', 'निरंकुशता' और 'स्वेच्छाचारिता' का विरोधी है। उत्तरवर्ती शब्दों में किसी भी प्रकार के तंत्र या पद्धति की पूर्ण अस्वीकृति है। भारत एक स्वतंत्र देश इसलिए है कि (i) उसकी एक शासन 'व्यवस्था' और उसका एक राज 'तंत्र' है और कि (ii) यह व्यवस्था और तंत्र उसने अपने ऊपर स्वयं ही स्वीकार किया है। इसे किसी 'अन्य' ने उस पर आरोपित नहीं किया है। भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वच्छंदता या स्वेच्छाचारिता जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता; इनमें किसी भी प्रकार के 'तंत्र' की स्वीकृति नहीं है।

वास्तविक स्वतंत्रता तंत्र विरोधी नहीं होती। उसमें व्यवस्था या पद्धति का अभाव नहीं होता। जब हम किसी व्यक्ति के संदर्भ में कह रहे होते हैं कि अमुक 'स्वतंत्र' है (और यह नहीं बताते कि किस बात में स्वतंत्र है) तो यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ निरपेक्ष न होकर पद्धति-सापेक्ष होता है। इसका अर्थ है कि अमुक व्यक्ति ने अपने लिए एक (जीवन) पद्धति को स्वीकार किया है और यह किसी 'अन्य' द्वारा उस पर आरोपित नहीं की गई है। मुमुक्षु की स्वतंत्रता भी किसी-न-किसी आध्यात्मिक-नैतिक तंत्र को स्वीकार करती है। साहित्यिक-शैक्षणिक वातावरण की स्वतंत्रता भी सामाजिक व्यवस्था के अभाव में वातावरण की स्वतंत्रता का कोई अर्थ ही नहीं रहता। केवल स्वच्छंदता और स्वेच्छाचारिता के संदर्भ में ही पद्धति के पूर्ण अभाव की कल्पना की जा सकती है।

जिस प्रकार स्वतंत्रता का भाव 'व्यवस्था' और 'अव्यवस्था' में भेद करता है और व्यवस्था को स्वीकार करता है, उसी तरह वह 'स्व' और 'पर' में भी अंतर करता है और 'पर' को अस्वीकार करता है। स्वतंत्रता, पराधीनता या पराश्रय न होकर, स्वाधीनता है।

क्या 'स्वतंत्र' शब्द किसी भावात्मक विशेषता का सूचक है? क्या वह किसी वस्तुस्थिति का तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करता है? यह एक विवादस्पद प्रश्न है। स्पष्ट ही जिस तथ्यात्मक अर्थ में हम 'पीला', 'मुलायम' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं– जैसे, पीला कागज, चौकोर मेज़, मुलायम बिस्तर आदि– उसी विवरणात्मक अर्थ में 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। स्वतंत्र प्रेस, स्वतंत्र राष्ट्र, स्वतंत्र न्याय-पालिका, स्वतंत्र वाणी, आदि पदों में स्वतंत्र शब्द उसी विवरणात्मक अर्थ में विशेषण नहीं है जिस अर्थ में 'पीला' कागज़ का, या 'चौकोर' मेज़ का, या 'मुलायम' बिस्तर का विशेषण है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी तथ्य को निरूपित नहीं करता और इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ नहीं है। किन्तु कदाचित् यह आवश्यक नहीं कि केवल विवरणात्मक पदों को ही भावात्मक माना जाए। 'स्वतंत्र' विवरणात्मक न होते हुए भी भावात्मक है। इसका भावात्मक अर्थ इस बात में नहीं है कि वह किसी तथ्य का निरूपण करता है बल्कि इस बात में है कि वह किसी मूल्य की अभिव्यक्ति करता है।

जब हम किसी न्यायपालिका को स्वतंत्र कह रहे होते हैं तो वस्तुतः हम उसे स्वतंत्र बने रहने का 'श्रेय' दे रहे होते हैं। यही बात स्वतंत्र राष्ट्र और स्वतंत्र वाणी पर भी लागू होती है। स्वतंत्र होना एक श्रेय की बात है। स्वतंत्र होना कोई विशेषण नहीं है।

'श्रेय' के रूप में शब्द 'स्वतंत्रता' में एक अनुशंसा का भाव है। किसी स्थिति को स्वतंत्र कहना, उसका साग्रह अनुमोदन करना है, उसकी व्यक्त या अव्यक्त रूप से प्रशंसा करना है। इस अर्थ में स्वतंत्रता एक नियोजक पद है। स्वतंत्र होना मानो विहित है। विधान के अनुसार है। किसी वस्तुस्थिति का स्वतंत्र होना मानो इस बात का द्योतक है कि वह जैसी (स्वतंत्र) है, वैसा ही उसे होना चाहिए था– वैसा होना ही विधान के अनुसार है। यदि हम निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इनमें 'स्वतंत्र' शब्द के उपयोग में किस प्रकार एक अनुशंसात्मक श्रेय का भाव निहित है–

१) यह निर्णय मेरा स्वतंत्र निर्णय है।
२) स्वतंत्रता की कीमत पर अमुक ने सुखसुविधाओं को जुटाना कभी उचित नहीं समझा
३) स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। (तिलक)
४) जहाँ स्वतंत्रता है वहीं मेरा देश है। (मिल्टन)
५) जब तक वे भ्रमित न हों, लोग अपनी स्वतंत्रता कभी समर्पित नहीं करते। (ब्रुक)
६) मनुष्य जाति जब सर्वाधिक मात्रा में स्वतंत्र होती है, तभी वह अपनी सर्वोत्तम अवस्था में होती है। (दांते)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अधिकांश संदर्भों में स्वतंत्रता के श्रेय में प्रशंसात्मक भाव निहित है। फिर भी कभी-कभी इसमें निंदा के भाव की अभिव्यक्ति पाई जा सकती है। उदाहरण के लिए रोलैंड का यह उद्‌गार कि 'ए स्वतंत्रता! तुम्हारे नाम पर कितने अपराध किए गए हैं!' अथवा, किसी नामी अपराधी के जेल से छूटने के बाद हमारी भय-मिश्रित यह प्रतिक्रिया– 'ओह!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब वह स्वतंत्र है ! ' ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जो अनुशंसात्मक नहीं कहीं जा सकतीं। किंतु यहाँ यह ध्यातव्य है कि इन वाक्यों में ' स्वतंत्रता ' या ' स्वतंत्र ' शब्दों का आशय ' स्वच्छन्दता ' या ' स्वच्छन्द ' से है ।

वे कौनसी अनिवार्य अवस्थाएँ हैं जो स्वतंत्रता (का श्रेय) देने या लेने के लिए पर्याप्त समझी जा सकती हैं ? दूसरे शब्दों में किन-किन दशाओं में न्यायपालिका, प्रेस, वाणी या राष्ट्र को स्वतंत्रता की संज्ञा प्रदान की जा सकती है ? इस प्रश्न के लिए कोई सुनिश्चित उत्तर जुटा पाना संभव नहीं लगता क्योंकि ऐसे वस्तुपरक निर्धारकों की कल्पना नहीं की जा सकती जो स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य या पर्याप्त हों और जिनके द्वारा स्वतंत्रता को विध्यात्मक रूप से परिभाषित किया जा सके । उदाहरण के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका को विध्यात्मक रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

किसी भी धारणा के विध्यात्मक रूप से सिद्ध करने का अर्थ है, पहले उसे पारिभाषित करना और फिर उन विभिन्न संबंधित कार्यकलापों की खोज करना जो उस परिभाषा की शर्तों के अनुरूप हों । किंतु स्वतंत्रता के संदर्भ में यह संभव नहीं है क्योंकि ऐसी किन्हीं शर्तों (या निर्धारकों) को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता जो स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य या पर्याप्त हों । अतः किसी भी विषय के स्वातन्त्र्य को सिद्ध करने के लिए एक मात्र प्रक्रिया केवल यही शेष रह जाती है (और स्पष्ट ही यह एक विरोधाभास है) कि हम यह स्थापित कर सकें कि स्वतंत्रता को असिद्ध नहीं किया जा सकता । दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता तब तक कायम रहती है जब तक उसे पराजित नहीं कर दिया जाता । **स्वतंत्रता इस प्रकार एक विफलनीय पद है । उसे असिद्ध कर विफल किया जा सकता है, किन्तु सिद्ध नहीं किया जा सकता ।** किसी कर्म को स्वतंत्र कहना उसकी किसी विशेषता स्वीकार करना नहीं है बल्कि किन्हीं अन्य विशेषताओं खंडित करना है जिनका उस कर्म पर आरोपण संभव हो सकता है : जैसे, इस बात खंडन करना कि अमुक ' स्वतंत्र ' कर्म किसी दबाव या डर या धमकी, या किसी तथ्यात्मक त्रुटि या कोई दुर्घटना के कारण घटा । दूसरे शब्दों में जब यह सिद्ध करना असंभव हो जाता है कि अमुक कर्म दबाव या धमकी या किसी त्रुटि या दुर्घटना से घटा है, तभी सिद्ध हो पाता है कि कर्म ' स्वतंत्र ' है । स्वतंत्रता इस प्रकार सत्यापन की दृष्टि से **दबावों और प्रतिबंधों से मुक्ति है** । स्पष्ट ही ये दबाव या प्रतिबंध वे बंदिशें हैं जिन्हें हम स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करते बल्कि जो हम पर आरोपित की जाती हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे प्रतिबंध या दबाव जो स्वतंत्रता को विफल करते हैं संदर्भों के अनुसार रहते हैं। प्रेस के प्रतिबंध, जेल की पाबन्दियों से भिन्न हैं, स्त्रियों द्वारा पुरुषों पर लगाए गए बंधन (अथवा प्रतिक्रमात्) न्यायपालिकाओं के कार्यों में डाली गई बाधाओं से अलग होते हैं।

संक्षेप में, १) 'स्वतंत्रता' शब्द किसी एक अनुभव की नहीं बल्कि अनेक और भिन्न–किन्तु एक दूसरे से मिलते-जुलते– अनुभवों की अभिव्यक्ति है। इन अनुभवों में कोई एक समान बात नहीं ढूँढ़ी जा सकती, किंतु वे सभी मानों एक ही परिवार के हैं। (२) अपने सामान्य अर्थ में स्वतंत्रता एक व्यवस्था की स्वीकृति है किन्तु यह व्यवस्था किसी 'अन्य' द्वारा आरोपित न होकर स्वयं ही स्वीकार की गई है। (३) अपने विशेष संदर्भों में स्वतंत्रता एक श्रेय है जिसे व्यक्ति लेता है या देता है। यह श्रेय अधिकांश अनुशंसात्मक होता है और (४) स्वतंत्रता को भावात्मक रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता किन्तु नकारात्मक रूप से प्रतिबंधों और दबावों से मुक्ति ही स्वतंत्रता है।

– सुरेन्द्र वर्मा

शासकीय महाविद्यालय
जावरा– ४५६२२६ (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क की प्रमाण विषयक परम्पराएँ

समस्त भारतीय दर्शनों का विकास पारस्परिक वाद-विवाद और संघर्ष का भव्य परिणाम है। वाद कथा दो मुख्य उद्देश्यों को लेकर अग्रसर होती है, जिसमें वादी और प्रतिवादी दोनों समान रूप से भाग लेते हैं। ये उद्देश्य हैं–स्वपक्षस्थापन और परपक्षदूषण। प्रथम में वादी अथवा प्रतिवादी अपने-अपने मतानुसार मान्य प्रमाणों की सहायता से युक्तियों का प्रयोग करते हैं जबकि दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के हेतु वे एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिवादित की गयी मान्यताओं को धूल-धूसरित करने का प्रयास करते हैं। दोनों में तर्क की सहायता लेना अपरिहार्य है, जो युक्तियों के रूप में प्रस्फुटित होता है।

तर्क को प्रमा अथवा अप्रमा, प्रमाण अथवा अप्रमाण मानने में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसे अयथार्थ मानते हैं तो कुछ यथार्थ, कुछ इसे अप्रमाण घोषित करते हैं तो कुछ स्वतंत्र प्रमाण, कुछ इसे अनुमान मानते हैं अथवा अनुमान में अन्तर्भावित करते हैं तो कुछ इसे वाक्यात्मक मानने के हामी हैं और इसे शाब्दबोध के अन्तर्गत रखते हैं। कुछ इसे मानसज्ञान कहते हैं तो कुछ इसे निर्णयोन्मुख संभावना-रूप ज्ञानविशेष मानते हैं। कुछ इसे आहार्यज्ञान की कोटि में समाविष्ट करते हैं। कुछ विद्वान् इसकी आगमानुकूल उपादेयता तक ही अपने आपको सीमित रखते हैं। इन सभी परम्पराओं का वर्गीकरण निम्न वर्गों में किया जा सकता है–

१. अप्रमाणाविषयक मान्यता
२. प्रमाण सहकारी
३. आगमानुकूल तर्क
४. शाब्दबोधरूप या उसमें अन्तर्भाव
५. अनुमानरूप या उसमें अन्तर्भाव
६. प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव
७. स्वतंत्र प्रमाण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को निरुक्त और व्याकरणदर्शन के तर्क विवेचन में विशेषरूप से विवेचित किया जायेगा। अतः इस समय उक्त परम्पराओं की व्याख्या ही अभीष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टि का आदर करते हुए तीसरी परम्परा का विवेचन पहले किया जा रहा है। तृतीय परम्परा में वैदिक वाङमय, स्मृतियों, रामायण, महाभारत, जैनागम, त्रिपिटक साहित्य, आयुर्वेद, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि में और सांख्य योग दर्शन में पाये जाने वाले तर्क विषयक विवेचन को गृहीत किया जा सकता है। यह बात निर्विवादरूप से मानी जाती है कि भारतीय प्राचीन ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक विवेचन उपलब्ध नहीं है किन्तु समस्त भारतीय दर्शनों का मूल वेदों में निहित है। "तर्क" शब्द वैदिक संहिताओं में प्रायः नहीं पाया जाता किन्तु उसके पर्यायवाची शब्द "ऊह" का प्रयोग **ऋग्वेद** संहिता में हुआ है। इसकी एक ऋचा में "होहब्रसन" पद को उन मनीषियों के लिए प्रयुक्त किया गया है जो वैदिक ऋचाओं के अर्थों को हृदय से संस्कृत और मन से आलोचित करते हैं। इस प्रकार बुद्धि और मन की क्रिया के द्वारा संदिग्ध अर्थ का निश्चयन जिसके द्वारा किया जाता है उसे "ऊह" की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार **ऐतरेय ब्राह्मण** में "युक्ति" पद का प्रयोग हुआ है। **कठ उपनिषद्** में तर्क का स्पष्ट उल्लेख किया गया है– "नैषा तर्केण मतिरापनेया" अर्थात् आत्मज्ञान की उपलब्धि केवल तर्क से नहीं हो सकती। **कल्पसूत्रों** में भी तर्क शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। **गौतम धर्मसूत्र** के ग्यारहवें अध्याय में आन्वीक्षिकी का प्रशिक्षण राजा के लिए आवश्यक ठहराया गया है। इसमें न्याय प्रशासन के लिए तर्क की उपादेयता भली प्रकार स्वीकार की गयी है। **मनुस्मृति** में भी इसी प्रकार तर्क की महिमा गायी गई है। यथा–

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ ११ (१२/१०९)

अर्थात् ऋषि प्रणीत धर्म के उपदेश का वेद और शास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा जो अनुसंधान करता है वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं। **रामायण** में तर्क पद व्यवहृत हुआ है। जिसमें आगमानुकूल तर्क को उपादेय माना गया है किन्तु आगम के प्रतिकूल तर्क और तार्किकों की निंदा की गयी है। **महाभारत** में भी आया है "जो पंचभौतिक धातुएँ प्रतिलक्षित होती हैं, उनके प्रमाण तर्क द्वारा कहे जाते हैं परन्तु जो भाव अचिन्त्य हैं उनकी सिद्धि तर्क से नहीं करना चाहिए क्योंकि अचिन्त्य तत्त्व सभी प्रकृतियों से परे हैं (६/६/१०–११) इस प्रकार यहाँ उसकी व्यावहारिक उपादेयता स्वीकार की गयी है। **चरक संहिता, सुश्रुत-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संहिता तथा **कौटिल्य अर्थशास्त्र** में वर्णित तंत्र युक्तियों में तर्क सम्बन्धी पदों की व्याख्या उपलब्ध होती है । **चरक संहिता** के सूत्रस्थान के ग्यारहवें तथा विमानस्थान के आठवें अध्याय में परीक्षा के अन्तर्गत युक्ति तथा वादोपाय और वाद मार्ग में विभिन्न तर्क भेदों और उसके अंगों का पूर्वरूप प्रसक्त होता है । **आचारांग सूत्र, षटखण्डागम** आदि जैनागमों में भी तर्क, चिन्ता आदि पदों का प्रयोग हुआ है । जैन युक्ति प्रसिद्ध ही है " स्वभावे तार्किका भग्ना: " अर्थात् स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई प्रयोजन नहीं होता । **मज्झिमनिकाय** के सब्बासवसुत्त में " वितर्क " शब्द का प्रयोग हुआ है । प्राचीन दार्शनिक साहित्य में इस प्रकार आगमानुकूल तर्क की व्याख्या की गयी है ।

सांख्यतत्त्वकौमुदीकार तथा विज्ञानभिक्षु आगमानुकूल न्याय से आगम अर्थ का परीक्षण करना ऊह मानते हैं । इसी को मनन कहा गया है जिसमें पूर्वपक्ष और संशय का निराकरण कर उत्तरपक्ष को प्रतिष्ठित किया है । **मैत्रायणी** तथा **योगबिन्दु** उपनिषदों में षडंगयोग के अन्तर्गत तर्क को भी पंचम अंग के रूप में मान्य किया गया है । किन्तु अष्टांग पातंजलयोग में इसकी चर्चा नहीं पायी जाती । तालू और जीभ के निपाडन तथा वाणी, मन और पाप के विरोध से ब्रह्म को तर्क द्वारा देखा जाता है । यहाँ तर्क को धारणा और समाधि का मध्यवर्ती माना गया है। एक प्रकार से यह सूक्ष्म ऊह मनन ही है जिसमें अनात्म का अपोहन होकर आत्मतत्त्व का ज्ञान विषय बनता है । (मै. उ. ६/१०-२०, यो. बि. उ. १-२) **बृहदारण्यक उपनिषद्** में भी आत्मा को शास्त्र से सुनकर, मनन और निदिध्यासन करने का उपदेश दिया गया है । यहाँ मनन तर्क का ही रूप है । अत: सांख्य-योग में भी आगमानुकूल तर्क की स्थापना की गयी है ।

प्रथम परंपरा में बौद्ध, चार्वाक और न्यायकन्दलीकार को रखा जा सकता है। तर्क को अप्रमाण घोषित करने का श्रेय बौद्ध दार्शनिकों को है । स्वयं भगवान बुद्ध ने भी शुष्क बुद्धिवाद और कोरी तार्किकता तथा विभिन्न कर्मकाण्डी अनुष्ठानों से शील और सदाचार को, दु:ख-वरिताओं से परित्राण पाने के लिए, व्यावहारिक सुखद जीवन यापन हेतु अधिक उपयोगी माना है । इसलिए बल और वैशारद युक्त होकर भी उन्होंने आध्यात्मिक प्रश्नों में उलझना नहीं चाहा और उनको अव्याख्यात कह कर शील साधना में अनवरत रत रहना श्रेयस्कर समझा । ऐसे तार्किकों को जो मल्लों की भाँति अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए दिन-रात दार्शनिक विवादों के खण्डन-मण्डन में लगे रहकर वादी अथवा प्रतिवादी को ललकारते रहते थे उनको उन्होंने " राजभोजन से पुष्ट होने वाले पहलवानों " की उपमा से विभूषित किया है । ऐसे तर्कशील वादियों से वे अक्सर कहा करते थे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तुम्हारे साथ विवाद करने वाला यहाँ कोई नहीं है।" (पसूर सूत्र) **दीघनिकाय** के ब्रह्मजालसूत्र में पूर्वान्तकल्पिक अमराविक्षेप आदि अठारह तथा अपरान्त कल्पिक उच्छेदवादी आदि चवालिस मिथ्या धारणाओं के शुष्क तर्कजाल से बचने का उन्होंने बार-बार संदेश दिया है तथा प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमप्रतिपदा का अनुसरण करने का दिव्य संदेश दिया है। **पसूर सूत्र** में स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि सत्य विवादाश्रित नहीं है। सत्य की अनुभूति करनेवाले महात्माओं के पास विवाद करने का अवसर ही नहीं रहता। सच्चा ज्ञानी किसी के साथ विवाद नहीं करता और न ही किसी मतवाद से अपने आपको प्रतिबद्ध करता है। इसके विपरीत जो अपने आपको दूसरों के समान श्रेष्ठ अथवा हीन समझता है वही "ऐसा है" या "ऐसा नहीं है" आदि तर्कजाल में उलझता जाता है। ऐसे विवाद तर्क को बढ़ाने वाले होते हैं इसलिए विवाद रहित विनयपूर्वक सत्य को ही उन्होंने उपादेय माना है जैसा कि उन्होंने कहा है–

यो इमस्सि धम्मविनये अपमत्तो विहेस्सति।
पहाय जाति संसारं दुःखस्सञ्जं करिस्सति। (महापरिनिब्बाणसुत्त)
दीघनिकाय २/३

अर्थात् इस धर्म विनय में प्रमादरहित होकर जो प्रयास करेगा वही आवागमन का परित्याग कर दुःख का अन्त करने में सक्षम होगा। उत्तरवर्ती दार्शनिक मनोरथनन्दी ने भी धर्मकीर्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि देश-काल-व्यक्ति व्याप्य व्याप्ति का ग्रहण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाले तर्करूप विकल्पमूलक ज्ञान से माना है किन्तु विकल्पमूलक होने के कारण वह प्रमाण नहीं है (प्रमाणवार्तिक, मनोरथनन्दी वृत्ति पृ. ७)

अनुमान के आधारभूत तत्त्व व्याप्ति का ग्रहण चार्वाकमत में किसी भी प्रकार संभव नहीं है जैसा कि कहा गया है

विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्।
अनुमानभंगपंकेस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः॥

अर्थात् विशेष व्यक्तियों में इस सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विशेष पदार्थ अनन्त होने के नाते आनंत्य दोष होगा तथा किसी अनुगमक धर्म के दृष्टिगत न होने से उसके अभाव में अनन्त विशेष व्यक्तियों का अनुगम करना दुष्कर है। इसी प्रकार सामान्यों में भी यह सम्बन्ध गृहीत नहीं होता क्योंकि सामान्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है और यदि मान भी ली जाये तो उसमें सिद्ध-साधन दोष होगा क्योंकि साध्य सामान्य–अग्नित्व के ज्ञान में साध्य विशेष-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्वतीय अग्नि, जिसका अनुमान किया जा रहा है, भी निहित होने से अवगम हो जाता है। अनुमान भंग होने पर इस प्रकार अनुमानवादी पंक में धँसता ही जाता है। व्याप्ति-ग्राहक साधनों की इस आलोचना में, सभी साधनों, जिनमें तर्क भी सम्मिलित है, की अप्रमाणता निहित है।

इसी धारा में न्यायकन्दलीकार को भी लिया जा सकता है। उनके अनुसार सम्भावना प्रत्यय रूप तर्क स्वयं अप्रमाण है। इसलिए वह किसी स्थापना या प्रतिस्थापना में सहायक नहीं हो सकता। विषय के विवेक का ज्ञान विपक्षाभाव के प्रतिपादक बाधक प्रमाण से ही हो जाता है। (न्यायकन्दली पृ. ४१८)

बौद्धों का मत इसलिए समीचीन नहीं जान पड़ता कि विकल्पमूलक ज्ञान स्वयं अप्रमाण है। अतः इससे गृहीत की गयी व्याप्ति में कैसे विश्वास किया जा सकता है। यदि व्याप्तिग्राही विकल्प को प्रमाण माना जाये तो उसे प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न तीसरा मानना होगा। चार्वाक मत का खण्डन प्रायः सभी अनुमानवादियों ने बड़ी व्यापकता के साथ किया है किन्तु विस्तारभय से उन समीक्षाओं का विवरण यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। किन्तु इसका कुछ संकेत अन्तिम मान्यता के प्रसंग में आगे किया जायेगा। श्रीधर-मत भी समीचीन नहीं है कि तर्क के अभाव में स्यपक्षस्थापन या दूसरे मतों का खण्डन नहीं हो सकता, जो उन्हें भी अभीष्ट है।

तृतीय परम्परा में प्राय. सभी नैयायिक आ जाते हैं। महर्षि गौतम के अनुसार जिस पदार्थ का तत्त्व ज्ञात नहीं है, उसका तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान) प्राप्त करने के लिए, कारण के उपादान द्वारा जो ऊहा की जाती है वही तर्क है। इसकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि, जिस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं है, उस विषय को यथार्थतः अवगम करने के लिए स्वाभाविक रूप से जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसे जिज्ञासा कहा जाता है। जिज्ञासा के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि इसका कारण यह है या वह? इस प्रकार परस्पर विभिन्न दो कोटियाँ उपस्थित हो जाती हैं। तदनन्तर उनमें से कौनसी ठीक है, यह संदेह उत्पन्न होता है। इसी को संशय या विमर्श कहा जाता है। किन्तु परस्पर विरोधी दो धर्मों का एक साथ रहना असंभव है, इसलिए दोनों कोटियों में से एक का परित्याग कर, दूसरी का ग्रहण करना अपरिहार्य है। दोनों में से यथार्थ तत्त्व जानने के लिए एवं उक्त संशयावस्था से मुक्ति पाने हेतु उक्त संदिग्ध पक्षों में जिस ओर भी कारण की उपपत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसी संभावना को तर्क कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे उन्होंने लिखा है कि यह एक अनिश्चित ज्ञान है। इसके द्वारा कारण की उपपत्ति हेतु संशयित दो धर्मों में से एक को मान लिया जाता है, किन्तु किसी वस्तु का अवधारण या व्यवस्थित या निश्चित ज्ञान उत्पन्न नहीं होने पाता कि वह ऐसी ही है। इसीलिए इनको न्यायसम्मत प्रमाणों में संगृहीत एवं पृथक् प्रमाण न मानते हुए, प्रमाणों का सहायक या अनुग्राहक ही माना गया है।

भाष्यकार का समर्थन करते हुए उद्योतकर ने भी कहा है कि तर्क न तो प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर ही, क्योंकि यह अर्थ का परिच्छेदक प्रमाणों का विभाजक अर्थात् युक्त-अयुक्त विचारक होने के कारण उनका सहकारी ही है। वाचस्पति मिश्र तथा उदयन ने भी यही बात कही है। सूत्रकार की व्याख्या करते हुए जयन्त ने लिखा है कि सूत्रघटक "तत्त्व" पद से तर्क में धर्मविशिष्टधर्मी का सामान्य ज्ञान और "कारणोपपत्ति" पद से संशय विषयक दोनों पक्षों से एक पक्ष–विषयक कारण की संभावना को सूचित किया गया है। जिज्ञासा और संशय में अतिव्याप्ति न हो इसीलिए उक्त दोनों पक्षों का सन्निवेश किया गया है क्योंकि, जिज्ञासा में धर्मी का सामान्य ज्ञान तथा संशय में एक पक्ष विषयक कारण की उत्पत्ति नहीं होती। तर्क प्रमाण नहीं है, प्रत्युत प्रमाण अनुग्राहक है, इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए "तत्त्वज्ञानार्थ" पद का उपादान किया गया है। अतः सामान्य रूप से ज्ञात धर्मी में एक पक्ष की निर्बलता सिद्ध करते हुए दूसरे पक्ष में कारण उपपादन से, तत्त्वज्ञान के उत्पादक प्रमाणों का सहकारी, "ऐसा ही होना चाहिए" इत्याकार जो संभावनामूलक ज्ञान होता है, वही तर्क है। जैसे घुड़दौड़ आदि में ऊर्ध्वत्वविशिष्ट धर्मी (चेष्टायुक्त ऊँचे पदार्थ विशेष) को दूर से देखकर यह संभावनामूलक ज्ञान होता है कि यह पुरुष होगा। यहाँ पर यह संदेह हो सकता है कि उक्त ज्ञान निर्णय तथा द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर, यह ज्ञान संशय रूप होगा, क्योंकि धर्मी का विशेष ज्ञान निर्णय में और सामान्य तथा विशेष रूप से होने वाला अज्ञान संशय में कारण माना जाता है। इस तरह निर्णय और संशय के अन्तरालवर्ती (मध्य में होनेवाला) तर्क कोई पृथक् प्रमेय ही नहीं, तब उसको प्रमाणों का सहकारी मानने का प्रश्न निरस्त हो हो जाता है। इसके समाधान में तर्क की पुष्टि करते हुए न्यायमञ्जरीकर ने आगे लिखा है कि संशय में दोनों पक्षों की समान प्रतीति होती है और निर्णय में एक एक पक्ष को सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया जाता है, किन्तु तर्क में एक विषयक कारण की उपपत्ति द्वारा संभावना मात्र होती है। इस प्रकार तीनों की प्रतीतियों में पर्याप्त अन्तर लक्षित होता है–जैसे "यह स्तंभ है या पुरुष" यह प्रतीति उभय पक्ष अवगाहिनी (दोनों पक्षों में समान रूप से होने वाली) होने के कारण, संशय, "यह पुरुष ही है" इस प्रकार "एवं" शब्दार्थ को विषय करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई एक पक्ष में निश्चित रूप से सिद्धान्त का बोधन करने वाली प्रतीति निर्णय तथा "यह पुरुष होगा" या यह पुरुष हो सकता है यह "एवं" शब्द से विहीन कारण की उपपत्ति द्वारा एक पक्ष का बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली संभावनामूलक प्रतीति तर्क कहलाती है। अतः उक्त प्रतीतियों में स्पष्टतः पारस्परिक भेद ज्ञापित होने से तर्क को निर्णय और संशय के मध्यवर्ती पृथक् प्रमेय मानने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसी तरह गंगेश का समर्थन करते हुए प्रायः सभी उत्तरवर्ती नैयायिकों ने तर्क को व्याप्तिज्ञान का सहकारी माना है।

चौथी परम्परा में मीमांसक, वैयाकरण, एवं आचार्य शंकर को लिया जा सकता है।

मीमांसकों ने तर्क को शब्द प्रमाण का अनुग्राहक माना है। वैदिक वाक्यों की संगति स्थापित करने के लिए मीमांसक तर्क की सहायकता अपेक्षित मानते हैं। मीमांसा सूत्र में "ऊह" शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके प्रथम अध्याय को तर्कवाद की संज्ञा दी गयी है। मीमांसक तर्क को ज्ञानात्मक मानने की अपेक्षा शब्दात्मक मानना उचित समझते हैं। तर्क को ज्ञानात्मक मानने पर इसमें अनुभूत होने वाला "परोक्षभावत्व" अर्थात् विपक्षी के द्वारा उद्भावित होना संगत नहीं हो पाता। यद्यपि यह सही है कि विपक्षी के द्वारा उपस्थापित वाक्य रूपी तर्क से वादी को ज्ञान होता है और उस ज्ञान के आधार वह व्याप्य-व्यापकभाव का निर्णय करता है किन्तु उस ज्ञान को तर्क न मानकर ज्ञापक वाक्य को ही तर्क मानना चाहिए जैसा कि निम्न मीमांसक तर्क परिभाषा से प्रतिलक्षित होता है–

प्रमाणेन साध्यमानस्यार्थस्यान्यथात्वशंकायां तन्निरासार्थं अन्यथात्वे तर्कः। (मान. पृ. ३५)

ऋग्वेद में आयी हुई ऋचा में प्रयुक्त "ओहब्रसन" या "ऊहब्रह्मन्" का अर्थ निश्चित करते हुए निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि मनीषियों का ब्रह्मा ऊह या तर्क का होता है। (१३/१२) उसमें कहा कहा गया है कि देवों ने ऋषियों को तर्क ऋषि प्रदान किया है जिसमें मंत्रों को अनुयूह किया जाता है। पाणिनि सूत्र में "ऊह" शब्द का प्रयोग हुआ है।

व्युत्पत्ति के आधार पर "तर्क भाषायाम्" और "कृती छेदने" धातुओं से "घञ्" प्रत्यय करके तर्क शब्द निष्पन्न होता है जिसमें यह अर्थ निकलता है कि तर्क एक प्रकार का वाक्य है जो संदेह का छेदन करता है। उसके पर्यायवाची शब्द "ऊह" की निष्पत्ति "ऊह वितर्के" धातु से हुई है। इसके अनुसार संदिग्ध अर्थ में निश्चय की खोज को ऊह कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने आगम के अनुकूल तर्क को शब्द की शक्ति ही माना है। मनु की तरह उन्होंने आगमशून्य तर्क के द्वारा धर्म-व्यवस्था मान्य नहीं की है। ऋषियों को ज्ञान होता है वह भी आगमपूर्वक ही होता है। इसलिए उन्होंने धर्म को तर्कातीत कहा है। तर्क द्वारा विविध विभाग करके न्याय की स्थापना की जाती है। उसमें कहीं कहीं सत् की उपेक्षा कर दी जाती है तो कहीं उसे समाविष्ट भी किया जाता है। तर्क द्वारा ही लाक्षणिक अर्थ निकाला जाता है। इतना होने पर भी यह शब्द से भिन्न शक्ति नहीं है यथा–

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायो नागमेष्वनिबन्धनः॥ (१/३७)

अर्थात् पुरुष में आश्रित रहने वाला तर्क शब्दों की शक्ति ही है क्योंकि कोई भी न्याय ऐसा नहीं होता जिसमें शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ हो। आगमहीन तर्क निराधार है। कारिका की टीका में वे लिखते हैं कि जिस तर्क में शब्द शक्ति का अनुग्रह नहीं होता, जिसमें केवल साधर्म्य-वैधर्म्य का अनुसरण किया जाता है, वह शुष्क तर्क है। अतः आगम की अपेक्षा तर्कहीन है।

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद को तर्कपाद कहा गया है। इसमें प्रथमसूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि वेदान्त का प्रतिपाद्य ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण करना है। तर्क-शास्त्र की भाँति इसमें केवल युक्तियों के आधार पर किसी सिद्धान्त को सिद्ध या खंडित करने के लिए इसकी प्रवृत्ति नहीं हुई है किन्तु कपिल, कणाद आदि दार्शनिकों ने अपने-अपने मतों को सम्यक् रूप में स्थापित करने के लिए श्रुतिवाक्यों के जो उद्धरण दिये हैं उनसे भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसलिए उनके निराकरण हेतु तर्क द्वारा विपक्षियों के तर्कों का खण्डन तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक है।

आचार्य शंकर आगमानुकूल तर्क को उपादेय मानते हैं। आगमगम्य अर्थ में केवल तर्क से विरोध नहीं करना चाहिए क्योंकि आगम निरपेक्ष और पुरुष कल्पनामूलक तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। कल्पना निरंकुश होती है। जैसे कुछ विद्वानों के द्वारा यत्नपूर्वक कल्पित तर्क को उनसे कुशल विद्वान् अन्यथासिद्ध कर देते हैं उनसे भी कल्पित हुए तर्क उनसे अन्य विशिष्ट विद्वानों द्वारा तर्काभास बना दिये जाते हैं। इस कारण तर्कों की प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती है। भामतीकारने भी भर्तृहरि की निम्न कारिका उद्धृत कर यही बात कही है–

यत्नेनानुमतोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते (वा. प. १/३४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी तर्कों के अप्रतिष्ठित होने पर लोकव्यवहार भंग होने की आपत्ति होगी, क्योंकि भूत और वर्तमान पदार्थों के सादृश्य द्वारा भविष्य पदार्थों में भी सुख प्राप्ति और दुःख परिहार के लिए लोगों को प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि यदि श्रुति अर्थ में विरोध हो तो अर्थाभास का निराकरण करते हुए यथार्थ अर्थ का निर्णय वाक्यवृत्ति निरूपण रूप तर्क से किया जाता है। अप्रतिष्ठित होना तर्क का दोष नहीं, भूषण है। दोष-युक्त तर्क का परित्याग करके दोषहीन तर्क का स्वीकार करना ही विवेक का तकाजा है। इतना सब मान लेने पर भी मोक्ष सम्यक्ज्ञान से ही होता है, तर्क से नहीं। मुक्ति का हेतु जगत् के कारण ब्रह्म की अद्वितीयता का निश्चय शास्त्र के अभाव में केवल तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार आचार्य शंकर तर्क को वाक्यवृत्ति रूप ही मानते प्रतीत होते हैं। (भाष्य पृ. ३५६–५७)

पाँचवी परम्परा का सूत्रपात करते हुए मध्ववेदान्ती जयतीर्थ और व्यासतीर्थ ने तर्क को अनुमान का भेद मानकर उसे प्रमात्मक ज्ञान माना है। व्योमवतीकार ने तर्क को अनुमान में ही अन्तर्भावित किया है। नैयायिकों ने अनुमान और तर्क में अन्तर स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि अनुमान में हेतु की पक्ष में अनिवार्यतः वृत्ति रहती है जब कि तर्क में ऐसा नहीं होता। इसलिए अनुमान से जो निष्कर्ष निर्गमित किया जाता है वह यथार्थ होता है किन्तु तर्क द्वारा नहीं। इसकी आलोचना करते हुए जयतीर्थ ने लिखा है–

पक्षधर्मता यद्यपि अनुमान की अपरिहार्य शर्त है फिर भी वह अनुभवमूलक मनोवैज्ञानिक शर्त ही है। अनिवार्य तार्किक शर्त व्याप्ति ही है। यह बात नैयायिकों ने भी स्वीकार की है। पक्षधर्मता पक्ष में साध्य की अनुमिति को संभव बना देती है। किन्तु उसका तार्किक निश्चियीकरण व्याप्ति से ही होता है। मध्वाचार्य द्वारा मान्य सभी अनुमान भेदों, जैसे। १ साधनानुमान २. तर्क ३. तृष्णानुमान ४. अर्थापत्ति पर यह शर्त लागू होती है। साधनानुमान में व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर पक्षधर्मता को भी आवश्यक ठहराया गया है किन्तु जैसा हमने पूर्व में बतलाया है कि यह सभी अनुमानों की आवश्यक तार्किक शर्त नहीं इसलिए तर्क जिसमें पक्षधर्मतामूलक वाक्य प्रतिवादी के कथन की पुष्टि में कल्पित कर गृहीत कर लिया जाता है जिसका प्रयोजन पक्ष में साध्य की उपस्थिति को प्रदर्शित करना है।

जिस साध्य को अनिवार्यतः तर्क में सिद्ध किया जाता है वह वास्तव में पक्ष में नहीं रहता। पक्ष में साध्य की वृत्ति के विपरीत यदि उसका अभाव दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण से ज्ञापित हो तो बाध दोष हो जायेगा। "अग्नि अनुष्ण है, द्रव्य होने से" इस अनुमान का उदाहरण है। इस प्रकार असत् साध्य के अनुमान को मान लेने पर पूर्व माने गये सद् अनुमान के विपरीत सद्‌साध्य के लिए अपसिद्धान्त होगा।

उभयतोपाश की रचना करके जयतीर्थ ने नैयायिकों के आक्षेपों का परिहार इस प्रकार किया है......क्या नैयायिकों का तात्पर्य यह है......

धूमाभाव का अनुमान पर्वत में इसलिए नहीं हो सकता कि वह वहाँ धूम की उपस्थिति से बाधित हो जाता है।

नैयायिक दोनों स्थितियों के होने के कारण तर्क को प्रमाण नहीं मानते। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि तर्क में साध्य पद की केवल उसी के लिए सिद्धि नहीं होती अपितु साधन की उपस्थिति से साध्य की उपस्थिति आंकी जाती है। जबकि पर्वत पर धूम को देखकर भी प्रतिवादी अग्नि होने का निषेध करता है तब अग्नि के अभाव में धूमाभाव भी निहित है और इसके निषेध से सही निष्कर्ष निगमित हो जाता है।

"यदि जहर खाओगे तो मरोगे" इस तर्क से केवल जहर खाने और मृत्यु में आवश्यक सम्बध प्रतिलक्षित होता है किन्तु यह घटनाओं के वास्तविक ऐतिहासिक सत्य की ओर निर्देश नहीं करता। इसी प्रकार इस तर्क "यदि पर्वत अग्निरहित होता तो वहाँ धूम भी नहीं होता" में भी सामान्य तार्किक सम्बन्ध आपाद्य और आपादक के बीच स्थापित किया गया है। इससे यही तथ्य प्रतिपादित होता है कि आपाद्य के स्वीकार करने पर आपादक का स्वीकार अपरिहार्य है। यह नहीं कि आपाद्य और आपादक की घटना सही ऐतिहासिक सत्य हो। वस्तुस्थिति यह है कि तर्क द्वारा या प्रतिवादी किसी स्वतन्त्र निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहते किन्तु तर्क द्वारा उसका निष्कर्ष विरोधी तथ्य के प्रदर्शन में ही पर्यवसित हो जाता है। तर्क द्वारा वह यही सिद्ध करता है कि पर्वत पर अग्नि न होने पर धूम भी नहीं होगा अतः बाध और अपसिद्धान्त के आरोप नगण्य हैं। जहाँ तक हेतु की पक्ष में असिद्‌धी का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि हेतु का प्रयोग आहार्य ज्ञान के रूप में काल्पनिक ही है यथार्थ नहीं जैसे "यदि पर्वत अग्निशून्य होता" इस तर्क का तात्पर्य इतना ही है कि आप इसे स्वीकार करते हैं कि वहाँ अग्नि नहीं है और प्रतिवादी का यह स्वीकरण वास्तविक तथ्य है इस प्रकार अन्य दोषों की भाँति यह आक्षेप भी सही नहीं है। (न्यायसुधा पृ. ४७७–७८)

किसी धर्म के अंगीकार में किसी अन्य धर्म का आपादन तर्क है। तर्क में व्याप्य और व्यापक में व्याप्ति तो पाई जाती है पर व्याप्य वस्तुतः पक्ष में नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहता। व्याप्य का पक्ष में आरोपण ही किया जाता है। प्रतिवादी सर्वदा इस तथ्य से अवगत रहता है कि व्याप्य और पक्ष का सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। जैसे, यदि जलाशय में धूम होता तो वहाँ अग्नि भी होती। इसलिए वह इस तथ्य कि हेतु पक्ष में विद्यमान नहीं है की शिकायत नहीं कर सकता। (प्रमाणपद्धति पृष्ठ ३८-३९)

व्यासतीर्थ ने तर्क को प्रमा मानते हुए **तर्कताण्डव** में लिखा है।–

"मन्मते तु अंगीकृतेन साध्याभावेन सः अंगीकृतस्य साधनाभावस्य व्यापकत्व प्रमा वा साध्याभावांगीकारनिमित्तिका साधनाभावस्यांगीकृतत्व प्रमा वा" (तर्कताण्डव पृ. १९४-९५)

अर्थात् साध्याभाव के साथ साधनाभाव की व्याप्ति रूपी प्रमाज्ञान अथवा साध्याभाव के स्वीकार के निमित्त साधनाभाव के अंगीकार करने की प्रमा रूपी ज्ञान तर्क है। तर्क आरोपमात्र नहीं है वरन् व्यतिरेक व्याप्तिमूलक प्रमा ज्ञान है। तर्क के द्वारा यह बतलाया जाता है कि अग्नि के अभाव के साथ धूमाभाब की आवश्यक व्याप्ति है। इसमें प्रथम व्याप्त और द्वितीय व्यापक कहलाता है। तर्क इसी सत्य का ज्ञान कराता है। जयतीर्थ का समर्थन करते हुए उन्होंने तर्क को प्रमाज्ञान सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जो पक्षासिद्ध अपसिद्धान्त और बाध आदि दोष नैयायिकों ने तर्क के प्रसंग में लगाये हैं वे न्यायसंगत नहीं है। तर्क की सहायता वहीं ली जाती है जहाँ संशय होता है। "धूम वाले पर्वत पर अग्नि है अथवा नहीं है" ऐसा सन्देह होने पर निम्न दो स्थितियाँ हो सकती हैं: १. धूमाभाव अग्नि के अभाव का व्यापक न हो २. यद्यपि एक दूसरे के व्यापक न हो और धूमाभाव अग्नि के अभाव का अभाव हो। इतना होने पर भी धूमाभाव का पक्ष में वृत्ति रहना संभव है। अग्नि का अभाव धूमाभाव का व्याप्य है और इसकी उपलब्धि तर्क से होती है यथा– "यदि यह अग्निरहित हो तो उसे धूम रहित भी होना चाहिए" इस तर्क द्वारा यह बात नहीं प्रतिपादित होती है कि उसके द्वारा निरपेक्ष तर्क अवगत नहीं होता। वस्तुतः दो तथ्यों में आवश्यक व्याप्ति को प्रकट किया गया है। जैसे, "गवय गाय के समान है तो गाय भी गवय के समान होना चाहिए" "यदि जीवित व्यक्ति घर पर नहीं है तो बाहर होना चाहिए" या "यदि धूम है वहाँ आग भी होनी चाहिए" ये सब आकस्मिक संभवनाएँ नहीं है वरन् आवश्यक व्यापक सत्य हैं। तर्क के हेत्वाश्रित रूप में भी पूर्वांग और उत्तरांग के बीच आवश्यक सम्बन्ध है। उत्तरांग के द्वारा निष्कर्ष की उत्पत्ति होती है जो पूर्वांग से निगमित होता है। द्वितीय संशय-कोटि इसलिए निरस्त हो जाती है कि पक्ष में धूम को निरस्त करने पर धूमाभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस तर्क " यदि पर्वत अग्नि रहित होता तो धूम रहित भी होता ' को भी अनुमान ही कहा जा सकता है जिसमें धूमाभाव को अग्निभाव का व्यापक बतलाया गया है। इस संपूर्णवाक्य को हेतु माना जा सकता है। साध्य वाक्य इस प्रकार होगा - " धूमाभाव का अभाव अग्न्यभाव के अभाव का व्याप्य है अर्थात् धूमाभावाभाव यानि धूम और अग्न्यभावाभाव यानि अग्न में व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। उक्त हेतु का ज्ञान उक्त साध्य-ज्ञान का साधन है और दोनों ज्ञान यथार्थ हैं क्योंकि व्याप्याभाव से व्यापकाभाव की यथार्थ अनुमिति होती है। (तर्क ताण्डव पृ. ११२)

भगवत्गीता के १५ वे अध्याय के १५ वे श्लोक मे आये हुए " मत्तः स्मृतिज्ञानमपोहनं च " पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार रामानुज गौतम के तर्क को गृहीत करते हैं और ऊहन् या ऊह को तर्क का पर्याय घोषित करते हैं। प्रमाण में प्रवृत्ति का प्रयोजन होने से ऊह प्रमाणों का अनुग्राहक है। वेंकटनाथ ने **न्याय-प्रसिद्धि** में जयतीर्थ की भाँति ही तर्क को प्रमाण घोषित करते हुए अनुमान का ही अंग माना है किन्तु उनमें मध्ववेदान्तियों जैसी सूक्ष्म परिष्कार की व्यापकता नहीं है। लगता है उन्होंने भाष्य विवेचन तक ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है तार्किक परिष्कार की ओर नहीं। (न्यायपरिशुद्धि ३२२-२५)

छठी परम्परा के सूत्रधार आचार्य व्योमशिव हैं। उन्होंने तर्क की प्रामाणिकता में विश्वास रखते हुए कहा है कि तर्क को यदि प्रमाण नहीं माना जाय तो प्रमाणों के लिए आत्महत्या के समान है। तर्क के द्वारा विपरीत शंकाओं और जिज्ञासाओं का निरास कर यथार्थता का बोध किया जाता है। यह बोध तर्क को प्रमाण माने बिना नहीं हो सकता। अत: प्रमाण होने के नाते तर्क प्रत्यक्ष अथवा अनुमान में अन्तर्भावित किया जा सकता है। उन्होंने उदयन की **किरणावली** में तर्क को अयथार्थ ज्ञान मानने की परम्परा का भी खण्डन किया है। (व्योमवती पृ ५३३—३४)

सातवीं और अन्तिम परम्परा में जैन दार्शनिकों की गणना की जाती है। ये लोग तर्क को स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में रखते हैं। जैन आगमकालीन परम्परा में **राज्यप्रश्नीय सूत्र, स्थानांग सूत्र** तथा **भगवती सूत्र** में पंचज्ञानों में अभिनिबोध के दूसरे भेद ईहा के रूप में तर्क को अवतरित किया गया है। ईहा के अनेक पर्याय जैनग्रन्थों में पाये जाते है जैसे, अभोगनता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता, विमर्श, ऊह, तर्क, विचारणा, जिज्ञासा आदि (नन्दीसूत्र ५२ तत्त्वार्थभाष्य १/१५)।

इन्द्रिय और मन की सहायकता से होने वाले सांव्यावहारिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष के जैन परम्परा में चार भेद किये गये है १. अवग्रह, २. ईहा. ३. अवाय एवं ४. धारणा। इनमें से इन्द्रिय और अर्थ के संबंध होने पर नाम आदि की विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना से रहित सामान्यभाव का ज्ञान अवग्रह कहलाता है। यह दर्शन सामान्य सत्ता का आलोचक है। इसमें मात्र यह कोई मनुष्य है इतना ही भान होता है। अवग्रह के पश्चात् उसके द्वारा ज्ञात विषय में यह व्यक्ति कश्मीरी है या बंगाली इस प्रकार का विशेष विषयक संशय उदित होता है। संशय के अनन्तर वेषभूषा को देखकर निर्णय की ओर उन्मुख होने वाला "यह काश्मीरी होना चाहिए" संशय निवारक एक पक्ष को प्रबल बनानेवाले संभावनामूलक ज्ञान को ईहा कहा गया है। ईहा में उसके बाद होने वाले निर्णयात्मक ज्ञान अवाय की पूर्णनिश्चयात्मकता नहीं रहती परन्तु निश्चयोन्मुखता अवश्य रहती है।

इसी परम्परा को अपना आधार बनाते हुए अकलंक ने सर्वप्रथम भारतीय दर्शन में तर्क को व्याप्तिग्राहक साधन के रूप में अपनाया है। उन्होंने ही इसे स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्थापित किया है। उनके पश्चात् प्रायः सभी जैन तार्किक जैसे, विद्यानंद, माणिक्यनन्दी, प्रभाचंद्र, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने भी उनका समर्थन कर तर्क को स्वतंत्र प्रमाण का दर्जा दिया है।

तर्क को अप्रमाण घोषित करने वालों को आड़े हाथों लेते हुए उन्होंने लिखा है कि संवादी ज्ञान का वाहक होने के नाते इसे प्रमाण मानना आवश्यक है। यदि तर्क को अप्रमाण माना जाये तो अनुमान प्रमाण में व्याप्तिप्रसंग में विपरीत आशंकाएँ उदित होने पर उसकी अवस्थिति प्रमाणिक रूप से नहीं हो पायेगी। फिर तर्क के अभाव में सर्वोपसंहारी व्याप्ति का ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। इसलिए अकलंक ने प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से होने वाले साध्य और साधन के अविनाभाव संबंध को ग्रहण करने वाले संभव ज्ञान को तर्क कहा है (न्यायविनिश्चय विवरण ३३०–३१; लघीस्त्रय ४९)। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ अन्वय–व्यतिरेक के ही अपर नाम है। पर यहाँ उनको ज्ञानपरक माना गया है वस्तुपरक नहीं। प्रत्यक्ष अर्थात् उपलम्भ से प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्दबोध आदि सभी प्रमाण विवक्षित हैं क्योंकि प्रत्यक्ष-गम्य साध्य साधनों की भाँति अनुमान शाब्द बोध आदि से गृहीत होने वाले साध्य साधन भी इसकी परिधि में आते हैं।

हेतु और साध्य के सार्वव्यक्तिक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैनदर्शन में इसको अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति नाम से भी अभिहित किया गया है। साध्य के विना साधन का न होने का तात्पर्य है "साधन का साध्य के होने पर ही होना तथा साध्य के अभाव में कदापि नहीं होना" जैसे, जो धूम है वह कालत्रय और त्रिलोक में अग्नि से ही उत्पन्न होता है अग्नि के अभाव में कदापि नहीं हो सकता। धूम और अग्नि का वह सर्वोपसंहारी अविनाभाव तर्क की मर्यादा में ही है। प्रथमतः कार्य और कारण का प्रत्यक्ष होता होता है। इसके पश्चात् अनेक बार उनके सद्भाव को देखकर अन्वयसहचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। फिर साध्य के अभाव में साधन का अभाव अवलोकित कर व्यतिरेक के निश्चय से अन्वय ज्ञान की निश्चयात्मक पुष्टि होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा रसोईघर आदि में धूम और अग्नि का सहचार भले ही अवगत हो जाय किन्तु दोनों के संबंध की सार्वकालिकता का ज्ञान उसकी सीमा से परे है क्योंकि उसके द्वारा वर्तमान और सन्निहित पदार्थों का ही बोध होता है। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का इतना ही ज्ञान होता है कि "यह धूम है" और "यह अग्नि है" किन्तु "धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है" और "अग्नि के अभाव में धूम कदापि नहीं होता" यह अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष से नहीं वरन् तर्क से ही गृहीत होता है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का कार्य है धुऐं के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बतलाना और अनुमान का कार्य है उस नियम के अवलम्बन पर अग्नि का ज्ञान कराना।

इस प्रकार तर्क का क्षेत्र अत्यंत विशाल और व्यापक है। प्रत्यक्ष केवल संन्निहित और वर्तमान विषयों के ज्ञान तक ही सीमित है। अनुमान के द्वारा भी जिन अनुमेय वस्तुओं का ज्ञान होता है वे भी नियत देश काल में अवस्थित रहती हैं। उपमान सादृश्य और शाब्दबोध संकेत आदि पर अवलम्बित किन्तु तर्क संबद्ध, असंबद्ध, नियत, अनियत, वर्तमान, अतीत और अनागत देशकाल में विद्यमान रहने वाले साध्य और साधन के अविनाभाव संबंध का ग्रहण करता है (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. ३४८)

आश्चर्य है कि नैयायिकों ने इसे प्रमाणों का सहकारी तो माना है किन्तु प्रमाण नहीं। अप्रमाण से न प्रमाण विषयक परिशोधन हो सकता है और न प्रमाणों का अनुग्रह। अतः इसे स्वतंत्र प्रमाण मानना आवश्यक है। प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा साध्य और साधन एक सम्बन्ध एक देश विशेष में ही बोधित होता है जबकि तर्क से वह समग्र रूप से अवगत होता है। दूसरे, समारोप व्यवच्छेदक होने के कारण साध्य साधन के अविनाभाव में होने वाली विपरीत आशंकाओं का निराकरण करने में समर्थ होने के कारण भी इसे प्रमाण मानना होगा। हाँ, जहाँ तर्क में विसंवाद हो वहाँ उसे तर्क-ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान का ही अवगम कराता है, असन्निहित, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत का नहीं।

मानसप्रत्यक्ष से भी इसका ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि मानसप्रत्यक्ष विशद है तथा सर्वोप्संहारी व्याप्तिज्ञान अविशद्।

योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिग्रहण इसलिए नहीं हो सकता कि योगी प्रत्यक्ष द्वारा ही समस्त वस्तुओं को जान लेता है। अतः उसे न तो व्याप्तिग्रहण की आवश्यकता रहती है और न अनुमान की। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से अनित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से समस्त अग्नियों तथा धूमत्व रूप से सकल धूमों का ज्ञान हो सकता है किन्तु समस्त धूमों और अग्नियों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही व्याप्ति ज्ञान नहीं है अपितु धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है अग्नि के अभाव में कभी नहीं इत्याकारक जो कार्यकरण मूलक जो व्याप्तिज्ञान गृहीत किया जाता है वह प्रत्यक्ष के वस की बात नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान विशद होता है। एक अग्नि के प्रत्यक्ष द्वारा उस अग्नि व्यक्ति का जैसा और जितना विशद् अवभास होता है वैसा और उतना उसके समान परोक्ष अन्य होने से प्रत्यक्ष की सीमा में नहीं जा सकता। यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा रसोई घर की अग्नि की तरह पर्वतीय अग्नि का भी स्पष्ट प्रतिभास हो जाये तो अविनाभाव सम्बन्ध को ग्रहण करने और अग्नि के अनुमान करने की आवश्यकता ही अपास्त हो जायेगी। एक अर्थ में व्याप्तिग्रहण काल में सभी व्यक्तियों को सर्वज्ञता की आपत्ति भी लगेगी।

अनुमान द्वारा भी इनका ज्ञान नहीं होता कारण व्याप्ति अपने निश्चय के लिए यदि अनुमान का आश्रय ले तथा व्याप्ति पर आश्रित हो तो आन्योन्याश्रय दोष होगा। दूसरे अनुमान के द्वारा अविनाभाव का ग्रहण इसलिए भी नहीं होता कि अनुमान की व्याप्ति यदि दूसरे अनुमान से गृहीत की जाय तो दूसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए तीसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। और तीसरे की व्याप्ति के लिए चौथे की। इस प्रकार अनवस्था दोष मण्डित होगा।

आगम, उपमान आदि प्रमाणों के विषय भिन्न-भिन्न होने से उनके द्वारा भी व्याप्ति निश्चयन नहीं होता (लघीस्त्रय ४९ और उसकी टीका; न्यायविनिश्चय-विवरण; स्याद्वाद रत्नाकर; प्रमेयकमलमार्तण्ड; प्रमाणमीमांसा)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तर्क यद्यपि सभी अनुमानों अथवा सभी प्रमाणों के लिए सहकारी होते हुए भी उनकी अनिवार्य शर्त के रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता क्योंकि विधानात्मक रूप से भी प्रमाणों द्वारा वस्तुओं का निश्चयात्मक ज्ञान होगा किन्तु व्यतिरेक-मुखी निषेधात्मक विधि के विना उनके सर्वथा निर्दुष्ट होने की बात प्रमाणित नहीं की जा सकती। निषेधमुख से प्रमा का जनक होने के नाते इसे अप्रमाण कहना युक्तिसंगत नहीं है।

—ब्रजनारायण शर्मा

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर-४७०००३ (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाणभट्ट की आत्मकथा– सामाजिक दार्शनिक पक्ष

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रथम उपन्यास, जिसे इन्होंने वर्ष १९४६ में लिखा, **बाणभट्ट की आत्मकथा** है। उक्त उपन्यास ड़ायरी शैली में लिखा गया हैं। सम्पूर्ण उपन्यास समाज में व्याप्त असमानता, अनैतिकता, अनाचार और अधर्म की स्थिती का परिचायक है। विशेष रूप से सत्ताधारी वर्ग में व्याप्त अनाचार की खुली पुस्तक है। सन्दर्भ में देखा जाये तो उपन्यास का सारांश "बाणभट्ट का स्थाण्वीश्वर (थानेसर) में पहुँचना, निपुणिका का अचानक मिल जाना, छोटे महाराज के अन्तःपुर से तत्रभवान् विषम समर विजयी प्रत्यन्तबाहु देवपुत्र तुवुरमिलिन्द की नयनतारा चन्द्रदीधिति अर्थात् भट्टिनी का उद्धार, आचार्य-सुगतभद्र एवं अवधूतपाद का संयोगवश मिलन और कुमार कृष्णवदन से परिचय है।" इसी सन्दर्भ में विरतीव्रज, वेंकटेसभट्‌ट, लोरिकदेव, महाराज हर्ष एवं धावक आदि पुरुष पात्र एवं सुचरिता, महामाया, भैरवी, मदनश्री, चारुस्मिता और विद्युतपांगा आदि स्त्री पात्र उभर कर जाते हैं।

आत्मकथा की केन्द्रीय समस्या को लेकर साहित्यिकों, इतिहासज्ञों, समाज-शास्त्रियों, दार्शनिकों व राजनीतियों में भारी मतभेद है। जहाँ इतिहासज्ञ इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या "हर्षकालीन इतिहास की व्याख्या करना" मानते हैं, वहीं पर राजनीतिज्ञ तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का अवलोकन करना ही उपन्यास की केन्द्रीय समस्या मानते हैं।" दर्शन का विद्यार्थी होने के नाते मेरा मानना है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की केन्द्रीय समस्या 'समाज-दर्शन' की समस्या है। लेखक आरम्भ से अन्त तक जब भी उसे चिन्तन करने का अवसर प्राप्त होता है, उसी समय सामाजिक व्यवस्थापर प्रश्न चिन्ह उभारता रहता है। उसे चिन्ता समाज व्यवस्था को लेकर ही है। निराश होकर कभी तो पात्र यह सोचने लग जाता है कि मनुष्य की सामाजिक बन्धनों की जड़ में ही कहीं बड़ा दोष रह गया है। वह दोष क्या हैं? इसे लेकर ढूंढने का प्रयत्न करता है और एकाएक वह कह उठता है कि "नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मकता व्याप्त है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका संधान पाना ही लेखक का ध्येय है। समाज में व्याप्त अनैतिकता, अनाचार, अधर्म और असमानता की स्थिति लेखक को अन्दर तक झकझोरती रहती है। उसी का परिणाम है कि सप्तम उच्छ्वास में बाण अपने आप कह उठता है कि "मैंने एक भी भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम कि इस अन्तःपुर में और कितनी भट्टनियाँ हैं। और ऐसे अन्तःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती। अभी जो उच्छृङ्खल नृत्य देख आया हूँ और यहाँ जो भयंकर भीतिभाव लक्ष्य कर रहा हूँ, इन दोनों हो दिशाओं में आपाततः कितना प्रभेद है; पर सत्य है कि दोनों ही जगह सृष्टी की बहुमूल्य वस्तु अपमानित हो रही है। क्यों ऐसा हो रहा है? क्या स्त्रियों ने स्वयं जाल बुना है? और उलझ गयीं है? मैं जिस रास्ते से जा रहा हूँ इस रास्ते से उल्हास और उन्माद चाहे गये हों, अनुराग और औत्सुक्य नहीं गये। यह सब क्यों हो रहा है? यह क्या धर्म है? क्या न्याय है? मेरा चित्त कहता है कि कहीं न कहीं मनुष्य समाज ने अवश्य गलती की है। यह उन्मुक्त उत्सव, ये रासक गान, ये श्रृंगक चीत्कार, ये अबीर गुलाल, ये चर्चरी और पटह मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुखः भुलानेवाली मदिरा है, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ताधारा आविल है, उनका पारम्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है। मेरा मन इस दुर्बल चिन्ताधारा को सहनेमें असमर्थ होता जा रहा है।" यही दुःख अन्य पात्र महामाया भैरवी को घेरे हुए हैं। चतुर्दश उछ्वास में अमृत के पुत्रों का उद्बोधन करती हुई महामाया भैरवी कह उठती है कि "क्या निरीह प्रजा की बेटिया उनकी नयनतारा नहीं होती? क्या राजा और सेनापति की बेटियाँ खो जाना ही संसार की दुर्घटनाएँ हैं? कौन नहीं जानता की इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर ही हैं?" महामाया भैरवी स्वयं भी बलात् महाराजा ग्रहवर्मा को ब्याह दी गयी थी पर उसने अन्तःपुर को त्यागकर वैराग्य धारण कर लिया था और अवधूतपाद अघोरभैरव की सिद्धी में सहायक बन रही थी। जब देवपुत्र के निराश होने की बात वह सुनती है और आचार्य भर्वुपाद के पत्र को पढ़ती है तो वह धिक्कार उठती है। उसके अन्तःस्थल से आवाज निकलती है कि "यदि देवपुत्र का हृदय थोड़ा भी संवेदनशील होता, तो आज से बहुत पहले ही उन्हें मूर्च्छित हो जाना चाहिए था?" वह अमृत के पुत्रों को ललकार उठती है कि "अमृत के पुत्रों, मृत्यु का भय माया है, राजा से भय दुर्बल चित्त का विकार है, प्रजा ने राजा की सृष्टि की है। संगठित होकर म्लेच्छवाहिनी का सामना करो। देवपुत्र और महाराजाधिराजों की आशा छोड़ो। यह पहला अन्याय नहीं है, अन्तिम भी नहीं होगा। यह दुर्बल सम्पत्तिमद का चिराचरित रूप है। इसके लिए न्याय की प्रार्थना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यर्थ है। अमृत के पुत्रों, धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नहीं होती। वह होती है अपने को मिटा देने से।"

समाज व्यवस्था में विकार, राजनीति की कुटिलता, धर्म की, धर्माचार्यों की प्रतिष्ठा का प्रश्न बनना, समाज में नारी पुरुष की स्थिती का सही आकलन होने पर उत्पन्न होता है। समाज के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उपरोक्त सभी पर विचार करना आवश्यक है। राजनीति जब लोकहित से परे हटकर स्वार्थ से जकड़ जाती है तो फिर वह समाज व्यवस्था को विच्छिन्न कर देती है। बाणभट्ट के उपन्यास से राजनीतिक स्थिती का सही अवलोकन करने पर यह स्पष्ट ही पाया जाता है कि राजनीति में अनैतिकता, अनाचार आदि असद्गुणों का प्राचुर्य इस कदर हो गया है कि नैतिकता, धर्म आदि का स्थान कहीं नजर ही नहीं आता है। कुमार कृष्ण सप्तम उच्छ्वास में बाणभट्ट को कह उठते है कि "भट्ट, राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है, असिधारा से भी अधिक दुर्गम है। विद्युत्शिखा से भी अधिक चंचल है। तुम्हारा और भट्टिनी का यहाँ तब तक रहना उचित नहीं है जब तक अनुकूल अवसर न आ जावे। तुमने कल अपने को देवपुत्र नन्दिनी का अभिभावक कहा था। तुम निश्चय ही इस महान् उत्तरदायित्व के योग्य हो, परन्तु तुम्हें मालूम नहीं कि इस पद को पाकर तुमने अपने आप को राजनीति के कैसे आवर्तसंकुल तरंग में छोड़ दिया है। तुम्हारे मनोविकार बहुत स्पष्ट होते है क्योंकि तुममें अशुचि कूटनीति का लेश भी नहीं है। पर तुम्हें देवपुत्र नन्दिनी का उत्तम अभिभावक बनना है। तुम झूठ से शायद घृणा करते हो, मैं भी घृणा करता हूँ परन्तु जो समाज-व्यवस्था झूठ को ही प्रश्रय देने के लिए बनी हुई है उसे मानकर अगर कोई कार्य करना चाहो तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न रूप से रहता है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी सुनी बात ज्यों की त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का कल्याण हो।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति के लिए कूटनीतिज्ञता का होना आवश्यक मानकर चलते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास राजनैतिक कुटिलता का ही प्रतिबिम्ब है। और स्पष्ट रूप से यह उभर कर आता है कि जहाँ एक ओर राजाओं और उनके सामन्तों के अन्तःपुर बलात् हरण की हुई कन्याओं से भरे पड़े हैं वहीं पर राजाओं सामन्तों का प्रयत्न नाना प्रकार के अयोजनों के माध्यम से प्रजा का ध्यान राजनीति से परे हटाए रखना है।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है प्रस्तुत उपन्यास में बौद्धधर्म, तान्त्रिकों व सतातन धर्म की चर्चा की गयी है। यह स्पष्ट रूप से उपन्यास में उभर कर आता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म को राजनीति का क्रीड़ा-स्थल भी बनाया जाता रहा है। जब सुचरिता कारागृह में बन्द होती है और प्रजा में विद्रोह की ज्वाला धधकने लगती है तो कुमार कृष्ण बाणभट्ट को सुचरिता के पास कारागृह में भेजते हैं। सुचरिता बाण से कह उठती है कि "समझ गयी हूँ आर्य, मेरे और मेरे पति के निर्दोष निरीह आचरण से जिस प्रकार राजकार्य में बाधा पड़ी है, उसी प्रकार प्रजा की शान्ति में भी बाधा पड़ी है। यह दो प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों का संघात है आर्य, हम लोग तो निमित्त बने हैं। धनदत्त के गुरु भदन्त वसुभूति बौद्ध धर्म को जिताकर ही छोड़ेंगे और वसूभूति के प्रतिभट परमस्मार्त आचार्य भेदातिथि, जो आज की सभा के गुप्त सूत्रधार भी थे–सनातन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करके ही दम लेंगे। मनुष्य जाये चूल्हे भाड़ में, इन्हें अपने धर्ममत का डिण्डिम पीटना है। एक की पीठ पर राज्यशक्ति है और दूसरे की हथेली में प्रजा-विद्रोह। विरतीव्रज का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानों संसार की सबसे बड़ी घटना है। इस जय पराजय की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य का चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाए। परन्तु मैं पूछती हूँ आर्य, इसमें किसका पक्ष गृहणीय है? यह सब थोड़े से पण्डितमानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि है जिसमें राजा जल रहा है, प्रजा जल रही है और वह समय आ गया है, जब समस्त आर्यावर्त अपने तरुणों, बालकों, अनाथों, और वृद्धों के साथ जलकर भस्म हो जाएगा। जिस प्रजा ने विद्रोह किया है, वह अज्ञ है, अन्ध है, अभाजन है।"

सत्य भी है जब धर्म राजनीति के हाथों का खिलौना बन जाता है तो परिणाम समाज में अव्यवस्था पैदा होना ही रह जाता है।

जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है पूरा उपन्यास भक्तिधारा में बह रहा है। प्रत्येक पात्र चाहे वह वराह की पूजा में व्यस्त हो, चाहे नारायण की अथवा त्रिपुरभैरवी की साधना में, पूर्णतः निःशेष भाव से भक्ति की धारा में बह रहा है। भट्ट कह उठता है कि "जिसे मैं अन्य समझ रहा था, वह निपुणिका की दृष्टि में महावाराह का प्रसाद था।" भट्टिनी कह उठती है कि "देखो भट्ट महावाराह की ही मुझे आशा है। महावराह ने ही तुम्हें मेरे पास भेजा है। महावराह ही चाहेंगे तो वे मेरे पिता से भी मुझे मिलवा देंगे। उनकी ही इच्छा प्रधान है, हम तुम तो यन्त्र मात्र हैं। वे जो चाहेंगे वही होगा। हँसी रुलाई सब उन्हीं का प्रसाद है। मनुष्य क्या कर सकता है?" तो दूसरी ओर सुचरिता सब कुछ को नारायण का प्रसाद मानकर स्वीकार करती है। तान्त्रिक अघोरभैरव त्रिपुरभैरव की माया कहकर उसमें विश्वास करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास का मुख्य केन्द्रबिन्दु नारी की स्थिति है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मानना है कि नारियों का उद्धार करना और उन्हें उचित स्थान दिलाना **बाणभट्ट की आत्मकथा** की मुख्य समस्या है। नारी पात्रों में से भट्टिनी और महामाया अन्तःपुर से त्रस्त महिलाएँ हैं तो निपुणिका विधवा होने के कारण, सुचरिता यौवनावस्था में परित्यक्ता होने के कारण एवं मदनश्री और चारुस्मिता एवं विधूतपांगा वेश्या होने के कारण समाज से त्रस्त हैं। इनको उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न ही लेखक का उद्देश्य है। कीचड़ में फँसी एवं अपहृत नारी धर्म को ही उपन्यास में उठाया गया है। नारी के प्रति आचार्य द्विवेदी जी के दिल में भी श्रद्धा की भावना है। फलतः वे बाणभट्ट से कहलवा देते हैं कि "साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा समझा जाता है उनमें एक दबी शक्ति भी होती है यह बात लोग भूल जाते है। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देवमन्दिर के समान पवित्र मानता हूँ।" उसे दुःख इस बात का है कि सृष्टि की अनमोल कृति क्या इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी। जब निपुणिका भट्ट को देवमन्दिर के उद्धार के लिए कहती है तो वह तुरन्त बिना किसी झिझक के तैयार हो जाता है। जब निपुणिका कहती है कि कुछ अनुचित भी हो सकता है तो भट्ट कह उठता है कि "साधारणतः लोग जिस उचित अनुचित के बँधे रास्ते में सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता, मैं अपनी बुद्धि से अनुचित उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोहवश और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।" भट्ट यहाँ आम आदमी से परे हटकर सोचता है। उसका उचित अनुचित का मापदण्ड कुछ भिन्न है। फिर भी एक अवशता भट्ट को यह कहने को बाध्य कर देती है कि- "क्या संसार की बहूमूल्य वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी? मेरा मन कहता है जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुष दर्प का प्राचुर्य रहेगा तब तक यह होता रहेगा।" इसी बात को कुछ भिन्न ढंग से भट्टिनी महामाया से कहती है कि "नारी का जन्म क्या विघ्न रूप में हुआ है, माता!" तो महामाया कहती है कि "इतिहास तो यही कहता है रे! पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति साधना के अतुलनीय आश्रय नारी की एक वक्रिम दृष्टि में ही तो ढ़ह गये हैं? क्या यह सृष्टि सत्यानासिनी नहीं है।" तो दूसरी ओर भट्टिनी कह उठती है कि "भट्ट, मेरा यह शरीर केवल भार नहीं है- यह उससे बड़ा है। विधाता ने जब उसे बनाया था, तो उनका उद्देश्य मुझे दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार ही किया है।"

नारी को सार्थकता को लेकर उपन्यास में अनेक प्रश्न उभर कर आये हैं। उसकी सार्थकता को स्पष्ट करते हुए महामाया कहती है कि "नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य संगठन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्यव्यवस्था सब फेनबुद्बुद् की भाँति विलुप्त हो जायेंगे क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है। यह सारा ठाठबाठ संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।" महामाया के उक्त कथन पर भट्टिनी गम्भीरता से विचार करती है और वह इस परिणाम पर पहुँचती है कि महिलाओं को सेना में भरती होने या राजगद्दी पा लेने पर तो अशान्ति दूर हो जायेगी। पर यहाँ महामाया स्पष्ट करती है कि "नारी से अर्थ पिण्ड नारी से न होकर नारीतत्त्व से व पुरुष का पुरुष-तत्त्व से है।" वह आगे कहती है कि परम शिव के दो तत्त्व एक साथ प्रकट हुए– शिव और शक्ति। शिव विधि रूप, शक्ति निषेध रूप। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है, और शक्ति का नारी। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है वहाँ नारी है। जहाँ कहीं सुख दुःख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलितद्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वहीं नारी तत्त्व है। नारी निषेध रूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आनन्द लुटाने के लिए आती है। आज के धर्म कर्म के आयोजन, सैन्य संगठन और राज्यविस्तार विधि रूप हैं। यही कारण है कि वे एक कटाक्ष पर ढह जाते हैं; एक स्मित पर बिक जाते हैं।

पुरुष और स्त्री का भेद नहीं भूलने पर जोर देते हुए दूसरी ओर अघोर-भैरव जोर देते हैं। मैं और तुम के भेद को समाप्त करने पर जोर देते हुए वे कहते हैं कि "शक्ति के बिना, नैराम्य भावना की प्रवृत्ति के बिना, शक्ति के अभाव में साधना सम्भव नहीं है।"

उपन्यास में यथास्थान नैतिकता और धर्माचार पर भी चर्चा की गयी है। स्वयं बाण उचित-अनुचित को भिन्न प्रकार से सोचते हैं। वे स्त्री शरीर को देवमन्दिर मानकर चलते हैं पर निपुणिका धिक्कार उठती है कि "भट्ट, एक दिन तो तुमने समझा होता कि यह हाडमाँस का शरीर है ईंट चूने का नहीं।" पर बाण को स्त्री-शरीर के प्रति श्रद्धा ही उसे गौरव का पात्र बनाती है। जब निपुणिका नाट्यमण्डली में से भागकर मदनश्री के पास संयोगवश पहुँचती है तो वह आरम्भ में निपुणिका को भी अभिसार यात्रा पर निकली हुई मानती है। और निपुणिका को भट्ट के प्रति कहती है कि "तेरे भट्ट जैसे हजारों लोग यहाँ तलवे चाटने आया करते हैं।" पर जब मदनश्री भट्ट को विरदर्पणिका देकर लौटती है तो उसकी धारणा बालू ढेर के समान ढह जाती है और निपुणका को कह उठती है कि "भट्ट आदमी नहीं है हला!" "वह देवता है सखी।"

ऐसा नहीं है कि उपन्यास कहीं कोई दिशा नहीं दे रहा हो। लेखक जब-जब भी कर्तव्यबोध के जाल में फँस जाता है, तब-तब ही अघोरभैरव जैसे पात्र उभर आते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यही कारण है कि त्रयोदश उच्छ्वास में सुचरिता कह उठती है कि "मानव देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है, यह नारायण का पवित्र मन्दिर है। पहले इस बात को समझ गई होती तो इतना परिताप नहीं भोगना पड़ता। गुरू ने मुझे अब यह रहस्य समझा दिया है। मैं जिसे अपने जीवन का सबसे बड़ा कलुष समझती थी वही मेरा बड़ा सत्य है। क्योंकि क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्य को देवता समझ लेता आर्य ?" और यही कारण है कि सुचरिता मानव शरीर को नरक का दुःख साधन भी नहीं मानती है। वह बाण का उद्‌बोधन करती है कि यह प्रमाद है आर्य कि यह शरीर नरक का साधन है। यही वैकुण्ठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवनमण्डल उद्‌भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्‌गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और कोई प्रयोजन क्या हो सकता है, आर्य ! हयगुरो, यह बात मुझे पहले क्यों नहीं मालूम हुई ?"

प्रश्न यह उभरता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसे कथा-पात्र का चयन क्यों किया ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, उपन्यास में समाज की जो व्यवस्था जिसमें असद्‌गुणों का बोलबाला है, वे आज के प्रजातान्त्रिक समाज में भी ठीक उसी प्रकार व्याप्त है। आज भी राजाओं के अन्तःपुर नहीं तो नेताओं के अन्तःपुर अवश्य ऐसी कन्याओं से भरे पड़े हैं, आज भी धर्म चेतना का केन्द्र न बनकर राजनीति का खिलौना बना हुआ है। मानव–अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा है, पग-पग पर नाना प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हैं। न्याय के स्थान का अन्याय द्वारा, धर्म का अधर्म द्वारा, सत्य का असत्य द्वारा अतिक्रमण किया हुआ है। ये सत्य जो उपन्यास में उभारे गये हैं वे हर्षकालीन समाज के सत्य नहीं हैं वे आज के सत्य भी हैं और यही कारण है कि उपसंहार में लेखक कह उठता है कि "नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मकता व्याप्त है।" उपन्यास में उपरोक्त, समस्याओं का समाधान भी सोचा गया है। महायाया भैरवी का उद्‌बोधन राजशक्ति व जनशक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करने वाला है। वहीं पर प्रमुख कारण जो समाज में असद्‌गुणों को उत्पन्न करने में अहम् भूमिका उठाता है उस पर प्रतिक्रिया करते हुए उन्नीसवें उच्छवास में बाभ्रव्य से कहलवाया गया है कि "जितने बन्धे बन्धाये नियम और आचार हैं उनमें धर्म अँटता नहीं है। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिन्हें धर्म समझता रहा वे सब अवस्थाओं में धर्म ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। और अधर्म अधर्म नहीं थे। योगी ने बताया था कि जिस दिन तू धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझ लेगा उसी दिन त्रिपुरभैरवी का साक्षात्कार पा लेगा।" यह सत्य भी है कि धर्म जब नियमों और आचारों से जकड़ जाता है तो फिर उससे सत्यासत्य का ज्ञान पाना असंभव ही हो जाता है। कारण, कारण स्पष्ट है। नियम और आचार धर्म को एक दायरे में बाँधने का प्रयत्न करते हैं जब कि धर्म का मूलाधार मानव कल्याण है। धर्म के लिए तर्क तक को नकारा गया है और उपन्यास में आचार्य सुगतभद्र की बात सामनेर से कहलवाई गई है कि "तर्क वस्तु ही गलत है। भगवान् ने जीवन में करुणा को प्रतिष्ठित किया है। जिसमें वह करुणा नहीं है वह सौगत नहीं है। वह सद्धर्म का सत्यानाश करता है। तर्क से विद्वेष बढ़ता है, विद्वेष से हिंसा पनपती है और हिंसा से विध्वंस होता है।"

उपन्यास में मानवता को कहीं भी नहीं गिरने दिया गया है। ऐसा लगता है जैसे मानवता-वाद की स्थापना करना ही द्विवेदी जी का ध्येय हो। बाणभट्ट बार-बार जब भी उसे परेशानियाँ आती हैं ब्राह्मणत्व को धिक्कार उठता है पर समय जाने पर वह ब्राह्मणत्व को आदर्श के रूप में भी स्थापित करता है। कितनी बड़ी घोषणा है जब कुमार कृष्ण उत्तेजित होकर बाण से कहते है कि "दुर्विनीत ब्राह्मण बटु, तुम कल जिस व्यक्ति से भीख माँगने जा रहे थे, उससे बात करने की यही पद्धति है।" तो भट्ट का कर्तव्य बोध उससे कहलवा देता है कि कल मैं राह का भिकारी था, कल मैं स्थाण्वीश्वर में राज्य करने वाले राजवंश के कलंक से परिचित नहीं था।" जब कुमार उसे चोर की तरह अन्तःपुर में जाने के कारण डांटते हैं तो बाण कह उठता है कि "मुझे स्थाण्वीश्वर के लम्पट राजकुल के अन्तःपुर के प्रति कोई श्रद्धा नहीं है। जहाँ चौर्य, अत्याचारिता रूप वधुएँ वास करती हैं, उस अन्तःपुर की कोई मर्यादा नहीं होनी चाहिए।" एक कदम आगे बढ़कर ब्राह्मण का कर्तव्य भी बाग कुमार को बता देते हैं कि "और ब्राह्मण पर तुम्हारा क्रोध व्यर्थ है। वह न तो भिकारी होता है, न महासन्धिविग्रहिक। वह तो धर्म का व्यवस्थापक होता है।" यही कारण है कि बौद्ध दार्शनिक सुगतभद्र भी कृष्ण को बोध कराते हैं कि "क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है।" सत्य भी है जाति और धर्म से ज्यादा महत्व मनुष्यता का है। वैसे भी ब्राह्मण का मानव कल्याणार्थ आशीर्वाद देना तो धर्म है, पेशा है। पर इसी ब्राह्मणत्व में जब कलुष पैदा हो जाते हैं, जब वह अपने अन्तर को दबा लेता है, सत्य को छुपा लेता है और बन्धी बन्धायी, रटी रटायी भाषा बोलने लग जाता है तो बाबा अघोरभैरव उसे न जाने कितने बिरुद प्रदान कर देते हैं। बाण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्राह्मण है और वह डरता है इसी कारण बाबा ब्राह्मण जाति को डरपोक कह बैठते हैं, झूठी बता देते हैं। सभी शास्त्रों को पाखण्ड कह बैठते हैं। ऐसा क्यों कहते हैं ? कारण स्पष्ट है धर्म की स्थापना ब्राह्मण का कर्तव्य है, मानव कल्याण उसका ध्येय है। यदि वह बन्धीबन्धायी भाषा में, आचारों फँस जायेगा तो सत्यासत्य का भान नहीं कर पायेगा। यही कारण है कि अघोरभैरव क्रान्तिकारी घोषणा कर बैठते हैं "कि इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में देवता हैं। देवता ने तुझे जिस रूप में सबसे अधिक मोहित किया है उसी की पूजा कर। वही तेरा सत्य है।" और सत्य स्थापनार्थ "किसी से भी न ड़रना, गुरू से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।" क्योंकि यदि ड़र गया तो फिर सत्य की स्थापना, न्याय की खोज और सद्गुणों की स्थापना नहीं हो पायेगी। ड़र हमें एक सीमा में बान्ध देता है और सीमा में बन्ध जाने पर जो पूर्वाग्रह हमारे मनस् पर बैठ जाते हैं वे हमें उससे परे नहीं सोचने देते। परिणामतः निर्णय पूर्वाग्रह ग्रसित रहता है। और फिर सत्य तो अविभाज्य होता है। यदि सत्य है और मेरा सत्य है तो वह पूरे संसार का सत्य होगा। पूर्वाग्रहित व स्वतंत्र विचार सामर्थ्य के अभाव में ही मनुष्य नाना कलुषों से ग्रसित है। बाण स्वयं विचार कर बैठता है कि क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है ? संसार में देखने को तो ऐसा ही मिलता है क्योंकि साधारण मनुष्य जिस कार्य के लिए लाँछित होता है उसी कार्य के लिये बड़े लोग सम्मानित किये जाते है। ऐसा क्यों होता हैं ? पर यह स्पष्ट है कि यदि सत्य विभाज्य है तो फिर वह सत्य नहीं है।

इन्हीं सब पर विचार करते हुए आचार्य द्विवेदी जी एक कदम आगे बढ़कर कह उठते है कि चूंकि यह स्थिति सारे संसार में ही व्याप्त है, अतः मानवमात्र के कल्याण के लिए, मानव-धर्म के स्थापनार्थ नित्यप्रति के सत्तामोह के झगड़ों को मिटाने के लिए नर लोक तक व्याप्त रागात्मकता का सन्धान पाने के लिए ऊँची भारतीय साधना को अन्य स्थानों पर पहुँचाने व अपने यहाँ व्याप्त निकृष्ट सामाजिक जटिलता हटाने पर जोर देते हैं। क्योंकि आज भी एक जाति दूसरे को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है। इससे बढ़कर संसार में अशांति का क्या कारण हो सकता हैं ? और इस अशांति को मिटाने के लिए एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम् कराकर, मोहवश, रागवश, लोभवश, द्वेषवश पशुता की ओर बढ़ती मानवता को संवेदनशील और कोमल बनाया जा सकता है। पर वास्तव में हम लोग जो वास्तव है उसे दबाने एवं जो अवास्तव है उसका आचरण करने में लगे हुए हैं। जब तक हम इस रास्ते से परे नहीं हटेंगे, पीड़ित मानवता का उद्धार सम्भव नहीं लगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अन्य बात जिसे भी मैं स्पष्ट करना आवश्यक समझ रहा हूँ वह यह कि द्विवेदी जी ने " महावाराह " को ही प्रमुख आराध्य के रूप से क्यों उभारा है ? जहाँ तक मेरा मानना है व द्विवेदी स्वयं भी कहते हैं कि "सारा उपन्यास सृष्टि की अनमोल कृति " नारी " की स्थिति का आकलन है।" स्त्री अर्थात् नारी अर्थात् देव मन्दिर। महावराह भी पृथ्वी का उद्धार करने के लिए अवतरित हुए थे और पृथ्वी भी स्त्री ही है और स्त्री भी पृथ्वी की तरह त्रस्त है। स्त्री, जिसका संस्पर्श पाये बिना धर्म, कर्म, ज्ञान, विज्ञान, शान्ति और सौभाग्य मनोहर नहीं होते, नारी देह वह स्पर्श-मणी है जो प्रत्येक ईट पत्थर को सोना भी बना सकता है, वह ही सबसे ज्यादा अपमानित है और उसका उद्धार " महावराह " के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ?

– राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय नीति-संहिता के आयाम

भारतीय नीति-संहिता पर ऐतिहासिक दृष्टिपात करने पर इस बात का पता चलता है कि हिन्दु-नीति संहिता का इतिहास दो से लेकर तीन हजार वर्ष तक की अवधी का है। इसका महत्त्व अपरिमेय है क्योंकि वैदेशिक विचारों के प्रभाव से मुक्त, नीति-संहिता की किसी भी अन्य व्यवस्था की अपेक्षा यह नीति-संहिता की किसी भी अन्य व्यवस्था की अपेक्षा यह नीति-संहिता एक अत्यंत दीर्घ काल की अविच्छिन्नपरम्परा प्रस्तुत करती है। १५०० ई. पू. से १५०० ईसवी तक नीति-संहिता का विकास उसका अपना रहा है। विदेशियों ने इस पर तब तक कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं डाला जब तक विजेता लोग अपने साथ नैतिक शिक्षाओं और पश्चिम से गृहीत विधि-संहिताओं को नहीं लाये। प्राचीन हिन्दु साहित्य जो ईसा से कम-से-कम दो हजार वर्ष पूर्व का है नीति-संहिता के ज्ञान से भरपूर है। इस नीति-संहिता की, भारत की सह-जातियों से अर्थात् फारस और जर्मनी से तुलना करने पर तथा दण्ड-संहिता को नैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के रूप में देखने पर यह मानना कतिरञ्जना न होगी कि भारतीय नैतिकनियम ईसा पूर्व दूसरी सहस्रब्दी के हैं। दूसरे दौर पर महमूद गजनवी की १००२ ई. विजय के समय मुस्लिम-प्रभाव बहुत कम मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। नैतिक दृष्टिकोन से उसकी महत्ता १५०० ई. तक प्रतिफलित नहीं हुई जब तक कि चिश्ती सूफियों ने मुस्लिम प्रभाव को प्राचीन चिन्तनधारा से समन्वित नहीं कर दिया।

वस्तुतः भारतीय नीति-संहिता एक अत्यन्त जटिल संरचना है और उसका स्वरूप व्यवस्थित और क्रमबद्ध न होकर पारिवारिक, धार्मिक, राजनैतिक व नैतिक सामाजिक जीवन की आचार संहिताओं में पाया जाता है। दूसरे, नैतिक वचनों का आनन्द हिन्दुओं के लिए जितना आकर्षक रहा है उतना उसका आचरण में दृढ़ता पूर्वक पालन सम्भव न था क्योंकि नैतिक सिद्धान्त अत्यन्त जटिल, कठोर व उच्च कोटि के थे।

उपनिषद्, जो वैदिक चिन्तन के परवर्ती विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं, मुख्य रूप से तत्ववादी प्रश्नों पर विचार करते हैं। उनमें जीवन के अर्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या के सम्बन्ध में निबन्धों की एक शृंखला मिलती है। ये भाषण जैसे लगते हैं और इनमें उत्तरकालीन दार्शनिक व्यवस्थाओं के अंकुर एक अव्यवस्थित क्रम में पाये जाते हैं। अस्तित्व की समस्या इनके लिए बुनियादी समस्या थी जबकि लौकिक आचरण की समस्या गौण। नैतिक जीवन आत्मा के उच्चतर जीवन के लिए एक तैयारी मात्र था। इससे ज्ञात होता है कि दार्शनिक चिंतन, नैतिक चिंतन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि नीति-संहिता की विषय-वस्तु अनिवार्य रूप से जीवन व आत्मा के चिंतन में समाहित हो जाती है। अर्थात् शास्त्रीय नीति-संहिता के विषय में उपनिषदों में कोई व्यवस्थित विचार-विमर्श नहीं किया गया है और यह ध्यान देने योग्य बात है कि परवर्ती साहित्य में भी इस विषय के विशिष्ट स्वरूप के सम्बन्ध में पृथक् दृष्टिकोन नहीं अपनाया गया। यद्यपि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि इतिहास-पुराण-काव्य की भाँति नीतिशास्त्र भी एक ऐसा विषय था जिसपर पर्याप्त वार्ताएँ होती थीं। किन्तु उसे अन्य रुचिकर विषयों से अलग करके नहीं देखा गया। इसलिए उपनिषदों में नीति के व्यवस्थित विश्लेषण की आशा नहीं करनी चाहिए। हाँ, उनमें नैतिक शिक्षाएँ अवश्य मिलती हैं, जो गम्भीर समस्याओं का स्पर्श करती जान पड़ती हैं।[२]

प्राचीन ब्राह्मण साहित्य में कहा गया है कि जीवन एक दीर्घ बलिदान है। यह आत्मिकता को उत्सर्ग की गई एक सेवा है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्राचीन ईसाई-मत की यह शिक्षा कि "पड़ोसी को अपने समान प्यार करो" ब्राह्मणों के इस आदेश में प्रतिबिम्बित होती है कि "किसी प्राणी को चोट मत पहुँचाओ" क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वयं के आत्मा के समान है और समस्त प्राणी ईश्वर के साथ एकात्म हैं। भारतीय चिंतन में चित्तवृत्तियों के निरोध को अमरता की दिशा में पहला पग माना गया है। प्रचलित दर्शन की भाषा में यह मानसिक और भावात्मक प्रकृति का शुद्धीकरण है, क्योंकि इसी के द्वारा अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, जिसमें जीव परमसत् का भागीदार बन जाता है।

सत् के प्रतिपक्षी असत् का उद्गम ब्राह्मण साहित्य में "अज्ञान" और बौद्ध साहित्य में "काम" को बताया गया है। दोनो में स्पष्ट रूप से भेद करने वाले संकेत नहीं हैं क्योंकि दोनों ही विचार पद्धतियाँ इस बात को स्वीकार करती हैं कि जीव के वर्तमान स्वरूप पर उन असंख्य जन्मों का प्रभाव पड़ता है जिनसे होकर वह गुजरा है और पूर्वजन्म के कर्मों का फल पाता है।

नीति-संहिता सामाजिक व्यवहार का तार्किक परिणाम होने के कारण एक ही प्रकार के सामाजिक एवं बौद्धिक स्तर पर बहुत कम ही परिवर्तित होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सामाजिक परिवर्तन के प्रसार तथा बौद्धिक धरातल के ऊँचा उठने के साथ-साथ उसी स्तर की ओर उन्मुख होती है। हिन्दू, कन्फ्यूशियसवादी, हिब्रू आदि की नैतिकता की पारम्परिक तुलना करने से यह प्रकट होता है कि यद्यपि एक राष्ट्र या एक विचारधारा एक बात पर दूसरी विचार धारा या राष्ट्र अधिक जोर डालती है जबकि तत्त्वतः विषय-वस्तु सबमें सामान्य है। उदाहरणार्थ, हिब्रू के दस आदेश झूठ बोलने का निषेध नहीं करते (केवल झूठी गवाही का निषेध किया है) किन्तु सग्रहशीलता (लोभ) का निषेध किया गया है। हिन्दु संहिताओं में पारिवारिक प्रेम को कर्तव्य के रूप में विशेष रूप से उभारा गया; लेकिन ईर्ष्या के निषेध की आज्ञा है। चीनी नैतिकता में भी पारिवारिक प्रेम लगभग आधारभूमि है। रोमन नैतिकता में न्याय को इसलिए सर्वोच्च स्थान दिया गया कि राष्ट्रीय चरित्र कठोर और न्यायप्रिय था, न कि बौद्धों के अर्थ में "पियदस्सी"। किन्तु इसके विपरीत हिन्दुओं को न्याय इसलिए प्रिय था कि वे स्नेही स्वभाव वाले और संवेदनशील थे। जिन राष्ट्रों में साहित्यिक विकास के अभिन्न स्तरों को सुरक्षित रखा गया है, उनमें नैतिक नियमों का सामाजिक-विकास में तदनुरूप बिम्ब आसानी से देखा जा सकता है। जैसे शौर्य ऋग्वेद-काल का एक विशेष गुण है, लेकिन परवर्ती गुणों में इसका विशेष गुण के रूप में उल्लेख नहीं हुआ। वह केवल योद्धाओं के गुण के रूप में बना रहा। सामाजिक विकास से बर्बर नैतिकता में कमी हुई, फलतः धर्म में सुधार हुआ और धर्म ने विधि को समर्थन देकर नैतिकता में अधिक प्राञ्जलता उपस्थित की।

जुस जेतियम के प्रपेता प्रमुख न्यायशास्त्री लीस्त का मत है कि– आर्य लोग अपने साथ युरोपीय पवित्र विधि-संहिता लेकर प्रविष्ट हुए जिसका स्वरूप इस प्रकार था– "तू देवताओं का सम्मान कर" "तू अपने माता-पिता का सम्मान कर" "तू अपने देश का सम्मान कर" "तू अतिथि का सम्मान कर" (ऐसा व्यक्ति जो शरण चाह रहा हो)। उनके मत में हिन्दुओं ने शीघ्र ही इसमें पाँच नियम और भी जोड़ दिये। यथा– "तू स्वयं को शुद्ध रखेगा" "तू अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखेगा" (उद्वेग और अनादर के द्वारा पहुँचाई गई चोट भी इसी में सम्मिलित है) "तू हिंसा नहीं करेगा" "तू चोरी नहीं करेगा" "तू असत्य नहीं बोलेगा"। लीस्त ने जिस रूप में ये नौ नियम प्रस्तुत किये हैं और उनकी हिब्रू के दस आदेशों से तुलना की है, वह उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार की तुलना यह मानकर चलती है कि इन आदेशों का प्रपेता ईश्वर रहा होगा। भारतीय नीति-संहिता में इस प्रकार का आदेश कभी नहीं था। समस्त विधियाँ और नैतिक नियम सामान्य उपदेशों के रूप में हैं। जहाँ तक लीस्त के द्वारा प्रस्तुत नियमों के इतिहास में एक विशेष क्रम का प्रश्न है यह सम्भव है कि हत्या, चोरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निद्रा के विरुद्ध नैतिक भावना यद्यपि मूल क्रमावली में नहीं है पर वह "तू अपने देश को प्यार कर" की भावना से कहीं अधिक पुरातन है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, देश-प्रेम का अर्थ केवल प्राचीन काल के चरित्र नायकों का सम्मान था। नैतिक गुणों के विकास में किसी ऐतिहासिक क्रमबद्धता या पूर्वापरता खोजने की चेष्टा करना गलत है। मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही हिंसा, चोरी, अनृत भाषण और असहिष्णु व्यवहार, मित्रों को चोट पहुँचाना और दूसरे प्रकार का छलावा, आदि को गर्हित बताया गया है। सम्भवतः आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व ही उनके याज्ञिक, शुचिता एवं सामान्य व्यवहार तथा नियमों के उल्लंघन के लिए प्रायश्चित्त–स्वरूप विधि–संहिता थी क्योंकि वे ऐक्य, समन्वय एवं अन्य गुणों की महत्ता को समझते थे। यह भी विदित ही है कि छठी-सातवीं शती ई. पू. ही नैतिक गुणों का स्वरूप निश्चित हो चुका था, जिन्हें आत्म–निग्रह के शीर्षक से जाना जा सकता है। व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि जीवन से बुराईयों को दूर करने के लिए स्वयं को प्रशिक्षित करे। जिस प्रकार विधि के उल्लंघन से वैधानिक दण्ड मिलते थे उसी प्रकार आध्यात्मिक नियमों के उल्लंघन से प्रायश्चित्त का विधान था।

उपनिषद् और गीता में वर्णित नैतिकता इस ईश्वरीय नियम को अभिव्यक्ति देती है कि यदि हम देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं या देवत्व के साथ एकत्व प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें नैतिक होना चाहिए। लेकिन बाद के दर्शनों में हमें दो गतिविधियाँ दिखाई पड़ती हैं, एक तो आस्तिक भावना से परिपूर्ण है जो नैतिकता को धर्म का आधार बनाती है और दूसरी नैतिकता को ईश्वर की धारणा से स्वतन्त्र कर एकान्त रूप से उस पर विचार प्राप्त करती है। ये दोनों गतिविधियाँ निश्चय ही मानववादी, व्यवहारवादी और धर्मनिरपेक्ष हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमण करती आई हैं।

वेदों की नीति जीवन की चारसूत्रीय योजना है। चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रम और पुरुषार्थ चतुष्टय, इन सभी का एक छोर व्यक्तिगत निष्ठा से व्यष्टि रूप से संलग्न है तो दूसरा समष्टि रूप में सम्पूर्ण मानव समाज से। मानव के आध्यात्मिक उत्थान के सन्दर्भ में औपनिषद्–काल भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमुखतया सृजन का काल था। वेदों ने भी यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया था कि सारे नैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों का उद्देश्य आध्यात्मिक गुणों का संचय करना है।[४] स्मृतियों ने भी जीवन की चार अवस्थाओं को आश्रम के रूप में संघटित किया–विद्यार्थी जीवन (ब्रह्मचर्याश्रम) गार्हस्थ्य जीवन (गृहस्थाश्रम) सांसारिकता से अवकाश का जीवन (वानप्रस्थाश्रम) और संसार से त्याग एवं मोक्ष प्राप्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए प्रयत्न वाला जीवन (संन्यासाश्रम)। जीवन की प्रथम तीन अवस्थाएँ अन्तिम अवस्था की तैयारी की अवस्थाएँ हैं। विद्यार्थी-जीवन से व्यक्ति शरीर और मस्तिष्क का कठोर अनुशासन सीखता है कि किस प्रकार अपनी इन्द्रियों और मनोवेगों पर नियन्त्रण रखा जाय और किस प्रकार स्वयं को बाह्य एवं आन्तरिक रूप से शुद्ध किया जाय। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ उसे ये सारी बातें जीवन के अन्य आश्रमों में पालन करनी पड़ती हैं तब तक जब तक कि वह स्वयं को सांसारिकता से मुक्ति के लिए तैयार नहीं कर लेता। जीवन की अन्तिम अवस्था में त्याग की महत्ता उपनिषदों के आदर्शों को एक सीमा तक यन्त्रवत् स्वीकार कर लेने के बाद स्मृतियों ने भौतिक जीवन के वास्तविक सुख पर जोर दिया है जो ब्राह्मणवाद की शिक्षाओं के अनुरूप है। इसके अनुरूप ही गृहस्थ जीवन सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि जीवन की अन्य तीन अवस्थाओं का पोषण करता है।[५] गृहस्थ के पाँच कर्तव्य पंच-यज्ञ बताये गये हैं यथा– धर्मशास्त्र की शिक्षा, तर्पण, मनुष्यों और पशुओं को भोजन एवं अतिथ्य के कर्तव्यों का पालन, ये पाँच कर्तव्य गृहस्थ को पवित्र करते हैं और उसे आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं। दानशीलता, आत्मनियन्त्रण, अचौर्य, अहिंसा, मनोवेगों का दमन इन सबका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया है, क्योंकि ये आत्मिक सुख देते हैं, तथा समाज के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इस प्रकार दो मुख्य कर्तव्य हैं जिनका पालन प्रत्येक वर्णपद और आश्रम वाले उन व्यक्तियों को करना चाहिए जो अपना नैतिक उत्थान चाहते हैं और दूसरे वे कर्तव्य हैं जो किसी विशेष जाति या आश्रम के लोगों को पालन करने हैं। पहल को सामान्य-धर्म कहते हैं और दूसरे को वर्णाश्रम धर्म। जब सामान्य धर्म (अर्थात् सार्वभौम धर्म) और वर्णाश्रम-धर्म के बीच संघर्ष उपस्थित हो तो उस समय वर्णाश्रम धर्म का प्राधान्य होगा यथा क्षत्रिय युद्ध के समय अहिंसा के सिद्धान्त को तोड़ देगा। महाभारत और गीता दोनों में ही इस बात पर बल दिया गया है। इस नियम के कुछ अपवाद भी मिल सकते हैं। जाति अथवा कल्याण की एक सशक्त भावना है जो वेद के अनुरूप है। इस प्रकार स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में हम दो धाराओं का समन्वय पाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित धार्मिक-कर्मकाण्ड का प्राधान्य है जिनमें से बहुत-सी रीतियाँ निरर्थक हैं और महत्त्वहीन जान पड़ती हैं। अनुष्ठानात्मक शुचिता, नैतिक शुचिता का स्थान ले सकती है, इसका खण्डन प्राचीन सूत्रकारों ने किया है। उपनिषदों के समसामायिक गौतम मुनि ने यह स्पष्ट–रूप से कहा है कि समस्त अनुष्ठान उस व्यक्ति की आत्मा को नहीं बचा सकते जिसमें नैतिक गुण नहीं हैं। एक परवर्ती धर्म सूत्रकार का कहना है "क्षमाशीलता से व्यक्ति पवित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है अनुष्ठान से नहीं। आर्ष भावना आत्मा को शुद्ध करती है न कि शुद्धीकरण का औपचारिक अनुष्ठान।"[६] ब्राह्मण ग्रन्थों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों में विभिन्न लोगों के बीच रीति-रिवाजों की महत्ता भी बताई गई है क्योंकि वे उस वर्ग-विशेष के लिए उपयोगी हैं। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न स्मृतियों के प्रचलन से यह प्रमाणित होता है कि स्मृतियाँ जीवन के सार्थक दृष्टिकोण से सामाजिक और वैधानिक समस्याओं तथा सभी वर्गों के कर्तव्यों का विस्तार से विवेचन करती ह उनमें अपेक्षाकृत लचीलापन लिए हुए सामाजिक निर्देशों की एक निश्चित योजना मिलती है जो वैदिक विधानों को सर्वमान्य विधान मानकर चलती है। लचीलेपन के इस दृष्टिकोण को सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप महाभारत में भी स्वीकार किया गया है। भारतीय चिन्तन की लगभग सभी पद्धतियों में कर्म, पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्त जोड़े गये हैं इसलिए पुरुषार्थ का युग के अनुरूप उद्घोष करने के अनन्तर भी हमें औपनिषदिक त्याग और सांसारिक वस्तुओं की निरर्थकता की ध्वनि यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है।

भारतीय परम्परा में नैतिकता की दो धाराएँ मिलती हैं जिनमें एक को अभ्युदय और दूसरी को निःश्रेयस कहा जाता है। दोनों का उद्गम एक है और सामाजिक जीवन-सागर में अन्ततः दोनों का संगम होता है। जब जीवन की धारणा विवेचनीय बनती है तब भारतीय चिन्तन उसे एक शरीर तक सीमित नहीं मानता क्योंकि कर्मफलों के भोग की व्यवस्था पुनर्जन्म के बिना व्याख्या नहीं पा सकती। इस सामान्य सिद्धान्त का अपवाद चार्वाक को छोड़कर और कहीं नहीं देखा जाता। बौद्धों के क्षणभङ्गवाद अथवा जैनों के पर्यायवाद में पुनर्जन्म का उतना ही महत्त्व है जितना कि वैदिकों के निर्विकार आत्मवाद में। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यावर्त ने जिस आर्य जीवन-संहिता की स्थापना की वह पुनर्जन्म को ऋषियों के प्रत्यक्ष ज्ञान की उपज मानती थी। यही कारण है कि स्मृतियों में नैतिक जीवनचर्या पर जितना बल दिया गया है उतना संन्यास अथवा मोक्षमार्ग पर नहीं। आगे चलकर बौद्धों और जैनों के प्रभाव से वैदिक-धारा में भी श्रमण-संस्कृति का उच्छलन देखा जाता है, परन्तु श्रमण को सामाजिक जीवनचर्या से बाहर का जीव माना जाता रहा है। इस प्रकार नैतिक-विधि संहिता ही जीवन को गति देती रही है। संसार को पाप की उपज यहाँ कभी नहीं माना गया। अतः अहिंसा, सत्य आदि जीवन-मूल्यों का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। तैत्तिरीय-उपनिषद् की शिक्षावल्ली निःश्रेयस् का उपदेश देने से पहले आचार-संहिता का विस्तृत उपदेश करती है। उपनिषदों में नैतिक व्यवहार को उच्चतर सत्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन की पूर्व-पीठिका माना गया है। सदाचरण के वे सभी नियम भावी दार्शनिकों पर भी लागू होते थे जो एक सामान्य पुरोहित को सिखाये जाते थे।

सारांश यह कि नीति-संहिता को यहाँ जीवन का स्वरूप मानकर लिया गया है और प्राकृतिक नियमावली का अनुसन्धान करके कार्यान्वित किया गया है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर– ४७३ ००३ (म. प्र)

– सुरेन्द्रसिंह नेगी

सन्दर्भ

१. स्नैथ एच. ई. (सं.) १९२७ "**इवोल्यूशन् ऑफ इथिक्स**", येल यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १०१
२. हॉपकिन्स ई. डब्लु. १९२४, "**एथिक्स ऑफ इण्डिया**", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. ६३
३. स्नैथ एच. ई. (सं.) "**इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया**" पृ. १३८
४. मूर्ति के. एस. १९६५ "**इण्डियन स्पिरिट**" आन्ध्र युनिवर्सिटी प्रेस; पृ. ८९–१०२
५. **मनुस्मृति** ६/८९ निर्णय सागर प्रेस
६. **महाभारत**, शान्ति पर्व २६८/११ "बंगवासी संस्करण", कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणता पर एयर मत : एक समीक्षा

कारण उसे कहते हैं जो किसी घटना को पैदा करे। कारणता के इस संप्रत्यय (Concept) के साथ यह मान्यता भी जुड़ी रहती है कि यदि कोई घटना किसी घटना का कारण है तो वह उसकी पूर्वगामिनी होती है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार कारण तात्कालिक, नियत, अनौपाधिक **पूर्ववर्ती** घटना को कहते हैं। विज्ञान भी इसी मत पर आधारित है, चूँकि इसमें हमेशा भविष्य की घटना को ही पैदा करने के लिए सचेष्ट होते हैं तथा भूत को अपने कार्यक्षेत्र के वाहर मानते हैं।

पर एयर का मत है कि कारणता के प्रत्यय के साथ पूर्ववर्तिता का प्रत्यय अनिवार्यतः जुड़ा हुआ नहीं है। क्योंकि तार्किक दृष्टि से यह बात समझ में नहीं आती कि बाद की घटना क्यों नहीं पहले की घटना का कारण बन सकती है।

बहुतों को यह बात हास्यास्पद-सी लगेगी कि बाद की घटना यानी अनस्तित्ववान् घटना किसी अस्तित्ववान् घटना पर क्रिया करे (को पैदा करे)। पर अस्तित्ववान् घटना किसी ऐसी घटना पर क्रिया करे (को पैदा करे) जो अभी अनस्तित्व में हो– क्या यह भी उतना ही हास्यास्पद नहीं है? ऐसे लोगों के मुताबिक अनहुई घटना पर शक्ति का प्रयोग हो सकता है, पर अनहुई घटना शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती।

अब यदि कारणता का माने ही एक घटना का दूसरी घटना पर क्रिया करना (असर डालना) हो तो कोई वजह नहीं है कि क्यों नहीं बाद की घटना पहले की घटना का कारण बने। क्योंकि जब हम कहते हैं कि A, B का कारण है, जबकि A और B भिन्न घटनाएँ हैं, तो सामान्य प्रयोग में इसका माने होता है कि :

(i) या तो A, B की पर्याप्त उपाधि है या
(ii) A, B की अनिवार्य उपाधि है या फिर
(iii) A, B की पर्याप्त और अनिवार्य उपाधि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक कारण-कार्य संबंध में कुछ अन्य सामान्य स्थितियाँ भी होती हैं जिनका विशिष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया जाता किन्तु जिनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति में ही वह कारण-कार्य संबंध घटित होता है। अब A B की पर्याप्त उपाधि है इसका माने होता है कि A नहीं घट सकता है बिना B के भी घटे; और A B की अनिवार्य उपाधि है इसका माने होता है कि B नहीं घट सकता है बिना A के भी घटे। लेकिन इससे तो तुरंत यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि A हो पर्याप्त उपाधि B की, तो B होगी अनिवार्य उपाधि A की; और अगर A हो अनिवार्य उपाधि B की तो B होगी पर्याप्त उपाधि A की; और यदि A हो पर्याप्त तथा अनिवार्य उपाधि B की, तो B भी होगी अनिवार्य तथा पर्याप्त उपाधि A की।

सारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई पहले होनेवाली घटना बाद में आनेवाली घटना की अनिवार्य उपाधि हो तो बाद में आनेवाली घटना पहले होनेवाली घटना की पर्याप्त उपाधि होगी; यदि पूर्वगामिनी घटना अनुगामिनी घटना की पर्याप्त उपाधि हो तो अनुगामिनी घटना भी पूर्वगामिनी घटना की अनिवार्य उपाधि होगी; और यदि पूर्वगामिनो घटना अनिवार्य तथा पर्याप्त उपाधि हो अनुगामिनी घटना की तो अनुगामिनी घटना भी होगी पर्याप्त तथा अनिवार्य उपाधि पूर्वगामिनी घटना की। उदाहरण के लिए यदि हमारा अनोफिल मच्छड़ से काटा जाना हमारे मलेरिया से पीड़ित होने के लिए अनिवार्य उपाधि हो तो हमारा मलेरिया से पीड़ित होना पर्याप्त उपाधि हो जाता है हमारे अनोफिल से काटे जाने के लिए। फिर यदि हमारा संखिया खाना पर्याप्त उपाधि हो हमारे मरने के लिए तो हमारा मरना अनिवार्य उपाधि हो जाता है हमारे संखिया खाने के लिए। यह ठीक है कि यदि मैं संखिया नहीं खाता तो मैं मरता नहीं पर यह भी उतना ही सत्य है कि यदि मुझे मरना नहीं होता तो मैं संखिया खाता ही नहीं। इसी तरह यदि किसी प्रक्षेप्य (Projectile) का एक खास कोण और गति पर दीवाल से टकराना उसके एक खास कोण और गति पर लौटने का अनिवार्य तथा पर्याप्त कारण हो तो उस प्रक्षेप्य (Projectile) का उस खास कोण और गति पर लौटना भी अनिवार्य तथा पर्याप्त कारण है उसके उस खास कोण तथा गति पर दीवाल से टकराने का। यह सत्य सत्य है कि यदि वह उस रीति से नहीं टकराता तो वह उस तरह नहीं लौटता; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि यदि उसे उस तरह लौटना नहीं होता तो वह उस तरह टकराता भी नहीं।

ऐसी हालत में कोई वजह नहीं दीख पड़ती कि क्यों हम पहले होनेवाली और बाद में आनेवाली घटनाओं में से पहले होनेवाली घटना को चुन लें और इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण का नाम दें, जबकि कारणता दोनों ही दिशाओं में समान रूप से तर्कतः दिखाई देती है। एक वजह यह हो सकती है कि अनुगामिनी घटना को देखकर पूर्वगामिनी घटना के संबंध में अनुमान लगाने में हम जितना सक्षम हैं, उससे अधिक ठीक-ठीक अनुमान हम पूर्वगामिनी घटना को देखकर अनुगामिनी घटना के सम्बन्ध में कर सकते हैं। बहुकारणवाद की मान्यता इसी तथ्य को जाहिर करती है। इसी मान्यता पर यह विश्वास आधारित है कि प्रकृति में "असमान प्रारंभों से समान अंतों के उदाहरण अधिक हैं", "समान प्रारंभों से असमान अंतों" के उदाहरण कम। यह विश्वास एक नये विश्वास को जन्म देता है कि प्रकृति समय बीतने के साथ-साथ अधिक समरूप होती जा रही है। किन्तु एयर कहते हैं कि बहुकारणवाद की मान्यता कोई वैज्ञानिक और तार्किक तथ्य नहीं है, बल्कि हमारे ज्ञान की अपूर्णता का परिचायक है। और पूर्व से बाद और बाद से पूर्व के संबंध में अनुमान कर सकने में जो हमारी क्षमता में फर्क है सो सिर्फ मात्रागत है, गुणगत नहीं। ऐसी बात नहीं है कि बाद से पूर्व के संबंध में हम अनुमान कर ही नहीं सकते।

पूर्वगामिनी से अनुगामिनी घटना की दिशा में कारणता को मानने की दूसरी सबल व्याख्या यह हो सकती है कि हमारा कारणता का प्रत्यय हमारे मानवीय कर्म के अनुभव से व्युत्पन्न होता है और मानव-कर्म भविष्य की ओर निर्देशित होता है, न कि भूत की ओर। किन्तु एयर के तर्क की कसौटी पर यह बात भी टिकती नहीं। क्योंकि जब हम किसी भविष्य घटना को पैदा करने के लिए कोई कर्म करते हैं, इस कर्म को उस भविष्य घटना का पर्याप्त कारण मानते हुए, तो निश्चित है कि इस कर्म की अनिवार्य उपाधि के रूप में कुछ पूर्व घटना भी रही होगी, जिसके बिना यह कर्म संभव नहीं हो पाता। तो इसका माने यह हुआ कि यह कर्म उस भूत घटना का भी पर्याप्त कारण है– भविष्य घटना का पर्याप्त कारण होने के अतिरिक्त। इस प्रकार जब हमारे वर्तमान कर्म का भविष्य घटना और भूत घटना दोनों के साथ समान प्रकार का संबंध है तो इसे मात्र भविष्य घटना का कारण मानना यानी वर्तमान कर्म की कारणता को मात्र भविष्य की ओर निर्दिष्ट मानना कोई अर्थ नहीं रखता।

लेकिन क्या कोई बुद्धिमान व्यक्ति भूत की घटना को पैदा करने के लिए कर्म करेगा? एयर कैलविनवादियों को उपयुक्त उदाहरण के रूप में पेश करते हैं। कैलविनवादियों के लिए युक्ति ही सब कुछ है, किन्तु वह उतना ही कर्मवादी भी हैं। फिर सिद्धान्त में वह पूर्वनियतिवादी हैं। उनकी मान्यता है कि जन्म से पूर्व ही उसे ईश्वर ने या तो वरण कर रखा है या तिरस्कृत कर रखा है। जिसे वरण कर रखा है वह धर्मात्मा होगा। जिसे तिरस्कृत कर रखा है वह दुराचारी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब यदि भविष्य पूर्वनियत हो तो कर्म बेकार हो जाता है। पर वे सदाचारी बनने के लिए भी पूरे जोर शोर से प्रयत्नशील रहते हैं। कर्मठ कैलविनवादियों का तर्क शायद यह हो : यदि ईश्वर के द्वारा वरण किया गया होना अनिवार्य उपाधि हो व्यक्ति के सदाचारी होने की, तो व्यक्ति का सदाचारी होना पर्याप्त उपाधि हो जाता है ईश्वर के द्वारा उसके वरण किये गये होने की। अतः कर्म जरूरी है। यदि यही कैलविनवादियों का तर्क हो तो उसके कर्म का उद्देश्य भूत की घटना (यानी ईश्वर द्वारा चुने गये होने की घटना) को पैदा करना हो जाता है।

कोई भी व्यावहारिक बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति इस तर्क पर हँसेगा और पूछेगा : जो घटना पहले ही घट चुकी उसे पैदा करने के लिए कर्म करना क्या हास्यास्पद नहीं है ? जबाब में हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक नियमों के अघटित जो घटना घटने ही वाली थी उसे पैदा करने के लिए कर्म करना क्या उतना ही हास्यास्पद नहीं है ? शायद जबाब मिलेगा : नहीं, क्योंकि मुमकिन है कि यदि कर्म न किया जाता तो घटनेवाली घटना घटती ही नहीं। किन्तु इस तरह की बात तो भूत घटना के बारे में भी कही जा सकती है। जैसा कि हमने ऊपर देखा कि हर वर्तमान कर्म (या घटना) अपनी भूत घटना (पूर्वगामिनी घटना) की पर्याप्त उपाधि होता है। यानी वर्तमान कर्म भूत घटना को संभव बनाता है।

तब सवाल उठता है कि भाषा में जो पूर्वगामिनी घटना को ही अनुगामिनी घटना का कारण माना जाता है, या व्यवहार में जो भविष्य घटना को ही पैदा करने की कोशिश करते हैं, भूत घटना को पैदा करने की बात हम सोचते तक नहीं, सो कुछ कारण से है या मात्र भाषा-भाषियों का मनमानापन ? फिर क्या हम एयर के सिद्धान्त का भौतिक (Physical) एवं वैज्ञानिक (Scientific) एवं मनोवैज्ञानिक निदर्शन कर सकते हैं ? क्या हम वर्तमान प्रयास द्वारा भूत में परिवर्तन ला सकते हैं ? अगर हाँ तो यह वैज्ञानिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन का उद्घोषक होगा, चूंकि हमारा वैज्ञानिक कार्यक्षेत्र भविष्य तक ही सीमित न रहकर भूत तक संप्रसारित हो जाएगा।

एयर का जवाब होगा कि तर्क से यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि अनुगामी घटना, पूर्वगामी घटना को पैदा नहीं कर सकती या कि भूत की घटना को पैदा करने की कोशिश अयुक्तिसंगत है। किन्तु व्यवहार में हम ऐसा ही मानते हैं। इसका कारण है कि भूत और भविष्य दोनों का हमें समान रूप से ज्ञान नहीं रहता है। यही दोनों के ज्ञान का अंतर भूत और भविष्य में विभेद पैदा कर देता है, दोनों को दो स्तरों पर रख देता है। भविष्य की घटना को पैदा करने की कोशिश हम करते हैं, किन्तु भूत की घटना को पैदा करने की बात हम सोचते तक नहीं। सामान्यतः जब हम किसी घटना को पैदा करने का प्रयास करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो हम यह नहीं जानते कि वह घटना घटनेवाली है अथवा नहीं। ऐसा नहीं है कि यह जानने से हमारे कर्म की प्रभावकारिता कम हो जायगी। हाँ हमारे कर्तृत्वबोध में जरूर फर्क पड़ जागया। हम स्वयं अपने कर्म के प्रति द्रष्टा के रूप में हो जायेंगे; क्योंकि हम अपने कर्म को एक पूर्वस्थापित प्रणाली के अंश के रूप में देखेंगे। अपने को एक संकल्पस्वातंत्र्य-युक्त कर्ता के रूप में नहीं। इसके विपरीत भूत और खासकर निकट भूत जहाँ हमारे वर्तमान कर्म की अनिवार्य या पर्याप्त उपाधियाँ पड़ी हैं, उसी हद तक अज्ञान नहीं रहता। भूत की घटना केवल घटित ही नहीं हुई रहती, बल्कि घटित के रूप में हमें ज्ञात भी रहती है। अतः भूत में हमारी रुचि मिट जाती है और मानव-कर्म को हम प्रधानतः आगे की ओर यानी भविष्य की ओर गतिशील के रूप में हम देखने लगते हैं। स्मृति की बदौलत, मानव कर्म के संबंध में अपनी धारणा को हम भौतिक जगत् पर भी लागू कर देते हैं। वहाँ भी हम कारण के प्रभाव को आगे की ओर जाता हुआ देखते हैं और हमारी यह धारणा बन जाती है कि पहले होनेवाली घटना बाद में आनेवाली घटना को पैदा करती है। इस प्रकार भविष्य की घटना को पैदा किया जा सकता है भूत की घटना को नहीं।

इस प्रकार एयर कारणता के सिद्धान्त को नियतिवादी चरम (Climax) पर ले जाते हैं जहाँ संकल्प स्वातंत्र्य मनोवैज्ञानिक कारण (भूत और भविष्य के हमारे ज्ञान का अंतर) से उत्पन्न एक भ्रम मात्र है। जब एयर कहते हैं कि भविष्य की घटना भी भूत की घटना का कारण हो सकती है– तो हमें इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अब हम भूत की स्थिति में कोई परिवर्तन ले आ सकते हैं। वस्तुतः हम न तो भूत में कोई परिवर्तन लाने के लिए स्वतंत्र हैं न भविष्य में। हमारा वर्तमान कर्म मात्र भूत और भविष्य के बीच नियत कड़ी है। एयर का विश्लेषण मात्र इतना ही साबित करता है कि यदि हम कारण-कार्य संबंध को पर्याप्त उपाधि के शब्दों में परिभाषित करते हैं तो कोई कारण नहीं है कि हम मात्र पूर्ववर्ती घटना को ही कारण मानें। पर यदि कारण-कार्य संबंध मात्र पर्याप्त उपाधि और अनिवार्य उपाधि के शब्दों में परिभाष्य न हो तो एयर का निष्कर्ष अमान्य हो सकता है।

ग्राम पो.–खैरा, वाया–रजौन
जिला–भागलपुर, (बिहार)

– **राजेशकुमार सिंह**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य : साहित्य और दर्शन का परम प्रातव्य

(अस्तित्ववादी परिदृष्टि)

अस्तित्वात्मक संचेतना (Existential Consciousness) इसी में है कि मनुष्य मनुष्य बने। अभी तो वह मनुष्य भी नहीं बन सका है फिर देवता और भगवान् बनने की बात कहाँ? वह वही है जो वह नहीं है और यही तो उसके संत्रास और घुटन का मूल घटक है। उसका अस्तित्व सम्भूति-मूलक और सतत गतिशील है। इस सतत गतिशीलता एवं प्रवाह में वैयक्तिक उत्थान ही महत्त्वपूर्ण इष्ट है। इसके अभाव में भौतिक समृद्धि या जागतिक सामरिक एवं राजनीतिक प्रगति निरर्थक है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं बन सका तो उसकी अन्यान्य संधारित वस्तुओं से उसे क्या मिला? साहित्य और दर्शन का समवेत अस्तित्ववाद अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य पर जोर देकर मानव को सच्चा मानव बनाना चाहता है।

विगत दो विश्व युद्धों के अस्तित्व-विदारी भयङ्कर दृश्यों से उद्‌भूत फ्रेंच-जर्मन अस्तित्ववाद एक साहित्यिक-दार्शनिक चिन्तन प्रकार के रूप में शिक्षा, कला, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन को प्रभावित करता आ रहा है। यह उनके विविध क्षेत्रों में विद्रोह की पीठिका पर उदित हुआ है।[1] डैनिश, जर्मन, एवं फ्रेंच भाषाओं में लिखे गये नाटक, उपन्यास एवं काव्य तथा कहानियों की भावधारा आंग्ल-भाषायी नहरों में बहती हुई हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रान्त में प्रविष्ट हो चुकी है। अस्तित्ववादी दार्शनिक साहित्यकारों की साहित्यिक कृतियों को बिना उनकी दार्शनिक उपलब्धियों को जाने समझना कठिन है और इसी प्रकार उनकी दार्शनिक कृतियों को बिना उसकी साहित्यिक संरचना को समझे समझना कठिन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद की ज़ड़ें न केवल पाश्चात्य साहित्य एवं दर्शन में अपितु भारतीय दर्शन के वैदिक-औपनिषदिक वाङमय में भी भरी पड़ी हैं। बौद्ध एवं जैन साहित्य तथा योग सम्प्रदाय तो अस्तित्व की प्रधानता पर पूरा जोर लगाकर मानव को सच्चा मानव बनाना चाहते हैं। इस कार्य में वे मनुष्य की अस्तित्वात्मक संचेतना एवं अस्तित्व-बोध-हेतु संप्रेरित करते हैं। पाश्चात्य अस्तित्ववादी धरातल पर अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य हेतु प्रमुख अभिप्रेरक दार्शनिक हैं– ब्लेसी पास्कल, सोरेन कीर्केगार्ड़, फोडर मिखेलाविक दास्तावस्की, कार्ल यास्पर्स, गैबरील मार्सेल, फ्रैड्रिक नीत्शे, मार्टिन हाइडेगर एवं ज्यां पाल सार्त्र।

अस्तित्ववाद में अस्तितवात्मक स्वातंत्र्य से तात्पर्य मानव के अस्तित्व की स्वतंत्रता से है न कि मानवेतर प्रजातियों के अस्तित्व की स्वतंत्रता से। इस संसार में असंख्य जीवजन्तु, कृमि-कीटादि एवं वनस्पतियाँ अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष-रत हैं। मनुष्य अपने भौतिक-अभौतिक अस्तित्व की रक्षा के लिए स्वेतर प्रजाति तथा स्वप्रजाति से भी संघर्ष रत है। सर्वत्र अस्तित्व का ही संघर्ष देखा जा रहा है। आज मनुष्य को मनुष्य से महान् भय हो गया है। समग्र प्रजातीय अस्तित्व-संघर्ष को पृथक्-पृथक् वर्गीकृत-विशेषी-कृत क्षेत्र में ही समझना अधिक उपयुक्त है। वानस्पतिक अस्तित्व-संघर्ष को वनस्पति-विज्ञान तथा जन्तुओं के अस्तित्व-संघर्ष को जन्तुविज्ञान की वैज्ञानिकि दृष्टि से समझना अधिक उपयोगी होगा। मानव अस्तित्व के आकार-प्रकार, रंग, उत्पत्ति, संरचना तथा मृत्यु जैसे विषय को एक ओर जहाँ वैज्ञानिकी वस्तुनिष्ठ तर्कणा से समझना अधिकत उपयोगी है, वहाँ दूसरी ओर उसके भाव, संवेग तथा व्यवहार को समझने के लिए साहित्य व दर्शन की मिली-जुली सर्जनात्मक विधा की अपेक्षा है। मेरे विचार से अस्तित्वाद इस अपेक्षा की पूर्ति में अधिक सफल है।

मानव अस्तित्व क्या है ?

कूपनहेगन के महान् कवि, चिन्तक एवं लेखक श्री सोरेन कीर्कगार्ड के विचार से मानव-अस्तित्व अस्तित्व की उस समग्रता का नाम है जिसमें विचार, भाव, संवेदना, संवेग, घृणा-प्रेम, हास्य-व्यंग्य, सुख-दुःखादि अनुभूति एवं तर्कणा का समवेत स्वरूप होता है। अस्तित्व के किसी एक-दो प्रधान तत्त्वों को अस्तित्व नहीं कहा जाता है। 'अस्तित्व' में संपूर्ण अस्तित्व का आशय निहित है। ध्यातव्य है कि पाश्चात्य प्रत्ययवादी चिन्तन-विद्या में मानव अस्तित्व के मात्र एक महत्वपूर्ण पक्ष तर्कणा को ही तिरपेक्ष तत्त्व के रूप में आदर मिल चुका था। इस प्रकार के सार-मूलक सामान्य चिन्तन में चिन्तक का समग्र अस्तित्व उसी प्रकार तिरोहित हो गया था जैसे समुद्र में बूंद का अस्तित्व। प्रत्ययवादी चिन्तन-धारा में अस्तित्व सार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिकृति के रूप में माना जाता है। उसका पृथक्तः स्वतंत्र रूप नहीं होता। अस्तित्ववाद ऐसी मान्यता का विरोधी दर्शन है। उसके अनुसार अस्तित्व अर्जनीय गुण-ग्राम है। यह वैयक्तिक है। वैयक्तिक चेतना ही अस्तित्व है। चेतना नहीं तो अस्तित्व नहीं। चेतना-प्रलोप से अस्तित्व-प्रलोप अनिवार्य है।

चेतना सतत विकास की या सतत परिवर्तन की प्रतिनिधि के रूप में है। अस्तित्व निरन्तर गतिमान चेतन स्फुरणाओं का विराट् संकुल है। मानव-अस्तित्व में अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य, गुण-दोष सब कुछ हैं। सत्-असत् का द्वन्द्व सदा गतिमान है। अस्तित्व विरोधाभासी प्रकृति का है इसलिए इसमें बहुविध विसंगतियाँ (Absurdities एब्सर्डिटीज) भरी पड़ी हैं। इसे विशुद्ध वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ तर्कणा से कदापि नहीं समझा जा सकता है। इसके लिए तर्कणा और प्रातिभज्ञान के मंजुल समन्वय की आवश्यकता है।

कीर्केगार्ड मानव अस्तित्व के तीन स्तरों को चित्रित करते हैं। अस्तित्व का प्रथम स्तर सौन्दर्यात्मक स्तर (Aesthetic Stage) है। यह विषय-वासनाओं की परितृप्ति का स्तर है। कीर्केगार्ड इसे 'डॉनजुअन' स्टेज कहते हैं। इसका लक्ष्य 'खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ' है। विषय-वासनाओं के उपभोग में इन्द्रिय सुख के साथ ही घृणा-द्वेष और शत्रुता भी मिलती है। यह जीवन का अतिन्यून और धार्मिकता विरोधी स्तर है। कीर्केगार्ड की पुस्तक **आइदर आर** में इस स्तर को उपेक्षित स्तर माना गया है।

अस्तित्व का द्वितीय स्तर नैतिक स्तर (Moral Stage) है। इसमें शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार, अहंवादी प्रक्रिया एवं कर्म का गर्व सम्मिलित है। ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव इसमें नहीं होता है अतः यह भी त्याज्य है। अस्तित्व का अन्तिम स्तर धार्मिक स्तर है। इस स्तर पर व्यक्ति पूर्णतया 'प्रत्यर्पित मनोबुद्धिः' (गीता) होता है। कर्म का अहंकार इसमें समाप्त हो जाता है। यही सर्वोत्तम जीवन-स्तर है। सच्चे अस्तित्व की संचेतना इसी में होती है।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद, (Theistic Existentialism) के दार्शनिक कार्ल यास्पर्स के मतानुसार मानव अस्तित्व निरन्तर प्रसंभाव्यता है। निरन्तर विवर्द्धमान सम्भूति (Becoming बिकमिंग) में ही मानव-अस्तित्व है। यह ऐसा नहीं है कि जो वस्तुनिष्ठ तर्कणा से वस्तुवत् पकड़ लिया जाय। यह अस्तित्व पूर्ण या निश्चित नहीं है। इसमें सदा कुछ बनने की शक्ति प्रच्छन्न है। यास्पर्स संभाव्य अस्तित्व को 'मोगलिक एक्जिस्टेन्ज' कहते हैं। इस संभाव्य अस्तित्व में बनने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिगड़ने का द्वन्द्व गतिमान है। सत् और असत् का, 'मैं' और 'न-मैं' का, द्वन्द्व इससे पृथक् नहीं किया जा सकता। 'न मैं' 'मैं' के बाहर अर्थात् अस्तित्व की आन्तरिकता से बाहर है। 'मैं' की संचेतना 'न-मैं' को 'न-मैं' समझने में ही है।

फ्रांसीसी दार्शनिक साहित्यकार गैबरील मार्सेल इन्द्रिय और शरीर के स्तर से ऊपर उठकर अस्तित्व का स्तर स्वीकारते हैं। अस्तित्व के स्तर पर व्यक्ति परमसत् में– स्वोपस्थिति का अनुभव करता है। यह अस्तित्वात्मक संचेतना के अभाव में कदापि संभव नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व, निराशा, अकेलापन, एवं मनस्ताप परमसत् (बींग) से अलग होने में ही मिलते हैं। विना प्रेमानुभूति के परमसत् का बोध नहीं होता है। मार्सेल का भी ऐसा विचार है कि अस्तित्व को वस्तुगत तर्कणा या विशुद्ध दर्शन से नहीं समझा जा सकता है। अस्तित्व संभूति-मूलक है। इसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदा पथ-प्रवृत्त होना चाहिए।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के महान् साहित्यकार दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र ने मानव अस्तित्व को 'शून्य' माना है। उनके विचार से अस्तित्व के दो प्रकार हैं:

१– अपने-में सत्
२– अपने-लिए-सत्

उनका कहना है कि 'अपने-में-सत्' वस्तु जगत् है और 'अपने-लिए-सत्' मनुष्य का अस्तित्व है। यह 'न-कुछ' है। समस्त संभावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण इसका स्वरूप अनिश्चित है। अपनी शून्यता में यह स्वतंत्रता की खोज करता रहता है। मार्टिन हाइडेगर ने भी मानव-अस्तित्व को 'न-कुछ' कहकर परिभाषित किया है।

अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य क्या और कैसा ?

अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य अस्तित्व की स्वतंत्रता का भाव है। समकालीन साहित्य और दर्शन में इसकी खूब चर्चा है। हिन्दी साहित्य में विचार कविता की पृष्ठभूमि में विद्रोही अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य ही सक्रिय है। उसमें रीतीकालीन दासता की दुर्गन्ध नहीं है। प्रौद्योगिकी-जनित यांत्रिकीकरण तथा चमचमाते आधुनिकीकरण ने समाज में व्यक्ति को बेनाम-बेचेहरा बना दिया है। भीड़ में व्यक्ति खो गया है। वह है तो भीड़ में किन्तु पाता है अपने को अकेला ही। वह हँसता तो है किन्तु भीतर से उदास है। विविक्ति (आइसोलेशन) और तनाव से वह घिरा हुआ है। गैबरील मार्सेल द्वारा लिखित साहित्य में विशेषकर नाटकों में व्यक्ति की बहुविध विसंगतियों का चित्रण किया गया है। वह यह अनुभव करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि मनुष्य चारों ओर से प्रकार्यों के घेरे में फँसा हुआ है। जीवन के आधुनिक प्रकार्यकरण (माडर्न फंक्शनलाइजेशन) में व्यक्ति अपने प्रति और दूसरों के प्रति प्रकार्यों के ढेर के रूप में उपस्थित हो गया है। उसकी दृष्टि को विज्ञान की भौतिक चकाचौंध ने चौंधिया दी है। वह बहु आयामी जीवन जी रहा है। उसके सारे क्रिया-कलाप वैयक्तिक स्तर से हटकर सामाजिकता से प्रभावित हो गये हैं। ऐसी स्थिती में अह अपनी आम्यन्तरता से विमुख हो गया है। स्वार्थ विस्तार ने मानव को उसके परमसत् से दूर कर दिया है।[२]

मशीनीकरण से प्राप्त टूटन एवं नैराश्य सर्वत्र छाया हुआ है। सभी अँधियारे में सिमटे पड़े हैं।

"जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अँधियारे में।
प्राणों के पंथी सहमे-सिमटे
बैठे हैं गलियारे में" (भारतभूषण अग्रवाल)

टेक्नालॉजी ने जहाँ मनुष्य के अस्तित्व को सुरक्षा प्रदान किया है, वहीं समग्र प्रजाति के लिए संकट भी उपस्थित कर दिया है। आज मनुष्य का अस्तित्व विनाश के कगार पर है। आश्चर्य है कि ऐसी दशा में भी मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता बनने का ढोंग कर रहा है। वह अपनी यथार्थ स्थिति से पलायन कर रहा है। यथार्थता से पलायन को सार्त्र 'पूरा विश्वास' (मोवेसे फोइ) कहते हैं। मानव अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए सर्वाधिक घातक तत्त्व 'बुरा विश्वास' ही है। यही मनुष्य को मनुष्य नहीं बनने देता है। सार्त्र का अनुभव है कि देवता या ईश्वर कपोल-कल्पित मिथक हैं। ये बुरे विश्वास के धार्मिक दृष्टान्त हैं। यथार्थ यही है कि मनुष्य संत्रस्त रूप से स्वतंत्र है। अस्तित्व की अनिवार्य स्थिति संत्रास है। सार्त्रीय नाटकों एवं उपन्यासों की सभी महिला पात्रायें जैसे **नो एक्जिट** की इनेज और इस्टेले, **द फ्लाइज** की इलेक्ट्रा, **द एज आफ रीजन** की मार्सेले, लिज्ज़ी एक आदरवती वेश्या, डर्टी हैण्ड्स की ज़ेसिका एक दो नहीं- सबकी सब बुरे विश्वास की शिकार हैं। ये सभी महिलायें अतिशय कामोन्मादिनी पात्राओं के रूप में चित्रित की गई हैं जो संत्रस्त रूप से स्वतंत्र होते हुये अपनी यथार्थ स्थिति को भुलाने का बार बार प्रयास करती हैं।

सार्त्र के मतानुसार बुरा विश्वास एक प्रयास है–स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व के संत्रास से भाग खड़े होने का। यह आत्मा में मिथ्यात्व (आई इन द सोल)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में है ।[3] यह मिथ्यात्व मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को प्रभावित करता है । **द एज आफ रीजन** उपन्यास के नायक डैकिएल एक तार्किक किन्तु चरित्रभ्रष्ट नायक है जो अपनी तर्कणा से आत्म-प्रवंचना में कुशल है ।

कार्ल यास्पर्स के विचार से अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य न केवल व्यक्तिगत स्वातंत्र्य है अपितु यह दूसरे लोगों पर ही आधृत है । उनका कहना है कि यदि दूसरे लोग स्वतंत्र न होना चाहें तो मैं स्वतंत्र नहीं हो सकता हूँ । मेरी स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता पर निर्भर है । दूसरे पराधीन हों और मैं स्वाधीन—यह अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य के सर्वथा विपरीत है । स्पष्ट है कि यास्पर्स स्वतंत्रता विषयक अवधारणा में सामाजिकता पर जोर देते हैं । उनके मत में अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य वैयक्तिकता एवं उसके भीतर गहराई में आसीन ईश्वर से पृथक् कुछ नहीं है । सर्वप्रथम व्यक्ति अपने को स्वतंत्र बनाये और आत्मस्थ करे, फिर दूसरों की चिन्ता करे । कीर्केगार्ड कहते हैं कि जब एक व्यक्ति अन्दर और बाहर अर्थात् कथनी और करनी में समरूप हो जाएगा, तो निश्चय ही अस्तित्वात्मकतया स्वतंत्र होगा । जो सिद्धान्त और व्यवहार में समान है उसे छोड़ अन्य कौन दूसरों का उद्धारक होगा । उद्धार सर्वप्रथम अपने वैयक्तिक स्तर से ही होता है और तब आगे चलकर उसका रूप सामाजिक हो जाता है । कोरा सामाजिक उद्धार या स्वातंत्र्य व्यक्ति के लिये अभिशाप-सम है । मेरे विचार से परंपरया प्राप्त वस्तुनिष्ठ सत्य अस्तित्व के लिए तब तक अनिष्टकर है जब तक कि वह आत्मनिष्ठ सत्य का रूप नहीं ग्रहण कर लेता है ।

जो प्रातव्य है और जो आत्मनिष्ठ है वही सत्य इष्टकर है । मानवता प्राप्तव्य है । स्वतंत्रता प्राप्तव्य है । यह परंपरया प्राप्त नहीं है । इसे व्यक्ति को प्राप्त करना होता है । साहित्य और दर्शन का प्राप्तव्य परमतत्त्व अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य ही है । परंपरया प्राप्त स्वातंत्र्य व्यक्ति के लिए निरर्थक होता है उसी प्रकार जैसा कि फ्रैड्रिक नीत्शे का कहना है कि पुराने राज्य-चिन्ह-रहित सिक्के बेकार हो गये हैं । वे परंपरागत सत्य की उपमा उन सिक्कों से देते हैं जो किसी समय प्रचलन में थे, किन्तु अब बेकार हो चुके हैं ।

अपनी लम्बी कविता 'द जायफुल विजडम' में नीत्शे ने प्राचीन मूल्यों के प्रतीक ईश्वर की मृत्यु का कथानक अभिनव नाटच-शिल्प के साथ चित्रित किया है । इसी प्रकार स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास **शेखर : एक जीवनी** ने उपन्यास के प्रमुख पात्र शेखर द्वारा परंपरा का विरोध तथा नये मूल्यों का सृजन कराया है । बिना परंपरा-मुक्त हुए अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य की कल्पना भी संभव नहीं है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की स्थिति में मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य कोरी अवधारणा जैसा ही बन गया है। सर्वत्र संत्रास ही मिलता है। इसका कारण मेरी समझ में कुछ ऐसा ही है कि राजनेता, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं साहित्यकार–सभी अस्तित्वात्मक संचेतना से विमुख हो गये हैं। कोई भी अस्तित्व के प्रति गम्भीर दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहा है। नीत्शे ने सन् १८१३ में लिखा था कि 'महाबृहत् ज्वार (स्प्रिंग्टाइड) जो बर्बरता और क्रूरता का है, हमारे दरवाजे पर है।'[४] आज वह दरवाजों को तोड़-ताड़कर अस्तित्वभवन को गिराने में लग गया है। अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य पूर्णतः संत्रास का विषय बन गया है। इसे क्षीण करने में ज्ञान-विज्ञान की महत्वपूर्ण विधायें– (साहित्य और दर्शन) लगी हैं।

भीड़-तंत्र वैयक्तिकता के लिए सर्वाधिक भयानक तंत्र है। कीर्केगार्ड भीड़-विरोधी हैं। वे व्यक्ति के अस्तित्व को भीड़ में तिरोहित हुआ नहीं देखना चाहते। व्यक्ति के अस्तित्व की संचेतना को जगाकर अपने-से अपना उद्धार सम्भव है। गीता भी इसी तथ्य का समर्थन करती है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

"अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए। अपने को अधोगति में नहीं डालना चाहिए। निश्चय ही मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है।"

अस्तित्ववादी परिदृष्टि से इसे यों कह सकते हैं– आत्मनिष्ठ सत्यवाला व्यक्ति आप ही अपना मित्र है और वस्तुनिष्ठ सत्यवाला व्यक्ति आप ही अपना शत्रु है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य को यही आत्मनिष्ठ सत्य ही दिलाने में समर्थ है। मार्सेल आत्मनिष्ठ सत्य को संभूति से जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि संधारक और संधारित में वस्तुनिष्ठ संबंध होता है। अस्तित्व के साथ संधारक-संधारित संबध नहीं होता है। अस्तित्व संभूति-मूलक है। मार्सेल इस विषय में बहुत चिन्तित हैं कि मनुष्य का संभूति-मूलक अस्तित्व विपथगामी होता जा रहा है। उनके विचार से यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व नहीं बन सका तो उसकी अन्य-बनायी संधारित वस्तुओं से उसे क्या मिला? साहित्य और दर्शन की सार्थकता मनुष्य को उसकी वास्तविक स्वतंत्रता दिलाने और सच्चा मनुष्य बनाने में ही है। अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य के अभाव में सच्ची मानवता संभव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्वात्मक संचेतना के अभाव में मनुष्य सच्चा मनुष्य नहीं बन सकेगा। ऐसी कोई नियति नहीं है कि मनुष्य मनुष्य ही बने, वह दैत्य भी बन सकता है। स्वतंत्रता का दुरुपयोग ऐसा परिणाम दे सकता है। स्वतंत्रता के साथ उत्तरदायित्व लगा हुआ है। उत्तरदायित्व के अभाव में स्वतंत्रता निस्सार है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि बार-बार अस्तित्वात्मक संचेतना को जागृत करे। उसका आदर्श असत् से सत्, अंधकार से प्रकाश तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अभिगमन का होना चाहिए। उसे आत्मस्थ और स्थितप्रज्ञ बनना चाहिए। मेरे विचार से अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य में जाति, धर्म, रंग तथा वर्ग-भेद नहीं होता है। 'जियो और जीने दो' उसका उद्घोष होता है। उसमें सभी मनुष्यों के प्रति असीम प्यार होता है। इस प्रकार की अस्तित्वात्मक महिमा से युक्त महामानव जिस दिशा की ओर चल पड़ता है, कोटि पग उसका अनुगमन करते हैं।

वैदिक सन्देश 'चरैवति' में अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य का प्रवाह है। यह अस्तित्ववादी अतिक्रमणता-प्रधान उद्घोष के रूप में है। ऐसा लगता है कि पाश्चात्य अस्तित्ववादी भारतीय दर्शन की अतिप्राचीन अस्तित्वादी चिन्तन-धारा से प्रभावित हैं। गैबरील मार्सेल 'अवतरण' अवधारणा गीतोक्त 'अवतरण' से साम्य रखती है। उनकी 'संधारक-संधारित' अवधारणा 'देही और देह' से समानता लिए हुए है। मार्सेल सम्भूति को ही अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य मानते हैं। स्वतंत्रता संचेतना का सतत अनवरुद्ध प्रवाह है। इसी में मानव-अस्तित्व की सार्थकता है। यही वास्तविक जीवन है। जीना ही जीवन नहीं है। पाशविक जीवन और मानवीय जीवन में संचेतना का ही अन्तर है। यदि अस्तित्व-बोध एवं यथार्थता के प्रति संचेतना नहीं है तो कैसा मानवीय जीवन ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन तो पशु-अस्तित्व में भी है। उसमें जो नहीं है अर्थात् अस्तित्वात्मक संचेतना, वही मनुष्य-अस्तित्व में है।

असली अस्तित्व या प्रामाणिक अस्तित्व (Existenr एक्जिस्टेन्ज) संचेतना में ही है। जनगणना में जीवित मनुष्यों की संख्या ली जाती है। जीवित मनुष्यों में असली अस्तित्ववान् मनुष्यों की संख्या अति न्यून है। समाज इन्हीं पर जीवित रहता है। असली अस्तित्व और नकली अस्तित्व को कीर्केगार्डीय दृष्टान्त से सम्यक् समझा जा सकता है। 'एक किसान जो अपने अश्व-यान में लेटा है सो रहा है, उसके हाथों में घोड़ों की बागडोरें हैं। अश्व-यान में जुते अश्व अपने अभ्यस्त पथ पर आगे चले जा रहे हैं। किसान अश्व-यान का कुछ अर्थ में चालक है किन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि वह चालक नहीं है क्योंकि सो रहा है। उसे अश्व-यान में जुते घोड़ों और उनकी गति के प्रति संचेतना नहीं है। इसी प्रकार अनेक लोग अस्तित्ववान् हैं और उसी समय से अस्तित्ववान् भी नहीं हैं।'[५]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकाधिक लोग ऐसे ही हैं जिन्हें 'मानव-जीवन क्या है ? इसकी सार्थकता किसमें है ?' इसकी संचेतना नहीं है। वे चाहे कवि हों या चिन्तक दार्शनिक- 'खाओ पीओ और मौज उड़ाओ' का पालन कर रहे हैं। ऐसे लोग आत्मप्रवंचक होते हैं। वे समाज को दिग्भ्रमित करते पाये जाते हैं। प्रवंचनामयी तर्कणा से वे दूसरों को फँसाते और अपना स्वार्थ पूरा करते हैं। अनीश्वरवादी दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर का मत है कि मनुष्य परमसत (बींग) से भटककर सांसारिक सांसारिकता में उलझ गया है– यही उसके लिए विसंगत बात है। इसी विसंगति का निवारण अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य का लक्ष्य है।

फ्रैड्रिक नीटशे अतिमानव (सुपरमैन) को ही अस्तित्वात्मकतया स्वतंत्र मानते है। उनके विचार से अस्तित्व में आना तो साधारण बात है किन्तु स्वतंत्रता तथा शक्ति के साथ जीवन-यापन करना ही कठिन और असाधारण बात है। हजारों-करोड़ों मनुष्यों के बीच कोई एक अस्तित्वात्मक स्वतंत्रतावाला व्यक्ति होगा। वही अतिमानव होगा। ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक शक्तिवाला इन्द्रिय-जित् व्यक्ति होगा।

सार्त्र ने अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य को परम्परा–मुक्ति रूप में माना है। **इन्टीमेसी** के सभी पात्र परम्परा–मुक्त और स्वतंत्र हैं। वे अतीत के बंध को तोड़कर वर्तमान में जीते हैं। उन्हें अतीत और भविष्य की चिन्ता नहीं है। अज्ञेय के साहित्य में भी अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य की अभिपुष्टि देखी जा सकती है। **इन्टीमेसी** और **शेखर : एक जीवनी** के पात्रों में बहुत साम्य पाया जाता है। सार्त्र ईश्वर की असंभावना व्यक्त करते हैं। यदि ईश्वर होता तो मानव की अस्तित्वात्मक स्वतंत्रता का प्रश्न नहीं उठता। मानव की स्वतंत्रता और ईश्वर का अस्तित्व दो परस्पर विरोधी बातें हैं।

सार्त्र दृश्यजगत्‌शास्त्रीय (फेनामेनालॉजिकल) युक्ति से बतलाते हैं कि मानव अपने भले-बुरे कर्मों के प्रति उत्तरदायी है। उसके सभी कार्य एवं व्यवहार उसकी स्वतंत्र पसंदगी के द्योतक हैं। ईश्वर या अतिप्राकृतिक कोई सत्ता नहीं है। मनुष्य अपने दुःख और सुख के प्रति स्वयं जिम्मेदार है। वास्तविकता यही है कि मनुष्य सर्वत्र संत्रास और तनाव में है। वह साहित्य, संगीत और कला के माध्यम से अपनी उदासी छिपाना चाहता है किन्तु उसकी वेदना कम नहीं होती। सार्त्र यह अनुभव करते हैं कि मनुष्य की कथनी और करनी में बहुत अन्तर है और इसलिए संत्रास है। वह जो है वास्तव में वह नहीं है, जो नहीं है वही वह है। इस कथन का तात्पर्य है कि आज मनुष्य जो नहीं है, कलकी शून्यता में वही हो जायगा। उसे जो होना है, उसमें अन्तर्निहित है, किन्तु अभिव्यक्त नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जो है' में 'जो नहीं है' विद्यमान् है। मनुष्य के अस्तित्व में उसका सार भी छिपा है। अस्तित्व के परे या पूर्ववर्ती कोई सार नहीं है।

अस्तित्वात्मक स्वातंत्र्य एक सार के रूप में हमारे अस्तित्व में पड़ा हुआ है। मुझे तो व्यावहारिक धरातला पर यह कहीं नहीं दीखता। हाँ, कुछ ऐसा है, जो अनुभव में आता है और इसी को अभिव्यक्त करने में साहित्य और दर्शन लगे हुए हैं। दोनों का परम प्राप्तव्य समान ही है।

अस्तित्व-भवन
सिविल लाइन्स
बस्ती
(उ. प्र.)

– **रामदास पाण्डेय 'गंभीर'**

टिप्पणियाँ

१- वाल्टर कॉफमैन : **एक्जिस्टेन्सियलिज्म फ्राम डास्टोवस्की टु सार्त्र**, न्यूयार्क, मेरिडियन बुक्स, १९५६ पृ. ११

२- गैबरील मार्सेल : द **फिलॉसफी ऑफ एक्जिस्टेन्सियलिज्म**, द सिटाडेल प्रेस, न्यूयार्क, १९६६ पृ. १

३- डॉ. सभाजीत मिश्र : **द एङ्ग्विस्ड फ्रीडम**, जी. डी. के. पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९७८ पृ ८१

४- के. एफ. रीनहार्ट : **द एक्जिस्टेन्सियलिस्ट रिवॉल्ट**, न्यूयार्क, १९६० पृ. १२

५- राबर्ट सी. सोलोमॉन : **फ्राम रेशनलिज्म टु एक्जिस्टेन्सियलिज्म**, हार्पर एण्ड रो. पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९७२ पृ. ९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदान्त में मन और शरीर का सम्बन्ध

अद्वैत वेदान्त में मन और शरीर के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर उस तरह की समस्या खड़ी नहीं होती जिस तरह पाश्चात्य दर्शन में। इसका मूलभूत कारण यह है कि प्रायः पाश्चात्य विचारक मन को शरीर से पूर्णतः भिन्न मानते हैं और मन का आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।[१] परन्तु अद्वैत वेदान्ती मन और शरीर दोनों को एक ही तत्त्व माया से उत्पन्न मानते हैं तथा आत्मा से इसको पूर्णतः पृथक् स्वीकार करते हैं। अद्वैतियों के अनुसार मन और शरीर दोनों जड़ हैं। दोनों भौतिक हैं। श्रुति भी इसका समर्थन करती है।[२,३] मन सूक्ष्म है, शरीर स्थूल है।[४,५] चूंकि मन सूक्ष्म है इसलिए शरीर की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर मन संपूर्ण कार्यों को संपादित करता है। जन्म के समय मनुष्य का मन सफेद स्लेट की तरह नहीं रहता जैसा कि पाश्चात्य विचारक लोक[६] की मान्यता है, बल्कि संस्कारों से घिरा रहता है। वेदान्तियों के अनुसार मनुष्य अन्तर्वर्ती संस्कारों के साथ पैदा होता है।[७]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वेदान्त में मन को माया से उत्पन्न माना गया है। वेदान्त में माया ही प्रकृति कही गयी है।[८] माया जड़रूप है। आधुनिक भौतिकवादी एवं व्यवहारवादी[९] विचारक अद्वैत के इस मत को स्वीकार करते हैं कि मन प्रकृति से उत्पन्न है परन्तु वे अद्वैतियों के इस मत को, कि आत्मा, मन और शरीर दोनों का आश्रय है, स्वीकार नहीं करते। आत्मा मन का उपयोग आन्तरिक करण के रूप में करता है और इसके द्वारा ही आत्मा का बाह्य विश्व के साथ संपर्क स्थापित होता है। आत्मा की चेतनता निरपेक्ष है क्योंकि वह कभी किसी अनुभव का विषय नहीं होता।[१०]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन को विषयी एवं विषय दोनों रूपों में प्रयोग किया है किन्तु अद्वैत वेदान्त में इसके प्रयोग में मूलभूत अन्तर है। अद्वैत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्तियों के अनुसार विषयी एवं विषय दोनों एक दूसरे से पृथक् अस्तित्व रखते हैं। ये एक ही तत्त्व के पहलू नहीं हैं। विषयी स्वरूप मन आत्मा तथा विषय स्वरूप मन अन्तःकरण या मनस् है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदान्ती विचार पाश्चात्य धारणा के बिल्कुल विपरीत है। परन्तु कछ पाश्चात्य विचारक अद्वैतियों के समान मन और शरीर को एक ही तत्त्व से उत्पन्न मानते हैं। रसेल,[११] व्हाइटहेड[१२] तथा एलेक्जेंडर[१३] आदि पाश्चात्य विचारकों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

वेदान्त के अनुसार मन प्रत्यक्ष ज्ञान में बहुत सहायक होता है। इसके अभाव में ज्ञान नहीं हो सकता। श्रुति कहती है, "मैंने अमुक शब्द नहीं सुना क्योंकि मन कहीं दूसरी जगह था, मैंने अमुक व्यक्ति को नहीं देखा क्योंकि मन अन्यत्र था।"[१४] इससे सिद्ध होता है कि मन के बिना वाह्य विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता।"[१५] उपनिषदों में यह स्पष्टतः निर्दिष्ट है कि प्रत्यक्ष में मन की महत्वपूर्ण भूमिका है। वैशेषिक भी इसका समर्थन करते हैं।[१६] अद्वैतियों के अनुसार मन आत्मा और विषयवस्तु के मध्य कड़ी का काम करता है। इसकी तुलना गेस्टाल्ट के मनोविज्ञान से की जा सकती है।

इसी संदर्भ में मन के आकार के विषय में भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इससे मन और शरीर के सम्बध पर विशेष प्रकाश पड़ता है। मन के आकार के सम्बध में भारतीय विचारक एकमत नहीं हैं। न्याय दर्शन में मन को नित्य, निरवयव तथा अणु माना गया है।[१७] सांख्य टीकाकार अनिरुद्ध[१८] तथा महादेव वेदान्ती ने भी मन को अणु परिमाण वाला ही माना है। लेकिन विज्ञान-भिक्षु ने मन को मध्यम परिमाण माना है। इसका कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर सावयव है इसलिए वह अत्यन्त सूक्ष्म अणुपरिमाण नहीं हो सकता।[१९] आचार्य विज्ञानभिक्षु मन को विभु भी नहीं मानते हैं क्योंकि यह करण है।[२०] इसके उदय व्यय युक्त धर्म हैं। मन के विभु न होने में दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हुए उनका कहना है कि मन क्रियायुक्त है तथा इसकी गति का वर्णन श्रुतियों में पाया जाता है अतः मन विभु नहीं है।[२१] मन मध्यम परिमाण का सावयव पदार्थ है। मन निरवयव नहीं है क्योंकि उसका इन्द्रियों के साथ संयोग होता है।[२२] भाट्टमत और योग के अनुसार मन विभु है। संकोच और प्रसार ये लोग अन्तःकरण-वृत्तियों में ही स्वीकार करते हैं, अन्तकरण में नहीं। अद्वैत वेदान्ती भी सांख्य की तरह मन को मध्यम परिमाण वाला ही मानते हैं।[२३] यदि मन विभु होता तो कोई भी व्यक्ति किसी भी समय सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः मन विभु नहीं हो सकता। मन सावयव है। इसमें संयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वियोग होता है। अतः यह अणु भी नहीं हो सकता। यदि मन को मध्यम परिमाण का अवयव पदार्थ माना जाय तो किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी[२४]।

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को वेदान्त में अन्तःकरण नाम से अभिहित किया जाता है।[२५] सांख्य दार्शनिक केवल मन, बुद्धि और अहंकार को ही अन्तःकरण मानते हैं तथा चित्त का समावेश बुद्धि में कर देते हैं। इनके मुख्य कार्य क्रमशः संकल्प-विकल्प, अध्यवसाय, आत्मसात्करण तथा अनुभवसाफल्य हैं।[२६] वेदान्त में अन्तःकरण की कल्पना का द्विविध उपयोग किया जाता है– एक तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से और दूसरा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से। ज्ञानमीमांसा में अन्तःकरण का प्रयोग व्यावहारिक रूप में किया जाता है। तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से अन्तःकरण एक प्रकार का माध्यम समझा जाता है जिसमें चैतन्य उसी तरह प्रतिबिम्बित होता है जैसे नदी में चंद्रमा। अन्तःकरण-वृत्ति में हि अज्ञान के निरसन की सामथ्र्य विद्यमान है यद्यपि अन्तःकरण अज्ञान का ही परिणाम है फिर भी सत्व की अधिकता से इसमें पारदर्शकता आ जाती है और वृत्तियों के माध्यम से यह अविद्या या अज्ञान के नाश में समर्थ होती है। जिस अज्ञान से इसकी उत्पत्ति होती है उसी अज्ञान को नष्ट कर स्वयं भी यह नाश को प्राप्त हो जाता है। ब्रैडले के विचारों के समान, अन्तःकरण अन्त में आत्मघात ही कर बैठता है।[२७]

शरीर में मन का निवास-स्थल कहाँ है? यह भारतीय दर्शन का चर्चित विषय है। यहाँ इसका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि इससे भी शरीर और मन के आपसी सम्बध पर काफी प्रकाश पड़ता है। नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक शरीर में मन है तथा वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।[२८] निद्रा की अवस्था में वह पुरीतत् नाड़ी में निवास करता है।[२९] पातंजलयोग-दर्शन में हृदय को इसका निवास स्थल बतलाया गया है।[३०] ऐतरेय उपनिषद् हृदय और मन को पर्याय रूप में स्वीकार करती है।[३१] अद्वैत वेदान्त भी हृदय को ही मन का निवास स्थल स्वीकार करता है।[३२] इस मत की पुष्टि प्राचीन भारतीय चिकित्सक सुश्रुत[३३] तथा चरक[३४] के मत से भी होती है।

अंत में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार मन और शरीर में घनिष्ट सम्बंध है। मन एक ओर शरीराधिष्ठित है और दूसरी ओर वह आत्मा के द्वारा नियंत्रित है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त संसार की संपूर्ण वस्तुओं को मिथ्या माना गया है, ब्रह्म को ही सत्य स्वीकार किया गया है[३५] फिर भी मन और शरीर का व्यावहारिक जगत् में महत्वपूर्ण स्थान है। मन इस संसाररूप मायाचक्र की नाभि है।[३६] मन ही बंधन और मोक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कारण है।[३७] यह संसार मन के आश्रय पर अवलंबित है। मन को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है। श्रुति कहती है, "जिस समय चित्त ग्राह्य-ग्राहकरूप अविद्या से होने वाले मलों से रहित हो जाता है उस समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हो जाता है"[३८] **तैत्तिरीयोपनिषद्**[३९] में आता है कि मन को ब्रह्म जानो क्योंकि मन से ही ये जीव उत्पन्न होने पर मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में प्रयाण करते हुए मन में ही लीन हो जाते हैं। ज्ञानियों का मन ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, जिस तरह जलमात्र पर दृष्टि रखने वालों के लिए समुद्र ही समुद्र है, तरंग कोई वस्तु नहीं है।

दर्शन विभाग
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००५

– **देवव्रत चौबे**

टिप्पणियाँ

१. गिलबर्ट, रायल; **द कान्सेप्ट आफ माइण्ड**, पृ. ६१, सन् १९४६।

२. **छान्दोग्योपनिषद्** ६।५।१ अन्नमशितं त्रेधा विधियते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥

३. **छान्दोग्योपनिषद्** ६।५।४, अन्नमयं हि सोम्य मनः।

४. **द कम्प्लीट वर्कस् ऑफ स्वामी विवेकानन्द**, भाग ३, पृ. ४०१ अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९५५।

५. विवेकानन्द; **अद्वैतवेदान्त**, पृ. १४, अद्वैत आश्रम कलकत्ता, १९७७

६. सी. आर. मारिस, **लाक, बर्कले, ह्यूम**, पृ. २४, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस १९३०।

७. जान वुडराफ, **द वर्ल्ड एज पावर**, पृ. १४२, गणेश एन्ड को. मद्रास १९६४

८. मायां तु प्रकृतिं। **वेदान्त परिभाषा**, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ. ८४।

९. कीथ कैम्पबेल, **बाडी एण्ड माइण्ड**. पृ. ६१, द मैकिमिलन प्रेस लंदन, १९७१।

१०. **इंडियन साइकोलाजी** पृ. ६६, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. रसेल, एनैलिसिस आफ माइण्ड
१२. टाइटचेनर, टेक्स्ट बुक आफ साइकोलाजी
१३. अलेक्जैंडर, स्पेस, टाइम एण्ड डिइटी
१४. अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, मनसा ह्येव पश्यति, मनसा ह्येव श्रृणोति। - बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।३।
१५. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।३।३२।
१६. वैशेषिक सूत्र ३।२।१।
१७. न्याय सूत्र ३।२।५६।
तर्कसंग्रह पृ. २१ (अन्नंभट्ट) बाम्बे संस्कृत सीरीज पूना, १९६३, प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ५८।
१८. सांख्यसूत्र ५।६६।६१ अनिरुद्धवृत्ति
१९. सांख्यप्रवचनभाष्यम्, ३।१४।१५।
२०. सांख्य प्रवचनभाष्यम्, ५।६६।
२१. वही, ५।७०।
२२. वही, ५।७१।
२३. विवरणप्रमेय संग्रह, सूत्र १, वर्णक ४, विजयनगरम् संस्कृत सीरीज बनारस, १९६३, 'इतथम् न तावदन्तःकरणं निरवयवं सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात्। वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेदः।
२४. मध्यमपरिमाणत्वे तु न कोऽपि दोषः।
विवरणप्रमेयसंग्रह, सूत्र १, वर्णक ४।
२५ विवेकचूडामणि ६३, ६४।
२६ बुद्धिर्नाम- निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः।
मनोनाम- संकल्प-विकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः ॥ ६५ ॥
अनुसंधानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः चित्तम्।
अभिमानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः अहंकारः ॥ ६६ ॥
वेदान्तसार।
मनोबुद्धिरहंकारश्चितं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥ १ ॥
वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।
२७. जि. ना. मोहन्ती, अन्तःकरण लेख से उद्धृत।
२८. न्यायसूत्र ३।२।५६।
तर्कसंग्रह, पृ. २१
प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२९. सिद्धान्तमुक्तावली, पृ. २१६, द डिवाइन लाइफ सोसाइटी, १९६८।
३०. पातंजलयोग दर्शनम् ३।३४।
३१. ऐतरेय उपनिषद् ३।१।२।
३२. पंचदशी, २।१२।
३३. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान ४।३३।
३४. चरकसंहिता, सूत्र ३०।४।
३५. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
३६. योगवासिष्ठ ५४।६।४०।
३७. विवेकचूडामणि ११४, १७४, १७६।
३८. माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य, अद्वैतप्रकरण ३५,
३९. तैत्तिरीयोपनिषद् : अनवाक ४।१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकार शोभा-विधायी नहीं, स्वरूप-विधायी

नई कविता पर बात करते हुए "अलंकार" कि जिक्र छेड़ना शायद दकियानूसी समझी जाएगी, लेकिन वह खतरा मैं उठाना चाहूँगा। क्योंकि अलंकार का जान-बूझ कर विस्मरण मुझे इसलिए भी दिखावटी मालूम होता है कि स्वयं कविता ने उसे नहीं त्यागा है। आज बिम्ब, प्रतीक, और (पश्चिम में बहुचर्चित होने के कारण) रूपक अलंकार की तो चर्चा की जाती है, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र की इस प्रमुख धारा का उल्लेख तक नहीं किया जाता जिसके नाम पर "काव्य-शास्त्र" को "अलंकारशास्त्र" भी कहा गया है। अज्ञान या भ्रांतिवश अतीत-चिन्तन की स्मरणहीनता सतही आलोचना शैली जन्म देती है और कई बार परमुखापेक्षी बनाती है। वायु-मण्डल में तैर रहे आधुनिकता के जीवाणुओं को ग्रहण करना संवेदनशील विराट् चेतना को प्रकट करता है, लेकिन दूसरी ओर अतीत की स्पंदनशील संवाहिता को सिर्फ दिखावे के नाम पर तिरस्कृत करना थोथी बुद्धिवादिता के सिवा कुछ नहीं है। हज़ार साल के गहरे अन्वेषण और परामर्श का उच्छेद कर देना एक अंधा ध्वंस है, अलबत्ता उसे समझ कर उसकी जड़ताओं, अप्रासंगिकताओं को भरसक नकारा जा सकता है। यह ठीक है कि पुराने औज़ारों और हथियारों से नई लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती, लेकिन बिना वैकल्पिक हाथियारों के भी वह नहीं लड़ी जा सकेगी। यह विकल्प यदि हमें ऐसे आयातित साधनों के रूप में मिलता है जिनकी प्रकृति और प्रभावों से हम अपरिचित या अल्प परिचित हैं- (और जरूरी नहीं है कि वे नए ही हों और हमारी काव्य-प्रकृति के अनुरूप ही हों) तो, उनके प्रयोग की दक्षता और औचित्य भी प्रश्न से परे नहीं रहता।

अलंकारों की अनदेखी के मूल में, लगता है, दो धारणाएँ काम करती रही हैं- एक तो वही, जो हर तरह के प्राचीन ज्ञान के बारे में है, कि उसका उल्लेख हमें पिछड़ा हुआ घोषित कर देगा। दूसरी यह कि अलंकार "आरोपित भूषण" हैं। दरबारी तहजीब की तरह हैं- वे कविता के स्वाभाविक अंग नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बिलकुल कल्पित धारणा भी नहीं है क्योंकि संस्कृत और हिन्दी में उन्हें इस रूप में भी पेश किया गया है। अलंकार के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य मम्मट ने उन्हें काव्य के शोभा-विधायी धर्म कहा था (काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते)। यह भी कहा गया कि ये काव्य-शरीर के उपकारक हैं, प्रसाधन हैं (उस अर्थ में नहीं, जिसमें रेल्वे स्टेशनों पर यह लिखा रहता है!)– लिहाज़ा अनित्य हैं, अस्थिर हैं। रीतिकाल में तो अलंकारों को संभ्रातों की दरबारी मजधज जैसा कुछ बना दिया गया था– "भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त।" नए काव्यालोचन युग में, लगता है, अलंकार की उपेक्षा के पीछे ऐसे सोच काम कर रहे हैं। लेकिन अलंकार की एक मार्मिक अवधारणा भी हमें उपलब्ध है, और यदि हम कविता के भीतर उनकी भूमिका पर गौर कर सकें तो वह सही मालूम होती है। आनंदवर्धन ने तर्क दिया था कि रस की अभिव्यक्ति में शामिल अलंकार कविता का बाहरी पक्ष कैसे हुआ, वह तो उसका अंतरंग भाग है: "न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ"। इसी बीच एक वस्तुनिष्ठ आचार्य कुंतक हुए, उन्होंने अलंकार को लेकर जो कहा उसे अलंकार के वकीलों तक ने भुला दिया। उन्होंने कहा था– "अलंकार कविता के शोभा-विधायी तत्त्व नहीं, स्वरूप-विधायी तत्त्व हैं।" यह बहुत सही बात थी। अगर ऐसा नहीं होता तो अपने अपरिचय और अवमानना के बावजूद अलंकार स्वाभाविक रूप में कविता में कैसे चले आते? देखें–

चाँदनी-सी उँगलियाँ चंचल
क्रोशिये-सी बुन रही थीं चपल
फेन झालर-बेल मानो
स्वप्न में, रौंदी हुई-सी विकल सिकता
पुतलियों-सी मूँद लेती आँख।

(शमशेर। कुछ कविताएँ, पृ. ३०)

प्रकृति में मानवीय क्रिया की प्रतीति और उसके जीवंत बिम्ब यहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के माध्यम से मिले हैं। ये माध्यम यहाँ सक्रिय हैं और कविता के संवेदनीय स्वरूप का हिस्सा हैं, क्योंकि इन्हें इन पंक्तियों से निकाल देने पर वह सूत्र ही गायब हो जाता है जो मानवीय सादृश्य का काल्पनिक आधार है। देखा जाए तो अलंकरण **संश्लेषण और स्थानांतरण के मार्मिक भागीदार होते हैं।**

कविता का रिश्ता मन–मस्तिष्क से है। उसकी रचना–प्रकिया स्नायु तंतुओं को झंकृत करते हुए विचार और अनुभव के बंधन खोलती है और **यथार्थ को भी ऐसी सन्निधियों से प्रभावित करती है कि वह परिचालित हो जाता है।** सर्जना का अणु-अणु जब तक स्वयं परिचालित न होगा, तब तक वस्तु परिचालित न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगी । अलंकरण जैसे माध्यम सर्जना को **गतिशील** बनाते हैं और यही उनकी वह प्रधान भूमिका है जिसके कारण कुंतक या आनंदवर्धन ने उन्हें कविता का अंतरंग भाग माना है । ज़ाहिर है कि कविता की सहयात्री आलोचना को अलंकार-विमुख करके काव्यालोचन को कितना बड़ा नुकसान पहुँचाया गया है ? अगर यह कहा जाए कि बिम्ब, प्रतीक आदि शब्दावली से हमने उसे नए संदर्भों और अर्थों में हासिल किया है तो वह अधूरा सच है क्योंकि अनेक अलंकार बिम्ब या प्रतीक की सीमा में नहीं आते । गंदी बस्ती के इस चित्र में जो अनुप्रास आए हैं वे किस तरह बिम्ब या प्रतीक के ज़रिए जाने जाएँगे–

विवश इस छोर से उस छोर तक
मैला, कूड़ा–कचरा,
सड़ा–गला, जख़ीरा बहता हुआ गंदला पानी
नाली का । लगता कितना बोगस, बुरा, बेमानी ।
पर बँधी हुई गली को गति देता है वही
इस छोर से उस छोर तक ।
कौन जाने वही पलाश पंखी उदयन उगाता हो
क्षितिज नहीं ।

(श्रीराम वर्मा । नई कविता–४, पृ. १०६

स्वरों और व्यंजनों की आवृत्ति सारी गंदगी को निरंतर सघन करती है । आ, आ, आ, ई, ई, ई, बे, बु, बे, जैसी आवृत्तियाँ स्नायु तंतुओं से अनवरत टकराती हैं और नाली, कूड़ा, सड़ी जिन्दगी आदि को अधिक आक्रामक ढंग से उभारती है । अंतिम पंक्ति में जो संदेहाभास [1] उत्प्रेक्षा [2] अपन्हुति [3] आदि का संशिलष्ट रूप है– वह न बिम्ब है न प्रतीक, वह अलंकरण है, जिसे उद्भट आदि ने "संकर" अलंकार कहा है ।

नए कवि में एक तरह से **अलंकृत वर्णन की इच्छा लुप्त हो गई है** । तब भी जैसा हमने देखा कि अगर अलंकार उसकी रचना में चले आते हैं तो वे उसकी भीतरी जरूरतें हैं । जहाँ तक लक्षणों का सवाल है उनका निर्धारण यांत्रिक शैली में किया जाता है इससे उसके प्रयोग तकनीकी लगने लगते हैं और जब कोई कवि लक्षण को ढाँचे की तरह प्रयुक्त करता है तब रचना भी ढाँचा भर रह जाती है, लेकिन लक्षणों का निर्धारण कविता की सहजोपलब्ध सुन्दरता को समझने के लिए किया जाता है और इसी रूप में वे कवि के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं । अगर इनका यांत्रिक उपयोग किया जाएगा तो कविता को खमियाज़ा भुगतना ही होगा । यह स्पष्ट तो होना चाहिए कि कविता से निकले लक्षण **कविता की प्रकृति या उसके स्वभाव की व्याख्या हैं** । अगर आधुनिक कविता का स्वभाव बदल गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो नए मानदंड उसमें से बनेंगे या पुराने मानदंडों का पुनर्मूल्यांकन और उनकी पुनर्रचना करनी होगी।

जहाँ तक मैं समझता हूँ अलंकार के संबंध में चाहे जितनी बरसें हुई हों और पक्ष-विपक्ष में व्याख्याओं के अम्बार लग गए हों, लेकिन इतना सच है कि "अलंकरणों को जरूरत से ज्यादा" वर्गीकृत किया गया है, यहाँ तक कि उनके चमत्कारों और कथन-भंगिमाओं को कहीं-कहीं कविता से स्वतंत्र पहचानने की जिद भी की गई है। उससे कविता के विवेचन में एक खास तरह की संदर्भ-हीनता आई है, इसलिए उन्हें **नया बोध और संदर्भ देने की जरूरत है**। छायावाद में अंशतः यह प्रयत्न कवियों द्वारा भी किया गया था। मसलन पंत ने "पल्लव" की भूमिका में अलंकारों को न केवल "भावाभिव्यक्ति के द्वार" कहा उन्हें "वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति, अश्रु, हास, स्वप्न" भी महसूस किया था। यह बात अलग है कि छायायाद में अलंकार की भूमिका भिन्न थी। आज की कविता में अलंकार भावानुभूति के आगे संदर्भित अर्थवत्ता के बिना निश्चय ही निरर्थक समझे जाएँगे। क्योंकि आज अलंकरण केवल वचन-वक्रता और भंगिमा तक सीमित रहकर कविता का कोई हित नहीं कर सकते। वे तभी सार्थक हो सकते हैं जब कि प्रसंगवत्ता और सार्थकता के साथ अभिव्यक्ति की उन शक्तियों को पहचानने में भी मदद करे जिनसे कविता में प्रभावान्विति पैदा होती है। ऊपर अनुप्रास का जो उदाहरण दिया गया है, वह वर्ण या वर्ण-समूहों की आवृत्ति में ही अलंकारत्व हासिल नहीं करता, बल्कि उससे कविता का प्रयोजन अधिक सघनता और सामर्थ्य से उभरता है। यही उसका अलंकारत्व है। जब नरेश मेहता "संशय की एक रात" के परिवेश में कहते हैं कि "यह अंतरीय मन का स्थल का" तो वे यह नहीं चाहते कि अंतरीय शब्द से पाठकों को चमत्कृत करें, बल्कि चाहते यह हैं कि धरती और यथार्थ के दोहरे अर्थ से जल में अनुप्रविष्ट धरती और मन में अनुप्रविष्ट वेदना के दूरगामी प्रभाव को रेखांकित करें। वे असल में स्थूल सादृश्य बोध से उस व्यथा का जिक्र करते हैं जो मन को बेचैन करती है। नया कवि अगर शब्द के अलंकर का भी इतनी अंतरंगता से और चमत्कार की अनिच्छा से इस्तेमाल करता है तो अर्थ के अलंकरण उसकी कविता में स्वरूप की हैसियत पाए बगैर उतर ही नहीं सकते हैं। गहराई से देखा जाए तो नया कवि स्वयं अलंकरण को कविता के स्वरूप की खोज साधन नहीं बनाता, बल्कि कविता का स्वरूप ही अपने को पहचानने के सिलसिले में अभिव्यक्ति की जो भंगिमा अपनाता है उससे अलंकार फूट पड़ते हैं। यही कारण है कि वह पारम्परिक प्रतीतियों के पास न जाकर यथार्थ और सत्य के पास जाता है। नतीजे में उसके अलंकरणों में समय की धड़कन सुनाई पड़ती है, आलंकारिक प्रतीति नहीं। वह तो बल्कि जोर देकर कहता है —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय पाठक ! ये मेरे बच्चे हैं कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में मैं हूँ मैं कोई रूपक नहीं ।

(रघुवीर सहाय: एक अधेड़ भारतीय आत्मा– आत्म-हत्या के विरुद्ध, पृ. ८०)

"निरावृत दिन" जब गिरिजाकुमार माथुर महसूसते हैं तो अनेक अनुभूतियाँ एक साथ उनके मन में हस्तक्षेप करती हैं। नतीजे में अनायास एक "मालोपमा" खड़ी हो जाती है और न केवल दृश्य को, बल्कि मन पर पड़े अक्स को भी रूपांकित करती हैं–

तेज़ झिलते पानी में धूम का यों प्रतिबिम्ब–आईने में ।
चलते हुए पंखें की पखड़ियों पर पड़ता-सा उल्टा अक्स ।
सफेद ट्यूब लाइट में, दौड़ता हल्का नियन धूम, बदन पर
लिपटा, हलका बैंजनी रंग, उड़ गया सहसा, गसीला रूप-कारा

(भीतरी नदी की यात्रा, पृ. १९)

अलंकार के ढले ढलाए साँचे में न सिर्फ यहाँ कुछ नहीं कहा गया है, बल्कि "अलंकारत्व" की ओर कवि का ध्यान ही नहीं है, इसी से नई और नितांत प्रभाववादी अनुभूतियाँ, तरह-तरह की सूक्ष्मताओं में उभरी हैं। अलंकार के प्रति नए कवि के ऐसे आचरणों को ध्यान में रखकर ही हम शास्त्रीय प्रतीतियों से भिन्न, कविता से नई संवादिता कायम कर सकते हैं।

अगर शब्द की स्थिर प्रतीतियों के भीतर नए चमत्कार पैदा करने का इरादा नए कवि का होता तो अनुभवों की काँपती, सूक्ष्म तरंगों को कविता में उतार पाना उसके लिए शायद संभव नहीं हो पाता। नई कविता से उपमा का एक उदाहरण लें जहाँ कवि केवल उपमागत सादृश्यों से ही संतुष्ट नहीं है, वह सादृश्य की अपनी समग्र अनुभूतियों को भी कविता में संचरित करना चाहता है। इसलिए उसके अलंकरणों में लहरदार गूँज और सक्रियता पैदा होती है। यह राम विलास शर्मा की एक पूरी कविता है–

१. किरन हेमन्ती सुबह की, मलगई, सुधर चेहरे पर तुम्हारे, अंजुरीभर धूप
२. अचानक, फिर हमारे बीच, लगी गलने, सख्त बर्फीली शिलाएँ, अजनबीपन की
३. किंचित टोह लेती-सी, बँधती है, निर्निमेषित दृष्टि, विस्मृति के पारदर्शी कुहासे की पर्त.
४. उग रही है, ज्वार के स्वादिष्ट भुनते दूधिया दानों सरीखे, ऊष्म अधरों पर झिझकती स्निग्ध मुस्कानें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. कर रही, टीना लहलहाती ईख-सी, रोम रंध्रों से उमगती, हर सिंगारों की मुलायम गंध।

६. चीन्हता-सा लग रहा है आज फिर मुझको, दिगदिगंतों को समेट बाहुओं में, यह तुम्हारा सरल, निश्छल निर्विवादिता रूप

(आज फिर मुझको : कविता में सुबह, पृ. ३६–३७)

हेमन्ती किरन जो चेहरे पर अंजुरी भर धूप "मल गई है कविता के छह हिस्सों में" लगातार अपने अनुभूति शेड्स घने और व्यापक बनाती है। हेमन्ती सुबह का मानवीकरण (अलंकार) आगे अजनबीपन की सख्त बर्फीली शिला गलने के रूपक (अलंकार) में पर्यवसित होता है। विस्मृति के पारदर्शी कुहाएँ को बेधती दृष्टि की उपमा (अलंकार) सौन्दर्य के पारदर्शी प्रभाव के जरिए बर्फीली शिला के गलने को सार्थक करती है। इसके साथ ही प्रकृति पुनः सौन्दर्यानुभूति में हस्तक्षेप करती है और "ज्वार के स्वादिष्ट भुनते दूधिया दानों" के ताजे उपमान से अधर की ऊष्मा और मुस्कान में झाकते दाँतों को बिलकुल अपरिचित विधान से परिचित लेकिन नया सादृश्य देती है। "लहलहाती ईख-जैसी हरसिंगार की मुलायम गंध" में गदराई वयस्क उदात्तता की सुगंधित अनुभूति साकार हो जाती है। और अंत में हेमन्ती किरण, बर्फीली शिला, ज्वार के दाने, ईंख की हर सिंगारी गंध सब संश्लिष्ट हो जाती हैं। नतीजे में सौन्दर्य तथा प्रेम के अनुभव में प्रेमी अपने को मुलायम कटघरे में खड़ा पाता है। उसको टोह लेती आंखें, अपरिचय गलाता हेमंती सुबह का चेहरा, स्निग्ध मुस्कान, हरसिंगारी गन्ध– यानी एक साथ दिग्दिगन्तों को समेटने वाला "रूप" ऐसा लगता है गोया प्रेमी को "चीन्ह" रहा हो। रूप को पहचानने वाली आंख को और अनुभव करने वाले मन को स्वयं रूप ही पहचानने लगता है। यह विपर्यय, वास्तव में रूप और अनुभव का परस्परावलंबी संश्लेष है। रूप की यह विराट् सत्ता अलंकरणों से छन कर आई है। यहाँ अलंकार न तो अपना उद्देश्य (यानी दिखावे के लिए) हैं न सौन्दर्य के उपकारक हैं, वे दरसल अनुभूति के विन्यास हैं। जाहिर है कि नए कवि में अलंकार, भाषा के साधन नहीं भाषा की शक्ति हैं। **उसमें वर्गीकृत चेतना और चमत्कार भाव नहीं है बल्कि समग्रता और पारदर्शकता है।** यह इसलिए संभव हो पाता है कि कविता रूपात्मक होती है और जो भी तत्त्व स्वरूप विधायी तत्त्व होते हैं वे कविता के अभिन्न होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार और अनुभूति श्रृंखलाबद्ध होती है– एक भाव, दृश्य या विचार के समानान्तर अथवा विरोधी तत्त्वों की कड़ियाँ मत में जुड़ती चली जाती हैं। एक चीज़ को देखकर दूसरी समान या विरोधी वस्तु स्वयमेव मन में उभर आती है। इसलिए **अलंकार कविता की ही नहीं, मन की भी स्वाभाविकता है।** उदाहरण के लिए मधुमक्खी के छूने से हिलते हुए पुष्प को देखकर माँ का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदास चेहरा याद हो जाना (समशेर। कुछ कविताएँ-३०) या नरम घास पर सूखी टहनी के गिरने से किसी की गोद में मुँह छिपाने का अनुभव-स्मरण (सर्वेश्वर : कविताए-२।२२) या ठण्डी हवा द्वारा अरहर के पौधों को सहलाते देख कर बुढ़िया दाई के थरथराते, सहलाते हाथों की याद (रामविलास शर्मा। कविता में सुबह, पृ. १०६) इसी तरह के सादृश्य हैं जो कविता की शोभा के से अधिक अनुभूति की मनोवैज्ञानिक विवशता के स्वाभाविक परिणाम हैं। **कवि अपने सदोदित क्षणों में अलंकारों को नहीं पुकारता, वे ही उसके पास खींचे आते हैं।**

यह एक भिन्न समय है– किन्हीं अतार्किक कल्पनाओं में उड़ने का समय नहीं है। इसलिए अलंकार पुराने युग की तरह स्वयंसिद्धि की नहीं सत्यापन की मांग करते हैं। इसलिए देह को सिर्फ कनक चम्पा[४] कह देने से न अज्ञेय का काम चलता है न जीवन को खंडहर[५] कह देने से मुक्तिबोध का। उन्हें अनेक तरह की सर्जनात्मक और वास्तविक प्रक्रियाओं से जूझ कर उपमानों को सिद्ध करना होता है, अनेक सम-विषम सन्निधियां जुटानी होती हैं। इसलिए **नई कविता में अलंकार केवल शब्द या नाम में उपलब्ध नहीं होते वरन् एक पूरी संलग्न और सचेत प्रतिक्रिया में उपलब्ध होते हैं।** यह भी कारण है कि उनमें संकर अलंकारों के रूप अधिक मिलते हैं:

लाखों आंखों से तुम्हें देखती बैठेगी। वह भव्य तृष्णा। इतने समीप। ज्यों लाली भरा आसमान। आँचल फैला। अपनेपन की प्रकाश वर्षा में। रुधिर स्नात हँसता समुद्र। अपनी गंभीरता के विरुद्ध। चंचल होगा।

(मुक्तिबोध। पता नहीं। चांद का मुँह टेढ़ा है, पृ. ५)

यहाँ मानवीकरण, उत्प्रेक्षा, रूपक, विसंगति, आक्षेप जैसे अनेक अलंकार इस वजह से गुंथे हैं कि कवि उस "भव्य मानवीय तृष्णा" और विराट् बहुविध, संघर्षरत मानव-समुदाय की आकांक्षा को व्यक्त करना चाहता है। और नए सादृश्यों और विरोधों को पूरी तरह रूपांकित करना और अनुभवगम्य बनाना चाहता है क्यों? **कविता लगातार सापेक्ष दुनिया को क्यों तलाशती रहती है?** इसलिए कि उसके भीतर मूर्त और अमूर्त, या प्रस्तुत और अप्रस्तुत की गहरी साफेदारियाँ हैं। अलंकार वास्तव में इन्ही **पुलों** का निर्माण करते हैं, वे सौंदर्य को **अनेक कोणों से देखने की चाह है।** फिर भले वे अपनी उपस्थिति को रेखांकित करें या न करें'–

हो गया कंपित शरद के शांत झीने ताल-सा
तन
आह करूणा का अयाचित एक झोंका।
सांत्वना की तरह मन की सतह पर लहरा गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहाँ से उपजा
कहाँ को गया।
(विजयदेवनारायण साही । अयाचित झोंका, । मछली घर, ६९)

अब यहाँ उपमा, रूपक आदि को अलग से पहचान कर क्या होगा ? मगर वे हैं और उन्होंने उस अयाचित झोंके को मन की भाषा और अनुभूति दी है।

८२।१०१ – प्रभाकर श्रोत्रिय
तुलसीनगर
भोपाल-४६२००५
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. इस गन्दगी से सूर्य उगता है या क्षितिज से कहा नहीं जा सकता। (सन्देहाभास)
२. सूर्य मानो गन्दगी से निकल रहा हो, क्षितिज से नहीं। (उत्प्रेक्षा)
३. सूर्य क्षितिज से नहीं निकलता, बल्कि गन्दगी से निकलता है। (अपन्हुति)
४. तुम्हारी देह
मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर से ही
स्मरण में भी गंध देती है (अज्ञेय, नखशिख बाबरा अहेरी, पृ. २७)
५. जीवन के ख़ंडहरों के सुनसान साये में व्यभिचारी भावों के दृश्यों को उभार कर आदर्श बघारते हैं हाथ जोडे रहते हैं बड़े बड़े बुद्धिमान रावण के घर पहारा देते हैं। बड़े बड़े नेतागण, बड़े बड़े ईश्वर।
(मुक्तिबोध, जिंदगी का रास्ता भूरी भूरी खाक धूल, पृ. १६७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग : संकल्प-प्रक्रिया द्वारा स्वतन्त्रता

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने सन् १९३७ में, 'इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' अमलनेर में योग-दर्शन पर जो भाषण दिये थे वे "स्टडीज इन फिलॉसफी" जिल्द संख्या १ में "स्टडीज इन योग फिलॉसफी"[1] के नाम से संग्रहीत हैं। "स्टडीज इन योग फिलॉसफी" में दस अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों के शीर्षक "सांख्य एवं योग" हैं। प्रथम अध्याय में उन्होंने बुद्धि, अहंकार, और अस्मिता के स्वरूप एवं योगदर्शन में उनके स्थान पर चर्चा की है। द्वितीय अध्याय के विषय हैं: कारणता, संचरण (becoming) और काल। तृतीय अध्याय में आनुभविक जगत्, उसकी स्थिति एवं संरचना पर विचार किया गया है। चतुर्थ एवं पंचम अध्यायों का भी एक ही शीर्षक - 'बुद्धिवृत्ति" है। इन दोनों अध्यायों में उन्होंने निद्रा, स्मृति, विकल्प, विपर्यय एवं प्रमाण के स्वरूप पर चर्चा की है। छटवें अध्याय में उन्होंने बुद्धि के पाँच स्तरों– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त एकाग्र एवं निरुद्ध– की व्याख्या प्रस्तुत की है।[2] सातवें, आठवें एवं नवे अध्यायों में उन्होंने क्रमशः योग के स्वरूप, योग के प्रकार तथा योग की विधि पर प्रकाश डाला है। अन्तिम अर्थात् दसवें अध्याय की विषय वस्तु है ईश्वर का प्रत्यय। योग-दर्शन की प्रस्तुत व्याख्या के लिए कृ. च. भट्टाचार्य ने प्रमुख रूप से योग-सूत्र एवं व्यास-भाष्य को आधार बनाया है। अपने मत की पुष्टि एवं अन्य मतों के खण्डन हेतु भट्टाचार्य ने कभी कभी वाचस्पति मिश्र, विज्ञान भिक्षु एवं भोज द्वारा लिखित वृत्तियों (टीकाओं) का सहारा लिया है।

कृ. च. भट्टाचार्य ने "स्टडीज इन सांख्य" में यह बताने का प्रयास किया है कि ज्ञान-प्रक्रिया (Knowing process) या मनन (reflection) द्वारा स्वतंत्रता या मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है।[3] लेकिन "स्टडीज इन योग फिलॉसफी" में उन्होंने संकल्प-प्रक्रिया (Willing process) द्वारा मुक्ति की सम्भावना को दर्शाया है। इस संक्षिप्त लेख में हम यह बताने का प्रयास करेंगे कि कृ. च. भट्टाचार्य अपने मत– संकल्प-प्रक्रिया द्वारा मुक्ति (स्वतंत्रता) की पुष्टि कैसे करते हैं।?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य एवं योग में काफी समानता होते भी इन दोनों तंत्रों में कृ. च. भट्टाचार्य के अनुसार कुछ मूलभूत अन्तर है। प्रथमतः सांख्य (ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रतिपादित) निरीश्वरवादी है जबकि योग ईश्वरवादी है। द्वितीय बात यह है कि सांख्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति की एकमात्र विधि तत्त्वमीमांसीय ज्ञान है। योग मोक्ष प्राप्ति हेतु साधना पर जोर देता है। स्पष्टता के लिए इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि द्वैतवादी सांख्य तंत्र के साथ सम्बन्ध होने पर इसे सांख्य-योग कहते हैं जबकि अद्वैतवादी परम्परा में योग, वेदान्त-योग के नाम से अभिहित होता है। सांख्य एवं वेदान्त के साथ योग का सम्बन्धित होना ही सम्भवतः भट्टाचार्य द्वारा इन दार्शनिक तंत्रों पर लिखने का कारण हो। सांख्य एवं योग पर लिखते समय भट्टाचार्य का उद्देश्य क्रमशः मननात्मक प्रक्रिया एवं साधना (मेडीटेशन) के स्वरूप पर प्रकाश डालना था।

संकल्प और स्वतंत्रता

कृ. च. भट्टाचार्य चेतना के तीन स्वरूपों। प्रकारों—ज्ञान (जानना- Knowing) संकल्प (Willing) तथा भाव (feeling) और उनकी विषय वस्तुओं के बीच सम्बन्ध भी विभिन्न प्रकार का मानते हैं। ज्ञान में उसकी विषय वस्तु या अन्तर्वस्तु (content) चेतना द्वारा निर्मित नहीं होती। संकल्प में उसकी अन्तर्वस्तु चेतना द्वारा गठित होती है। और भाव में अन्तर्वस्तु चेतना के साथ एक प्रकार का ऐक्य बनाती है। भट्टाचार्य चेतना और अन्तर्वस्तु के बीच सम्बन्ध को 'गूढ़ार्थक विभेदीकरण' नाम देते है। अन्तर्वस्तु एवं चेतना के बीच गूढ़ार्थक विभेदीकरण (Implicative Distinction) स्वतंत्रता या मुक्ति (चेतना की उसकी अन्तर्वस्तु से स्वतंत्रता या मुक्ति) को भी तीन प्रकार से समझा जा सकता है। परिणामतः प्रत्येक प्रकार के चेतना-अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में परम् (Absolute) का निरूपण या नियमन अपना-अपना होगा। ज्ञान का परम् सत्य है, संकल्प का **स्वतंत्रता** और भाव का परम् **मूल्य** है। कृ. च भट्टाचार्य के अनुसार सत्य, स्वतंत्रता एवं मूल्य को एकीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि परम् के ये निरूपण विकल्प के रूप में होते हैं।[५]

संकल्प में, जैसाकि हम पूर्व में कह आये हैं, चेतना अपनी अन्तर्वस्तु को गठित करती है। संकलिपत अन्तर्वस्तु स्वयं में निरूपित (Definite) के सदृश प्रतीत होती हुई अपने को गठित करनेवाले संकल्प की परिसीमा के रूप में दिखाई देती है। चेतना के अमननात्मक स्तर[६] पर गठित अन्तर्वस्तु संकल्प क्रिया के लिए बाहरी वस्तु जैसी प्रतीत होती है। लेकिन चेतना के मननात्मक स्तर पर यह परिसीमा आत्म-परिसीमा (अथवा संकल्प की स्वतंत्र परिसीमा, जो स्वयं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध करती है) के रूप में सिद्ध या साकार (realized) नहीं होती। लेकिन मनन यह मांग प्रस्तुत करता है कि परिसीमा, जो कि अनिवार्यतः संकल्प द्वारा गठित होती है, को इस अर्थ में आत्मपरिसीमन के रूप में साकार किया जाना चाहिए। मननात्मक चेतना के लिए यह सदैव एक परिसीमन है लेकिन मननात्मक चेतना इस परिसीमन को आत्म-परिसीमन के रूप में साकार या सिद्ध करने की माँग प्रस्तुत करती है अर्थात् वह स्थिति प्राप्त करने की मांग करती है जहाँ संकल्पित अन्तर्वस्तु संकल्प को परिसीमित नहीं करती हो।

चेतना के मननात्मक स्तर पर, जिसकी मांग की जाती है (अर्थात् आत्म-परिसीमन की मांग) वह अपनी सभी अन्तर्वस्तुओं से स्वतंत्र होता है तथा वह संकल्प चेतना का परम् है। इसे अतिमननात्मक चेतना में साकार किया जाता है। इस विचार को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यह कह सकते हैं कि अतिमननात्मक चेतना में संकल्प आत्म-परिसीमन के रूप में दिखाई देता है अर्थात् संकल्प स्वयं को सिद्ध करने लिए स्वयं को परिसीमि करता है। संकल्प स्वयं को स्वेच्छापूर्वक एक भाव या सत्ता (being) से बांध लेता है। उसका निराकरण करता है एवं स्वतंत्र हो जाता है।[७]

वह चेतना—जो अपनी अन्तर्वस्तु से स्वतंत्र है अथवा जो एकमात्र अपनी अन्तर्वस्तु का गठन करती हैं, अन्तर्वस्तु को अन्तर्वस्तु बनाती है, अन्तर्वस्तु स्वयं से विभेदित करती है या स्वयं को स्वयं से विभेदित करती हैं— संकल्प की स्वतंत्रता है अथवा संकल्प का परम् है। जब संकल्प संकल्पित-अन्तर्वस्तु (जो संकल्प की स्वतंत्रता को परिसीमित करती है) से स्वतंत्र हो जाता है, तो वह स्वयं स्वतंत्रता है– यही संकल्प का परम् है।

संक्षेप में, संकल्प (जो कि चेतना का एक स्वरूप है) एवं संकल्पित वस्तु के बीच सम्बन्ध के बारे में भट्टाचार्य का कहना है कि संकल्प में चेतना अपनी अन्तर्वस्तु गठित करती है। संकल्पित अन्तर्वस्तु स्वयं में निरूपित के सदृश प्रतीत होती हुई अपने को गठित करने वाले संकल्प की परिसीमा के रूप में दिखाई देती है। लेकिन संकल्प का आदर्श वह है जहाँ कि उस पर किसी भी प्रकार की सीमा न हो। संकल्पित-वस्तु संकल्प के साध्य अर्थात् स्वतंत्र-संकल्प की प्राप्ति में साधन का कार्य भी करती है। संकल्पित-वस्तु संकल्प पर निर्भर करती है। संकल्प से अलग वह कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में, संकल्पित- वस्तुओं को (स्वतंत्र संकल्प के) साधन होने एवं संकल्पित होने के लिए संकल्प की आवश्यकता होती है। चेतना का वह स्तर जो अपनी अन्तर्वस्तु से स्वतंत्र है, (अर्थात् वह चेतना जो एकमात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी अन्तर्वस्तु का गठन करती है अन्तर्वस्तु को अन्तर्वस्तु बनाती है अन्तर्वस्तु को स्वयं से विभोदित करती है या स्वयं को स्वयं से विभेदित करती है) संकल्प की स्वतंत्रता है– संकल्प का परम् है। जब संकल्प, संकल्पित-अन्तर्वस्तु जो इसकी स्वतंत्रता को परिसीमित करती है, से स्वतंत्र हो जाता है तो वह स्वयं स्वतंत्रता या मोक्ष है– यही संकल्प का परम् है।

योग में संकल्प की केन्द्रीय भूमिका

योग को चित्त की वृत्तियों के निरोध के रूप में परिभाषित किया जाता है।[८] चित्त से तात्पर्य यहाँ सांख्य की तीनों आन्तरिक इन्द्रियों–बुद्धि, अहंकार एवं मनस्–से है। जब साधना द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है तब व्यक्ति को अखण्ड चेतना (Integral consciousness) की प्राप्ति होती है । यह स्थिति मोक्ष या स्वतंत्रता है।

सांख्य एवं योग में एक प्रमुख भेद संकल्प (Will) का प्रत्यय एवं इस प्रत्यय के आध्यात्मिक जीवन में महत्व को लेकर है। सांख्य के अनुसार संकल्प, अहंकार का कार्य (functiton) है[९] बुद्धि का नहीं। अहंकार सीमित कर्ता (tinite agent) की अपनी सीमितता बनाये रखने की क्रिया है।[१०] बुद्धि महत् या विभु है।[११] संकल्प, आत्म-विनिश्चय (self-conscious certitude) से प्रारम्भ होता है जो कि बुद्धि का कार्य है। प्रत्येक व्यवहारकारी जीव पहले विषयों की आलोचना करता है। इसके बाद मन से मनन कर फिर "मैं इसमें अधिकृत हूँ" ऐसा अभिमान करके 'यह मुझे करना चाहिए' ऐसा निश्चय करता है और इसके बाद प्रवृत्त होता है। यही अस्मिता है। अस्मिता संकल्प नहीं है। जबकि योग-दर्शन में संकल्प ही अस्मिता है। यह (संकल्प) न केवल आत्म-चेतना से प्रारम्भ होता है बल्कि यह आत्म-चेतन विषयी है तथा अस्मिता चेतना का मात्र विषय नहीं है। संकल्प या 'सक्रिय मुझे' (Active me) अहं (I), जो उसे जानता है, की ही अनुवृत्ति है । संकल्प के बारे में चेतन होना अहम् संकल्पयामि (I-Willing) को ही चेतना है। यह चेतना मात्र 'मुझे' (Me) की चेतना ही नहीं है वरन् 'अहम्' का 'मुझे' होना है (I becoming me)। जब सीमित मानसिक विषय के रूप में संकल्प का प्रादुर्भाव होता है तो अस्मिता छूट नहीं जाती। योग में अहंकार को अस्मिता कहा गया है तथा यह बुद्धि का कार्य है। यह सांख्य के समान अलग तत्त्व नहीं है।

योग का चित्त का प्रत्यय (सांख्य में बुद्धि का प्रत्यय) अहंकार (ज्ञातृत्व प्रकार्य– Knowing function) तथा अस्मिता (संकल्प प्रकार्य– Willing

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

function) में इसके दो अलग-अलग तत्त्वों के रूप में विभेदित नहीं करता। योग में संकल्प एवं ज्ञान एक ही तत्त्व अर्थात् बुद्धि की दो सतत क्रियाएँ हैं। अत. भट्टाचार्य कहते हैं कि "संकल्प अथवा सक्रिय-मुझे (Active me) अहम् (I), जो इसे जानता है, का सातत्य है।" [१२] चूँकि योग-सूत्र में अहंकार पद कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है [१३] अतः योग संकल्प को आध्यात्मिक जीवन या "आध्यात्मिक स्वतंत्रता-प्रक्रिया" में केन्द्रीय स्थान प्रदान करता है। संकल्प को सभी प्रकार के जानने (Knowing) में आन्तरिक रूप से निहित माना गया है। भट्टाचार्य के अनुसार विवेक में भी संकल्प निहित है क्योंकि इसमें आत्म को स्वयं विवेक से अलग करने का आरंभिक संकल्प सम्मिलित है। अतः संकल्प (जो कि सांख्य में अहंकार की सत्ता का आत्म-अभिव्यक्तिकरण है, बुद्धि में शक्यता के रूप में है) को योग में बुद्धि, जो अहंकार का निर्माण करती है, के कार्य के रूप में समझा गया है।

संकल्प-प्रक्रिया से सम्बन्धित कृ. च. भट्टाचार्य के मत को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है। संकल्प बुद्धि की अनिवार्य क्रिया है। इसकी दो दिशाएँ हैं: १. भावात्मक, एवं २. नकारात्मक। प्रथम (भावात्मक) भोग की ओर प्रवृत्त करती है तथा द्वितीय मुक्ति की ओर। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि ये (प्रवृत्ति और निवृत्ति) अस्मिता या अहम् संकल्पयामि की ही गतियाँ हैं। नकारात्मक संकल्प (या ऊपर की ओर जानेवाला संकल्प या आध्यात्मिक संकल्प) अस्मितानुगत (ज्ञान के विशुद्ध रूप से युक्त समाधि का एक रूप) से होता हुआ असम्प्रज्ञात में परिसमाप्त होता है। [१४] असम्प्रज्ञात चेतना की उच्चतम स्थिति मुक्तात्मा की स्थिति है। सांख्य में यह आध्यात्मिक संकल्प या निवृत्ति-क्रिया मनन है। यह संज्ञानात्मक है, संरचनात्मक प्रक्रिया नहीं है। इतना ही नहीं सांख्य इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी विशिष्ट क्रिया का विधान भी नहीं करता। दूसरे शब्दों में, सांख्य दर्शन में आध्यात्मिक संकल्प का प्रत्यय नहीं है।

योग में आध्यात्मिक संकल्प परम् स्वतंत्रता या मुक्ति के साधन की अत्यन्त अनिवार्य अवस्था है। भ्रम या अविद्या को सुधार कर स्वतंत्रता प्राप्त की जाती है। भ्रम या अविद्या का निवारण सांख्य में ज्ञान के अनुसार होता है जबकि योग में आध्यात्मिक संकल्प की ज्ञान में परिसमाप्ति नहीं होती। अतः भट्टाचार्य के अनुसार योग ऐसा तंत्र है, जिसमें आध्यात्मिक संकल्प द्वारा आत्मा की स्वतंत्र अवस्था प्राप्त की जाती हैं। [१५] एक बात यहाँ और ध्यान देने की है कि सांख्य एवं योग दोनों ही तंत्रों में कारणात्मक प्रक्रिया, अहंकार (भोग की ओर उन्मुख संकल्प) का कार्य है एवं अधोन्मुखी प्रक्रिया है, जिसमें प्रकृति के परिणाम उद्भूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। लेकिन मोक्ष प्रक्रिया दोनों ही तंत्रों में भिन्न-भिन्न है। सांख्य में मोक्ष प्रक्रिया, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, का सम्बन्ध सहज-मनन (Spontaneous reflection) से है तथा योग में यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वतंत्र नकारात्मक संकल्प (निवृत्ति) से जुड़ी हुई है। [१६]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कारणात्मक प्रक्रिया केवल प्रकृति के अधोन्मुखी विकास से सम्बन्धित है। जो इस विकास-प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् शरीर और बाह्य-जगत् का (योग, सांख्य, एवं वेदान्त के अनुसार) तत्त्व-मीसांसीय स्तर (योग, सांख्य एवं वेदान्त के अनुसार) क्रमशः तथ्य का स्तर अ-कारणात्मक आभास तथा भ्रम है। योग आनुभविक जगत् को विवेक-तत्त्व के अन्तःवर्तित परिणाम (विकास) के रूप में मानता है। [१७]

सांख्य का सत्कार्यवाद तत्त्वों के अन्तःवर्तित कारणात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता, वह केवल बाह्य-जगत् की अ-कारणात्मक व्याख्या ही दे सकता है। अतः कृ. च. भट्टाचार्य कहते हैं कि सांख्य के लिए भोग या अनुभव, भ्रमात्मक अन्तर्वस्तु है लेकिन भ्रमात्मक इसके लिए पूर्ण रूपेण अवास्तविक नहीं है। यह एक पहलू के सत् है जब कि वेदान्त में न तो इसे सत् कहा जा सकता है और न असत्। [१८]

योग में आध्यात्मिक संक्रिया (activity) को संकल्प के रूप में समझा गया है। आध्यात्मिक क्रिया को यहाँ एक ऐसी क्रिया के रूप में समझना चाहिए जिसका सीधा-सीधा लक्ष्य बुराई (evil) से मुक्ति है। जानना भाव एवं संकल्प इस कोटि में आते हैं। यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, योग के लिए संकल्प प्रमुख आध्यात्मिक क्रिया है तथापि जानना और भाव को भी अन्तर्निहित संकल्प के रूप में लिया जाता है। स्वतंत्रता (या मुक्ति) जो कि आध्यात्मिक क्रिया द्वारा प्राप्त होती है वह बुराई से कर्ता के लाभ के लिए स्वतंत्रता नहीं है बल्कि सत्ता का एक शुभ स्वरूप है। कर्ता अभीप्सित लक्ष्य को जब भोगता है तो यह भी मान्यता उसमें रहती है कि वर्तमान मानसिक स्थिति की अवधारणा (आगे भी) रहेगी। जबकि योग में कर्ता की संतुष्टि लक्ष्य नहीं है। बल्कि यह संतुष्टि स्वयं में शुभ है या यों कहिए कि यह अवैयक्तिक संतुष्टि है।

– के. एल्. शर्मा

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. भट्टाचार्य, कृ. चं. "स्टडीज इन फिलॉसफी" (सम्पादक- गोपीनाथ भट्टाचार्य) जिल्द सं. १. प्रोग्रेसिव पब्लिशरस्, कलकत्ता (१९५६) २२१ से ३२६

२. योग भाष्य (१. १-२) में वर्णित बुद्धि के स्तरों की कृ. च. भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को समझने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित स्तरों के प्रत्यय एवं आत्मत्व के विभिन्न स्तरों पर उनकी पुस्तक "सब्जेक्ट एज फ्रीडम" (स्डडीज इन फिलोसफी, जिल्द सं. २, पृ. सं. १९-९२ में भी संकलित) देखें। इस संदर्भ में मेरा लेख कृ. च. भट्टाचार्य के अनुसार आत्मत्व के स्तर, दार्शनिक त्रैमासिक, १९६५ भी द्रष्टव्य है।

३. इस संदर्भ में मेरा लेख "मननात्मक स्वतःस्फूर्ति द्वारा स्वतंत्रता" को देखें। परामर्श, वर्ष २, अंक ३ जून, १९८१

४. " .....उदर और पृष्ठ जैसे अन्योन्याश्रित हैं, सांख्य और योग भी वैसे ही हैं। इसलिए प्राचीन शास्त्र में सांख्य तथा योग को एक ही समझने के लिए अनेक उपदेश मिलते हैं। जो केवल तत्त्व निदिध्यासन तथा वैराग्य का अभ्यास करके आत्म-साक्षात्कार करते थे वे सांख्य मतावलम्बी थे। एवं जो तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूप क्रिया-योग के क्रम से आत्म-साक्षात्कार करते थे वे योग सम्प्रदाय के थे। महाभारत के सांख्य योग सम्बन्धी कई एक संवादों का यही सारभूत मर्म है। वस्तुतः सांख्य मोक्ष-धर्म का तत्त्वकाण्ड है तथा योग साधन-काण्ड है।"– स्वामी हरिहरानन्द आरण्य- पातंजलयोग दर्शनम्, भूमिका पृ. १३

तथा शर्मा, चन्द्रधर "ए क्रिटीकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी" मोतीलाल बनारसीदास (१९७९) पृ. सं. १६९

५. भट्टाचार्य के. सी. दि कॉन्सेप्ट ऑफ दी एब्सोल्यूट एण्ड इट्स ऑलटरनेटिव फॉर्मस्, स्टडीज इन फिलासफी, जि. सं. २, पृ. १२५-१४३ भट्टाचार्य चेतना के तीन स्तर — अमननात्मक, मननात्मक एवं अतिमननात्मक स्तर– स्वीकार करते हैं।

७. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञान के संदर्भ में भट्टाचार्य को वस्तुवादी दृष्टिकोण, विज्ञानवादी दृष्टिकोण की तुलना में प्रथमतः प्राथमिक अवस्था में अधिक मान्य है। वस्तुवादी दृष्टिकोण के अनुसार कोई संकलिपत-क्रिया (Willing act) नहीं होती जो आप में शुभ या श्रेयस् हो तथा यह कि हम किसी वस्तुगत लक्ष्य के लिए क्रिया करते हैं यह दृष्टिकोण तार्किक रूप से साधनों एवं साध्य के अनवस्था दोष की ओर ले जाता है। विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार शुभ-इच्छा, जो स्वयं में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य है, के लिए संकल्प करते हैं। इस प्रकार हम विषयीगत रूप में से स्वतंत्र होने के लिए उद्देश्यपूर्ण होकर क्रिया करते हैं लेकिन मननात्मक स्तर पर यह कथन कि, जो संकल्प के लिए शुभ है, का संकल्प करना शुभ है, किसी मूल्य का नहीं इसलिए यह माँग है कि वैसे संकल्प स्वयं है, इस कथन के मार्मिक अर्थ को समझा जाय।

८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः – समाधिपाद (२)

९. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्द्विविधःप्रवर्तते सर्गः।
एकादशश्च गणस्तन्मात्रः पंचकश्चैव ॥ सां. का. २४
उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्य भेदाश्च ॥ सां. का. २८

१०. स्टडीज इन योग फिलालफी, पृ. २१

११. सांख्य कारिका २३ तथा ३५-५७
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्ययस्तम् ॥ २३ ॥
सान्तःकरणा बुद्धिःसर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानं पुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

१२. स्टडीज इन योग फिलासफी, पृ. २२१

१३. सांख्य-सूत्र के पद अहंकार का योग-सूत्र में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। केवल योग भाष्य (१·४५) में अहंकार पद का उल्लेख हुआ है। 'अस्मिता पद का उल्लेख तो कई सूत्रों में मिलता है तथा इसके अर्थ भी संदर्भ सापेक्ष हैं। लेकिन सभी स्थानों पर इसे बुद्धि का कार्य माना गया है।

१४. वितर्कं विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्य ॥ १८ ॥
योग-सूत्र, समाधिपाद

१५. स्टडीज इन फिलासफी, पृ. सं. २२४-२२५

१६. वही, पृ. सं. २३१

१७. देखिए योगसूत्र-भाष्य : साधनपाद सूत्र, १९, विभूतिपाद १३, कैवल्यपाद १४१

१८. स्टडीज इन फिलासफी, जिल्द संख्या १, पृ. २४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक-दर्शन में नारी की स्थिति

भारतीय दर्शन की परम्परा में चार्वाक-दर्शन को निकृष्टतम एवं ऋणात्मक दर्शन माना जाता है। किन्तु मेरी दृष्टि में चार्वाक-दर्शन ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूलधारा से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूलधारा है– जीवन की सच्चाई को भोगना।

जीवन की सच्चाई क्या है? जीवन क्या है? जीवन जीने का नाम है। जीना अर्थात् अपने अधिकारों की माँग– यही जीवन है। जहाँ अधिकार है, वहाँ कर्तव्य जुड़े हैं। कर्तव्य और अधिकार का वृत्तात्मक चक्र जीवन है। यह चक्र सदैव संघर्ष की प्रेरणा देता है। संघर्ष जीवन की सच्चाई है। संघर्ष के अभाव में हम जीवित नहीं रह सकते। यदि जीवित रहते हैं, तो वह जीना मौत से बदतर है–

जी रहे हैं जमाने से हम तो एक लाश बनकर।
फूल चढ़ाने भी वहाँ नहीं आते वो मेरी कब्र पर।।

लेकिन चार्वाक-दर्शन ने अपनी स्पष्टवादिता एवं कटु सत्यता को प्रकट किया है–

तुम लाश नहीं, जीवन हो।

और जीवन भोगने के लिए होता है। भोगो, जबतक तुम जिन्दा हो– भोगते चले जाओ। मौत आने के पूर्व मौत से डरते क्यों हो? मौत तो जीवन की सचाई है। मौत स्वयं में एक जीवन है–वहाँ तो जीवन का अर्थ क्या रह जायेगा?

चार्वाक ने अपने इस मंतव्य को दैनिक जीवन में व्यवहृत वस्तुओं के बिम्बों द्वारा उद्घाटित किया है। वे बिम्ब हैं- मछली– कांटा, चावल– भूसा। कहा गया है- "मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मछलियों को चाहनेवाला व्यक्ति छिलके एवं कांटे के साथ मछलियों को पकड़ता है और आवश्यक अँश को लेकर हट जाता है। इसी प्रकार धान चाहनेवाला व्यक्ति पुआलसहित धान को खेत से लाकर उसे साफ कर आवश्यक अँश (चावल) लेकर हट जाता है।)

वैदिक ऋचाएँ भी चार्वाक का समर्थन करती हैं। ऋग्वेद (२।२।१६) में कहा गया है– हे इन्द्र ! हमें श्रेष्ठतम निधियाँ प्रदान करो, प्रतिभाशाली मस्तिष्क और सौभाग्य प्रदान करो। धन-सम्पत्ति दो और शरीरों को स्वास्थ्य दो। हमें मधुर वाणी दो और हमारे दिन अच्छे करो। अग्नि (ऋ. वे. १०।१४०।५) से प्रार्थना की जाती है– ओ जाज्वल्यमान् ! तुम मनुष्यों के प्रकाश हो, हमारे तुम सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय हो, मुझ गायक पर कृपा करो, मुझे जीवन दो। यजुर्वेद (३।१७) में भी अग्नि से शरीर के अभाव को दूर करने की माँग की गयी है। अथर्ववेद (१९।६७, २, ४,८) में सौ वर्ष से भी अधिक जीने की कामना की गयी है। ये तो अत्यल्प उदाहरण हैं। सम्पूर्ण वैदिक वाङमय जीवन भोगने के लिए ही मानव को प्रेरित करता है। धन-सम्पत्ति, स्वास्थ्य, प्रतिभा आदि की मांग जीवन की सचाई है, उन्हें भोगना ही जीवन है। इस प्रकार वैदिक वाङमय अधिकार और कर्तव्य के वृत्तात्मक चक्र का समर्थन करता है। फलतः वह संघर्ष को प्रेरणा देता है–" हे इन्द्र ! शत्रुओं का नाश करने के लिए आवश्यक बल दो, समृद्धि और संरक्षण दो।" (ऋ. वे. ६।८०।३)

स्पष्ट है– भारतीय मूल संस्कृति जीवन को भोगने में विश्वास रखती है। जीवन की सचाई को जानकर उसका उपभोग ही मानव का चरम लक्ष्य है, उसका पुरुषार्थ है।

भोग, अधिकार, कर्तव्य और संघर्ष– शब्दान्तर मात्र हैं, सारतत्त्व एक है। भोग के लिए विषय चाहिए। विषय पाना अधिकार है। विषय का दुरुपयोग न हो– यह कर्तव्य है। भोग और विषय का जुट जाना ही संघर्ष है। संघर्ष सर्वोच्च सत्य है। चार्वाक एवं वैदिक ऋचाओं की यही शिक्षा है।

भोग वह प्रक्रिया है जो हमारी इन्द्रियों को संतुष्ट करती है। इन्द्रियों में एक इन्द्रिय है– जननेन्द्रिय। यह श्रेष्ठतम इन्द्रिय है, क्योंकि सृष्टि-शक्ति इसी में निहित है। यह ऐसी इन्द्रिय है जिसे संतुष्ट करने से अन्य इन्द्रिय स्वतः संतुष्ट होती हैं। इसकी सर्वश्रेष्ठता का यह भी एक कारण है। और यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक-दर्शन मानव–स्वभाव का पारखी रहा है। वह विश्व को विध्वंस के कगार से खींचकर सृष्टि की गोद में लानेवाला दर्शन है। सृष्टि आनन्द है। यही कारण है कि चार्वाक ने नारी को भोगने का उपदेश दिया है। नारी ही वह विषय है जिसे भोगना उचित है क्योंकि सृष्टि उसके बिना संभव नहीं। नारी भोग्या है, पुरुष भोक्ता है। किंतु चार्वाक ने नारी को मात्र भोग्या नहीं माना है, वह स्वतः भोगनेवाली है। पुरुष उसके भोग का विषय है। नारी को कामिनी कहा जाता है क्योंकि उसमें काम का वेग पुरुष की अपेक्षा आठ गुणा अधिक है। कामवेग की तीव्रता तभी शांत हो सकती है जब पुरुष को भोगा जाय। इसलिए कहा गया है—

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः संक्रान्तपातकः।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात्कामक्षाममिदंजगत्॥ (चार्वाक दृष्टि ५)

(स्त्रियों के संसर्ग से कौन पापयुक्त नहीं है ? काम से क्षीणव्रत वाला व्यक्ति संसार मोह के कारण उपवास करता है और स्नान करता है-- खेद की बात है।)

चार्वाक का यह विचार नारी की श्रेष्ठता को स्वीकारता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुरुष अपेक्षाकृत हेय है। वास्तविकता है कि चार्वाक ने पुरुष और नारी दोनों को भोग का विषय और भोग का कर्ता माना है। इसलिए दोनों को स्वतत्र, निर्बन्ध और सृष्टि-कारक बतलाया है।

वैदिक ऋचाएँ भी नारी-पुरुष को भोग का विषय और भोग का कर्ता दोनों बतलाती हैं और नारी के स्वतंत्र एवं स्वच्छंद काम-विहार को उचित बतलाती हैं। उशिज् नामक दासी के स्वच्छंद कामाचार ने उत्पन्न कक्षीवान् को देवता की संज्ञा देने के लिए प्रार्थना करना (ऋ. वे. १।५।१८।१), घोषा का बुढ़ापा में विवाह करना (ऋ. वे. १।१७।११७।७), पूषा (भाई) और उषा (बहन) का परस्पर यौन सम्बन्ध (ऋ. वे. ६।५।५५।४), प्रजापति का अपनी पुत्री के साथ समागम-व्यापार (ऋ. वे. १०।१।१०।७) इत्यादि अनेक उदाहरण वैदिक वाङमय में भरे- पड़े हैं। ऋग्वेद (१०।१।१०।७) में कहा गया है—

यमस्य मा यम्यं काम आगन्समाने योनो सहशेय्याम।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विचिद्वृहेव रथ्येव चक्र॥

(हे भाई ! जिस प्रकार रतिकामिनी पत्नी अपने पति के साथ एक शय्या पर शयन करती हुई अपने गुप्तांगों को खोलकर स्वच्छंद संभोग से अपने को तृप्त करती है उसी प्रकार मैं तुम्हारे साथ स्वच्छंद समागम से परितृप्त होना चाहती हूँ।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक कामातुर बहन अपने भाई से ही अवैध यौन सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा रखती है। कुमारी या विवाहित औरतें भी अपने इच्छानुसार पुरुषों से संभोग करती हैं जिसका लोकप्रिय उदाहरण महाभारत की कुन्ती और द्रौपदी हैं। ऋग्वेद (२।३।.९।१) में इस बात की पुष्टि है–

धृतव्रता आदिष्या इषिरा आरेमत्कर्त रह सूरिवागः।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वां अवसे हुवे वः॥

अतः नारी मूलरूप से स्वतंत्र है। चार्वाक ने नारी के मूलस्वरूप में प्रविष्ट मलिनता मिटाना चाहा है। नारी स्वतंत्र है, इसलिए वह अबला नहीं है।

हाय अबला ! तेरी यही कहानी

आंचल में दूध, आँखों में पानी–गुप्त की यह उक्ति नारी के प्रति अन्याय है। नारी सबला है। वीरता की प्रतिमूर्ति है। काम की प्रतिमा है। वह कामिनी है। इसलिए वीरांगना है। काम शक्ति है, ऊर्जा है। पुरुष उसकी काम-शक्ति के समक्ष नतमस्तक है। उसकी काम-शक्ति विभिन्न दिशाओं में विस्तृत है। निर्बन्ध नारी ही विभिन्न दिशाओं में विस्तृत काम-शक्ति का समुचित उपयोग कर पाती है। एतएव चार्वाक ने नारी को निर्बन्ध बना दिया है। निर्बन्ध और स्वतंत्रता बलात्कार की शिकार नहीं होती। बलात्कार अबलाओं का होता है, सबलाओं का नहीं।

चार्वाक की नारी सबला है। इसलिए उसका बलात्कार नहीं होता। वह तो स्वेच्छा से कामासक्त होती है। उसकी कामासक्ति निरुद्देश्य नहीं होती। वह संसार-चक्र को निरन्तरता प्रदान करना चाहती है। इसलिए पाणिनी का आदेश— स्त्री-पुरुष काम में आसक्त हों।

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदितिमुनेर्मनः
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ (चार्वाक दृष्टिः ३४)

यदि नारी अबला होती, मात्र भोग का विषय होती, तो वह पुरुष की सम्पति होती, उसका कोई उद्देश नहीं होता। अन्य निर्जीव वस्तुओं की तरह उसकी भी स्थिति होती। वह विक्रय की वस्तु होती। उसके बाजार होते।

और ब्राह्मण धर्म ने नारी को अबला एवं बंधनयुक्त बनाकर इस स्थिति में पहुँचा दिया है। वेश्याएँ और काल गर्ल्स की कमी नहीं है। बलात्कार और अपहरण की घटनाएँ कम नहीं होती हैं। प्रेम-विवाह और आन्तर्जातीय विवाह पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबन्ध बलात्कार, अपहरण एवं आत्महत्या के जिम्मेदार हैं। ब्राह्मण धर्म ने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया है। मनुष्य तो "जाति" बन गया है। जाति के अन्दर ही विवाह को उचित माना गया है। फलतः दहेज का दैत्याकार शरीर, सुरसात्मक मुँह आज की युवापीढ़ी को दबोच रहा है, निगल रहा है। दहेज का धुँआ समस्त समाज को काला बना रहा है। किन्तु चार्वाक ने नारी की स्वतंत्रता का भरपूर समर्थन करते हुए समाज को दहेज के काले धुएँ से बचाने का भरपूर प्रयास किया है। स्वतंत्र नारी अपने मनपसंद पुरुष के साथ विवाह करना चाहेगी। मनपसंद पुरुष मिल जाय और मनपसंद नारी मिल जाय, तो दहेज का क्या काम ? दहेज तो वह साधन है जिससे लड़की का पिता दामाद खरीदता है और लड़का का पिता अपनी बहू की मौत खरीदता है। न मौत विकाऊ है न लड़का (दामाद)।

इसी सचाई को चार्वाक उगलता है और इसलिए वह बदनाम है। परन्तु चार्वाक दर्शन की गहराई में उतरिये और उसके वास्तविक मंतव्य के दाने चुगिये, तभी आप उसकी महानता एवं क्रान्तिकारिता के दर्शन कर सकते हैं। नारी के वास्तविक स्वरूप को उसने ही पहचाना है। नारी की वास्तविकता को पहचान लेना ही महानता है। इसलिए तो उसने उन लोगों को धिक्कारा है जिन्होंने नारी को नारी नहीं रहने दिया, उसे खिलौनामात्र बना डाला। अश्वमेघ यज्ञ में अश्व-लिंग का नारी-योनि में प्रवेश कराना, परस्त्री पर कुदृष्टि– क्या यही नारी की वास्तविकता है ? छिः।

चार्वाक ने ऐसे लोगों पर थूका है– तृणानीव घृणावादान् विधूनय वधूरतु। तथापि तदृशस्यैव का चिर जनवंचना ॥ (चार्वाक दृष्टि २२)

(स्त्रियों को घृणित समझकर तृण के समान उनका त्याग करते हो पर वैसा ही शरीर तुम्हारा भी है। चिरकाल तक ठगना क्या है ?)

× × ×

ईर्ष्यया रक्षतोनारीर्धिक् कुलस्थितिदांभिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ॥ (चार्वाक दृष्टि ६)

(ईर्षावश नारी की रक्षा करते हैं तथा कामान्ध होने पर भी पुरुष आरक्षित रहते हैं। ऐसे कुलरक्षक दम्भी को धिक्कार है।)

स्पष्ट है, चार्वाक ने नारी को वह शक्तिपुंज माना है जो समस्त दिशाओं के अंधकार को दूर करती है। वह आग है, तो वायु भी। उसका स्पर्श मलय पर्वत से आने वाले वायु के झकोरे की तरह है जो व्यक्ति को स्वस्थता एवं शान्ति प्रदान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। वह ऐसी आग है जिसमें तपकर पुरुष खरा सोना बनता है। यही कारण है कि चार्वाक दर्शन ने पुरुषार्थ के रूप में "नारी के आलिंगन–चुम्बन" को ही महत्व दिया है– "अंगनादि अलिंगनादिजन्यं सुखम् एव पुरुषार्थः।"

तो क्या नारी सुख का साधन मात्र है ? कदापि नहीं। चार्वाक ने कभी भी नारी को साधन मात्र नहीं बतलाया है। यदि नारी साधन है, तो निश्चय ही वह निर्बन्ध नहीं है।

और जो निर्बन्ध नहीं होता, वह कमजोर होता है। किन्तु चार्वाक की नारी निर्बन्ध है, वह कमजोर नहीं है। वह समाज की हर बुराई को दूर करने में सक्षम है। वह स्वयं साध्य है। जो साध्य होता है, वह उच्चतम शुभ होता है। अतः नारी उच्चतम शुभ है। उच्चतम शुभ की प्राप्ति मानव–जीवन का चरम लक्ष्य है। यही जीवन की सचाई है। अतएव नारी मानव जीवन का चरमलक्ष्य है। वह जीवन की सचाई है।

और इस सचाई को ठुकराना अपराध है। अतएव चार्वाक दर्शन में नारी की स्थिति सर्वोत्कृष्ट है। नैतिक दृष्टि से वह शुभ है, धार्मिक दृष्टि से वह सौन्दर्य है और तात्विक दृष्टि से वह सत्य है। अतः चार्वाक दर्शन की नारी "सत्य, शिव और सुन्दर" का मनोहारी संगम है।

ए/७६, अपर फ्लोर
कंकड़बाग हाउसिंग सोसायटी
पटना– ८०००२० (बिहार)

– **नरेशप्रसाद तिवारी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य और वस्तुगतता

यहाँ 'साहित्य' से हमारा अभिप्राय रचनात्मक साहित्य अर्थात् कविता, कहानी, उपन्यास आदि से है और वस्तुगतता अँगरेजी के 'ऑब्जेक्टिविटी' के पर्याय तथा 'आत्मगतता' (सब्जेक्टिविटी) के विलोम-रूप में प्रयुक्त हुआ है।

वस्तुगतता ज्ञान की वह विशेषता है जिसके कारण वह मतभेद से परे सार्व-भौम एवं सार्वकालिक रूप में स्वीकारणीय हो जाता है। अग्नि की उष्णता, हिम की शीतलला, यह बोध सार्वकालिक और सार्वभौम है, अतः यह उन पदार्थों का वस्तुगत गुण है। काली आँखों, काले केशों का सौंदर्य, यह उनका वस्तुगत गुण नहीं है क्योंकि यह अनुभूति सार्वकालिक एवं सार्वभौम नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य में नीलकमल आँखों का उपमान बना है, पर आज नीली होना नहीं, काली होना उसकी विशेषता मानी जाती है। इसी तरह भारत में तो भौंरे के समान काले केश सुंदर समझे जाते हैं किन्तु पाश्चात्य जगत् सुनहरे केश पसंद करता है।

प्रश्न है, साहित्य में वस्तुगतता का क्या अर्थ हो सकता है? उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर है तो यही कि किसी समस्या पर उपागम (एप्रोच) में रचयिता-रचयिता में और किसी रचना के आस्वादन में पाठक-पाठक की प्रतिक्रिया में अंतर पड़े। इस सिद्धांत के दोनों खंडों की स्थिति भिन्न-भिन्न है। समस्या का जो समाधान साहित्यकार प्रस्तुत करता है उसमें देश और काल के अनुसार अंतर पड़ता है। प्रेमचंद ने **सेवासदन** में वेश्या-समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह आज की स्थिति में बेतुका है। काजल की कोठरी में बेदाग दिखलाकर भी प्रेमचंद ने सुमन को घर में लौटने नहीं दिया। वस्तुतः उनके युग ने उन्हें वैसा करने नहीं दिया। यदि इस बीसवीं शताब्दी के अंत में प्रेमचंद **सेवासदन** लिखते तो सुमन को गजाधर फिर अपना ले सकता था। अर्थात् साहित्यका जो समस्या-ग्रहण करता है उसमें निस्संदेह वस्तुगतता होती है, परंतु उसके द्वारा प्रस्तुत समाधान में नहीं। यहीं साहित्य इतिहास से भिन्न हो जाता है। इतिहासज्ञ जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न उठाता है उसमें वस्तुगतता नहीं होती, वह उसका जो उत्तर देता है उसमें वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा की जाती है। इसके विपरीत साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत समाधान में वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा नहीं की जाती।

वस्तुगतता की दृष्टि से साहित्य की इतिहास से तुलना करते हुए एक बात पर ध्यान जाता है। साहित्य की अनेक विधाएँ ऐतिहासिक विशेषण से संयुक्त करती हैं, यथा ऐतिहासिक काव्य, ऐतिहासिक नाटक, ऐतिहासिक उपन्यास आदि। क्या इनमें वस्तुगतता उतनी ही होती है जितनी सामान्य काव्य, नाटक, उपन्यास में? तब, इनकी ऐतिहासिकता क्या होगी? ऐतिहासिक संज्ञक साहित्यिक कृतियों की प्रकृति भी सामान्य कृतियों से भिन्न नहीं होती। यहाँ भी समस्या में ही वस्तुगतता होती है। यहाँ भी साहित्यकार जो समाधान देता है वह इतिहास के सदृश वस्तुनिष्ठ नहीं होता। यही कारण है कि ऐसी कृतियाँ भी अंततः साहित्य ही रहती हैं, इतिहास नहीं हो जाती।

साहित्य में वस्तुगतता के स्वरूप का दूसरा खंड विचारणीय है। साहित्य में वस्तुगतता के अभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह मालूम पड़ता है कि उसके आस्वादन तथा मूल्यांकन में शत-प्रतिशत मतैक्य नहीं होता। लोकप्रिय-से-लोकप्रिय रचना को नापसंद करनेवाले निकल आते हैं और इसी प्रकार गर्हित-से-गर्हित कृति के भी प्रशंसक मिल ही जा सकते हैं। फिर भी, अच्छी रचना को अच्छी और बुरी को बुरी कहनेवालों की संख्या से निस्संदेह बहुत अधिक होती है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि साहित्य में वस्तुगतता की मात्रा अन्य विधाओं की अपेक्षा अल्प होती है, सर्वथा शून्य नहीं होती।

एक और बात है जिससे साहित्य में वस्तुगतता का होना प्रमाणित होता है। साहित्य में एक तत्त्व ऐसा है जो उसे सार्वभौमता देता है और वह है साधारणीकरण। साधारणीकरण की धारणा भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धांत से सम्बन्धित है किन्तु इसके कारण इसे संकुचित नहीं कहा जा सकता। साहित्य किस प्रकार सर्वग्राह्य हो जाता है, इसका एकमात्र उत्तर साधारणीकरण है। पाश्चात्य साहित्यालोचन जिसे सम्प्रेषणीयता कहता है वह साधारणीकर ही तो है। चाहे जिस नाम से अभिहित करें, साधारणीकरण के अस्तित्व को स्वीकारना पड़ेगा। यह साधारणीकरण का जो तत्त्व है वह साहित्य में निश्चय ही एक प्रकार की वस्तुगतता की स्थापना करता है। **उत्तररामचरित** को पढ़कर अथवा उसका अभिनय देखकर पाठक और दर्शक के चित्र में करुण रस का ही उद्रेक होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा नहीं कि किसी पाठक अथवा दर्शक के हृदय में **उत्तरामचरित** हास्य रस का संचार कर देगा। अतः साहित्य के आस्वादन के स्तर पर भी एक हद तक वस्तुगतता अवश्य है। यह बात दूसरी है कि आस्वादन की तीव्रता में पाठक-पाठक के अनुसार अन्तर पड़ सकता है और पड़ता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वस्तुगतता का सम्बन्ध ज्ञान से है जबकि साधारणीकरण अनुभूति के क्षेत्र की चीज है। किन्तु अनुभूति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। अनुभूति उस प्रकार ज्ञान है जिसमें आत्मगतता मिली हुई है।

वस्तुगतता के स्वरूप को ठीक से समझने के लिए तीन अन्य धारणाओं से इसका अंतर स्पष्ट कर लेना चाहिए। वे धारणाएँ हैं सत्य (ट्रुथ), तथ्य (फैक्ट) और यथार्थता (रियालिटी)। विचारणीय है कि वस्तुगतता और सत्य क्या एक ही है? इसका निर्णय करते हुए यह सदा ध्यान में रखने योग्य है कि आत्मगतता और सत्य में कोई विरोध नहीं है। किन्तु आत्मगतता तो वस्तुगतता का विलोम है। इसीलिए गाणितिक उपपत्ति के आधार पर वस्तुगतता और सत्य में भी विरोध ठहर जाता है। पर दोनों में वस्तुतः विरोध नहीं है किन्तु दोनों एक भी नहीं हैं। हाँ, वस्तुगतता और तथ्य को अवश्य एक कहा जा सकता है। अतः जिस प्रकार जो तथ्य है वह सत्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता है उसी प्रकार जो वस्तुगत है वह सत्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। यथार्थता में स्वाभाविकता का भाव अधिक है और सत्य में सम्भावना का। यथार्थता और वस्तुगतता एक नहीं है। यथार्थता वस्तुगतता से दूर और सत्य के समीप है। यही कारण है कि साहित्य में यथार्थता की चर्चा असंगत नहीं लगती किन्तु उसमें वस्तुगतता की चर्चा चौंकाती है। निष्कर्ष यही है कि साहित्य के आस्वादन और मूल्यांकन में यदि पाठकों एवं आलोचकों में शत-प्रतिशत मतैक्य नहीं होता तो यह उसमें वस्तुगतता के नितांत अभाव का सूचक नहीं है।

साहित्य में वस्तुगतता का होना अनेक प्रकार से प्रमाणित होता है। भारत में साहित्य को भी विधाओं के अंतर्गत परिगणित किया गया है। अतः अन्य विधाओं में यदि वस्तुगतता है तो फिर साहित्य में क्यों नहीं मानी जाय? यह ठीक है कि अन्य विधाएँ ज्ञान के विविध प्रकार हैं जबकि साहित्य का सम्बन्ध आनंद से है। किन्तु आनंद के साथ-साथ साहित्य ज्ञान भी देता है। कहना चाहिए कि साहित्य आनंद में लिपटा हुआ ज्ञान देता है। पाठक को प्रतीत होता है कि वह आनंद पा रहा है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में वह ज्ञान भी पाता है। इस प्रकार अन्य विद्याओं में ज्ञान-प्राप्ति प्रत्यक्ष है, साहित्य में अप्रत्यक्ष है। अतः साहित्य में वस्तुगतता है अवश्य, उसकी मात्रा भले अपेक्षाकृत अल्प हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठता का सम्बन्ध बुद्धि से है। अतः साहित्य-सृष्टि में मस्तिष्क का जितना योगदान होता है उतनी वस्तुनिष्ठता साहित्य में अवश्य माननी पड़ेगी। निस्संदेह साहित्य का मूल संवेदना में है किन्तु उसमें जो कौशल है वह बुद्धि का ही व्यापार है। साहित्य में कर्ता का कौशल शिल्प में देखा जाता है। अतः शिल्प की खोज करते समय साहित्यकार निश्चय ही वस्तुनिष्ठ हो जाता है। यही नहीं, प्रत्येक साहित्य-रूप की रचना-प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है और विधागत रचना-प्रक्रिया की यह विशिष्टता वस्तुगत कही जा सकती है। तात्पर्य यह है कि काव्य की रचना-प्रक्रिया उपन्यास की रचना-प्रक्रिया से भिन्न होती है और नाटक की रचना-प्रक्रिया इन दोनों से भिन्न होती है। इसी कारण साहित्य में भिन्न-भिन्न विधा के साथ वस्तुगतता की मात्रा पृथक्-पृथक् होगी। इस दृष्टि से सभी विधाएँ दो वर्गों में आ जायेंगी। एक वर्ग में तो अकेले गीतकाव्य आवेगा और दूसरे वर्ग में प्रबन्धकाव्य, कथा और नाटक-साहित्य।

उपादान की दृष्टि से विचार करने पर भी साहित्य में वस्तुगतता का अस्तित्व सिद्ध होता है। साहित्य का, विशेषकर काव्य का, उपादान है शब्द। शब्दों में कुछ वस्तुनिष्ठता तो कुछ आत्मनिष्ठता होती है। व्युत्पत्ति से अवगत सभी व्यक्तियों के लिए 'पंकज' शब्द एक ही अर्थच्छाया, एक ही बोध, एक ही बिम्ब देगा। यह वस्तुनिष्ठता है। किन्तु सत्य यह भी है कि एक शब्द यदि किसी को प्रिय तो वही दूसरे को अप्रिय होता है। यह आत्मनिष्ठता है।

साहित्य का लक्ष्य भी अन्य शास्त्रों के लक्ष्य से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। जीवन के पर्यवेक्षण में ही साहित्य का जन्म होता है। इसी जीवन को समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, राजनीतिविज्ञानी, दार्शनिक, सभी देखते हैं। लक्ष्य की समानता के कारण साहित्य में भी वस्तुगतता मानी जानी चाहिए। विचारकर देखने पर साहित्य में भी वस्तुगतता मानी जानी चाहिए। विचारकर देखने पर साहित्य की प्रविधि एवं अन्य विद्याओं की प्रविधि में कोई मौलिक अंतर नहीं प्रतीत होता। न्यूटन ने सेव को गिरते देखा (तथ्य) और इस आधार पर एक सत्य (आकर्षण सिद्धांत) का प्रतिपादन किया। साहित्यकार भी इसी प्रकार व्यक्ति-तथ्यों के के आधार पर मानव-जगत् के सत्यों का संधान करता है। तथ्य और सत्य का अंतर यह है कि तथ्य देश-काल-पात्र के अनुसार परिवर्तनशील होता है जबकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य इनसे परे सनातन एवं सार्वभौम होता है। इस प्रकार से देखने पर साहित्य तथा विज्ञान की प्रविधि में कोई अंतर नहीं मालूम पड़ता।

निष्कर्षतः, साहित्य में वस्तुनिष्ठता होती है या नहीं, बहस का विषय यह नहीं है। ज्ञातव्य विषय यह है कि उसमें वस्तुनिष्ठता का अंश कितना होता है। इसके लिए इसे ज्ञान की अन्य शाखाओं के साथ रखकर देखना पड़ेगा। इस दृष्टि एक घोर पर है साहित्य, दूसरे घोर पर है विज्ञान और दोनों के ठीक बीच में है दर्शन। विज्ञान, दर्शन और साहित्य, तीनों सत्य के प्रतिपादक हैं, पर विज्ञान का सत्य प्रयोगाश्रित, दर्शन का तर्काश्रित और साहित्य का कल्पनाश्रित है।

– सियाराम तिवारी

हिंदी–विभाग,
विश्वभारती, शांतिनिकेतन
(प बं.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षा

राधिकाप्रसाद त्रिपाठी, (डॉ.); **साईदाता संप्रदाय और उसका साहित्य** : आनंद प्रकाशन, दीवानी मिसिल, फैजाबाद, पृ. डिमाई २१८, मूल्य ४० ।–

प्राचीन साहित्य में शोध का काम बड़ा कठिन है। सांप्रदायियों के साहित्य की खोज और उसके संपादन-मूल्यांकन का काम और भी अधिक। उनके बेठनों या पूजा-सामग्री में से इस सामग्री को उपलब्ध्र कर पाना ही दुःसाध्य है, फिर उसके विषय में कुछ कहना और जोखिम भरा। पर जिसकी उधर लौ लगी है, वह इन सभी के आरपार तैरकर पारंगत हो जाता है। उक्त पुस्तक के विद्वान, लेखक डॉ. राधिकाप्रसाद त्रिपाठी भी उन्हीं पारंगतों में से एक हैं। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि और दक्षता का प्रमाण उनकी इसके पूर्व की रचनाएँ (१) रामसनेही संप्रदाय, (२) गोविंदसाहब की हिंदी रचनाएँ तथा (३) टेसीटरी कृत रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण का हिंदी अनुवाद, पहले ही दे चुकी हैं। इस ग्रंथ के साथ वे हिंदी में प्रायः अजाने और अछूते विषय को लेकर उपस्थित हुए हैं।

१६ वी शती विक्रमी के प्रारंभ में फैजाबाद जिले के मजनाई या मझनाई गाँव के संत मोहनशाह द्वारा प्रवर्तित साईदाता संप्रदाय यद्यपि जब उत्तरप्रदेश के अन्यान्य स्थानों से बढकर बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली और बडौदा तक फैला हुआ है उसका प्रसार काबुल तक भी बताया जाता है, पर हिंदी में उसका थोड़ा-बहुत परिचय आचार्य पं. परशुराम चदुर्वेदी के ग्रंथ उत्तरी भारत की संत-परंपरा में भले ही मिलता है, आधिकारिक कोई वर्णन या विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता और इस संप्रदाय के रचनाकारों की रचनाएँ तो सामने लाई ही नहीं गई। सबसे पहले इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था 'माधुरी' पत्रिका (वर्ष १४, खंड २, सं. ३) ने। चतुर्वेदी जी का दिया हुआ परिचय भी अधिकांशतः संभावनाओं पर आधारित है। डॉ. त्रिपाठी ने कठिन उपयोग द्वारा आधिकारिक सामग्री और संप्रदाय की संत वाणियों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ४, अङ्क २, मार्च १९८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. त्रिपाठी ने पुस्तक के आरंभिक ७० पृष्ठों में से ६० पृष्ठों की एक अच्छी भूमिका प्रस्तुत करते हुए सामाजिक परिवेश, साईदाता संप्रदाय का उद्भव, नामकरण, शिष्य परंपरा, दीक्षा-विधि और रहनी, वंश-वृक्ष, पर्वोत्सव, कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय, दार्शनिक चिंतन, साधना और साहित्यिक मूल्यांकन शीर्षक के अंतर्गत महत्वपूर्ण विवेचन किया है जो कई नई दिशाओं की ओर इंगित करता और नये तथ्यों को प्रकाश में लाता है।

'साईदाता' नाम के सम्बन्ध में डॉ. सत्रपाठी चतुर्वेदी जी से मतभेद व्यक्त करते हुए सांप्रदायिक परम्परा और स्वयं मोहनशाह के कथन के आधार पर उसका तात्पर्य 'नाग के दाता साई अथवा सद्गुरु' समझना युक्तियुक्त मानते हैं। शिष्य परम्परा का स्थान क्रम से विस्तृत ब्यौरा जैसा उन्होंने प्रस्तुत किया है वैसा चतुर्वेदी जी ने नहीं किया था, बल्कि डॉ. त्रिपाठी के लेखन से स्पष्ट होता है कि शाहबाला शाह, सचनाशाह, कुदरतशाह और विजनशाह शिष्यों के नहीं शिष्याओं के नाम हैं, जबकि यह बात भी चतुर्वेदी जी के लेखन से स्पष्ट नहीं हो सकी थी। सरैया सिकंदरपुर, साईका किला, छितौना की शिष्यपरम्परा का उल्लेख तो डॉ. त्रिपाठी ने ही पहली बार किया है। उनके इस संक्षिप्त विवरण से भी कई नये नाम प्रकाश में आये हैं। वंश-वृक्ष या वंशावली के नाम से दिये गये शिष्य परंपरा चार्ट में भी दोनों विद्वानों के बीच अंतर है। चतुर्वेदीजी ने फेरमशाह, सचनशाह तथा विजनशाह की परंपरा प्रदर्शित नहीं की। उन्होंने महाआनंदशाह, अबरनशाह, अनरूपशाह, सद्गुरूशरण को अहमकशाह तथा शाहबावाशाह की परपरा में माना है, किन्तु डॉ. त्रिपाठी इन्हें फौरमशाह (जनौरा) की परंपरा में मानते हैं और शाहबालाशाह की परंपरा का अलग विस्तार दिखाते हैं। सचनाशाह तथा बिजनशाह की परंपरा भी वर्तमातकाल तक प्रदशित है। चतुर्वेदी जी ने साइदाता संप्रदाय की रहनी पर 'मुस्लिम फकीरों' के प्रभाव की संभावना मात्र प्रदर्शित की थी, डॉ. त्रिपाठी उसे 'सूफी साधकों की आचार-पद्धति का गहरा प्रभाव' मानते हैं। "हंस विहार" में वे रासलीला की छाया देखते हैं। संप्रदाय की वाणी के लिए प्रयुक्त नाम 'अरस' का संबंध वे 'आर्ष', अरबी के 'अर्ज' (प्रार्थना) और 'अ-रस' अर्थात् काव्य-रस निषेध से जोड़ते हैं। चतुर्वेदीजी के यहाँ का अनरूपशाह नाम उनके यहाँ केवल अरूपशाह के रूप में प्राप्त है। मोहनशाह की रचनाओं में से चतुर्वेदीजी जिस 'अरस बेगमसार' का उल्लेख करते हैं त्रिपाठीजी ने उसका परिचय 'शब्दावली बेगमसार' के रूप में दिया तथा २३६ के स्थान पर उसे २३७ पदों का संकलन बताया है। इस रचना के अतिरिक्त डॉ. त्रिपाठी ने सर्वथा नई १४ कृतियों का मोहनशाह के नाम से परिचय और दिया है तथा उनकी कुल २२ कृतियाँ गिनाई हैं। साथ ही उन्हें असंदिग्ध रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाणिक भी माना है। इसी प्रकार डॉ. त्रिपाठी ने अहमकशाह, रचनाशाह, विजनशाह, महाआनंदशाह, साहबालाशाह तथा पृथ्वीशाह का परिचय तथा उनकी रचनाओं की सूचना दी है, यह भी चतुर्वेदीजी के लेखन में प्राप्त नहीं थी।

डॉ. त्रिपाठी और चतुर्वेदीजी के विवरण के बीच एक और अंतर यह भी है कि चतुर्वेदीजी शाहबालाशाह को मिल्कीपुर में मानते हैं और डॉ. त्रिपाठी उनकी साधनाभूमि बड़ागाँव में। बड़ागाँव मिल्कीपुर के पास तो है ही। डॉ. त्रिपाठी ने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है कि "प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पृथ्वीशाह की वाणी साँईदाता संप्रदाय के अन्य संतों की रचनाओं से किञ्चित् भिन्न है। इनकी वाणी पर वैष्णवता का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने कंस को मारनेवाले, लाक्षागृह से पाण्डवों को बचानेवाले, द्रौपदी का चीर बढ़ानेवाले, महाभारत रचनेवाले, इंद्र के कोप से व्रज की रक्षा करनेवाले तथा शिशुपाल का वध करनेवाले श्रीकृष्ण की वंदना के अतिरिक्त भगवान् श्रीराम तथा चतुर्भुज विष्णु के भी मनोहारी रूप का वर्णन किया है। स्मरणीय है कि साँईदाता संप्रदाय में ब्रह्न के सगुण-साकार रूप की उपासना का निषेध किया गया है।"

दर्शन, साधना और साहित्यिक मूल्यांकन को विस्तृत रूप में स्पष्ट करते हुए डॉ. त्रिपाठी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं– "निष्कर्षत: साँईदाता संप्रदाय के साहित्य में ज्ञान, भक्ति और योग की त्रिवेणी है, दार्शनिक उद्भावना की जलोर्मियाँ हैं और जीवन की प्रवाहमयता है। इस संप्रदाय का साहित्य अध्यात्म और जिन्दगी को एक साथ गूँथकर उसे कवितांतरित करने में पूर्ववर्ती संतों से बहुत आगे निकल गया है।" डॉ. त्रिपाठी ने अंत में इन कवियों की वाणी का जो संग्रह प्रस्तुत किया है वह केवल इसलिए अध्येतव्य नहीं है कि वह पहली बार प्रकाशित हुआ है, बल्कि इसलिए भी है कि इन रचनाकारों की मौलिक अभिव्यक्ति का आस्वाद ग्रहण करने में सहायता मिलती है और संत साहित्य में कुछ नई उपलब्धियाँ, कुछ नये पन्ने जुड़ते हैं। अंत में डॉ. त्रिपाठी ने शब्दार्थ और टिप्पणियाँ तथा नामानुक्रमणिका देकर पुस्तक को सर्वांगीण पूर्ण बना दिया है। डॉ. त्रिपाठी की यह कृति उनके अब तक के शोधपरक अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ती है और अपनी मौलिकता में आचार्य चतुर्वेदीजी के कार्य को आगे बढ़ाती हुई संभावना के धरातल से प्रामाणिकता की भूमि पर आरोहण करती है।

डॉ. त्रिपाठी को इस दुस्साध्यप्राय करम को संपन्न करने के लिए हार्दिक बधाई।

– आनंदप्रकाश दीक्षित

१२ / १३ प्रोफेसर्स बँगलो
पुणे विद्यापीठ, गणेशखिण्ड,
पुणे-४११ ००७ (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फॉर्म 4 (नियम 18 देखिए)

१. प्रकाशन स्थान	: दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पूना–४११००७
२. प्रकाशन अवधि	: त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम पता और राष्ट्रीयता	: डॉ सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७, भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७, भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७ भारतीय
६. उन व्यक्तियों । संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों।	: दर्शन और हिंदी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

–सुरेन्द्र बारलिंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

३४. **डॉ. योहन फाइस**
सन्त अल्बर्ट कॉलेज,
पो. बॉ. ५, रांची– ८३४ ००१ (बिहार)

३५. **डॉ. रामलाल सिंग**
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद– २११ ००२ (उ. प्र.)

साभार अभिस्वीकृति

शर्मा जगदीश (डॉ.); **साहित्य और कला की पहचान**; किताब महल, इलाहाबाह, १९८२, पृ. ७९; रुपये १६

शास्त्री, देवेन्द्रकुमार (डॉ.); **सम्मइसुत्तम्**; ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच (म. प्र.); १९७८; पृ. २०+२३+१९०; मूल्य रु. २०

त्रिपाठी, राधावल्लभ; **आदिकवि वाल्मीकी**; संस्कृत परिषद, सागर (म. प्र.) १९८१; पृ. ११५; मूल्य रु. २५

मिश्र, कैलाशपति; **काश्मीर शैव दर्शन**, भाग १ और २; अर्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२

सच्चिदानन्द सिंह, 'समीर'; **बिंधा हुआ आदमी**; प्रतीक्षा प्रकाशन, बम्बई– ४०० ०७८; पृ. १००; रु. १८

म. अ. करंदीकर और शैलजा करंदीकर (संपा. अनु.); **भट्टिकाव्यम्**; मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

WANTED

Matriculate Counter Salesmen And Field Salesmen
For Our

**HOME DELIVERY DEPARTMENTAL STORES
OPENING SHORTLY**

in every city having 1000 or above poulation
Salary Rs. 500/- and other facilities as per
Govt. Rules

Apply in English and Hindi only

PUNJAB SAVINGS PRIVATE LIMITED
Rohit House, Ground Floor,
3, Tolstoy Marg, New Delhi- 110 001
Phones : 741150, 717827, 385616, 381116
Grams : SERVICE FINE
Telex : 5032 NDOS IN

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[प्र]काशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए [अ]धिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे [में] निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस [ले]खनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित [लि]फाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

[प]रामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। [य]ह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों [के] संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यक-[ता]नुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



[पु]णे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र [अ]मलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा [स]भा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

चन्दे से प्राप्त संख्या 53
प्रा.दि. दिनांक 2-7-83

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ४ अंक ३

जून, १९८३ / वैशाख-ज्येष्ठ, २०३९

संपादक

न्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
* नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : **सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित**

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल * रमाकान्त सिनारी * विजयकुमार भारद्वाज * शारदा जैन * संगमलाल पांडे * आर्. बालसुब्रमणियन् * अशोक रा. केळकर * के. जे. शहा * नारायणशास्त्री द्राविड * के. सच्चिदानंद मूर्ति * जी. सी. नायक * ग. ना. जोशी * मोहनलाल मेहता * जे. फाईस * सुमन गुप्ता * रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : **मो. प्र. मराठे * चन्द्रकान्त बांदिवडेकर**

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

* राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य, संस्कृति और समाज-परिवर्तन : परिवर्तन की प्रक्रिया

यदि मैं यह मानता होता कि साहित्य का- और यहाँ साहित्य से मेरा आशय रचना अथवा कृति साहित्य का ही है- सामाजिक परिवर्तन में कोई योग नहीं होता, अथवा साहित्यकार का समाज के प्रति कोई ऐसा उत्तरदायित्व नहीं है जिसमें यह भी निहित हो कि समाज को बदलने का कुछ यत्न भी उससे अपेक्षित है, तो शिबिर में विचार के लिए इस विषय का प्रस्ताव मैं ने न किया होता। इतना तो स्वयंसिद्ध जान पड़ सकता है, लेकिन इससे आगे यह भी कहूँ कि उस दशा में मैं ने अपने साहित्यिक कर्म के बारे में भी नये सिरे से विचार किया होता क्यों कि आज अपने को साहित्यकार का नाम दे कर मैं जिस तरह के गौरव का अनुभव करता हूँ उस का कोई आधार न रहा होता। तब साहित्य कर्म भी दूसरे पेशेवर कर्मों अथवा व्यवसायों की तरह आजीविका का एक साधन मात्र होता और ऐसा सोचने का कोई आधार न रहता कि साहित्यकार होने के नाते अपने समाज के साथ मेरा एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है— समाज से मेरा आशय चाहे हिन्दीभाषी समाज हो जो मेरा पहला पाठक होगा, चाहे भारतीय समाज जिसके दिक्काल-संचित अनुभव को मैं वाणी दे रहा हूँगा, चाहे मानव समाज हो जो शब्द मात्र में अभिव्यक्त होने वाले मूल्यों की अन्तिम कसौटी है— बल्कि जो उनका स्रोत भी है।

विशेष पद का यह दावा या गौरव-बोध का यह स्वीकार किसी आभिजात्य का दावा नहीं है। यह केवल रचना-कर्म के स्वभाव की पहचान है। सभी लेखन साहित्य नहीं होता और सभी साहित्य रचना भी नहीं होता। जब किसी साहित्यिक कृति को हम रचना का पद देते हैं तब विहित अथवा निहित रूप से हम ने उस में कुछ गुणों की सत्ता मान ली होती है। इसीसे वह विशिष्ट होती है और इसी से उस सत्ता को प्रतिष्ठापित करने वाला होने के नाते साहित्यकार विशिष्ट हो जाता है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ४, अङ्क ३, जून, १९८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्जक के नाते विशिष्ट होकर भी साहित्यकार ऐसा नहीं है कि साधारण नागरिक नहीं रहता अथवा नागरिक जीवन के उत्तरदायित्वों से मुक्ति पा जाता है। उन दायित्वों को यहाँ गिनना आवश्यक नहीं है, न इस साधारण स्थापना के बाद साहित्यकार के साधारण नागरिक कर्तव्यों का प्रश्न फिर से उठाने की कोई आवश्यकता होगी। इतना ही काफी है कि नागरिक पर कुछ चीजों को बनाए रखने की भी जिम्मेदारी होती है क्यों कि व्यवस्था में एक प्रकार के स्थायित्व के बिना सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन भी सम्भव नहीं रहता; दूसरी ओर चीजों के लगातार परीक्षण और उन को बदलने के आयोजन की भी ज़िम्मेदारी नागरिकता का एक अंग है क्यों कि लगातार और नियोजित ढ़ंग से बदलाव लाते रहते बिना व्यवस्था भी व्यवस्था नहीं बनी रह सकती, निरी जकड़ा बन्दी बन जाती है जिसे तोड़ना ही स्वस्थ जीवन का एकमात्र उपाय रह जाता है। साहित्यकार के जिस बृहत्तर अथवा गम्भीरतर उत्तरदायित्वों की ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ उनका सम्बन्ध केवल व्यवस्था के स्थायित्व और व्यवस्थित परिवर्तन के नियोजन से नहीं है, बल्कि उन आधारभूत मूल्यों से है जिन से इस का निर्णय होता है कि वांछित दिशाएँ कौन-सी हैं; और जहाँ वांछित परिणामों और हितों की टकराहट दीखती है, वहाँ पर अभिमूल्यों का उच्चावच क्रम कैसे निर्धारित होता है ?

इस से यह न समझा जाय कि मैं साहित्यकार के लिए समाज के नियन्ता का या मूल्यों के किसी चरम निर्णायक का पद आरक्षित कर के उसे समाज से अलग करना चाह रहा हूँ, लेकिन सर्जन कर्म का दृष्टि से जो अनिवार्य सम्बन्ध है उस से इन्कार नहीं किया जा सकता। कुछ अधिक देख पाना, कुछ अधिक दूर तक देख पाना, कुछ अधिक गहराई तक या गहराई से देख लेना, कुछ समय से पहले देख लेना, जो स्पष्ट दीख रहा है उस से भिन्न या उस के प्रतिकूल भी कुछ देखना अथवा भाँप लेना, गति की जो दिशा स्पष्ट है अथवा स्वीकृत है उस से भिन्न दिशा में होनेवाली गति को देख लेना या उसके प्रतिकूल दिशा का संकेत दे देना—ये सभी उस दृष्टि का अंग हैं जिस का श्रेय हम सर्जक को देते हैं, जिस की अपेक्षा उस से रखते हैं और जिस के आधारपर ही इसका निर्णय करते हैं कि उस की कृति कहाँ तक सर्जना है, रचना है। सर्जक साहित्यकार को, कवि को, हम कालजित्, त्रिकालदर्शी, अनागतदर्शी, मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि कहते हैं तो इसी लिए। यह बात अलग है कि आज जिन कृतियों को हम साहित्य के नाम से पढ़ते हैं उन में इनी-गिनी ही इस कोटि में आती हैं; जिन्हें हम साहित्यस्रष्टा और कवि कहते है उनमें भी विरला ही उस कसौटी पर खरा उतरेगा जिस की ओर संकेत किया गया है। ऐसा कवि हमें आस-पास नहीं दीखता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन ऐसा कवि होता है—हमारा यह विश्वास नहीं डिगता। साधु, महात्मा, योगी भी हमें आस-पास नहीं दीखते, लेकिन योगी होता है—यह आस्था हमारी नहीं टूटती। आप कहें कि इन आस्थाओं का तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल मानवी आकांक्षा से है, तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्यों कि यह आकांक्षा भी मनोजगत् में प्रतिष्ठित एक मूल्य अथवा एक आदर्श की ओर संकेत करती है। ऐसे ही आधारभूत मूल्य तो वे हैं जिन्हें सर्जक-साहित्यकार को अन्तर्दृष्टि समय--समय पर या बार--बार देख लेती है, दिखा देती है; उसके आलोक में सारा परिदृश्य बदल जाता है और सारी व्यवस्थाएं, सारे समाज, सारी बिरादरियाँ, अपनी कर्म-प्रवृत्तियों को फिर से देखने को बाध्य हो जाती हैं, अपने सवेदनोंपर भी प्रश्नचिन्ह लगा देती हैं।

लेकिन अगर मैं मानता भी हूँ कि समाज को बदलने में साहित्य का योग होता है, कि उस में साहित्यकार की भी कुछ ज़िम्मेदारी होती है, तो भी आज साहित्यिक रचना और सामाजिक परिवर्तन में जैसा सीधा समीकरण बनाया जा रहा है उसे मैं बिल्कुल स्वीकार नहीं करता। मैं समझ सकता हूँ कि पिछले लगभग पचास वर्षों से इस तरह का सीधा सम्बन्ध बनाने और सिद्ध करने का जो एक प्रयत्न होता रहा है उसने साहित्य का बहुत अहित किया है। आलोचना को, जिस का लोचन से सम्बन्ध ही स्पष्ट करता है कि उसे स्वच्छ प्रकाश की अनिवार्य आवश्यकता है, उसने एक धुन्धलके में भटका दिया है। रचना की दृष्टि को एक रंगीन चश्मा पहना कर उसने एकांगी और असमर्थ बना दिया है। उसके राजनीतिक और आर्थिक आग्रह सतह को और केवल सतह को महत्त्व देकर वहीं दीखने वाले तनाव और संघर्ष को वास्तविक मानना और मनवाना चाहते हैं, और गहराई में काम करने वाली शक्तियों को देखने से साहित्यकार और पाठक को विरत करना चाहते हैं। प्रगति का अर्थ केवल आर्थिक विकास बल्कि आर्थिक विकास की एक दिशा रह गया है, यहाँ तक कि संस्कृति की अथवा सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा को निरी विलासिता का मान लिया गया है।

ऐसा चिन्तन साहित्य और साहित्यकार को न केवल सीधे-सीधे सामाजिक परिवर्तन से जोड़ता है बल्कि इसे अपना अधिकार समझता है कि साहित्यकार को बताये कि कौन-सा सामाजिक परिवर्तन सही और वांछनीय है। और इसके लिए वह योजना बना कर साहित्यकार को देना चाहता है—जिस योजना का साहित्यकार की अपनी दृष्टि या अपने विवेक से आत्यन्तिक सम्बन्ध होना वह आवश्यक नहीं मानता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं ने आरम्भ में कहा कि अगर मैं मानता होता कि साहित्य और साहित्यकार का कोई योग सामाजिक परिवर्तन में नहीं है तो मैंने न केवल शिविर के लिए इस विषय का प्रस्ताव न किया होता बल्कि स्वयं अपने साहित्यकारत्व के बारे में फिर से विचार किया होता। अब मैं यह कहूँ कि अगर मैं मानता कि रचना और सामाजिक परिवर्तन में वैसा सीधा सम्बन्ध है, या होता है, या हो सकता है जिसका मैं ने अभी उल्लेख किया कि अगर योजना बना कर साहित्य लिखना (बल्कि लिखवाना, क्योंकि योजना बनाने वाले और परिवर्तन की दिशा निर्धारित करने वाले तो दूसरे होंगे)— योजना बनाकर साहित्य लिखना ही वास्तविक और सही साहित्यिक कर्म है तो मैं ने साहित्य-रचना बहुत पहले छोड़ दी होती और किसी दूसरे काम में अपने को लगाया होता।

लेकिन अगर सामाजिक परिवर्तन के साथ रचना का ऐसा सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी मैं मानता हूँ कि समाज को बदलने में साहित्य का भी योग है और साहित्यकार का भी उत्तरदायित्व है, तो इस विरोधाभास का निरसन कैसे होता है? मैं तो समझता हूँ कि इस प्रश्न के उत्तर का कुछ संकेत मैं ने अपने निरूपण में दे दिया है। लेकिन संकेत ही दिया है। शायद कुछ बातों को अधिक विस्तार से निरूपित करना उपयोगी होगा।

(२)

साहित्यिक कर्म रचना-कर्म है यह मानने में तो किसी को कठिनाई नहीं होगी। कम-से-कम यह सोचने के लिए तो कोई नहीं रुकेगा कि वह रचना-कर्म है कि नहीं, मान लेगा कि सोचने का काम पहले हो चुका है और सिद्धान्त सामने है। लेकिन क्या साहित्यिक कर्म सांस्कृतिक कर्म भी है? यह सवाल पूछने पर साहित्यकार और आलोचक और सिद्धान्तों के प्रतिपादक लोग चौकन्ने होते हैं। न केवल इस रूप में प्रश्न प्रायः रखा नहीं जाता, वरन् जिस से पूछा जाता है उसे यह सन्देह होता है कि कहीं इसमें कोई पेच तो नहीं है। "हाँ" कह देने पर कहीं मैं ने अनजाने अपने को ऐसा बाँध तो न लिया होगा कि आगे तर्क में मेरा पक्ष गिर जाय? इसलिए इस सवाल का जवाब कई खंडों या सीढ़ियों में तैयार करना पड़ता है। दोनों कल्पना का सहारा लेते हैं, और कल्पना सर्जन का आधार है। दोनों समाज से जुड़े हैं, दोनों का स्वरूप समाज पर निर्भर करता है और दोनों समाज को अभिव्यक्ति देते हैं—समाज के इतिहास को भी, उस की वर्तमान स्थिति को भी और उसकी आकांक्षा को भी। ऐसा है तो दोनों लगातार उस के द्वारा बदले भी जाते हैं और स्वयं उस में बदलाव लाने का भी आधार बनते हैं। प्राचीन इतिहास और वर्तमान वास्तविकता की अभिव्यक्ति होने के कारण दोनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अनिवार्य गम्भीरता भी होती है, लेकिन दोनों में कल्पना का महत्त्वपूर्ण योग होने के कारण उनमें एक लीला– अथवा क्रीड़ा-भाव भी बना रहता है। बल्कि दोनों की सर्जक सत्ता अनिवार्यतया लीला-भाव से भी जुड़ी हुई है। जिन संस्कृतियों में लीला-भाव नहीं रहता वे उस हद तक बन्ध्य और स्थितिशील हो जाती हैं, भले ही गम्भीरता उन में बनी रहे। बल्कि उन की यह गम्भीरता भी परम्परा के आग्रह का रूप ले लेती है। और जिन साहित्यों में लीला-भाव नहीं रहता वे भी स्थितिशील हो जाते हैं और उन की गम्भीरता भी रीति और परम्परा के आग्रह का रूप ले लेती हैं, प्रयोग से कतराती है। फिर उन में भी गम्भीरता भले ही बनी रहे और वह वास्तविकता को देखने के, ज़िम्मेदार होने के दावे में भले ही परिणत हो जाय। विमर्श की इतनी सारी सीढ़ियाँ चढ़कर—या अनिच्छा को ध्यान में रखते हुए कहें कि उतरकर—लोग मान लेते हैं कि 'हाँ, साहित्यिक कर्म भी सांस्कृतिक कर्म है, साहित्य रचना भी एक तरह से संस्कृति की रचना है और साहित्य के सांस्कृतिक परिवेश की उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन...'

यह 'लेकिन' यथार्थ स्थिति का एक विचारणीय तथ्य है। इस 'लेकिन' के बाद कोई तर्क प्रस्तुत किये जाएँ या न किये जाएँ, इतना तो इससे स्पष्ट हो ही जाता है कि मन में कहीं एक गाँठ है। इस बात को स्वीकार करने में अनिच्छा की एक बाधा है कि साहित्य से संस्कृति बनती है जैसे कि संस्कृति से साहित्य बनता है। संस्कृति, समाज, साहित्य और ऐसी अन्य अवधारणाओं में परस्परता और अन्योन्याश्रय का गहरा सम्बन्ध है। इनमें से किन्हीं भी दो को उठाकर उनके सम्बन्धों का विचार हो सकता है और वह विचार उपयोगी भी हो सकता है, लेकिन तभी जब इस बात को कभी न भुलाया जाय कि ऐसी किसी भी जोड़ी का एक व्यापकतर सन्दर्भ है और केवल विचार ही नहीं, ये संज्ञाएँ भी उस सन्दर्भ से जुड़ी रहती ही अर्थवान् हैं। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि किन्हीं भी दो संज्ञाओं को चुनकर विचार करते समय हम प्रत्येक पर अपने पूर्वग्रहों का आरोप कर देते हैं। यह नहीं कि दूसरी सब मान्यताओं का हम एकान्त रूप से खंडन कर देते हों; इतना ही कि हमारी दृष्टि कुछ पहलुओं पर केन्द्रित हो जाती है जिस के कारण परिदृश्य बदल जाता है। उदाहरण के लिए संस्कृति की चर्चा में कहीं यह अलक्ष्य या अघोषित पूर्वग्रह हो सकता है कि वह परम्परा का, सामूहिक अनुभव के नित्य पक्ष का भंडार होती है। यह बात गलत नहीं है, लेकिन जिस का आग्रह इसी पक्ष पर होगा वह संस्कृति को केवल एक आस्था के रूप में नहीं, एक स्थितिशील आस्था के रूप में देखता हुआ चलेगा। अब संस्कृति समाज को स्थायित्व देती है, यह असंदिग्ध है, लेकिन फिर भी संस्कृति न निरी स्थिति है, न निरी स्थितिशीलता है। **वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है । इसी तरह वह अन्तर्दृष्टि भी है, ऐसी अन्तर्दृष्टि जो सत्यों को– ध्रुव सत्यों को भी और नये सत्यों को भी– आलोकित कर जाती है, हमें उन में आस्था भी दे देती है । लेकिन इसके साथ ही संस्कृति लीला भी है, निरा खिलवाड़ भी है, अटकल भी है, साहस-कर्म भी है । अनुमान और रूपकमयी भाषा में वह स्वप्न-महल भी खड़े करती है. जिन्हें वह एक साथ ही सच मानने को और छू कर ढहा देने को सदैव प्रस्तुत भी है । बिना इसके संस्कृति जी नहीं सकती, पनप नहीं सकती । हम कहें कि पुराण और परम्परा के नाम पर जिन बहुत-सी चीज़ों का संचय और परिग्रह हम किये रहते हैं उस में से बहुत-सी इसी तरह की हैं– साहसपूर्ण कल्पना की ऐसी सृष्टि जिसे हम शब्दशः सत्य नहीं मानते क्योंकि हम बराबर जानते हैं कि वह हमारी सृष्टि है, हमारी कल्पना-सृष्टि है, हममें से उपजी होने के कारण शून्य में से नहीं उपजी है जैसे कि हम भी शून्य से नहीं उपजे हैं । इतना ही नहीं, वह हमारे सामूहिक और सामाजिक स्वास्थ्य का एक आधार है, हमारी अस्मिता की पहचान का एक अंग है । उसे हम एकान्त मिथ्या तभी मान सकते हैं जब अपने को भी एकान्त मिथ्या मान लें ।

पूर्वग्रहों के व्यापक प्रभाव की इतने विस्तार से चर्चा का कारण है; जैसे कि संस्कृति की चर्चा का भी कारण है । संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है सब साहित्य पर भी पूरी तरह लागू है । साहित्य भी यथार्थ और कल्पना की सीमा-रेखा पर साहसपूर्वक बढ़ता है और उसी सन्धि-भूमि पर उसका सर्जकत्व क्रियाशील होता है । साहित्य भी अस्मिता की पहचान कराता है– सामूहिक, सामाजिक, व्यक्तिगत और आस्तित्विक अस्मिता की । साहित्य भी स्थितिबोध जगाता है, जड़ों की पहचान कराता है, उन के द्वारा अपनी मिट्टी से रस खींचने की प्रेरणा देता है, प्रक्रिया सिखाता है, दक्षता बढ़ाता है । साहित्य भी बदलाव की पहचान कराता है, बदलाव की सम्भावनाएँ उजागर करता है, बदलने की प्रेरणा देता है । साहित्य भी सपने देखता है, कल्पना के महल खड़े करता है (और गिराता है), अटकल लगाता है, भूल कराता है, भूल करने का साहस करता है और भूल को काट कर अलग कर देने का निर्ममत्व भी रखता है ।

संस्कृति के विचार की तरह साहित्य के विचार में भी हम उसे किसी दूसरी एक संज्ञा के साथ जोड़ ले सकते हैं । और वैसा विचार, ज़रूरी नहीं है कि सिर्फ इसलिए अर्थहीन हो जाय कि उसमें भी पूर्वग्रह काम कर रहे होंगे । मंशा यही है कि हम पूर्वग्रह की सम्भावना और व्याप्ति को पहचानते रहें और इस बात को भी न भूलें कि विचार के लिए जो भी जोड़ा हमने चुना है वह विचार की सुविधा के लिए ही चुना है । इस लिए नहीं कि व्यापकतर सन्दर्भ से उन दो संज्ञाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी तरह भी अलग किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें कि कोई भी जोड़ा चुनना अपने-आप में एक पूर्वग्रह की अभिव्यक्ति है। साहित्य और सामाजिक परिवर्तन भी इसी तरह का एक जोड़ा है– यहाँ तक कि साहित्य और साहित्यकार भी एक जोड़ा है जो पूर्वग्रह से मुक्त नहीं होता और जो सन्दर्भ से कट कर अर्थहीन हो जायेगा।

(३)

संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं। समाज लगातार बदलते हैं। साहित्य लगातार बदलता है।

आप लक्ष्य करेंगे कि इन तीनों वाक्यों का ढाँचा एक-सा है, लेकिन तीसरे में हम बहुवचन से एकवचन पर आ गये हैं। थोड़ा रुक कर सोचिए कि अगर इस बात को हम आँखों-ओट हो जाने देते हैं तो अनजाने कितना बड़ा पूर्वग्रह हमने निगल लिया है।

दोनों उक्तियों को अलग-अलग एकवचन और बहुवचन में रखकर देखिए। संस्कृति बदलती है, समाज बदलता है, साहित्य बदलता है। ऐसा कहने में हम समग्र मानव जाति, समग्र मानव समाज की बात सोच रहे होते हैं और साहित्य की भी अमूर्त सैद्धान्तिक अवधारणा कर रहे होते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि संस्कृतियाँ बदलती हैं, समाज बदलते हैं, तब हम एक दूसरी कोटि की सच्चाई की बात कर रहे होते हैं; संस्कृति और समाज की एक दूसरी परिभाषा ले कर चल रहे होते हैं। इस स्थूलतर मूर्त सन्दर्भ में हमें साहित्य की नहीं, साहित्यों की बात करनी चाहिए और बहुवचन में ही कहना चाहिए कि साहित्य बदलते हैं।

मानव संस्कृति की बात करते हुए हम आरम्भ यहाँ से भी कर सकते हैं कि मानव पहला आत्मचेतन प्राणी है– ऐसा प्राणी जो पूछ सकता है मैं कौन हूँ, मैं कहाँ जा रहा हूँ– ऐसा प्राणी जो अपनी मृत्यु की पूर्व-कल्पना कर सकता है और इसलिए अमरत्व को सन्तानता की भावना के साथ जोड़ सकता है– जो इस प्रकार इतिहास का स्रष्टा बन जाता है, जैविक स्तर पर अपने विकास को प्रभावित करने का सामर्थ्य पा लेता है, संस्कृति का उद्‌भव-स्रोत बन जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा मानव प्राणी न केवल संस्कृति को बदलने में समर्थ है बल्कि लगातार उसे बदलता चलता है। परिवर्तन की कामना, योग्यता और उसका संकल्प उसकी आत्म-चेतनता का सहज विस्तार है।

स्पष्ट है कि मानव-संस्कृति के बारे में जो कुछ कहा गया है वह सब मानव समाज के बारे में भी कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी स्पष्ट होना चाहिए, पर प्राय: उतने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं रहता, कि मानव-समाज और मानव-संस्कृति की बात करते हुए कहीं भी हम संस्कृति और समाज की उस दूसरी अवधारणा का खंडन नहीं कर रहे होते हैं जो देश-काल से बँधी होती है। भारतीय संस्कृति, यूनानी संस्कृति, मध्यकालीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति इत्यादि अवधारणाएँ कहीं भी उस व्यापकतर परिकल्पना में आड़े नहीं आतीं। दो प्रकार की अवधारणाओं को हम अलग-अलग स्तरों पर रख लेते हैं– या ज़्यादा सही ढंग से यों कहें कि एक बड़े वृत्त के भीतर अनेक छोटे वृत्तों का अस्तित्व मानते हुए चलते हैं।

यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि परिवर्तन और उसकी गत्यात्मकता और परिवर्तन के संकल्प की बात करते हुए भी हम वदलाव के दो आयामों की बात सोच रहे होते हैं– एक सीमित देश-काल द्वारा मर्यादित और दूसरा जैविक विकास और प्राणि-समाज का बृहत्तर सन्दर्भ लिए हुए।

साहित्य की चर्चा करते हुए जैसे हम बहुवचन से एकवचन पर आ गये थे और इसकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक हुआ था, वैसे ही यहाँ भी एक झिझक उठती है जिसे सामने ले आना चाहिए। साहित्य के साथ विशेषण के रूप में मानव जोड़ते हुए– 'मानव साहित्य' की बात करते हुए ज़बान अटक जाती है। क्यों? यह पूछने पर अटपटा-सा उत्तर आयेगा कि क्या मानवेतर साहित्य भी होता है जो हम मानव साहित्य की बात करें? ऐसा उत्तर देने के बाद स्वाभाविक है कि स्वयं हमारे सामने यह प्रश्न भी उठ आये कि क्या मानवेतर संस्कृति भी होती है जो हम मानव संस्कृति की बात करें? इसी प्रकार यह प्रश्न भी गूँज जाता है कि क्या मानवेतर समाज भी होते हैं कि हम मानव समाज की चर्चा करें?

ये प्रश्न अर्थहीन नहीं होते और नृतत्त्व-विज्ञान आरम्भ से ही इन्हीं प्रश्नों से उलझता है। हम क्रमश: पहचानने लगते हैं कि विकास के क्रम में सामाजिकता की भावना उच्चतर प्राणियों में आयी है। मृगों की और बन्दरों की अनेक प्रजातियों में सामूहिक आचरण और परस्पर सहयोग की कुछ मर्यादाएँ हम पहचानने लगते हैं और उन्हें सामाजिकता का मूल मान कर क्रमश: आदिम वन-जातियों, कबीलों और जन-जातियों की सामाजिकता को संस्कृति की परिभाषा के साथ जोड़ कर हम अपनी तर्क-परम्परा का उलटे क्रम से विस्तार करते हैं। कम-से-कम कुछ दूर तक तो उसका निर्वाह हो जाता है और उसमें निरर्थकता की झलक हमें नहीं मिलती। फिर भी उससे आगे हम उसे नहीं ले जाते; सादृश्य के धुँधले के छोर पर उसे छोड़ देते हैं जहाँ अनजाने ही यह माने रहना सम्भव हो कि वैसी ही समानताएँ वहाँ भी काम कर रही होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन यहाँ भी साहित्य पर इस तर्क-परम्परा का आरोप हम सम्भव नहीं पाते, सादृश्य-मूलक तर्क का भी नहीं। जन-जातियों, कबीलों और आदिम वन-जातियों के नृत्यों और गीतों को निश्चय ही हम साहित्य की परिधि में ले आते हैं और साहित्य के आदि स्रोत को प्राचीनतम सामूहिक अनुष्ठान के साथ जोड़ लेते हैं। उन अनुष्ठानों के साथ जुड़े हुए गीत कैसे रहे होंगे यह हम नहीं जानते, न जान सकते हैं; इसलिए यह स्पष्ट है कि यहाँ भी हम ज्ञान के आधार पर नहीं, सादृश्य के तर्क के आधार पर ही बढ़ते हैं। लेकिन उससे आगे– अथवा पीछे, प्राचीनतर काल में—सादृश्य के तर्क के सहारे भी हम जाने को तैयार नहीं है, यद्यपि संस्कृति और सामाजिकता की जड़ें खोजते हुए हम मानव-पूर्व प्राणियों के समाज, समूह, यूथ अथवा झुंड तक जाने में विशेष कठिनाई नहीं देखते।

साहित्य के मामले में यह झिझक क्यों ?

उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। वही कारण है कि मानव-संस्कृति और मानव-समाज की बात करते हुए भी हम मानव-साहित्य की बात नहीं कर पाते; और वही कारण है कि जिस प्रकार हम सामाजिकता की चर्चा को सादृश्य के सहारे मानव-पूर्व प्राणियों के संसार में ले जाते हैं वैसे साहित्य को नहीं ले जाते, ले जाने का प्रयत्न करने को भी तैयार नहीं होते।

और वह कारण यही है कि वैसे प्रयत्न हम कर ही नहीं सकते, क्यों कि साहित्य की ही नहीं, मानव की ही हमारी परिभाषा उसे असम्भव बना देती है; वह कारण यह है कि साहित्य भाषा की अपेक्षा रखता है, 'साहित्यिक' शब्द की अपेक्षा रखता है। किसी-न-किसी प्रकार का सम्प्रेषण तो मानवेतर अथवा मानव-पूर्व प्राणियों में भी होता है और सम्प्रेषण ही सामाजिकता की नींव है; लेकिन अर्थवान् शब्द और रूपकार्य की अवधारणा मनुष्य की सृष्टि है, और यही सर्जकत्व उसे अन्य सभी प्राणियों से ऐसे आत्यन्तिक रूप से अलग कर देता है कि साहित्य के विचार का वैसा विस्तार हमारे लिए असम्भव हो जाता है जैसा हम संस्कृति अथवा सामाजिकता का कर सकते हैं।

इसी लिए साहित्य के साथ विशेषण के रूप में मानव नहीं लगता– क्यों कि दूसरा कोई साहित्य न केवल होता नहीं बल्कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साहित्य की बात हम एकवचन में भी कर सकते हैं और बहुवचन में भी; जब एकवचन में भी कर रहे होंगे तब भी उसका सन्दर्भ मानवीय ही होगा, लेकिन उस विशेषण की कोई गुंजाइश नहीं होगी क्यों कि वह परिभाषा में ही निहित है। और जब बहुवचन में करेंगे तो देश-काल में वैसे समाजों और संस्कृतियों के साथ जोड़ कर कर रहे होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४)

बदलाव की प्रक्रिया और संकल्प, उसके प्रयत्न के दो स्तरों अथवा आयामों की चर्चा हम कर चुके हैं। साहित्य में भी निश्चय ही दो स्तरों की बात हो सकती है, लेकिन साहित्य को बदलाव के साथ जोड़ते हुए हम एक और बात कर रहे होते हैं जिस की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। संस्कृति अथवा समाज में बदलाव अथवा उसके संकल्प की बात करते समय हमारे सोच की परिधि यही रहती है कि संस्कृति कैसे संस्कृति को बदलती या बदल सकती है; समाज कैसे समाज को बदलता या बदल सकता है। निःसन्देह यह हम जानते हैं कि समाज अथवा संस्कृति के बदलाव से संस्कृति अथवा समाज में बदलाव आता है, अर्थात् एक के परिवर्तन अनिवार्यतया दूसरे को प्रभावित करते हैं। लेकिन क्यों कि हम जानते और मानते हैं कि एक का परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन लायेगा ही इसी लिए हम समाज अथवा संस्कृति को दूसरे को बदलने का उपकरण बना कर बदलाव का विचार नहीं करते; दोनों के अपने को ही बदलने का विचार करते हैं। समाज भी अपने को बदलता है या बदलना चाहता है; संस्कृति भी अपने को बदलती है या बदलना चाहती है। अपने को बदल कर ही दूसरे को बदला जा सकेगा; दूसरे को बदलने के लिए अपने को ही बदलना होगा।

लेकिन साहित्य भी क्या अपने को बदलता है या बदलना चाहता है? उसके संकल्प में भी जब परिवर्तन की बात होती है तब क्या अपने को बदलने की बात होती है? विचार-गोष्ठियों के लिए हम विषय रखते हैं 'संस्कृति और परिवर्तन की प्रक्रिया' अथवा 'समाज और परिवर्तन की प्रक्रिया' और जानते हैं कि पहले में सांस्कृतिक परिवर्तन की बात होगी, दूसरे में सामाजिक परिवर्तन की। लेकिन साहित्य के साथ हम न केवल ऐसा नहीं मान कर चलते, बल्कि यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार होगा तो 'साहित्य और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया' अथवा 'साहित्य और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया' का विचार होगा। 'साहित्य और साहित्यिक परिवर्तन की प्रक्रिया' यह भी गोष्ठी में विचार का विषय हो सकता है, यह सम्भावना भी हम नहीं करते।

असल में हम अर्थवान् शब्द और रूपकार्थ की रचना की बात तो मान लेते हैं, लेकिन इस बात की उपेक्षा कर जाते हैं कि अर्थवान् शब्द न केवल साहित्य के साथ जुड़ा हुआ है बल्कि मानव की परिभाषा के साथ भी आत्यन्तिक रूप से जुड़ा हुआ है। अर्थवान् शब्द और रूपकार्थ की सृष्टि कर सकना– मैं ने अन्यत्र मनुष्य को पहला प्रतीक-स्रष्टा प्राणी कहा है– मनुष्य को अपूर्वानुमेय भी बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है। प्रतीक-स्रष्टा होने के नाते मनुष्य पहला स्वाधीन प्राणी है, उसकी सम्भावनाएँ पूर्वानुमान से परे चली जाती हैं।

अर्थवान् शब्द और रूपकार्थ के साथ जुड़ा होने के नाते साहित्य भी इस विशेष अर्थ में अपूर्वानुमेय है। हम चाहें तो कह सकते हैं कि विशेष अर्थ में संस्कृति स्वाधीन नहीं होती, न समाज ही स्वाधीन होता है– अपनी जीवन्त और गतिशील आस्थाओं में भी नहीं।

अर्थवान् शब्द अर्थ की सृष्टि तो करता है लेकिन अर्थ की सीमा नहीं बांधता। रूपकार्थ की सृष्टि अर्थ-सृष्टियों का एक द्वार खोलती है जिसके आगे सीमाहीन सम्भावनाएँ गूँज रही होती हैं। इसी लिए सच्चे रचनात्मक साहित्य का, सच्चे साहित्य सर्जन का, एक कालातीत आयाम होता है। उस में हमें लगातार नये अर्थ मिलते रहते हैं। अब अगर यह बात ठीक है-–और इस की एक उपपत्ति यह भी है कि हम किसी एक समय में अन्तिम रूप से यह नहीं कह सकते कि अमुक एक काव्य-कृति का यही और भविष्यत् युगों में उसमें नया अर्थ नहीं पाया जा सकेगा— तो हम कैसे दावे के साथ यह कह सकते हैं कि अमुक साहित्य-रचना अमुक प्रभाव उत्पन्न करेगी और केवल अमुक प्रकार की ही प्रेरणा दे सकेगी ? कालजित् साहित्य मानव को (और क्या इस शब्द को यह विस्तार भी देने की ज़रूरत है कि मानव-समाज को और मानव-संस्कृति को ?) निश्चय ही प्रभावित कर सकता है और करता है, लेकिन ये प्रभाव पूर्वानुमेय नहीं हो सकते और इस लिए यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य से कोई भी विशेष और सीमित प्रभाव पैदा करने का काम लिया जा सकता है— कोई विशेष सामाजिक परिवर्तन लाने का काम लिया जा सकता है। यह तो बिल्कुल सम्भव है कि जो विशेष सामाजिक परिवर्तन हमें वांछित जान पड़ता हो उसकी दिशा में भी साहित्य का प्रभाव क्रियाशील हो, लेकिन यह सीमा बाँध देना सम्भव नहीं होगा कि किसी भी महान् साहित्यिक रचना का प्रभाव केवल उसी दिशा में होगा; क्यों कि यह उसे सम्पूर्णतया पूर्वानुमेय मान कर चलना होगा और हम साहित्य अर्थात् रचनात्मक अर्थवान् शब्द और मानव अर्थात् प्रतीक–स्रष्टा प्राणी की परिभाषा में ही इस सीमा को नकार चुके हैं। साहित्य जो परिवर्तन लाता है-- या साहित्य से जो परिवर्तन आते हैं और लगातार आते रह सकते हैं— उनका क्षेत्र मानव का पूरा संवेदन है। पूर्वानुमान से परे जानेवाली उसकी सर्जक कल्पना है। हमने कहा कि ऐसा तो हो सकता है कि साहित्य के प्रभावों में से एक प्रभाव वह भी हो जो कि उस समय हमारा वांछित है, या जो हमारे वांछित सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के व्यापक तथा देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाले सामर्थ्य को अनदेखा कर के उस से एक तदर्थ उपकरण अथवा अस्त्र का काम लेना— बात को स्पष्ट करने के लिए एक अतिरंजित बिम्ब का सहारा लूँ— वैसा ही होगा जैसे एक खरगोश को मारने के लिए अणुबम का उपयोग।

यों तो समाज भी एक स्थूल संरचना भी है और एक अमूर्त भावसंरचना भी, लेकिन जब हम समाज को बदलने की बात सोच रहे होते हैं तो उसकी स्थूल संरचना ही हमारे सामने होती है और सम्बन्धों को बदलने की बात करते हुए हम उसी संरचना के अन्तःसम्बन्धों को बदलने की बात कर रहे होते हैं। यही बात बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ संस्कृति के बारे में भी कही जा सकती है। उसमें भावना और उसके संस्कारों का महत्त्व कुछ अधिक है, लेकिन बदलने की बात करते समय वहाँ भी हम मुख्यतया आचार-व्यवहार, व्यवस्था को बदलने की बात ही सोच रहे होते हैं। लेकिन साहित्य की बात इनसे बिलकुल अलग है। वहाँ पर अगर हम संरचना की ही बात करना चाहें तो वह तन्त्र अथवा तकनीकी कौशल की बात हो जाती है। इसमें परिवर्तन लगातार अनिवार्य रूप से होता ही रहता है। और अगर हम किसी दूसरे बदलाव की बात सोचना चाहें तो वह अनिवार्यतया संस्कृति और समाज के बदलाव के साथ जुड़ जाती है, मूल-दृष्टि के साथ जुड़ जाती है, संवेदन के साथ जुड़ जाती है— अपूर्वानुमेय के समूचे क्षेत्र के साथ जुड़ जाती है। प्रकारान्तर से हम यह बात पहले भी कह आये कि समाज और संस्कृति के बदलाव की बात सोचते समय हमारे सामने यह प्रश्न होता है कि ये सत्ताएँ अथवा व्यवस्थाएँ कैसे अपने को बदल सकती हैं; साहित्य की चर्चा में प्रश्न यह बन जाता है कि साहित्य अपने को नहीं, समाज अथवा संस्कृति को कैसे बदले?

अब तक मैंने जो कुछ कहा है उस में बराबर यह प्रतिज्ञा निहित रही है कि साहित्य से भी बदलाव आता है, लेकिन साथ ही यह प्रश्न बराबर बना रहा है कि वह बदलाव किस क्षेत्र में आता है, कहाँ तक नियोजित हो सकता है और कहाँ पूर्वानुमेय से परे चला जाता है। अब इतने विवेचन के बाद में सिद्धान्त अथवा स्थापना के रूप में यह बात कह सकता हूँ कि सर्जनात्मक साहित्य के द्वारा आने वाले परिवर्तन संवेदन के परिवर्तन होते हैं; व्यवस्था के नहीं, व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित मूल्य दृष्टि के भी नहीं, बल्कि मूल्य-दृष्टि की भी आधार-भित्ति के परिवर्तन! यह आधार-भित्ति मानव की सर्जनात्मक प्रतिमा है, इस लिए वह बराबर पूर्वानुमेयता की सीमा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परे जाती रहती है। साहित्य समाज को और संस्कृति को बदलता है तो इस लिए कि वह नये और अपूर्वकल्पित जीवन का उन्मेष और आविष्कार भी है। यह नहीं कि वह यथार्थ को या वास्तविकता को कहीं नकारता या अनदेखा करता है; यही कि सर्जना-कर्म के दौरान ये बदल किये गये होते हैं।

(५)

आधुनिक हिन्दी साहित्य की परम्परा अथवा उसका परिदृश्य इतना लम्बा नहीं है कि कुछ बातों की परीक्षा हम उसी की सीमा के भीतर रहते हुए कर सकें। लेकिन यह बिल्कुल जरूरी नहीं है— उचित भी नहीं है—कि हम अपने को उसी सीमा से बाँध कर रखें। पूरे हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में भी कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं और कुछ सवाल अपना सही सन्दर्भ पा जाते हैं। भक्ति साहित्य और सन्त साहित्य को ही लीजिए। उन्हें ये नाम ही दिये गये तो इसी लिए कि इन में आस्था का स्वर प्रबल रहा, इन का सनातन मूल्यों पर आग्रह रहा। सनातन मूल्यों का आग्रह, भगवन्निष्ठा, आस्था और भक्ति — कहा जा सकता है कि ये सभी स्थितिशील आग्रह हैं। समाज को बदलने से इन का कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि बदलने हुए समाज के बीच इन्हीं तत्त्वों पर बल देना इन्हें अभीष्ट है जो बदलते नहीं। तब फिर सन्तों और भक्तों के साहित्य ने कैसे अपने युग में और अपने समाज में एक क्रान्तिकारी भूमिका निबाही? और अगर हम कहें कि ऐसा इस लिए हुआ कि वे शोषित और उत्पीडित की भावनाओं और उस की मूल्य दृष्टि के साथ जुड़े, तो क्या हम यह कह रहे हैं कि शोषित और उत्पीड़ित की मूल्यदृष्टि, उसकी आस्था और उसकी भगवन्निष्ठा, उसके सारे आग्रह स्थितिशीलता के आग्रह हैं? निःसन्देह स्थिति इतनी सरल नहीं है और ऐसा कोई सीधा समीकरण नहीं बन सकता। सन्तों और भक्तों के क्रान्तिकारी प्रभाव को समझने के लिए हमें स्थूल परिस्थितियों का और भावना-जगत् का विचार भी अलग-अलग भी करना होगा और फिर भावना-जगत् की अन्तःप्रेरणाओं का विश्लेषण भी अलग से करना होगा। निःसन्देह ये भावनाएँ फिर आ कर सामाजिक परिस्थितियों से भी जुड़ेंगी, लेकिन अगर सही विश्लेषण हुआ होगा तो स्थितिशीलता की परिभाषा भी बदल चुकी होगी और साहित्य के प्रभाव का वह पक्ष भी पहचान लिया गया होगा जो पूर्वानुमेय नहीं होता।

भक्तों अथवा सन्तों की रचनाओं का सामूहिक रूप से विचार न कर के अलग-अलग विचार करें तो बात और स्पष्ट हो जाती है। बल्कि एक अकेले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि कबीर का ही विचार किया जाए तो परिवर्तन की समस्या पर प्रकाश डालने के लिए काफी है।

यह तो एक सर्वमान्य बात को दोहराना ही होगा कि कबीर अपने को न सन्त मानते थे और न कवि। इस से आगे यह भी कहा जा सकता है—यद्यपि हो सकता है यह बात वैसी सर्वसम्मत न हो—कि कबीर अपने को क्रान्तिकारी या समाज-सुधारक के रूप में नहीं देखते थे, यद्यपि सत्य का आग्रह उन का बराबर रहा। मोटे तौर पर यह बात सभी सन्त और भक्त कवियों के बारे में कही जा सकती है कि वे अपने को कवि न समझते हुए केवल साधक ही मानते थे, लेकिन कबीर के बारे में यह अपेक्षया अधिक सच है। साधक होने के नाते उन की उक्तियाँ जगह-जगह समाज को चुनौती दे रही हैं, यह कहा जा सकता है कि ऐसा उन का लक्ष्य नहीं था बल्कि यह उन के जीवन और उन की साखियों के आनुषंगिक परिणाम ही थे।

लेकिन हमारे लिए जो बात और भी अधिक महत्त्व की है वह यह कि सत्रहवीं शती से ले कर बीसवीं शती तक कबीर की उक्तियों—उन की साखियों, रमैनियों, शब्दों और पदों को साहित्य ही नहीं माना गया था, अर्थात् हमारे सन्दर्भ के चौखटे में आने वाला कृति-साहित्य अथवा सर्जनात्मक साहित्य। वह सुरक्षित भी रहा था तो लोक-साधारण की वाणी में, जहाँ वह एक सहज शास्त्र-निर्देश का काम करता था, अथवा कबीरपन्थी या भगताही परम्परा में जहाँ वह उसी प्रकार साम्प्रदायिक धर्मोपदेश का काम करता था—और यह कोई नहीं कह सकता कि ये सम्प्रदाय क्रान्तिकारी सम्प्रदाय थे अथवा समाज को बदलने की भावना से प्रेरित थे।

यह कहना भी अनुचित न होगा कि हिन्दी-भाषी समाज में कबीर की रचनाओं को सर्जनात्मक साहित्य की कोटि में रख कर उस का विचार करने की कल्पना ही बीसवीं शती के तीसरे दशक से पहले नहीं की गयी थी बल्कि उस के बाद भी कम से कम दशक तक विश्वविद्यालयी क्षेत्रों में कबीर को साहित्य के उच्चतर अध्ययन का विषय बनाने के प्रति प्रबल विरोध का ही भाव था। कबीर की सामाजिक प्रतिष्ठा में कहाँ तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किये गये कल्पनाशील अनुवादों का अथवा क्षितिमोहन सेन जैसे आचार्यों द्वारा किये अध्ययन का योगदान था इसपर बहस हो सकती है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर का कवि अथवा साहित्यस्रष्टा के रूप में विचार वर्तमान शती की दूसरी चौथाई से ही आरम्भ हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर की रचनाएँ विचारों में हेतुवाद का और सामाजिक आचरण में पाखंड का खंडन करती हैं। तार्किक हेतुवाद का खंडन सनातन मूल्यों और आस्थाओं पर बल देता है। अतः उसे किसी प्रकार की भी क्रान्तिकारिता मानने के लिए क्रान्ति की परिभाषा को इतनी दूर तक खींचना होगा कि फिर उन में पुराणपन्थी प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हो जायेंगी (और यहाँ यह तो नहीं ही भूलना होगा कि साधु कबीर नारदीय भक्ति का अनुमोदन करते हैं; अगर नारदीय भक्ति क्रान्तिकारी है तो स्पष्ट की हमारी क्रान्ति की कल्पना आमूल बदल गयी है।)

तो कबीर की क्रान्तिकारिता की चर्चा सामाजिक आचरण में पाखंड के विरोध को ले कर ही हो सकती है। वह विरोध पैना था, प्रबल था, प्रभावशाली भी हुआ, लेकिन इस गुण के बावजूद तीन सौ वर्षों तक कबीर को साहित्यकार अथवा कवि की कोटि में नहीं रखा जाता रहा। **क्योंकि यह गुण काव्य माना ही नहीं जाता था, यह कर्म कवि-कर्म में शामिल नहीं किया जाता था।** अब हम यह तो मान सकते हैं कि तीन सौ वर्ष तक साहित्य की परख करने वाला समाज अँधेरे में था या गलती पर था, लेकिन यह मान लेने पर भी यह सवाल तो ज्यों का त्यों बना रहता है कि क्या साहित्यकार चेतन अथवा नियोजित रूप से समाज को बदलने का अभियान अपने कृति-साहित्य के द्वारा चला सकता है? और इस से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न भी ज्यों का त्यों बना रहता है कि अगर साहित्यकार नियोजित ढंग से ऐसा करता भी है तो क्या कालान्तर में होने वाले प्रभाव वही होते हैं जो उस ने लक्ष्य के रूप में आमने सामने रखे थे? यदि प्रभाव उन से भिन्न होते हैं और कवि के युग में न होकर किसी दूसरे युग में होते हैं जब कि युगीन परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि ऐसे विचार क्रियाशील हो उठते हैं जिन्हें हम एक अरसा पुरानी रचनाओं के साथ जोड़ते हैं, यद्यपि बीच के लम्बे अन्तराल में उन रचनाओं से उन विचारों का सम्बन्ध हमें नहीं दीखता था, अगर विचारों की क्रियाशीलता का सम्बन्ध उन से प्रभावित होने वाले समाज के संवेदन से ही अधिक है अगर कोई समाज अपने युगीन संवेदन के कारण किन्हीं रचनाओं में कोई अर्थ पाने लगता है जो उससे पहले की कई पीढ़ियों के समाजों को उस में नहीं मिला था, तो इस का श्रेय क्या हम कवि की नियोजना को दे सकते हैं? रचना से तो उस का सम्बन्ध निर्विवाद है ही, लेकिन रचना से जो अर्थ नये युग में हम पा सकते हैं वह अर्थ उसे हम दे रहे हैं; उसे वह अर्थ देने का सामर्थ्य हमारे युगीन संवेदन और हमारे समूचे संस्कार का परिणाम है। वह अर्थ उस रचना से पा रहे हैं, इस से रचना की वह अर्थ देने की क्षमता और शक्ति तो प्रमाणित होती है, लेकिन यह तो सिद्ध रहीं होता कि वह रचनाकार की नियोजनाओं का परिणाम था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर तो एक उदाहरण है। साहित्य--देशी और विदेशी, हिन्दी और हिन्दीतर साहित्य- ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। जिसे हम कालजित् साहित्य कहते हैं वह कई बार भुला ही दिया जाता है फिर नये रूप में अवतरित होता है। उसका अर्थ बदल चुका होता है और यह नया अर्थ भी अन्तिम नहीं होता। यह सम्भावना बनी रहती है कि फिर किसी परवर्ती युग में उस में किसी नये अर्थ का उन्मेष होगा इस प्रक्रिया में ग्रहीता वर्ग का योगदान भी असन्दिग्ध है, रचना की क्षमता भी असन्दिग्ध है। जो चीज़ सन्दिग्ध है वह है कवि की सचेत नियोजना। साहित्य के कारण परिवर्तन आते हैं, संवेदन की गहराई बढ़ती है और उसे नया संस्कार मिलता है, लेकिन यह शक्ति साहित्य की है और यह प्रमाण विचार की देश-काल मुक्त स्वायत्तता का है। इसका श्रेय कवि की नियोजना को नहीं दिया जा सकता, कवि का अनुशासन करना चाहने वाले काव्यशास्त्री अथवा आलोचक को तो और भी नहीं। कवियों के बारे में ऐसे चुटकुले सुनने को मिलते हैं कि अपनी रचना का अर्थ वे स्वयं नहीं जानते; लेकिन यह बात है बिलकुल सच। कुछ ही अर्थ कवि जानते हैं या जान सकते हैं; इनसे अधिक कुछ और अर्थों का तीव्र क्षणस्थायी बोध उन्हें उस आविष्ट अवस्था में ही हो सकता है जो सर्जन प्रक्रिया की चरमावस्था होती है। ब्राउनिंग ने अपनी एक अत्यन्त दुरूह रचना का अर्थ पूछे जाने पर उत्तर दिया था, "जब मैंने वह लिखी थी तब उसका अर्थ जाननेवाले दो थे- मैं और ईश्वर; अब केवल ईश्वर जानता है।" इसमें एक बड़ा सत्य निहित है। सचमुच सच्चे काव्य का सम्पूर्ण अर्थ ईश्वर ही जानता है और वही समय-समय पर खंडार्थ विभिन्न युगों अथवा समाजों पर प्रकट कर दिया करता है। उस युग अथवा उस समाज के काव्य-रसिक अपनी निष्ठा और साधना के बल पर उस से आगे कुछ और अर्थ का भी अविष्कार कर ले सकते हैं; उनका इतिहासकार उनका ब्यौरा दूसरे युगों और समाजों के लिए भी छोड़ जा सकता है। स्रष्टा को जब कवि कहा गया (और उसे कवि कहने में रूपकार्थ-सृष्टि की उसी प्रतिमा से काम लिया गया था जो मनुष्य को मानव पद देती है; तभी तो हम एक साथ ही स्रष्टा को 'कवि' भी कहते हैं और फिर 'नेति-नेति' भी कहते हैं और इन दोनों बातों में हमें न केवल विरोध नहीं दीखता बल्कि अर्थगर्भता का विस्तार दीखता है), और फिर कवि को मनीषी के साथ-साथ परिभू और स्वयंभू भी कह दिया गया, तो यही पहचान कर कि अर्थवान् शब्द की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। रूपकार्थों की सिद्धि सादृश्यों के आधार पर अर्थ-सृष्टि के जो द्वार खोल देती है उनसे आगे सादृश्यों की पहचान की ही नहीं, रचना की भी अनन्त सम्भावनाएँ खुल जाती हैं। हाँ, उन्हें पहचानने के लिए दृष्टि चाहिए और सर्जन के लिए प्रतिभा तो चाहिए ही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ और जिस स्तर पर हम लेखन का उपयोग समाज में परिवर्तन लाने के लिए करते हैं-- और निःसन्देह लेखन का उपयोग तो सचेष्ट और नियोजित रूप में समाज में निश्चित और अभीप्सित परिवर्तन लाने के लिए, उसे किसी विशेष दिशा में प्रेरित करने या किसी दूसरी दिशा से विमुख करने के लिए, किया ही जा सकता है- **वह स्तर सर्जन का नहीं है** कविता की अपेक्षा उपन्यास कुछ अधिक उपयोज्य पाया जाता है; इस बात को यों भी कह सकते हैं कि कविता की अपेक्षा उपन्यास एक अधिक 'सामाजिक' विधा है। और उपन्यास की अपेक्षा नाटक के बारे में यह बात और भी अधिक सच होती है- जिसे फिर यों भी कहा जा सकता है कि नाटक उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक 'सामाजिक' विधा है। बल्कि नाटक का वाचिक अंग अथवा 'साहित्य' तो उसका केवल एक अंग है; नाटक का विचार जब हम एक समग्र प्रस्तुति के रूप में करते हैं तो वह एक सामाजिक विधा ही नहीं, एक सामूहिक अथवा सहयोगी रचना हो जाता है। इस विशेषता के कारण साहित्य विधाओं में नाट्य-विधा निश्चय ही सबसे अधिक उपयोज्य विधा हो जाती है और पूर्व-नियोजित सामाजिक प्रभावों के लिए उसका ही उपयोग सब से अधिक हुआ भी है। यों यहाँ भी हमें यह पहचानना चाहिए कि इस स्थिति में भी मंचित नाटक के भी कुछ बुरे प्रभाव नियोजना की सीमा में बंधे रहते हैं और अच्छे नाटक हमेशा नियोजना से परे कुछ ऐसे प्रभाव भी रखते हैं जो अपूर्वानुमेय होते हैं। ऐसा भी हुआ है कि नाटककार ने जिस उद्देश्य से नाटक लिखा है उससे ठीक उलटा प्रभाव डाल कर नाटक स्वयं अपने रचनाकार को भौचक्का कर के छोड़ गया है। अपनी बात स्थापित करने के लिए और कुछ चिढ़ाने के भाव से यह भी कह दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में नाटक में सर्जना उतनी ही थी जितना कि अतर्कित प्रभाव पड़ा; बाकी नियोजित लेखन था!

नियोजित प्रभाव की अर्हता के सन्दर्भ में अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि सब साहित्य क्यों कि सर्जना के स्तर तक नहीं पहुँचता, इसलिए जो उस से कमतर होता है उसे उपयोज्य बनाना चाहिए। या यह भी कहा जा सकता है कि जिन साहित्यकारों में उतनी सर्जनात्मक प्रतिभा नहीं है-- और यह तो मानना ही होगा कि वैसी प्रतिभा वाले साहित्यकार किसी भी युग, किसी भी समय में इने-गिने ही होते हैं, बल्कि जो होते भी हैं उनकी भी सर्जनात्मक प्रतिभा का स्तर हमेशा एक-सा नहीं रहता- ऐसे साहित्यकार अपनी योग्यता और दीक्षा का उपयोग ऐसा साहित्य लिखने में कर सकते हैं जो समाज को बदलने का लक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखता हो। यह तो मान लेना होगा कि ऐसा लेखन कालजित् तो क्या, दीर्घजीवी भी नहीं होगा। लेकिन यह तो तभी मान लिया जाता है जब ऐसे साहित्य के लेखक को सर्जक से उन्नीस मान लिया जाता है।

कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं उसे मुक्त करता है। फिर उस मुक्ति में समाज के लिए और, हाँ, संस्कृति के लिए, मानव मात्र के लिए– बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं। *

केवेण्टर्स ईस्ट
केवेण्टर लेन
नई दिल्ली– ११० ०२१

– सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

टिप्पणी

* दिनांक २५।१२।८२ से २।१।८३ तक वृन्दावन में आयोजित तीसरे लेखक शिविर में दिया भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन के आधार*

दर्शन के आधार पर विचार दर्शन के इतिहास में अपेक्षाकृत नयी बात है, किन्तु अन्यथा, दर्शन आधार विषयक प्रश्नों पर ही विचार करता है। सम्भवतः दर्शन की यह एक सबसे कम विवादास्पद परिभाषा हो सकती है। किन्तु ऐतिहासिक रूप से दर्शन ने सर्वप्रथम जिज्ञासा सत्ता (बींग) के आधार के सम्बन्ध में की। संपूर्ण उपनिषद् इसी जिज्ञासा और ज्ञान को प्रकट करते हैं। ग्रीस के प्रथम दार्शनिक थेल्स ने इस जिज्ञासा का जो समाधान किया, वह प्रसिद्ध ही है; उसके अनुसार सत्ता का आधार जल है। इस उत्तर में उसकी सत्ता की अवधारणा भी प्रकट होती है। थेल्स के विपरीत ऋग्वेद का ऋषि इस आधार को अगम्य पाता है, क्योंकि वह सत् की विराट्ता और अतलता से अभिभूत है।[1] सत्ता के आधार की अवगम्यता के बोध का कारण वैदिक ऋषि द्वारा इसे भौतिक से बहुत अधिक व्यापक रूप में देखना है। यह वैदिक दृष्टि पीछे उपनिषद् में बहुत सूक्ष्म रूप ले लेती है। औपनिषद् ऋषि सत् के आधार को स्वयं सत् से भी परे, असत् में, देखता है, जिससे इसका आशय चित् की उस अवस्था से है जो प्रत्ययों और प्रत्येयों में अभी स्फुटित नहीं हुआ है।[2] उपनिषद् ही में हम विश्व के वैचारिक इतिहास की अद्वितीय महत्त्व की क्रान्ति घटित हुई देखते हैं, जिसमें सत् अब चित् से बाहर ज्ञेय विषय नहीं होकर उसका अपना तत्त्व है जो जगद्भाव में अपने को सर्जित करता है (तदात्मानं स्वयमकुरुत) और आत्मोन्मुख भाव से अपने तत्त्व में प्रतिष्ठित होता है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में यह दृष्टि पहली बार डेकार्ट में दिखायी देती है, जिसका क्रमिक परिष्कार हम फिख्ते, शेल्लिंग और हेगल में पाते हैं। ज्ञान का यह प्रत्यङ्मुख या आत्मोन्मुख निवर्तन, अथवा कहें उसकी आत्म-वृत्ति में अवस्थिति, उसके द्वारा सत्ता की बाहर खोज में निष्फल होकर उसे अपने ही भीतर पाने में है।

किन्तु सत् के आधार की जिज्ञासा वास्तव में उसकी चित् के हृदय में प्रतिष्ठा की ही द्योतक है। बाह्य सत् ऐन्द्रिक माध्यम में सद्यः प्रस्तुति के रूप में ग्रहण होता है। इस प्रस्तुति का भौतिक होना आवश्यक नहीं है, वह तान्मात्रिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो सकती है, जैसे पौराणिकता में। उसके आधार की जिज्ञासा उसके उस धर्म या स्वभाव की जिज्ञासा है जो प्रत्यय-ग्राह्य (Eidetic) होता है। धर्म या स्वभाव का लक्षण व्यापकता है। आधार वह है जो व्यापकतम है। इस प्रकार दर्शन द्वारा आधार की खोज व्यापकतम तत्त्व की खोज है। किन्तु व्यापकतम के लिए यह अनिवार्य है कि वह स्वयं जिज्ञासा को व्याप्त करे। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, जिज्ञासा का आधार ही व्यापकतम है, वही सब धर्मों और तत्त्वों का समावेश करता है।

किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जबकि सत्ता के आधार की खोज उपनिषद् में, और एक सीमा तक डेकार्ट में भी, स्वयं ज्ञान (या जिज्ञासा) में सत्ता का आधार देखने में निष्पन्न हुई, दर्शन के अपने आधार प्रश्न केवल पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में जर्मन प्रत्ययवादियों (आइडियलिस्ट्स) ने ही स्पष्ट रूप से उठाया, जबकि दर्शन के सम्बन्ध में यह सहज और आवश्यक प्रतीत होता है कि उसमें अपने आधार का प्रश्न आरंभ से ही उपस्थित हो, क्योंकि आधार विषयक सभी जिज्ञासाएँ जिज्ञास्य के उस तत्त्व के बारे में होती हैं जो विचार (प्रत्ययात्म क्रिया) को अपनी प्रत्यङ्मुख वृत्ति में ही ग्राह्य होता है, और इस वृत्ति के लिए अपने आधार की जिज्ञासा नितान्त स्वाभाविक है। किन्तु तब भी दर्शन के इतिहास में यह प्रश्न इतने समय बाद उठा, यह एक तथ्य है. जिसका कारण यह कहा जा सकता है कि चेतना की विचारात्मक वृत्ति भी अपने सहज प्रवाह में इन्द्रियानुगामी या बाह्योन्मुख ही है, और दर्शन द्वारा अपने आधार की जिज्ञासा विचार (प्रत्यय) की आत्मोन्मुखता की पराकाष्ठा है। किन्तु वास्तव में दार्शनिकों ने, भारतीय दार्शनिकों ने विशेष रूप से, विचार के स्वरूप पर भी बहुत समय पहले विचार किया था, यद्यपि उन्होंने इसे दर्शन के आधार के प्रश्न के रूप में नहीं देखा था। 'नेति-नेति', अनिर्वचनीय', 'अनभिलाप्य' और 'तर्कानामप्रतिष्ठानात्', विचार के आधारों पर विचार के ही उदाहरण हैं। केवल इनमें और दर्शन के आधार विषयक डेकार्टीय अन्वेषण में यह अन्तर है कि प्रथम का प्रश्न मूलतः सत्ता विषयक है और इस प्रकार उसके लिए दार्शनिक आधार का विचार अवान्तरतः या परोक्षतः ही उपस्थित है, जबकि डेकार्ट का प्रश्न मौलिक रूप से दर्शन विषयक ही है, यद्यपि स्वयं डेकार्ट इस प्रश्न के, और विचार के, स्वरूप के अवगाहन में उस दूरी तक नहीं जा सका था जिस दूरी तक आदर्शवादी भारतीय दार्शनिक जा सके थे। उदाहरण के लिए, उसने यह देखकर भी कि गणित और निगमन स्वतःप्रमाण नहीं हैं, दर्शन की विधी के रूप में इन्हें ही स्वीकार किया।[3] और यह प्रश्न नहीं उठाया कि इनको विधि के रूप में लेकर दर्शन किस प्रकार प्रामाणिक दृष्टि प्राप्त कर सकता है? वास्तव में डेकार्ट की दृष्टि का महत्त्व आत्मचैतन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अतिरिक्त शेष सब की आगन्तुकता देखने और इस आगन्तुक के निवारण को दार्शनिक विधी का रूप देने में है। किन्तु वह इस दृष्टि की पूरी गहराई नहीं नाप पाया। इसी से उसका आत्म के आधार से विषय की पुन:स्थापना का प्रयत्न अत्यन्त स्थूल और अपनी दृष्टि के विपरीत है। उदाहरण के लिए, विषयी आत्मा का तत्त्व यदि ज्ञातृत्व है, तो वह द्रव्य नहीं हो सकता, ऐसा द्रव्य तो कभी भी नहीं जो पाइनियल ग्रंथी में भौतिक देह के सम्पर्क में आये। ज्ञातृत्व विषयोन्मुख चित्-क्रिया है, जिसे गुणों का आधार-द्रव्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, बाह्य विषय यदि आत्मा* के प्रत्यय के रूप में ही ग्राह्य है, तो प्रत्यय की सत्यता के लिए किसी भिन्न सत्ता की आवश्ययता नहीं है, विस्तारात्मक सत्ता की तो सर्वथा नहीं। किन्तु डेकार्ट में ये दोनों प्रतिपत्तियाँ मिलती हैं। वास्तव में डेकार्ट के प्रयत्न का दोष उसकी दृष्टि के मूल में ही है, जो वह आत्मा को स्वरूपत: वैयक्तिक और विमर्शात्मक देखता है। इसके विपरीत औपनिषदिक दृष्टि है जिसके अनुसार ज्ञाता परम अनिर्धार्य और अगम्य है : विज्ञातारं अरे केन विजानी-यात्। अथवा बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु की दृष्टि है, कि ग्राह्य-ग्राहक भाव उपचार मात्र है[५] और इस प्रकार विज्ञान वैयक्तिक निर्धारणों से परे है।

यह दृष्टि आत्मा को स्पष्ट और विविक्त (क्लीयर एंड डिस्टिंक्ट) प्रत्ययों के समवाय या इनके अधिष्ठाता के रूप में नहीं देखती, क्योंकि ये सापेक्ष और विषयात्मक हैं और ये उस दृष्टि के सम्मुख निरस्त हो जाते हैं जो इनकी सापेक्षता को देखती है।

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि डेकार्ट विषय-प्रत्यय को नहीं बल्कि प्रत्यय-ग्रहण-मूलक विषयी को आत्मा मानता है। यह सही नहीं है, वास्तव में यह प्लेटो द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन की सीमा है कि वह आत्मा का धर्म प्रत्यय को ही मानता है, और प्रत्यय विषयोन्मुख, या विषय-ग्राही है। यह केवल भारतीय दर्शन से अभिज्ञ कांट के अनुवर्ती जर्मन प्रत्ययवादियों के लिए ही संभव हुआ कि वे चैतन्य को प्रत्यय से अतिक्रामी रूप में देख सके।

किन्तु इस पर कहा जा सकता है कि यह कोई स्वत: स्पष्ट नहीं है कि प्रत्यङमुख प्रत्यय अनिवार्यत: निरपेक्ष आत्मतत्त्व अथवा विषयि-तत्त्व को आधार बनाता है। प्रत्यय अपना आधार स्वयं ही हो सकता है, जैसा डेकार्ट में है। दूसरे, यह भी कैसे स्वत: सिद्ध है कि प्रत्यय के लिए प्रत्यङमुख होना अनिवार्य अथवा संभव भी है? यह क्यों नहीं माना जाय कि प्रत्यय अनिवार्यत: विषयोन्मुख ही होता है, फिर चाहे विषय प्रत्यय का अन्तर्गत अर्थ ही क्यों न हो, जैसे माइनांग और हुस्सर्ल में; अथवा इससे आगे जाकर, यह भी क्यों नहीं कहा जा सकता कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यय अनिवार्यत: बाह्य सत् का अपेक्षी है, जिसे अव्यवहित भाव से प्रस्तुत होने में ही उसकी सार्थकता है, और दर्शन का कार्य प्रत्यय और सत् के बीच के व्यवधान को हटाना ही है, और जैसे प्लेटो में अथवा, यदि दर्शन अपने आधार की खोज में प्रत्यय की प्रत्यङ्मुखता को ही पाता है. तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि यह प्रत्यङ्मुख प्रत्यय वेदान्त के समान ब्रह्म में, या नागार्जुन के समान शून्य में ही अपना आधार पाता है, वह ह्यूम के समान संवेदमूलक आत्मविघटन में ही यह आधार क्यों नहीं पा सकता ? और आगे जाकर यह भी पूछा जा सकता है कि दार्शनिक आधार की खोज प्रत्यय की दिशा में ही क्यों उचित है, भौतिक सत् अथवा संस्कृति, अथवा इतिहास की दिशा में क्यों सम्भव नहीं है ?

जैसा कि दर्शन के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं, दार्शनिक आधार की खोज ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ये सभी दिशाएँ ली हैं। तब किसी एक दिशा को पूर्वाग्रह-रहित और शेष को पूर्वाग्रह-ग्रस्त कहने का औचित्य स्वभावत: संदिग्ध हो जाता है। यहाँ यहा द्रष्टव्य है कि पूर्वाग्रह--राहित्य का विचार दर्शन का आधार उस अनुभव में खोजने से सम्बन्धित है जो सब ज्ञान में आधारभूत और पूर्णत: निश्चयात्मक है। दर्शन के पूर्वाग्रह--रहित आधार के अन्वेषक दार्शनिकों का कहना है कि चेतना में सहज प्रदत्त अनुभव से आरंभ कर उसकी आलोचना के सहारे ही क्रमश: आगे बढ़ना उचित दार्शनिक कार्य है, क्योंकि अन्यथा वह पूर्ण और निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता जो दार्शनिक विचार का लक्ष्य है।[६] इसके अतिरिक्त, दर्शन का अन्वेष्य आधारभूत तत्त्व होने से, वह किसी आधार को पूर्वमान्य कर अग्रेसर नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए मार्क्स की स्थापना को लें, कि मूल सत् भौतिक है जो प्राण, इन्द्रियों और मनस् के रूप में रूपान्तरित होता है। "अथवा सामाजिक सन्दर्भ में, मूल सत् आर्थिक सम्बन्ध हैं जो शेष सम्बन्धों, विचारों और भावनाओं का निर्धारण करते हैं।' अथवा डेकार्टीय स्थापना को लें, कि मूल सत् दो हैं जिनमें एक, विषयगत भौतिक है, और दूसरा, विषयिगत, मानसिक। ये दोनों स्थापनाएँ लोक--संज्ञान के बहुत निकट हैं, डेकार्ट की विशेष रूप से। (यहाँ डेकार्ट द्वारा इनके विवेचन की असाधारणता की हम उपेक्षा कर सकते हैं।) इस पर निराग्रहता के अधिवक्ता दार्शनिक कहेंगे कि 'भौतिक' और 'मानसिक' दोनों अवधारणाएँ जटिल परिभाषाओं की अपेक्षी हैं और उस सत्ता का कथन करती हैं जो किसी परिभाषा के लिए गम्य नहीं है। और सब परिभाषाएँ अनुभव-मूलक होती हैं, इसलिए सब सत्ताओं का ग्रहण अनुभव के माध्यम से ही करना सम्भव है, **ज्ञान और सत्** पुस्तक के लेखक के शब्दों में, "दर्शन 'वस्तू' की बात नहीं कर सकता, वह केवल 'वस्त्वर्थ' की बात ही कर सकता है, क्योंकि दार्शनिक के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास वस्तु की उपलब्धि का कोई उपाय नहीं है"।[७] किन्तु पूर्वाग्रह-रहित अर्थ की उपलब्धि कैसे हो ? यह दो प्रकार से हो सकती है। १. अनुभव के मूल में प्रतिष्ठित होकर, और २. वस्त्वर्थों के बीच तटस्थ रहकर। किन्तु अनुभव के मूल में प्रतिष्ठित होना तब तक कैसे सम्भव है जब तक अनुभव क्या है इसका निर्णय नहीं हो ? पाश्चात्य दर्शन में 'अनुभव' अधिकांशतः 'इन्द्रियानुभव' के अर्थ में ही समझा गया है, यद्यपि बौद्धिक प्रत्यय को अनुभव मानने की प्लेटोई परम्परा भी है। भारतीय परम्परा में अनुभव का प्रयोग व्यापक है, वास्तव में बौद्धों के कुछ सम्प्रदायों के अतिरिक्त अनुभव को संवेद तक कहीं सीमित नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए **सांख्यकारिका** में प्रत्यक्ष की परिभाषा 'प्रतिविषयाध्यवसायः'[८] की गई है। इसमें प्रतिविषय का अर्थ 'संवेद ग्राह्यविषय' लिया जा सकता है, किन्तु यह भी लिया जा सकता है 'अध्यवसाय को इन्द्रिय के माध्यम में प्रस्तुत विषय'। जो भी हो, सांख्य में पंचमहाभूतपर्यन्त सब ग्राहकतत्त्व बुद्धि की ही विधाएँ हैं। परिणामसम्बन्धी मतभेद को छोडते हुए, यही मत अन्य भारतीय अबौद्ध दर्शनों का है। किन्तु बौद्ध, जैन वेदान्त और सांख्य अब एक अन्य स्तर के अनुभव को भी 'अनुभव' मानते हैं। इस प्रकार, अनुभव का स्वरूप-निर्णय स्वयं पूर्वाग्रह-ग्रस्त है। ऐसी अवस्था में केवल दूसरा विकल्प ही रह जाता है। 'वस्त्वर्थों के बीच ताटस्थ्य' का अभिप्राय है वस्तुग्राही प्रत्ययों के स्तर का अतिक्रमण कर इन प्रत्ययों के स्वरूप का समीक्षक होना। हुस्सर्ल का विज्ञानों के पूर्वाग्रह से मुक्त होने के परामर्श का यही अर्थ है, और एक दूसरी प्रणाली से हमने अपने पिछले दो ग्रन्थों– **ज्ञान और सत् तथा संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या** में इस आशय को व्याख्यायित किया है। वास्तव में 'वस्तु' का 'वस्त्वर्थ' के रूप में ग्रहण प्रत्यय का अपने शुद्ध स्वरूप की ओर उन्मुख होना ही है, जिसमें अनुभव अनुभवेतर तत्त्वों से क्रमशः मुक्त होकर शुद्ध द्रष्टव्य में स्थित होता है।

किन्तु इस प्रतिपादन में जबकि एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि और पुष्ट युक्ति है, इसमें एक महत्त्वपूर्ण दोष भी है। इसमें सब विषय अवास्तविक हैं। अवश्य ये विचारक चित् के सत्व (बींग ऑफ कांश्यसनेस) की बात भी करते हैं, किन्तु यह सत्त्व आधारात्मक वस्तुरूप, अथवा परम भाव रूप * (हाइएस्ट बींग) नहीं होकर भाव की अपेक्षारूप (लैक) है। यह दृष्टि मनुष्य के लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक तथा तार्किक ज्ञान की दार्शनिक विमर्श में प्रकट स्थिति का तो बहुत युक्त अंकन कर सकती है, जैसे हुस्सर्ल में, यह उसकी व्यग्रता और खिन्नता की पुष्टि भी कर सकती है, जैसे सार्त्र में, किन्तु उसके परमार्थानुशीलन और स्वरूपान्वेषण का आकलन नहीं कर सकती। हम विषय की सत्ता का आत्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता में समर्पण कर सकते हैं, अथवा आत्मसत्ता का विषय-सत्ता में समर्पण कर सकते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि विषय और आत्म दोनों को निरवलंब छोड दें, जो कि इस दृष्टि में किया गया है। [१०] किन्तु आत्म-सत्ता का विषय-सत्ता में समर्पण बहुत महँगा पडता है, क्योंकि इससे सब अर्थ, प्रसंग और अन्वेषण निराधार हो जाता है। सत्ता अवश्य शेष रहती है, किन्तु अपनी अंध निरर्थकता में स्थिर, जिससे सृजन, अन्वेषण, अन्वेष्य, भाव्य और भाव रिक्त हो जाते हैं : किन्तु यदि तात्कालिक रूप से यह मान भी लिया जाय (जो कि आग्रह मात्र ही होगा) कि सत्, और इस प्रकार आधार, विषयमूलक है, तो भी दर्शन उसे अपने आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि दर्शन के लिए यह प्रत्ययात्मक विमर्श द्वारा निर्धार्य है कि सत् क्या है ?

किन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि सत् इस प्रकार निर्धार्य नहीं हो सकता, क्योंकि सत् किसी कोटि में सीमित नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जो कोटियाँ सत्ता को पूर्वापेक्षित करती हैं वे सब उसको निर्धारित करती हैं और जो उसे पूर्वापेक्षित नहीं करतीं वे निषेध के द्वारा उसका निर्धारण करती हैं। जो भी हो, यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह निर्धारण, अथवा अनिर्धार्यता का ख्यापन, स्वयं प्रत्ययगत है और दार्शनिक विमर्श का विषय है। अनिर्धार्यता प्रत्यय का ऐसा विषय है जिसका साक्षात्कार प्रत्यय अपनी सब उपाधियों से मुक्त होकर करता है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि अनिर्धार्यता केवल प्रत्ययमूलक तत्त्व ही है, इन्द्रिय अथवा अंत:करणमूलक नहीं। निर्धारण इन्द्रियमूलक और अंत:करणमूलक भी होता है, किन्तु प्रत्ययमूलक निर्धारण इनसे सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। इन्द्रिय और अन्त:करणमूलक निर्धारण जबकि विशिष्ट विषय को ही प्राप्त करता है, प्रत्यय विषय का निर्धारण व्यापकता के व्यावर्तन के रूप में करता है। उदाहरण के लिए घट-पट, वस्तु, अनुभूति, इतिहास, विज्ञान आदि ऐसे निर्धारण हैं जो अन्यों कें अथवा अन्यों से व्यावर्तन के द्वारा होते हैं। इन निर्धारणों का यह लक्षण है कि ये अपने व्यावर्तक के साथ व्यापकतर निर्धारण में एकाकार हो सकते हैं। व्यापकतरता का यही क्रम परम-व्यापक, अथवा कहें सर्वव्यापक, को संकेतित करता है। अवश्य, परमव्यापक प्रत्यय ग्राह्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यय का यह मूल स्वभाव है कि वह केवल निर्धारित का ही ग्रहण कर सकता है, यहाँ तक कि व्यापकतम तत्त्व (भाव) भी प्रत्यय द्वारा अभाव से व्यावृत्त के रूप में ही ग्राह्य हो सकता है, और तीसरी कोटि (संभवन) जो इन दोनों का समावेश करती है, पुन: अपने व्यावर्तक के रूप में भाव का आक्षेप करती है। किन्तु व्यावर्तन का, अथवा कहें प्रत्यय का, यह भी स्वरूप है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यह व्यावृत्त का केन्द्र पर ग्रहण कर अप्रस्तुत व्यावर्तक का परोक्षतः आकलन करता है और इस प्रकार अपने निर्धारण के परे देखता है।[११]

प्रत्यय के प्रत्येक ग्रहण का विशेष या व्यष्टि से व्यापकतर होना उसके विशेष से स्वातंत्र्य का द्योतक होता है और यह स्वातंत्र्य चैतन्य के आत्मोन्मुख प्रवर्तन को प्रकट करता है। देश-काल क, पर गृहीत विलक्षण घट-विशेष है और 'यह घट है' अध्यवसाय में गृहीत घट सब विशेष घटों पर व्यापक है। यद्यपि इस अध्यवसाय में घट जाति (सामान्य) ग्राह्य और प्रत्यय ग्राहक है और इस प्रकार प्रत्यय विषय-निबद्ध है, किन्तु जाति की व्यक्तियों पर व्यापकता प्रत्यय में चैतन्य की आत्मोन्मुखता में प्रतिष्ठित होने से ही है। यही कारण है कि घट जाति का व्यापकतर जातियों : बर्तन, गोचर वस्तु, वस्तु : में समाहार हो सकता है। किन्तु यह आत्मोन्मुख प्रवर्तन परोक्ष है, क्योंकि यह विषय को माध्यम बनाता है, प्रत्यय तब प्रत्यक्षतः आत्मोन्मुख होता है जब वह अपनी ही आत्मोन्मुखता पर मनन करता है।

किन्तु यहाँ प्रत्यक्ष आत्मोन्मुख प्रवर्तन के इस निरूपण पर आपत्ति की जा सकती है, कि इसमें स्वयं प्रत्यय विषय होता है, विषयि-प्रत्यय इस प्रकार माननीय नहीं होता, विषयी की प्रत्यङ्मुखता उसकी पूर्ण पारदर्शिता है जो कि प्रत्यय के आत्मोन्मुख प्रवर्तन में उपलब्ध नहीं होती। शंकर के अनुसार भी "आत्मा पूर्णतः अविषय नहीं है क्योंकि यह आत्म-प्रत्यय का विषय है।"[१२] ऊपर उल्लिखित अन्य मत भी उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें प्रत्यय विचार्य विषय है और अतएव अपारदर्शी है। यह सही है, वास्तव में वस्तु, गुण, विषय आदि के स्वरूप और प्रत्यय के स्वरूप पर विचार में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्यय की प्रत्यङ्मुखता अपने प्रत्यङ्मुख स्वभाव के ग्रहण में है जिसका ग्रहण प्रत्यय परोक्षग्रहण की परोक्षता के ग्रहण के साथ उस ग्रहण के आधार के रूप में करता है। दूसरे शब्दों में, जब हम प्रत्येय तत्त्वों की व्यापकतरता के सोपान को प्रत्यय के स्वातंत्र्य में से उद्भूत होते देखते हैं तब प्रत्यय प्रत्यक्ष प्रत्यङ्मुखता में ग्राह्य होता है।[१३] इस स्वातंत्र्य अथवा निर्धारणों के आधार का साक्षात्कार सभी निर्धारणों में अपने से परे अनिर्धार्य के संकेत के रूप में होता है और प्रत्यङ्मुखता का प्रत्यक्ष दर्शन अनिर्धारित का साक्षात्कार है। निर्धारण-सोपान का यह स्वभाव है कि प्रत्येक उच्चतर निर्धारण निम्नतर निर्धारणों को उनके अतिक्रमण के साथ आत्मसात् करता है : घट-जाति यद्यपि घट-व्यष्टियों पर व्यापक है किन्तु व्यष्टियों की व्याप्यता घटत्व (जाति) के निर्धारण में होती है, विशिष्ट अस्तित्व में नहीं। $घ_1$ की $घ_2$ से विशिष्टता घटत्व में अपना सत्त्व खो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देती है और वस्तुत्व में घटत्व और परत्व, उच्चतर में निम्नतर के सत्त्व का अतिक्रमण या निरास अनिर्धारित के स्तर पर एक दूसरा आयाम ले लेता है : उच्चतर निर्धारणों के समान अनिर्धार्य निर्धारणों के समग्र पर व्यापक नहीं होता और परिणामतः व्याप्यों द्वारा निर्धारित भी नहीं होता, क्योंकि उसका कोई व्याप्य ही नहीं होता। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यय अनिर्धारित नहीं हो सकता, अनिर्धारित (अनिर्धार्य) प्रत्यय का अतिक्रमण करता है। कहा जा सकता है कि अनिर्धार्य में यह अतिक्रमण गणितीय अनन्तता के समान है जो वास्तविक नहीं होकर स्वयं संख्या क्रम की अवधारणामूलक होती है। किन्तु यह सही नहीं है, यदि संख्या और उसका क्रम कल्पित है तो उसकी अनन्नता भी कल्पित होगी, किन्तु यदि संख्या कल्पित नहीं है तो उसकी अनंतता भी कल्पित नहीं होगी। जहाँ तक प्रत्यय का सम्बन्ध है, वह कल्पित नहीं है, 'कल्पना' और 'प्रामाण्य' आदि उसके विषय के लक्षण होते हैं, प्रत्यय के नहीं, क्योंकि प्रत्यय स्वप्रकाशित है। परिणामतः उसके निर्धारणों का सोपान भी कल्पित नहीं हो सकता, इसलिए अनिर्धार्य को गणितीय अनन्नता से उपमित करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। किन्तु गणितीय अनन्तता और निर्धार्यता में एक दूसरा मौलिक अन्तर है : अनन्तता स्वयं संख्या नहीं होने पर भी संख्याक्रम की अनन्तता है और परिणामतः उसकी व्यवस्था संख्या-क्रम के ही अन्तर्गत है, किन्तु अनिर्धार्यता प्रत्यय और तन्मूलक निर्धारणों की व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं है, यह केवल उसके द्वारा संकेतिक होती है। प्रत्यय द्वारा अनिर्वार्य यह शुद्ध तत्त्व शुद्ध सत् है, जो एक साथ प्रत्यय और प्रत्येय का अतिक्रामी आधार है।

उदाहरण के लिए किसी प्रत्यय को लें, जैसे "घट"। "घटत्व" इस प्रत्यय द्वारा ग्राह्य वस्तु है जो घट-प्रकारेण निर्धारित है। निर्धारण व्यावर्तक-व्यावृत्त के, अर्थात् अघट और घट के, द्वंद्व को उत्पन्न करता है जिसका एक पक्ष : अघट : दूसरे पक्ष : घट : का समावेश करने पर निर्धारणों से रहित हो जाता है। अब, घट का ग्रहण अनिवार्यतः अनिर्धार्य में प्रतिष्ठित है। यहाँ यह पुनः स्मरणीय है कि निर्धारणों में व्यापकता का सोपान और इस प्रकार अनिर्धार्यता का संकेत प्रत्येय वस्तुगत नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु अपने व्यावर्तक का 'अवलोकन' नहीं कर सकती, यह अवलोकन प्रत्यय अपने आत्मोन्मुख आरोहण में ही कर सकता है। यहाँ प्लेटो का प्रत्यय-ग्राह्य वस्तुओं में सोपानिकता का सिद्धान्त स्मरणीय है, जो वास्तव में प्रत्ययगत प्रत्यङमुखतामूलक है। किन्तु तब यह आपत्ति होगी कि व्यापकता वस्तुगत होती है, न कि प्रत्ययगत, क्योंकि यदि व्यापकता प्रत्ययगत हो तो जाति भी प्रत्ययगत और इस प्रकार अवास्तविक होगी। इसका उत्तर यह है कि प्रत्यय वस्तुतंत्र है और वस्तु प्रत्यय-तंत्र, प्रत्यक्ष ही के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान, जिसमें प्रत्यक्ष वस्तुतंत्र होता है और वस्तु प्रत्यक्षतंत्र। दोनों एक ही सत् के दो पक्ष हैं और कोई दूसरे के सत्त्व का समावेश नहीं करता। किन्तु अर्थतः, अथवा कहें अस्तित्वतः, वस्तुएँ प्रत्यक्ष और प्रत्यय से स्वतंत्र होती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष या प्रत्ययमूलक कोई ग्रहण ग्राह्य-वस्तु का निश्शेषतः ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार व्यापकता जबकि वस्तुगत है, क्योंकि गायों पर व्यापक गोत्व होता है न कि गाय-प्रत्यक्ष पर गोत्व-प्रत्यय, आरोहण का क्रम प्रत्यय के आत्मोन्मुख स्वभाव-मूलक है। प्रत्यय और प्रत्ययग्राह्य की इस युग्मता के कारण ही अनिर्धार्य में दोनों का युगपत् लय हो पाता है, क्योंकि वह निरपेक्षभाव से चित् और सत् है।

यहाँ संक्षेप में प्रत्यय विषयक पूर्वोक्त ह्यूमीय सिद्धान्त का निराकरण भी स्थाने होगा : यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक पूर्वमान्यताओं पर आधारित है, तात्त्विक नहीं है। किन्तु मनोविज्ञान एक विज्ञान होने से आधारभूत नहीं हो सकता। इस मत की पूर्वाग्रह-ग्रस्तता इससे स्पष्ट है कि यह जबकि जाति का व्यष्टियों में और जाति-ग्रहणों का व्यष्टि-ग्रहणों (प्रत्यक्षों) में विश्लेषण करके औचित्य का एक भ्रामक आश्वासन पा सकता है, यह सर्जनों की प्रत्ययमूलकता का और प्रत्यय की आत्मोन्मुखता का आकलन नहीं कर सकता।[१४]

× × ×

प्रत्यय के आत्मोन्मुख या प्रत्यङ्मुख स्वभाव के इस निरूपण के बाद प्रत्यय की अन्तर्वस्तु (अन्तरार्थ) और विषयवस्तु (बाह्यार्थ) का स्वरूप विवेच्य है जो दर्शन के आधार की खोज के प्रसंग में समान रूप से प्रासंगिक है।

प्रत्येय विषय के उदाहरण के रूप में हमने ऊपर 'घटत्व', 'गोत्व' आदि का उल्लेख किया था। कुछ लोग घटत्व आदि का अस्तित्व नहीं मानते, केवल घट-व्यष्टियों का अस्तित्व ही मानते हैं, जिनके आधार पर, उनके अनुसार, हम घटत्व का प्रत्यय बनाते हैं। इस प्रकार, उनके अनुसार, प्रत्यय व्यक्तिमूलक सामान्य कल्पनाएँ हैं। यह इन्द्रियगम्यता के प्रति पूर्वाग्रह का द्योतक है। किन्तु यहाँ हम अस्तित्व के प्रश्न पर विचार करेंगे, यहाँ हम केवल प्रत्यक्ष के प्रति पूर्वाग्रह को अस्वीकार करते हुए प्रत्ययगम्य को स्वीकार करेंगे। यह स्वीकृति हमारे ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन में निहित है। यहाँ विचारणीय प्रश्न इनके अस्तित्व का नहीं होकर इनके स्वरूप का है। घटत्व, पटत्व अथवा घट, पट किस अर्थ में इन्द्रियागम्य प्रत्येय विषय हैं ? एक, इस अर्थ में कि ये एक प्रकार के सब विषयों पर व्यापक हैं, और व्यापक विषय इन्द्रिय-गम्य नहीं होते। किन्तु घटादि की व्यापकता का आधार क्या है? क्या यह कि हम 'घट' शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग समान या समानप्राय रूपाकार के विभिन्न व्यष्टियों के साथ होते देखते हैं ? किन्तु जो घट-व्यष्टि अब नहीं रहे, या जो घट-व्यष्टि अभी नहीं बने, उनके साथ किस शब्द का प्रयोग होगा ? दूसरे, जब प्रथम घट अस्तित्व में आया और अभी कोई और समान व्यष्टि अस्तित्व में नहीं आया था, तब व्यष्टि और जाति में कोई भेद था या नहीं ? तीसरे, क्या घट पहले हुआ या कि घट-कल्पना ? यदि घट-कल्पना पहले थी तो उसका अन्तरार्थ (कांटेंट) व्यष्टि-रूप था या कि जाति-रूप ? इन प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यद्यपि बर्कले द्वारा लॉक के "सामान्य कल्पना-चित्र" का खण्डन दार्शनिकों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया किन्तु लॉक की दृष्टि में एक मौलिक सत्य है। यह सही है कि कल्पना-चित्र प्रस्तुत विषय के समान सदैव व्यष्टि होता है किन्तु ये दोनों (कल्पना-चित्र और प्रदत्त विषय) अपनी अपेक्षा में सामान्य हो सकते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कागज पर त्रिकोण बनाते हैं तब वह अपनी प्रत्यक्षगत आकृति में नहीं बल्कि ज्यामितिक सिद्धान्त के निदर्श के रूप में ही ग्राह्य होता है। घट-विशेष के आविर्भाव से पहले कुम्हार की घट-कल्पना में तो वैशिष्ट्य का कोई भी अंश नहीं होता। तब यह प्रश्न हो सकता है कि इस सामान्य या जाति का व्यष्टि-घट से क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर है कि व्यष्टि-घट (बाह्यार्थ) प्रत्यय के अन्तरार्थ-निरूपण से आलंबन बनता है और उसी प्रक्रिया में यह आविर्भूत होता है। घट का आविर्भाव आत्मोन्मुख (आदर्शोन्मुख) प्रत्यय के अपने को इन्द्रियगम्य माध्यम में अनूदित करने के क्रम में होता है और इस माध्यम में अवतरित होकर प्रत्यय अपने अन्तरार्थ का प्रतिरूप इसमें देखता है। इसका अधिक उपयुक्त कथन यह होगा कि, घट-व्यष्टि घटत्प्रत्यय के सत्त्व में एक अनिवार्य कड़ी है जिसका अपना सत्त्व विशिष्ट होने पर भी प्रत्यय के सत्त्व में सामान्य है। इस प्रकार घट-व्यष्टि केवल घट-जाति का एक उदाहरण मात्र नहीं होता, बल्कि ऊर्ध्वोन्मुख प्रत्यय के अन्तरार्थ के इन्द्रियगम्य माध्यम में आत्म-निरूपण का साधन भी होता है, जिस कारण से प्रत्येक घट सुधार की अपेक्षा से गर्भित, असंख्य संभव घट-रूपों में से एक रूप का धारक और व्यष्टि-रूप में पूर्णतः आगन्तुक और अनावश्यक होता है। किन्तु यहाँ जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि घट की व्यष्टिता भी इन्द्रियमूलक नहीं होकर प्रत्ययमूलक ही होती है– उसकी यह व्यष्टिता एक संवेद-ग्रहण की, जो कि विशेषवादी दार्शनिकों का संबल है, विलक्षणता में नहीं होकर उसकी आकृति में है जो प्रत्ययमूलक है। प्रत्येक आकृति देश में विभाजन को और परिप्रेक्ष्यता (पर्स्पेक्टिवनेस) को पूर्वापेक्षित करती है, और घट की व्यष्टिता की वस्तुता के यही आधार हैं। यदि उसके वर्ण, सौष्ठव आदि की विशिष्टता को उसकी विशिष्टता का आधार माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह व्यष्टि से बाहर के मानदंड की सापेक्ष होती है और आकृति की परिप्रेक्ष्यात्मकता उसे प्रत्यक्ष से पर-वस्तु के रूप में सत्त्व दे देती है। [१५]

किन्तु प्रत्येक विषय केवल घट–पट प्रकार के ही नहीं होते, इनके अनेक प्रकार हैं जिनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो सामान्य लक्षण हैं, अन्य अधिकांश मूलतः ही विशिष्ट होते हैं, उदाहरण के लिए कलाकृति, मानव-व्यक्ति, तथा संसार, ये सब मूलतः ही विशिष्ट होते हैं और ये सब प्रत्येय विषय हैं। अन्य विषय हैं जिनके लिए विशिष्टता-सामान्यता का प्रश्न ही अप्रासंगिक होता है, जैसे दार्शनिक या वैज्ञानिक सिद्धान्त। इस प्रकार प्रत्येक विषय को जाति या सामान्य से लक्षित करना भी भ्रामक है। तब यहाँ आपत्ति की जा सकती है की हमने पीछे व्यापकता को प्रत्येक विषय का अनिवार्य लक्षण कहा था। यदि कुछ प्रत्येय विषय स्वरूपतः ही व्यष्टि होते हैं तो वे अव्यापक भी होंगे। इसका समाधान यह है कि प्रत्येक व्यष्टि–विषय भी व्यापक होते हैं, किन्तु इनकी व्यापकता इन्द्रियमूलक नहीं होकर प्रत्ययान्तर्गत ही होती है। किन्तु वास्तव में, जैसा कि हमने ऊपर देखा था, प्रत्यय की व्यापकता व्यष्टि-सापेक्ष नहीं होती, इसीसे इस की व्यापकता इसकी सदस्य-संख्या से प्रभावित नहीं होती। प्रत्यय विषय की व्यापकता का वास्तविक आयाम दूसरा है, जिसमें घट-प्रत्यय एक उपन्यास या महाकाव्य के आधारक प्रत्यय की तुलना में नितान्त क्षुद्र होता है। इस आयाम को 'तलोन्मुखता' की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येय विषयों की यह तलोन्मुख व्यापकता प्रायः अनवग्राह्य होती है। इनकी इस व्यापकता के दो प्रकार हैं। एक, विभिन्न अवधारणाओं में प्रत्येय विषय की अंशग्राह्यता और इस प्रकार अनिश्शेष्यता और दूसरे, एक अवधारण की उस एक अंश के ग्रहण में भी अपर्यायप्तता। प्रथम के उदाहृण के रूप में एक ही प्रयोजन के साधक असंख्य प्रकार के उपकरणों, एक ही परम्परा में लिखे गये अनेक दार्शनिक ग्रन्थों, अथवा एक ही रस के निरूपक विभिन्न काव्यों को देखा जा सकता है, और दूसरे के उदाहरण के रूप में एक दार्शनिक या कलाकृति को देखा जा सकता है जो अपने निरूपण को निरूप्य के लिए सदैव अपर्याप्त पाति हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण मानव-व्यक्ति है, जो सदैव अपने प्रत्यय से अपनी वास्तविक अपर्याप्तता की अनुभूति से व्याकुल रहता है।

वास्तव में यह अनवग्राहचता और अतिक्रान्तता सत्ता विषयक है, जो केवल प्रत्यय को ही ग्राहय होती है। अवश्य प्रत्यक्ष विषय के लिए प्रत्यक्षीकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी प्रकार अपर्याप्त होता है जिस प्रकार प्रत्येय विषय के लिए अवधारण। प्रत्यक्ष विषय की अतिक्रान्तिता उसकी परिप्रेक्ष्यात्मकता, अथवा कहें परतः प्रामाण्य का रूप लेती है। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष विषयक यह अतिक्रान्तिता भी वास्तव में प्रत्यय-मूलक ही होती है, क्योंकि इन्द्रिय अपने ग्रहण के परे नहीं देख सकती। इस प्रकार घट का अप्रस्तुत पक्ष, जो कि वस्तुता की अनिवार्य अपेक्षा है, इन्द्रिय–मूलक अनिश्शेष्यता नहीं है बल्कि इन्द्रिय के लिए प्रत्यय–कल्पित है। यही कारण है कि भौतिक विज्ञान निरन्तर आत्मोन्मुख आरोहण के द्वारा इसके अनवगाह्य तत्त्व के अवगाहन में प्रयत्न-रत है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, प्रत्यय–मूलक प्रत्येक आरोहण निर्धारण की व्यापकता या गहनता की और प्रगति है, यद्यपि इस प्रगति के लिए अनिर्धार्य तत्त्व अनिवार्यतः अगम्य रहता है। किन्तु प्रत्येक अनन्त क्रम किसी तत्त्व में मूलित होता है जिसे वह अपने पर्यवसायी के रूप में पूर्वकल्पित करता है। यह पर्यवसायी एक ओर सत्ता में अनंत वैविध्य की सम्भावना का द्योतक होता है और दूसरी ओर इसके अद्वय मूल का, जिसमें यह अनन्त वैविध्य अपनी सब संभावनाओं के साथ प्रतिष्ठित होता है, और अपनी सार्थकता पाता है।

× × ×

प्रत्यय, हमारे अनुसार, अध्यवसाय के तार्किक आधार में व्यक्त बुद्धि मात्र नहीं है, यह चित् के अनुद्भिन्न और निरपेक्ष भाव में आवयविकता, व्यवस्था, संस्थान, या आकार का स्फुटन है। [१६] अनुद्भिन्न चित्र की उपमा वर्ण–हीन किरणों से दी जा सकती है जो असंख्य वर्णों में उद्भिन्न हो जाती हैं। प्रकाश और वर्ण केवल संस्थान या व्यवस्था नहीं हैं, यह वे उस उपादान के सहित हैं जो इस व्यवस्था के रूप में वर्णों में प्रस्फुटित होता है। 'वर्णहीन किरण' वर्णों के वैविध्य को तार्किक आधार देने के लिए कल्पित भौतिक विज्ञान गत एक सैद्धान्तिक परिभाषा है। अनुभववाद और अनुभववादी विज्ञान के अनुसार यह ऐंद्रिक अनुभव की व्याख्या में उपयोगी एक कल्पना है, क्योंकि इसके अनुसार वास्तविक आधार ऐंद्रिक अनुभव है जिसका ग्राह्य वर्ण–वैविध्य या वर्ण–व्यवस्था है। किन्तु इस प्रतिपादन में एक सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह है। यदि वर्ण-वैविध्य में व्यवस्था एक आरोप मात्र हो तब यह प्रतिपादन सही हो सकता है, किन्तु तब वर्ण–वैविध्य वर्णों का व्यवस्था–रहित संघातमात्र होगा, जिसमें व्यवस्था विज्ञान-कल्पित है। बौद्ध और ह्यूम ऐसा ही मानते हैं किन्तु उनके ऐसा मानने के लिए कोई उचित आधार नहीं है। यदि व्यवस्था का ग्रहण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान द्वारा अर्जित दृष्टि--मूलक भी माना जाय तो भी इससे अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि विज्ञान का मानव-बुद्धि में आविर्भाव मानव यदृच्छामूलक भी नहीं है, यह चित्त की सहज अवस्था है जो सत् के इस प्रकार अवधारण में समर्थ है। अन्यथा अनुभववादी को यह क्यों आवश्यक प्रतीत होता है कि वह वर्ण–वैविध्य के लिए किसी नियम के निर्माण के लिए व्यग्र हो ? किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि सत् (यहाँ वर्ण--संस्थान) इस चित् से पृथक् कोई तत्त्व है, वास्तव में वर्ण–व्यवस्था और चित् अवधार्य और अवधारण : प्रत्येय और प्रत्यय : हैं जिस में एक के बिना दूसरा नहीं है और दोनों संयुक्त रूप से वस्तु-सत् हैं। इसमें प्रत्यय को कल्पना (विकल्प) और प्रत्येय को आरोप या उपचार कहना युक्तियुक्त नहीं है। यही बात सामान्य रूप से सब सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के लिए कही जा सकती है। पुराण, धर्म, विज्ञान, शिल्प, कला और उद्योग सब चित् के प्रत्ययात्मक व्यापार हैं जो तत्परक प्रत्येय विषयों का अवधारण करते हैं। मानव–चित्तगत * प्रत्यय और उसके विषयों को कल्पना कहने के पीछे युक्ति मानव–चित्त की आत्मप्रकाशन, आत्म–अभिज्ञान की सामर्थ्य को सत् के स्वरूपत: विमुख मानने से सम्बन्धित है जो स्वयं युक्तियुक्त विचार नहीं होकर अनालोचित मान्यता है। यदि हम जैव जगत् : जैव देह की आवयविकता और व्यवहार : को लें तो उसमें व्यवस्था, योजना आदि स्वतंत्र वास्तविकता में परिलक्षित होते हैं। तब इन्हें किसी अति मानवीय चित्त की कल्पना कहा जाएगा। एक प्रकार से 'अनादि अविद्या' 'अनादि वासना' के विचार को इस अर्थ में ही देखा जाना चाहिए। किन्तु यह विचार मूल्यात्मक दृष्टि से तो अवश्य सार्थक है, किन्तु इसे वस्तुपरक निरूपण के अर्थ में लेना युक्त नहीं है। वस्तुपरक निरूपण के प्रसंग में यदि इसे 'जैव उपादान में प्रत्ययात्मक चित् का आविर्भाव' कहें तो यह अधिक युक्तिसंगत होगा। इसी क्रममें मानवीय चित्त की आत्मप्रत्ययगोचरता को भी देखना चाहिए। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि पुराण, धर्म या विज्ञान की व्यवस्थाओं में चित्त का प्रस्फुटन एक बात है और इनमें प्रतिष्ठित आत्म-अभिज्ञ चित्त का व्यापार दूसरी बात। उदाहरण के लिए कोई वैज्ञानिक किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन आत्म अभिज्ञतापूर्वक ही करता है, किन्तु मानव- चित्त में वैज्ञानिक विधा का आविर्भाव आत्म– अभिज्ञ प्रवर्तन नहीं है। यद्यपि यह सही है कि मानव– चित्त स्वयं इस विद्या के पीछे भी जा सकता है और इसकी आलोचना कर सकता है। किन्तु आत्म- अभिज्ञता का आत्मालोचन (विज्ञान की आलोचना भी जिसमें सम्मिलित है) के स्तर पर आरोहण अधिक विकसित अवस्था है। इसका प्रथम उद्भिन्न ऐन्द्रिक स्तर-पर विषयकरण के रूप में प्रकट होता है जिसके साथ युगपद् रूप से विषयीकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रकट होता है। इसी विषयी में क्रमशः आलोचक का आविर्भाव होता है, जो प्रत्येक आरोहण के साथ विषय से क्रमशः स्वतंत्र होकर, आत्मसायुज्य का लाभ करता है। विषय– विषयी में उद्भेदन से पहले की अवस्था चित् की नितान्त विषयाधीन अवस्था है जिसमें विषय अपनी उपाधियों का समर्पण विषयी में करता है। इसीसे उच्चतर ज्ञान का मानदण्ड विस्तृत सूचना नहीं होकर व्यापक सिद्धान्त और व्यापक दृष्टि होता है।

किन्तु दृष्टि की इस व्यापकता का अर्थ समझने में दार्शनिक प्रायः ही भूल करते हैं। वे दर्शन को सैद्धान्तिक (भूत-विषयक) ज्ञान के रूप में ही कल्पित करते हैं, जैसा विज्ञानों में होता है, केवल इस भेद के साथ कि वैज्ञानिक सिद्धान्त किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित होता है जबकि दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा नहीं होता, वह संपूर्ण क्षेत्र पर एक साथ व्यापक होता है। किन्तु दर्शन को इस प्रकार भूत तक सीमित करना और भाव्य का उसमें आकलन नहीं करना उसकी मूलगामिता के आदर्श के विरुद्ध है। इस प्रकार वहुत कम दार्शनिक हैं जो दर्शन की मूलगामिता के आदर्श का अनुसरण कर पाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ दार्शनिक प्रमाण-मीमांसा को ही दर्शन का कार्य मान लेते हैं और प्रमाण का क्षेत्र ज्ञानेन्द्रिय या सैद्धान्तिक बुद्धि तक सीमित कर देते हैं, दूसरे सत्ता के स्वरूप पर विचार करते हैं और उसे सैद्धान्तिक बुद्धिग्राह्य तत्त्व के रूप में ही देखते हैं, जैसे वैज्ञानिक द्रव्य, बल और गति आदि को देखता है। किन्तु कोई समग्र दृष्टि केवल सैद्धान्तिक ग्रहण तक सीमित नहीं रह सकती। यदि वह अपने को इस प्रकार सीमित करती है तो वह उसी प्रकार पूर्वाग्रह-ग्रस्त है जिस प्रकार भौतिक विज्ञान या जीव विज्ञान। हुस्सर्ल ने गोचर जगत् मूलक अभिवृत्ति को प्राकृतिक अभिवृत्ति (नैचुरल थीसिस या एटीटयूड) की संज्ञा दी है, जिसे हम, उसके अनुसार, दार्शनिक विचार के प्रथम चरण में ही स्थगित करते हैं। किन्तु वह जिस सैद्धान्तिक दृष्टि को परम, और इसी कारण दर्शन के लिए उपयुक्त, कहता है वह भी वास्तव में सीमित दृष्टि ही है। परम दृष्टि भूत के साथ भाव्य का, और इनसे ऊपर समत्व का भी समावेश करती है। दर्शन को सैद्धान्तिक अन्वेषण (विज्ञान) के रूप में देखने वाले इसके उत्तर में कहेंगे कि उनका यह विज्ञान भाव्य और समत्व-दृष्टि का भी समावेश करता है। किन्तु यह सही नहीं है। सैद्धान्तिक दृष्टि श्राव्य विषयक दृष्टि का भी समावेश सैद्धान्तिक विषय के रूप में ही करती है और इस प्रकार इन दृष्टियों के मर्म को समाप्त कर देती है, यह हुस्सर्ल में देखा जा सकता है। हाइडेगर और सार्त्र में इसके विपरीत सैद्धान्तिक और एषणात्मक दृष्टियों का एक व्यापकतर दृष्टि में समावेश मिलता है, किन्तु उनमें समत्व दृष्टि या आध्यात्मिक दृष्टि का अभाव है। इसके विपरीत शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैज्ञानिक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैद्धान्तिक दृष्टि का अभाव है । अवश्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरकृष्ण आदि के तथा प्लेटो, कांट, फिख्ते, शेल्लिंग और शॉपेन्हावर आदि के दर्शन में वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का समन्वय है, किन्तु, इनमें विशेषतः उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों में एषणात्मक दृष्टि का संग्रह नहीं है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इन तीनों का समावेश इनसे भिन्न किसी चतुर्थ दृष्टि में होगा या कि इन तीनों में से ही एक दृष्टि में होगा ?

वास्तव में सैद्धान्तिकता दर्शन की रीढ़ है । इसकी परिभाषा "प्रत्यय का प्रत्यङ्मुख अभिसरण" यह करनी चाहिए । किन्तु यह अभिसरण केवल तभी अपनी पर्यन्तता को प्राप्त कर सकता है यदि यह उस सबका समावेश करे जो "शुद्धमपापविद्धम्" के पर्यगमन के क्रम में आविर्भूत हुआ है । प्लेटो का परम सत् परम श्रेयस् भी है, वास्तव में ये दोनों उस स्तर पर्यायवाची हैं, अथवा कहें परमश्रेयस् (दि गुड) परम सत् का समावेश करता है– परभाव भाव्य ही है । [१७] यही बात ब्रह्म के लिए है जो एक साथ सत्, चित् और आनंद है और वास्तव में जिसमें सत्, चित् और आनंद के अंश हैं । सत् और श्रेयस् में यह भेद नहीं है कि प्रथम दर्शकत्व का विषय और दूसरा कर्तृत्व का, श्रेयस् कर्म का विषय नहीं होकर चित् की भाव-पूर्णता, सत्त्व की निरपेक्षता है, इस प्रकार कलुष या दोष भाव की अपूर्णता है । कांट ने भी नैतिक श्रेयस् को कर्म से नहीं, संकल्प के स्वातंत्र्य से परिभाषित किया है । [१८] श्रेयस् से पृथक् सत् अद्वय भाव में सत्–चित् के द्वैत का आरोप है, अन्यथा एक ही भाव अभाव-व्यवहित होकर विषय-पक्ष में एक ओर और आत्म-पक्ष में दूसरी ओर इस व्यवधान के निवारण का प्रयत्न करता है । इसीसे सुकरात के लिए भैषज्य ज्ञान का आदर्श उदाहरण है । इसलिए तथाकथित शुद्ध सैद्धान्तिक दार्शनिक कृतियाँ वास्तव में दर्शन की मूलगामी सैद्धान्तिकता की अपेक्षा को पूर्णतः संतुष्ट नहीं करती, क्योंकि उनमें श्रेयस् का, कभी-कभी चित् तक का भी, आकलन नहीं होता । मनन का विषय प्रत्यक्षगम्य विषय ही नहीं है, जैसा कि यूरोप के अनुभववादी समझते हैं, न मनन का विषय अवधारणाएँ और अवधार्य धर्म या तत्त्व (एस्सेंसिस) मात्र ही हैं, जैसा कि पश्चिम के कुछ प्रत्ययवादी दार्शनिक और हुस्सर्ल मानते हैं । मनन का विषय मृत्यु भी है, जो जीवन की आगन्तुकता, एषणाओं की असारता और सत्ता की रहस्यमयता में अन्तर्दृष्टि देती है, इसका विषय पुरुषार्थ और सत्यासत्य तथा सदसद् का विवेक भी है । किन्तु यदि मनन जीवन की आगन्तुकता और विवेक को प्रत्यक्ष विषयों या अवधारणाओं की कोटि ग्रहण करता है, जैसा कि अधिकांश दार्शनिक कृतियों में हम पाते हैं, तो वह वास्तव में दोहरी भ्रांति उत्पन्न करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । वास्तव में प्रत्यङ्मुख अभिसरण अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान आधारतत्त्व के पर्यगमन के क्रम में आविर्भूत सम्पूर्ण वैभव का आत्मसात्करण है जो स्वयं में सर्वोच्च मूल्य या पुरुषार्थ भी है । सैद्धान्तिक अन्वेषण की पारमार्थिकता का यह बोध डेकार्ट, शेल्लिग और हुस्सर्ल आदि में परिलक्षित होता है, किन्तु पश्चिम के अधिकांश समकालीन दार्शनिक इससे पूर्णतः शून्य हैं और इस कारण उन्हें संकुचित अर्थ में भी उत्कृष्ट सैद्धान्तिक दार्शनिक नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ इस प्रतिपादन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त होगा । हॉब्स और बैंथम उच्चतम आध्यात्मिक बोध और कीचड़ में मग्न सूअर के अनुभव में कोई अन्तर नहीं देखते । अपनी दार्शनिक व्यवस्था में मिल, रसेल, मूर और कार्ल पॉपर भी इनमें कोई अन्तर नहीं कर सकते । वास्तव में सार्त्र सूअर के अनुभव को ही अधिक प्रामाणिक कह सकता है, इस अन्तर के साथ कि वह मग्न सूअर के बजाय व्याकुल सूअर को अधिक महत्त्व देगा । दूसरी ओर गीताकार भी प्रकटतः इससे मिलती जुलती किन्तु वास्तव में मूलतः भिन्न बात कहता है जब वह कहता है कि " विद्या और विनय-संपन्न ब्राह्मण में, और गाय तथा हस्ति आदि पशुओं में, एवं कुत्ते तथा कुत्ता खाने वाले चांडाल में जो भेद नहीं देखता वही ज्ञानी है । "[१९] इनमें भेद यह है कि हॉब्स सैद्धान्तिक अन्वेषण में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का आकलन नहीं करता, दूसरे शब्दों में, वह चित्, श्रेयस् और आनंद को सत् स्वीकार नहीं करता, वह केवल ऐन्द्रिक विषयता को ही स्वीकार करता है और प्रत्ययात्मक प्रत्यङ्मुखता को केवल परोक्षतः और केवल इस सीमा तक स्वीकार करता है कि वह इस विषयता पर विचार करता है । इसके विपरीत गीता प्रत्यङ्मुखता की पराकाष्ठा में सब भेदों को अभिन्नता में सन्निहित करती है । गीता की समदृष्टि राग को ज्ञान में बाधक के रूप में देखती है । राग अवधान की सम्यक्ता के अवरोध के द्वारा प्रत्यक्ष विषय-ग्रहण में भी बाधक होता है, किन्तु अंतःकरण और बुद्धिमूलक दृष्टि में इसकी अवरोधकता अत्यन्त भयावह होती है । स्वयं दर्शन भी इसी कोटि में आता है । यह समदृष्टि प्रदत्त विषय का रूपान्तरण है, हुस्सर्लियन इपोखे (स्थगन) से इस बात में भिन्न है जबकि वह स्थगन वैज्ञानिक अर्थ में सैद्धान्तिक (भूत विषयक) है, यह भाव्यात्मक भी है : हुस्सर्लियन स्थगन वस्तु-ग्राही चैतन्य में अतिक्रमण करता है, गीता उस चैतन्य में जो वस्तु-ग्राही के साथ-साथ आनुभूतिक भी है । इस रूपान्तरण का रहीम के पद में बहुत सुन्दर निरूपण हुआ : " समझ झरोखे बैठिके जग का मुजरा देख । " वास्तव में प्रत्ययात्मक ऊर्ध्वारोहण द्वारा अपेक्षित वैराग्य की सिद्धि जगत् को एक तमाशे में बदल देती है जो न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल लक्षित के सत्त्व का स्थगन है, बल्कि उसकी आकर्षकता का भी स्थगन है। वैज्ञानिक दृष्टि इस दूसरे पक्ष से अनभिज्ञ है। २०

यहाँ इस दूसरे स्थगन की प्रासंगिकता पर हमारे उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बावजूद आपत्ति की जा सकती है कि, यह दर्शन को अपने क्षेत्र से बाहर ले जाना और इस प्रकार उसके बल को विकीर्ण करना है। यह कहा जा सकता है कि अनुभूति, आवेग आदि भी सैद्धान्तिक विवेचन के विषय बनाये जा सकते हैं और इस प्रकार दर्शन के लिए मननीय हो सकते हैं। यह सही है, किन्तु यदि आवेग और अनुभूति स्वयं प्रत्ययानुविद्ध नहीं हों, तब ये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विवेच्य तो हो सकते हैं, दार्शनिक सिद्धान्त के नहीं। उदाहरण के लिए मृत्यु प्राणीविज्ञान का विषय भी हो सकती है और मनोविज्ञान का भी, प्रथम का देहगत विकार के रूप में और दूसरे का भयादि भावना-जनक के रूप में। किन्तु इस रूप में यह अपने उस मौलिक और अनिवार्य तत्त्व से रहित हो जाती है जो मनुष्य के भावना-लोक में उसके अपने सत्त्व की अनिवार्यता में सहज आस्था को विचलित कर देता है, जो चैतन्य के अवलोकन की ही नहीं, पर्येषणा की, अन्वेषण की भी, उन्मुखता को बदल देता है। मृत्यु यहाँ विषय के बजाय विषयि-मूलक अनुभव में रूपान्तरित होकर प्रत्यय द्वारा बोध का रूप लेती है जो जीवन और जगत्-विषयक दार्शनिक मनन का आधार बनता है। अवश्य यह मनन आनुभूतिक प्रत्यय का आत्म-विवेचन नहीं है जो किसी कलाकृति (गीत, राग, चित्र आदि) के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु तब भी यह विषयिभाव में उत्पन्न बोध ही है, विषयभाव में आकलित ज्ञान नहीं। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ कला विषयक और विज्ञान विषयक दार्शनिक मनन को लें। कलाकार और कला—दार्शनिक में अवश्य एक मौलिक भेद है, कलाकार अनुभुत प्रत्यय का अनुभूति के विषयिभाव में मनन करता है, जबकि दार्शनिक इस प्रत्यक्ष के विषयिभाव का मनन करता है। कलात्मक अनुभूति प्रत्ययानुविद्ध भावना के विषयिभाव का भोगमूलक मनन है, कला-दर्शन इस मनन पर मनन है। भोगमूलक मनन में विषयकरण का प्रश्न ही नहीं है, किन्तु दार्शनिक मनन भी विषयोन्मुख वृत्ति नहीं है। २० इसे प्रेक्षणात्मक विषयिवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त है। दूसरे शब्दों में, यह प्रत्ययानुविद्ध भोक्तृ-भाव पर, अथवा भोक्तृ-प्रत्यय के विषयित्व पर पश्यनात्मक विषयिभाव में मनन है जो भोक्तृप्रत्यय को सर्वव्यापक पार्यन्तिक प्रत्यय के उर्ध्वोन्मुख क्रम में स्थापित करता है। कला के विपरीत विज्ञान विषयानुशीलन है, यह एक निर्धारित क्षेत्र में प्रत्ययानुविद्ध विषयभाव का आत्ममनन है। हमारा साधारण विषयावधारण रागात्मक विषयिभाव से उपचरित (आवृत) रहता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार विषय प्रत्यय के आत्ममनन में बाधक होता है। दूसरे, विषयभाव किसी निर्धारण के बिना संचरित नहीं हो सकता, जिस प्रकार विषयिभाव भी नहीं हो सकता। इन दोनों भावों के संचरण के लिए निर्धारण आवश्यक है। विज्ञान निर्धारित क्षेत्र में विषय-प्रत्यय को विषयीमूलक उपाधियों से मुक्त कर उसके शुद्ध तत्त्व का मनन करता है और आत्मोन्मुखता के क्षणों में निर्धारण के क्षेत्र का. मनन करता है। दर्शन इस विषय-प्रत्यय् के विषक-तत्त्व (आंतर स्रोत) का प्रत्ययात्मक साक्षात्कार है, जिसका अर्थ है विषय-प्रत्यय को सर्वव्यापक पर्यन्त-प्रत्यय के ऊर्ध्वोन्मुख क्रम में स्थापित करना। इस प्रकार दर्शन सिद्धान्त और अनुभूति दोनों का समावेश कर उनका अतिक्रमण करता है। इसके लिए आवश्यक है कि यह जगत् को उसकी संपूर्णता में ग्रहण कर उसका अतिक्रमण करे और इस प्रकार विषयात्मक का ही नहीं भावनात्मक का भी, ज्ञानात्मक का ही नहीं, भोगात्मक का भी, सैद्धान्तिक का ही नहीं, मूल्यामक और पारमात्मिक का भी अपने प्रत्यङ्मुख अथवा ऊर्ध्वोन्मुख अभिसरण में समावेश और अति क्रमण करे।

ये सब आयाम चित् में सत् के प्रकाशक हैं। सैद्धान्तिक—वैज्ञानिक आयाम सत् के अस्तित्वात्मक, स्थिर नियमाधीन अथवा प्रदत्त रूप के प्रति चित के आग्रह को व्यक्त करता है। इसकी सफलता को हम सत्य की और असफलता को असत्य की संज्ञा देते हैं। तर्कशास्त्र, विज्ञान और सैद्धान्तिक दर्शन इसी सफलता को अपनी कसौटी बनाते हैं, किन्तु मूल्यात्मक या पारमात्मिक दृष्टि का जागरण इस सफलता को क्षुद्र और उपेक्षणीय बना देता है। सुकरात 'अपोलोजी' में जिस 'सत्य' को विचारणीय मानता है, उससे भी अधिक, बुद्ध या गान्धी जिस सत्य का अन्वेषण करते हैं, उसके स्तर पर सैद्धान्तिक सत्य का आग्रह एक बाल-सुलभ कुतुहल लगता है, फिर चाहे कितना भी सूक्ष्म वह क्यों न हो। सुकरात जिस प्रकार के सत्यों की बात करता है उसके उदाहरण रूप में वह वैद्य और अश्वपालक का उल्लेख करता है। ये सत्य मानव-देह और अश्व के क्रमशः अस्वाथ्य के निवारण और उपयुक्त शिक्षण और स्वास्थ्य से प्रमाणित होते हैं। इसी प्रकार बुद्ध को भिषग्राज कहा गया है। नागार्जुन और वसुबन्धु का दर्शन उसके तत्त्व को सैद्धान्तिक सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न है जिस सिद्धान्त की प्रामाणिकता बुद्ध की दृष्टि में है। कोई दर्शन इस तथ्य की उपेक्षा कर प्रत्यय की प्रत्यङ्मुखता के वास्तविक तत्त्व का आवाहन नहीं कर सकता। हुस्सर्ल के अनुसार फिलासफी : विज्ड़म् * : दार्शनिक की पूर्णतः व्यक्तिगत चर्या है। यह केवल उसकी व्यक्तिगत संबोधि (विज्ड़म्) के रूप में ही उत्पन्न हो सकता है, उसका अपना बोध जो सामान्यता (युनिवर्सेलिटी) की ओर प्रवृत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, ऐसा ज्ञान जिसके सम्बन्ध में वह प्रथम चरण से, और प्रत्येक अगले चरण पर, अपनी निजी अंतर्दृष्टि के द्वारा, प्रश्नों का समाधान कर सकता है।[२१]

दार्शनिक कर्म की यह बात सुन्दर व्याख्या है, किन्तु दुर्भाग्यवश हुस्सर्ल इस दृष्टि के आधार पर निराग्रह भाव से पहुँचने में असमर्थ है। उसकी 'सामान्यता' में केवल विज्ञानों का ही समावेश है : "सर्वप्रथम जो भी दार्शनिक बनने की गंभीर अभिलाषा से प्रेरित है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने जीवन में 'एक बार' अवश्य अपने अंतर की ओर उन्मुख हो और अपने भीतर उन सब विज्ञानों का उन्मूलन करे जो उसके समय तक प्रतिष्ठित हैं और तब उनके पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर हो।"[२२] यह उन्मूलन इनके आधार में जाकर इनकी आलोचना के रूप में ही अभिप्रेत है, इस रूप में नहीं कि स्वयं उस चैतन्य में ही स्थिति प्राप्त की जाय जो सर्जन की अनेक विधाओं में प्रवर्तित होता है, और उन सब विधाओं की निजी विशिष्टता का साक्षात्कार।[२३]

— यशदेव शल्य

पी-५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड़, जयपुर-३०२ ०१५

टिप्पणियाँ

* प्रस्तुत लेख भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली की फैलोशिप के अन्तर्गत लिखी जा रही मेरी पुस्तक **सत्ता विषयक अन्वीक्षा** (ओंटोलोजीकल इन्वेस्टीगेशंस्) का प्रथम अध्याय है। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के प्रति स्वभावतः ही मैं बहुत अनुगृहीत हूँ जिसने मुझे अध्ययन-लेखन के लिए यह सुविधा दी है।

१. को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्
कुत आ जाता, कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जना य
को वेद यत आबभूव। **ऋक्** ५·१०·१२८·६
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे, यदि वा न
कोऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्
सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद। **ऋक्** ५·१०·१२८·७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। – तैत्तिरीय, वल्ली २, अनुवाक ७
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। ईशावास्य, मंत्र ८

३. Descartes; *Discourse on Method*, Part II

४. डेकार्ट की **मैडीटेशंस्** के अतिरिक्त इस पर द्रष्टव्य
Pierre Themenac *What is Phenamenoolgy*; Quadrangle Books, 1962. " The Question of the Radical Departure in Dsrcartes and Huserl "

* यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट का 'इगो' उपयुक्त रूप से 'आत्मा' का पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि 'इगो' व्यक्तिगत अनुभवों का अनुभूत अधिष्ठाता है जबकि आत्मा वैयक्तिक निर्धारणों से पूर्णत: रहित है। इसलिए 'इगो' के लिए 'आत्म' (अस्मिता के अर्थ में) का प्रयोग ही उचित है और वही हम आगे करेंगे।

५. वसुबन्धु– **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि:** दशम कारिका पर वसुबन्धु की वृत्ति– "यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादि: परिकल्पितस्तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं, न त्वनभिलाप्येनात्मना, यो बुद्धानां विषय इति।"

६. Marvin Farber–" The Ideal of Presuppositionless Philosophy " in Marvin Farber (Ed.) *Philosophical Essays in Memory of Edmund Husserl*, (Cambridge Mass; Harvard University Press, 1940)

७. यशदेव शल्य– **ज्ञान और सत्** में अध्याय ९, पृ. १०७–१०८, (राजकमल प्रकाशन, १९६७)

८. ईश्वर कृष्ण, **सांख्यकारिका**, का. ५

९. Husserl– *Ideas*, p. 104, Collier Books, New York.

* कहीं-कहीं 'सत्त्व' के स्थान पर हमने 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें 'वस्तुत्व' के बजाय 'होनेपन' का प्रामुख्य अभिप्रेत है।

१०. द्रष्टव्य– **ज्ञान और सत्** में 'मानव प्रतिमा' अध्याय। इस दोष का परिशोधन अंशत: **विषय और आत्म** पुस्तक के 'आत्म' शीर्षक अध्याय में हुआ है। अन्त में **मनुष्य और जगत्** पुस्तक में इस दोष का पूर्णत: निवारण हो गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. इस पर हमने **मनुष्य और जगत्** पुस्तक के " दर्शन का आरंभ बिन्दुः प्रत्यङमुख चैतन्य " अध्याय में विस्तार से चर्चा की है। भगवती का लेख "अपोहवाद" **परामर्श (हिन्दी)** वर्ष १, अंक १-२, भी द्रष्टव्य।

१२. न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत् प्रत्ययविषयत्वात्। **ब्रह्मसूत्र भाष्य**, अ. १, पा. १. अधि. १ सू. १

१३. यहाँ द्रष्टव्य है कि जहाँ शंकर आतमा को प्रत्यय-विषय कहता है वहीं, उसी वाक्य में, वह उसे " अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः " भी कहता है, जो कि " न तावदयमेकान्तेनाविषयः " से संगत नहीं है।

१४. प्रत्यय की सर्जनात्मकता पर द्रष्टव्य, यशदेव शल्य- **मनुष्य और जगत्** में " प्रत्यङ्मुख चैतन्य " अध्याय।

१५. द्रष्टव्य : यशदेव शल्य- **विषय और आत्म**- में ' विषय ' अध्याय।

१६. चित्त में अनुद्भिन्नता और उद्भिन्नता की अवस्थाओं का बोध मुझे **विषय और आत्म** पुस्तक में संकलित लेख ' इतिहास बोध ' लिखते समय हुआ। इस बोध का आगे विस्तार **मनुष्य और जगत्** पुस्तक में चैतन्य विषयक विचार के क्रम में हुआ। इधर हेगल का ग्रन्थ **लॉजिक** Hegel; *Logic*, Tr. William Wallace (Oxford University Press); (पृ. १२५) पढ़ते हुए मैंने उसमें यह विचार पाया। किन्तु वास्तव में मेरा इन पदों का प्रयोग दो प्रसंगों में है। ' इतिहासबोध ' के प्रसंग में जबकि इन पदों का प्रयोग हेगल के अनुरूप हुआ है, **मनुष्य और जगत्** में और यहाँ इनका प्रयोग **ईशावास्योपनिषद** के " स पर्यगात् " या **तैत्तिरीय** के ' असद्वा इदमग्र आसीत्......तदात्मानं स्वयमकुरुत ' के तथा फिख्ते के तटस्थ आत्मचैतन्य के न्यूनाधिक अनुरूप हुआ है।

* ' चित्त ' शब्द का प्रयोग हमने प्राकृतिक मनस् के लिए है ' चित् ' का प्रयोग अतिक्रामी चेतन तत्त्व के लिए किया है।

१७. Plato; *Republic*, 509.

१८. सार्त्र चित् का लक्षण ' अपेक्षा ' (लैक) अथवा ' अभाव ' (नथिंगनेस) में देखता है। इसीसे हमने उसके दर्शन को ' एषणात्मक दृष्टि ' कहा है।

१९. विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाकेच पंडिता समदर्शिनः॥ ५.१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०. द्रष्टव्य है कि हमने **विषय और आत्म** में आत्म को अवलोकनात्मकता के विपरीत "नेयार्थता" से परिभाषित किया था। **मनुष्य और जगत्** के इसी शीर्षक अध्याय और "आत्म और अनात्म" अध्याय में इस दृष्टि को और गहराई मिली है।

२१. यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अतिक्रामी (कांटीय ट्रांसेडेंटल) चिन्तन विषयोन्मुख चिन्तन ही है। इसे हमने अन्यत्र आत्मसम्बद्ध चिन्तन से मूलतः पृथक् किया है। द्रष्टव्य **विषय और आत्म** में 'आत्म' अध्याय।

* इसका उपयुक्त हिन्दी पर्याय होगा– "आर्षदृष्टि"।

२२. Husserl; *Cartesian Meditations*, p. 2 (Martinus Nijhoff, The Hague)

२३. वहीं

२४. '**ज्ञान और सत्**' तथा **संस्कृतिः मानव-कर्तृत्व की व्याख्या** में हमारी यही दृष्टि रही है। वहाँ हमने विभिन्न रचना-विधाओं को उनके सत्त्व में समझने का प्रयत्न किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क की कार्य-विधियाँ

यह तो निर्विवाद है कि प्रमाण के द्वारा ही निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु जब प्रमाण के प्रयोग में कोई संशय या भ्रान्ति या विपरीत कल्पना प्रस्तुत हो जाती है तब वहाँ निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इन विपरीत भ्रान्तियों को निराकरण कर तर्क के द्वारा प्रमाण की स्थिति परिपुष्ट की जाती है। इसलिए विषय परिशोधक के रूप में इसकी उपायदेयता श्री वल्लभ के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार की है। यद्यपि गंगेश ने व्याप्तिग्राहक पक्ष पर ही अपने विचार विस्तार से प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उन्होंने प्रयत्न की उपादेयता पर श्री वल्लभ की तरह कोई प्रश्न–चिन्ह नहीं लगाया है। उदाहरण के माध्यम से विषय– परिशोधन– विधी को इस प्रकार समझाया जा सकता है। इस विधि की उपस्थिति तभी होती है जब जानने योग्य वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं रहता और सन्देहरूपी मेघों से आच्छादित रहता है तब व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोपद्वारा स्थिति स्पष्ट की जाति है और तत्त्व का निर्णय प्रस्तुत कर लिया जाता है। तत्त्व-निश्चयन में प्रथमतः अनेक विपरीत सम्भावनाओं की कल्पना जाती है और एक-एक करके उनकी निस्सारता प्रतिपादन कर सही पदार्थ की सिद्धि की जाती है। इस प्रकार प्रमाण की तरह यह साक्षात् निश्चयन का साधन नहीं है वरन् प्रम्परया या परोक्ष रूप से साधक है। जब तक समस्त शंकाओं का निवारण नहीं हो जाता तब तक एक के बाद एक तर्क को प्रयुक्त करना चाहिए। अनुमान में व्यापक-ग्राहक साधन के रूप में इसकी मान्यता है ही किन्तु प्रत्यक्ष, शाब्द–बोध आदि अन्य प्रमाणों के प्रयोग में भी इसकी उपादेयता भली प्रकार स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार विषय-परिशोधक और व्याप्तिग्राहक के रूप में तर्क की द्विविध कार्य-विधि उपलब्ध होती है।[1]

इनमें से विषयपरिशोधक विधि को इस प्रकार समझाया जा सकता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष प्रमाण में भी अपने अर्थ की सिद्धि के लिए तर्क की सहायता अपेक्षित है। जैसे न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा आदि दर्शनों में घट-पट आदि स्वतंत्र अवयवी द्रव्य माने हैं। जैसे, "यह टेबल है" इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय-टेबल एक स्वतंत्र अवयवी द्रव्य है। यहाँ यदि बौद्धों की ओर से यह आशंका की जाय कि इस प्रतीति का विषय परमाणुपुंज है, स्वतंत्र अवयवी द्रव्य नहीं तो इसका निराकरण इस तर्क की सहायता से किया जाएगा— यदि टेबल आदि को स्वतंत्र अवयवी द्रव्य न मानकर परमाणुपुंज रूप ही माना जाए तो टेवल आदि का प्रत्यक्ष, जो सभी को होता है, उपपन्न नहीं हो पायेगा।

इस तर्क का तात्पर्य यह है कि टेबल आदि प्रत्येक वस्तु को "यह एक और बड़ी है" इस रूप से प्रत्यक्ष किया जाता है। परमाणु में महत्त्व नहीं होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष नहीं बन सकता। इस प्रकार तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण का सहकारी बनता है।

इसी प्रकार शाब्द-बोध में भी इसकी अनुग्राहकता अंकित की जा सकती है। जैसे—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विज।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

इस स्मृति-वचन का तात्पर्य यह है कि जो द्विज अपने शिष्य को उपनीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद का अध्ययन करवाता है उसे आचार्य कहते हैं। यहाँ शंका उठायी जा सकती है कि यह श्लोक ब्राह्मण द्वारा, वेदाध्ययन को विधि का अर्थ प्रदान करता है अथवा आचार्य का लक्षण प्रदर्शित करता है। तर्क द्वारा यह निश्चित किया जा सकता है कि श्लोक में आचार्य का लक्षण किया गया है। यदि पूरा वाक्य लक्षणपरक नहीं होता तो "तमाचार्य प्रचक्षते" न कहा गया होता।

अनुमान में तर्क की सहायता को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है। "पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से," इस अनुमान-स्थल में तर्क की अपेक्षा इस प्रकार सिद्ध की जा सकती है कि जो व्यक्ति इस अनुमान के विपरीत यह आशंका उपस्थित करता है कि धूमगत जिस अग्नि-व्याप्ति के आधार पर पर्वत में अग्नि का जो अनुमान सम्पन्न किया जाता है, वह संदिग्ध तथा अनिर्णित है। अतः उक्त अनुमान को यथार्थ नहीं कहा जा सकता। इस पर इस तर्क —"यदि पर्वत में अग्नि न हो तो वहाँ धूम भी नहीं होगा"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उद्भावन किया जायेगा। इस तर्क के द्वारा यह बात सिद्ध की जाती है कि धूमार्थी व्यक्ति जब अग्नि के लिए प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है तो धूम अग्नि में कदापि नहीं हो सकता। परिणामतः जहाँ अग्नि नहीं होगी वहाँ धूम भी नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में यदि पर्वत में आग का अस्तित्व नहीं माना जाएगा तो धूम का अस्तित्व, जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है, नहीं बन पायेगा। इस प्रकार यह अनुमान का सहायक होता है।

इसी प्रकार विषय-परिशोधक के रूप में उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, प्रमाणों में भी तर्क का सहायक होना सिद्ध किया जा सकता है। विस्तारभय से उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। इसीलिए कहा भी गया है——

तस्मात् सर्वप्रमाणानां तर्कोनुग्राहकः (**मानमेयोदय** पृ. ४५).

न्यायलीलावतीकार ने तर्क की कार्यविधि में केवल व्याप्तिग्राहक को ही मान्य किया है। विषय–परिशोधक के प्रयोग में उन्होंने उदयन, वाचस्पति मिश्र और जयन्त की आलोचना करते हुए तीन पक्ष उपस्थापित कर उनका खंड़न किया है——

१. विपक्ष में होनेवाली जिज्ञासा की निवृत्ति,
२. शंका निवृत्ति,
३. विपरीत संभावनाओं की न्यूनता

वाचस्पति मिश्र की यह मान्यता है कि तर्क द्वारा विपरीत शंकाओं का निरास होकर तत्त्व की यथार्थ प्रतीति होती है। उदयन इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि संदेह-निवृत्ति तर्क का प्रयोजन नहीं है अपितु उसके द्वारा विपक्ष में होनेवाली जिज्ञासाओं का निराकरण होता है।

उदयन की आलोचना करते हुए श्रीवल्लभ ने कहा है कि विपक्ष में होनेवाली जिज्ञासा किसी अन्य वस्तु के लिए प्रतिबन्ध नहीं है। न ही यह अनुमान के लिए बाधक मानी जा सकती है क्योंकि अनुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता का सम्मिलित रूप परामर्श ही असाधारण कारण होता है। यदि साध्य-ज्ञान की जिज्ञासा अनुमान के लिए आवश्यक तार्किक शर्त मानी जाए तभी विपक्ष-जिज्ञासा अनुमान में प्रतिबन्धक मानी जा सकती है किन्तु इस प्रकारकी इच्छा को अनुमान की सामान्य और अनिवार्य शर्त नहीं मानी जा सकती। जैसे घनगर्जन सुनकर घनाच्छादित आकाश का अनुमान होता है। इसमें साध्य-ज्ञान कि जिज्ञासा पहले से नहीं होती। अतः उदयन–मत न्यायसंगत नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंका-निरास के लिए भी तर्क की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि साध्य-संशय का निराकरण अनुमान द्वारा होता है। यदि तर्क द्वारा ही शंकाओं का निराकरण होने लगे तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? जो निश्चितता शंका-निवृत्ति के पश्चात् अनुमान द्वारा गृहीत की जा सकती है वह तर्क की सीमा से बाहर की बात है। क्योंकि अनुमान के द्वारा न केवल शंकाओं का निराकरण होता है बल्कि शंका निवृत्ति की गारंटी भी दी जाति है। अतः वाचस्पति मिश्र का मत समीचीन नहीं है। जयन्त-सम्मत तृतीय पक्ष भी संगत नहीं है। यदि थोड़ी देर के लिए यह सत्य भी मान लिया जाय कि तर्क द्वारा मिथ्या संभावनाओं को क्षीण कर दिया जाता है तो भी इसका परिणाम सही सम्भावना के लिए प्रबल-कल्पना मात्र ही होगा। किन्तु इससे तब तक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है जब तक विपरीत न्यूनतम संभावना को पूर्ण निश्चयता के साथ निराकृत नहीं कर दिया जाये। यह केवल अनुमान से ही हो सकता है। अनुमान द्वारा जब मिथ्या विकल्पों का निराकरण हो सकता है तो प्रबल संशयों का भी निर्मूलन हो सकता है।[2]

न्यायलीलावतीकार का मत इसलिए संगत नहीं है कि क्योंकि समस्त शर्तों के रहते हुए भी जब कभी कोई प्रतिबन्धक आड़े आ जाता है तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता जैसे, जिस व्यक्ति को कामिनी-जिज्ञासा सताती है उसे व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों साथ रहने पर भी अनुमिति नहीं हो पाती क्योंकि उसका मस्तिष्क कामिनी की कल्पना से ग्रस्त रहता है। अतः इसे भी स्वतंत्र प्रतिबन्धक माना गया है। अतः केवल व्याप्ति और पक्षधर्मता या परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है यह बात नहीं है। अनुमिति होने में किसी भी प्रकार का प्रतिबन्धक का होना घातक है। फिर परामर्श से सर्वदा साध्य-सिद्धि हो जाती है यह भी आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा होता तो बाध और सत्-प्रतिपक्ष को हेत्वाभासों की कोटि में नहीं परिगणित किया जाता। जैसे, 'अग्नि शीतल होता है, द्रव्य होने से' यहाँ व्याप्ति बन जाने पर भी जैसे, 'जो द्रव्य होता है वह शीतल होता है, जैसे जल-पृथ्वी आदि'। "अग्नि द्रव्य है" इससे पक्षधर्मता भी उपपन्न हो जाती है। दोनों के साथ-साथ रहने पर भी अब कोई व्यक्ति आग को छू कर देखता है तो उसे उष्ण पाता है। और यह प्रत्यक्ष आग के शीतल होने का बाधक है। यहाँ पर प्रत्यक्ष-ज्ञान व्याप्ति और पक्षधर्मता को बिना हानि पहुँचाए अनुमिति को रोक देता है। सत्प्रतिपक्ष में भी इसी प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता के रहते पर भी अनुमिति नहीं होती। जो बात बाध और सत्प्रतिपक्ष के लिए लागू होती है वही विपरीत सम्भावना या संशय के लिए भी खरी उतरती है। अतः इन सम्भावनाओं के निराकरण हेतु तर्क की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरांग के रूप में तर्क अनुमिति का सहकारी और परिशोधक है। फिर भी न्याय-लीलावतीकार की यह बात तो स्वीकार की ही जा सकती है कि तर्क कुछ विशेष अवस्थाओं में जहाँ विपरीत आशंकाएँ उपस्थित होती हैं वहीं आवश्यक है। वह अनुमान की सामान्य और अनिवार्य शर्त नहीं बन सकता।

रुचिदत्त मिश्र भी न्यायलीलावती–कार के समर्थन में उदयन की आलोचना करते हुए कहते हैं कि साध्य के विपरीत होने वाला संशय ही जिज्ञासा का कारण है। अतः इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए तर्क की आवश्यकता प्रतीत होती है।[3] जैसे किसी मनुष्य को यह संदेह हो जाये कि यह वस्तु पेन है अथवा नहीं। संशय जो निषेध-संभावना के प्रति होता है, जैसे, 'पेन का अभाव है', ही पेनाभाव की जिज्ञासा को उदित करता है। किन्तु जिज्ञासा 'ज्ञानेच्छा' के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है। जब कोई पेन की उपस्थिति का अनुमान करना चाहता है तो उसके लिए पेन के ज्ञान की इच्छा ही होगी न कि उसके विपरीत उसके अभाव की। इच्छा, चाहे वह ज्ञान के लिए या किसी पदार्थ के लिये हो, सर्वदा तभी होती है जब यह ज्ञान हो जाये कि इच्छित पदार्थ से उसको इस वस्तु की प्राप्ति होगी। इसलिए आग के अनुमानेच्छा के लिए उसके विपरीत इच्छा उपादेय नहीं होगी।

तर्क-विधि इस प्रकार है– 'पर्वत पर आग है, धूम होने से' अनुमान में पहले मनुष्य पर्वत पर धूम-रेखा देखता है और फिर उसे संशय होता है वहाँ आग है अथवा नहीं। अग्न्यभाव की सम्भावना के बारे में जो संशय होता है उससे जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा द्वारा अग्न्यभावीय जिज्ञासा की अवस्थाओं का अन्वेषण किया जाता है। जब तक यह चलती है तब तक रसोईघर में गृहीत की गई अग्नि और धूम की सामान्य व्याप्ति अवरुद्ध हो जाती है और फलतः परामर्श भी। जो व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान है वह भी अवरुद्ध हो जाता है। इस विपरीत जिज्ञासा का निराकरण तर्क द्वारा होता है। फलतः दोनों की व्याप्ति और 'धूम का पर्वत-वृत्ति होना' ज्ञात होकर परामर्श होने के पश्चात् अनुमिति होती है इसलिए तर्क को रुचिदत्त पूर्वांग मानते हैं। अनुमान के प्रसंग में इस प्रकार व्याप्ति और परामर्श का शोधन करने के कारण तर्क विषय-परिशोधक कहलाता है।

व्याप्तिग्राहक तर्क को स्पष्ट करते हुए उदयन ने तर्क को व्याप्तिज्ञान का सहकारी माना है।[4] जैसे, तत् तत् महानस् आदि देश तथा तत् तत् काल में धूम आदि हेतुओं का अग्नि आदि साध्यों के साथ कोई व्यभिचार परिलक्षित न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी देशान्तरीय, कालान्तरीय, भूत, भविष्यत् धूम का अग्नि के साथ व्यभिचार होने की सम्भावना तो हो ही सकती है। अतः सम्भावना या शंका-रूप प्रतिबन्धक होने पर व्याप्ति-ज्ञान का निश्चय नहीं किया जा सकता। इसका समाधान यह है कि उक्त शंका-विषयक देशान्तरीय, कालान्तरीय अग्नि आदि साध्य का ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा न होकर, अनुमान द्वारा ही होता है। तथा अनुमानोत्तर काल में होने वाली शंका– "हेतुरस्तु साध्यं माभूत्" अर्थात् "सरोवर आदि विपक्ष में बाधक युक्ति के न पाये जाने से पक्ष पर्वत-वृत्ति हेतु धूम के होने पर भी साध्य अग्नि रहे", की जा सकती है। ऐसी शंका की निवृत्ति सहकारी तर्क द्वारा इस प्रकार होगी– जहाँ सरोवर आदि विपक्ष में अग्नि का अभाव है, वहाँ धूम का अभाव भी पाया जाता है, क्योंकि अग्न्यभाव धूमाभाव का कारण है। इसलिए, 'यदि पर्वते अग्निर्न स्यात् धूमोऽपि न स्यात्' अर्थात् "पर्वत में (सरोवर की भांति) अग्नि का अभाव होता, तो धूम का अभाव भी अवश्य रहता, परिणाम स्वरूप यदि अग्नि धूम का परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं होता, तो अग्नि के बिना भी धूम की उपलब्धि हुई होती, किन्तु होती नहीं, इसलिये उक्त आशंका निर्मूल जान पड़ती है। इस प्रकार "धूम हेतु होने से, पर्वत वह्निमान् है" इत्याकारक अनुमान द्वारा अग्नि का निश्चय हो जाने पर भी यदि प्रतिवादी की उक्त आशंका से अग्नि का यथार्थ अनुमान न हो तो उसकी निष्पत्ति के लिए "न स्यात्" – "न स्यात्" इन शब्दों द्वारा साध्याभाव की कल्पना द्वारा साधनाभाव की कल्पना की जाती है। क्योंकि यह नियम है, "जब तक शंका होती रहेगी तब तक तर्क भी होता रहेगा", अतः उदयन ने तर्क को शंका की अवधि बतलाया है। यदि दुराग्रहवश तर्क के अनन्तर पुनः व्याप्तिबाधक शंका उपस्थित की जाय तो उसका परिहार व्याघात द्वारा होगा। जैसे, "मम मुखे जिह्वा नास्ति"– "मेरे मुँह में जीभ नहीं है", अथवा "मम माता वन्ध्या - मेरी माता वन्ध्या है", इस प्रकार के कथन व्याघातमय हैं। इस प्रकार कार्य धूम को कारण अग्नि के बिना उपपन्न मानकर, शंका करना भी व्याघातदोष की उत्थापना है। अतः व्याघात होने से प्रतिवादी की शंका निर्मूल सिद्ध हो जाती है। व्याघात के अनन्तर पुनः कोई शंका नहीं की जा सकती है। इस प्रकार शंका-रूप प्रतिबन्धक का निर्वतक होने के कारण तर्क व्याप्तिज्ञान का सहकारी सिद्ध हो जाता है।

इस पर आपत्ति उठाते हुए उदयन की कारिका में कुछ परिवर्तन कर खण्डनकार ने लिखा है– व्याघात यदि प्रामाणिक है, तो शंका भी अवश्य होगी, कारण, शंका होने पर ही व्याघात होता है एवं यदि व्याघात नहीं है, तो प्रतिबन्धक के न होने पर अवश्यमेव शंका होती है। अतः शंका की अवधि व्याघात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तर्क को शंका की अवधि नहीं माना जा सकता। अभिप्राय यह कि व्याघात' शंका का अभाव है और यह बिना शंका के निष्पन्न नहीं हो सकता। कारण अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान को ही कारण माना जाता है। अतः वह अभाव भी अप्रसिद्ध होगा, जिसका कि प्रतियोगी अप्रसिद्ध है। जैसे, शशश्रृंग का अभाव, वन्ध्यापुत्र का अभाव अथवा गगन-कुसुम का अभाव आदि ये सभी अलीक प्रतियोगी होने के नाते सर्वथा अप्रसिद्ध माने जाते हैं। इसलिए जब क्रिया का व्याघात होता है, तब व्यभिचार-शंका भी अवश्य होती है और जब व्याघात न हो, तब व्याभिचार शंका सुतराम् होगी, क्योंकि, शंका व्याघात से प्रतिबध्य है। ऐसी दशा में जब शंका ही व्याघात से प्रतिबध्य हो जाती है तब तर्क शंका से कैसे प्रतिबध्य हो सकता है।[५]

खण्डनकार का खंडन करते हुए उदयन के समर्थन में गंगेश ने कहा है कि व्याघात शंका का अभाव नहीं है, अतः उसे शंका-प्रतिबन्धक मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। किन्तु तर्क-प्रयोक्ता पुरुष की जो अन्वय-व्यतिरेक अनुविधायित्व ज्ञान-क्रिया है वही शंका की प्रतिबन्धक है। अतः कोई दोष नहीं होगा।

उदयन की तरह गङ्गेश ने भी तर्क को व्याप्ति-ज्ञान का सहकारी माना है। "भूयोदर्शन" अथवा "व्यभिचार अदर्शन सहित सहचार दर्शन" आदि साधनों के आधार पर धूम में साध्य की व्याप्ति का निश्चय यदि हो भी जाये और उसके द्वारा अनुमिति निष्पन्न होने के उपरान्त भी, यदि वहाँ व्यभिचार शंका उपस्थित हो जाये, जैसे "अग्निव्याप्यो धूमः" इस व्याप्ति-निश्चय के आधार पर "पर्वतो अग्निमान्" यह अनुमिति हो जाने के अनन्तर कोई अन्य व्यक्ति यह व्यभिचार-शंका करता है : "पर्वते धूमः अस्तु अग्निर्मास्तु" अर्थात् पर्वत में धूम की सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है, क्यों, उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है, किन्तु वहाँ अग्नि होगी ही इसकी कोई प्रत्याभूति नहीं, कारण धूम की तरह प्रत्यक्ष द्वारा उसका दर्शन नहीं हो पाता इसलिए अग्नि की सत्ता वहाँ नहीं मानी जा सकती। इस शंका का निवारण तर्क द्वारा होता है जैसे पर्वत में यदि अग्नि नहीं होती तो धूम भी नहीं होता या धूम यदि अग्नि का व्यभिचारी होता तो अग्नि से उत्पन्न न होता। क्योंकि जो जिसके बिना होता है वह उससे उपपन्न नहीं होता जैसे धूम के अभाव में अयोगोलक आदि में भी अग्नि पायी जाने से भी अग्नि धूम से उत्पन्न वस्तु नहीं है, परन्तु धूम के बारे में यह बात सही नहीं। क्योंकि धूम सर्वदा अग्नि के होने पर ही होता है, उसके अभाव में कदापि नहीं। इस तर्क में आपाद्य-साध्य के अभाव को हेतु बनाकर आपादक-साधन के अभाव की सिद्धि की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है। इस तरह आपाद्य का अभाव आपादक के अभाव का साधक और आपादक का अभाव स्वयं साध्य बन जाता है।

खण्डनकार के आक्षेप का निराकरण करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि ऐसा मानने पर मानवीय प्रवृत्ति का व्याघात होगा। जिस हेतु का अन्वय व्यतिरेक निश्चित कर लिया गया है उसके बिना यदि कार्य उत्पत्ति की शंका की जाय तब जो व्यक्ति धूम के लिए अग्नि को ध्यान में, तृप्ति के लिए भोजन में तथा दूसरे को ज्ञान कराने के लिए शब्दों के उच्चारण में प्रवृत्त होता है वह नहीं होना चाहिए। धूम को यदि इस प्रकार अहेतु मान लिया जाय तो नियमतः अग्नि को लाने में मानव की प्रवृत्ति नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसी अवस्था में अग्नि के विना भी धूम की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए अग्निमानय आदि जो प्रवृत्तियां हैं वे अहेतुक शंकाओं की प्रतिबन्धक होती हैं। शंका होने पर नियमतः अग्निमानय में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए और इसी प्रकार प्रवृत्ति होने पर शंका नहीं होती जैसा कि कहा गया है।

"तदेव हि आशंक्यते यस्मिन् आशंकमाने स्वक्रिया व्याघातो न भवति"

अर्थात् आशंका उसी की होती है जिसकी शंका हो जाने पर प्रवृत्ति का व्याघात न हो। खण्डनकार का यह मत कि व्याघात शंका के आश्रित रहता है भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि व्याघात शंका के आश्रित नहीं रहता अपितु स्वप्रवृत्ति ही शंका की प्रतिबन्धक होती है। [६]

जहाँ तक व्याप्तिग्राहक-विधि का प्रश्न है दार्शनिक साहित्य में इसे प्रथमतः अवतरित करने का श्रेय जैन वार्तिककार अकलंक को है। उन्होंने अनुमान की आवश्यक और अनिवार्य तार्किक शर्त के रूप में अन्यथानुपपत्ति को मान्य किया है। इसे अविनाभाव भी कहा जाता है। सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा सार्वव्यक्तिक सर्वोपसंहारी व्याप्ति का ग्रहण उन्होंने तर्क द्वारा गृहीत किया है। इस व्याप्ति को प्रत्यक्ष, मानस् और योगी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये व्याप्तिग्राहक साधन के रूप में उन्होंने तर्क को स्वतंत्र प्रमाण माना है। पश्चात्वर्ती प्रायः सभी जैनदार्शनिकों ने उनका अनुसरण किया है। [७]

व्यासतीर्थ ने भी आशंका-निवृत्ति भेद से तर्क दो प्रकार का माना है। इनमें आद्य अनुमितिकरण व्याप्ति के प्रसंग में होने वाली विपरीत आशंकाओं का निराकरण करने के कारण अनुमितिकरण का निष्पादक है। दूसरा, निष्पन्नकरण द्वारा प्रतिप्रमाण शंकाओं का निरास करके फल, अनुमिति का उपकारक होने से अनुमान-ग्राहक है। इस प्रकार उन्हें भी ये दोनों कार्यविधियाँ मान्य हैं। [८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्कर्षतः, व्याप्तिग्राहक तथा विषयपरिशोधक रूप में दोनों तर्क विधियाँ आवश्यक जान पड़ती हैं। प्रथम द्वारा प्रमितिकरणविषयक विपरीत आशंकाओं का निरास होता है जबकि दूसरी के द्वारा प्रमितिरूप फल को निश्चित रूप प्रदान करने का प्रयास किया जाता है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)
— ब्रजनारायण शर्मा

टिप्पणियाँ

१. तर्कश्च द्विविधो विषयपरिशोधको व्याप्तिग्राहकश्चेति।
(दिनकरी पृ. ४८१)
२. न्यायलीलावती पृ. ५१४–१७
३. न्यायकुसुमांजलिप्रकाश मकरन्द पृ. ४-६
४. न्यायकुसुमांजलि ३/७
५. खण्डनखंडखाद्य पृ. २७१
६. तत्त्वचिन्तामणि पृ. ६७५–७६
७. लघीस्त्रय का. ४९ न्यायविनिश्चय
८. तर्क ताण्डव पृ. २१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकारता–सम्प्रत्ययों का अर्थ

साधारण भाषा में हम 'सम्भव' 'असम्भव' 'अनिवार्य' आदि प्रत्ययों का व्यवहार करते हैं। क्या इनकी कोई पूर्वमान्यता है अथवा ये बिना किसी पूर्वमान्यता के हैं? क्वाइन का मत है कि जब भी हम किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्या-सत्य का विचार करते हैं तो उसकी कोई-न-कोई पूर्वमान्यता अवश्य होती है जो कि उस तंत्र-विशेष से ही पता लगायी जा सकती है। क्या इसी प्रकार सम्भवात्मक प्रतिज्ञप्ति भी तंत्र-सापेक्ष है? इस समस्या पर हम विचार बाद में करेंगे। प्रथम हमको देखना होगा कि प्रकारता-सम्प्रत्यय क्या है। वाक्य-तर्क में सारी व्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ असम्भव हैं तथा व्याघात रहित सभी प्रतिज्ञप्तियाँ सम्भव हैं। तर्क-शास्त्र की दृष्टि से, भौतिक दृष्टि से तथा विभिन्न दृष्टि से हम सम्भव, असम्भव की बात कर सकते हैं। जैसे भौतिक विज्ञान में 'क रश्मि (light) से अधिक तेज चल रहा है' असम्भव है, 'बर्फ 50° सेन्टिग्रेट पर नहीं पिघलती' असंभव है। किन्तु उपर्युक्त उदाहरण तार्किक रूप से असम्भाव्यता के नहीं है। 'गोलाकार चर्तुभुज नहीं है', 'या तो आज मंगलवार है या आज मंगलवार नहीं है' आदि तार्किक अनिवार्यता के उदाहरण हैं। अतः तर्कशास्त्र के सम्भव, असम्भव प्रत्यय सार्वत्रिक हैं। जहाँ भी जो भी भौतिक रूप से सम्भव है या विज्ञान की दृष्टि से सम्भव है वह सब तर्कशास्त्र की दृष्टि से भी सम्भव है किन्तु जो तर्क-शास्त्र की दृष्टि से भी सम्भव है उसके लिए अनिवार्य नहीं कि वह अन्य क्षेत्रों में भी सम्भव हो। (साथ ही काल्पनिक एवं वास्तविक जगत् में भी भेद हो सकता है। काल्पनिक जगत् में हो सकता है कि कुछ सम्भव हो किन्तु वास्तविक जगत् में वस्तुतः वैसा न हो) प्रत्येक विशेष क्षेत्र के सम्भव-असम्भव प्रत्यय तर्कशास्त्र के सम्भव-असम्भव प्रत्यय द्वारा व्याप्त हैं।

[V] → [L]
व्याप्य p   p व्यापक

तर्कशास्त्र की दृष्टि से सत्य तथा असत्य प्रतिज्ञप्तियों में हम भेद कर सकते हैं: वे जो मात्र सत्य हैं या असत्य हैं तथा वे जो अनिवार्यतः सत्य या असत्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्यतः असत्य प्रतिज्ञप्ति को असम्भव प्रतिज्ञप्ति भी कहते है । तथा जो न तो अनिवार्यतः सत्य है न अनिवार्यतः असत्य उसे सत्यासत्य (contingent) प्रतिज्ञप्ति कहते है । सम्भव प्रतिज्ञप्ति मात्र असम्भव प्रतिज्ञप्तियों के अतिरिक्त सभी प्रतिज्ञप्तियों को समाहित करती है । अतः तर्कशास्त्र में हम सम्भव, असम्भव एवं अनिवार्य सम्प्रत्ययों का प्रयोग मात्र तार्किक सम्भाव्यता तथा तार्किक अनिवार्यता के लिए ही करते हैं । कोई भी एक प्रतिज्ञप्ति 'क' देने पर हम 'यह सम्भव है कि क', 'यह अनिवार्य है कि क', 'यह असम्भव है कि क' आदि प्रकारता-प्रतिज्ञप्तियों का निर्माण कर सकते हैं तथा इनकी सत्यता/असत्यता 'क' के स्वरूप पर निर्भर करती है । अतः जब हम कहते हैं कि 'यह सम्भव है कि क सत्य है' या 'यह सम्भाव्यतः सत्य है कि क', तो यहाँ हम एक प्रतिज्ञप्ति की सम्भाव्य सत्यता पर जोर दे रहे हैं न कि प्रतिज्ञप्ति पर (यह समस्या प्रकारता के 'डी डिक्टो' (de dicto) तथा 'डी रे' (de re) के भेद से सम्बन्धित है जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे) ।

यदि हम प्रकारता अथवा निश्चयात्मक तर्क के इतिहास को देखने का प्रयास करें तो शायद अरस्तु प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इन प्रकारता-सम्प्रत्ययों का प्रयोग किया । यद्यपि यह सही है कि उनका उद्देश्य प्रकारता-तर्क का कोई तंत्र देने का नहीं था किंतु जैसा सर्वविदित है उनका उद्देश्य सिलोजिस्टिक तर्क का विस्तार करना अवश्य ही था और उसी सन्दर्भ में उन्होंने इन प्रकारता-सम्प्रत्ययों का विश्लेषण प्रस्तुत किया । उनके विख्यात ग्रन्थ **दे इन्टरप्रिटेशन** एवं **प्रायर ऐनेलिटिक्स** में प्रकारता सिलोजिस्टिक-तर्क सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है । यद्यपि यह सही है कि नव्य प्रकारता-तर्क एवं प्राचीन प्रकारता-तर्क में भेद है इस अर्थ में कि नव्य प्रकारता तर्कशास्त्री प्रकारता–सम्प्रत्ययों को निरपेक्ष न मानकर उन्हें सापेक्ष मानते हैं । इस भेद का मूल भी अरस्तु में देखा जा सकता है तथा सापेक्ष प्रकारता-सम्प्रत्ययों का तर्क निरपेक्ष प्रकारता-सम्प्रत्ययों को अपने में समाहित किये हुए हैं । अरस्तु के विचारों को आकारिक रूप देने का प्रयास विभिन्न तर्कशास्त्रियों ने किया है जिनमें से युकासिवीच, मैकोल, रेशर, बेकर एवं हिन्तिका उल्लेखनीय हैं । किन्तु सभी तर्कशास्त्री किसी-न-किसी रूप में मानते हैं कि अरस्तु स्वयं इन प्रकारता सम्प्रत्ययों के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं थे अतः यदि उनके विचार का सम्मान करते हुए तंत्र का निर्माण किया जाये तो कई व्याघाती निष्कर्ष निकलते है जिन्हें कोई भी तर्कशास्त्री एवं स्वयं अरस्तु भी मानने को तैयार नहीं होंगे । अतः रेशर आकारिक तंत्र के स्थान पर आकार-रहित (non-formal) तंत्र का निर्माण करने का प्रयास करते हैं । मैकोल ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेशर के अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त प्रकारता–सम्प्रत्ययों को लेकर अरस्तु के विचारों की फिर से व्याख्या प्रस्तुत की है तथा जहाँ अरस्तु ने भूल की है उसे वे सुधारने का प्रयास करते हैं; साथ ही एक आकारिक पद्धति प्रकारता-सिलोजिजम के लिए प्रस्तुत की है। विभिन्न तर्कशास्त्री एक अरस्तु जैसे पुरातन तर्कशास्त्री के विचारों का फिर से अध्ययन करना चाहते हैं बल्कि इसका एक कारण यह भी है कि अर्थ-मीमांसीय तर्कशास्त्र की पद्धति हमें तार्किक तंत्र के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट कर देती है और उस स्पष्टता का सहारा लेकर अरस्तु के तर्कशास्त्र के अध्ययन का प्रयास विभिन्न प्रकारता-तर्कशास्त्रियों ने किया है।

वस्तुतः अरस्तु प्रकारता–सम्प्रत्ययों का दो रूप में व्यवहार करते हैं। प्रथमतः एक-पदीय विधेय (predicate) के रूप में जहाँ एक प्रतिज्ञप्ति की अनिवार्यता अथवा सम्भाव्यता के लिए प्रयोग किया गया है तथा द्वितीय जहाँ प्रकारता एक द्वि-पदीय सम्बन्ध के रूप में प्रयुक्त है जो कि आधार-वाक्य एवं निष्कर्ष के रूप में स्थित है। अर्थात् यदि आधार-वाक्य सत्य है तो निष्कर्ष अनिवार्यतः सत्य होगा अथवा यदि आधार-वाक्य सम्भव है तो निष्कर्ष भी सम्भव होगा आदि। अतः अरस्तु की प्रकारता-तर्क के सम्बन्ध में विभिन्न विचार-धारायें हैं जो कि स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। तथा ये सभी विचार अथवा सिद्धान्त एक साथ सही नहीं हो सकते किन्तु अलग-अलग संदर्भ में सही हैं ऐसा मत हिन्तिका का है।[1] सभी सिद्धान्तों को एक साथ रखकर उनका एक ही प्रकार से तंत्र का निर्माण करके अरस्तु को असंगत मानना उनके साथ अन्याय होगा, जब वे विभिन्न प्रकारता–प्रतिज्ञप्तियों की व्याख्या करते हैं तो कभी एक व्याख्या तथा कभी दूसरी व्याख्या से उनका अर्थ होता है अतः इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उनके तंत्र में असंगतता का दोष है। बेकर ने यद्यपि अनेक प्राकारिक आधार वाक्यों में सुधार करके अरस्तु के इस दोष के हटाने का प्रयास किया किन्तु उनके सुधार अनेक सिलोजिज्म जो अरस्तु द्वारा अवैध माने गये हैं उनको भी वैध प्रमाणित कर देता है। अतः बेकर के सुझाव स्वयं अरस्तु में असंगतता दोष को जन्म देते हैं। किन्तु क्या इसका अर्थ है कि हमें अरस्तु के विचारों को बेकार समझ कर छोड़ देना चाहिए? वस्तुतः अरस्तु स्वयं प्रकारता सिलोजिज़्म तर्क में आधार-वाक्यों एवं निष्कर्ष के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट नहीं हैं। इसी कारण $\Box$ (x) (Bx $\supset$ Ax) तथा (x) (Bx $\supset$ Ax) में भेद स्थापित नहीं कर पाये हैं। यह भेद हम देखेंगे कि 'डी डिक्टो' तथा 'डी रे' के भेद के सम्बन्धित है। मैकोल का कहना है कि अरस्तु में यह भेद स्पष्ट है किन्तु फिर भी वे इस भेद का स्पष्ट उदाहरण अरस्तु के लेखों में खोजने में असफल हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त अरस्तु का सम्भव (Possible) तथा सम्भव सत्यासत्य (Contingent) में भेद बहुत महत्त्वपूर्ण है। अरस्तु अपनी पुस्तक **प्रायर एनालेटिक्स** (Prior Analytics I $14{\cdot}33^{b}_{23}$; $15{\cdot}33^{b}_{28}$; $15{\cdot}34^{b}_{27}$; $17{\cdot}37^{a}_{27-8}$) में इन दोनों सम्प्रत्ययों की स्पष्ट परिभाषा देते हैं। "मैं 'सम्भव' तथा 'सम्भवतः' पदों का प्रयोग वह जो अनिवार्य नहीं है किंतु यदि मानें तो असम्भव न होगा के अर्थ में करता हूँ।" इसे हिन्तिका सम्भव-सत्यासत्य कहते हैं। दूसरे अर्थ में सम्भव का अर्थ 'वह जो अनिवार्य भी हो सकता है' है। जिसे सही 'सम्भव' (Possibility Proper) का अर्थ माना जाता है। p सम्भव सत्यासत्य है यदि एवं केवल यदि ~p भी सम्भव सत्यासत्य है। किन्तु अरस्तु इस सम्भव सत्यासत्य के लिए भी 'सम्भव' पद का प्रयोग करते हैं जिससे प्रकट होता है कि अरस्तु 'सम्भव' पद के प्रयोग के सन्दर्भ में अस्पष्ट हैं। अनेक स्थान पर अरस्तु स्वय बताते हैं कि यदि 'सम्भव' प्रत्यय को बताये हुये अर्थ में नहीं समझा जाय तो विशेष सिलोजिजम का निष्कर्ष वैध नहीं होगा (P. A. I. $15.33^{b}_{३०-३}$; $34^{b}_{२७-३२}$ $16.35^{b}_{३२-४}$; $17.36^{b}_{३४-४}$; 29.31^{a}_{11-13})। किन्तु कई स्थानों पर अरस्तु का प्रकारता-सम्प्रत्ययों के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट विचार है जैसे '**द इन्टरप्रिटेशन** में 'अनिवार्य न होना' का अर्थ 'न अनिवार्य न असम्भव' अथवा 'ऐसा नहीं है कि अनिवार्य नहीं है' अथवा 'असम्भव नहीं' का अर्थ कभी कभी 'न असम्भव व अनिवार्य' लिया जा सकता है। और यदि यह अर्थ लें तो 'असम्भव नहीं' 'अनिवार्य नहीं' को आपादित (Imply) करता है, जिसकी अन्यथा व्याख्या करना बहुत कठिन है। यह अनुमान बहुत से आपादनों पर निर्भर है जो कि अरस्तु ने **दे इन्टरप्रिटेशन** में दिये हैं। वस्तुतः 'सम्भव सत्यासत्य' एवं 'सम्भव' में भी एक सम्बन्ध अरस्तु द्वारा दिखाया गया है। सम्भव सत्यासत्य वह है जो सम्भव है किंतु अनिवार्य नहीं है अथवा दूसरे शब्दों में सम्भव का अर्थ वह है जो अनिवार्य नहीं है किंतु यदि उसे मानें तो उसमें कोई असम्भाव्यता नहीं है इसी प्रत्यय को वह सम्भव सत्यासत्य कहता है। किंतु यदि हम इन परिभाषाओं को स्वीकार करें तो कुछ निष्कर्ष निकलते हैं जो विरोधाभासी हैं जैसे :—

(a) $p \leftrightarrow \sim \Box p \;\&\; \sim \Box \sim p$

$\Diamond p \leftrightarrow \Diamond \sim p \;\&\; \Diamond p$ ($\Diamond$ def)

$\Diamond \sim p \leftrightarrow \Diamond p \;\&\; \Diamond \sim p$ by $\sim p / p$ and $\sim \sim$

(b) $\Diamond p \leftrightarrow \Diamond \sim p$

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ ही यदि युकासिविच की व्याख्या स्वीकार करें तो $\Diamond p \supset \Diamond q$ सिद्धान्त बन जाता है जिसका अर्थ है कि यदि कोई भी प्रतिज्ञप्ति सम्भव सत्यासत्य है तो सभी प्रतिज्ञप्तियां सम्भव सत्यासत्य हैं। इस निष्कर्ष से बचने के लिए युकासिविच दो सम्भव सत्यासत्य संक्रकों (operators) का व्यवहार करते हैं किंतु फिर भी सम्भव सत्यासत्य आधार-वाक्य के परिवर्तन (Conversion) के तथा सम्भव सत्यासत्य के निष्कर्ष के परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते जो कि अरस्तु के मूल विचार की अवहेलना है।

वस्तुत: अरस्तु के लिये प्रकारता-सिलोजिस्टिक तर्क शुद्ध सिलोजिस्टिक तर्क का ही विस्तार है। उनका उद्देश्य प्रकारता-सम्प्रत्ययों का प्रयोग करके सिलोजिस्टिक तर्क की वैधता एवं अवैधता की व्याख्या करना था। अत: जो नियम वे शुद्ध सिलोजिस्टिक तर्क में प्रतिपादित कर चुके थे उनका पालन वे यहां भी करना चाहते थे। उदाहरणत: यदि निष्कर्ष अनिवार्य है तो आधार-वाक्य भी अनिवार्य होना चाहिये एवं मुख्य आधार-वाक्य एक प्रकार का सामान्य नियम देता है एवं गौण आधार-वाक्य किसी एक विशिष्ट उदाहरण को प्रस्तुत करता है जो उस सामान्य नियम के अन्तर्गत होता है। जहां पर मुख्य आधार-वाक्य की प्रकारता अधिक शक्तिशाली नहीं है वहां पर गौण आधार-वाक्य की प्रकारता से ही निष्कर्ष आपादित होता है ("The couclusion follows the weaker premise that as when one premise is negative the conclusion is negative and when one premise is particular the conclusion particular") इसी प्रकार जब दोनों आधार-वाक्य विध्यात्मक (assertoric) हैं तो प्रकारता सम्बधी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता एवं जब दोनों में से एक भी आधार-वाक्य सम्भवात्मक हैं तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है। अरस्तु के लिये प्रकारता-वाक्य-तर्क, प्रकारता विरोध-चतुस्त्र (square of opposition) को समझने के लिये अनिवार्य है। प्रकारता-वाक्य-तर्क की अरस्तु ने बहुत ही चर्चा की है जो कि अरस्तु के दे **इन्टरप्रिटेशन** के १२ तथा १३ अध्याय में है। प्रथम सिद्धान्त जो प्रस्तुत किया गया है वह यह कि 'यह हो सकता है' का व्याघाती 'यह नहीं भी हो सकता' नहीं है। इसी प्रकार 'यह अनिवार्य है कि क का व्याघाती 'यह अनिवार्य है कि क नहीं है' और अंत में है यह अनिवार्य नहीं है कि क नहीं है का व्याघाती 'यह असंभव है कि क' है। अत: यह स्पष्ट है कि अरस्तु के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि 'क नहीं है' तथा 'यह संभव है कि क' ये दोनों समनियत हैं। यही सिद्धान्त युकासिवीच के मुलभूत प्रकारता-तर्क (Basic Modal Logic) में भी है साथ ही L-Law of Extensionality भी अरस्तु द्वारा प्रतिपादित है किंतु फिर भी प्रकारता-वाक्य-तर्क के संबध में अरस्तु द्वारा प्रस्तुत इन विचारों के आधार पर किसी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तंत्र का निर्माण करना शायद समुचित न हो। वस्तुत: अरस्तु iterated प्रकारता की व्याख्या किस प्रकार करनी चाहिये के बारे में किसी प्रकार की चर्चा ही नहीं करते जैसे LMAab आदि।

संभव, असंभव तथा अनिवार्यता के अतिरिक्त एक अन्य संप्रत्यय जो कि प्रकारता-तर्क में प्रधान है वह है गम्यता (entailment) का प्रत्यय। सी. आई लुइस का निष्कर्ष था कि गम्य-गमक संबंध को समझने के लिये अनिवार्यता संप्रत्यय को तथा संभव-संप्रत्यय को लाना पड़ेगा। क्योंकि तर्कत: गम्यता के साथ संभव, असंभव संप्रत्यय जुड़े हुये हैं। किंतु खेद का विषय है कि जो विरोधाभास उन्होंने वस्तुगत-आपादन में दिखाया था करीब-करीब वैसा ही विरोधाभास उनके तंत्र को भी आक्रान्त करता है। वस्तुत: संभव, असंभव, तथा अनिवार्यता संप्रत्यय अंतर्दृष्टि से (intuitively) कुछ हद तक परिष्कृत होते हुये भी बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अत: हमें प्रारूप-निर्माण (formalization) की सहायता लेनी पड़ेगी। यद्यपि प्रारूप-निर्माण की प्रक्रिया अंतर्बोध की सहायक है या परिपूरक है किंतु मात्र प्रारूप-निर्माण से हमारी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। जहां पर अस्पष्टता है वहां पर परिष्कार की पद्धति की सहायता लेकर हम अंतर्बोध को स्पष्ट करते हैं। किंतु अंतर्बोध एवं परिष्कार की पद्धति परस्पर स्वतंत्र नहीं है।

अंतर्बोध द्वारा गृहित तथ्यों से जो निगमित किया जा सकता है अथवा उसमें जो छिपे हुये निष्कर्ष हैं उनके बारे में अंतर्बोध स्वयं स्पष्ट नहीं है। अत: अंतर्बोध से हम संप्रत्ययों को परिष्कृत करके फिर उन परिष्कृत संप्रत्ययों से अंतर्बोध को स्पष्ट करते हैं। अतः इस प्रक्रिया का यदि हम प्रकारता-तर्क में भी प्रयोग करें तो पायेंगे कि प्रकारता-संप्रत्यय सत्यता-फलनात्मक नहीं है। वाक्य-तर्क के अर्थ-मीमांसा के अनुसार 2^{2^n} पदी फलन है अत: जब n=1 तो 2^{2^1} अर्थात् 4 एक-पदी सफलता-फलन होंगे :

p	p ⊃ p	p V p	~p	p & ~P
T	T	T	F	F
F	T	F	T	F

किंतु
(1) $\Box p \not\equiv (p \supset p)$
(2) $\Box p \not\equiv (p \vee p)$
(3) $\Box p \not\equiv \sim p$
(4) $\Box p \not\equiv (p \ \& \sim p)$

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः यदि गम्यता-संप्रत्यय की संभव असंभव संप्रत्ययों के लिये परिष्कृत परिभाषा देना है तो वाक्य-तर्क से आगे बढ़ना होगा। वाक्य-तर्क के प्रत्येक वाक्याकार का धर्म है कि प्रत्येक आण्विक वाक्य से उसका मूल्य निरूपित हो जाता है किंतु □ p या ◇ p सत्यता फलनात्मक नहीं है। अतः प्रकारता तर्क में मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया नहीं अपनायी जा सकती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका वाक्य-तर्क से कोई संबंध नहीं है। यदि हम p को असत्य मानें तो कह सकते हैं कि वह अनिवार्यतः सत्य नहीं है तथा जो असत्य है उसे असंभव भी नहीं कह सकते। अतः वाक्य-तर्क से प्रकारता-तर्क का संबंध है किंतु प्रकारता-संप्रत्यय साक्षात् (direct) रूप से सत्यता-फलनात्मक नहीं है। इसी प्रकार– प्रकारता-तर्क का विधेय-तर्क से भी संबंध है। 'यह अनिवार्य है कि p' का व्याघाती 'यह संभव है कि ∼p है' ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विधेय-तर्क में 'सब अ क हैं' का व्याघाती 'कुछ अ क नहीं हैं' आदि। अतः विधेय-तर्क से हमें प्रकारता-तर्क में सहायता अवश्य मिलती है किंतु वह स्पष्ट रूप में हमें यह नहीं बताता कि प्रकारता-संप्रत्ययों में अंतःसंबध क्या है। अतः सादृश्य के आधार पर हमें उन्हें समझना होगा तथा जो नये संप्रत्यय हैं उनको समझने के लिये प्रारंभिक तर्कशास्त्र के गम्य-गमक भाव को विस्तृत करके विश्लेषण करना होगा।

प्रश्न उठता है कि कौन से प्रकारता-वाक्यों को हम वैध मानें? वाक्य-तर्क में हम वैधता की परिभाषा सत्यता-मूल्य के संदर्भ में देते हैं किंतु प्रकारता-संप्रत्यय सत्यताफलनात्मक न होने के कारण हम वैधता की परिभाषा देने में असुविधा का बोध करते हैं। किंतु फिर भी अंतर्बोध की कुछ मांगे हैं जिनको किसी भी प्रकारता-तर्क के प्रणाली (system) को पूरा करना होगा। जैसे यदि p अनिवार्य है तो इसका अर्थ ही यह है कि p का असत्य होना असंभव है। p यदि संभव है तो उसका असत्य होना अनिवार्य नहीं है। यदि p, q से तर्कतः निगमित होता है (strictly imply) तो p का सत्य तथा q का असत्य होना असंभव है। यदि p अनिवार्यतः सत्य है तो p सत्य है, यदि p सत्य है तो यह संभव है कि p सत्य है। (□ p ⊃ p, p ⊃ □ p Axiom of Necessity, Axiom of possibility) आदि। साथ ही हम कुछ वाक्यों को प्रकारता-तर्क के सिद्धान्त के रूप में नहीं रखना चाहते।

उदाहरणतः

(क) □ p ≡ p

(ख) □ p ≡ ∼ p

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) $\Box p \equiv p \supset p$
(घ) $\Box p \equiv p \,\&\, \sim p$

उपर्युक्त आवश्यकताओं को स्वीकारते हुए प्रकारता तर्क के सन्दर्भ में अनेक प्रणालियों का निर्माण किया गया जिनको मूलत: दो भागों में बाँटा जा सकता है। निगमनात्मक तथा अर्थ-मीमांसीय। निगमनात्मक प्रणालियों में भेद मूलत: अनिवार्यता तथा सम्भव प्रत्यय को अलग अलग अर्थ देने के कारण उत्पन्न हुए और करीब-करीब सभी निगमनात्मक प्रणालियों में कुछ-न-कुछ कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सी. आय. लुइस की प्रणाली में, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, विरोधाभास उत्पन्न होते हैं। उदाहरणत: $\Box p \dashv [q \dashv \Box p]$ तथा $\sim \Box p \dashv [p \dashv q]$ आदि सिद्धान्त बन जाते हैं जिनका अर्थ है कि q चाहे जो भी हो यदि $\Box p$ तो, $\Box p$, q के गम्य हो ही जायेगा। तथा यदि p असत्य है तो p को सत्य मानने से कोई भी q निगमित किया जा सकता है आदि। लुईस के बाद गम्य-गामक सम्बन्ध की मौलिकता को लेकर कई मानक-रहित (non–standard) प्रणालियों का निर्माण करने की चेष्टा की गई। कुछ मौलिक अथवा आधारभूत सिद्धान्त (axioms) लेकर उनमें सम्बन्ध खोजने का प्रयास किया गया। किन्तु फिर भी लुइस द्वारा दी गयी प्रणालियाँ T, S_1, S_2, S_3, S_4, S_5, etc. उल्लेखनीय हैं। इन समस्त प्रणालियों के लिए अर्थमीमांसा एवं स्वयंसिद्ध सिद्धान्त दिए गये हैं जिसके आधार पर प्रणाली का निर्माण किया गया है। और फिर निगमनात्मक पद्धति के द्वारा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इन समस्त प्रणालियों के संगतता–सिद्धान्त भी दिये गये हैं। किन्तु समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम उनकी निर्णायक पद्धति के बारे में विचार करते हैं अथवा इन प्रणालियों की पूर्णता के बारे में विचार करते हैं। विभिन्न तर्कशास्त्रीयों द्वारा इन प्रणालियों की विभिन्न रूप में निर्णायक पद्धति प्रस्तुत की गयी है। प्रथमत: जो पद्धति वाक्यात्मक तर्कशास्त्र में उपलब्ध है उसी को यहाँ पर भी अपनाने का प्रयास किया गया किन्तु वहाँ पर संयोजकों (connectives) का एक मुख्य अर्थ है जो सत्यता–फलनात्मक पद्धति द्वारा देना चाहते हैं जैसे कालमार (Kalmar) की निर्णायक पद्धति 'एक आकारिक प्रतिज्ञप्ति सिद्धान्त है यदि एवं केवल यदि वह पुनरुक्ति है' पर आधारित है एवं 'पुनरुक्ति होना' सत्यता-फलनात्मक परिभाषा पर आधारित है, अत: इसी पद्धति को सीमित बहुमूल्य (finite many-valued) तर्क में भी अपनाया जा सकता है। मात्र हमें इसका विस्तार करना होगा। यहाँ पर भी संयोजकों का एक विशेष अर्थ देना होगा। यद्यपि यह पद्धति कुछ जटिल अवश्य है किन्तु मुख्य रूप से यह वही पद्धति है। एक दूसरी निर्णायक पद्धति भी है जहाँ पर संयोजकों का कोई एक विशेष अर्थ न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देकर कुछ अपरिभाषित प्रत्ययों को लिया जाता है तथा इन प्रत्ययों को लेकर स्वयंसिद्ध सिद्धान्त तथा नियम दिये जाते हैं तथा इन स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों तथा नियमों द्वारा भी इन प्रत्ययों की सापेक्ष (Contextual) परिभाषा की जाती है। वस्तुत: अपरिभाषित प्रत्यय जिनसे प्रारम्भ करते हैं वे एकदम यादृच्छिक (arbitrary) नहीं है। उनका वास्तविक जगत् में अर्थ होता है तथा प्रणाली के निर्माण का उद्देश्य ही इस अर्थ का विस्तार एवं परिष्कार करना है। लुइस के तंत्रों में इसी पद्धति का प्रयोग किया गया है। 'निषेध' 'और' के अलावा सम्भव के प्रत्यय को लिया गया है तथा इन प्रणालियों का उद्देश्य इस प्रत्यय की आकारिक परिभाषा देना है। S_1 से लेकर S_5 तक सभी इस प्रत्यय की परिभाषा देने के प्रयास के परिणाम हैं। दुगुन्जी[3], ग्वेड्ल की पद्धति का प्रयोग करते हुए यह दिखाते हैं कि लुइस के सभी प्रणालियों में से कोई भी प्रणाली सीमित अर्थ को लेकर नहीं चलती। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि हम इन प्रणालियों के लिए निर्णायक समस्या का समाधान S_2 तथा S_4 के लिए एक नये तरीके से करें। इसी को आधार बनाकर मैकिन्जी सर्वप्रथम यह दिखाते हैं कि इन तंत्रों के लिए एक अनन्त धर्मी 'matrix' है (infinite characteristic matrix) और यह matrix प्रणाली के आकारिक वाक्यों का 'algebra' है जो कि आकारिक वाक्यों के ऊपर सममीत (equivalence) सम्बन्ध की परिभाषा द्वारा प्राप्त है। यदि हमें जानना है कि एक आकरिक वाक्य प्रणाली का सिद्धान्त है अथवा नहीं तो हमें सब सम्भव तैयारी करनी होगी। यदि A सभी matrix द्वारा प्रमाणित होता हैं तो यह सिद्धांत है और यदि प्रमाणित नहीं होता तो यह सिद्धांत नही है। निर्णय की यह पद्धति अर्थमीमांसीय पद्धति पर आधारित है। अत: हम कह सकते है कि मैकिन्जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने प्रकारता-तर्क की निगमनात्मक पद्धति की सीमाओं को देखते हुये अर्थ-मीमांसीय पद्धति को अपनाया[4]। कुछ अन्य संप्रत्ययोंकी परिभाषा देकर परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करके क्रिपके ने प्रकारता के एक तंत्र का निर्माण किया 'जैसे संभव जगत्' 'कल्पनीयता संबंध' तथा 'मूल्य' के संप्रत्ययों को लेकर। तथा सभी प्रणालियों की परिभाषा इन्हीं संप्रत्ययों के संदर्भ में देने का प्रयास किया। T– तंत्र में कल्पनीयता संबंध पुनरावर्ती (reflexive), S_4-तंत्र में कल्पनीयता संबंध संचारी (transitive) एवं पुनरावर्ती, S_5 तंत्र में कल्पनीयता पुनरावर्ती, संचारी एवं समयित (symmetric) माना गया है। इन तीनों संप्रत्ययों की स्पष्ट परिभाषा देने के बाद वैधता के संप्रत्यय की परिभाषा दी जाती है जो कि अर्थ मीमांसीय है। इस पद्धति में हमारे मूल दार्शनिक विचार कि 'जो कुछ अनिवार्य है वह न केवल वास्तविक जगत् में अनिवार्यतः सत्य है बल्कि सभी संभव जगत् में भी अनिवार्यतः सत्य होना चाहिये' को स्थान देने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेष्टा गयी है। और यह विचार S_5 में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। किंतु जैसा कि हिन्तिका अपने लेख 'The Modes of Modality' में बताते है कि S_5 प्रामाणिक तार्किक सत्यों का प्रारूप निर्माण नहीं हो सकता[५]। जबकि निकोलस रेशर अपने लेख "A Probabilistic Approach to Moal Logic" में यह दिखाने की चेष्टा करते है कि S_5 सबसे अधिक उपयुक्त प्रणाली है[६]। W_2 से हम W_1 जगत् की तभी कल्पना कर सकते हैं जब हम W_1 में है। अतः हम जिस जगत से किसी अन्य जगत् की कल्पना कर रहे हैं उस जगत्-विशेष की कुछ सीमायें हो सकती हैं। अतः W_2, W_1 से अलग हो सकता है। यदि W_2 में कोई पूछे कि p संभव है अथवा नहीं तो हमें सोचना होगा कि W_2 से ऐसा कोई जगत् संभव है अथवा नहीं जिसमें p सत्य हो। इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि W_1 में p अनिवार्य है अथवा नहीं तो हमें देखना होगा कि W_1 से जितने भी कल्पनीय जगत् हैं उनमें p सत्य होगा अथवा नहीं। किंतु यदि W_2 से कोई भी जगत् कल्पनीय नहीं है तो हमें यह ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः यह एक तरीका है जिसके द्वारा हम संभव तथा अनिवार्य संप्रत्ययों की व्याख्या कर सकते हैं एवं कल्पनीयता संबंध को विभिन्न प्रकार से परिभाषित करके विभिन्न प्रणालियां प्राप्त सकते हैं।

यहां प्रश्न उठता है कि कौन सी प्रणाली सही है अथवा हम कौनसी प्रणाली को अपनायें वह चाहे अर्थमीमांसीय हो अथवा निगमनात्मक ? इस प्रश्न के उत्तर में एक पूर्वमान्यता निश्चित है वह यह कि हम मान कर चल रहे हैं कि 'अनिवार्य' तथा 'संभव' इन प्रत्ययों का एक मात्र अर्थ है तथा वे प्रणालियाँ जो इन विशेष अर्थ को लेकर नहीं चलती सही नहीं है। किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुतः सभी प्रणालियाँ अपने अपने तरीके से अनिवार्य तथा संभव संप्रत्ययों का विश्लेषण करती हैं किंतु साथ ही मात्र अर्थमीमांसीय प्रारूप देने के ही हम संभाव्य तथा अनिवार्य संप्रत्ययों के लक्षण नहीं दे सकते। उसके लिये बहुत से दार्शनिक कार्य की आवश्यकता है। किंतु यह सही है कि ये प्रारूप बहुत हद तक हमारी सहायता करते हैं। अतः विभिन्न प्रणालियों का निर्माण हमें बताता है कि संभव तथा अनिवार्यता संप्रत्यय इतने सरल नहीं हैं जिन्हें आसानी से एक मात्र रूप से परिभाषित किया जा सके। बल्कि ये इतने जटिल संप्रत्यय हैं जिन्हें हम विभिन्न प्रकार से परिभाषित कर सकते है जो कि अन्यथा हो सकता है स्पष्ट न हो। कारनाप (Carnap, 1946) कैङ्गर (Kanger, 1957) हिन्तिका (Hintikka), इ. डब्लू बैथ (E. W. Beth), ज़ैमन (Zeman) आदि सभी का प्रयास अर्थमीमांसीय पद्धति की ओर है।

अनिवार्यता-संप्रत्यय का स्पष्टतः क्या अर्थ है इसके उत्तर में शायद 'डी रे' एवं 'डी डिक्टो' भेद की चर्चा करना अनुचित न होना। जैसा हम पहले भी देख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुके हैं कि अरस्तु स्वयं $\Box$ (x) (Bx $\supset$ Ax) तथा (x) (Bx $\supset$ $\Box$ Ax) के भेद के विषय में स्पष्ट नहीं थे। समस्या यह है कि प्रकारता-संप्रत्यय किसका लक्षण है। वह जो किसी वस्तु के बारे में कहा गया है अथवा वह वस्तु जिसके बारे में कहा जा रहा है। एक में हम कहे विचार के लिये प्रकारता का प्रयोग कर रहे हैं तथा दूसरे में हम उस वस्तु के लिये प्रकारता संप्रत्यय का प्रयोग कर रहे हैं। प्रथम प्रयोग को हम 'डी डिक्टो' तथा द्वितीय को हम 'डी रे' प्रकारता कहते हैं। इस भेद का आधार यह मान्यता है कि प्रकारता का प्रयोग या तो किसी वस्तु के एक भाग के लिये किया जा सकता है अथवा पूर्ण वस्तु के लिये। तथा दूसरी पूर्वमान्यता है कि जब हम प्रकारता का प्रयोग पूर्ण वस्तु के लिये करते हैं तब भी प्रतिज्ञप्ति के लिये ही प्रयोग करते हैं अर्थात् वह सब कुछ जो कहा जा रहा है। उदाहरणतः यह संभव है कि 'क ख है' तथा 'क संभवतः ख है' में यह भेद स्पष्ट है। प्रथम में हम संभाव्यता के गुण पर विशेष जोर देना चाहते हैं न कि 'क ख है' की सत्यता पर। अतः यह भेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, यदि हम इस भेद को ध्यान में न रखें तो बहुत से हेत्वाभासी विरोधाभासों (fallacious Paradox) में पड़ जाएँगे जैसे 'यदि 'ग्रहों की संख्या अनिवार्यतः 11 से कम है' अनिवार्य सत्य है' सत्य है' जो कि नहीं है। वस्तुतः दोनों प्रकार के प्रकारता-संप्रत्ययों के प्रयोग में हम प्रतिज्ञप्ति के लिये प्रकारता-संप्रत्यय का प्रयोग नहीं कर रहे हैं बल्कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता पर प्रकारता-संप्रत्यय का प्रयोग कर रहे हैं। अतः इस अर्थ में 'डि डिक्टो' के रूप में प्रकारता का प्रयोग है ही नहीं। दूसरी समस्या 'डी डिक्टो' प्रयोग को स्वीकार करने में यह है कि यह प्रकारता-संप्रत्यय को व्यक्तिगत (subjective) बना देता है क्यों कि इस अर्थ में प्रकारता विचार का लक्षण है। (विचार अनिवार्य संभव या असंभव है) न कि वह जो सोचा जा सकता है। यही कारण है कि फ्रेग तर्कशास्त्र में प्रकारता-भेद को अस्वीकार करते हैं।

प्रकारता का विस्तृत रूप हमें ज्ञानात्मक प्रकारता (Epistemic Modalities) क का ज्ञान है, क में विश्वास है, काल प्रकारता (Tense Modalities) ऐसा था कि क, ऐसा होगा कि क, विधि प्रकारता (Deontic Modalities) क कर्तव्य है, क निषिद्ध है आदि में मिलता है। इन सभी प्रकारताओं को लेकर विभिन्न तार्किक प्रणलियों का निर्माण किया गया है। इसके पीछे यह मान्यता निहित है कि ये सभी प्रकारताओं में तथा 'संभव' 'अनिवार्य' (Alethic Modalities) में एक समानता निहित है जिसको ध्यान में रखते हुये हम इन सभी की व्याख्या एक विशिष्ट प्रकार से कर सकते हैं। Alethic प्रकारता के तर्क को प्रकारता-तर्क, ज्ञानात्मक प्रकारता को ज्ञानात्मक तर्क, काल-प्रकारता को कालतर्क, विधि प्रकारता को विधितर्क के नाम से जाना जाता है। संक्षेप में हम इन पर विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे। जिस प्रकार हमने देखा कि अनिवार्य तथा संभव का भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करने को भिन्न-भिन्न तंत्रों का निर्माण किया गया है उसी प्रकार औचित्य, अनौचित्य आदि भी तंत्र-सापेक्ष है। यदि हम विधि की बात कर रहे हैं तो वहां एक कर्म को निषिद्ध कहना तथा किसी कर्म को कर्तव्य कहना विधि-तंत्र-सापेक्ष होगा तथा धर्म (duty) तंत्र सापेक्ष हो सकता है। एक कर्म जो निषिद्ध है किसी तंत्र में वह भी इसी तंत्र में हो सकता है किसी अन्य संदर्भ में निषिद्ध न हो। जैसे जान से मारना निषिद्ध कर्म है किंतु अपनी रक्षा के लिये मारना निषिद्ध नहीं है। यहाँ वास्तविक जगत् में भी भेद है जैसे मानव-निर्मित नियम तथा विज्ञान-संबंधी नियम में। मानव-निर्मित नियमों का पालन मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। ये सभी तंत्र-सापेक्ष हैं। यहाँ भी गम्यता संप्रत्यय की परिभाषा विधि-प्रकारता संप्रत्ययों के संदर्भ में दी गयी है। जैसे जो कर्तव्य है वह निषिद्ध नहीं हो सकता ($Op \supset \sim Fp$) जो निषिद्ध है वह कर्तव्य नहीं हो सकता ($Fp \supset \sim Op$) जो करना निषिद्ध नहीं है वह कर सकते हैं ($\neg Fp \supset Pp$) आदि। इन्ही संप्रत्ययों को लेकर भी निगमनात्मक अथवा अर्थमीमांसीय रूप में प्रारूप निर्माण किये गये हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमने प्रकारता-संप्रत्ययों के संदर्भ में देखा। इस संदर्भ में मैली (E. Mally) मेङ्गर (Karl Menger) मैकिन्जी (J. C. C. Makinsey), ग्रेलिंग (Kurt Grelling) वान राइट (von Wright) हिन्तिका आदि के तंत्र विख्यात हैं। प्रायः सभी तंत्रों में कुछ न कुछ कमियां हैं जिनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ मात्र यही कहना पर्याप्त होगा कि ये कमियाँ भी विभिन्न विधि-प्रकारता-प्रत्ययों को भिन्न-भिन्न अर्थ देने के कारण ही हैं। साथ ही विधि-प्रकारता-संप्रत्ययों के बारे में भी हम बहुत स्पष्ट नहीं जिनके कारण विभिन्न विरोधाभास (paradoxes) प्रायः सभी तंत्रों में विद्यमान हैं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सभी प्रयास निष्फल हैं। ये सभी प्रारूप हमें मूलभूत समस्या पर विचार करने को बाध्य करते हैं कि 'संभव' तथा 'अनिवार्य' का स्वाभाविक स्वरूप क्या है? एक उत्तर है जो हिन्तिका द्वारा दिया गया है कि हमें एक मात्र स्वरूप को नहीं खोजना चाहिये प्रत्येक प्रारूप हमें एक विशिष्ट स्वरूप को बताता है। अतः सभी प्रारूप मिलकर हमें इन प्रकारता-संप्रत्ययों के स्वरूप को बताते हैं। दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि प्रकारता संप्रत्यय का संतोष जनक स्वरूप अवश्य होना चाहिये और हम निरंतर उसकी खोज में रत हैं।

– आशा मुकर्जी

दर्शन विभाग
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. हिन्तिका याको, "अरिस्टॉटल्स, डिफरैन्ट पैसिबिलिटीज", **टाइम एण्ड नैसेसिटी, स्टडीज इन अरिस्टॉटल्स थ्योरी ऑफ मोडेलिटी**, क्लैरेन्डन प्रेस, 1975 pp. 27-40.

२. युकासिविच यां, **अरिस्टॉटल्स सिलोजिस्टिक फ्रेम दी स्टैण्ड पाइण्ट ऑफ मोडर्न फारमल लॉजिक**, क्लैरेन्डन प्रेस 1957.

३. दुगुन्जी जे. "नोट ऑन ए प्रोपरटी ऑफ मैटरिक्स फार लुइस एन्ड लैंग-फोर्डस केलकुलाइ ऑफ प्रपोजीशन" **द जरनल ऑफ सिम्बोलिक लॉजिक** अंक 5, 1940, pp 150-151.

४. मैकिन्ज़ी, जे. सी. सी. "ए सोल्यूशन ऑफ द डिसीजन प्रोबलम फॉर दी लुइस सिस्टम S_2 एन्ड S_4 विथ एन् एप्लीकेशन टू टोपोलॉजी", **द जरनल ऑफ सिम्बोलिक लॉजिक** अंक 6, 1941, pp 117-34.

५. हिन्तिका, याको, **दी मोड्स ऑफ मोडेलिटी**, प्रोसीडिंग्स, ऑफ ए कोलोक्वियअम ऑन मोडल एण्ड मैनी-वैल्यूड लॉजिक, **एक्टा फिलोसिफिका फैनिका** अंक 14, 1963, pp 65-83.

६ रेशर निकोलस, "ए प्रोबेबिलिस्टिक एप्रोच टू मोडल लॉजिक", प्रोसीडिङ्गस ऑफ ए कोलोक्वियअम ऑन मोडल एन्ड मैनी-वैल्यूड लॉजिक" **एक्टा फिलोसिफिका फैनिका**, अंक 14, 1963, pp 215-27.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान और कथन की सत्यता का प्रश्न : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में भाषा-विश्लेषण का दर्शन की एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकास हुआ और आज वह एक सबसे प्रभावशाली दार्शनिक संप्रदाय के रूप में अपना अस्तित्व रखता है। प्रस्तुत शोधनिबंध का उद्देश्य मात्र यह दिखाना है कि पाश्चात्य दर्शन की ये विधाएँ एवं समस्याएँ जेन दर्शन में सहस्राधिक वर्ष पूर्व किस रूप में चर्चित रही हैं और उनकी समकालीन पाश्चात्य दर्शन से किस सीमा तक निकटता है।

ज्ञान की सत्यता का प्रश्न

सामान्यतया ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का अर्थ ज्ञान की ज्ञेय विषय के साथ अनुरूपता या संवादिता से है। यद्यपि, ज्ञान की सत्यता के संबंध में एक दूसरा दृष्टिकोण स्वयं ज्ञान का संगतिपूर्ण होना भी है, क्यों कि जो ज्ञान आंतरिक विरोध से युक्त है, वह भी असत्य माना गया है। जैन दर्शन में वस्तु स्वरूप को अपने यथार्थ रूप में अर्थात् जैसा वह है उस रूप में जानना अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय (प्रमेय) से अव्यभिचारी होना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है। यहाँ यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान की प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय कैसे होता है? क्या ज्ञान स्वयं ही अपनी सत्यता का बोध करा देता है या उसके लिये किसी अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर ज्ञान) की अपेक्षा होती है? अथवा ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए ज्ञान और ज्ञेय की संवादिता (अनुरूपता) को देखना होता है? पाश्चात्य परंपरा में ज्ञान की सत्यता के प्रश्न को लेकर तीन प्रकार की अवधारणाएँ है-(१) संवादिता सिद्धान्त (२) संगति सिद्धान्त और (३) उपयोगितावादी (अर्थक्रियाकारी) सिद्धान्त। भारतीय दर्शन में यह संवादिता का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद के रूप में और संगति-सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्यवाद के रूप में स्वीकृत है। अर्थक्रियाकारी-सिद्धान्त को परतः प्रामाण्यवाद की ही एक विशेष विधा कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। जैन दर्शनिकों ने इस संबंध में किसी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को न अपनाकर यह माना कि ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। यद्यपि, जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति का आधार (कसौटी) ज्ञान स्वयं न होकर ज्ञेय है। **प्रमाणनय तत्त्वालोक** में वादिदेव सूरि ने कहा है कि "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव" अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि ज्ञान की प्रामाण्यता और अप्रामाण्यता का आधार ज्ञान न होकर ज्ञेय है और ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। तथापि अभ्यास-दशा में ज्ञान की सत्यता का निश्चय अर्थात् ज्ञप्ति तो स्वतः अर्थात् स्वयं ज्ञान के द्वारा ही हो जाती है। यद्यपि वादिदेव सूरी के द्वारा ज्ञान की सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) को एकान्ततः परतः मान लेना समुचित प्रतीत नहीं होता है। गणितीय ज्ञान और परिभाषाओं के संदर्भ में सत्यता की कसौटी ज्ञान की आन्तरिक संगति ही होती है। वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, स्वतः प्रमाण है। इसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही दृष्टि से स्वतः ही प्रमाण है। जब हम यह मान लेते हैं कि सर्वज्ञ अपने को ही जानता है, तो हमें उसके ज्ञान के संदर्भ में उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को स्वतः मानना होगा। क्योंकि ज्ञान कथंचित् रूप से ज्ञेय से अभिन्न भी होता है जैसे स्वसंवेदन।

वस्तुगत ज्ञान में भी सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों को स्वतः और परतः दोनों माना जा सकता है। जब कोई यह संदेश कहे कि "आज अमुक प्रसूतिगृह में एक वन्ध्या ने पुत्र का प्रसव किया" तो हम इस ज्ञान के मिथ्यात्व के निर्णय के लिए किसी बाहरी कसौटी का आधार न लेकर इसकी आन्तरिक असंगति के आधार पर ही इसके मिथ्यापन को जान लेते हैं। इसी प्रकार "त्रिभुज तीन भुजाओं से युक्त आकृति है" इस ज्ञान की सत्यता इसकी आन्तरिक संगति पर ही निर्भर करती है। अतः ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति (कसौटी) और ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही ज्ञान के स्वरूप या प्रकृति के आधार पर स्वतः अथवा परतः और दोनों प्रकार से हो सकती है।

सकल ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और आत्मगत ज्ञान में ज्ञान की प्रामाण्यता का निश्चय स्वतः होगा, जबकि विकल ज्ञान, अपूर्ण (आंशिक) ज्ञान या नयज्ञान और वस्तुगत ज्ञान में उसका निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाले ज्ञान में उसके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रापाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से संभव है। पुनः सापेक्ष ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सत्यता का निश्चय परतः और स्वतः दोनों प्रकार से और निरपेक्ष ज्ञान में स्वतः होगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही स्वतः और परतः दोनों रूपों में हो सकती है। अतः वादिदेवसूरि का यह कथन सामान्य व्यक्ति के ज्ञान को लेकर ही है, सर्वज्ञ के ज्ञान के संबंध में नहीं है। सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन पूर्व-अनुभव दशा में स्वतः और पूर्व-अनुभव के अभाव में परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है, यद्यपि पूर्व-अनुभव भी ज्ञान का ही रूप है। अतः उसे भी अपेक्षा-विशेष से परतः कहा जा सकता है। जहाँ तक की ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है स्वानुभव को छोड़कर वह परतः ही होती है क्योंकि ज्ञेय अर्थात् "पर" पर निर्भर है। अतः ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति या कसौटी को परतः ही माना गया है। जहाँ तक कथन की सत्यता का प्रश्न है वह ज्ञान की सत्यता से भिन्न है।

कथन की सत्यता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि मानव अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। भाषा शब्द-प्रतीकों और सार्थक ध्वनि-संकेतों का एक सुव्यवस्थित रूप है। वस्तुतः हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए शब्द-प्रतीक बना लिए है। इन्हीं शब्द प्रतीकों एवं ध्वनि संकेतों के माध्यम से हम अपने विचारों, अनुभूतियों और भावनाओं का संप्रेषण करते हैं।

यहाँ मूल प्रश्न है कि हमारी इस भाषायी अभिव्यक्ति को हम किस सीमा तक सत्यता को आनुषंगिक मान सकते हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भाषा और उसकी सत्यता के प्रश्न को लेकर एक पूरा दार्शनिक सम्प्रदाय ही बन गया है। भाषा और सत्य का सम्बन्ध आज के युग का एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है। किसी कथन की सत्यता या असत्यता को निर्धारित करने का आधार आज सत्यापन का सिद्धान्त है। समकालीन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जिन कथनों का सत्यापन या मिथ्यापन संभव है वे ही कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं। शेष कथनों का सत्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ए. जे. एयर ने अपनी पुस्तक **लेंग्वेज, ट्रूथ ऐंड लॉजिक** में इस समस्या को उठाया है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले हमें इस बात का विचार कर लेना होगा कि कथन के सत्यापन से हमारा क्या तात्पर्य है। कोई भी कथन जब इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या अपुष्ट-किया जा सकता है तब ही वह सत्यापनीय कहलाता है। जिन कथनों को हम इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या खण्डित नहीं कर सकते, वे असत्यापनीय होते हैं। किन्तु इन दोनों प्रकार के कथनों के बीच कुछ ऐसे भी कथन होते हैं जो न सत्यापनीय होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और असत्यापनीय । उदाहरण के लिए मंगल ग्रह में जीव के पाये जाने की संभावना है । यद्यपि यह कथन वर्तमान में सत्यापनीय नहीं है, किन्तु यह संभव है कि इसे भविष्य में पुष्ट या खण्डित किया जा सकता है । अतः वर्तमान में यह न तो सत्यापनीय है और न तो असत्यापनीय । किन्तु, संभावना की दृष्टि से इसे सत्यापनीय माना जा सकता है । भगवती आराधना में सत्य का एक रूप संभावना-सत्य माना गया है ।

वस्तुतः कौन-सा कथन सत्य है इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि उसका सत्यापन या मिथ्यापन सम्भव है या नहीं है । वस्तुतः जिसे हम सत्यापन या मिथ्यापन कहते हैं वह भी उस अभिकथन और उसमें वर्णित तथ्य की संवादिता या अनुरूपता पर निर्भर करता है, जिसे जैन परम्परा में परतः प्रामाण्य कहा जाता है । सामान्यतया यह माना जाता है कि कोई भी कथन कथित तथ्य का संवादी (अनुरूप) होगा तो वह सत्य होगा और विसंवादी (विपरीत) होगा तो वह असत्य होगा । यद्यपि, यह भी स्पष्ट है कि कोई भी कथन किसी तथ्य की समग्र अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है । जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से यह माना था कि प्रत्येक कथन वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में हमें आंशिक जानकारी ही प्रस्तुत करता है । अतः प्रतीक कथन वस्तु के सन्दर्भ में आंशिक सत्य का ही प्रतिपादक होगा । यहाँ भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता को भी हमें ध्यान में रखना होगा । साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भाषा भाषा-तथ्य नहीं । वह तथ्य की संकेतक मात्र है । उसकी इस सांकेतिकता के सन्दर्भ में ही उसकी सत्यता या असत्यता का विचार किया जा सकता है । जो भाषा अपने कथ्य को जितना अधिक स्पष्ट रूप से संकेतित कर सकती है वह उतनी ही अधिक सत्य के निकट पहुँचती है । भाषा की सत्यता और असत्यता उसकी संकेत-शक्ति के साथ जुड़ी हुई है । शब्द अर्थ (वस्तु या तथ्य) के संकेतक हैं । वे उसके हू-ब-हू (यथार्थ) प्रतिबिम्ब नहीं है । शब्द में मात्र यह सामर्थ्य रही हुई है कि वे श्रोता के मनस्-वस्तु का मानस-प्रतिबिम्ब (Idea) उपस्थित कर देते हैं । अतः शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब तथ्य का संवादी है, उससे अनुरूपता रखता है तो वह कथन सत्य माना जाता है । यद्यपि, यहाँ भी अनुरूपता वर्तमान मानस-प्रतिबिम्ब और पूर्ववर्ती या परवर्ती मानस-प्रतिबिम्ब में ही होती है, जब किसी मानस-प्रतिबिम्ब का सत्यापन परवर्ती मानस-प्रतिबिम्ब अर्थात् ज्ञानान्तर-ज्ञान से होता है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है और जब उसका सत्यापन पूर्ववर्ती मानस-प्रतिबिम्ब से होता है तो स्वतः प्रामाण्य कहा जाता है; क्योंकि अनुरूपता या विपरीतता मानस-प्रतिबिम्बों में ही हो सकती है । यद्यपि दोनों ही प्रकार के मानस-प्रतिबिम्बों का आधार या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी उत्पत्ति ज्ञेय (प्रमेय) से होती है। यही कारण था कि वादिदेव सूरि ने प्रामाण्य (सत्यता) और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति को परतः माना था। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः कहने का तात्पर्य यही है कि इन मानस-प्रतिबिम्बों का उत्पादक तत्त्व इनसे भिन्न है। कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि कथन के सत्यापन या सत्यता के निश्चय में शब्द द्वारा उत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब में तुलना होती है। यद्यपि एकान्त वस्तुवादी दृष्टिकोण यह मानेगा कि ज्ञान और कथन की सत्यता का निर्धारण मानस-प्रतिबिम्ब की तथ्य या वस्तु से अनुरूपता के आधार पर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अनुरूपता भी वस्तुतः मानस-प्रीतिबिम्ब और वस्तु के बीच न होकर शब्द निर्मित मानस-प्रतिबिम्ब और परवर्ती इन्द्रिय-अनुभव के द्वारा उत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब के बीच होती है। यह तुलना दो मानसिक प्रतिविम्बों के बीच है न कि तथ्य और कथन के बीच। तथ्य और कथन दो भिन्न स्थितियाँ है। उनमें कोई तुलना या सत्यापन संभव नहीं है। शब्द वस्तु के समग्र प्रतिनिधि नहीं, संकेतक हैं और उनकी यह संकेत-सामर्थ्य भी वस्तुतः उनके भाषायी प्रयोग (convention) पर निर्भर करती है। हम वस्तु को कोई नाम देते हैं और प्रयोग के द्वारा उस "नाम" में एक ऐसी सामर्थ्य विकसित हो जाती है कि उस "नाम" के श्रवण या पठन से हमारे मानस में एक प्रतिबिम्ब खड़ा हो जाता है। यदि उस शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न वह प्रतिबिम्ब हमारे परवर्ती इन्द्रियानुभव से अनुरूपता रखता है तो हम उस कथन को "सत्य" कहते हैं। भाषा में अर्थ-बोध की सामर्थ्य प्रयोगों-के आधार पर विकसित होती है। वस्तुतः कोई शब्द या कथन अपने आप में न तो सत्य होता है और न असत्य। 'This is a table' यह कथन अंग्रेजी भाषा के जानकार के लिए सत्य या असत्य हो सकता है, किन्तु एकमेव हिन्दी भाषी के जानकार के लिए वह न तो सत्य है और न असत्य। कथन की सत्यता और असत्यता तभी संभव होती है, जबकि श्रोता को कोई अर्थ-बोध (वस्तु का मानस-प्रतिबिम्ब) होता है। अतः पुनरुक्तियों एवं परिभाषाओं को छोडकर कोई भी भाषायी कथन निरपेक्ष रूप से न तो सत्य होता है, और न असत्य। किसी भी कथन की सत्यता या असत्यता किसी संदर्भ-विशेष में ही संभव होती है।

जैन दर्शन में कथन की सत्यता का प्रश्न

जैन दार्शनिकों ने भाषा की सत्यता और असत्यता के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। **प्रज्ञापनासूत्र (पन्नवना)** में सर्वप्रथम भाषा को पर्याप्त भाषा और अपर्याप्त भाषा से दो भागों में विभाजित किया गया है : पर्याप्त भाषा वह है जिसमें अपने विषय का पूर्णतः निर्वाचन करने की सामर्थ्य है और अपर्याप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा वह है जिसमें अपने विषय का पूर्णतः निर्वाचन की सामर्थ्य नहीं है। अंशतः सापेक्ष एवं अपूर्ण कथन अपर्याप्त भाषा का लक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से पाश्चात्य परंपरा की गणितीय भाषा टॉटोलाजी एवं परिभाषाएँ पर्याप्त या पूर्ण भाषा के समतुल्य मानी जा सकती हैं जबकि शेष भाषा-व्यवहार अपर्याप्त या अपूर्ण भाषा की ही सूचक है। सर्वप्रथम उन्होंने पर्याप्त भाषा की सत्य और असत्य ऐसी दो कोटियाँ स्थापित की। उनके अनुसार अपर्याप्त भाषा की भी दो कोटियाँ होती है। (१) सत्य मृषा (मिश्र) और (४) असत्य – अमृषा।

सत्य भाषा : वे कथन जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं सत्य कहलाते हैं। कथन और तथ्य की संवादिता या अनुरूपता ही सत्य की मूलभूत कसौटी है। जैन दार्शनिकों ने पाश्चात्य अनुभववादियों के समान ही यह स्वीकार किया है कि जो कथन तथ्य का जितना अधिक संवादी होगा वह उतना ही अधिक सत्य माना जायेगा। यद्यपि जैन दार्शनिक कथन की सत्यता को उसकी वस्तुगत सत्यापनीयता तक ही सीमित नहीं करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आनुभविक सत्यापनीयता के अतिरिक्त भी कथनों में सत्यता हो सकती है। जो कथन ऐन्द्रिक अनुभवों पर निर्भर न होकर अपरोक्षानुभूति के विषय होते हैं उनकी सत्यता का निश्चय तो अपरोक्षानुभूति के विषय ही करते हैं। अपरोक्षानुभव के ऐसे अनेक स्तर हैं, जिनकी तथ्यात्मक संगति खोज पाना कठिन है। जैन दार्शनिकों ने सत्य को अनेक रूपों में देखा है। **स्थानांग, प्रश्न व्याकरण प्रज्ञापना** और **भगवती आराधना** में सत्य के दस भेद बताये गये हैं :– १. जनपद-सत्य, २. संमत-सत्य ३. स्थापना-सत्य, ४. नाम-सत्य, ५. रूप-सत्य. ६. प्रतीति-सत्य, ७. व्यवहार-सत्य, ८. भाव-सत्य, ९. योग-सत्य, १० उपमासत्य। अकलंक ने संमत-सत्य, भाव-सत्य और उपमा-सत्य के स्थान पर संयोजना-सत्य, देश-सत्य, और काल-सत्य का उल्लेख किया है। **भगवती आराधना** में योग्य-सत्य के स्थान पर संभावना-सत्य का उल्लेख हुआ है।

१. जनपद सत्य– जिस देश में जो भाषा या शब्द-व्यवहार प्रचलित हो, उसीके द्वारा वस्तु-तत्त्व का संकेत करना जनपद-सत्य है। एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जावेगा। बाईजी शब्द मालवे में माता के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि उत्तर प्रदेश में वेश्या के लिए। अतः बाईजी से माता का अर्थबोध मालवे के व्यक्ति के लिए सत्य होगा, किन्तु उत्तर प्रदेश के व्यक्ति के लिए असत्य।

२. संमत-सत्य–वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना संमत-सत्य है। जैसे– राजा, नृप, भूपति आदि। यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ये अलग-अलग अर्थों के सूचक हैं। जनपद-सत्य एवं संमत-सत्य प्रयोग (convention) से अवधारित अर्थबोध के सूचक हैं।

स्थापना सत्य– शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को राजा वजीर आदि नामों से संबोधित करना स्थापना सत्य है। यह संकेतीकरण का सूचक है।

४. नाम-सत्य– गुण-निरपेक्ष मात्र दिये गये नाम के आधार पर वस्तु का संबोधन करना यह नाम-सत्य है। एक गरीब व्यक्ति भी नाम से "लक्ष्मीपति" कहा जा सकता है, उसे इस नाम से पुकारना सत्य है। यहाँ भी अर्थबोध संकेतीकरण के द्वारा ही होता है।

५. रूप-सत्य– वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूप-सत्य है, चाहे वस्तुतः वह वैसा न हो जैसे– नाटक में राम का अभिनय करने वाले व्यक्ति को "राम" कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना।

६. प्रतीत्य-सत्य– सापेक्षिक कथन अथवा प्रतीति को सत्य मानकर चलना प्रतीत्य-सत्य है। जैसे अनामिका बड़ी है मोहन छोटा है आदि। इसी प्रकार आधुनिक खगोल-विज्ञान की दृष्टि से "पृथ्वी स्थिर है" यह कथन भी प्रतीत्य सत्य है वस्तुतः सत्य नहीं।

७. व्यवहार सत्य– व्यवहार में प्रचलित भाषायी प्रयोग व्यवहार सत्य कहे जाते हैं यद्यपि वस्तुतः वे असत्य होते हैं। घड़ा झरता है, बनारस आ गया, यह सड़क बंबई जाती है। वस्तुतः घड़ा नहीं पानी झरता है, बनारस नहीं आता हम बनारस पहुचते हैं। सड़क स्थिर है वह नहीं जाती है, उस पर चलने वाला जाता है।

८. भाव सत्य– किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव-सत्य है। जैसे अंगूर मीठे हैं यद्यपि उनमें खट्टापन भी रहा हुआ है।

९. योग-सत्य– वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग सत्य है। जैसे दण्ड धारण करने वाले को दण्डी कहना या जिस घडे में घी रखा जाता है उसे घी का घड़ा कहना।

१०. उपमा-सत्य– यद्यपि चंद्रमा और मुख दो भिन्न तथ्य हैं और उनमें समानता भी नहीं है फिर भी उपमा में ऐसे प्रयोग होते हैं। जैसे चंद्रमुखी, मृगनयनी आदि। भाषा में इन्हें सत्य माना जाता है।

वस्तुतः सत्य के इन दस रूपों का संबंध तथ्यगत सत्यता के स्थान पर भाषागत सत्यता से है। कथन-व्यवहार में इन्हें सत्य माना जाता है। यद्यपि कथन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सत्यता मूलतः तो उसकी तथ्य से संवादिता पर निर्भर करती है। अतः ये सभी केवल व्यावहारिक सत्यता के सूचक हैं, वास्तविक सत्यता के नहीं।

असत्य

जैन दार्शनिकों ने सत्य के साथ-साथ असत्य के स्वरूप पर भी विचार किया है। असत्य का अर्थ है कथन का तथ्य से विसंवादी होना या विपरीत होना। **प्रश्न व्याकरण** में असत्य की काफी विस्तार से चर्चा है। उसमें असत्य के ३० पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ की चर्चा तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

अलीक = जिसका अस्तित्व नहीं है उसको अस्ति-रूप कहना अलीक वचन है। आचार्य अमृतचंद्र ने **पुरुषार्थ-सिद्धचुपाय** में इसे असत्य कहा है।

अवलोप = सद्वस्तु को नास्ति रूप कहना अवलोप है।

विपरीत = वस्तु के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करना विपरीत कथन है।

एकान्त= ऐसा कथन, जो तथ्य के सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ अन्य पक्षों या पहलुओं का अपवाय करता है, वह भी असत्य माना गया है। इसे दुर्नय या मिथ्यात्व कहा है।

इनके अतिरिक्त हिंसाकारी वचन, कटु-वचन, विश्वासघात, दोषारोपण आदि भी असत्य के ही रूप हैं। **प्रज्ञापना** में क्रोध, लोभ आदि के कारण निःसृत वचन को तथ्य संवादी होने पर भी असत्य माना गया है।

सत्य-मृषा कथन

वे कथन जिनका अर्थ उभय कोटिक हो सकता है, सत्य-मृषा कथन हैं। "अश्वत्थामा मारा गया" यह महाभारत का प्रसिद्ध कथन सत्य-मृषा भाषा का उदाहरण है। वक्ता और श्रोता इसके भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अतः जो कथन दोहरा अर्थ रखते हैं वे मृषा-भाषा का उदाहरण हैं।

असत्य-अमृषा कथन

लोक-प्रकाश के तृतीय सर्ग के योगाधिकार में बारह (१२) प्रकार के कथनों को असत्य-अमृषा कहा गया है।[3] वस्तुतः वे कथन जिन्हें सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता असत्य-अमृषा कहे जाते हैं। जो कथन किसी विधेय का विधान या निषेध नहीं करते उनका सत्यापन सम्भव नहीं होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जैन आचार्यों ने ऐसे कथनों को असत्य-अमृषा कहा है जैसे आदेशात्मक कथन। निम्न १२ प्रकार के कथनों को असत्य-अमृषा कहा गया है।

१. आमन्त्रणी

"आप हमारे यहाँ पधारें", "आप हमारे विवाहोत्सव में सम्मिलित होवें"– इस प्रकार आमन्त्रण देने वाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी कही जाती है। ऐसे कथन सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए ये सत्य या असत्य की कोटि से परे होते हैं।

२. आज्ञापनीय

"दरवाजा बन्द कर दो", "बिजली जला दो", आदि आज्ञा-वाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते। ए. जे. एयर प्रभृति आधुनिक तार्किकभाववादी विचारक भी आदेशात्मक भाषा को सत्यापनीय नहीं मानते हैं, इतना ही नहीं, उन्होंने समग्र नैतिक कथनों के भाषायी विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया है कि वे विधि या निषेध रूप में आज्ञा-सूचक या भावना-सूचक ही हैं, इसलिए वे न तो सत्य और न तो असत्य हैं।

३. याचनीय

"यह दो" इस प्रकार की याचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य की कोटि से परे होती है।

४. पृच्छनीय

यह रास्ता कहाँ जाता है? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायेंगे? इस प्रकार के कथनों की भाषा पृच्छनीय कही जाती है। चूंकि यह भाषा भी किसी तथ्य का विधि-निषेध नहीं करती है, अतः इसका सत्यापन सम्भव नहीं है।

५. प्रज्ञापनीय–अर्थात् उपदेशात्मक भाषा

जैसे चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए आदि। चूंकि इस प्रकार के कथन भी तथ्यात्मक विवरण न हो करके उपदेशात्मक होते हैं, अतः ये सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते। आधुनिक भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक नैतिक प्रकथनों का अन्तिम विश्लेषण प्रज्ञापनीय भाषा के रूप में ही करते हैं और इसलिए इसे सत्यापनीय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार वे नैतिक प्रकथन जो बाह्य रूप से तो तथ्यात्मक प्रतीत होते हैं, लेकिन वस्तुतः तथ्यात्मक नहीं होते जैसे– चोरी करना बुरा है। उनके अनुसार इस प्रकार के कथनों का अर्थ केवल इतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है कि तुम्हें चोरी नहीं करना चाहिए या चोरी के कार्य को हम पसन्द नहीं करते हैं। यह कितना सुखद आश्चर्य है कि जो बात आज के भाषा-विश्लेषण दार्शनिक प्रस्तुत कर रहे हैं उसे सहस्राधिक वर्ष पूर्व जैन विचारक सूत्र रूप में प्रस्तुत कर चुके हैं। ज्ञापनीय और प्रज्ञापनीय भाषा को असत्य-अमृषा कहकर उन्होंने आधुनिक भाषा-विश्लेषण की ओर संकेत किया है।

६. प्रत्यापनीय

किसी प्रार्थी की माँग को अस्वीकार करना प्रत्यापनीय भाषा है। जैसे तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा नहीं दी जा सकती।

७. इच्छानुकूलिका

किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुकूलिका भाषा है। तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए इस प्रकार के कार्य को मैं पसन्द करता हूँ। मुझे झूठ बोलना पसन्द नहीं है आदि। आधुनिक नीतिशास्त्र का संवेगवादी सिद्धान्त भी नैतिक कथनों को अभिरुचि या पसन्दगी का ही एक रूप बताता है। उसे सत्यापनीय नहीं मानता है।

८. अनभिग्रहीता

ऐसा कथन जिसमें वक्ता अपनी न तो सहमति प्रदान करता है और न असहमति अनभिग्रहीता कहलाता है। जैसे "जो पसन्द हो वह कार्य करो", "जो तुम्हें सुखप्रद हो वैसा करो" आदि। ऐसे कथन भी सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए इन्हें भी असत्य-अमृषा कहा गया है।

९. अभिग्रहीता

किसी दूसरे व्यक्ति के कथन को अनुमोदित करना अभिग्रहीता कथन है। जैसे– हाँ, तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए। ऐसे कथन भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते हैं।

१०. संदेह कारिणी

जो कथन द्वय अर्थक हो या जिनका अर्थ स्पष्ट न हो संदेहात्मक कहे जाते हैं। जैसे सैन्धव अच्छा होता है यहाँ वक्ता का यह तात्पर्य स्पष्ट नहीं है कि सैन्धव से नमक अभिप्रेत है या सिन्धु देश का घोड़ा। अतः ऐसे कथनों को भी न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।

११. व्याकृता

व्याकृता से जैन विचारकों को क्या अभिप्रेत हैं स्पष्ट नहीं होता है। हमारी दृष्टि में व्याकृत का अर्थ परिभाषित करना ऐसा हो सकता है। वे कथन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो किसी तथ्य की परिभाषायें हैं, इस कोटि में आते हैं। आधुनिक भाषावादी विश्लेषक दार्शनिकों की दृष्टि से कहें तो वे पुनरुक्तियाँ हैं। जैन विचारकों ने इन्हें भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा है, क्योंकि इनका कोई अपना विधेय नहीं होता है या ये कोई नवीन कथन नहीं करते हैं।

१२. अव्याकृता

वह भाषा जो स्पष्ट रूप से कोई विधि निषेध नहीं करती है अव्याकृत कही जाती है। जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत। अव्याकृत भाषा भी स्पष्ट रूप से विधि–निषेध को अभिव्यक्त नहीं करती है। इसलिए वह भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आती है।

आज समकालीन दार्शनिकों ने भी आमंत्रणी, आज्ञापनीय, याचनीय, प्रच्छनीय और प्रज्ञापनीय आदि कथनों को असत्य–अमृषा (असत्यापनीय) माना है। एयर आदि ने नैतिक प्रकथनों को आज्ञापनीय मानकर उन्हें असत्यापनीय कहा है, जो जैन-दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के साथ संगतिपूर्ण है।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई. टी. आई. रोड, बी. एच. यू.,
वाराणसी–२२१००५

–सागरमल जैन

टिप्पणियाँ

१. ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। तदिरत्त्वप्रामाण्यम्। –**प्रमाण-नयतत्त्वालोक**, १/१५.
२. ज्ञप्तौतु स्वतः परतश्च। १/१९.
३. देखिये– **स्याद्वादमंजरी** (संपा. जगदीशचन्द्र जैन)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौंदर्य-शास्त्र : परिधि और स्थिति

गत दो-तीन दशाब्दियों से सौन्दर्यशास्त्र एक विचित्र-सी विचिकित्सात्मक स्थिति से व्यतीत हो रहा है। एक ओर इसके क्षेत्र का सही-सही सीमांकन न हो पाने और मूल्यों के कोई ठोस और वस्तु-निष्ठ आधार न होने के कारण दर्शन-विदों का भी यह कोप-भाजन ही रहा है और दूसरी ओर साहित्य-समीक्षा के नये नये सिद्धान्त विशेषकर शैली वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सौन्दर्य को भाषिक संयोजना मानने के कारण वह संपूर्ण साहित्य-शास्त्र और साहित्य के सौदर्य-शास्त्र का अपने में अंतर्भाव मानता है।

किन्तु एक तिसरी स्थिती भी है। मार्क्सवादी समीक्षा जहाँ आज से कुछ वर्ष पहले साहित्य के संदर्भ में समाजशास्त्रीय आलोचना की बात करती थी और सौन्दर्य शब्द को वहाँ प्रतिक्रियावाद और बुर्जुआवादी माना जाता था वहीं आज यह समीक्षा सौन्दर्यशास्त्र की बात करती है– साहित्य की समस्याओं का निदान समाजशास्त्र में खोजती है। आज मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र पर ढेरों पुस्तकें मिल जायेंगी; किन्तु उनमें सौन्दर्यशास्त्र का कम और मार्क्सवाद की चर्चा का ही प्राधान्य रहा है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य और सौदर्यशास्त्र का एक पुर्नविवेचन असमीचीन नहीं होगा।

हमारे यहाँ सौंदर्यशास्त्र अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द अपने मूल में ग्रीक शब्द 'एस्थेटिकोज' से अभिनिर्मित है जिसका व्युत्पत्ति-शास्त्रीय अर्थ है– संवेदना अथवा ऐन्द्रियबोध। इस शब्द का उपयोग एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में सर्वप्रथम एलेक्जेण्डर बाउमगार्तेन ने किया था। यह अपने युग का प्रसिद्ध जर्मन कलाशास्त्री था और प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक वुल्फ का शिष्य था। उसने सन १७५० में 'एस्थेटिका' नामक ग्रन्थ का प्रथम खण्ड लिखा। तब से कला-सिद्धान्तों और साहित्य सिद्धान्तों आदि के वैज्ञानिक विवेचन के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदापि नहीं कि बाउमगार्तेन से ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रारंभ होता है, यह तो अत्यंत प्राचीन शास्त्र है।

सौंदर्यशास्त्र के प्रसिद्ध रचयिता बर्नार्ड बोसा ने सौन्दर्यशास्त्र को दर्शन की एक शाखा माना है।[1] यही नहीं, बाउमगार्तेन ने भी अपने सौंदर्यशास्त्र की रचना-प्रेरणा अपने गुरु फ्रेडरिक वुल्फ से ही ली थी। वास्तव में बाउमगार्तेन ही पहला सौन्दर्यशास्त्री है जिसने सौन्दर्यशास्त्र अथवा कला या साहित्य शास्त्र को दर्शन से अनुस्यूत किया। किंतु आज अनेक सौन्दर्यशास्त्री इसे दर्शन के अन्तर्गत विश्लेषण करने में संकोच का अनुभव करते हैं। प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री स्पॉरशाट लिखते हैं "दर्शन की जो अन्य शाखा प्रशाखाएँ हैं उनके क्षेत्र सुपरिमित और सुविश्लेषित हैं। आचार-विज्ञान को ले लें, उसके विषय, प्रतिपादन-विधि, चिन्तन आदि सुचिन्त्य हैं किन्तु सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में यह सब नहीं कहा जा सकता। इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो इसकी परिधि अपने में प्रमाता की स्वानुभूति को छू रही है तो दूसरी ओर वह बौद्धिक प्रक्रिया जो आस्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करती है"। इसी प्रकार की अनिश्चितता और व्याप्ति के कारण दर्शनविद् सौन्दर्यशास्त्र के प्रति उदासीन से दिखाई देते हैं।

यही नहीं जान मरे लिखते है– "सौन्दर्य (सौन्दर्यशास्त्र) शब्द कोई बहुत सुखदायक अथवा अच्छा शब्द हो ऐसी बात नहीं। इसका अवसर दर्शन में और सामान्य संवाद में भी कोई ठीक-ठाक उपयोग नहीं होता और यह भ्रान्ति ही फैलाता है और अनेक अर्थों में यह व्यक्ति के बौद्धिक स्खलन का ही प्रतीक है"[2]

किन्तु इसके बावजूद जो भी सौन्दर्यशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप देने का अथवा उस पर व्यवस्थित विचार करने का प्रयत्न हुआ है वह दार्शनिकों के ही द्वारा हुआ है। कोई भी सौन्दर्यशास्त्री आज यह दावा नहीं कर सकता है कि विना दर्शन का सहारा लिये हुए वह सौन्दर्यशास्त्र के किसी मौलिक सिद्धांत की अवतारणा कर सकता है। अफलातून की सौन्दर्य संबधी संकलपनाएँ उनके दार्शनिक सिद्धांन्तों से ही अनुप्राणित हैं। उनका जो परम सुंदर विश्व है वह परम नैतिक भी है और यह विश्व उस परम सुन्दर जगत् की अनुकृति। अफलातून ने जिस मौलिक विश्व की कल्पना की है वह परम सुन्दर विश्व उनके बौद्धिक चिन्तन का परिणाम है जो इस जगत् से भी अधिक यथार्थ है। यहाँ एक अन्य प्रश्न खड़ा होता है कि अफलातून ने अपनी जिस परम सुन्दर दुनियाँ की सर्जना की थी क्या वह उनके बौद्धिक चिन्तन का परिणाम है अथवा वह आत्मप्रेरित और आत्मानुभूत्यात्मक है। वह विज्ञानों की सृष्टि करके उस जगत् को इस जगत् और सामान्य व्यक्ति से जोड़ देता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफलातून को उस सौन्दर्य की मानसी साक्षात्कारात्मिकता प्रतीत हुई थी अथवा मात्र वह बौद्धिक निष्कर्ष या अंकों और रेखाओं का अमूर्त जगत्। अफलातून की भांति कबीर का भी एक भिन्न जगत् था भले ही वह इतना बौद्धिक और तर्क-संमत न हो किन्तु अफलातून के परम सुन्दर जगत् से भी उसका जगत् अधिक सुन्दर था। वह कहता है।

हम वासी उस देश के जहाँ बारह मास बसंत।
नीझर झरै अमिय रस भीजत हैं सब संत॥

हम बासी उस देश के जहाँ पर ब्रह्म का खेल।
दीपक जले अगम्य का बिन बाती बिन तेल॥

अफलातून अथवा कबीर की यह सौन्दर्य-चेतना कला और साहित्य सर्जना से उद्भूत है या उन्होंने उस सत्य का साक्षात्कार किया था? क्या उस दिव्य सौन्दर्य के साक्षात्कार के बिना ऐसी मौलिक सर्जना हो सकती है? अतः कलागत सौन्दर्य जहाँ पुनर्रचना का सौन्दर्य होता है जो प्रमाता का आस्वाद्य है वहीं सौन्दर्य को वे दिव्य और प्रामाणिक अनुभूतियाँ कलाकार का स्वयं का आस्वाद्य बनती हैं। वास्तव में उस वस्तु-सौदर्य की कोई सत्ता ही नहीं जो पुनर्रचना का रूप लेकर उस सौंदर्य को और प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं हो। किन्तु इधर पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के अनुकरण स्वरूप हिन्दी में भी सौन्दर्यशास्त्र पर कतिपय ग्रन्थ लिखे जाने लगे हैं। इन ग्रन्थों में डा. नगेन्द्र का **भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की भूमिका** विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के समन्वय करने की दिशा में अच्छा प्रयत्न हुआ है। किन्तु डा. नगेन्द्र सौदर्यशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप देने की धुन में प्रकृतिगत सौन्दर्य को सौन्दर्यशास्त्र की परिधि से बाहर की वस्तु मानते हैं। डा. नगेन्द्र लिखते हैं– "इस सौन्दर्य में पहली प्रतिक्रिया तो यही होती है कि सौन्दर्य की परिधि कला तक ही सीमित नहीं है परन्तु यह निर्णय कर लेने के बाद कि सौन्दर्यशास्त्र का सौन्दर्य कला-सौन्दर्य ही है– प्राकृतिक सौन्दर्य नहीं, अब यह विकल्प नहीं रह जाता"।

किन्तु डा. नगेन्द्र ने यह निर्णय कैसे कर लिया कि सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में प्राकृतिक सौन्दर्य नहीं आता। क्या प्राकृतिक सौन्दर्य से कलागत सौन्दर्य को अलग किया जा सकता है? यदि हाँ, तो अफलातून की समग्र कलागत मान्यताओं और कलागत सौन्दर्य के सामने एक प्रश्नचिन्ह लग जायेगा। स्वयं डा. नगेन्द्र ने केरिट का यह कथन उद्धृत करते हुए लिखा है– " कवि का यह दावा करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिल्कुल ठीक है कि वन-प्रान्तर से प्राप्त आवेग की एक तरंग या किसी मामूली कविता की एक पंक्ति समस्त विद्वत्समुदाय की अपेक्षा सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक समर्थ है। लेकिन साथ, यह भी ठीक है कि आवेग की उस तरंग को समझने के लिये उत्तम से उत्तम शुद्ध कविता की अपेक्षा स्वानुभूत पर आधृत अत्यन्त सामान्य चिंतन भी अधिक सार्थक हो सकता है।"[३]

अतः वनप्रांतर से प्राप्त सौन्दर्यमयी तरंग के उस मौलिक आस्वादन को जो संभव है कि आत्मस्फूर्त किसी काव्य का रूप ले ले अथवा अपने आप में एक ऐसी दिव्य प्रतीति हो जो उसके उस क्षण-विशेष को कृतार्थ कर दे। साहित्य और कला से उद्भूत जो सौन्दर्य है क्या उसका सर्जनागत उत्स नहीं होता ? क्या उसकी सृष्टि शून्य में होती है। वास्तव में हमारा वैदिक ऋषि तो प्रकृतिगत सौन्दर्य की ओर ही आकृष्ट हुआ था। अनेक वैदिक ऋचाएँ इसी प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। इस संदर्भ में डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का यह कथन द्रष्टव्य है– "वैदिक ऋषि मानव शिल्प की अपेक्षा देवशिल्प की ओर अधिक आकृष्ट था। वह इस संपूर्ण सृष्टि को देवता का काव्य मानता था"। परमदेवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अतः उसने मंदिर, राजभवन मूर्ति, चित्र का वर्णन, विवेचन न कर उषा, सूर्य आदि के शत-शत शब्द-चित्र अंकित किये हैं।

वास्तव में साहित्य और कला के उत्कर्षकाल के पूर्व विश्व-मनीषा ने प्रकृति में अंतर्भूत उस दिव्य ईश्वरीय सौन्दर्य का साक्षात्कार किया था जिसके द्वारा सत्य का मार्ग प्रशस्त होता है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के जनक बाउमगार्तेन ने सौन्दर्य का चरम प्रतिमान प्रकृति में निहित सौन्दर्य को ही माना है। सौन्दर्य का यह मौलिक आस्वादन ही व्यक्ति में उस दिव्य चेतना का उन्मेष करता है जो व्यक्ति को ऋषि का दर्जा देती है। हमारे वैदिक ऋषि ने जिस सौन्दर्य-सागर में अवगाहन किया था और जिसके गहरे अहसास को अभिव्यक्त किये बिना नहीं रह सके थे वही तो कविता है। ऋग्वेदकार ने उषा के उस दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति जिस स्तर पर की थी उसकी अभिव्यंजना तो सौन्दर्य का पर्याय होगी ही। कदाचित् इसी स्वयं प्रकाश्यज्ञान की सहज अभिव्यंजना देखकर ही तो बेनेडोटे कोचे ने कहा था– ब्यूटी इज़ एक्स्प्रेशन एण्ड एक्स्प्रेशन इज ब्यूटी– सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना ही सौन्दर्य। उषा के उस दिव्य सौन्दर्य को देखकर ऋषि वाणी से जो निस्सृत हुआ वह भी सौन्दर्य बन गया– "आओ कांतिमयी उषा को अपनी अंजलि अर्पित करो और उसे नमस्कार करो। ऊपर आकाश में वह मधुयामिनी अपने आलोक का प्रसार कर रही है और वह रमणीय दर्शना संपूर्ण लोक को प्रकाशित कर रही है।"[४]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु ऊपर हमने अफलातून और कबीर की जिस दुनियां का जिक्र किया उसके सौन्दर्य की अनुभूति तो और ही दिव्य थी। क्या इस बात से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि इस दुनियाँ के सौन्दर्य का अहसास किये बिना भी हम इसी दुनियाँ से बेहतर किसी और दुनियाँ की कल्पना कर सकते हैं ? किन्तु उनके इस ज्ञान की यात्रा भी ऐन्द्रियबोध से अतीन्द्रिय जगत् तक थी। अतः प्रकृतिगत सौन्दर्य को तो हमें अंतिम प्रतिमान मानना ही होगा। सौन्दर्य के उत्स की खोज का प्रस्थान-बिन्दु तो यह प्रकृतिगत सौन्दर्य ही है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न है कि क्या आज हम वैदिक ऋषियों की भांति प्रकृतिगत सौन्दर्य के साथ एकात्म होने की स्थिति में हैं ? क्या उस अनाविल भूमि पर अवस्थित होकर उस दिव्य सौन्दर्य का एक निस्संग आस्वादन कर सकते हैं। आज हम इतने मनोविकारों से ग्रस्त हैं कि उस सत्य का साक्षात्कार कर ही नहीं सकते। अतः उस दिव्य सौन्दर्य के साथ साक्षात्कार करने के लिये तो हमें पहले मनोविकारों से मुक्त होना होगा। अफलातून अपने फीडो में कहता है "भय, करुणा आदि मनोविकारों से विमुक्ति ही सत्य है।"

इन मनोविकारों से विमुक्ति तो प्रकृति के उस दिव्य सौन्दर्य अथवा साहित्य और कला से उद्भूत सौन्दर्य के आस्वादन से ही हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने साहचर्य-संभूत रस की बात कही है जो प्रकृतिगत सौन्दर्य का ही पर्याय है।

"काव्य का अनुशीलन करने वाले मात्र जानते हैं कि काव्यदृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप गति में भी सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, संपन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते हैं।" ५

इस भांति मनुष्य इस प्रकृतिगत सौन्दर्य से अपने जीवन, कला और साहित्य के प्रतिमान स्थापित करता रहा है। इसी उत्स को सौन्दर्यशास्त्र की परिधि से बाहर करने पर सौन्दर्यशास्त्र, कला और साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक आधार ही डग-मगा जायेंगे। अतः सौन्दर्यशास्त्र कला, साहित्य तथा इनके अतिरिक्त भी सौन्दर्य के जो अन्य क्षेत्र हैं उनकी तथा आस्वाद्य की विविध भूमियों की खोज करता है। किन्तु कभी-कभी सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के संदर्भ में भी एक स्थूल प्रश्न उठाया जाता है कि सौन्दर्य का आस्वादन इनके अध्ययन से तो प्राप्त नही होता; यह ठीक है कि हम इसके अध्ययन से कई अर्थों में सौन्दर्य के उन सूक्ष्म और अज्ञात स्थलों की ओर प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यह मात्र प्रवृत्त होना ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जब तक बिना स्वयं उन वस्तुस्थितियों और मनःस्थितियों से व्यतीत नहीं होते सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

निश्चित ही सौन्दर्यशास्त्र की यह भूमिका नही हैं। किन्तु सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन आपको सौन्दर्य की उस आनंदभूमि तक पहुंचा सकता है जो रचनाकार का इष्ट है अथवा जिस सौन्दर्यबोध से वह स्वयं गुजरा है, यह उसकी भूमिका छोटी नहीं है। किन्तु यह भूमिका तो प्रमाता के संदर्भ में है; रचनाकार के संदर्भ में नहीं। इस संदर्भ में हम ऊपर कह चुके हैं कि रचनाकार के संदर्भ में सौन्दर्य-शास्त्र के अध्येता और प्रणेता सौन्दर्य की नित्य नई भूमियों की तलाश करते हैं और रचनाकार सौन्दर्य के उन नये आयामों के लिये रचनाकार के पास आज काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, रिपोर्ताज, सिनेमा, टी. व्ही. फोटोग्राफी तथा वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत आदि विविध विधाएँ हैं जिनके द्वारा रचनाकार और प्रमाता दोनों ही सौन्दर्यबोध के नये स्तरों को उजागर कर उनका आस्वादन कर सकता है।

आज तो औद्योगिक सभ्यता और नित्य नये कल–कारखानों और यंत्रों के कारण सौन्दर्य की परिधि का और भी विस्तार हो रहा है। सिनेमा टी वी., छायाचित्र आदि मनुष्य जीवन के उस पुरातन प्रकृतिगत सौन्दर्यबोध को अधुनातन सौन्दर्य-बोध से जोड़ने की कोशिश कर रहा है। एक ओर तो सौन्दर्य के नित्य नये आयाम आविष्कृत हो रहे हैं और दूसरी और प्रमाता वर्ग में भी एक नई चेतना का विकास हो रहा है। इस नई चेतना से हमारा तात्पर्य प्रमाता वर्ग के उस भीतरी जगत् से है जो बराबर इस प्रकार की कला सर्जनाओं में वह स्वयं उसकी अपनी तलाश करता है। आज उसका सौन्दर्य-बोध उसके अपने आत्मबोध का– उसके अपने होने के अहसास का– पर्याय हो गया है। उन खूबसूरत नक्काशियों, विशाल महराबों और गगनचुंबी इमारतों तथा बारीक कूंची से नायिकाओं की पलकों और वरुणियों के बालों में अब उसे सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते, यदि आपके सौन्दर्यजगत् में उसका अपना भोगा हुआ सत्य नहीं है। हमारे इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि सौन्दर्य की आस्वादन-भूमियों के विकास के साथ–साथ आज सौन्दर्यशास्त्र दर्शन के अधिक निकट आ गया है। सौन्दर्यशास्त्र एक ओर तो अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट रूप से एक शाखा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। और दूसरी और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को अपनी कच्ची सामग्री द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से ही तो ग्रहण करनी पड़ती है। जिस भांति स्वच्छंदतावादी कला आँदोलन को हीगेल और काण्ट ने दार्शनिक आधार दिया उसी भांति आज के सौन्दर्यशास्त्र को भी दर्शन के आधार की एक ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता है। यद्यपि आधुनिक साहित्य शास्त्र बहुत कुछ अस्तित्ववादी दर्शन से ग्रहण कर रहा है किन्तु अभी दर्शनविदों को नये कला आँदोलनों के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्य-मीमांसा के क्षेत्र में अवतरित होना है।

आज आदमी की रफ्तार जेट विमानों से आंकी जाती है। क्या उसे सौन्दर्य के आस्वादन की जरूरत है? क्या सौन्दर्य उसके जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है? हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि मानवीय संवेदना की विस्तृति और व्याप्ति के लिये मनुष्य के सौन्दर्यबोध का विकास आवश्यक है। जिस दिन उसमें से सौन्दर्य के आस्वादन की क्षमता चुक जायेगी मनुष्य फिर अपने प्रारंभिक स्वरूप मे पहुंच जायेगा।

– कृष्णवल्लभ जोशी

वल्लभदास पेलेस
हनुमानताल,
जबलपूर, (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दायित्व-मीमांसा : एक टिप्पणी

१. **दायित्व और उत्तरदायित्व**– प्रतिदिन के जीवन में प्राय: इन दोनों ही शब्दों का हम समानार्थक प्रयोग करते हैं किंतु दायित्व की धारणा की सही समझ के लिए कदाचित् यह आवश्यक है कि इन पदों के बीच सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट किया जावे। दायित्व या जिम्मेदारी किसी कार्य के प्रति होती है जबकि उत्तरदायित्व या जबाबदेही किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति होती है। मेरा दायित्व कक्षाओं में अध्यापन है किन्तु यदि मैं सुचारु रूप से अध्यापन नहीं करता तो इसका 'उत्तर' या 'स्पष्टीकरण' मुझे उस संस्था / व्यक्ति को देना है जिसने मुझे अध्यापन कार्य सौंपा है। उसी के प्रति मैं उत्तरदायी, जबाबदेह हूँ। अंग्रेजी भाषा में जिम्मेदारी (दायित्व) और जबाबदेही (उत्तरदायित्व) के लिए अलग अलग शब्द नहीं हैं अत: इनके अंतर को प्राय: 'रिस्पौन्सिबिलिटी फॉर और रिस्पैन्सिबिलिटी टु' से व्यक्त किया जाता है। रिस्पैन्सिबिलिटी 'फॉर' किसी कार्य के प्रति होती है तथा रिस्पौन्सिबिलिटी 'टु' किसी व्यक्ति / संस्था के प्रति होती है। प्रथम अर्थ में 'दायित्व' कार्य के लिए होता है : रिस्पौन्सिबिलिटी फॉर एन एक्शन। द्वितीय अर्थ में 'दायित्व' व्यक्ति / संस्था के प्रति होता है : रिस्पौन्सिबिलिटी टु अ पर्सन ऑर ऑर्गेनाईजेशन। यह दायित्व न होकर 'उत्तर-दायित्व' है, जबाबदेही है। यहाँ दायित्व का तात्पर्य अपने कार्य के लिए किसी व्यक्ति / संस्था को उत्तर, सफाई या स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना है। उसे जबाब देना है। इस अर्थ में एक मजदूर अपने मालिक के प्रति 'उत्तरदायी' है; मंत्री, विधानसभा के प्रति जबाबदेही है। जबाबदेह होना अपने कार्य के लिए किसी को स्पष्टीकरण देने के लिए बाध्य होना है। उत्तरदायित्व कार्य संबंधी स्पष्टीकरण या व्याख्या के लिए बाध्य करता है। लेकिन जहाँ किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष स्पष्टीकरण की बाध्यता नहीं है, वहाँ उत्तरदायित्व नहीं है, केवल 'दायित्व' है। सामान्यत: 'दायित्व' और 'उत्तरदायित्व' की भावनाएँ एक-दूसरे में सम्मिलित होती हैं। व्यक्ति एक साथ किसी कार्य के लिए 'दायित्व' लेता है, और स्पष्टीकरण के लिए किसी अन्य व्यक्ति / संस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। यथा, एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घास छीलने वाले का दायित्व घास छीलना है, और जिसने घास छीलने के लिए उसे नियुक्त किया है उसके समक्ष वह उत्तरदायी है। किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं कि व्यक्ति का अपने कार्य के प्रति दायित्व हो किन्तु इस दायित्व के लिए वह किसी के समक्ष उत्तरदायी न हो। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि अपने स्वास्थ्य के लिए दायित्व स्वयं व्यक्ति का है तो यहाँ स्पष्ट ही अपने स्वास्थ्य के लिए किसी अन्य आदमी के समक्ष वह व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है। वस्तुतः उसे अपने स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व सौंपा ही नहीं गया है। स्वास्थ्य के लिए उसका दायित्व मात्र ही है। यदि अपना स्वास्थ्य वह स्वयं ठीक नहीं रखता तो इसकी सफाई, या उत्तर, वह किसी दूसरे को देने के लिए बाध्य नहीं है।

२. **उत्तरदायित्व में नियुक्ति और सुपुर्दगी**– उत्तर-दायित्व के लिए यह आवश्यक है कि जिस कार्य का व्यक्ति को उत्तरदायित्व दिया गया है वह कार्य उसे सौंपा जाए, वह उसके सुपुर्द किया जाए। जो कार्य मुझे सौंपा ही नहीं गया है, उसके लिए मैं भला उत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ? सर्वप्रथम उत्तरदायित्व का कार्य मुझे सौंपा जाना चाहिए, उसे संपन्न करने के लिए मुझे नियुक्त किया जाना चाहिए। तभी मैं सुपुर्द कार्य के लिए उत्तरदायी हो सकता हूँ। कार्य के लिए नियुक्ति और कार्य की सपुर्दगी, उत्तरदायित्व की पूर्व मान्यताएँ हैं। इनके अभाव में उत्तरदायित्व का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। किन्तु जहाँ दायित्व-मात्र है वहाँ उत्तरदायित्व की पूर्व मान्यताएँ– नियुक्ति और सुपुर्दगी-बेमानी हैं। ऐसे भी कार्य हो सकते हैं जिनका दायित्व मेरे ऊपर हो किन्तु वे मुझे किसी अन्य व्यक्ति संस्था द्वारा सौंपे न गए हों। स्पष्ट ही इनकी जबाबदेही, इनका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं है– यानी, यदि मैं उन्हें सम्पन्न नहीं करता तो इसका स्पष्टीकरण मुझे किसी को नहीं देना है। परिचित उदाहरण अपने स्वास्थ्य का ही लें। यह उत्तर-दायित्व किसी ने मुझे सौंपा नहीं है कि मैं अपने स्वास्थ्य की देखभाल करूँ अतः यदि मैं ऐसा नहीं करता तो किसी को अधिकार नहीं है कि वह इसके लिए मुझसे जवाब तलब करे, मुझसे स्पष्टीकरण चाहे। किन्तु फिर भी स्वाथ्य का दायित्व मेरे ऊपर है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

३. **सामाजिक और नैतिक दायित्व**– उपर्युक्त चर्चा के बाद, शायद अब हम इस बिन्दु पर आ गए हैं कि सामाजिक और नैतिक दायित्व में भेद किया जा सके। सामाजिक दायित्व में, उत्तरदायित्व भी निहित है, किन्तु नैतिक दायित्व सिर्फ नैतिक दायित्व है, उसमें उत्तरदायित्व नहीं है। सामाजिक दायित्व वह है जो हमें समाज के किसी व्यक्ति / संस्था द्वारा सौंपा जाता है, जिसमें हमें सौंपे हुए कार्य को संपन्न करने के लिए नियुक्त किया जाता है, और जो व्यक्ति हमें नियुक्त करता है उसके प्रति हमें उत्तरदायी होना पड़ता है। उस कार्य को कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाने या न कर पाने के लिए स्पष्टीकरण देना पड़ता है। किन्तु नैतिक दायित्व में न नियुक्ति है न सुपुर्दगी और नहीं किसी व्यक्ति / संस्था के समक्ष 'स्पष्टीकरण' देने या व्याख्या करने को बाध्यता है। अतः नैतिक दायित्व वह है जिसे कोई अन्य (व्यक्ति / संस्था) मुझ पर सौंपता नहीं जिसे करने के लिए किसी अन्य के द्वारा मुझे नियुक्त नहीं किया जाता, और इसलिए नियोक्ता के समक्ष मुझे स्पष्टीकरण देने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि नैतिक दायित्व यदि सौंपा जाता है तो उसे सौंपने वाला कोई अन्य न होकर स्वयं व्यक्ति है, उसके लिए यदि नियुक्ति की जाती है तो नियोक्ता भी स्वयं व्यक्ति ही है और यदि स्पष्टीकरण दिया जाता है तो वह भी किसी अन्य के समक्ष न देकर व्यक्ति स्वयं अपने तई देता है। किन्तु क्या एक व्यक्ति अपने आप में नियुक्त और नियोक्ता दोनों हो सकता है? नैतिक दायित्व को यदि उत्तर-दायित्व माना जाय तो व्यक्तित्व का यह विभाजन आवश्यक जान पड़ता है। हम प्रायः जाने-अनजाने व्यक्तित्त्व का ऐसा विभाजन करते हैं और इसीलिए प्रतिदिन के जीवन में 'दायित्व' और 'उत्तरदायित्व' में भेद नहीं करते। 'जिम्मेदारी' और 'जवाबदेही' हमारे लिए समानार्थक हो जाती है। किन्तु दायित्व के संदर्भ में 'नैतिक' और 'सामाजिक' में अंतर करने के लिए 'जिम्मेदारी' और 'जबाबदेही' के बीच तमीज़ शायद जरूरी है।

नैतिक दायित्व क्योंकि उत्तरदायित्व नहीं है अतः इससे यह ग़लत फ़हमी नहीं होनी चाहिए कि उसमें किसी प्रकार की बाध्यता नहीं है। वस्तुतः उत्तर-दायित्व से बचा जा सकता, वहां बहाने वनाए जा सकते हैं, उन तमाम दशाओं को खोजा जा सकता है जो उत्तरदायित्व को विफल कर देती हैं और जिनकी विस्तृत व्याख्या नीतिशास्त्र की शास्त्रीय किताबों में की गई हैं, जिनका सर्वप्रथम उल्लेख स्वयं अरस्तू ने किया था। किन्तु क्या नैतिक दायित्व से, जहाँ व्यक्ति अपने किए के लिए किसी अन्य को जबाब देने के लिए मजबूर नहीं है, बचा जा सकता है?

४. नैतिक और धार्मिक दायित्व– शायद यह कहना कि वे सभी दायित्व जिनमें नियुक्ति और सुपुर्दगी निहित है अनिवार्यतः सामाजिक दायित्व हैं, पूरी तरह सही नहीं है क्योंकि हम ऐसे दायित्वों की भी गणना कर सकते हैं जिनमें 'नियुक्ति' और 'सुपुर्दगी' घोषित तो की जाती है किन्तु वह किसी भी सामाजिक ईकाई– व्यक्ति या संस्था– द्वारा नहीं होती। उदाहरण के लिए जब कोई पीर या मसीहा या अवतार यह घोषित करता है कि ईश्वर ने उसे किसी खास़ काम के लिए नियुक्त किया है (प्रकारांतर से, पाकिस्तान के राष्ट्रपति की कुछ इसी प्रकार की घोषणा) और उसका यह दायित्व है कि वह सुपुर्द कार्य को संपन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करें तो स्पष्ट ही यहाँ नियोक्ता सामान्य अर्थ में एक सामाजिक इकाई नहीं है। फिर भी वह व्यक्ति जो समझता है कि उसे कोई दायित्व सौंपा गया है, ईश्वर के समक्ष अपने को उत्तरदायी मानता है। पीरों, मसीहाओं या अवतारों की बात नहीं है, कभी-कभी सामान्य व्यक्ति भी, यही दृष्टिकोण अपनाता है। वह अपने दायित्वों के लिए सामाजिक इकाई के समक्ष उत्तर-दायी नहीं मानता, बल्कि स्वयं को सिर्फ ईश्वर के समक्ष जबाबदेह मानता है। कभी-कभी ईश्वर का स्थान कोई अन्य अति-प्राकृतिक शक्ति ले लेती है। ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि नैतिक दायित्व, जो केवल दायित्व मात्र है, 'उत्तरदायित्व' हो जाता है। और मैं इस प्रकार विशेष प्रकार के उत्तरदायित्व को धार्मिक (सामाजिक नहीं) उत्तर-दायित्व कहना पसंद करूँगा।

धार्मिक दायित्व, उत्तरदायित्व होने के नाते, यद्यपि सामाजिक दायित्व की तरह है किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह नैतिक दायित्व का ही एक बिस्तार है। स्पष्ट ही यह सामाजिक दायित्व नहीं है क्योंकि इस दायित्व को सौंपने वाली और दायित्व संपन्न करने के लिए नियुक्त करने वाली कोई सामाजिक इकाई नहीं है, न ही दायित्व उठाने वाला व्यक्ति किसी सामाजिक इकाई समक्ष उत्तरदायी है। किन्तु सामान्य अर्थ में यह नैतिक दायित्व भी नहीं है क्योंकि यहाँ 'नियुक्ति' और 'सुपुर्दगी' की भावना है और यहाँ व्यक्ति स्वयं को किसी अति-प्राकृतिक शक्ति के प्रति उत्तरदायी मानता है। फिर भी इसकी निकटता नैतिक-दायित्व के ही अधिक प्रतीत होती है। नैतिक दायित्व का 'नियोक्ता' (यदि कोई है तो वह) स्वयं व्यक्ति है जो दायित्व उठाता है, जबकि धार्मिक दायित्व की नियोक्ता कोई ईश्वरीय शक्ति मानी गई है। क्या यह ईश्वरीय शक्ति व्यक्ति का अपना ही आदर्श रूप नहीं है? अथवा, क्या ऐसा नहीं है कि व्यक्ति जब स्वयं में आत्म-विश्वास की कमी पाता है तो उस दायित्व को जो स्वयं उसने ही उठाया है अपने से अलग वह किसी दैवी शक्ति को आरोपित कर देता है? अतः मुझे बार-बार ऐसा लगा है कि धार्मिक दायित्व नैतिक दायित्व का ही एक विस्तार है। दोनों ही प्रकरणों में दायित्व के स्वरूप निर्धारण का और यह देखने का कि दायित्व किस हद तक उठाया गया है कोई सार्वजनिक और सर्वमान्य पैमाना नहीं हो सकता। इस प्रकार के अभाव में क्या नैतिक अथवा / और धार्मिक दायित्व की प्रामाणिकता संभव है? मैं विश्वास करता हूँ कि विद्वत्जन इस पर बिस्तृत चर्चा करेगें।

– सुरेन्द्र वर्मा

प्राचार्य निवास,
शासकीय महाविद्यालय
जावरा- ४५६ २२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया

एकान्तवाद : कुछ भ्रांतियाँ एवं उनका निराकारण

'परामर्श' हिंदी (वर्ष २, अंक १ दिसंबर १९८०) में प्रकाशित लेख 'भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद' में लेखिका सुश्री उमा पाण्डेय ने जैन अनेकान्तवाद को लेकर कुछ प्रश्न उठाये हैं। ये प्रश्न हैं– क्या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त जैन दर्शन की मौलिक उद्भावना है? क्या अन्य भारतीय दर्शनों में इस सिद्धान्त के संकेत नहीं मिलते तथा यह सिद्धान्त अन्य दर्शनों को ग्राह्य क्यों नहीं हो सका?

लेकिन लेखिका द्वारा दिये गये सुझावों में कुछ मूलभूत भ्रांतियाँ हैं जिनकी ओर ध्यान आकर्षित करना जैन अनेकान्तवाद को सही समझने के लिए आवश्यक है।

लेख के प्रथम पैराग्राफ (पृ. सं. ६७) में लेखिका ने अनेकान्तवाद की व्याख्या वैसे तो ठीक की है लेकिन उन्हें अपनी व्याख्या में इतना और जोड़ देना चाहिए कि जिन विरोधी आपेक्षिक धर्मों को अनेकान्त अविरोध रूप से स्थापित करता है, वे समकक्ष होते हैं, उनमें से एक मुख्य और अन्य गौण ऐसा नहीं होता। मुख्यता और गौणता हमारे ज्ञान और कथन में हुआ करती है, वस्तु में नहीं। इस प्रकार अनेकान्तवाद सत्ता में स्तर-भेद स्वीकार नहीं करता।

लेकिन जब महायान दर्शन में पारमार्थिक सत् और संवृत्ति सत् की बात की जाती है या अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक और व्यवहारिक का भेद किया जाता है– तो वहाँ स्थिति वैसी नहीं है। दोनों को वे समान रूप से सत् नहीं कहते। वहाँ दो दृष्टियों की तो बात की गई है लेकिन एक दृष्टि प्रधान है तो दूसरी गौण। जबकि जैन दर्शन में प्रत्येक दृष्टि या नय प्रतिपक्षी दृष्टि-सापेक्ष रहकर ही सम्यक् कही गयी है, अन्यथा वह मिथ्या है, दुर्नय है।

लेखिका ने द्वितीय पैराग्राफ में जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य के स्वरूप की चर्चा की है। वहाँ एक कथन है, "नित्य धर्म या गुण के कारण वस्तु का अस्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना रहता है। जबकि पर्यायों के कारण वस्तु में परिवर्तन संभव है" । इससे ऐसा लगता है कि गुण कोई अलग चीज है और पर्याय कोई अलग चीज हैं। **प्रवचनसार** ज्ञेयाधिकार की प्रथम गाथा से पता चलता है कि द्रव्य गुणात्मक होता है यानि गुणों के अखंडित पिण्ड को द्रव्य कहते हैं और प्रत्येक गुण के परिणाम को पर्याय कहते हैं। गुण और पर्याय कोई अलग-अलग चीज नहीं है। गुण को हम शक्ति रूप में समझ सकते हैं और उसमें से प्रतिसमय जो व्यक्त होता है उसका नाम पर्याय है। साथ ही गुण नित्य होते हैं और पर्याय क्षणिक।

आगे लिखा गया है, "साधारण व्यक्ति तो काल विशेष में वस्तु को एक दृष्टि विशेष से ही देखने में समर्थ होता है।" इसका मतलब हुआ कि हमें नय-ज्ञान ही होता है, प्रमाण ज्ञान नहीं जबकि **तत्त्वार्थ-सूत्र** में (अध्याय १ सूत्र ६) कहा गया है कि प्रमाण और नय ये अधिगम (ज्ञान) के दो उपाय हैं। यह कहना तो ठीक है कि केवल ज्ञानी ही एक वस्तु को पूरी समग्रता में जान सकता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हमें प्रमाणज्ञान नहीं होता। मति और श्रुतज्ञान द्वारा हम लोग भी उन ज्ञानों की सामर्थ्य के अनुसार वस्तुओं के अनेकों स्थूल धर्मों को एक साथ जान लेते हैं और इसे प्रमाण कहने में कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान की सामर्थ्य में वृद्धि होने पर हम और अधिक धर्मों को एक साथ ग्रहण करने में समर्थ होते जाते हैं। ज्ञाता के इस प्रमाण ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं। वह जब वस्तु को किसी अभिप्राय पूर्वक ग्रहण करता है तब वह नय बन जाता है। "कथन सब नयात्मक होते हैं क्योंकि वे अभिप्राय-पूर्वक बोले जाते हैं।" इससे सहमत हुआ जा सकता है परंतु 'सब ज्ञान भी नयात्मक होता है (केवल-ज्ञान को छोडकर)' इससे मैं सहमत नहीं हूँ।

इसके आगे नयों की चर्चा की गई जो बिल्कुल भी गंभीर नहीं है। जैसे न्याय-वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण नैगम नय पर आधारित है यह जैनों का कहना है, परंतु यह जैन कैसे कह पाते हैं यह बात ना तो स्पष्ट ही की गई है और ना नैगमनय की ठीक व्याख्या ही की गई है। यही बात व्यवहार नय में सांख्य दर्शन के गर्भित होने के बारे में है।

लेखिका का यह कहना तो विचारणीय है कि निर्गुण-परक और सगुणपरक कथनों में समन्वय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि सत्ता को अनन्तधर्मात्मक नहीं माना जाय। लेकिन 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' और 'नेह नानास्ति किंचन' जैसे कथनों को विरोधी मानना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों कथन पारमार्थिक सत् की ओर इंगित करने वाले ही हैं, यदि हम शंकर की व्याख्या को लेकर चले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा और उसके पर्यायों में भेदाभेद संबंध है। आत्मा को स्वरूपतः अपरिणामी 'ध्रुव' कहना गलत है। प्रत्येक द्रव्य जिस तरह से ध्रौव्य-स्वभाव वाला है उसी प्रकार वह उत्पाद-व्यय स्वभाव वाला है। प्रत्येक द्रव्य कथंचित् अनित्य है क्योंकि एक पर्याय को छोड़कर वह दूसरे पर्याय रूप में परिवर्तित होता रहता है और कथंचित् नित्य है क्योंकि परिणामी होने पर भी वह अपने मूल स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता। बद्ध आत्मा द्रव्य दृष्टि से शुद्ध होकर भी, शक्ति रूप में सिद्ध-समान शुद्ध होने पर भी, पर्याय दृष्टि से विकारी-अशुद्ध है। वह जब अपने स्वरूप को समझकर मोह, राग-द्वेष को हेय जानकर उन्हें छोड़ता हैं और आत्म श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र के पथ पर चलकर पूर्ण आत्मस्थ हो जाता है तो वह पर्याय-दृष्टि से भी शुद्ध होकर मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है। लेकिन मोक्ष-अवस्था में वह आत्मा किसी परमसत्ता में विलीन नहीं हो जाता, यह बात ध्यान रखने योग्य है।

प्रत्येक दार्शनिक संरचना में हम दृष्टि-भेद से कथन करने की बात पाते हैं। इससे यह तो पता चल जाता है कि सत्ता का स्वरूप अनेकात्मक है परंतु अनेकांतवाद को अनुभव पर आधारित लौकिक दृष्टिकोण कहना किंचित् भी ठीक नहीं है। जैन दार्शनिक अपनी ज्ञानमीमांसा में अनुभव और शुद्ध बुद्धि का द्वैत नहीं खड़ा करते जैसाकि बुद्धिवादी दार्शनिक या भारतीय प्रत्ययवादी दार्शनिक करते हैं। वे प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रकार के प्रमाण तो मानते हैं, जिसका कारण क्रमशः ज्ञान का मात्र आत्माधीन होना और निमित्तों की सहायता से होना है। यह भेदकर्मों के उदय और क्षय से होता है। लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि परोक्ष (इन्द्रियानुभविक ज्ञान) ज्ञान से वस्तु का अनेकांतिक रूप दिखता है और प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वरूप कुछ और दिखता है। बल्कि वस्तु की अनंतधर्मात्मकता प्रत्यक्ष ज्ञानों में उत्तरोत्तर स्पष्ट रूप से ज्ञात होती जाती है। अनेकांत का मूल है प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अस्ति रूप है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नास्ति रूप है। जैनदर्शन वस्तु को भावाभावात्मक भी मानता है। वह एकवस्तु का दूसरी वस्तु में अत्यन्ताभाव मानता है, ऐसी अवस्था में अनेकांतवाद को अद्वैतवाद किंचित् भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। डॉ. राधाकृष्णन् प्रभृति अनेक लेखकों ने अनेकांतवाद की व्यावहारिक उपयोगिता तो स्वीकार की है क्योंकि वह लोक-प्रतीति का अपलाप नहीं करता। हमारा लोक-व्यवहार इसी पर आधारित है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह कोई तत्त्वमीमांसीय सिन्द्धान्त नहीं है। अनेकांत-सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप को उद्घाटित करता है वैसे ही जैसे वह लोक-व्यवहार को समझाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखिका जिन प्रश्नों को लेकर चली थी, ऐसा लगता है वे अनुत्तरित ही रह गये। उन्होंने यह तो दिखाया है कि प्रत्येक दर्शन में सत् को अनेकधर्मों से युक्त माना गया है पर वे इसका जबाब नहीं दे पायी कि यह सिद्धान्त अन्य दर्शनों को ग्राह्य क्यों नहीं हो पाया। द्रव्य को योगभाष्य में सामान्य विशेषात्मक कहा गया है, इसी तरह से कुमारिल भट्ट वस्तु को भावाभावात्मक और नित्यानित्यात्मक भी मानते हैं फिर भी हम इन दर्शनों में अनेकान्तवाद का वैसा विकास नहीं पाते जैसा हमें जैनदर्शन में देखने को मिलता है। इसका कारण उनकी तत्त्वमीमांसा की विषयवस्तु विशिष्ट प्रकार की है। अनेकान्तवाद जैन तत्त्वमीमांसा के छः द्रव्य, पाँच आस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, द्रव्य, गुण पर्याय आदि सिद्धान्तों से पूरी तरह से जुडा हुआ है, अतः कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद जैन दर्शन की मौलिक उद्भावना है।

– राजकुमार छाबडा

शोध–छात्र
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

(१)

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र (डॉ); **भारतीय परंपरा के मूलस्वर** नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, २३ दरियागंज, नयी दिल्ली-२; पृ. डिमाई १२+१३० मूल्य ३०।-

वत्सल-निधि द्वारा प्रवर्तित स्वर्गीय हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत डॉ. पाण्डे द्वारा दिये गये चार व्याख्यानों का संग्रह है 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर'। डॉ. पाण्डे बौद्ध धर्म और साहित्य, इतिहास और संस्कृति के सुपरिचित विद्वान् तो हैं ही, स्वयं कवि और विभिन्न भाषासाहित्य के अच्छे जानकार भी हैं। निस्संदेह वत्सल-निधि के द्वारा प्रवर्तित व्याख्यानमाला के अंतर्गत उनके व्याख्यानों का आयोजन स्वागत योग्य है।

पुस्तक में व्याख्यानों का लिखित रूप उपस्थित है। डॉ. पाण्डे ने भारतीय संस्कृति, तत्त्वदर्शन, समाज और साहित्य विषयक अपनी चिंता को क्रमशः सनातनता और ऐतिहासिकता, अध्यात्मविद्या और योग, नैतिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ, अनुभूति और अभिव्यक्ति शीर्षक व्याख्यान-लेखों में प्रस्तुत किया है और पुस्तक में समाहार-दृष्टि के लिए अंत में उपसंहार भी दे दिया है।

पुस्तक का मूल उद्दिष्ट भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की खोज करना और उसके माध्यम से भारतीय अस्मिता को जगाना और उसकी रक्षा करना है। धार्मिक या दार्शनिक और साहित्यिक परंपरा की चर्चा उसी चिंतन-प्रवाह का एक अंग है। अतएव चारों व्याख्यान लेखों का एक अन्तःसंबंध स्थापित होता है और इन लेखों के माध्यम से हम सामाजिक विश्व के विरुद्ध भारतीयों की सांकेतिक अथवा आत्मिक आदर्श जगत् की उपलब्धि से परिचित होते हैं। साथ ही भारतीय मेधा और संस्कृति के विषय में विदेशियों द्वारा फैलाए गये भ्रम-जाल का भी उच्छेद होता है। पाण्डेजी ने अपने प्रथम व्याख्यान लेख में ही ऐसे भ्रामक विचारों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर आरंभ में इंगित किया है जिन्हें स्वीकार कर लिया जाय तो एशिया की दुर्बलता और दरिद्रता का कारण उसका ऐतिहासिक पिछड़ापन ही सिद्ध होता है, जबकि आत्मिक और सांस्कृतिक धरातल पर यह बात प्रमाणित नहीं होती, बल्कि उसकी उपलब्धियों की गौरवशाली परंपरा दीख पड़ती है। स्वाभाविक है कि डॉ. पाण्डे भौतिक अर्थपरायण दृष्टि का तिरस्कार करते हुए आध्यात्मिक दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। संस्कृति को परिभाषित करते हुए उन्होंने उसे 'देवशक्ति की ओर उन्मुख भाव से त्यागपूर्वक कार्यसंपादन या सम्यक् कृति' कहा है। देवशक्ति की ओर ऊर्ध्व संचरण को रेखांकित करने के कारण भौतिकवादी ऐतिहासिक दृष्टि और उसके अन्तर्गत मान्य मूल्य तथा मूल्य-निर्मित संस्कृति की आधारभूत प्राकृतिक मानवता की स्वीकृति से उनका सीधा विरोध है। उनकी आपत्ति है कि "मूल्यों के पीछे भी सामाजिक उपयोगिता, निष्ठा एवं रुचि उन्हें ऐतिहासिक परिवर्तन-शीलता प्रदान करती है" और इससे "अनुभूति-सिद्ध मूल्यों का अपलापन और असिद्ध संबंधों की कल्पना का दोष" उपस्थित होता है। साथ ही संस्कृति या धर्म-प्रधान पुरुषार्थ-व्यवस्था मात्र अर्थ-काम-व्यवस्था बन जाती है।

डॉ. पाण्डे ने लक्षित कराया है कि मूल्येषणा और अर्थ-गवेषणा में एक अनिवार्य तत्त्व उसका स्वातंत्र्य की ओर उद्दिष्ट होना है, और संस्कृति स्वयं स्वतंत्रता का अनुसंधान ही तो है। इस प्रकार सहज ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि साहित्य, जिस संबंध से मूल्येषणा है, संस्कृति की ओर आगे बढ़ने का प्रयत्न है और चूँकि मूल्येषणा का एक अनिवार्य तत्त्व स्वातंत्र्य है, अतएव साहित्य की अपनी स्वायत्तता भी स्वतः सिद्ध है।

संस्कृति के प्रसंग में सभ्यता, नैतिकता और ऐतिहासिकता संदर्भ-प्राप्त विषय हैं जिनका डॉ. पाण्डे पर्याप्त विस्तार से विचार करते हैं। वे संस्कृति के दो आयामों– (१) सामाजिक परंपरा के रूप में स्थूल ऐतिहासिकता, और (२) अनंत मूल्यानुसंधान को अभिव्यक्त करने के नाते उसमें परमार्थ की ओर एक क्रमबद्ध उपसर्पण का सनातन इतिहास– की चर्चा करते हुए संस्कृति की व्याव-हारिकता के लिए वस्तुजगत् और मूल्य-जगत् दोनों की परस्पर अध्यस्त रूप में उपस्थिति को आवश्यक सिद्ध करते हैं और यहीं अर्थात् भौतिक जीवनयात्रा और आध्यात्मिक खोज के संधिक्षेत्र में ही नैतिक-सामाजिक जीवन की उपलब्धि स्वीकार करते हैं। यही उनके शब्दों में कर्मक्षेत्र है या धर्म-संग्राम क्षेत्र है। इसी नैतिकता के कारण सभ्यता और संस्कृति में परस्पर संबध घटित होता है। यहाँ तक कि संस्कृति की सुरक्षा और विस्तार सभ्यता की अवस्था पर निर्भर करता है। इसका तात्पर्य वस्तुतः यह होगा कि साहित्य की रचना में भी वे दोनों जगत् एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए उपस्थित होंगे (या होने चाहिए)। इनमें से किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक की उपस्थिति पर बल कहीं न कहीं साहित्य की पूर्णता में व्याघात उपस्थित करता है, उसे कमज़ोर बनाता है। साहित्य का रूप कर्मपथ के बीच से ही उभरना चाहिए, मात्र मानसिक होकर नहीं या कि एकमात्र भौतिक होकर भी नहीं। 'ऐतिहासिक संस्कृतियों में आदर्श और यथार्थ की अविस्रब्ध साझेदारी' और 'आवश्यक अन्तर्द्वन्द्व' को स्वीकार करते हुए डॉ. पाण्डे निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं : "इसीलिए किसी भी संस्कृति का आदर्शपरक निरूपण उसके आधारभूत ऐतिहासिक समाज के यथार्थ का अविकल निरूपण नहीं हो सकता। दूसरी ओर आदर्श और यथार्थ को जोड़ने की नीति सभी संस्कृतियों का आवश्यक अंग होती है। इस दृष्टि से यथार्थ का सामान्य विवेचन भी उनके आदर्श में अन्तर्भूत होता है।"

डॉ. पाण्डे यह स्वीकार करते हैं कि "अनिवार्यतया ऐतिहासिक होते हुए भी भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिकता का बोध कुछ अन्य संस्कृतियों की तुलना में प्रमुख नहीं है।" पर इस धारणा से वह सहमत नही हैं कि भारतीय संस्कृति कोई मिलीजुली संस्कृति है। हाँ, "भारतीय सम्यता में नाना संस्कृतियों का मेल देखा जा सकता है।" जैसा कि "सभी सभ्यताएँ सामासिक होती हैं जैसे सभी जातियाँ विमिश्रित होती हैं।"

डॉ. पाण्डे भारतीय संस्कृति की तीन- (१) पश्चिमी साम्राज्यवादी (२) राजनीतिक राष्ट्रीयवादी तथा (३) साम्यवादी-व्याख्याओं का संकेत करते हैं और साम्यवादी तथा समाजशास्त्रीय व्याख्याओं को निरस्त कर देते हैं क्योंकि पहली 'समाज व्यवस्था का प्रतिबिब मात्र है और दूसरी 'प्रत्यक्ष वर्तमान' पर आधारित है जबकि "संस्कृति अधिकांश में न प्रत्यक्ष है, न वर्तमान तक सीमित। और फिर जो समाजशास्त्र इस समय प्रतिष्ठित है, वह आधुनिक सभ्यता का पुजारी है और चिंतन पॉजिटिविज्म की सीमाओं के अंदर मर्यादित है। इस दृष्टिकोण से भारत की प्राचीन संस्कृति का पिछड़ा लगना स्वाभाविक है। वस्तुतः समाजशास्त्र की मनुष्य-विषयक मूलभूत दृष्टि का भारतीय संस्कृति में प्रत्याख्यान ही मिलता है।" इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि संस्कृति के विवेचन में मूलभूत दृष्टि का अंतर बना हुआ है और एक दृष्टि से देखने पर दूसरी संस्कृति पिछड़ी लग सकती है। प्रयत्न भिन्न दृष्टियों के बीच समन्वय की भूमि और संपूर्ण मनुष्य को जानने का होना चाहिए। साम्यवादी दृष्टि भी नितांत अर्थ-परायण नहीं है, किंतु उसकी तात्कालिक या प्राथमिक समस्या समाज को पहले इस योग्य बनाना है कि वह उच्चतर भूमिकाओं की बात भी सोच सके। वह भी मूलतः मनुष्यता धर्म को ही वरीयता देता है, पर एकान्तिक ढंग से चेतना के स्तरों का ही व्याख्यान करके नहीं रह जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति की इस चर्चा में ही वे तत्त्व निहित हैं जिनका अगले तीन व्याख्यान लेखों मे विस्तार होता है। 'अध्यात्मविद्या और योग' तथा 'नैतिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ' शीर्षक दोनों अध्यायों में डॉ. पाण्डे अध्यात्म, संस्कृति, दर्शन और समाज की गहन और सूक्ष्म चिंता का विश्लेषण करते हैं और वैदिक चिंतन से चलकर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परक धाराओं और श्रमण दृष्टि का प्रमाण-पुरस्सर व्याख्यान करते हुए केन्द्रवर्ती आचार-व्यवहार-विधान, वैदिक नैतिकता के आन्तरिक गुण और गुणात्मक (सामाजिक) पक्ष, श्रेयस् और प्रेयस् तथा धर्म से नियंत्रित कर्म पर अँगुली रखकर भारतीय चिंता के रहस्य का उन्मीलन करते हैं। भारतीय संस्कृति की मूल सामाजिक परम्परा को आश्रमों, वर्णों और जातियों के ऐतिहासिक विस्तार में देखने का वे निषेध करते हैं और उसे 'निर्मल बुद्धि के द्वारा कर्म करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने' में स्वीकार करते हैं।

'अनुभूति और अभिव्यक्ति' के विचार में उनके ये निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, अर्थात् उनके साहित्य और रचनात्मकता विषयक विचारों की दिशा निश्चित करते हैं। यहां वे प्राचीन कला की आम्नायमूलकता में निर्वैयक्तिकता और अनामिकता की तथा स्वानुभूति में स्फुटता की सिद्धी देखते हैं। प्राचीन साहित्य को प्राचीन विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में देखने की पश्चिमी धारणा का प्रत्याख्यान करते हैं और तात्त्विकता पर बल देते हुए रस सिद्धान्त को 'पुरानी पारिभाषिकता के दुर्ग से निकालने' के लिए सबल तर्कों के सहारे उसका पक्ष लेते हैं। अनुभूति को आत्मानुभुति के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने भाव संस्कारित हृदय की अवस्था-विशेष में आत्म-प्रतीति की सघनता को ही अनुभूति या रस कहा है और उसकी अलौकिकता की सिद्धी कल्पनामूलक भाव के संबंधी होने के कारण मानी है किन्तु उसे लोक के सत्यांश से विच्छिन्न नहीं माना है। हम समझते हैं कि डॉ. पाण्डे का रस-विषयक विवेचन उनके लिए भी लाभकर होगा जो उसके पक्षधर हैं और उन्हें भी अवश्य होगा जो उसे अवहेलनीय मानते रहे हैं।

डॉ. पाण्डे के ये व्याख्यान-लेख अपने-आपमें अलग-अलग तो मूल्यवान् हैं ही उनके सूक्ष्म चिंतन और विस्तृत अध्ययन का भी परिचय देते हैं। समग्रतः ये एकसूत्र में ग्रंथित हैं और पूरी पुस्तक को एक प्रबंध रूप देते हैं। इतने विस्तृत आयाम वाली पुस्तक के अध्ययन के लिए यह आवश्यक ही होगा कि इसका पाठक भी विशिष्ट और विविध ज्ञान-संपन्न ही होगा, यहाँ तक कि भाषा भी साधारण समझ के आड़े आ सकती है। विद्या-व्यसनी सज्जनों के लिए पुस्तक पठनीय और माननीय दोनों है और हमें विश्वास है उनके बीच इसका आदर होगा।

— डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

तिवारी, विश्वनाथप्रसाद (डॉ); **समकालीन हिंदी कविता**, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., ८ नेताजी सुभाषमार्ग, नई दिल्ली–२, पृ. २०६ डिमाई, सजिल्द, मूल्य ३५।–

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का यह ग्रन्थ समकालीन हिन्दी कविता पर लिखे गए अनेक ग्रन्थों की श्रृंखला की एक कड़ी है, बल्कि उस श्रृंखला की एक कड़ी होकर भी इस मायने में उनसे अलग है कि एक तो यह उन्हीं की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविता : प्रसाद से अज्ञेय' का अग्रक्रम है या कि उसी क्रम में पूरी आधुनिक हिन्दी कविता को समझने (और समझाने) के प्रयत्न का एक अंश है, बावजूद इसके कि केवल अन्त में कुछ जोड़ के अतिरिक्त 'अज्ञेय' सम्बन्धी लेख दोनों में शामिल है। दूसरे, समकालीन हिन्दी कविता के नाम पर कुछ दूसरी पुस्तकों के समान यह केवल साठोत्तरी पीढ़ी की कविता का बखान नहीं करती या कि तीसरे, किसी एक खास स्वभाव की कविताओं (और कवियों) को आधार मानकर समकालीनता को एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण नहीं करती। इस तरह यह भी लक्षित करने योग्य ही है कि उसका उद्देश्य समकालीन कविता की प्रवृत्तियों का व्याखान करना भी नहीं है कि सारी कविता को अलग-अलग शीर्षकों में बाँट (और काट) कर रख दिया जाय।

इस अध्ययन के बहाने लेखक इस काल के उन प्रमुख हस्ताक्षरों की कविता से अलग-अलग साक्षात्कार करना चाहता है, जिनकी उपस्थिति हिन्दी में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है और जिनकी अनुपस्थिति हिन्दी कविता के किसी इतिहास या विवेचन–विश्लेषण में अलक्षित नहीं रह सकती। चूंकि इस अध्ययन में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी और धूमिल भी शामिल हैं, इसलिए भी और इसलिए भी कि सप्तकों से संबंधित बहुत से कवि नहीं लिए गए हैं, इसे सप्तकी कवियों के काव्य का अध्ययन नहीं कहा जा सकता और चूंकि यह उक्त कवियों का अध्ययन भी प्रस्तुत करती है, अतएव इसे समकालीन कविता की विवध प्रवृत्तियों के रचनाकारों को रचना-शक्ति की परख का प्रयत्न कहा जा सकता है। इतने रचनाकारों में जिनकी समाई हो पाई है वे हैं, क्रमशः– अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ, शिवमंगल सिंह 'सुमन', भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी और धूमिल– कुल सत्रह कवि। ऐसा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जो छूट गये (छोड़ दिये गये) हैं, उनमें से किसी को इस तालिका में जगह नहीं मिल सकती थी या कि जो यहाँ उपस्थित हैं इतिहास सिर्फ उन्हीं से लिखा जा सकता है, यह भी नहीं है कि इस कविता की सारी रूप-सृष्टि विवेचित है, पर जो नहीं है उस पर बहस करने से अच्छा है, जो है उसके होने की सही जानकारी करना।

विश्वनाथ ने अपने इस अध्ययन को 'क्लोज रीडिंग' की संज्ञा दी है और चाहा है कि उनके इस अध्ययन से कवियों के अपने संस्कारों, उनकी भिन्न जीवन-दृष्टियों, उनकी काव्य-विषयक धारणाओं तथा समकालीन वास्तविकता के विविध पहलुओं की जानकारी हो।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपने लेखन-क्रम में कुछ महत्त्वपूर्ण कवि-प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से उसकी और उसके अन्तरंग का पहचान बनाना चाहते हैं। उनका प्रयत्न यह भी रहा है कि वे कवि-विशेष को उसकी मूल भूमि पर उसकी रचना और वस्तु के प्रति आसक्तियों सहित पकड़ सकें और इस तरह वस्तु और शिल्प का स्पष्ट व्याख्यान, उसके अन्तःसम्बन्ध और अन्तर्विरोध की जानकारी सहित कर सकें। अपने दृष्टिपथ में आये हुए दोषों या लेखक-विशेष की रचनात्मक कमजोरियों की ओर भी इंगित कर सकें। इन कमजोरियों का निर्देश वे हर लेख के अन्त में करते हैं। यदा-कदा अपने विवेचन में दूसरे किसी कवि की वैसी ही विशिष्टता से सूक्ष्म अन्तर का निर्देश करने के लिए वे तुलनात्मक दृष्टि का सहारा भी ले लेते हैं।

यों इनमें से कुछ कवियों की समस्त रचनाओं को समेट लेना इतने छोटे में सम्भव नहीं होता, किन्तु विश्वनाथ चूंकि अलग-अलग रचनाओं को नहीं समग्रतः काव्यचेतना को उभारकर लाते हैं, इसलिए इन लेखों से एक समग्र दृष्टि बनाने में सरलता तो है, पर फिर भी प्रबंध-कविता का विवेचन सम्भव नहीं हो सका है, संकेत अवश्य उपस्थित है। लेखक की दृष्टि आद्यंत सहानुभूतिपूर्ण रही है और न उसने कहीं आक्रमक रवैया अपनाया है, न जिस-तिस की काट और समर्थन में ही वह लगा है। बहुत ज़रूरी होने पर ही, विवादास्पद स्थलों पर, वह अन्यों के मतों का उल्लेख करता है, पर मात्र उल्लेख के लिए नहीं- स्वयं उस सम्बन्ध में अपनी स्वतंत्र टिप्पणी के उपयोग के लिए भी। रचनाकारों की स्वोक्तियों का सहारा भी जब-तब उनके विषय में सही समझ बनाने के लिए लिया गया है।

तात्पर्य यह कि विवेचन सीधी-सरल रेखाओं में प्रस्तुत है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विश्वनाथ रचनाकार को गहराई और उसके अन्तर्विरोधी रूख के साथ पकड़ नहीं पा रहे हैं या कि उसकी कमजोरियों पर अँगुली नहीं रख रहे हैं, बल्कि यह करते हुए भी वे अपना संयम बनाये हुए हैं और आजकल की प्रचलित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवित्वपूर्ण आलोचना या हीरो बनने की शैली में लिखी गई उद्धत और उद्दंड उखाड़-शैली में नहीं लिख रहे हैं। कहा जा सकता है कि उनका प्रयत्न कवि को उसकी कविता के माध्यम से सहज समझने का है, खुले में लाने का है– खुले में लाकर उसके साथ अपनी दृष्टि से उससे दो हाथ करने का नहीं है।

विश्वनाथ जहां 'अज्ञेय' की कविता की अनेक बातों की प्रशंसा करते हैं और उन्हें छायावादोत्तर काल में विचार को कविता में प्रतिष्ठित करने का सबसे प्रथम प्रयत्नकर्ता मानते हैं, वहीं बड़ी सहजता से प्राकृतिक और मानवीय संसार के जीवन्त चित्रों के बावजूद 'अज्ञेय' की सामान्यीकरण और अमूर्तन की प्रवृत्ति के कारण इन चित्रों से उल्लास और वैभव समाप्त होते हुए भी देखते हैं। चिन्तन की प्रधानता के कारण 'अज्ञेय' की कविता उन्हें 'कथन–काव्य' जान पड़ती है, परवर्ती काव्य में उनका बुद्धिवाद रहस्यवाद में परिणत होता जान पड़ता है, 'अज्ञेय' इकाई की सत्ता को समाज पर वरीयता देते दीखते हैं, अनुशासित विद्रोही जान पड़ते हैं, भंजक विद्रोही नहीं, आभिजात्य के कारण नई पीढ़ी से हमेशा दूर खड़े दिखाई देते हैं। उनकी भाषा में आया हुआ ठहराव और उसकी पुनरावृत्ति हो या तार–सप्तकों की योजना से कुछ बड़ी प्रतिभाओं के दब जाने और कुछ तृतीय श्रेणी की काव्यप्रतिभाओं को अनावश्यक महत्त्व मिल जाने का दुःख उन्हें है और उसे स्पष्ट प्रकट करने में उन्हें कोई हिचक या किसी का खौंफ नहीं है।

मुक्तिबोध की कविताओं में अनेक बार मध्यवर्गीय नपुंसक मानवों और अवसरवादी बुद्धिजीवियों का वर्णन देखकर विश्वनाथ मुक्तिबोध के विषय में ही संदेह करने लगते हैं कि "कहीं सुविधा को प्राप्त करने और सुविधा को छोड़ने का यह संघर्ष उनके भीतर भी तो नहीं चल रहा है ?" वे मुक्तिबोध के गुहांधकार में घुसने और पाठकों को ले जाने का सम्बन्ध डॉ. रामविलास शर्मा की तरह रहस्यवाद से नहीं जोड़ते बल्कि स्पष्टतः उसका निषेध करते हुए सारी यौगिक पदावली को मुक्तिबोध द्वारा आत्मसाक्षात्कार या आत्मसत्य की प्राप्ति के प्रयत्न के अर्थ प्रयुक्त मानते हैं। नामवर सिंह के बरखिलाफ़ विश्वनाथ परम अभिव्यक्ति की खोज को 'अस्मिता की खोज' नहीं, 'भीतर और बाहर के द्वन्द्व को व्यक्त करने की कोशिश' या 'रचनाकर्म और नागरिककर्म को चरितार्थ करने की बेचैनी' मानते हैं। इसी तरह परसाई और नेमिचन्द्र जैन की कथन–साक्षी पर वे मुक्तिबोध के जीवन में संत्रास की चर्चा तो करते हैं और सोदाहरण कविताओं में उसकी छाया देखकर उसकी पुष्टि भी करते हैं, पर तुरन्त ही उसे उनके निजी संघर्ष से यह कहकर अलग कर देते हैं कि "मुक्तिबोध के काव्य में उनके मनःसंघर्ष को उनका निजी संघर्ष मान लेने पर कविता की बुनियाद ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढहने लगेगी। सचाई यह है कि मुक्तिबोध के भयानक आन्तरिक संघर्ष में विक्षोभकारी बाह्य परिस्थितियाँ सक्रिय हैं। इसलिए उनके काव्य में जितना संत्रास है उतना ही विद्रोह। एक ओर जहाँ अँधेरा और काला रंग है वहीं दूसरी ओर रक्त का लालरंग भी।"

शायद दूसरे लेखकों के कथनों का जितना अधिक सहारा विश्वनाथ ने मुक्तिबोध के विवेचन में लिया है, उतना इस पुस्तक में विवेचित किसी अन्य कवि के सन्दर्भ में नहीं लिया किन्तु इन सबके बीच से अपना रास्ता बनाते हुए वे अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं "आज जो आलोचक मुक्तिबोध के काव्य को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या रहस्यवादी कठघरे में रखकर जाँचना-परखना चाहते हैं उन्हें समझना चाहिए कि मुक्तिबोध इनमें से किसी भी ढाँचे में फिट नहीं होता।" मुक्तिबोध के विषय में आलोचक दृष्टि से यह बात विचारणीय भी हो सकती है, कवि-दृष्टि से गौरवपूर्ण भी।

भावबोध में मुक्तिबोध से कुछ बातों में मेल रखनेवाले नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और शिवमंगल सिंह 'सुमन' की चर्चा मुक्तिबोध के तुरंत बाद होने से इस पुस्तक को एक विशेष क्रमिकता प्राप्त होती है। यों इन्हें उतनी जगह पुस्तक में नहीं मिली है और नागार्जुन की कविता का एक पक्ष प्रबन्ध-कविता और संस्कृत-निष्ठ भाषा का विचार भी छूट गया है। उसे उठाना इसलिए जरूरी था कि यह जानकारी की जा सके कि वैसा नागार्जुन ने कविता को आन्तरिक मार्ग पर किया है या पाठ्यपुस्तकीय गुण-धर्म को ध्यान में रखकर? यह प्रश्न इसलिए कि नागार्जुन स्वयं अपने छोटे उपन्यास लेखन के रहस्य को इसी दूसरी विवशता का पहलू प्रदान करते हैं। विश्वनाथ ने नागार्जुन की कविता में कला की अलंकृति नहीं मानी, सपाट बयान अधिक माना है। सूक्ष्मता और सांकेतिकता कम पाई है और कला की दृष्टि से इसे कमज़ोरी माना है। पर प्रेषणीयता की दृष्टि से इसे ही गुण भी बताया है, क्योंकि वह उसे दुर्बोध जटिलता से मुक्त कर देती है। फिर जैसे स्वयं चौंककर नागार्जुन की रक्षा में यह भी कहा गया है कि "इसका अर्थ यह नहीं है कि नागार्जुन में कवि-कौशल नहीं है। वस्तुतः व्यंग्य उनकी कविता की सबसे बड़ी शक्ति है।"

इसी तरह जब विश्वनाथ धरती के प्रति पूज्य भाव होने मात्र से नागार्जुन की कविता को 'महान्' (जिस शब्द का प्रयोग वे अन्य आलोच्य कवियों के सन्दर्भ में कहीं नहीं करते) मान लेते है तब वे कला-विरहित होने पर भी मात्र वस्तु के आधार पर कविता के अस्तित्व और उसकी महानता की घोषणा कर रहे प्रतीत होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुवीर सहाय की काव्य-संवेदना को नया मानकर विश्वनाथ ने हल्के तौर पर कह दिया है कि "जो पाठक छायावादी कविता के आज भी प्रशंसक हैं, वे कविता मानेंगे ही नहीं और कहेंगे इसमें अनुभूति ही नहीं क्योंकि अनुभूति उनके लिए प्रेम की अनुभूति होती है जो सरस और भावुक हो।" उस पर उन्हें और गहरे विचार करना चाहिए था, अन्यथा वे छायावादी कविता और इतिहास के साथ भी अन्याय करेंगे, सहृदय पाठक के साथ तो कर ही रहे हैं। और फिर इस उक्ति को इसी पुस्तक के और भी कई कवियों पर लागू किया जा सकता है। इस तरह का सरलीकरण किसी हल्के मूड़ का संकेत देता है।

विश्वनाथ का प्रयत्न रचनाकारों की काव्य-चेतना का उद्घाटन करना रहा है, काव्य रूपों का विवेचन और विश्लेषण करना नहीं। परिणमतः प्रबंध और गीत पद्धति के कवियों को ग्रहण करके भी उन्होंने कहीं इन दोनों रूपों की विशेषताओं पर दृष्टिपात नहीं किया है। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की तो सम्पूर्ण रचनाएँ भी नहीं ली हैं।

विश्वनाथ राजकमल की कविता के लिए बड़े संकोच के साथ 'साहस' को कविता के मूल्यांकन की कसौटी मानकर उसकी चर्चा करते हैं और धूमिल की कविता में तात्कालिकता को देखकर उसकी कमजोरी की ओर इंगित करते हैं।

कुल मिलाकर इतने सारे कवियों के अध्ययन को समेटने की दृष्टि से विश्वनाथ की उनके इस विराट् आयोजन पर प्रशंसा की जायगी। उन्होंने जिस तरह कविता की पहचान की है और रचनाकारों को उनके कवि व्यक्तित्व में सही तौर पर उजागर करने का प्रयत्न किया है, वह उनकी समझ के प्रति विश्वास उत्पन्न करता है और पाठक एवं आलोचक को एक रास्ता दिखाता है कि किस तरह आलोचक होते हुए भी तटस्थ दृष्टि, संयत भाषा और रचनाकार के प्रति सहानुभूति को बनाये रखकर उसकी विशिष्टताओं और कमजोरियों को उद्घाटित करना चाहिए।

अच्छा होता विश्वनाथ कविता की परख के लिए इतनी भिन्नता के उभरने वाले सर्वमान्य तत्त्वों का ज्ञान रखने के लिए आरम्भ या अन्त में एक समाहारात्मक टिप्पणी भी देते।

— आनंदप्रकाश दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

देवेन्द्रमुनि शास्त्री; **जैन आचार : सिद्धांत और स्वरूप**, श्री. तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान) पृ. डिमाई १०२४; सजिल्द; मूल्य ५०।–

जैन तत्त्वविदों में देवेन्द्र मुनी जी शास्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य-सर्जन और दर्शन, इतिहास, योग, आगम और संस्कृति विषयक शोध में निरंतर निरत शास्त्री जी अब तक लगभग १५० ग्रंथों का विरचन कर चुके हैं। प्रस्तुत बृहद् ग्रंथ जैन आचार का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जैन आचार का सर्वांगीण परिचय देनेवाले इस महाग्रंथ में जैसे भूमिका रूप में वैदिक आदि सभी धर्मों का आचार-निरूपण सम्मिलित है, वैसे ही साहित्यिक प्रमाणों की उपस्थिति से मंडित भी है। एक तो मुनि श्री की सरल-सहज भाषा और समझाने की आकर्षक शैली, दूसरे साहित्य की सरसता, दोनों तत्त्वों ने मिलकर शुष्क से लगनेवाले इस विषय को पूर्णतया हृदयग्राही बना दिया है। सम्यग्दर्शन का सुविस्तृत निरूपण करने के साथ ही इस ग्रंथ में श्रावक और श्रमण, श्वेतांबर और दिगंबर, दोनों के आचार का विवेचन किया है। इसके विवेचन की सर्वांगीणता को ध्यान में रखते हुए ही प्रख्यात विद्वान श्री दलसुख मालवणिया जी ने इसे ठीक ही 'जैनाचार का विश्वकोष' कहा है। श्री विजयमुनि शास्त्री की प्रस्तावना में विभिन्न देशीय आचारों का परिचय अन्यान्य शास्त्रों से आचारशास्त्र का संबंध तथा भारत में विभिन्न कालों में आचार के विकास का इतिहास प्रस्तुत कर दिया है। यह भी एक सुयोग ही है।

ग्रंथ पांच खण्डों और ३६ शीर्षकों में विभक्त है तथा उपसंहार के अतिरिक्त लेखक ने परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्दसूची भी दे दी है, जो अध्ययन में बड़ी साधक है। शास्त्री जी ने व्यापक और समन्वयवादी भूमिका अपनाते हुए यहूदी, पारसी, ईसाई, इस्लाम, सूफी तथा सिख्ख धर्मी के आचार पर भी दृष्टिपात किया है। पुस्तक का खण्ड-क्रम इस प्रकार है : १, आचार : विविध दृष्टियाँ (वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, आजीवक तथा उक्त इतर धर्मों में आचार दृष्टि या उसका विधान); २, जैन आचार : आधार, लक्ष्य और विकासक्रम (विहंगावलोकन, सम्यग्दर्शन, गुणस्थान तथा व्रत-मीमांसा); ३, जैन श्रावकाचार (श्वेतांबर आगम साहित्य तथा परम्परा, योग-शास्त्र, और दिगंबर परंपरा में श्रावकाचार; पृष्ठभूमि–मार्गानुसारी के गुण,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यसनमुक्त जीवन, श्रावकव्रत तथा साधना भूमियाँ) ४, जैन श्रमणाचार : विविध कल्प और साधना (जैन साहित्य में श्रमणाचार, आर्हतीदीक्षा, विविध कल्प, विविध श्रमण-भूमिकाएँ, श्रमणसंघ की व्यवस्था और उसके नियामक, उत्सर्ग और अपवाद, साधना-मार्ग, तप, दस श्रवणधर्म, भावनायोग, साधना के विघ्न और विजय, समाधीमरण की कला) तथा ५, श्रमणव्रत एवं समाचारी (अहिंसा, सत्य-साधना, अस्तेय व्रत के विविध आयाम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह नियम, रात्रिभोजनत्याग, अष्ट प्रवचन माता, सामाचारी तथा अन्तर्परीक्षण, अन्त: परिष्कार : षडावश्यक)।

मुनि जी ने मूल शीर्षकों के अंतर्गत विचारित विषयों को उपशीर्षकों में प्रस्तुत किया है और अपने विवेचन को सुस्पष्ट और सहजग्राह्य बनाने के लिए उन उपशीर्षकों को भी और छोटे शीर्षकों में बाँटकर ग्रंथ को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह अनायास बोधगम्यता के गुण से भूषित हो गया है। सूक्ष्म विवेचन और सप्रमाण तथा स-तर्क विवेचन इस ग्रंथ की विशेषता है। अपने विवेचन क्रम में शास्त्री जी न केवल नाना भाषाओं के ग्रंथों से प्रमाण जुटाते और पाठक के मन में वक्तव्य के प्रति निष्ठा जगाते चलते हैं, बल्कि मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की दृष्टि के सहारे उसे अधिकाधिक स्पष्ट और आधुनिक बुद्धि के लिए विश्वसनीय भी बनाते चलते हैं और इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि भारतीय जनतंत्र के लिए कथन उपयोगी हो। ललित और शास्त्रीय साहित्य का ऐसा समाहार इस ग्रंथ में किया गया है कि यह एक विराट् धार्मिक-नैतिक-बौद्धिक आयोजन बन गया है। यह शोधग्रंथ आचारधर्म का सारग्रंथ है। जीवन-प्रवाह को निर्मल और प्रांजल बनाये रखने के लिए इसका अध्ययन सभी के लिए उपयोगी होगा। साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर यह मनुष्य मात्र के लिए रचा गया एक सद्ग्रंथ है।

– आनंदप्रकाश दीक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

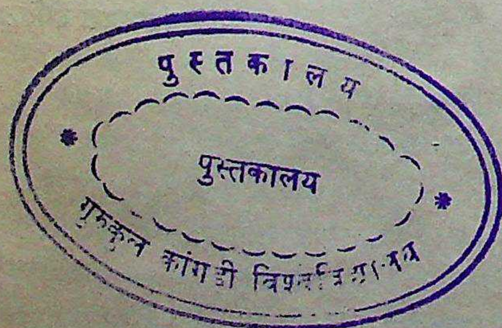
३७. डॉ. रामजी तिवारी
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे—४११००७

३८. श्री. सुरेशकुमार थोरात
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

३९. डॉ. पी. सीताराम रेड्डी
घर क्र. १-९-६३०।२
विद्यानगर
हैदराबाद—५०००४४

श्री धर्मदत्त वैद्य संग्रह

04703



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफ़ाफ़ा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: बिशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।



पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar


Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri